आधुनिक हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

आधुनिक हिन्दी साहित्य
[१९००-१९५० ई०]
की
सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

[प्रयाग विश्वविद्यालय, की डी० लिट् उपाधि के लिये स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]

लेखक -

डा० भोलानाथ,

एम ए डी फिल,

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,

महारानी लालकुवँरि महाविद्यालय,

बलरामपुर, गोण्डा [उत्तर प्रदेश]

निर्देशक —

पद्मभूषण डा० रामकुमार वर्मा,

एम ए पी एच डी,

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष हिन्दी-विभाग,

प्रयाग विश्व विद्यालय, प्रयाग



प्र ग ति प्र का श न

बेतुल बिल्डिंग, आगरा-३

प्रथम संस्करण
सितम्बर १६६६

मूल्य चालीस रुपये

प्रकाशक
रामगोपाल परदेशी संचा
प्रगति प्रकाशन
बैतुल बिल्डिग,
आगरा–३
फोन न० 61461

मुद्रक
डोरीलाल आय
राष्ट्र भाषा प्रिंटिग प्रेस
हाथरस

समर्पण

उन कृपाओ, अनुकम्पाओं, सहयोगो, प्रोत्साहनो एव आशीर्वादों को,
(जो जीवन पथ के वाम पार्श्व में रहे)
उन प्रवचनाओ, प्रपीडनों विश्वासघातों, निष्ठुरताओं एव दर्पों को
(जो जीवन-पथ के दक्षिण पार्श्व में रहे)
तथा

चिरजीवि हेरम्ब कुमार को

(जो इस शोध प्रबध का जुडवां भाई है)
और
अन्त में

माता सरस्वती

एव
उसके अनुरागी सपूतो को

—लेखक

भूमिका

सुनता हूँ कि रामभक्त ने मुर्दे को भी जिला दिया था,
देखता हूँ कि रामकुमार ने मेरी मरी सी लेखनी में भी जान डालदी है।
बात कुछ यों है—
गुरुदेव डा० धीरेन्द्र वर्मा के वादाम तुल्य आशीर्वादों, डा० रामकुमार वर्मा की स्नेहासक्त कृपाओं डा०माताप्रसाद गुप्त उदयनारायण तिवारी और गुरुजनों के आशीर्वाद समन्वित प्रोत्साहनों डा० श्रीकृष्णलाल और डा०केसरीनारायण शुक्ल की अहैतुकी अनुकम्पाओं श्री व्रजवासीलाल गौड़ और उनके परिवार के सभी सदस्यों की स्नेहवेषधारणी प्रियरूपिणी भिक्षाओं डा०भोलानाथतिवारी डा० लक्ष्मीनारायणलाल श्री कुंजविहारीलाल अग्रवाल और श्री देवेन्द्र नाथ श्रीवास्तव आदि मित्रों के सहयोग के परिणामस्वरूप (जिनका मैं इतना ऋणी हूँ कि जन्म जन्मान्तर में भी किसी का भी ऋण न चुका सकता हूँ और न चुकाने की इच्छा ही है क्योंकि इन सबके ऋण से मुक्त होने की अपेक्षा उस ऋण, भार से दवा रहना अधिक अच्छा लगता है) बहुतों के लिये एक दुर्घटना यह हुई कि मैं डी० फिल हो गया। कुछ अपने स्वभाव की सीमाओं और कुछ परिस्थितियों की क्रूर विद्रूपताओं के कारण मैं इधर-उधर भटकता हुआ अन्त में हिमालय की तराई में अचिरावती के तट पर द्विवेदी युगीन काव्य के एक मात्र साहित्यिक वातावरण वाले बलरामपुर में जा टिका। साहित्यिक केन्द्रों और साहित्यिक हलचलों का सुदूर स्मृति दृष्टामात्र रह गया गभीर अध्ययन समाप्त हो चला। जमाना आगे बढता गया और रुका हुआ मैं पीछे पडता गया। साथी कहीं के कहीं पहुँच गये मैं वहीं की वहीं धँस गया। उगता हुआ पौधा झुलस गया। सफल शोध छात्र की लेखनी मर सी गई।
कि

गुरुदेव डा० रामकुमार वर्मा ने कहा "भोला मुझे तुमसे एक ही शिकायत है। तुम्हारी लेखनी निष्क्रिय क्यों हो गई?" और एक क्षण में ही छः सात वर्षों के अन्दर मेरे ऊपर पडी हुई सारी चोटें बिजली की तरह

कौंध गई। मे समवत यही कह पाया था, "गुरुदेव' इसका उत्तरदायित्व मुझ पर नही है।" "यह सब कुछ नही तुम्हें लिखना चाहिये।" और मैंने देखा—गुरुदेव डा० धीरेन्द्र वर्मा को मेरा जो आपना पत्र अधूरा छोड़कर अवकाश ग्रहण करना पड़ा था वह पूरा हो गया मैं डी० लिट० कर लर • —प्रयाग विश्व विद्यालय के हिंदी विभाग का पुन सक्रिय छात्र

मेरे गुरुदेव छोटे सहपाठी - वही पुस्तकालय - वही सौम्यमूर्ति कृपाशील भक्ति प्रसाद त्रिवेणी —वही रिसर्च टेबुल पुस्तकों का वही प्यारा साथ बरसा पहले छूट प्यारा साथ जीवन में और पुस्तकें मैं और अध्ययन भोजन से अरुचि परिवार के प्रति हमेशा स्वास्थ्य के प्रति उदासीनता नौकरी के प्रति अरुचि —मुर्दा जो उठा मरी सी लेखनी नवल चेतना से सक्रिय हो उठी मैं नत मस्तक हूँ — — - — - —

और आज डी० लिट० का यह शोध प्रबन्ध आपके सम्मुख है। प्रश्न उठता है कि इसमे है क्या ?

बीसवी शताब्दी के हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि। महासागर-जसा विषय और चीटी जसी मेरी प्रतिभा। संस्कृति पकड में न आ सकने वाला भाव है। उसकी अनुभूति हो सकती है परन्तु बुद्धि की पकड से वह बाहर है और मेरी बुद्धि भी उतनी प्रखर नहीं, उसकी पकड भी उतनी सूक्ष्म नही। और फिर यह भारतीय संस्कृति!! चहुवों के लिये आश्चर्य का विषय!! फिर भी जितना कुछ मेरे द्वारा संभव है १९०० ई० से लेकर १९५० ई० तक के हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का उतना अध्ययन।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का अध्ययन अभी होना है किन्तु हमारे यहाँ का अध्ययन संबधी मनोविज्ञान कुछ विचित्र सा है। नाम 'हिन्दी साहित्य' यदि कहीं और किसी भी प्रकार लगा है तो लोग हिन्दी साहित्य सम्बन्धी सामग्री यानी कृतियो कृति महारथियो के नामो और तत्संबधी 'अध्ययनो' की ही प्रधानता देखना चाहते हैं और यदि ऐसा न हो तो उस अध्ययन को हिन्दी का मानने के लिये तैयार नही। अस्तु, मेरे एकाध आदरणीय मित्रो और मान्य परामर्श दाताओ ने मुझसे कहा कि इसमें हिन्दी लेखको और उनकी कृतियो पर और अधिक विचार होना चाहिये। एक ने तो यहा तक कहा कि इसे हिन्दी का शोध प्रबन्ध ही नही माना जा सकता है।

में विचार वैभिन्य की स्वतन्त्रता के अधिकार का आदर करता हुआ चुप हो गया। वैसे टाइप की हुई प्रति की पृष्ठ पंक्ति गणना के आधार पर मैं कहना चाहता हूँ कि इस सम्पूर्ण शोध प्रबंध मे आपको ओसतन एक तिहाई से कुछ अधिक पंक्तियाँ हिंदी साहित्य या साहित्यिको के संबंध की ही मिलेंगी।

इस शोध प्रबंध मे अंग्रेजी भाषा मे लिखी गई अनेक पुस्तकों के उद्धरण हैं। अंग्रेजी के उन वाक्यो का हिन्दी रूपान्तर या अनुवाद सब का सब मेरे द्वारा किया गया है। इन अनुवादो मे अभिव्यक्तियों का मूल आशय पूर्ण रूपेण सुरक्षित हैं—मूल भाव कहीं भी खण्डित नही होने पाया।

यह पुस्तक आपको कैसी लगेगी यह मैं नही जानता पूर्ण मौलिकता का दावा मैं नही करता। वह शायद ही किसी पुस्तक मे मिले किन्तु स्व० आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने इस शोध प्रबंध को पढकर मुझे बधाई दी थी और कहा था 'तुम्हारा संस्कृत प्रेम-राष्ट्र प्रेम बडा ही उग्र है। डा० रामकुमार वर्मा ने कहा था कि लगता है संस्कृति का एक महान विद्वान इसमे बोल रहा है। एक अन्य महान विद्वान का विचार था, कि यह घोर परिश्रम का फल है और अपने जीवन भर के अध्ययन के बावजूद भी वे इस शोध में कुछ ऐसी बातें पा सके थे जो सर्वथा नवीन हैं। डा० रामकुमार वर्मा के सुयोग्य निर्देशक मे यह कार्य किया गया है। व डा० धीरेन्द्र वर्मा और आचार्य श्री नन्ददुलारे वाजपेयी इसके परीक्षक थे। मैं इन सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

एक बात और। बडे वृक्ष के नीचे छोटे पनपने नहीं पाते। मध्य युग मे शिष्य की कृतियाँ गुरुजी की ही जाती थी। अब यह पुनीत कार्य नाम साम्य पर ही होने लगा है। इस समय हिंदी में भोलानाथ नाम के दो व्यक्ति हैं। एक बेचारे भोलानाथ है और दूसरा 'तिवारी' शब्द युक्त। पहला छोटा दूसरा बडा, पहले को कोई नही जानता, दूसरा हिंदी का महान विद्वान दोनो सहपाठी रहे। पहले ने निबंध लिखा, दूसरे को प्रशंसा मिली, पहले को पुरस्कार मिला, दूसरे को बधाई-पत्र, पहले को डी० फिल डिग्री मिली, दूसरे के नाम से जुड गई। लोगों ने छोटे को बड़ा समझ लिया। यह शोध प्रबंध छोटे का है—कृपा करके इसे बडे का समझने की भूल न कीजिएगा। बडा दिल्ली में रहता है, छोटा बलरामपुर मे। छोटे की चीज

बड़े को मिल जायेगी, तो बड़े के बड़ेपन मे कुछ भी वृद्धि न होगी—हाँ, छोटा अपनी छोटी चीज से भी वंचित हो जायेगा।

मेरी इस जरासी और बेकार की महत्वाकांक्षा के लिये मेरी धर्मपत्नी श्रीमती कमल, मेरे पुत्र कुमार कार्तिकेय और मेरी पुत्री कुमारी पूजा श्री को जुलाई १९६२ से लेकर दिसम्बर १९६२ तक जो मर्मान्तिक कष्ट शारीरिक और मानसिक दोनो सहने पड़े वे अवर्णनीय हैं। भयानक पेड़ होते तो सूख जाते फूल होते तो धरती मे मिल जाते, सरस्वती होती तो मगध मे लुप्त हो जाती किंतु वज्र का हृदय था जो सब झेल ले गया। इस शोध प्रबंध मे उनका योग अमूल्य है। इस पर एक मात्र अधिकार उनका है, यह उन्ही की चीज है और मैं उनका कभी भी उऋण न हो सकने वाला ऋणी हूँ।

अंत मे मैं उन सब विद्वानो के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिनकी कृतियो का उपयोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे इस शोध प्रबंध मे हुआ है इस शोध प्रबंध मे मुझे परामर्श प्रोत्साहन एवं उत्साहवर्द्धन उस समय के उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन, उस समय के उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री डा० सम्पूर्णानन्द, श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा डा० उदयनारायण तिवारी डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डा० सरस्वती प्रसाद आदि से मिला है, जिसके लिए मैं इन सभी विद्वानो एवं विभूतियो का असाधारणरूप से कृतज्ञ हूँ। श्री भक्ति प्रसाद त्रिवेदी ने जिस उदारता के साथ मुझे पुस्तकालय मे अध्ययन करने की अनुमति एवं सुविधा प्रदान की उसके लिये मैं सचमुच उनका बहुत ऋणी हूँ। उनकी इस कृपा के बिना यह शोध प्रबंध कभी पूरा नहीं हो सकता था। गुरुदेव डा० धीरेन्द्र वर्मा और गुरुदेव डा० रामकुमार वर्मा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने की शक्ति मेरी लेखनी में है ही नही। मौन हूँ।

मैं अपनी और इस पुस्तक के पाठको की ओर से हिन्दी के जागरूक कवि श्री रामगोपाल परदेशी अध्यक्ष प्रगति प्रकाशन के प्रति आभार प्रकट करता हूँ। उनके सौहार्द्र सहयोग उदारता ग्राहकता के अभाव मे यह पुस्तक कब तक न छपती, मैं कह नही सकता। सम्भवत कोई यह कहता—इतनी मोटी किताब कौन छापे मे इतना बड़ा प्रकाशक नही—साहब किताब तो अच्छी है मगर आप इतने प्रसिद्ध नही है कि यह रिस्क लिया जा सके। साहब किताब तो अच्छी है मगर अब मैं केवल शिक्षण सम्बन्धी किताब ही

इधर कई वर्षों तक छापूँगा।

जीवन की एक बड़ी इच्छा यह भी रही है कि मैं कभी किसी के भी प्रति कृतघ्न रहूँ। अतएव मौन से लेकर विचार विमर्श तक, संकेत से लेकर स्नेह स्निग्ध परामर्शों एवं परीक्षणों तक तथा सहायता से लेकर बाधा तक मैं सबके प्रति कृतज्ञ हूँ। आभारी हूँ।

भोलानाथ
अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
महारानीलाल कुँवर महाविद्यालय,
बलरामपुर (गोण्डा)

अनुक्रमणिका

विषय प्रवेश

बीसवी सदी के पचास वर्ष और भारत की महानता—बीसवीं शताब्दी के पचास वर्ष और हिन्दी की समृद्धि—कुछ हिंदी विरोधी दृष्टिकोण—दुर्दमनीयता एवं शक्ति का स्रोत—संस्कृति क्या है—प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य और स्वरूप—भारतीय संस्कृति की प्रकृति—सामाजिक परिप्रेक्ष्य—१८५७ से १६०० तक का युग ।

विषय—प्रवेश

बीसवीं सदी के पचास वर्ष और भारत की महानता

बीसवीं शताब्दी में भारत का आत्म-बोध विश्व इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। उन्नीसवीं शताब्दी में इंगलैंड संसार का सबसे बड़ा साम्राज्यवादी सूत्रधार था। कहा जाता है कि तब अंगरेजों के राज्य में सूर्य कभी भी अस्त नहीं होता था। उनके साम्राज्य के एक भाग में यदि वह अस्त होता था तो उसी समय उसके दूसरे भाग में उदय हो उठता था। इस साम्राज्य का सबसे बड़ा उपनिवेश सबसे बड़ा गुलाम देश—भारतवर्ष था। यह गुलाम भारतवर्ष वही भारतवर्ष था जिसने संसार की सभ्यता और संस्कृति के विकास में असाधारण रूप से योगदान किया था। इस क्षेत्र में जितना महत्वपूर्ण योग भारत ने दिया उतना अन्य कोई भी राष्ट्र नहीं दे सका। संसार ने बीसवीं शताब्दी में इसी पराधीन भारतवर्ष द्वारा प्रवर्तित इतिहास का अभूतपूर्व आश्चर्य देखा। सत्याग्रहमयी राजनीति ने विश्व के इतिहास में एक नया अध्याय खोला। आज इसको संसार के और छोटे बड़े राष्ट्र अपनी अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार अपनाने का प्रयास करते हैं। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारतवर्ष में इसे जो सफलता मिली उसके परिणामस्वरूप वह इंगलैंड के 'ग्लोरियस रेवोल्यूशन' से कहीं अधिक 'ग्लोरियस' माना जा सकता है।

विश्व के नवीनतम रंगमंच पर भी नव स्वतंत्र भारत का क्रिया-कलाप कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारत की स्वतन्त्रता ने एशिया और अफ्रीका के पराधीन देशों के लिए स्वतन्त्रता की आशा का अवरुद्ध द्वार उन्मुक्त कर दिया। दोनों महाद्वीपों की पिछड़ी हुई, दबी पिसी एवं अर्द्धसभ्य जातियों की आँखों के सामने उन्नति एवं विकास की अनन्त सम्भावनाएं और आकांक्षाएं आकर्षक रूप में मूर्त हो उठीं। युद्धों के इतिहास में नये मूल्य-नए प्रतिमान जन्म लेते हुए दिखाई पड़ रहे हैं। चीन ने भारत पर आक्रमण किया और रणक्षेत्र में उसे कुछ क्षेत्रों में विजय मिली। भारतीय

सेनाओ को पीछे हटना पडा। पराजय-सी दिखाई पडी। उसी समय ससार ने एक अचम्भे की बात देखी। जीतने वाला अपने आप पीछे हट गया। कुछ वर्ष पहले स्वेज नहर के प्रश्न पर होने वाले सशक्त सघर्ष मे विजेता-सा इगलैंड पीछे हटा और मिस्र को लक्ष्य प्राप्ति हुई। उसी घटना की नये रूप मे पुनरावृत्ति हुई। आज विश्व-राजनीति के रगमच पर जीते हुए-से चीन की दुर्गति हो रही है और पराजित-से भारत की प्रतिष्ठा मे कही किसी ओर से कमी नही दिखाई पडती। नई बात है !!

पराधीन भारत के रामकृष्ण विवेकानन्द, रामतीर्थ-दयानन्द, तिलक गाधी गोखले रानाडे, अरविन्द रमन, टगौर भारती, प्रेमचन्द प्रसाद, मालवीय नेहरू, जवाहर, लाल विनोबा, राधाकृष्णन आदि की उपेक्षा ससार की कोई भी प्रगतिशील शक्ति नही कर सकती। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के आस-पास के समय मे भारतवर्ष मे इतनी प्रतिभाओ का जन्म हुआ कि समय पर भारत उनके प्रकाश मे जगमगा उठा। अमावस्या को दीपावलियो के मधुर प्रकाश ने जैसे सजा दिया हो! गुलाम भारत में भी कितनी असाधारण क्षमता थी!! प्रश्न यह है कि दबे पिसे-लुटे-पस्त भारत मे इतनी शक्ति और क्षमता कहा से आ गई थी कि वह ससार के लिए आश्चर्यो की सृष्टि कर सका। उसके अन्दर यह शक्ति कहा छिपी थी!! भारत की शक्ति और सम्भावनाऐ लोगो के लिए अनबूझ पहेली बनी हैं!

बीसवी शताब्दी के पचास वर्ष और हिन्दी की समृद्धि

ठीक इसी प्रकार हिन्दी भी अपरिचितो और विरोधियो के लिये पहेली बनी हुई है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समय से लेकर आज तक हिन्दी ने जिस प्रकार उन्नति की है वह सचमुच आश्चर्य का विषय है। उस समय कविता ब्रजभाषा मे लिखी जाती थी और आज खडी बोली मे लिखी जाती है। उस समय के गद्य मे भी ब्रजभाषा के शब्द आ जाते थे और आज पद्य मे भी वे कही नही दिखलाई पडते। बीसवी शताब्दी के आसपास की खडी बोली की कविता और आज की कविता का तुलनात्मक अध्ययन करे तो भाषा, शैली, विषय, काव्यात्मकता, अभिव्यजना शक्ति आदि की दृष्टियो से दोनो मे आश्चर्यजनक अन्तर मिलता है। यही स्थिति गद्य के क्षेत्र मे भी है। भाषा की अभिव्यजना शक्ति शैली की विविधता, विषय की अनेकता, विधाओ की विभिन्नता, अभिव्यक्तियो की प्रौढता सूक्ष्म विचारो को सूत्र रूप मे उपस्थित करने की शक्ति, आदि की दृष्टियो मे आज के गद्य मे और भारतेन्दु युग के गद्य मे बहुत अन्तर आ गया है। उस समय साहित्य उतना प्रचुर नही था जितना आज है। स्थिति मे भी बडा अन्तर है। उस समय की हिन्दी पूर्ण रूप से उपेक्षित

था, आज उसका सर्वत्र आदर है। आज वह भारत की राष्ट्रभाषा है। कुछ लोग यह तथ्य मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं और कुछ लोग रुद्धकण्ठ से। कुछ लोग इसका विरोध ईर्ष्या द्वेषवश करते हैं और कुछ लोग स्वार्थवश। फिर भी, इसकी महत्ता सभी स्वीकार करते हैं। आज हिन्दी भारत के ही सभी प्रान्तों की नवोदित प्रतिभाओं के अध्ययन और आदर का विषय नहीं बनी है, विदेशी भी उसका महत्व स्वीकार करते हैं। भारतेन्दु-युग और द्विवेदी युग में यह कुछ कम था, आज बहुत है। दूर-दूर के प्रान्तों के और भिन्न भिन्न देशों के लोग हिन्दी साहित्य का अध्ययन करने यहां आते हैं और अपने यहां उसके अध्ययन की व्यवस्था करते हैं। यह सारी की सारी कायापलट बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही—पचास वर्षों में ही—सम्भव हो गई। इस शताब्दी के पचास वर्षों में जैसे भारतवर्ष का आश्चर्यजनक रूप से उत्थान एवं विकास हो गया है, उसी प्रकार हिन्दी का भी हो गया है।

कुछ हिन्दी-विरोधी दृष्टिकोण

प्रश्न यह है कि इतनी जल्दी ऐसा कैसे हो गया? इस सम्बन्ध में सम्पूर्ण भारतवर्ष को लोग क्या कहते हैं यह यद्यपि इस प्रबन्ध का विषय नहीं है फिर भी, इतना कह देने में कोई हर्ज नहीं कि भारत की जनता की महानता के विषय में लोगों को अभी सन्देह है कुछ पुराने लोग अब भी अंग्रेजी राज को इस राज से अच्छा मानते हैं और कुछ लोगों के अनुसार भारत समय से पहले स्वतन्त्र कर दिया गया—वह अभी स्वतन्त्र होने के योग्य बन नहीं पाया था। ऐसे लोग कम हैं और सामने आने से घबराते हैं—सम्भवतः जनमत से डरते हैं। हिन्दी को चूंकि अभी सम्पूर्ण भारत से भिन्न रखा गया है और अब लोग हिन्दी और देश की स्वतन्त्रता—इन दोनों को दो भिन्न भिन्न तत्व मानने लगे हैं अतएव हिन्दी के विषय में उचित-अनुचित कह डालने में लोग संकोच नहीं करते। यही कारण है कि हिन्दी और उसकी महानता के विषय में लोगों के अनेक दृष्टिकोण हो रहे हैं। कुछ का विचार है कि हिन्दी भ्रष्ट हो रही है। किन्हीं का निश्चित मत है कि हिन्दी में है ही क्या? इतना पढ़ना हो तो संस्कृत-अंग्रेजी क्या—पढ़ा जाय। हिन्दी पर स्नेह रखने वाले कुछ विचारशील व्यक्ति हिन्दी को संस्कृत की बेटी मानते हुए यह कहते हैं कि बिना संस्कृत ज्ञान हिन्दी समझी ही नहीं जा सकती। कुछ प्रगतिशील विद्वान् यह कहते हैं कि हिन्दी में जो-कुछ अच्छा है वह अंग्रेजी साहित्य के अनुकरण और प्रभाव के ही परिणामस्वरूप है। एक दृष्टिकोण यह भी है कि सभी वाली हिन्दी असंस्कृत कुसंस्कृत अनगढ़ फूहड़ है तथा कविता के अनुपयुक्त है और इस विषय के सद् साहित्यों के अध्ययन व परि-मार्जनवश उत्पन्न साहित्यिक सुरुचि सभी बाजी हिन्दी का कवि। ... में विकृत

हो उठती है । कुछ लोग ज्ञान विज्ञान और शासन प्रशासन के क्षेत्रों मे अभी इसकी उपयोगिता पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं एव कई वर्षों—यहा तक कि दो-तीन पीढियों के बाद इसे इस योग्य हो सकना सम्भव मानते हैं कि भारत भर के लोग पढ, बोल, समझ और लिख सके।

दुदमनीयता एव शक्ति का स्रोत

फिर भी भारत की प्रगति के साथ हिन्दी भी विकसित होती चली जा रही है। विरोधी लोग अपनी कमजोरियो के कारण हारी हुई बाजी के खेलन का दुराग्रह कर रहे हैं काल देवता जो निर्णय लिख चुका है उसके विरुद्ध हाथ-पाव मारने का व्यर्थ प्रयास कर रहे हैं। सेवको म अनेक त्रुटिया हैं। फिर भी, विकास निरन्तर हो रहा है और उसकी गति अप्रतिहत है। प्रश्न यह है कि ऐसा क्या है ? सोचना पडता है कि वह क्या है जो इन्हे इस प्रकार दुदमनीय बनाये है एव किसने दोनो का एक मा ऊर्ध्वमुखी एव प्रगतिशील तथा उत्थान की ओर तीव्र गति से प्रेरित कर रखा है। जिनकी सूझ की गति उस तत्व तक नही है उनके लिए सचमुच यह विश्वास कर लेना कठिन है कि भारत ने या हिन्दी ने सचमुच उन्नति कर ली है और विकसित हो गई। उनके लिए यह आश्चर्य और अविश्वास का विषय है।

मेरे अध्ययन और शोध का विषय इसी रहस्य के उद्घाटन से इसी आश्चर्य को बोधगम्य बना देन से सम्बन्धित है। वास्तविकता तो यह है कि सम्पूर्ण भारत की—और इसीलिए हिन्दी की भी—जो यह असाधारण गति से उन्नति हुई है उसका मूल कारण भारत की अपनी सस्कृति है। भारतीय सस्कृति से हम जो तत्व मिले हैं उन्होने ही हमारे अन्दर इतनी शक्ति भर दी है कि हम कठिन से कठिन एव भयानक से भयानक तथा असाधारण रूप से प्रतिकूल परिस्थितिया म भी कभी नि शेष नहीं होने पाते। यह वह भागीरथी है जिसका मूल स्रोत कभी सूखता नही। इसी स हम जीवन मिलता रहा है और मिला है।

सस्कृति क्या है ?

सस्कृति-विहीन जीवन कोई जीवन नही होता। आज के विचारक भले ही यह कहे कि आधुनिक वह है जो आज के पहले की परम्पराओ और प्रभावो से मुक्त है किन्तु प्रभावो और परम्पराओ से पूर्णत अप्रभावित अस्तित्व की कल्पना ही हर लिये दुर्लभ रही है। मुझे तो यह घोषणा ही दम्भ प्रतीत होती है। मा की गोद से लेकर जीवन के अन्तिम समय तक हमारी चेतना और हमारी बुद्धि हमारे आसपास

ज्ञान और वातावरण के विभिन्न तन्तुओं से ही बाधित एवं मर्यादित होकर गतिशील होती है। वातावरण और परंपरा ही मिलकर व्यक्ति का निर्माण करते हैं। यह परम्परा ही संस्कृति का रूप धारण करती है। व्यक्ति के मानस में ये परम्पराएं संस्कार का रूप धारण करती हैं और जन मानस पर ये संस्कृति की छाप छोड़ती रहती हैं। विभिन्न तत्वों से परिपूर्ण यह संस्कृति उस आकाश की तरह है जिसकी सघन स्निग्ध व छाया में जन मानस की रमणीय जगत तरंगित होता रहता है। संस्कृति मानव की व्यापक मानवीय चेतना की विशिष्टता का स्वरूप है। जीवन का समग्र रूप इसमें सन्निहित होता है। हम यहां जो कुछ हैं उससे भिन्न और कुछ क्यों नहीं हुए इसका उत्तर संस्कृति ही दे सकती है। इसका विश्लेषण करते हैं तो इतिहास, राजनीति, समाज, धर्म, दर्शन नीति रीति सभी कुछ संस्कृति की झांकी देने में समर्थ हैं। उदाहरणतः जब हमारी संस्कृति से पूर्णतः स्वतन्त्र होकर हमारी राजनीति का निर्माण नहीं हो सकता, तो हमारी राजनीति के अनन्त पक्षों से हमारी संस्कृति के स्वरूप पर कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य पड़ना चाहिए। यही बात इतिहास समाज धर्म दर्शन आदि सबके बारे में भी सही है। अतएव हमारी संस्कृति इन विभिन्न विषयों में प्रतिबिम्बित होती है और हमारी संस्कृति का स्वरूप इन विषयों में अभिव्यंजित होता है। अस्तु संस्कृति को अभिव्यंजित करने वाले, उसके स्वरूप को स्पष्ट करने वाले उसका एक चित्र उपस्थित करने वाले विभिन्न स्तरों के रूप में भी इन विषयों का अध्ययन किया जा सकता है।

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य और स्वरूप

प्रस्तुत अध्ययन का संबंध बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के उत्तर भारत की या हिन्दी प्रदेश की सांस्कृतिक परिस्थिति से है। साथ ही, हम यह भी देखना है कि इन परिस्थितियों में कौन-कौन से ऐसे तत्व निकले जिन्होंने हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया है। इतिहास, धर्म दर्शन राजनीति आदि जीवन के भिन्न भिन्न स्तर समाज में भिन्न भिन्न प्रकार की हलचलों का निर्माण करते हैं। उनसे भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थितियां बनती हैं। ये सब एक ही मूल तत्व से (संस्कृति से) अनुप्राणित होती रहती हैं। एक यही दृष्टिकोण सभी में कुछ न कुछ व्याप्त रहता है। ये परिस्थितियां साहित्य में चित्रण का विषय बनती हैं। ये सब मिलकर सामूहिक एवं व्यक्तिगत जीवन की व्यवस्था को विशिष्ट रूप प्रदान करती हैं। इस व्यवस्था में पड़कर समाज और व्यक्ति का अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण बन जाता है। साहित्य इस विशिष्ट जीवन-व्यवस्था एवं विशिष्ट दृष्टिकोण का दर्पण

होता है। किसी साहित्यकार के मन पर उसके अपने और उसके आसपास के जीवन और परिस्थितियो का (राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक आदि सभी का) कुल मिलाकर अर्थात् सामूहिक रूप से प्रभाव पडता है। धीरे धीरे पडने वाले ये विभिन्न प्रभाव अन्ततोगत्वा उसकी मनोवृत्ति को एक विशिष्ट रूप दे देते हैं। उसकी अपनी एक विशेष मनोवृत्ति हो जाती है। यह मनोवृत्ति उसके द्वारा रचित साहित्य म बराबर प्रतिबिम्बित होती रहती है। इस प्रकार बाहरी जगत मे जो प्रगति होती है अन्तर म वही एक विशेष प्रकार बनकर रम जाती है। अस्तु, इस प्रबंध म उन प्रभावो का, उन मनोवृत्तियो का उन दृष्टिकोणो का और उन रेखाओ का अध्ययन प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है जिनसे बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध का हिन्दी साहित्य विनिर्मित हुआ है। प्रगति के भावात्मक प्रतीको के समझने की चेष्टा की गई है। यह सब समझने के लिये हम उन परिस्थितियो का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है जिनके परिणाम स्वरूप वे प्रभाव विशेष, मनोवृत्ति विशेष, या दृष्टिकोण विशेष बने हैं। इस प्रकार बीसवी शताब्दी के इस पूर्वार्द्ध की ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक तथा नैतिक और आत्मिक उत्थान-संबंधी प्रयत्नो से उत्पन्न परिस्थितियो का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। प्रत्येक क्षेत्र की प्रमुख प्रवृत्तिया, प्रमुख घटनाओ एव प्रमुख दृष्टिकोण का ज्ञान ही उन निष्कर्षों को प्राप्त करने मे सहायक होता है जिनसे हम वह झाकी पा सकते हैं जिसका सबध संस्कृति से है। उदाहरणार्थ, गाधी द्वारा प्रेरित राजनीतिक आदोलन का चित्रण और उनकी घटनाओ का विवरण जहा इस युग की राजनीतिक परिस्थिति स्पष्ट करता है वहा हडताल, धरना, जेलयात्रा चुपचाप मार खाना आदि दृष्टिकोण की अहिंसा पर प्रकाश डालते हुए भारतीय संस्कृति के इस (अहिंसा) तत्व की ओर भी संकेत करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र मे हम अपनी संस्कृति का रूप मिलता है जिसे हम अपने साहित्य म पाते हैं। इस प्रकार अहिंसात्मक दृष्टि बीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के हिन्दी साहित्य की सास्कृतिक पृष्ठभूमि का एक तत्व इसी दृष्टिकोण से अन्य परिस्थितियो का भी अध्ययन किया गया है। पाश्चात्य सभ्यता का, तथा उसके विषाक्त प्रभावो से अपने को मुक्त करके यथासभव अपने सास्कृतिक स्वरूप के अधिकाधिक निकट रहने के प्रयत्नो का, इतिहास बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के भारत का इतिहास है। अपने समाज और साहित्य के ऊपर इस दृष्टिकोण का भी प्रभाव है। इन दो प्रवृत्तियो के घात प्रतिघातो ने निश्चित रूप से समाज और साहित्य की गतिविधि और उनके रूपो के निर्माण म अत्यन्त महत्वपूर्ण दाय किया है। इसलिये इनका भी अध्ययन

अनिवार्य हो गया है। इस प्रकार जीवन के विभिन्न पक्षों के अध्ययन और उनसे प्राप्त निष्कर्षों तथा उन पर डाली गई समग्र दृष्टि के द्वारा आलोच्य काल की संस्कृति का एक रूप हमारे सामने स्पष्ट होता है।

भारतीय संस्कृति की प्रकृति

संस्कृति का प्रवाह नदी की धारा की भांति अविच्छिन्न और अविभाज्य होता है। पीछे से चली आती हुई जल राशि किसी स्थान विशेष के जल की शक्ति भी होती है और जीवन तथा अस्तित्व भी। पीछे के जल से किसी स्थान विशेष के जल को अलग कर सकना असम्भव है और यदि सम्भव भी हो सके तो फिर नदी के नदीत्व का बना रहना असम्भव होता है। जगह जगह आकर मिल जाने वाली अनेक जल धाराएं नदी की अपनी मूलधारा की उपयोगिता और महत्व कम नहीं कर पाती। ठीक इसी प्रकार अतीत से चले आते हुए सांस्कृतिक तत्वों से पूर्णतः अलग करके किसी देश के किसी काल विशेष की संस्कृति का अध्ययन मूल्यांकन कर सकना सम्भव नहीं होता। देश के समाज के अंग अंग में उस देश की प्राचीन परम्पराओं मूल्यों और तत्वों के शाश्वत अंश बराबर रमे रहते हैं। जन समाज का जीवन प्रधानतः इन्हीं से अनुप्राणित एव अनुप्रेरित रहा करता है। जिन विदेशी तत्वों से उस जीवित समाज का संपर्क होता है वे उसे प्रभावित अवश्य करते हैं परन्तु मूलतत्व को पूर्णतः हटा नहीं पाते। यदि ऐसा सम्भव हो सके तो वह देश, समाज या जाति मिट जाय। भारतवर्ष का अतीत अपवाद रूप से महत्वपूर्ण रहा है। यहां के ऋषियों मुनियों, तत्वदर्शियों विचारकों तथा समाजशास्त्रियों मनीषियों ने जिन तत्वों के आधार पर यहां के समाज का निर्माण किया वे कालान्तर में शाश्वत सिद्ध हुए। उन्होंने हमारे समाज को अमर कर दिया। वे सभी समय के लिये समान रूप से उपयोगी सिद्ध हुए। युगों की चट्टानों पर पर रखता हुआ यह समाज आगे बढ़ा। कालान्तर में अनेक विदेशी तत्वों से उसका संपर्क हुआ। उनसे उसे शक्ति मिली नवजीवन मिला, प्रेरणा मिली किन्तु समाज ने अपने मूल तत्वों का सांस्कृतिक उत्तराधिकार का पूर्णतः परित्याग कभी भी नहीं किया। अपनी प्राचीन परम्पराओं और जीवन के शाश्वत तत्वों तथा वर्तमान परिस्थितियों में यथोचित समन्वय करके अपनी कायापलट करता हुआ नवीन संजीवनी शक्ति, नवचेतना, नवस्फूर्ति प्राप्त करता हुआ ही भारतीय समाज आगे बढ़ा है। उसने न प्राचीन की पूर्ण उपेक्षा और तिरस्कार किया है और न नवीन का निरादर। साथ ही न सर्वथा प्राचीन से ही चिपका रहा है और न नवीन पर

पूर्णत लुब्ध होकर उसी रंग ही में रंग गया है। उसकी दृष्टि दोनों में सुंदरतम सन्तुलन बनाये रखती है। यही उसकी अमरता और अजय सजीवनी शक्ति का रहस्य है। अपने समाज के तात्कालिक विकास उन्नति समृद्धि के लिये भारत का समाज प्राचीन के असामयिक, अनुपयोगी एवं निरर्थक तत्त्वों का परित्याग धीरे धीरे कर देता है और इस कार्य में जो प्रवृत्तियां बाधक बनकर खड़ी होती हैं उनका विरोध होता है। साथ ही, इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर यह नवीन तत्त्वों के उन अंशों का, जो उपयोगी अनिवार्य और समयानुकूल होते हैं धीरे धीरे सतर्कतापूर्वक और उदारतापूर्वक स्वागत करता है। इसके लिये जिस शक्ति या सूक्ष्म की आवश्यकता है वह समाज की विभिन्न सहयोगी एवं विरोधी प्रवृतियां के घात प्रतिघात क्रियाओं प्रति क्रियाओं से प्राप्त हो जाती है। तात्कालिक परिस्थितियों की पारस्परिक गतिविधियां एवं उनकी प्रतीक शक्तियां हम में वह अन्तर्दृष्टि सक्रिय कर देती हैं, वह सूक्ष्म पैदा कर देती हैं, वह समझा देती है कि हम एवं हमारा समाज कल्याणमार्ग की ओर उचित दिशा की ओर चल पड़ता है।

सामाजिक परिप्रेक्ष्य

जब हम बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की अपनी संस्कृति का अध्ययन एवं विश्लेषण करने तथा उनसे निष्कर्ष प्राप्त करने के लिये अग्रसर होते हैं तब हमें संस्कृति के नैरन्तर्य के कारण, अपना अध्ययन तैंतालीस वर्ष पीछे या और ठीक कहें तो, कभी कभी एक सौ तैंतालीस वर्ष पीछे तक खींच ले जाना पड़ता है। कारण यह है कि बीसवीं शताब्दी की कुछ प्रवृत्तियों का सूत्रपात एक सौ तैंतालीस वर्ष पीछे से कर दिया गया था। हमारे समाज की जो अवस्था आज हो गई है उसको लाने का दायित्व जिन बातों पर है, उनका प्रारम्भ हमारे समाज में अंग्रेजों ने लगभग एक सौ तैंतालीस वर्ष पहले ही कर दिया था। बीज उस समय बोया गया था, वृक्ष आज उगा है। उदाहरण के लिये, इस युग में हमारी जो आर्थिक दुर्दशा दिखाई पड़ रही है, उसका एक कारण है अंग्रेजों की स्वार्थवृत्ति और भारत का उनके द्वारा होने वाला भयानक आर्थिक शोषण। यह आर्थिक शोषण वस्तुतः मुगल सम्राट फर्रुखसियर के समय से ही प्रारम्भ कर दिया गया था। परिणाम यह है कि यदि आज के आर्थिक शोषण को सही ढंग से समझना है तो अध्ययन को उतने पीछे तक—जब अंग्रेज यहाँ आये थे और उन्हें व्यापार करने की आज्ञा मात्र मिल पाई थी—लेजाना पड़ेगा। सामान्यतः बीसवीं शताब्दी की समस्त प्रवृत्तियों का उदय १८५७ ई० के स्वातन्त्र्य संग्राम तथा उसके कुछ दशाब्दियों बाद के लगभग हो गया था। आलोच्य काल के अन्दर उन्हीं में से कुछ में अधिक तीव्रता आ गई और कुछ मन्द हो गई। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी राज्य के प्रति

असंतोष, अत्याचारी अंग्रेजों एवं उनके सहयोगी भारतीयों के प्रति राष्ट्रवादियों के अन्दर हिंसा प्रधान आक्रोश अपने समाज के सर्वतोमुखी कल्याण एवं उत्थान की भावना और इस दिशा में हो सकने वाले प्रयत्नों का प्रारम्भ उसी युग से हो गया था। आलोच्यकाल में आ कर इनकी गति बहुत आवेगपूर्ण हो गई थी। राजभक्ति का स्वर उस युग में भी था और इस युग में भी रहा किन्तु उस युग में अत्यधिक प्रखर एवं मुखर था और इस युग में क्षीण एवं निष्प्रभ रह गया। अस्तु १८५७ ई० के अथवा उससे भी पहले की अवस्थाओं का अध्ययन इस आलोच्य काल की अवस्थाओं के अध्ययन की अनिवार्य पृष्ठभूमि—अनिवार्य रूप से सम्बद्ध तत्व—बन जाता है। इन्हीं सब का मन पर प्रभाव पड़ता है जो साहित्य लिखने की प्रेरणा देता है।

१८५७ ई० से १९०० ई० तक का युग

बीसवीं शताब्दी की अवस्थाओं की पृष्ठभूमि के रूप में जब हम इस काल के पहले की अवस्था का अध्ययन करते हैं तब हमको ज्ञात होता है कि उस युग में समाज के अन्दर दो प्रवृत्तियाँ प्रधान रूप से सक्रिय थीं। पहली प्रवृत्ति थी अपने समाज की युगों युगों से चली आती हुई रूढ़ियों और परम्पराओं का पालन की। उस युग में हमारा समाज मध्ययुगीन अवस्था से निकल कर आधुनिक युग में आ रहा था। परिस्थितियाँ परिवर्तित हो चली थीं। अंग्रेजों की राज्य स्थापना के साथ साथ ही मध्य युगीन परिस्थितियाँ जाने लगी थीं। वातावरण बदलने लगा था। नवीन युग का आभास भी मिलने लगा था। इतना सब होने पर भी मध्ययुगीन परिस्थितियों से निर्मित मनोवृत्तियों का अभाव नहीं हो सका था। व्यक्ति अपने जीवन को अब भी उन्हीं दृष्टिकोणों से परिचालित कर रहा था जिनसे वह आज से पहले करता रहा। आस्था विश्वास, रहन सहन, रीति रिवाज, खान-पान, आदि क्षेत्रों में समाज का अधिकतम भाग मध्ययुगीन मान्यताओं को ही अपनाये रहा।

समाज में दो वर्ग थे। एक वर्ग परम्पराओं का अन्धानुकरण कर रहा था। यह वर्ग अन्धविश्वासी था। यह काल की प्रवृत्तियों के परिवर्तन के अनुरूप अपने को परिवर्तित करने के लिये तैयार नहीं था। पंडे, पुजारी गोसाईं, आदि इस वर्ग में आते हैं। इस वर्ग का विश्वास यह था कि शास्त्रवचनों के अक्षरशः पालन करनेसे ही भारत का कल्याण हो सकता है। यह वर्ग परम्परा से प्राप्त सभी मान्यताओं एवं मानदण्डों का कट्टर समर्थक था। राधाचरण गोस्वामी और बालमुकुन्द गुप्त आदि की कविताओं में इसके प्रमाण मिलते हैं—

धर्म चार पद नसो बसो सुरपति-पुर जाके
धर्म गयो उड़ि सत्य लोक सन्निधि ब्रह्मा के

योग गयो कैलास शंभु ने लियो उठा के
भक्ति लई वैकुंठ पारषद जन अकुला के
भारत भारत ह्वै रह्यो अति आरत कलिकाल में[1]

ये लोग यज्ञ-याग, पितर पिंड एवं फारसी के अध्ययन तक को बुरा मानते थे—

यज्ञ याग मत मेट पेट भरने को चातुर
पितर पिंड नहिं देत यवन-सेवा के आतुर
पढ़े जनम तें फारसी छोड़ वेद मारग दियो[2]
माता दादी नानी चाची फूफी घर की नार
कोई विधवा को (हो?) हम उसकी शादी पर तैय्यार
भला हम बीज न छोड़ विधवा का

समाज में दूसरा वर्ग उन लोगों का था जो युग के अनुकूल आवश्यक परिवर्तनों एवं अनिवार्य सुधारों के पक्षपाती थे। इनमें से कुछ लोग आर्यसमाज आंदोलनों से प्रभावित थे और कुछ प्रगतिशील या उदार दृष्टिकोण वाले सनातनी थे। महात्मा मुन्शीराम पहले वर्ग के प्रतिनिधि माने जा सकते हैं और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र दूसरे वर्ग के। इन दोनों में वस्तुतः कोई विशेष अन्तर नहीं था। ये लोग बड़े दुःख के साथ सामाजिक दोषों का वर्णन करते हैं। धार्मिक वाद विवाद बाल विवाह विधवा विवाह न होने देना, जाति-पाँति का भेद भाव, अन्धविश्वास, समुद्रयात्रा निषेध, शराब, आदि मादक द्रव्य पान छुआछूत, स्त्रीशिक्षा का अभाव, पर्दा, अविद्या, 'अपनपो' के भावना की कमी, आदि से ये कवि व्यथित होते थे। "प्रेमघन" ने स्पष्ट रूप से घोषणा की—

"आवश्यक समाज संशोधन करो, न देर लगाओ"[3]

प्रतापनारायण मिश्र ने लिखा—

निज धर्म भली विधि जानें, निज गौरव को पहिचानें
स्त्री गण को विद्या देवें, करि पतिव्रता यश लेवें।[4]
बाल-ब्याह की रीति मिटाओ मिटाओ रहे लाली मुँह छाय।[5]

---

१ "आधुनिक काव्यधारा," पृष्ठ ६४।६५।
२ वही " " ६५
३ 'आनन्द अरुणोदय', " "
४ 'प्रेम पुष्पावली'
५ "होली है"

विधवा बिलखैं नित धेनु कटैं कोउ लागत हाय गोहार नहीं
कोउ पूछत हिन्दुन का ढोंग के नित निन्दित होय यथावत है[1]

इस दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की "भारत-दुर्दशा" नामक कृति विशेष रूप से उल्लेखनीय। प्रतापनारायण मिश्र की 'तृप्यन्ताम्', 'प्रेमघन' की 'जीर्णजनपद' आदि अनेक रचनायें की गई। इन सब का उद्देश्य था जनता को उसकी सांस्कृतिक दुर्दशा का ज्ञान कराना, जन मानस को इस तरह का बना देना कि वह सुधार आदि लाने के लिये तैयार हो जाय। जन-जीवन में होने वाले सुधारवादी इन विचारधाराओं ने संस्कृति के नवीन चरणों के दर्शन कराये तथा साहित्य में उनकी अभिव्यक्ति हुई। प्राचीन परम्पराओं के अन्धानुकरण का सदैव स्वागत नहीं हुआ। सुधारवादी कवियों ने उसका विरोध किया। इस प्रकार परम्परा से प्राप्त मान्यताओं में से अनावश्यक तत्वों के विरोध तथा समाज में युगानुकूल सुधार प्रवृत्तियों के द्वारा नवीन भारत के लिये एक जीवन दृष्टि बनी।

यदि एक ओर भारतीय जनमानस अपनी शास्त्रीय परम्पराओं से अनुप्रेरित होता था तो दूसरी ओर वह अथवा उसका एक भाग विदेशी तत्वों के प्रभावों को भी ग्रहण करने के लिये उत्सुक रहता था। ये तत्व विशेष रूप से उन संस्कृतियों के हैं जिनकी प्रतिनिधि जातियों का राज्य शासन भारतवर्ष के ऊपर स्थापित हो गया था। मध्ययुग में मुसलमानों ने भारत पर शासन किया और इस्लामी संस्कृति का भारतीय जन जीवन पर ज्ञात या अज्ञात रूप से पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी में इस्लामी शासकों की प्रकृति प्रवृत्ति पतनशील हो गई और १८५७ ई० में भारत पर अंग्रेजों का आधिपत्य हो गया। यहाँ से इस्लामी प्रभावों का पड़ना प्राय समाप्त हो जाता है और भारतीय जन जीवन "सात समुद्र पार" की सर्वथा अपरिचित और पूर्णत विभिन्न पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव क्षेत्र में आने लगता है। नवीन शासकों ने भारतवर्ष में अपने देश की जीवन विधियों और व्यवस्थाओं का प्रचार प्रारम्भ कर दिया जिसका अन्ततोगत्वा अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि हमारी जीवन दृष्टि ही बदलने लगी। कृपा, महत्व और सुविधाएँ प्राप्त करने के लिये सांसारिक मनोवृत्ति वाले व्यक्तियों का शासकों के रङ्ग ढङ्ग का अनुकरण स्वाभाविक होता है। शासकों ने अपना शासन स्थापित करके मध्ययुगीन भारत की राजनीतिक अव्यवस्थाओं और तज्जनित असुविधाओं से जन जीवन को मुक्त कर दिया था। साथ ही यह नवीन जाति मध्ययुगीन मनोवृत्तियों वाले भारत के लिये एक सर्वथा नवीन एवं पर्याप्त आकर्षक

१ 'मन की लहर'

सभ्यता लेकर आई थी। राजनीतिक क्षेत्र मे विरोधियो के क्रूरता पूर्वक दमन ने उनकी शक्ति का सिक्का हमारे मन पर जमा दिया था और विक्टोरिया की सुप्रसिद्ध घोषणा ने उनकी भलमनसाहत पर हमे विश्वास करा दिया था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि हमारे समाज का नवयुवक वर्ग बडी तेजी से उनका अनुकरण करने लगा। यह अनुकरण स्वस्थ ढङ्ग से भी हुआ और विकृत ढङ्ग से भी। जिस अनुकरण के कारण हम "अपनपो" भूल कर उनके सास्कृतिक दास बनने लगे वह विकृत ढङ्ग का अनुकरण था। इस प्रकार के अनुकरण का विरोध समाज के सभी समझदार व्यक्तियो ने किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा —

पढि विद्या परदेश की बुद्धि विदेशी पाय
चाल चलन परदेश की गई इन्हे अति भाय
अँग्रेजी बाहन बसन वेष रीति औ नीति
अँग्रेजी रुचि गृह सकल वस्तु देस विपरीत
सबे विदेशी वस्तु, नर, गति, रति रीति लखात
भारतीयता कछु न अब भारत मे दरसात
हिन्दुस्तानी नाम सुनि अब ये सकुचि लजात
भारतीय सब वस्तु ही सो ये हाय घिनात[1]

अम्बिकादत्त व्यास कहते हैं —

पहिरि कोट पतलून बूट अरु हैट धारि सिर
भालू चरबी परचि लवडर को लगाइ फिर
नई विदेशी विद्या ही को मानत सबस
सस्कृत के मृदु बचन लगत इनको अति कक्स[2]

जो अनुकरण स्वस्थ रूप से हुआ उसका स्वागत किया गया। दादा भाई नौरोजी पार्लियामेट के सदस्य चुने जाते हैं तो "प्रेमघन" प्रसन्न होकर हार्दिक बधाई देते हैं। "प्रेमघन' ने नये शासन की गुणावली गाई है —

जहाँ काफिले लुटत रहे सौजतन किये हू
जिन दुगम थल माहि गयो कोऊ नहि कबहू
रेल यान परमाय अँधरी रातहु निधरक
अघ पगु असहाय जात बालक अबला तक

१—"आर्याभिनन्दन , पृ० ५
२—'मन की उमग , "भारतधर्म

तडित गस परकास राजपथ रजनि सुहाए
महा महा नद माँहि सेतु सुदर बँधवाए
बने विश्व विद्यालय विद्यालय पाठालय
पावत प्रजा अलभ्य लाभ जिनते बिन सशय[1]

इन सबके होते हुए भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि समग्र रूप मे पाश्चात्य जीवन दृष्टि भारतीय विचारको का पूर्णत कभी भी स्वीकृत नही हुई। इसका कारण यह है कि उसकी प्रकृति हमारी प्रकृति से मूलत भिन्न है। "अपनपौ" को जागृत करने की माग मूल रूप से भारतीय समाज म प्रचलित होने वाली पाश्चात्य दृष्टि की प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप ही उत्पन्न हुई है —

निज धम कम व्रत नम नित दृढ चित हृय पालन करै
नहिं "आपनपौ" बिसराय के आन ओर सपनेहु दरै[2]

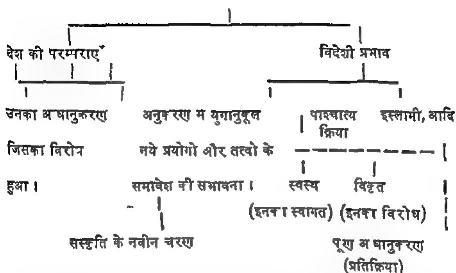
उपयु क्त उद्धरण का "आन ओर" पद अत्यन्त महत्वपूर्ण है और पाश्चात्य दृष्टिकोण की ओर सकेत करता है। इसी प्रतिक्रिया ने हमारे अन्दर राष्ट्रीय दृष्टिकोण जागृत करके उस युग की महत्वपूर्ण प्रवृत्ति बना दिया। भारतेन्दु युग से लेकर सम्पूर्ण आलोच्य काल म भारत की आत्मा अखण्ड रूप से प्रधानत राष्ट्रीय रग म रँगी रही और साहित्य मे राष्ट्रीयता के स्वर ही प्रधान रहे। इस स्वर के स्वरूप भिन्न भिन्न अवश्य रहे हैं। कभी प्राचीन भारत की महत्ता के गुण-गान के रूप म यह भावना अभिव्यक्त हुई कभी वतमान काल की दुदशा के चित्रण के रूप म, कभी अँग्रेजों की स्वाथ नीति के प्रति अभिव्यजित आक्रोश के रूप में, कभी भारत देश की प्राकृतिक विशेषताओ के गुणानुवाद के रूप म, कभी उदबोधन और आह्वान के रूप म आदि।

उपयु क्त सभी प्रवृत्तिया आलोच्य काल मे सक्रिय रही। अस्तु, आलोच्य काल की भारतीय जीवन दृष्टि के विभिन्न तत्व निम्नलिखित हुए—

(१) भारतीय परम्पराओ के अधानुकरण का विरोध।
(२) भारतीय परम्पराओ के अदर युगानुकूल सुधार और नये प्रयोग।
(३) पाश्चात्य प्रभावो के स्वस्थ एव कल्याणकारी अश का विरोध।
(४) पाश्चात्य प्रभावो के स्वस्थ एव कल्याणकारी अशों का स्वागत।
(५) पाश्चात्य सस्कृति के रग मे पूर्णत रग जाने की प्रवृत्ति का विरोध।

१— स्वागत शीर्षक कविता।
२— बालमुकुन्द गुप्त कृत स्फुट कविता रामविनय, पृ० १६।

इसे हम यो भी देख सकते हैं—



उपर्युक्त प्रवृत्तियों का समुचित समन्वय अभी नहीं हो पाया है। अभी समाज और साहित्य में इनकी क्रियाएँ प्रतिक्रियाएँ ही चल रही हैं। यही कारण है कि आलोच्य काल की संस्कृति संक्रान्तिकालीन संस्कृति है और उनकी पृष्ठभूमि में निर्मित साहित्य संक्रान्ति काल का साहित्य समझा जाना चाहिए।

अध्याय–१

सांस्कृतिक चेतना के आयाम

हिंदी साहित्य की व्यजनात्मक अभिव्यक्ति—सस्कृति का अर्थ—ससार क्या है—सभ्यता और सस्कृति—सभ्यता और सस्कृति तथा कलाकार की चेतना—सस्कृति के सम्बध मे विद्वानो के विचार—विभिन्न व्याख्याओ के विभिन्न तत्व—परिभाषाओ की विवेचना—निष्कर्ष—सस्कृति और सभ्यता का सम्बध—प्रस्तुत प्रबध मे अपनाया गया सस्कृति सम्बधी दृष्टिकोण—भारत की जातीय विशेषता—भारतीय सस्कृति—पाश्चात्य सस्कृति का स्वरूप—पाश्चात्य सस्कृति की विशेषताएँ—दोनों सस्कृतियो मे सघर्ष और सधि बिदु—हमारी आज की सस्कृति ।

सांस्कृतिक चेतना के आयाम

हिन्दी साहित्य की व्यंजनात्मक अभिव्यक्ति

हिन्दी साहित्य एक प्रकार से भारतवर्ष का राष्ट्र-साहित्य है। भारतवर्ष की आत्मा का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखने वाला यह साहित्य बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस साहित्य में स्थानीय विशिष्टताओं के होने पर भी प्रांतीयतावाद का दोष नहीं मिल सकता। इसमें समस्त भारत वर्ष का दर्शन सुलभ है। इसमें भारतवर्ष के सभी वर्गों का समस्त प्रांतों का, भारतवर्ष की दीनता और निर्धनता का, भारतवर्ष के तेज और गौरव का भारतवर्ष के आन्दोलनों और संघर्षों का, भारतवर्ष के हृदय की विशालता का, मन की छटपटाहट का एवं आत्मा की स्थिरता का चित्र मिलता है। बड़ा अनोखा साहित्य है यह। किन्तु इस साहित्य को समझने के लिये इस राष्ट्र की संस्कृति का अध्ययन अनिवार्य है। भारतवर्ष की संस्कृति को समझे बिना हम हिन्दी साहित्य का वास्तविक महत्व न समझ सकते हैं और न इसका सही मूल्यांकन कर सकते हैं।

संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा के 'कृ' धातु से बना है। 'कृ' का अर्थ है 'करना' कृत' का अर्थ है 'किया हुआ' और 'कृति' उसकी भाववाचक संज्ञा है। "सं" उपसर्ग से इस 'कृति' में भलीभांति का 'सम्यक रूप में' का अर्थ आ जाता है। यह परिष्कृत एवं परिमार्जित करने के भाव का सूचक है। तब "संस्कृति" का अर्थ हुआ "सम्यक रूप में, भली प्रकार से किये गये या बने हुए कुछ कार्यों का भाव रूप।

संस्कृति का अर्थ

ठीक यही बात पी० के० आचार्य ने भी लिखी है। संस्कृति शब्द "सम्" उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से निष्पन्न होता है। यह परिष्कृत एवं परिमार्जित करने के भाव का सूचक है।[1] संस्कृति के लिये अंग्रेज़ी में 'कल्चर" शब्द का प्रयोग होता है। उसकी व्याख्या करते हुए बलदेव उपाध्याय ने लिखा है, "कल्चर" शब्द लेटिन भाषा के कुलतुरा शब्द से निकला है जिसका अर्थ पौधा लगाना या पशुओं का पालन करना है। इसका मुख्य अर्थ होता है मस्तिष्क तथा उसकी शक्तियों को विकसित करना-शिक्षा तथा शिक्षण के द्वारा मानसिक वृत्तियों को सुधारना।[2]

१— भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता', पृ० १

२—"आर्य संस्कृति' पृ० ४१४, ४१५

'संस्कृति' शब्द का भी अर्थ है मन का, हृदय का तथा उनकी वृत्तियों को संस्कार के द्वारा सुधारना तथा उदात्त बनाना। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, कहते हैं अंगरेजी के प्रसिद्ध प्रबंध लेखक बेकन ने इस शब्द का मानसिक खेती के अर्थ में प्रथम बार प्रयोग किया था। इससे यह सिद्ध होता है कि अंगरेजी और हिन्दी दोनों ही भाषाओं में संस्कृति संज्ञा लगभग एक ही भाव का द्योतन करती है[१]।

गुलाबराय ने कहा है, "संस्कृति का संबंध संस्कार से है जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं[२]।

संस्कार क्या है?

"कृ' धातु से "कार' बनता है जो 'सं' उपसर्ग से युक्त होकर "संस्कार" हो जाता है। व्यक्ति के रूप में हम इसे यों समझ सकते हैं कि किसी एक व्यक्ति की चेतना पर तात्पर्य यह कि मन पर एक जीवन में या अनेक जीवनों में किये गये कार्यों का वातावरणों का, जो अमिट प्रभाव पड़ता है उसे संस्कार कहते हैं। उन वातावरणों में पले हुए प्रायः सभी व्यक्तियों की अन्तश्चेतना पर वातावरणों का प्रभाव लगभग एक सा पड़ेगा। परिणाम यह होगा कि इन व्यक्तियों से जो समाज बनेगा उस समाज की मुख्य प्रवृत्तियों का आधार व्यक्तियों की अंतश्चेतना पर पड़ा हुआ यही प्रभाव होगा। युगों-युगों के पश्चात् उस समाज के अनेक स्थितियों एवं परिस्थितियों से-क्रियाओं-और प्रतिक्रियाओं से गुजर जाने के पश्चात् इस प्रभाव का अनावश्यक, अस्थायी, एवं तत्वहीन अंश नष्ट हो जाता है और सब का कुछ बच जाता है वह ऐसा होता है जो फिर मूल रूप से तो कभी भी नष्ट नहीं होता। हां कुछ प्रमुख एवं असाधारण समसामयिक परिस्थितियां ऐसी अवश्य होती हैं जो उस "प्रभाव' को कुछ अंशों तक पुनः प्रभावित करने लगती हैं। कभी-कभी तो ऐसा लगने लगता है जैसे वह प्रभाव' मूलतः परिवर्तित हो जायगा किन्तु ऐसा होता नहीं। कारण यह है कि शताब्दियों से अनुभूत वह मूल "प्रभाव" ही उस समाज विशेष को उन असाधारण परिस्थितियों में जीवित रहने और महत्वपूर्ण कार्य-सम्पादन करने की शक्ति देता है। वह प्रभाव ही उसका अपना तत्व होता है एवं उसका अपना मन होता है जिसे खोकर कोई भी व्यक्ति या समाज अपने व्यक्तित्व एवं अस्तित्व की विशिष्टता खो बैठता है, उसका कोई भी महत्व नहीं रह जाता और

१— सभ्यता और संस्कृति' पृ० ६
२—"भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, पृ० १

वह "पर" में विलीन हो जाता है क्योंकि उसका "स्व" कुछ भी नहीं रह जाता। किसी भी व्यक्ति में यह सामर्थ्य नहीं पाया जाता कि वह आदि से आज तक चले आते हुए इन मूल प्रभावों एवं मौलिक तत्वों से अपने को अलग रख सके।

इन प्रभावों अथवा मूल तत्वों की पृष्ठभूमि में अथवा आदिम अवस्था में भौगोलिकता का प्रभाव अनिवार्य तथा महत्त्वपूर्ण ढंग से पड़ता है। गर्म तथा प्राकृतिक सौन्दर्य और वैभव वाले प्रदेश में रहने वालों के रहन सहन, रीति रिवाज, खान-पान, वस्त्र-आवास, व्यवहार-व्यवसाय के अतिरिक्त उन के स्वभावों, उनके सोचने की धाराओं और दिशाओं, उनकी आस्थाओं और विश्वासों तथा उनकी धारणाओं और मान्यताओं में जो विशिष्टताएं पाई जाएंगी वे ठंडे एवं मरुभूमि के निवासियों में नहीं पाई जा सकता।

सभ्यता और संस्कृति

इन प्रभावों की दो विशेष दिशाएं होती हैं। एक दिशा तो यह होती है कि उस भू भाग विशेष के अन्दर रहने वाले समाज विशेष के व्यक्ति कुछ थोड़े से, छोटे मोटे, महत्वहीन, सारहीन एवं मौलिक तत्वविहीन विभिन्नताओं के बावजूद भी एक विशेष ढंग से मकान बनाते हैं एक विशेष प्रकार की वेशभूषा अपनाते हैं, एक विशेष प्रकार का उनका रहन सहन होता है, एक विशेष प्रकार की उनकी शासन-व्यवस्था होती है और एक विशेष प्रकार के ही उनके रीति रिवाज होते हैं, इत्यादि। प्रभाव की दूसरी दिशा अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण होती है। इस दिशा मे हम यह पाते हैं कि जीवन सम्बन्धी उनका अपना दृष्टिकोण एक विशेष प्रकार का हो जाता है। बाह्य वातावरण को देखने और समझने की उनकी अपनी एक विशेष दृष्टि हो जाती है। उनका भाव, उनका स्वभाव, उनकी मान्यताएं, उनकी धारणाएं, उनके विश्वास उनकी आस्थाएं आदि एक विशेष प्रकार की हो जाती हैं। ये ऐसी होती हैं जो उनको (उस समाज और उसके सदस्यों को) एक विशिष्टता प्रदान करती हैं। उन्हें दूसरों से अलग करती हैं। उनकी ये विशिष्टताएं अबाध गति से प्रवहमान सरिताधारा की तरह होती हैं जिसमें सामयिक परिस्थितियों की छोटी मोटी सहायक नदियां आ-आकर मिला करती हैं और उसे समृद्ध करती रहती हैं किन्तु उसके मूल को आमूल परिवर्तित कर सकने में असमर्थ रहती हैं। मूलाधार उनको अपने में आत्मसात कर-करके बलवती, स्फूर्तिमयी एवं सप्राण होती रहती है। प्रभाव की पहली दिशा सभ्यता है, और दूसरी दिशा, संस्कृति। दूसरी का अध्ययन पहले के बिना असंभव एवं अपूर्ण होता है—और, इन दोनों के अध्ययन

के बिना किसी समाज विशेष एवं व्यक्ति विशेष की प्रवृत्ति एवं प्रकृति एवं प्रवृत्ति का-
उस को भलीभांति समझने का-प्रयास अधूरा, असफल एवं भ्रामक सिद्ध होता है।
दोनों एक पन्ने के दो पृष्ठों के समान होते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि
'सभ्यता का आंतरिक प्रभाव संस्कृति है।" इसी पुस्तक में चौथे पृष्ठ पर उस
विद्वान् लेखक ने यह भी लिखा है, "सभ्यता और संस्कृति भी एक दूसरे
के पूरक हैं।[1]

सभ्यता और संस्कृति तथा कलाकार की चेतना

इन्हीं दोनों से मिलकर किसी व्यक्ति-संवेदनशील कलाकार-की उस चेतना
का निर्माण होता है जिससे वह किसी को देखता और समझता है और संवेदना ग्रहण
करने की प्रक्रिया और उसके स्वरूप के विभिन्न तत्व भी इन्हीं दोनों से मर्यादित एवं
निर्धारित होते हैं। बचपन से वह जो कुछ देखता और सुनता है उसको कुछ
समझाया और बताया जाता है उसे जो कुछ सिखाया और पढ़ाया जाता है उसी के
सहारे वह करना देखना, सोचना और समझना प्रारम्भ करता है। मात्रा में
न्यूनता अथवा अधिकता हो सकती है किन्तु स्वरूप और प्रकार एक सा होता है
दूसरे की, पढ़ी लिखी बात बुद्धि ग्राह्य सिद्धान्त एवं आदर्श उसका आमूल परिवर्तित
करने में असमर्थ रहते हैं। कलाकार की कृति की पृष्ठभूमि यही होती है और इसी
लिये कलाकार की कृतियों को समझने के लिए इनका अध्ययन अनिवार्य होता है।
इनके न समझ पाने पर उसका भलीभांति समझ सकना असम्भव है। इस बात का पूरा
तरह से समझ कर, इसके मूलतत्वों को आधार बनाकर चलने से उनको यथा
उचित रूप में स्वीकार करने से ही किसी व्यक्ति समूह और राष्ट्र की उन्नति हो
सकती है, लक्ष्य प्राप्ति हो सकती है कल्याण हो सकता है अन्यथा यह सब असम्भव
है। इन्द्र विद्यावाचस्पति का मत है-'जो लोग संस्कृति को मार कर राष्ट्र को
जिन्दा रखना चाहते हैं वे असम्भव को सम्भव बनाना चाहते हैं'[2]।

संस्कृति के संबंध में विद्वानों के विचार

संस्कृति के सम्बन्ध में विद्वानों ने निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं
संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस
समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं[3] -'दिनकर'।

1— 'सभ्यता और संस्कृति' पृष्ठ ३।

2— "हिन्दू संस्कृति की रक्षा" पृ, ६८८

3— 'संस्कृति के चार अध्याय' पृ० ६५३

महादेवी वर्मा ने लिखा है "सस्कृति विकास के विविध रुपो की समन्वयात्मक समष्टि है।[१]

इन्द्र विद्यावाचस्पति का मत है – "किसी देश की आध्यात्मिक, सामाजिक और मानसिक विभूति को उस देश की सस्कृति कहते हैं। सस्कृति शब्द मे देश के धर्म साहित्य रीति रिवाज, परम्पराओ सामाजिक सगठन, आदि सब आध्यात्मिक और मानसिक तत्वो का समावेश होता है। इन सबके समुदाय का नाम सस्कृति है[२]।

सुमित्रानन्दन पत ने लिखा है "सस्कृति को मैं मानवीय पदार्थ मानता हूँ जिसमे हमारे जीवन के सूक्ष्म-स्थूल दोनो धरातलो के सत्यो का समावेश तथा हमारे ऊर्ध्व चेतना - शिखर का प्रकाश और समदिक् जीवन की मासिक उपत्यकाओ की छायाए गुम्फित हैं। उसके भीतर अध्यात्म धर्म, नीति से लेकर सामाजिक रुढि रीति तथा व्यवहारो का सादर्य भी एक अन्तर सामजस्य ग्रहण कर लेता है।[३]

सस्कृति की व्याख्या करते हुए हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है जो व्यक्ति के अन्तर का विकास हो भविष्य के अतीत के आदर्श पर जिसकी दृष्टि हो जो दूर की ओर दृष्टि रखती हो, व्यवस्था के अतीत पर दृष्टि रखती हो जो स्थायी हो वह सस्कृति है[४]

जी० एस० घुरे महोदय का मत है कि सस्कृति वह कवच है जो जीवन युद्ध की कठोरतम वास्तविकताओ का वीरतापूर्वक सामना करने के प्रयत्नो मे सहायक होता है।[५]

जगदगुरु शकराचार्य प्रभु श्रीज्योप्पीठाधीश्वर स्वामी श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज ज्योतिमठ वदरिकाश्रम ने लिखा है, मनुष्य की वयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनतिक, धार्मिक, आदि सभी क्षेत्रो मे लौकिक पारलौकिक अभ्युदय के

१– "क्षणदा', प, २३

२– "भारतीय सस्कृति का प्रवाह', पृ, १

३– 'उत्तरा", पृ० १५

४– "सभ्यता और सस्कृत', पृ० ४

५– कल्चर एण्ड सोसाइटी पृ० १२०

'वस्तुत संस्कृति उन गुणों का समुदाय है जिन्हें मनुष्य अनेक प्रकार की शिक्षा द्वारा अपने प्रयत्न से प्राप्त करता है। संस्कृति का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य की बुद्धि स्वभाव मनोवृत्तियां (Attitudes) से है।'[१] अन्त में वह उस निष्कर्ष निकालता हुआ कहता है, 'वस्तुत संस्कृति जीवन के महत्वपूर्ण एवं साधक रूपों की आत्म चेतना है।'[२]

विभिन्न व्याख्याओं के विभिन्न तत्व

उपर्युक्त परिभाषाओं को यदि हम समग्र में देखना चाहें तो उन्हें इस रूप में पायेंगे —

(१) सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया हुआ जिन्दगी का तरीका,

(२) आध्यात्मिक और मानसिक तत्वों का समुदाय (धर्म, साहित्य, रीति रिवाज, परम्परा)

(३) जीवन के सूक्ष्म-स्थूल धरातलों के सत्य, उच्च चेतना शिखर का प्रकाश (अध्यात्म, धर्म, नीति, सामाजिक रूढ़ि, रीति, व्यवहार आदि।

(४) व्यक्ति के अन्तर का विकास—भविष्य के, अतीत के आदर्श पर दृष्टि।

(५) कठोर वास्तविकताओं में होने वाले जीवन-युद्ध के सहायक तत्व,

(६) लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार विचार,

(७) [अ] आत्मा-परमात्मा का अनुभव, शिल्पकला, विज्ञान, समाज व्यवस्था की योजनाएँ (व्यक्तिगत और सामाजिक सुरुचि-सौरभ की सृष्टि),

[आ] सहृदयता और बुद्धि के सम्बन्ध का विकास,

(८) आदर्श, विश्वास, आध्यात्मिक शक्तियां और परम्परा, विभिन्न जीवन-दर्शन सामाजिक संस्थाएँ, आर्थिक व्यवस्थाएँ, वैज्ञानिक मान्यताएँ, आदि।

(९) आत्मा का संस्कार करने वाले शिल्प।

(१०) प्रभावशाली घटनाक्रम, परिस्थिति, वातावरण, आदि बातों का प्रभाव।

(११) अ—विचार विश्वास, रुचि, कला, आदर्श, आदि
आ—मानसिक विकास, मानसिक निखार,

(१२) ज्ञान, नीति कानून, रीति-रिवाज, आदि मान्यताएं, स्वभाव,

(१३) सामाजिक विरासत,

१—वही पृ० २०-२१
२—वही, पृ० २५

(१४) समस्त सामाजिक परम्परा,

(१५) समस्त सीखा हुआ व्यवहार,

(१६) विशिष्ट वर्गों के पारस्परिक सघनतम सबंध,

(१७) परम्परा,

(१८) अ –बुद्धि, स्वभाव, मनोवृत्ति आदि
आ –जीवन के महत्त्वपूर्ण एव मायक रूपों की आत्म-चेतना।

परिभाषाओं की विवेचना—

सम्कृति की उपर्युक्त परिभाषाओं पर विचार करने से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि पहली तेरहवी, चौदहवी पन्द्रहवी और सत्रहवी परिभाषाए स्पष्ट रूप से एक ही बात की ओर सकेत करती है और वह बात है "प्राप्त परम्पराए" दूसरी और तीसरी परिभाषाए धर्म साहित्य, सामाजिक रुढियो नीति, और रीति–रिवाजो का बात करती ह। ध्यान यह रखना चाहिये कि इन सभी तत्वों का मूलाधार भी प्राप्त परपराएँ है। इन परिभाषाओं म प्राप्त परपराओं का क्षेत्र-निर्देश मात्र कर दिया गया है। मूल तत्व वही है। आठवी परिभाषा, अर्थात् आदर्श, विश्वास, आध्यात्मिक शक्ति और परपराएँ विभिन्न जीवन दर्शन, सामाजिक सस्थाएँ, आर्थिक व्यवस्थाएँ वैज्ञानिक मान्यताएँ, पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि इनमें से कोई भी तत्व ऐसा नही है जो प्राप्त परपराओं का आधार लिये बिना अपना वर्तमान अस्तित्व एव अपना वर्तमान स्वरूप निर्माण कर सकें। उदाहरणार्थ, हमारी आध्यात्मिक शक्ति हमारे ऋषियो मुनियो, आदि द्वारा प्राप्त अनुभवो की वही समष्टि ता है जो हम विरासत के रूप म मिली है। एक और उदाहरण लें। हमारी सामाजिक सस्थाओ और आर्थिक व्यवस्थाओ का निर्माण उन्ही प्रवृत्तियो, मान्यताओ एव सिद्धान्तो के आधार पर होता है जो समाज म पहले से, चली आ रही हैं। यदि इनमे स किसी एक की भी स्थापना किसी एसे आदर्श, मान्यता, प्रवृत्ति या सिद्धान्त के आधार पर होती है जो हमारी अपनी नही है, हमारी अपनी परम्परा का नही है, हमारी अपनी सस्कृति का नही है तो जीवन म एक ऐसी अव्यवस्था आ जाती है जो उसे कुरूप बना देती है। उदाहरण के लिये हम भूमि को ले लें। हमारी सस्कृति धरती को माता कहती है। मा को कोई बेचता नही और भारत की धरती क्रय विक्रय की चीज (कमोडेटी) नहीं थी। अँग्रेजी साम्राज्यवाद ने धरती को (कमोडेटी) क्रय विक्रय की वस्तु का स्वरूप दे दिया। परिणाम, यह हुआ कि भारतवर्ष की भूमि-व्यवस्था आज तक अर्थशास्त्रियो के लिय एक एसी समस्या बनी हुई है जिसका

निदान हल दिखाई नही पडता। असमय प्राणी इस कुव्यवस्था के शिकार बन चुके हैं। भयानक गरीबी हमारे माथे पर मुहर की भांति अंकित हैं। भारतीय जीवन श्री हत हो गया है-कुरूप हो गया है। अस्तु प्राप्त परपराओ की आधार शिला पर ही इन व्यवस्थाओं का सुभव्य प्रासाद विनिर्मित हो सकता है। हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि हमारी आत्मा का सस्कार करने वाले शिल्प वे ही हो सकते हैं जिनकी रूपरेखा का आधार परपरा से प्राप्त हमारे अपने तत्व हो। अन्यथा हमारी आत्मा का सस्कार होना तो दूर की बात है हमारी आत्मा का हनन, हमारे आत्म स्वरूप की विकृति उसी प्रकार हो जायगी जिस प्रकार उन्नीसवी शताब्दी के द्वितीयार्द्ध मे कलकत्ते के हिन्दू कालेज से निकले हुए उन विद्यार्थियों की हो जाती थी जो न यूरोपीय बन पाते थे न भारतीय रह जाते थे न अंग्रेज हो पाते थे न हिन्दू रह जाते थे। इसीलिये नवी परिभाषा की प्राणशक्ति प्राप्त परपराओ पर ही आधारित है क्योंकि हमारी आत्मा का सस्कार उन्ही तत्वो या शिल्पों से हो सकता है जो हमे परपरा से प्राप्त हैं और जिन पर हम विश्वास है। हम यह नही कहते कि सामयिक एव तात्कालिक अनुभवो का कोई महत्व नही। उनका महत्व है और उनका महत्वपूर्ण योग होता है किन्तु वे हमारा विश्वास तभी पा सकते हैं हमारी सस्कृति की कक्षा मे तभी स्थान पा सकते हैं जब वे अनेक बार कसौटी पर चढ कर खरे सिद्ध हो जायें और जहा यह स्थिति आई वहा वे प्राप्त परपराओ की कोटि मे आ जाते हैं। इस तथ्य को हृदयगम कर लेने पर सातवी, दसवी ग्यारहवी और बारहवी परिभाषाओ के अन्दर भी हम प्राप्त परपराओ का तत्व ही मूल रूप से व्याप्त दिखलाई देगा। एक बात पर और विचार कर लेना चाहिए। वह बात यह है-व्यक्ति का विकास क्या है तथा हमारी लौकिक और आध्यात्मिक उन्नति का अर्थ क्या है। विकसित व्यक्ति हम उसे कहते हैं जिसके अन्दर तत्वो और तथ्यों को सही ढग से समझ कर व्यक्ति गत और सामाजिक सुख-समृद्धि के लिये उनका उपयोग करने की शक्ति एव क्षमता हो। तत्वों को समझने का सही ढग व्यक्तिगत सुख-समृद्धि और सामाजिक सुख-समृद्धि—इन तीनो का आधार है इन तीनो के स्वरूपो की सामाजिक स्वीकृति एव सामाजिक मान्यता, और समाज उसी को स्वीकृत करता और मान्यता देता है जो उसके परम्परागत ज्ञान और अनुमान से आमूल भिन्न न हो। भूमि के रूप या मूल्य-परिवर्तन को आज दो-सौ वर्षों से भी अधिक हो गये और व्यावहारिकता की सभी रूढियों और कसौटियों विधानो और व्यवस्थाओ को दमन हुए हमे स्वीकार करना पड़ता है कि हमने भूमि को कमाडिटी क्रय विक्रय की वस्तु मान लिया है-हमारी सवेदना इतनी समय नही रह गई है कि हम कह सकें —

समुद्रवसने ! देवि ! पर्वत-स्तनमडले !
विष्णुपत्नि ! नमस्तुभ्यम् ! पादस्पर्श क्षमस्व मे !

इसी प्रकार हमने अन्न को भी क्रय विक्रय की वस्तु मान लिया है। उसको देवता मानना छोड़ दिया है। इतने पर भी हमारी अन्तर्चेतना ने हमारी सामाजिक समष्टि ने हमारी परम्परा ने, क्रय-विक्रय की वस्तु मानने वाली प्रवृत्ति को न तो मान्यता दी है और न माता और देवता मानने वाली आस्था का उपहास उड़ाया है। आज भी बीज बोये जाने के समय धरती माता की समुचित रूप से पूजा की जाती है और विज्ञान के प्रकाण्ड पंडितों को भी भोजन करने के पश्चात् थाली को प्रणाम करके उठते हुए देखा गया है। समाज अपनी प्राप्त परंपराओं से आमूलतः विभिन्न किसी भी तत्व को मान्यता नहीं देता। अस्तु तथ्यों-सत्यों को समझने का सही ढंग वही है जिसे सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है और इसी प्रकार व्यक्तिगत और सामाजिक सुख-समृद्धि का स्वरूप भी वही है जिसे समाज परम्परा से मानता चला आया है। समाज की इस कसौटी पर जो व्यक्ति खरा नहीं उतरता वह पागल कहलाता है और दुखी माना जाता है और जो ज्ञान-विज्ञान खरा नहीं उतरता उससे समाज को सुख-समृद्धि नहीं प्राप्त हो सकता। अध्यात्मसंबंधी जिस ज्ञान और अनुभूति को भारत ने आदि युग से आज तक प्राप्त किया है उसके विपरीत प्रणीत एवं सिद्ध होने वाले ज्ञान एवं अनुभूति को हम आध्यात्मिक उत्कर्ष का साधन अथवा आध्यात्मिक ज्ञान राशि के कोष का बहुमूल्य, अमूल्य अथवा उल्लेखनीय रत्न नहीं मान सकते। व्यक्तिगत सुख-समृद्धि सौंदर्य का रूप और मापदण्ड निश्चित है। उसका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। जिस समाज ने यह मान रखा है कि लज्जा नारी का भूषण है वह बावकट बालों वाली तथा सैंडो कट बनियान-जैसे बाहु-विहीन ब्लाउज या चुस्त कुर्ता या सकर्म में काम करने वालों की तरह चिपका हुआ पतलून या पाजामा पहन कर अपने रूप और आकर्षण को उभार-उभार कर उसे मादक बना-बनाकर प्रदर्शित कर-करके पुरुषों के बीच ठहाका मार मारकर हँसने वाली नारी को देखकर चुप भले ही रह जाय उसे आदर्श नहीं मान सकता। चूंकि शहर की नारियों का रूप-स्वरूप देहात में मान्य स्वीकृत नारी रूप के अनुरूप नहीं होता इसलिये हमारा व्यक्तिगत अनुभव है कि, शहर की नारियां देहात की गृहलक्ष्मियों के लिये अमान्य एवं अस्वीकृत होती हैं चिड़ियाघर की कोई जाव मात्र होती हैं। पति-पुत्र विहीन किन्तु धन-सम्पत्ति से सम्पन्न महिला को सुखी मान लेना अभी हमारी चेतना के बाहर की बात है। कारण यही है कि ये रूप हमारी परम्परा के प्रतिकूल

पड़ते हैं और इसीलिये ये हमारी संस्कृति के अंग नहीं बन गये। इस दृष्टि से इनके पर चौथी और छठी परिभाषाएँ भी प्राप्त परम्परा में अन्तर्गत ही आ जाती हैं। अब रह जाती है पांचवी परिभाषा जो जीवन-युद्ध में प्राप्त होने वाले सहायक की बात करती है। किसी भी युद्ध में हम उसी को अपना सहायक मानते हैं जो हमारी शक्ति बढ़ाए और हमें विजयी बनाए। निश्चित है कि सहायक का स्वरूप हानि और विजय-संबंधी हमारी धारणा और मान्यता पर आधारित होगा। ब्रिटिश साम्राज्यवाद से हमारा युद्ध था। इस युद्ध में शक्ति-संबंधी हमारी धारणा थी उत्कृष्ट चरित्र और हमारे विचारों का समर्थन और विजय संबंधी हमारी मान्यता थी अंग्रेजों को यह विश्वास दिला देना कि भारत पर उनका शासन करना किसी भी प्रकार से उचित नहीं। अस्तु निश्चित हो गया कि हमारा सहायक वही हो सकता था जो भारतवासियों में चरित्र की कमियों को दूर कर सकता और हमारी विचार धारा का प्रचार कर सकता-न कि वह जो हमें अस्त्र शस्त्र और सैनिक देता अथवा हमारी सहायता के लिये अंग्रेजों पर आक्रमण करता। एक दूसरा उदाहरण लें। हम गरीबी से लड़ना है। यदि इसका तात्पर्य यह है कि हमारे पास अकूत धन-संपत्ति हो जाय तो हमारा सहायक कुबेर माना जायगा। हमारी मान्यता है कि दरिद्र वह नहीं है जिसके पास धन-संपत्ति का अभाव है बल्कि दरिद्र वह है जो धन-संपत्ति के लिये निरन्तर 'हाय !' 'हाय !!' करता है। अतएव इस युद्ध में हमारे सहायक होंगे गांधी और विनोबा के विचार एवं ईशोपनिषद् का यह वाक्य —

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचि जगत्यां जगत।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

इस जीवन-युद्ध में हमारा प्रतिद्वन्दी कौन है ? वे विचार, वे परिस्थितियाँ वे वातावरण, वे अवस्थाएँ, वे व्यवस्थाएँ जो हमें वह नहीं रहने देतीं और उस प्रकार से नहीं रहने देतीं जिस प्रकार से रहना हमने परम्परा से सीखा और पसंद किया है। इसीलिये इस युद्ध के हमारे सहायक वे ही तत्व माने जायेंगे जो हम हमारी परम्परा के हमारे अपने स्वरूप के अनुरूप रहने में उपयोगी सिद्ध हों। अस्तु ये तत्व वे ही होंगे जिनका आधार प्राप्त परम्पराएँ ही हों। यही बात अठारहवीं परिभाषा के संबंध में भी सत्य है।

निष्कर्ष—

निष्कर्ष यह निकला कि प्राप्त परम्पराएँ ही संस्कृति हैं। इस परिभाषा को यदि और अधिक स्पष्ट करना है तो हम यह कह सकते हैं कि व्यक्ति और समाज के

परिष्करण, उदात्तीकरण अथवा उसके सत्य, शिव, सुन्दर स्वरूप निर्माण के लिए उस व्यक्ति और समाज को उसके अस्तित्व के आदि युग से आज तक जो परम्पराएँ प्राप्त हुई हैं उन्ही का नाम संस्कृति है। दूसरे शब्दों मे हम इसे इस प्रकार समझ सकते हैं कि भीतर और बाहर से हम जो कुछ हैं, वही हमारी संस्कृति का स्वरूप है।

संस्कृति और सभ्यता का सम्बन्ध—

संस्कृति के साथ ही साथ एक और शब्द का प्रयोग प्राय होता है। वह शब्द है "सभ्यता"। इसके विषय मे महात्मा गाँधी ने लिखा है, "सभ्यता तो आचार-व्यवहार की वह रीति है जिससे मनुष्य अपने कर्तव्यों का पालन करे।"[1] जी एस घुरे का कथन है कि सभ्यता सामाजिक उत्तराधिकार या विरासत का वह सम्पूर्ण योग है जो सामाजिक धरातल पर प्रतिच्छायित होता है।'[2] 'हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव संस्कृति है।"[3] तात्पर्य यह हुआ कि सभ्यता वह तत्व है जिसका आन्तरिक प्रभाव संस्कृति है। हमारे अन्तर पर प्रभाव हमारे बाह्य वातावरण एवं स्थूल तत्वों का पड़ता है। निष्कर्ष यह निकला कि हम जिस वातावरण मे रहते हैं उसका स्थूल, दृश्यमान एवं मूर्त रूप ही सभ्यता है।

इस प्रकार सभ्यता और संस्कृति दोनो एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध सिद्ध होते हैं। इसलिये जब टायलर यह कहता है कि सभ्यता और संस्कृति पर्यायवाची शब्द हैं तब व्यावहारिक दृष्टि से वह सत्य से बहुत दूर नही रहता। जी एस घुरे[4] और 'दिनकर'[5] ने इन दोनो के सम्बन्ध में एक ही बात लिखी है और वह यह है कि सभ्यता वह चीज है जो हमारे पास है और जो कुछ हम हैं (जो हम मे व्याप्त है) वह संस्कृति है। ब्रानिसला मलिनाउस्की ने लिखा है कि ऊँची सम्कृति के एक खास पहलू को सभ्यता कहते हैं। यह खास पहलू उसका बाह्य स्वरूप या मूर्त रूप ही हो सकता है। इससे अधिक स्पष्ट अध्ययन हुमायुन कबीर का है जो यह कहते हैं कि संस्कृति सभ्यता की फलश्रुत है। हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपयुक्त निष्कर्ष भी यही है। सत्यदेव जी परिव्राजक का विचार है, "सभ्यता है अपरा विद्या और संस्कृति है

१ हिन्द स्वराज्य, पृष्ठ, ६२
२ "कल्चर एण्ड सोसायटी पृ०, ३
३ 'सभ्यता और संस्कृति' पृ०, ३
४ "कल्चर और सोसायटी" पृ० ३
५ 'संस्कृति के चार अध्याय' पृ० ३

परा विद्या।"[1] उन्होंने इन दोनों में "आकाश पाताल का अन्तर"[2] पाया है। हमें यह दृष्टिकोण अतिवादी प्रतीत होता है। परा विद्या वाले की भी तो कोई न कोई सभ्यता होती ही है और अपरा विद्या वाले की भी कोई न कोई संस्कृति तो होती है। दोनों को एक दूसरे का विरोधी मानना युक्ति युक्त नहीं प्रतीत होता। सम्पूर्णानन्द जी का कथन है, "सभ्यता और संस्कृति सर्वथा असम्बन्ध न होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न है। संस्कृति आभ्यन्तर, सभ्यता बाह्य तत्व है। संस्कृति को अपनाने में देर लगती है, परन्तु सभ्यता की सद्य नकल की जा सकती है।"[3] अस्तु हम जिस वातावरण में रहते हैं उसका स्थूल, दृश्यमान एवं मूर्त रूप ही सभ्यता है और इन सबके प्रभाव स्वरूप हम जो-कुछ बन जाते हैं जो-कुछ हो जाते हैं वह है हमारी संस्कृति। इन्हीं दोनों के अध्ययन द्वारा ही हम किसी समाज या व्यक्ति का सम्यक् अध्ययन कर सकते हैं उसके वास्तविक रूप को ठीक से समझ सकते हैं, उसकी प्रवृत्तियों और विशेषताओं का उचित आकलन एवं समुचित मूल्यांकन कर सकते हैं। संस्कृति का अध्ययन सभ्यता के विभिन्न अङ्गों के अध्ययन के बिना सम्भव ही नहीं है। सम्भवतः इसीलिये जैसा पहले संकेत किया जा चुका है संस्कृति का अध्ययन तभी पूर्ण एवं उपयोगी हो सकता है जब हम धर्म साहित्य, रीति रिवाज, सामाजिक संगठन, आर्थिक और राजनैतिक अवस्थाओं आदि का पूर्ण स्पष्ट विश्लेषण एवं विवेचन करके उन्हें पूरी तरह से समझ लें। ऊपर हम देख चुके हैं कि संस्कृति इन्हीं सबके प्रभाव स्वरूप उद्भूत होती है। इसलिये संस्कृति को समझने के लिये इन सबका अध्ययन अनिवार्य है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में अपनाया गया संस्कृति सम्बन्धी दृष्टिकोण—

इस प्रबन्ध में हमें हिन्दी साहित्य (१६००–१६५० ई०) की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि का अध्ययन करना है अर्थात् बीसवीं शताब्दी के इस पूर्वार्द्ध में हिन्दी साहित्य का जो रूप हमें मिलता है वह जिस सामाजिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, दार्शनिक, धार्मिक, आत्मिक अवस्थाओं एवं व्यवस्थाओं की पीठिका पर लिखा गया है, ऐसी जिन स्थितियों एवं परिस्थितियों से प्रभावित हुआ है, वे क्या थीं और कैसी थीं? तात्पर्य यह है कि हमें हिन्दी प्रदेश की बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की संस्कृति का अध्ययन करना है। यह कहने की बात नहीं है कि संस्कृति की एक अविच्छिन्न धारा होती है और हिन्दी प्रदेश की संस्कृति की धारा का क्रम सौ-पचास वर्षों का नहीं

१ कल्याण पत्रिका हिन्दू संस्कृति अङ्क पृष्ठ २३४

२ वही

३ वही, पृष्ठ ६६

शताब्दियो का नही बल्कि सहस्राब्दियों से अखण्ड एव अबाध गति से अटूट रूप से मिलता है। तो हिन्दी प्रदेश की बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की सस्कृति का अध्ययन करने के लिये और उसका महत्त्व समझने के लिये हम अब तक के हिन्दी प्रदेश के जीवन की विशिष्टताओ एव सस्कृति के तत्वों का अध्ययन करके उन्हे समझना होगा, और उसके मूल्यांकन एव महत्वाकन के लिये यूरोपीय सस्कृति से उसकी तुलना करनी होगी। अन्त मे हम इस निष्कर्ष पर पहुचेगे कि हमारी सस्कृति के मूल तत्व क्या है? इसके बाद हमारी स्थिति यह हो जायगी कि हम इस हिन्दी प्रदेश की बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की उन परिस्थितियो एव स्थितियो का (जो मिलकर सस्कृति की रूपरेखा निर्धारित करती हैं) चित्रण करके अपने हिन्दी साहित्य पर पडने वाले उनके प्रभावो का उल्लेख कर सकें।

भारत की जातीय विशेषता—

अस्तु हम हिन्दी प्रदेश के जीवन की सामान्य विशिष्टताओ पर एक दृष्टि डालने का प्रयत्न करने जा रहे हैं। प्रत्येक देश या राष्ट्र का अपनी कोई न कोई विशिष्टता होती है। भारत की अपनी जातीय विशेषता है उसकी धार्मिकता एव आध्यात्मिकता। राधाकृष्णन ने लिखा हैं यदि हम भारतीय जीवन की सम्पूर्ण अविच्छिन्न धारा देखना चाहते हैं तो उसका दर्शन हमें उसके राजनीतिक इतिहास म नहीं वरन् उसके सास्कृतिक तथा सामाजिक जीवन मे ही मिल सकता है। [1] उन्होने भारतीय समाज की निम्नलिखित विशिष्टताएँ बतलाई हैं—(१) समस्त जीवन जिस एक की अभिव्यक्ति है उस अदृश्य सत्य, उस अनन्त शक्ति पर विश्वास, (२) आध्यात्मिक अनुभवों एव अनुभूतियो के नितांत वैयक्तिक होने पर विश्वास, (३) रीति रिवाजों मतवादो और अधविश्वासो के सापेक्षिक होने पर विश्वास, (४) बौद्धिक प्रतिमानो पर अडिग विश्वास, और (५) प्रतीयमान विरोधो मे सामजस्य स्थापित करने की आकांक्षा।[2] भारतीय समाज का महत्व धार्मिक विधि निषेधो के समूह के रूप मे उतना नहीं है जितना इस रूप मे कि यह मानवता की आध्यात्मिक तृषा को तृप्त करने मे समय सजीव सत्यों का सकलन किए हुए है। हिन्दी साहित्य मे हिन्दुत्व का यही आदर्श मिलता है। त्रुटियो से पूर्ण यथार्थ की झांकी हिन्दी के अपराङ्कन नवीन कथा साहित्य मे ही मिल सकती है। हमारा भारतीय समाज इस आध्यात्मिकता पर इस हद तक आस्थावान हो चुका है कि इस पक्ति मे किसी भी प्रकार की

---

१ 'भारत की अन्तरात्मा', पृ० १६

२ 'ईस्ट एण्ड वेस्ट', पृ० ४२

अनुभूति नहीं मिलता, कहती कि किसी भी भारतीय को उसके आध्यात्मिक अस्तित्व का स्मरण कराये बिना उसके आन्तर या बाह्य जीवन में कुछ भी नहीं किया जा सकता।[1] दूसरी प्रवृत्ति पर विचार करते हुये देवराज ने लिखा है[2] कि हमारे देश में महत्वपूर्ण राजनीतिक क्रान्तियाँ नहीं हुईं। सम्भवतः इसका कारण यही है कि हमने राजनीति को कभी अधिक महत्व नहीं दिया। हमने सदैव महत्व दिया है आध्यात्मिक विकास को, आत्मिक उत्थान को सब पथ और द्वार को। हमारा आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में उनका विचार है कि हम आध्यात्मिकता का यही अर्थ समझते हैं कि विवेकी व्यक्ति इस संसार के सुखों का उपभोग करते हुए भी उनमें इतनी आसक्ति उत्पन्न न करे कि उसके अभाव में व्याकुल हो जाये। यह सही है कि हम अनासक्ति को बहुत महत्वपूर्ण समझते हैं किन्तु यह कहना कि हमारी आध्यात्मिकता का अर्थ केवल अनासक्ति है सर्वथा उचित नहीं प्रतीत होता। आध्यात्मिकता में और भी बड़ी बड़ी चीजें आ जाती हैं जैसे—आस्तिकता, सहानुभूति की भावनाओं की अवस्थायें, आत्म विस्तार की विभिन्न स्थितियाँ, आदि। भारतीय समाज की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता उसकी सहनशील सामासिकता की प्रवृत्ति और उसका समन्वयात्मक दृष्टिकोण है। डा० एस० एन० सेन ने लिखा है "भारतवर्ष की अगाध जीवनी शक्ति का रहस्य विभिन्न विचारों, विभिन्न दृष्टिकोणों, विभिन्न प्रथाओं और ज्ञान एवं बोध के विभिन्न स्तरों को सहन कर सकने की उसकी अद्भुत क्षमता में निहित है।"[3] इस कथन में उपर्युक्त तीनों तथ्यों का समावेश है। राधाकृष्णन ने भी इसी सामासिकता एवं समन्वयात्मकता की प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है कि "आर्यों के भारत में प्रवेश करने के दिन से आज तक गम्भीर जातीय एवं धार्मिक विप्लवों का निरन्तर सामना करते रहने का गौरव अथवा दुर्भाग्य भारत का सदा ही रहा है। एक विशेष अर्थ में भारतवर्ष संसार का एक छोटा संस्करण है। यह एक प्रयोगशाला है जहाँ संसार की समस्याओं से सम्बन्धित जातीय अथवा धार्मिक संश्लेषण के प्रयोग किये जाते हैं।'[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत की जनता ने आदि युग से लेकर आज तक बराबर यही प्रयत्न किया है कि वह विभिन्न धर्मों, विभिन्न संस्कृतियों एवं विभिन्न जातियों की विचारधाराओं में अपनी संस्कृति के अनुरूप समन्वय उपस्थित

१ आदित पत्रिका, फरवरी, १९५६ ई०, पृ० १७०

२ भारतीय संस्कृति', पृ० २०४–२०५

३ "कल्चरल युनिटी आफ इण्डिया" पृ० १२

४ भारत की अन्तरात्मा",

करती रहे। उसने मिलाया सब को है किन्तु मिलाया है अपने मूल रूप को, अपनी मूल प्रवृत्ति को, अपने मूल सांस्कृतिक तत्व को सुरक्षित रखते हुए। परिणाम यह हुआ है कि भारतवर्ष की सभी वर्गों की जनता के पास उसका अपना मूल सांस्कृतिक रूप सबल की तरह बराबर मौजूद है। इस सम्बन्ध में पण्डित जवाहरलाल नेहरू का अनुभव विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भारतवर्ष का कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है जहाँ वे न गए हों। उन्होंने सभी प्रदेशों के सभी वर्गों के व्यक्तियों का बड़ी ही सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण किया है और तब वे जिस निष्कर्ष पर पहुचे हैं उसका उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है "सभी जगह मुझे एक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि मिली जिसने उनके जीवन पर सशक्त प्रभाव डाला था। यह पृष्ठभूमि लोक-दर्शन, परम्परा, इतिहास पौराणिक और काल्पनिक कथाओं का मिश्रण थी और इनमें से किन्हीं के बीच विभाजन रेखा खींचनी सम्भव नहीं थी। अशिक्षित किसानों के मस्तिष्क में भी एक चित्रशाला थी। इस चित्रशाला के अधिकांश चित्र पौराणिक कथाओं परम्पराओं और रामायण–महाभारत के वीर पुरुषों और वीर नारियों के चित्रों से सजाई गई थी। ऐतिहासिक चित्र इनमें न्यूनतम थे। फिर भी, ये चित्र काफी सजीव थे।"[1] अन्यत्र वे कहते हैं कि वास्तविक जीवन में न कोई हिन्दू संस्कृति है और न कोई उससे भिन्न मुस्लिम संस्कृति। सब मिल कर एक हो गए हैं।[2] निष्कर्ष यह निकलता है कि भारतीय जीवन न तो राजनीति प्रधान है, न ऐतिहासिकता प्रधान। वह अर्थ प्रधान भी नहीं है। इन सब की चेतना का अभाव नहीं है किन्तु ये गौण हैं। भारतीय जीवन में प्रधानता है धार्मिकता और आध्यात्मिकता की दार्शनिकता और सांस्कृतिक चेतना की। भारतीय जीवन के जो चार पुरुषार्थ निश्चित किये गए हैं उनमें भी सर्वप्रथम है धर्म। अर्थ काम और मोक्ष बाद की बातें हैं। यह तत्व भारतीयों की चेतना के सभी स्तरों के कण–कण और अणु–अणु में समाया हुआ है। हाँ यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि यहां धर्म का अर्थ उसके कर्मकाण्ड वाले रूप से नहीं है। यहाँ धर्म का अर्थ है उसका तात्त्विक रूप। इसलिए भारतीय जीवन की विशेषताएँ निम्नलिखित सिद्ध हुईं।

(१) आध्यात्मिक दृष्टिकोण, (२) सांस्कृतिक चेतना (अपने धर्म, दर्शन और साहित्य के अनुसार) (३) धार्मिकता (४) सजीव सत्यों का संकलन, (५) सहनशक्ति, (६) सामासिकता एवं समन्वयात्मकता की प्रवृत्ति, और (७) सामाजिक चेतना।

---

१ 'डिस्कवरी आफ इण्डिया", पृ० ५५

२ "आटोबायग्राफी', पृ० ४७१

भारतीय संस्कृति—

भारतीय जीवन और दृष्टिकोण की इन्हीं विशेषताओं से भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ है। भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालने वाले विभिन्न विद्वानों की विचारधारा से परिचित हो लेना अनावश्यक न होगा। विदेशियों के सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप यद्यपि भारतीय जीवन में बहुत से परिवर्तन हुए हैं फिर भी मूल रूप से हमारे अधिकांश महान् पुरुषों का 'सारा जीवन परम पुरुष, जगदीश्वर, एकमेव, निरपेक्ष एवं अनन्त की इस खोज में ही लगा दिया जाता है। और इस अपार्थिव लक्ष्य का अनुसरण करने के लिए आज भी मनुष्य बाह्य जीवन, समाज, घर, परिवार तथा अपने अत्यन्त प्रिय विषयों को एवं उन सबको जो तत्त्व प्रधान मन के लिए सच्चा तथा ठोस मूल्य रखता है, त्याग देने में सन्तोष अनुभव करते हैं। यही एक ऐसा देश है जिस पर अभी तक संन्यासी की पताका का गेरुआ रंग खूब पक्का चढ़ा हुआ है, जहाँ अभी तक परात्पर का एक सत्य के रूप में प्रचार किया जाता है और मनुष्य अन्य लोकों तथा पुनर्जन्म में और प्राचीन विचारों की उस सम्पूर्ण शृङ्खला में जीवित विश्वास रखते हैं जिसकी सत्यता भौतिक विज्ञान के उपकरणों के द्वारा बिल्कुल ही नहीं परखी जा सकती। यहाँ योग के अनुभवों को रासायनिक प्रयोगशाला के परीक्षणों के समान या उनसे भी अधिक वास्तविक माना जाता है।'[1] भारतीय अब भी मानता है कि 'प्रत्येक जीवन एक पग है जिसे वह पीछे या आगे की ओर उठा सकता है, अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्थाओं से लेकर अन्तिम परात्परता में पहुँचने तक उसका जीवनगत कर्म, जीवनगत संकल्प उसका विचार और ज्ञान जिनके द्वारा वह अपने जीवन का नियन्त्रण और परिचालन करता है, उसके भावी अस्तित्व या जीवन का निर्धारण करते हैं। यह विश्वास जीवन विषयक भारतीय विचार की धुरी है कि आत्मा का क्रमशः विकास होता है और अन्त में वह एक ऊर्ध्व गति या लोकोत्तर स्थिति को प्राप्त होता है।'[2] अब भी हमारा विश्वास है कि 'एक ही अनन्त चित् शक्ति, कार्य संचालक शक्ति, परम संकल्प बल या विधान, माया, प्रकृति, शक्ति या कर्म—सभी घटनाओं के पीछे अवस्थित है चाहे वे हम अच्छी लगें या बुरी, स्वीकार्य लगे या अस्वीकार्य, सौभाग्यपूर्ण लगें या दुर्भाग्यपूर्ण।'[3] इन उद्धरणों में हमें ये तत्त्व मिलते हैं—(१) सबके पीछे एक अनन्त चित् शक्ति को मानना, (२) जीवन का लक्ष्य उसी की खोज है (३) इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सर्वस्व त्याग, (४) अन्य

१ 'अदिति' पत्रिका १९५६, पृ० ९५–९६

२ वही, पृ० ११०

३ वही पृ० १४६

लोको, पुनर्जन्म और प्राचीन विचारों की शृङ्खलाबद्धता में विश्वास, (५) आत्मा की विकासशीलता पर विश्वास, और (६) यही जीवन सब कुछ नहीं है बल्कि यह अनंत क्रम का एक लघु अंश है। वास्तविकता तो यह है कि भारत एक भौगोलिक, आर्थिक एवं भौतिक इकाई मात्र नहीं है। ऐसा वह कभी भी नहीं रहा। उसे जनसंख्या, क्षेत्र आदि से कभी भी नापा नहीं जा सकता, समझा नहीं जा सकता। करोड़ों के अन्तर की मार्गें पवित्रतम परम्पराओं को सुरक्षित रखने वाली स्मृतियां, अमिट शौर्य, चिर परिवर्तनशील सामाजिक विधान असाधारण महत्व की साहित्यिक और सौंदर्यात्मक उपलब्धियां आदि भारतीय संस्कृति की आत्मा की उपलब्धियां हैं। अद्वितीय गहनता दृढ़ता वाले धर्म, दर्शन और नैतिक सिद्धांत आदि उसकी शक्ति एवं स्फूर्तिदायिनी आंतरिक प्रवृत्तियां हैं। भारतीय संस्कृति ने बाह्य तत्वों का पूर्णतः निरादर किया हो ऐसी बात नहीं है। उसने उन्हें उचित स्थान दिया है किन्तु उसे अपेक्षाकृत उच्चतर स्थान नहीं दिया है। गम्भीरता पूर्वक देखें तो ऐसा लगता है कि भारत ने बाह्य तत्वों का आन्तरिक तत्वों से सम्बन्धित कर दिया है और इस प्रकार उनके महत्व में भी वृद्धि कर दी है क्यों कि वस्तुतः महत्वपूर्ण तो वही है जो शाश्वत है और अपरिवर्तनशील है और ऐसा तत्व सूक्ष्म ही हो सकता है अर्थात् आंतरिक ही हो सकता है। भारत सामयिक महत्व और शाश्वत महत्व का स्वरूप, उसका अन्तर, और उसकी उपयोगिता का समझता है और सब को समुचित महत्व देना जानता है। सम्भवतः इसीलिये के० शेषाद्रि ने लिखा है 'भारत बाह्य और आन्तरिक के मौलिक अन्तर को समझना जानता है भारतीय संस्कृति का लक्ष्य है मन और इन्द्रियों को आत्मा के द्वारा समुचित रूप से नियन्त्रित करके एक सन्तुलित और सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना। सचमुच भारतीय संस्कृति में लौकिक आलौकिक भौतिक और आध्यात्मिक, सांसारिक और पारलौकिक, धार्मिक और व्यावहारिक का इस समुचित रूप से नियन्त्रित करके एक सन्तुलित और सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना। सचमुच भारतीय संस्कृति में लौकिक और अलौकिक भौतिक और आध्यात्मिक, सांसारिक और पारलौकिक, धार्मिक और व्यावहारिक का इस समुचित रूप से समन्वय किया गया है कि हमें एक भी ऐसा सामाजिक तत्व न मिलेगा जिसका कोई आध्यात्मिक अर्थ न हो और एक भी ऐसा आध्यात्मिक तत्व न मिलेगा जिसका कोई सामाजिक लक्ष्य न हो। यह संस्कृति आत्मा के प्रति आदर की भावना पर आधारित है।"[1] निष्कर्ष यह निकलता है कि भारतीय संस्कृति की आधारभूत भावना है (१) आध्यात्मिकता और लौकिकता का समन्वय, और (२) आत्मतत्व के प्रति अविचलित आस्था।

१ "सन्डे स्टेण्डर्ड, २८ जुलाई, १९६२ ई०

भारतीय संस्कृति अमर संस्कृति है। कारण यह है कि आत्मतत्व अविनाशी तत्व है। जो उस पर आधारित हो कर चलेगा उसमें अस्थायी के प्रति कोई आस्था ही न रह जायगी। इसलिये भारतीय संस्कृति ने अस्थायी तत्वों को स्थायी महत्व नहीं दिया बल्कि उन्हें सापेक्षिक एवं सामयिक महत्व की चीज समझा है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति ने जीवन के विषय में जो चिंतन किया है वह पूर्ण है और स्थायी महत्व का है। जीवन की इतनी व्यापक व्यवस्था और अभिव्यक्ति, जीवन के सम्बन्ध में इतना सूक्ष्म गहन और स्थायी महत्व का चिंतन और कहीं भी नहीं मिलता। इसका एक कारण और है। भारतीय संस्कृति किसी एक व्यक्ति की ही, किसी एक वर्ग के व्यक्ति की ही, किसी एक प्रकार के ही व्यक्ति की देन नहीं है। राम जी उपाध्याय का कथन है, "इस सांस्कृतिक साधना में ब्रह्मचारियों से लेकर संन्यासियों तक चारों आश्रमों के लोगों का, आरण्यक वनजीवी से लेकर अभ्रंकष प्रासाद के निवासी महाराजा तक छोटे बड़े लोगों का और चाण्डाल से लेकर ब्राह्मणों तक का योगदान रहा है।[1] भारतीय संस्कृति की व्यापकता, पूर्णता, और अमरता का यही रहस्य है। अस्तु जो इतना विशाल है, इतना व्यापक है इतना पूर्ण है उसका संकुचित, पक्षपाती एवं भेद भावयुक्त होना कल्पनातीत है। वह सब कुछ सह सकता है, सबको अपना सकता है सबको व्यवस्थित कर सकता है। इसीलिए बलदेव उपाध्याय ने लिखा है 'आर्य संस्कृति का रहस्य है सब जातियों, सब मतों, सब आचारों की तितिक्षा, सहनशीलता ... विरोध का प्रशमन, अनेकता में एकत्व की दृष्टि नाना के स्तरों में एकता की पहचान यही है आर्य संस्कृति की कुंजी।[2] जवाहरलाल नेहरू ने भी लिखा है 'भारतवर्ष में सांस्कृतिक एवं नस्ल सम्बन्धी विकास की भी मुख्य प्रवृत्ति ... समन्वय थी।"[3] इसी तथ्य को 'दिनकर' ने इस प्रकार पोषित किया है कि भारतीय संस्कृति सामासिकता प्रधान है[4]। राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है, 'यह बात अब आम तौर पर स्वीकार कर ली गई है कि हिन्दुस्तान संसार के धर्मों का संधिस्थल और विश्व के संस्कृति का एक सम्स्थल है।[5] महादेवी वर्मा ने भी लिखा है, " ... और भारतीय संस्कृति विविध संस्कृतियों की समन्वयात्मक समष्टि है।

१ 'भारत की संस्कृति साधना', भूमिका।

२ "आर्य संस्कृति", पृष्ठ ४२६

३ "डिस्कवरी आफ इण्डिया", पृष्ठ ६४

४ 'संस्कृति के चार अध्याय'

५ पट्टाभि सीतारमय्या कृत 'कांग्रेस का इतिहास' की भूमिका पृष्ठ ६

६ "क्षणदा", पृष्ठ २३

वास्तविकता यही है कि भारतीय संस्कृति ने सदा सर्वदा समन्वय के रूप में ही समस्याओं का समाधान उपस्थित किया है। समन्वय और एक उस ब्रह्म पर विश्वास (जगत के विभिन्न नाम रूप जिस एक की ही अभिव्यक्तियाँ हैं) ये दोनों तत्व भारतीय संस्कृति की आत्मा हैं। भारतीय संस्कृति की ब्रह्म सम्बन्धी अडिग आस्था पर पहले भी लिखा जा चुका है। इस सम्बन्ध में कुछेक और विद्वानों की सम्मतियाँ इसके स्वरूप को कुछ और अधिक स्पष्ट करेंगी। सम्पूर्णानन्द ने लिखा है, "भारत की संस्कृति की यह सुदृढ़ मान्यता है कि 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'। वह तत्व जिसकी उपासना की जाती है वह एक है चाहे उसको किसी नाम से पुकारा जाय, किसी भाषा में बुलाया जाय और भारतीय जीवन के यह दो आधार हैं कि धर्म का, कर्तव्य का, अधिकारों का नहीं, परित्याग कदापि न होना चाहिये और व्यवहार में ध्यान रखना चाहिये कि परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ —एक दूसरे के हित साधन से ही परम श्रेय की सिद्धि होती है। समाज में मूर्द्धन्य स्थान विद्या तप और त्याग का होना चाहिये। भारतीय संस्कृति का यही प्राण है।"[1] स्पष्ट हुआ कि भारतीय संस्कृति का प्राण है विद्या, तप, त्याग, दूसरे का हित साधन, धर्म पालन, और यह विश्वास कि सारे संसार का उपास्य तत्व एक ही है। वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है 'मध्य देश की संस्कृति का मूल-सूत्र ब्रह्म तत्व है नर वही है जिसका सखा नारायण है मध्यदेश की गङ्गा के तट पर प्रज्ञाशील मानव ने देव तत्व को श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया इदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्, ईशावास्यं है। यही भारतीय विचारों का मंगलघट है जिसकी स्थापना से प्रत्येक यज्ञ की वेदी धन्य हुई है और भविष्य के नव यज्ञ मंडप भी प्राग्द्वारों पर इसी पूर्ण कुम्भ की शोभा से अलंकृत होते रहेंगे।"[2] यहाँ भी हम यही पाते हैं कि मध्य देश की संस्कृति का मूल सूत्र ब्रह्म तत्व है। ऐसे उच्च एवं अनादि-अनन्त तत्व पर आधारित संस्कृति का प्रवाह यदि अखण्ड एवं अप्रतिहत है तो कोई आश्चर्य नहीं है। सभी लोग मुक्त कण्ठ से यह स्वीकार करते हैं कि भारतीय संस्कृति के इतिहास की यह विशेषता है कि उसका प्रवाह कहीं टूटा नहीं। कन्हैयालाल माणिक्लाल मुंशी ने लिखा है कि जैसे गङ्गा की धारा को नहीं अवरुद्ध किया जाता वैसे ही इस सांस्कृतिक गङ्गा की गति नहीं रोकी जा सकती। जैसे संन्यासी को नहीं बाँधा जा सकता वैसे ही इसको नहीं बाँधा जा सकता।[3] इन्द्र

१ हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका का "लोक संस्कृति अंक" पृ० २५

२ हिन्दी अनुशीलन' पत्रिका, ११ वें वर्ष का पहला अङ्क, 'मध्यदेशीय संस्कृति का सूत्र' नामक लेख।

३ "भगवद्गीता एण्ड माडर्न लाइफ', पृ० ७

विद्यावाचस्पति ने भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ इस प्रकार बताई हैं —उदार दृष्टिकोण, राचकीलापन, अपना बना लेने की शक्ति, आध्यात्मिकता, वेदों की मान्यता और आध्यात्मिक विचार।[1] राधाकृष्णन ने भारतीय संस्कृति की प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं के साथ-साथ उसके महत्व की अभिव्यंजना इस प्रकार की है 'अपने रहस्यवाद प्रत्यक्षवाद अपनी दार्शनिक रक्षाओं और मुक्तिवादी प्रवृत्तियों के साथ भारतीय संस्कृति लगभग ४०० से भी अधिक वर्षों तक संसार में बहुत अधिक प्रभावशाली रही है।'[2] भारतीय संस्कृति के विषय में यह भ्रम कुछ कम व्यक्तियों का नहीं है कि वह एक मात्र अध्यात्म मूलक है। वस्तुस्थिति यह है कि ब्रह्म विद्या और आध्यात्मिकता पर अपेक्षाकृत अधिक जोर देते हुए भी भारतीय संस्कृति ने जीवन के प्रत्यक्ष एवं यथार्थ रूप की उपेक्षा कभी भी नहीं की। इस विषय में पंडित जवाहरलाल नेहरू के विचार बहुत स्पष्ट एवं उल्लेखनीय हैं ' सब कुछ देखते हुए, हिंदुस्तानी संस्कृति ने जिन्दगी से इन्कार करने पर कभी भी जोर नहीं दिया है यद्यपि यहाँ के कुछ दर्शनों ने ऐसा अवश्य किया है।'[3] इस सम्बन्ध में मान गुरू जी के विचार इस प्रकार हैं—' भारतीय संस्कृति हृदय और बुद्धि की पूजा करने वाली उदारभावना और निर्मल ज्ञान के योग से जीवन में सुन्दरता लाने वाली है। यह संस्कृति ज्ञान विज्ञान के साथ हृदय का मेल बढ़ा कर संसार में मधुरता का प्रचार करने वाली है। भारतीय संस्कृति का अर्थ है कर्म ज्ञान भक्ति की जीती-जागती महिमा—शरीर बुद्धि और हृदय को सतत सेवा में लीन करने की महिमा। भारतीय संस्कृति का अर्थ है सहानुभूति। भारतीय संस्कृति का अर्थ है विशालता। भारतीय संस्कृति का अर्थ है बिना स्थिर रहे ज्ञान का मार्ग ढूँढते-ढूँढते आगे बढ़ना। संसार में जो कुछ सुन्दर व सत्य दिखाई दे उसे प्राप्त करके बढ़ती जाने वाली ही यह संस्कृति है। वह संसार के सारे ऋषियों महर्षियों की पूजा करेगी। वह संसार की सारी सन्तान की वन्दना करेगी। संसार के सारे धर्म-संस्थापकों का यह आदर करेगी। चाहे कहीं भी महानता दिखाई दे, भारतीय संस्कृति उसकी पूजा ही करेगी। वह आनन्द और आदर के साथ उसका संग्रह करेगी। भारतीय संस्कृति संग्रह करने वाली है। वह सबको पास-पास लाने वाली है। 'सर्वेषामविरोधेन ब्रह्म कर्म समारभे' ही वह कहने वाली है। यह संस्कृति संकुचितता से परहेज करने वाली है। इससे त्याग, संयम वैराग्य, सेवा, प्रेम, ज्ञान, विवेक, आदि बातें हम याद आ जाती

---

१ 'भारतीय संस्कृति का प्रवाह', दूसरा अध्याय।

२ ईस्ट एण्ड वेस्ट' पृ० १८

३ हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० ३४

हैं।[1] उनके अनुसार भारतीय संस्कृति का अर्थ है शान्त से अनन्त की ओर जाना, अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना भेद से अभेद की ओर जाना, कीचड से कमल की ओर जाना, विरोध से विवेक की ओर जाना, और अव्यवस्था से व्यवस्था की ओर जाना। वे कहते हैं, भारतीय संस्कृति का अर्थ है मेल सारे धर्मों का मेल, सारी जातियों का मेल, सारे ज्ञान विज्ञान का मेल सारे कालों का मेल। इस प्रकार के महान् मेल पैदा करने की इच्छा रखने वाली, सारी मानव जाति के बेडे को मंगल की ओर ले जाने की इच्छा रखने वाली यह संस्कृति है।"[2] उनका कथन है कि हिन्दुस्तान के उत्तर मे जिस प्रकार गौरीशङ्कर का उच्च शिखर स्थित है उसी प्रकार यहाँ संस्कृति के पीछे भी उच्च और भव्य तत्व एवं विचार हैं।[3] आगे उन्होने लिखा है 'अद्वैत भारतीय संस्कृति की आत्मा है।[4] इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है, 'यह भारतीय संस्कृति की महान विशेषता है। अभेद मे भेद और भेद म अभेद, यही भारतीय संस्कृति का स्वरूप है।[5] वे कहते हैं, 'भारतीय संस्कृति म अन्ध श्रद्धा के लिये स्थान नही है। वहाँ सर्वत्र विचारो की महिमा गाई हुई दिखाई देगी। वेद भारतीय संस्कृति के आधार माने जाते हैं लेकिन वेद का अर्थ क्या है? वद शब्द का अर्थ है ज्ञान। ज्ञान भारतीय संस्कृति का आधार है।[6] उनके अनुसार 'जीवन को सुन्दर बनाने वाला प्रत्येक विचार ही मानो वेद है।'[7] आगे उन्होंने लिखा है 'भारतीय संस्कृति म त्याग और पवित्रता, इन दो गुणो का बहुत बडा स्थान है।'[8] उन्होंने जीवन के समस्त प्रयत्नो की सार्थकता की ओर संकेत करते हुए लिखा है "भारतीय संस्कृति यही बात हम से कह रही है। शरीर हृदय और बुद्धि की शक्ति प्राप्त करो सङ्गठन करो, संघ स्थापित करो, वातावरण तेजस्वी बनाओ और इस संगठन का महान् ध्येय के लिये उपयोग करो।' सम्भवत सन्तुलन की भावना का ही ध्यान में रख कर उन्होंने लिखा है, भारतीय संस्कृति कहती है कि भोग हो लेकिन प्रमाण से हो, सम्भल कर हो गिन कर हो धर्म की नीव पर ही अर्थ काम के

---

१ "भारतीय संस्कृति", पृ० ५

२ वही, पृ० ११

३ वही, पृ० २०

४ वही, पृ० २३

५ भारतीय संस्कृति पृ० ३०

६ वही पृ० २४१

७ वही, पृ० २३८

मंदिर की इमारत बनाइए। यदि अर्थ और काम के साथ धर्म होगा तो वे सुखदायी बनेंगे। वे बंधनकारक न हो कर मोक्षकारक होंगे।"[1] यदि ऐसा हो सके तो जीवन पूर्ण हो जायगा। भारतीय संस्कृति इसी रूप में व्यक्ति को पूर्ण देखना चाहती है और इसीलिये उसने चार पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की व्यवस्था की है। साने गुरुजी कहते हैं 'भारतीय संस्कृति कहती है कि संसार में चार वस्तुएं प्राप्त कीजिये, चार वस्तुएँ जानिये। भारतीय संस्कृति केवल एक वस्तु पर ही जोर नहीं देती। वह व्यापक है, एकांगी नहीं।"[2] भारतीय संस्कृति की एक और महत्वपूर्ण विशेषता है मृत्यु की भीषणता को समाप्त कर देना और वाय उसने अनंत जीवन की कल्पना करके और मृत्यु का एक विराम मात्र का महत्व देकर किया है। इस विषय में साने गुरु जी ने लिखा है, "भारतीय संस्कृति ने मृत्यु का डङ्क काट फेंक कर उसको सुंदर और मधुर बना दिया है। [3] (यहाँ) मृत्यु का अर्थ है निर्वाण अर्थात् अनन्त जीवन भुलाना देना। [3अ] भारतीय संस्कृति में वर्ण का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी व्याख्या करते हुए साने गुरु जी ने लिखा है, वर्ण शब्द का अर्थ है रंग।

ईश्वर ने हमें कौन सा रंग दे कर भेजा है। कौन से गुण धर्म देकर मुझे भेजा है। कुहू' बोलना कोकिल का जीवन रंग है। [4] सम्भवतः यह लिखने समय साने गुरु जी के मस्तिष्क में गीता का यह श्लोक था— चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।'[5] इस प्रकार निम्नलिखित विशेषताएँ प्रमुख रूप से दिखाई पड़ती हैं (१) उदार भावना और निर्मल ज्ञान का योग, (२) कर्म ज्ञान और भक्ति की महिमा, (३) पर सेवा (४) सहानुभूति, (५) ज्ञान के सहारे अथक रूप से प्रगति करना, (६) संग्रह शीलता, (७) उदारता, (८) विशालता, (९) अद्वैतधारणा, (१०) समन्वय, (११) लक्ष्य के लिए समस्त साधनों के उपयोग करने की वृत्ति, (१२) चार पुरुषार्थ (१३) व्यापकता, (१४) वर्ण (१५) मृत्यु के भय को समाप्त करने की प्रवृत्ति। वासुदेव शरण अग्रवाल ने २० संक्षिप्त सूत्रों में हिंदू संस्कृति की विशेषताएँ इस प्रकार बताई हैं—

(१) धर्म, संस्कृति और जीवन—तीनों का समान विस्तार
(२) समन्वय (विश्व के साथ अविरोध भाव)

---

१ भारतीय संस्कृति पृ० १३८
२ वही पृ० १२८
३ 'भारतीय संस्कृति" पृ० ३०६
३अ वही, पृ० ३०३
४ वही पृ० ५४
५ गीता ...

(३) सहिष्णुता
(४) बहुत्व मे एकत्व की पहचान
(५) संघर्षों के बीच समन्वय
(६) सत्यदर्शन के उद्देश्य से सब के लिये धार्मिक, सामाजिक और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य
(७) जड़-चेतन का आपेक्षिक मूल्यांकन
(८) महान् नित्य, रस परिपूर्ण और प्राप्त करने योग्य उस चैतन्य की प्राप्ति के लिए सचेष्ट प्रयत्न और उस पर तीव्र एवं पूर्ण विश्वास
(९) संसार और उसके उपभोग अल्प, सीमित, तुच्छ और जीतने योग्य हैं
(१०) सांसारिक जीवन की उपेक्षा उचित नहीं है
(११) साहित्य, कला, सौंदर्य और संवारे हुये जीवन के अनेक वरदानों को मान्यता
(१२) धर्म और जीवन का समन्वय
(१३) ऋत, सत्य, धर्म, ब्रह्म, चैतन्य की असाधारण महत्ता
(१४) वैयक्तिक विकास के लिए आग्रह
(१५) आध्यात्मिक साधन एवं ऊर्ध्वगति के लिये आग्रह
(१६) धर्मानुमोदित कर्म की प्रतिष्ठा
(१७) ठीक विधि से किया जाने वाला कर्म ही योग है
(१८) आध्यात्मिक विजय से ही तृप्ति
(१९) सर्वापहारी राजसत्ता से जीवन के अधिकाधिक क्षेत्रों को बचाए रखना
(२०) प्रत्येक हिन्दू का मन हिन्दू संस्कृति का एक टुकड़ा है अर्थात् उदार, सहिष्णु, नूतन भावों का स्वागत करने वाला, त्याग का प्रशंसक[1]

गुलाबराय ने उसकी बारह विशेषताएं गिनाई हैं।[2] एक अन्य स्थान पर हिन्दू संस्कृति की १६ प्रमुख विशेषताएं बताई हैं।[3] इसी प्रकार अन्य अनेक स्थानों पर भी हिन्दू संस्कृति की विभिन्न विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। यहां पर उन सबका उल्लेख करना निरर्थक इसलिये है कि इन सबका गम्भीर अध्ययन करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि वासुदेवशरण अग्रवाल की उपर्युक्त २० बातों मे भारतीय संस्कृति की सभी की सभी विशेषताएं आ जाती हैं। अभी तक जितना कुछ लिखा गया है उन सब का सारतत्व इनमे उपस्थित है। व्याख्या, विवरण

१ 'कल्याण' पत्रिका, 'हिंदू संस्कृति विशेषांक", पृ० ८७–८८
२ "भारतीय संस्कृति की रूपरेखा"
३ 'कल्याण' पत्रिका, "हिन्दू संस्कृति विशेषांक", पृ० ४८–४९–५०

और विस्तार म अ तर हा सकता है कि तु मूल तत्त्वों का ध्यान म रखने पर समस्त विशेषताएँ दोनो मे स न्निहित हैं। ये ही वातें भारत के जीवन म उसकी संस्कृति म आदि युग से लेकर आज तक बराबर पाई जाती हैं। भारतीय जीवन म इन्हीं की निरन्तर उपस्थिति हो—सभी कालों म भारतीय जीवन का इन्हीं से अनुप्राणित, प्रभावित एव प्रवाहित होते रहना ही भारतीय संस्कृति का अनन्त, अबाध एव निर्विरोध प्रवाह है।

पाश्चात्य संस्कृति का स्वरूप—

आधुनिक युग में भारतीय जीवन पाश्चात्य जीवन के सम्पर्क मे आया। पाश्चात्य जीवन का विकास जिन भौगोलिक स्थितियो और परिस्थितियो म और जिस प्रकार हुआ है वे उस प्रकार से भिन्न थीं जिसम भारतीय जीवन का विकास हुआ है। परिणामत दोनो के स्वरूप, दृष्टिकोण और संस्कृति म पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। चूंकि दोनों गोलार्द्धों के निवासी मानव हैं और मानव का मन मूलत एक सा ही होता है इसलिए दोनो स्थानों की संस्कृतियो म कुछ मूलभूत एकताएँ समानताएँ भी नि सन्देह पाई जाती हैं और सम्भवत इसीलिए राधाकृष्णन ने लिखा है "यदि हम इतिहास को व्यापक दृष्टि से देखें तो हम ज्ञात होगा कि जीवन की ऐसी कोई विशेष पूर्वीय दृष्टि नहीं है जो जीवन के पाश्चात्य दृष्टिकोण से भिन्न हो।[1] किन्तु जब हम जीवन और उसके स्वरूप को उसकी सम्पूर्णता म देखने का प्रयत्न करते हैं उसकी भावना रूचियों और प्रवृत्तियों पर विचार करते हैं और विचार करते हैं स्वभावो और प्रभावो पर तो दोनो का अन्तर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ जाता है। यह अन्तर मौलिक और उल्लेखनीय है। आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति के विभिन्न प्रेरणा स्रोतो क विषय म राधाकृष्णन ने लिखा है, 'पाश्चात्य संस्कृति ने अपनी प्रेरणा, प्रतिमान मूल्य और संस्थाएं यूनान, रोम, और फिलिस्तीन से ली हैं। आलोचना की प्रवृत्ति, निरीक्षण एव प्रयोग राजनीतिक धारणाएं उसे यूनान से मिली हैं। धर्म निरपेक्ष कानून और संगठन के सिद्धान्त रोम से मिले हैं। फिलिस्तीन न उसे एकदेववाद और ईश्वरीय आज्ञाओं पर आधारित एक नीतिवान प्राणी के रूप म मानव की कल्पना प्रदान की है। यूरोप के इतिहास म इन सबका आदर्श समन्वय कभी नहीं हो पाया।'[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य संस्कृति के निर्माण मे यूनान का बहुत ही महत्वपूर्ण योग रहा है। उसे वैज्ञानिकता की वृत्ति से समन्वित करने का श्रेय यूनान को ही है। मानव की तर्क और युक्ति की शक्ति म विश्वास सन्तुलन और समन्वय, बौद्धिक और नैतिक मान्यताएँ, व्यक्तिगत

१— इस्ट एण्ड वेस्ट पृ० १३
२—वही, पृ० ४४

स्वतन्त्रता, नागरिकता की धारणा, आदि यूनानी संस्कृति की ही देनें हैं। यह निश्चित है कि पाश्चात्य संस्कृति का विकास किसी ऐसे तत्व पर आधारित होकर नहीं हुआ है जो शाश्वत हो। उसने आध्यात्मिक जीवन और उसकी समस्याओं में उतनी रुचि नहीं दिखलाई जितनी मनुष्य के आचार, जीवन-यापन की नीति, गणित एवं विज्ञान विशेष रूप से भौतिक विज्ञान में। वहां समाज की बाह्य एवं भौतिक वृत्तियां और प्रवृत्तियां पर अधिक विचार, मंथन विश्लेषण, आदि किया गया है। उसमें बौद्धिक तत्व की प्रधानता है। वह व्यक्ति के भौतिक पक्ष पर अधिक बल देती है। वह मनुष्य के मन की लौकिकता की ओर उन्मुख गति और एतत् सम्बन्धी उसकी प्रकृति का अध्ययन और विश्लेषण करती है। वह मानव की बाह्य सत्ता की ओर अधिक उन्मुख है। वह उसके स्वाभाविक एवं प्राकृतिक स्तर तक ही पहुंच सकी। वह राजसिक है। वह हिंसा प्रधान है क्योंकि वह संघर्ष के द्वारा होने वाले विकास की बात करती है। यहां तक कि वह अस्तित्व के लिए भी संघर्ष अनिवार्य समझती है। 'स्ट्रगलफार एग्जिस्टेंस' वाली प्रचलित युक्ति इस बात का प्रमाण है कि उसने मानव को एक 'बायलोजिकल बीइङ्ग' अर्थात् हाड-मांस का पुतला मात्र मान रखा है। उसकी नैतिकता का सीमा क्षेत्र है मनुष्य का बाह्य आचार व्यवहार मात्र। पश्चिम में मनुष्य सदा ही प्रकृति का एक क्षणिक जीवनमान रहा है अथवा वह एक ऐसी आत्मा रहा है जिसे जन्म के समय मनमौजी सृष्टा अपनी मनमानी इच्छा के द्वारा रचता है और मोक्ष पाने के लिए सर्वथा प्रतिकूल अवस्थाओं में रख देता है, पर वहीं अधिक सम्भावना यही होती है कि उसे एक नितान्त असफल व्यक्ति की भांति नरक में जलते हुए कूड़े के ढेर में फेंक दिया जाय। अधिक से अधिक उसे यही श्रेय प्राप्त है कि उसमें एक तर्क वितर्क करने वाला मन और संकल्पशक्ति है और ईश्वर या प्रकृति ने उसे जैसा बनाया है उससे अच्छा बनने का वह प्रयास करता है।[1] ध्यान रहे कि भारतीय संस्कृति में यही स्थिति सर्वोच्च तत्व एकमात्र नहीं मानी गई। सच्ची बात तो यह है कि भारतीय संस्कृति के अनुसार मानव की दिव्यता का यह सबसे पहला और सबसे नीचा स्तर है। तो, भारतीय संस्कृति का श्रेष्ठतम अंश जहां से प्रारम्भ होता है वहां पाश्चात्य संस्कृति जाकर समाप्त हो जाती है। पाश्चात्य संस्कृति का लक्ष्य है भौतिक सुख-सुविधा, भौतिक उन्नति और भौतिक कार्य कुशलता।

अरविन्द का विचार है कि हमारे देश और यूरोप में प्रधान भेद यह है कि हमारा जीवन अन्तर्मुखी होता है और यूरोप का जीवन बहिर्मुखी होता है। हम भाव का आश्रय कर पाप पुण्य, इत्यादि का विचार करते हैं, और यूरोप कर्म का

१—'अदिति' पत्रिका, फरवरी, १९४९, पृ० १०७।

आश्रय कर पाप पुण्य इत्यादि का विचार करता है। हम भगवान को अन्तर्यामी और आत्मस्थ समझ कर उन्हें अपने भीतर खोजते हैं और यूरोप भगवान को जगत का राजा समझ कर उन्हें बाहर देखता और उनकी उपासना करता है।'[1] इस सबध म उन्होंने अन्यत्र भी लिखा है, 'पाश्चात्य लोग प्रजातन्त्र के बाहरी आकार और उप करणों म ही फस गए हैं ।।'[2] इस प्रकार हम पाते हैं कि बाहर के मिथ्या अनुभव मे मग्न रहना, तत्व की परछाई की भक्ति एव नाम और रूप म अनुरक्ति पाश्चात्य सस्कृति की विशेषताए हैं। इस सबध म योगिराज अरविन्द का बहुत ही सुन्दर कथन इस रूप म मिलता है "पाश्चात्य मन की साधारण गति है नीचे से ऊपर की ओर जीवन का विकास करना प्राण और जडसत्ता को ही उसका आधार समझ कर ग्रहण करना तथा ऊपर की सारी शक्तियो का केवल इसीलिये आह्वान करना कि वे इस प्रस्तुत पार्थिव जीवन को सशोधित और बहुत कुछ उन्नत बना दगी। पाश्चात्य जीवन प्रवाह इस समय प्रधानत बुद्धिवाद और जडवाद स ही नियन्त्रित हो रहा है ।'[3] जिसका प्रेरणा स्रोत यह हो उससे किसी उच्चतम श्रेष्ठतम एव लोकोत्तर आदर्श, विचार एव कार्यक्रम की आशा नहीं की जा सकती। जिसके प्रेरणा-स्रोत ये हो उसकी कथा भारतीय कथा की अपेक्षा कुछ दूसरी तो होनी ही चाहिये और वह कथा द्वारिका प्रसाद मिश्र के शब्दो म इस प्रकार है, 'इधर बीसवी शताब्दी की कथा दूसरी ही है। उसने अपनी प्रत्येक सतान को यह धर्म बता दिया है कि वह आमोद प्रमोद की सामग्री एकत्र करने मे ही अपने जीवन की सार्थकता समझे केवल अपना स्वार्थ यही एक आदर्श योरप के प्रत्येक युवा के लिये इस समय रह गया है। "[4] माधवराम सप्रे के लेख मे पाश्चात्य जीवन का एक रूप इस प्रकार दिग्दर्शित किया गया है, 'पश्चिमी देशो मे यह बात नहीं पाई जाती। वहा के कुटुम्बो का सम्बध आवश्यकता और इच्छा के अनुसार जोड अथवा तोड लिया जाता है। आदर्श के बदलने मे कुछ देर नही लगती। इण्डियन सिविल सर्विस के मेम्बर मिस्टर एच० फील्डिंग हाल साहब लिखते हैं कि वहा पाठशाला के लडको का सच बोलना नही सिखलाया जाता पहले से ही वे इस बात की शिक्षा पाते हैं कि किसी सत्य बात को उसके सिद्ध स्वरूप म जान लेने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। सिखलाया केवल यह जाता है कि कोरा पढन

१— आदर्श पत्रिका, अप्रैल, १९४७ ई०, पृ० २८

२—वही, फरवरी, १९४७ ई०, पृ० ३८

३—वही अप्रैल १९४७ ई० पृ० ९

४— सरस्वती पत्रिका, १९२२ ई० पृ० ५६६।

पर वह बात अपने पक्ष के समर्थन में किसी भी तरह काम में लाई जा सकती है यौरप आदि पश्चिमी देश कोरे भौतिकवादी हैं ।[1] यह भौतिकवादी सभ्यता ही वह सभ्यता है जिसे प्रेमचन्द ने 'महाजनी सभ्यता' कहा है और जिसके विषय में उन्होंने लिखा है, "इस महाजनी सभ्यता ने दुनिया में जो नई रीति-नीतियाँ चलाई हैं उनमें सबसे अधिक घातक और रक्त पिपासु यही व्यवसाय वाला सिद्धान्त है। मियाँ बीबी में बिजनेस, बाप-बेटे में बिजनेस, गुरु शिष्य में बिजनेस। सारे मानवी आध्यात्मिक और सामाजिक नेह-नाते समाप्त।'[2] सच है कि जब बात का स्वरूप और उसके महत्व की कसौटी होगी मौके का रूप और दृष्टिकोण का रूप होगा व्यक्तिगत भौतिक स्थूल स्वार्थ तब समस्त रागात्मकता लोकोत्तरता और नीतिमत्ता की शव-यात्रा अनिवार्य हो जायगी। जब मानव का मानव से किसी प्रकार का स्थायी सम्बन्ध न रह जायगा, जब समस्त मानव जाति को एकत्व के सूत्र में सग्रथित करने वाले किसी सर्वव्यापी तत्व के सत्य को हम कल्पना मान लेंगे, जब हम "त्वम्" में "अहम्" की प्रतीति कराने वाली विचारधारा से वंचित रहेंगे तो केवल नीति के सैद्धान्तिक आधार विनिर्मित सम्बन्ध माधुर्य एवं व्यवहार-सौष्ठव का प्रासाद स्वार्थ की वेगवती आँधी के आगे देखते ही देखते मिट्टी के भग्नावशेष मात्र में परिवर्तित हो ही जायगा। नींव की सुदृढ़ता ही प्रासाद के दीर्घ जीवन और उसके स्थायी सौंदर्य का रहस्य एवं प्रधान अथवा एकमात्र आवश्यक तत्व होता है। पाश्चात्य संस्कृति में इसी का अभाव देखकर साने गुरुजी ने लिखा है, 'पश्चिम के निवासियों में भौतिक विज्ञान के पीछे अद्वैत की भावना की कल्पना न होने के कारण वे संसार में हाहाकार फैलाने का आसुरी कर्म कर रहे हैं।'[3] अपने उपर्युक्त कथन में प्रेमचन्द जी ने बिजनेस की व्यापकता का जो उल्लेख किया है और उससे जिन नेह-नातों की समाप्ति की बात की थी साने गुरुजी के इस कथन में उसी के परिणाम का उल्लेख मिलता है। नेह-नाते समाप्त होंगे तो हाहाकार का वातावरण अनिवार्यत निर्मित होगा। कोई आश्चर्य नहीं कि जिस सभ्यता का यह परिणाम हो वह गाधी जी की दृष्टि में धर्म न होकर अधर्म हो क्योंकि उन्होंने लिखा है, 'यह सभ्यता अधर्म है।[4] उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता की "पक्की पहचान" का इस प्रकार

१–(१९१८ ई० में लिखा लेख) सरस्वती पत्रिका हीरक जयंती विशेषांक १९६२ ई०

२–'हंस' पत्रिका, सितम्बर १९३६, पृ० ५६

३–"भारतीय संस्कृति", पृ० ९४।

४–'हिन्द स्वराज्य', पृ० ३२।

उल्लेख किया है, "इस सभ्यता की सारी महत्ता तो यह है कि उसकी गोद में पल हुए सारे बाहर के। मांस और शरीर के सुख को ही जीवन की साधना और परम पुरुषार्थ मानते हैं।"[1] हमारा विचार तो यह है कि यह संस्कृति उतनी बुरी नहीं है जितनी अपूर्ण अथवा एकांगी। कारण यह है कि इस संस्कृति से भारत का थोड़ा बहुत लाभ अवश्य हुआ है। उससे हमारे जीवन का और हमारी विचारधारा का रूप बदलने लगा है, और उसने हम फिर से कुछ बातों पर विचार करने, मनन करने, अध्ययन करने और निष्कर्ष निकालने के लिये विवश कर दिया है। अत्युक्ति न होगी यदि हम यह कहें कि उससे हमारी कुछ कमियां समाप्त हो रही हैं। अब यह बात दूसरी है कि स्वयं हम ही संतुलन बिगाड़ दें और हमारी कुछ हानि भी हो जाय, किन्तु इसके लिए दोषी वह संस्कृति न होगी। पाश्चात्य संस्कृति की अच्छी देन के विषय में लिखते हुए आबिद हुसैन ने लिखा है 'वैसे तो शासक राष्ट्र की हर बात में शासित जनता के लिए एक आकर्षण-सा होता है परन्तु सच यह है कि पाश्चात्य संस्कृति का निहित गुण या उसका आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण और व्यवहारिक कार्य कुशलता',[2] लेकिन उसने हमें शान्ति और व्यवस्था दी और वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य की एक नई अवधारणा दी जो हमारे भावी राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास के लिए इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण और मूल्यवान थी। उन्होंने सार्वजनिक जीवन की लोकतन्त्रीय विधि का प्रारम्भिक पाठ हमें पढ़ाया।'[3] इतना सब होने पर भी यह मानना पड़ेगा कि यह संस्कृति मनुष्य को यन्त्र बना देती है। यह यान्त्रिक संस्कृति है।

पाश्चात्य संस्कृति की विशेषताएं —

इतने विवेचन के उपरांत हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि पाश्चात्य संस्कृति की विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(१) यान्त्रिक होना।

(२) इसमें भौतिक विज्ञान के पीछे अद्वैत की भावना का अभाव है।

(३) यह पूर्ण रूप से भौतिकवादी सभ्यता है।

(४) इसका एक मात्र आदर्श है आज का स्वार्थ।

(५) यह युक्तिवाद और जड़वाद से ही प्रेरित होती है। इसमें तर्क की प्रधानता है।

१— वही, पृ० ३०

२—"राष्ट्रीय संस्कृति' पृ० ७६।

३—वही पृ० ८२

(६) इसका लक्ष्य है प्रस्तुत पार्थिव जीवन को ही संशोधित और उन्नत बनाना, भौतिक सुख-सुविधा भौतिक उन्नति और भौतिक वाय (?) ढूंढना।
(७) इसके अनुसार मानव प्रकृति का एक क्षणिक जीवमात्र है।
(८) यह संघर्षशील एवं हिंसाप्रधान है। राजसिक है।
(९) इसमें बौद्धिक तत्वों की प्रधानता है।
(१०) इसकी रुचि मनुष्य के आचार, जीवन-यापन की नीति एवं भौतिक विधान की ओर अधिक है।
(११) यह आलोचना प्रधान एवं विश्लेषण प्रधान है।
(१२) यह प्रत्यक्ष निरीक्षण और प्रयोग की विधि पर आस्था रखती है।
(१३) यह बनानिकता की वृत्ति से समन्वित है।
(१४) यह धर्म निरपेक्ष कानून और संगठनों एवं संस्थाओं पर विश्वास करती है।

दोनों संस्कृतियों में संघर्ष और संधि बिंदु—

आधुनिक युग में भारत में ये दो विभिन्न दृष्टिकोण, ये दो विभिन्न धारणाएं, ये दो विभिन्न आदर्श, ये दो विभिन्न परंपराएं, ये दो विभिन्न जीवन पद्धतियां, ये दो विभिन्न प्रवृत्तियां, ये दो विभिन्न संस्कृतियां, परस्पर टकराईं। इस पाश्चात्य संस्कृति के संपर्क में और देश भी आए। किन्तु वे इसके रँग में रंग गए। वास्तविक टकराहट भारत में ही हुई और भारतीय संस्कृति से ही हुई। शायद भारतीय संस्कृति में ही इतना दम था कि वह इससे टक्कर ले सकती। मजे की बात तो यह थी कि हम जिसके गुलाम हुए उसी की संस्कृति से हमारी संस्कृति को टक्करें लेनी पड़ीं। संस्कृतियों की इस टकराहट की कहानी, इस सांस्कृतिक घातों प्रतिघातों की कहानी वारबचाव की कहानी, तलवार और कवच की कहानी, शक्ति और युक्ति की कहानी बड़ी ही रोचक है। एक ने दूसरे को मिटाने की पूरी कोशिश की। राज्य छीना, भूमि-व्यवस्था बिगाड़ी, राज्य का स्वरूप बदला, आर्थिक मान्यताओं पर आघात किया आदर्श वाक्य बदले, भाषा बदली, दूसरे की भाषा का तिरस्कार किया पूरे साहित्य से अपने पुस्तकालय की एक अलमारी के एक कोने को श्रेष्ठतम साहित्य को गड़रिया का गीत कहा, नवयुवकों का स्वरूप बदला, उनकी धारणाएं, उनके विश्वास, उनका रहन-सहन, आदि बदला, उन्हें आधा तीतर और आधा बटेर बना दिया। लगा कि संस्कृति मिट जायगी। लगा कि भारत आस्ट्रेलिया और अमेरिका हो जायगा लगा कि उसके निवासी हम लोग आरण्यक हो जायगे इंगलेण्ड हमारा फादर लंड (पितृभू) हो जायगा किन्तु तभी सुदूर अतीत से पांचजन्य की गूंज पर

तैरता हुआ उद्घोष सुनाई पड़ा, 'क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप'। सुनाई पड़ा, "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।' भगवान के अवतार हुए—रामकृष्ण परम हंस, विवेकानन्द, रामतीर्थ, दयानन्द तिलक, गांधी। हमने गीता, रामायण महाभारत कभी कवच पहना। ये अवतार हमारे सेनापती बने। बसरिया वाला पहन हुए निहत्थे, किन्तु आत्म विश्वास एव आत्मबल के ढाल से प्रतीक भाल वाले भारती की सेना ने कहा— यतो धर्मस्ततो जय यत्र योगीश्वरी कृष्णो यत्र पार्थ धनुर्धर तत्र श्री विजयो भूतिध्रुवा नीतिर्मतिर्मम। और आज हम विश्वास है कि हमारी संस्कृति एक बार फिर हम संघर्ष से अपराजेय होकर निकल रही है। संघर्ष का प्रभाव उस पर दृष्टिगोचर न होता हो ऐसी बात नहीं है किन्तु साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि उस संस्कृति के मूल तत्व सुरक्षित हैं। उनकी उपयोगिता और महत्व आज भी असंदिग्ध सिद्ध हो रहा है। तभी तो डे० एम० पणिक्कर ने कहा है कि 'विगत शताब्दी में भारतीय संस्कृति और पश्चिमी जीवन दर्शन के बीच जो टक्कर हुई थी उसमें भारतीय संस्कृति को ही विजय लाभ मिला है और इस प्रकार उसने अपनी सप्राणता सिद्ध कर दी है।"

हमारी आज की संस्कृति—

अस्तु, बीसवीं शताब्दी की हिंदी प्रदेश की संस्कृति का तात्पर्य हुआ (१) हिन्दी-प्रदेश की भारतीय संस्कृति अर्थात् हिन्दी प्रदेश को परंपरा से प्राप्त होने वाले भारतीय संस्कृति के मूल तत्व, (२) हिंदी-प्रदेश पर यूरोपीय संस्कृति अर्थात् पाश्चात्य संस्कृति के पड़ने वाले प्रभाव और (३) इन दोनों संस्कृतियों के प्रभावों में से हमारे ऊपर किसका प्रभाव कितना और कितना गहरा पड़ा है। इतना अध्ययन कर लेने के पश्चात् ही हम अपने हिंदी-साहित्य की वास्तविक आत्मा उसके वास्तविक स्वरूप और उसके महत्व को समझ सकेंगे। जब तक हम इन प्रभावों के वास्तविक अनुपात और उसके सापेक्षिक महत्व का अध्ययन न कर लेंगे तब तक हम में से कोई यह कहता रहेगा कि आधुनिक हिंदीसाहित्य तो अंग्रेजी साहित्य की नकल है कोई यह कहा करेगा कि हिन्दी साहित्य संस्कृत का उच्छिष्ट मात्र है किसी की यह धारणा होगी कि हिंदी में है ही क्या, जो उसे पढ़ा जाय, आदि। हिंदी का साहित्य है क्या? हिन्दी का आधुनिक साहित्य भावों से स्पन्दित होने वाली उस आधुनिक भारतीय चेतना का वास्तविक प्रतिनिधित्व करने वाला अंग है जो इस बीसवीं सदी में विकसित हुई है। हिंदी की आधुनिक साहित्यक चेतना का विकास और स्वरूप-निर्माण आधुनिक भारत के विकास और स्वरूप-निर्माण के साथ साथ हुआ है। हिन्दी का साहित्य जीवित साहित्य है। वह जीवन के स्पंदन से परिपूर्ण साहित्य

है। वह उस टेप रेकार्डर की भांति है जिसमे नवीन भारत की समस्त हलचलें समाहित हैं। वह उस दर्पण की भांति है जिसमें भारत की इस शताब्दी की चेतना का कण-कण अपने वास्तविक रूप में प्रतिबिम्बित होता है। इस साहित्य का एक-एक अक्षर इस शताब्दी की चेतना का एक-एक कण है। साथ ही साथ, वह भारतीय सस्कृति के परम्परागत, मौलिक, एवं शाश्वत मूल्यों और उनके स्वरूपों को, उनके तथ्यों और तत्वों को यथासम्भव सुरक्षित रखे रहने वाला साहित्य भी है। मूल रूप में वह उतने दूर गया भी नहीं है। हमारे प्रतिनिधि साहित्यकार ने वह लिखा जो उसने देखा। वह गाथा जिससे उसका हृदय तरंगित हो उठा। वह सोचा जिसे सोचने के लिये उसे विवश होना पड़ा। निष्कर्ष यह है कि आज के हिन्दी के साहित्य का वास्तविक रूप समझने के लिये हम यह विचारना पड़ेगा कि इस युग में हमारे समाज में क्या-क्या हुआ, क्या क्या हुआ, कौन-कौन-सी ऐसी बातें हुई जिन्होंने आज के भारतीय मन को झकझोर दिया, कौन कौन से ऐसे तत्व थे जिन्होंने भारतीय आत्मा को बल दिया, कौन कौन से ऐसे तत्व थे जो हमारे चिन्तन के विषय बने, कौन-कौन से ऐसे प्रभाव थे जिन्होंने हमारी चिन्तन धारा को मोड़ दिया, भारतीय समाज ने जो किया वह क्यों किया, हम पर जो प्रभाव पड़े हैं उनमें से कितनों का प्रभाव केवल बाह्य जीवन पर ही पड़ा है, कितने ऐसे हैं जिन्होंने हमारे स्वभाव को बदल दिया है और कितने ऐसे हैं जो हमारी आत्मा की गहराई तक उतर गये हैं। ये हो सब हमारी सस्कृति के उपकरण हैं। इनका अध्ययन करने से ही हम आज की सस्कृति के वास्तविक रूप को समझ सकेंगे, और ये ही वे बातें हैं जो किसी न किसी रूप में साहित्य में अभिव्यंजित हुई है। तात्पर्य यह है कि दोनों का सबंध अभिन्न है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व असम्भव है। एक दूसरे को प्रतिविम्बित करता है और एक को हम तभी समझ पा सकते हैं जब दूसरे का वास्तविक अध्ययन और विश्लेषण कर लें। इसलिये हम इन सबका अध्ययन करना पड़ेगा। सुविधा के लिये और प्रचलित रीति के अनुसार इनका विभाजन हम ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक रूप में करेंगे। इसके पश्चात् हम हिन्दी प्रदेश की जनता का जीवन और दृष्टिकोण देखकर उस पर पड़ने वाले पाश्चात्य प्रभाव का अध्ययन करेंगे। इतना करने के पश्चात् हम यह विचार करने की स्थिति में आ सकेंगे कि हिन्दी-प्रदेश ने अपनी परंपरा को किस सीमा तक अपनाये रखने का प्रयास किया और इसमें वह कितना सफल रहा। यह सार का सारा अध्ययन हमारे सामने हिन्दी-प्रदेश की वास्तविक सस्कृति का रूप उभारेगा। इन सबके साथ ही साथ हम यह भी देखते चलेंगे कि अमुक परिस्थिति या तत्व या प्रभाव ने हमारे साहित्य को

कहाँ तक और भिन्न-भिन्न दिशाओं में प्रभावित किया है। इन सबके विवेचन से ही हम यह समझ सकेंगे कि आधुनिक संस्कृति का हमारे आधुनिक साहित्य से कितना घनिष्ट, अनिवार्य एवं अविभाज्य संबंध है। वास्तविकता यह है कि इन परिस्थितियों ने पहले एक व्यक्ति पर प्रभाव डाला और उसे सोचने को विवश किया। उसके अध्ययन, मनन और चिंतन द्वारा अपने मन पर पड़ने वाले इन प्रभावों को पुष्ट एवं सुदृढ़ पृष्ठभूमि दी। उसने कुछ अन्य लोगों पर अपने नये विचार और उनके समर्थन में युक्तियाँ प्रकट कीं। इस प्रकार कुछ लोगों का एक दल बना जिसने प्रचार और ठोस कार्यों द्वारा समाज में एक नई विचारधारा फैला दी जिसे पहले कुछ लोगों ने माना और बहुतों ने नहीं माना और बाद में बहुतों ने माना। पहले कुछ लोग ईश्वर मानते थे अब कुछ लोग ईश्वर नहीं मानते। इस प्रकार व्यक्ति और समाज की चेतना और उसका मनोविज्ञान परिवर्तित एवं प्रभावित होता है। हिन्दी का आधुनिक साहित्यकार व्यक्ति के रूप में इन समस्त परिवर्तनों और क्रान्तियों का प्रभाव ग्रहण करता है और समाज के प्रतिनिधि के रूप में साहित्य में उन्हें अभिव्यंजित करता है। एक सत्य यह भी है कि यदि व्यक्तिगत रुचियों एवं प्रवृत्तियों का अध्ययन कर सकें तो हम पायेंगे कि इन व्यक्तिगत विशिष्टताओं पर तो कुछ-कुछ किन्तु इनके अतिरिक्त व्यक्ति की चेतना का जो सामाजिक अंश होता है उस पर पड़ने वाला प्रभाव बहुत-कुछ वही होता है जो समाज का हुआ करता है। तभी तो व्यक्ति समाज का प्रतिनिधित्व कर पाता है। अस्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं हिन्दी के साहित्यिकों पर पड़ने वाले प्रभाव प्रायः वे ही हैं जिन्होंने व्यापक रूप से पूरे समाज को भी प्रभावित किया है। इस प्रकार समाज को तरह-तरह से प्रभावित करने वाले तत्वों का अध्ययन उस व्यक्ति की चेतना का भी अध्ययन-और उन समस्त व्यक्तियों की भी चेतना का अध्ययन-उपस्थित कर देता है जिन्होंने साहित्य की-और प्रस्तुत प्रबंध के अन्दर, आधुनिक हिंदी साहित्य की-रचना की है। परिणामतः इनका अध्ययन साहित्य के स्वरूप, उसके उस स्वरूप के कारण और उसके महत्व को समझाने स्पष्ट करने में पूर्ण रूप से सहायता दे सकता है। आगे के पृष्ठों में इसी उद्देश्य को लेकर इसी प्रकार से अध्ययन करने का प्रयास किया जायगा।

अध्याय—२

हिन्दी प्रदेश का आधुनिक इतिहास
और
उसके निर्माण की प्रक्रिया

सांस्कृतिक इतिहास का तीसरा चरण—हमारा इतिहास और हमारी संस्कृति—हमारी भ्रांतियां और तभी यूरोपीय आक्रमण—१८५७ की विद्रोह एक सांस्कृतिक आक्रोश—१८५७ का विद्रोह और नीति परिवर्तन—शांति के लिए सम्पन्नता की बलि—विक्टोरिया की मृत्यु—भारतीय स्वतन्त्रता—गांधी युग—भारतीय परतन्त्रता की उम्र—रजन—बंग भंग—एक ऐतिहासिक प्रवृत्ति—भारत में दो प्रकार के व्यक्ति—बंग भंग विरोधी आन्दोलन की तीव्रता एवं उसका प्रभाव—इस आन्दोलन की देनें—वायसराय—तिथियां और घटनाएँ—युग की प्रधान प्रवृत्तियां—दो महत्वपूर्ण घटनाएँ—झकझोरने वाली अन्य घटनाएँ, होमरूल, चम्पारन, भूख हड़ताल, खेड़ा, खिलाफत, रौलट ऐक्ट-विरोध—जलियां वाला काण्ड और मार्शल ला—असहयोग आन्दोलन तिलक स्मारक फण्ड—बहिष्कार—धरना आदि—माडरेट लोगों का अलग होना और विशुद्ध जन-आन्दोलन—राजकुमार के स्वागत का विरोध—चौरी चौरा काण्ड—रचनात्मक कार्यक्रम—झण्डा सत्याग्रह—गुरु का बाग का सत्याग्रह—जेल में सत्याग्रहियों पर अत्याचार—साम्प्रदायिक दंगे—साइमन कमीशन—बारडोली—पूर्ण स्वतन्त्रता हमारा लक्ष्य—बोरसद-नमक आन्दोलन—गांधी इर्विन समझौता—क्रांतिकारियों को फांसी—अवध का कृषि-आन्दोलन—गोलमेज कान्फ्रेंस और दमन—साम्प्रदायिक निर्णय—प्रथम चुनाव—द्वितीय युद्ध—नाटक की चरमसीमा—रक्तरंजित स्वतन्त्रता आतंकवादी आन्दोलन—संवैधानिक सुधार—साम्प्रदायिक दंगे—युग की प्रधान प्रवृत्तियां—अखिल भारतीय दृष्टिकोण—राष्ट्रीयता और साहित्य—राष्ट्रीयता और हिन्दी भाषा—घटनाओं का साहित्य पर प्रभाव।

हिन्दी-प्रदेश का आधुनिक इतिहास
और
उसके निर्माण की प्रक्रिया

सांस्कृतिक इतिहास का तीसरा चरण—

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का विचार है कि भारतवर्ष के सांस्कृतिक उत्थान का तीसरा अध्याय १७०० ई० के पास से प्रारम्भ होता है। पंजाब के सिक्ख गुरु, दक्षिण के शिवाजी, राजस्थान की अनेक विभूतियां, उत्तर के अनेक वीर, आदि हुंकार उठे। किन्तु इसके पहले कि भारत इस पुनरुत्थान का फल चखने पाता भाग्य ने उसके मत्थे इंगलैंड की राजनीतिक और आर्थिक दासता मढ़ दी। फिर भी पुनरुत्थान की धारा इससे समाप्त न हुई। वह दूसरी दिशाओं में बह निकली। उसका रूप कुछ बदल गया। वह अप्रत्याशित स्वरूपों और क्षेत्रों में प्रकट हुई। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि शक्ति चाहे जिस उद्देश्य को ध्यान में रखकर अर्जित की गई हो किन्तु यदि कोई ऐसी परिस्थिति आ जाय जो शक्तिवान के अस्तित्व को ही मिटाने पर तुली हो तो उस शक्ति का प्रयोग (पहले वाले उद्देश्य को किनारे करके) उस नवीन परिस्थिति का सामना करने के लिए उसे पराजित करने के लिए और उसको अपने अधिकार में करने के लिए ही किया जायगा। यही बात भारत के साथ हुई। तीसरे सांस्कृतिक उत्थान से प्राप्त शक्ति की क्रियाशीलताएं इसीलिए अप्रत्याशित रूपों और क्षेत्रों में दिखाई पड़ी। १८५७ ई० का विद्रोह, रामकृष्ण परमहंस, दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक, अरविन्द, टगौर, गांधी आदि उसकी प्रगतिशीलता के विभिन्न प्रतीक हैं। इनकी कहानियां इनकी प्रवृत्तियां ही हमारा इतिहास एवं हमारी ऐतिहासिक प्रवृत्तियां हैं।[1] हमारी ऐतिहासिक प्रवृत्तियों का स्वरूप इन्हीं से विनिर्मित होता है।

हमारा इतिहास और हमारी संस्कृति—

हमारे देश के जीवन की गतिविधि को दिशा एवं उसके स्वरूप का निर्धारण हमारी सांस्कृतिक चेतना ही करती है। वही हमारे जीवन की नाड़ी है। १८ वीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते हमारी सांस्कृतिक चेतना ने एक नवीन परिधान धारण किया था जिसका ताना-बाना हिन्दू और मुस्लिम इन दो संस्कृतियों के तत्वों से विनिर्मित हुआ था। औरंगजेब के शासन का स्वरूप भारतीय संस्कृति के सामासिक स्वरूप से भिन्न था—बिल्कुल उलटा था। हम सबको मिलाकर रहने के कायल थे वह गिया

१—'भगवद्गीता एण्ड माडर्न लाइफ', पृ० ६।

मुन्नियो तक मे घातक भेद करता था, भारतीय सस्कृति सब मे एक तत्व का दर्शन करती है, वह अपने सगे भाइयो म भी एक तत्व नही देख सकता था, हमारी सस्कृति कहती है 'पितृदेवो भव , और उसन 'किबले के ठौर बाप बादशाह शाहजहा वाको कद कियो मानो मक्के आगि लाई है , हमारी सस्कृति उदार थी, वह कट्टर था, और तब, हमारी सस्कृति के अर्थात् उस युग की सामाजिक सस्कृति के प्रतीक समय रामदास ने 'अनीति'[1] असस्कृति-के विरुद्ध क्षोभ प्रकट किया। उस क्षोभ को शक्ति (तलवार) दी भवानी ने। इस प्रकार हमारे देश के इतिहास की एक नई शानदार कहानी बनी जिसका सास्कृतिक उद्गान भूषण ने प्रस्तुत किया। इतिहास का निर्माण करती हुई सस्कृति की वही गगाधारा बही। राज्य बदले, राजा बदले नीतिया बदली, शक्तिया बदली। घटनाओ ने नई-नई मोडे ली।

हमारी सांस्कृतिक भूलें और तभी यूरोपीय आक्रमण—

औरगजेब की सास्कृतिक भूलो का परिणाम देश को भुगतना पडा। सस्कृति रूपी भवन की दीवारो म दरारें पड गई जिन पर पलस्तर लगाने का काम जन-जीवन और दृष्टिकोण करने लगा। सन्तुलन बिगड गया। हम इस महत्वपूर्ण काम मे लगे ही थे कि यूरोपीय सस्कृति के बादल अपनी समस्त शक्ति, क्षमता सकुलता एव सघनता के साथ हम पर बरसने लगे। रूपक छोड दें। वे व्यापारी विजेता राजनीतिक शक्ति का आयुध लेकर हमारी सस्कृति पर टूट पडे। य नवीनता का आकर्षण लेकर आये थे। सम्भवत जनता इनकी कूटनीति न समझ सकी। इन्होंने जीवन-सम्बन्धी हमारा दृष्टिकोण बदलना प्रारम्भ कर दिया क्योकि ये हमको अपने सास्कृतिक उपनिवेश का रूप देना चाहते थे। हम प्रेम के पुजारी थे ये सघर्ष के समर्थक थे, हम श्रद्धावान थे, ये एकमात्र बौद्धिक थे, हम कर्ममय धर्म चाहते थे, ये स्वार्थ प्रेरित कर्मवादी थे, हम अभेदवादी थे, ये भेदवादी थे, हम शान्ति चाहिए थी, इन्ह रुपया चाहिये था, हम उनसे मिलने के लिए बढ रहे थे वे हम झुकाने के लिए लड रहे थे, हम भीम की तरह आलिंगन करने की दिशा मे चल रहे थे, वे हम दबाकर हम चूर-चूर करने के लिए अन्धे धृतराष्ट्र की तरह स्वय जल और हम छल रहे थे। हमने इसे समझा तब जब हम उनकी शक्ति और कूटनीति के पास म पूर्णत आबद्ध हो चुके थे। जब हमने समझा तब उस आबद्धता-परवशता शक्ति-असहायता की अवशता म भी मुक्ति के लिए हुकार भरी, जोर लगाया और हाथ पाव मारे।

१—जिसकी व्यजना शिवराज भूषण के 'किबले के ठौर बाप बादशाह शाहजहा वाले छन्द मे हुई है।

ही,, मेरा त, यह अनुभव है कि हमम स अधिकांश आज तक उनके कुप्रभाव से नहीं बच पाये। आज उस हम सभी पंजा, क्रान्ति, परिवर्तन, सांस्कृतिक संगम, और प्रगतिशीलता जैसे महत्वपूर्ण एव भारी भरकम शब्दो के पर्याय समझ बैठो की गलती कर जाते हैं और कभी इन्ही आड म अपनी दुर्बलताओं को छिपाते हैं। अस्तु, यह सांस्कृतिक विद्रोह हुआ। इतिहास ने नई करवट ली। विजित और विजेता–दोनों को सोचने के लिए मजबूर होना पड़ा। अंग्रेजो ने आज तक जो दृष्टिकोण बनाया था उसे उन्हें बदलना पड़ा। सम्भवत उन्होंने सोचा था कि यूनान, मिस्र रोम चीन, आदि की तरह भारतीय संस्कृति भी अत्यन्त पुरानी होने के कारण जीर्ण शीर्ण, हतशक्ति, समय के पीछे की चीज एव नये जीवन को नयी प्रेरणा देने म पूर्णत असमर्थ हो गई है और इसलिये शायद उन्ही यह धारणा भी बनी थी कि भारतीय संस्कृति के विभिन्न तत्वो को जिस तरह चाहो उस तरह तोडो मरोडो, उस तरह उसकी व्याख्या करो, उस तरह उसे बदनाम और तिरस्कृत करके उसके अनुयायियों को जिस तरह चाहो उस तरह सभी दृष्टियो से लूटो नेस्तनाबूद करो। हिन्दुस्तानी निर्जीव हो गया है। एच०पी०ई० जकारियास ने लिखा है कि १८५७ ई० के विद्रोह से अंगरेज बुरी तरह स डर गय थे[1]।

१८५७ ई० का विद्रोह और नीति परिवर्तन—

१८५७ ई० के विद्रोह ने अंग्रेजो को यह सोचने को मजबूर कर दिया कि जिसे वे शव समझ रहे थ वह किसी सबल–सशक्त का सुप्त–निष्क्रिय–निश्चेष्ट शरीर था। वे शायद समझ गये कि धर्म सामाजिक परम्पराओ, आस्थाओ, अधिकार, आदि के रूप म उन्होने शिव के तीसरे नेत्र को कोंच दिया है जिसकी आग की एक छोटी सी लपट इतनी भयानक है। अंग्रेज समझ गया कि भारत राष्ट्र मे अभी भी शक्ति और चेतना है। उससे प्रत्यक्ष शत्रुता करके भारत म टिक सकना असम्भव हो जायगा। उसने नीति बदल दी। उसके बाद से भारत म अंग्रेजो और भारतीयो का उस रूप मे युद्ध नही हुआ जिस रूप म १८५७ ई० के पहले होता था। उसके बाद फिर भारत म साम्राज्य के विस्तार की नीति छोड दी गई, साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति और साम्राज्य के प्रभाव–क्षेत्र को बढाने की नीति अपनाई गई। हम हथियारो की शक्ति से वश म लाने की अपेक्षा कानून की शक्ति स वश म लाने की नीति अपनाई गई। मधुर एव प्रिय भाषा–शाली तथा स्वार्थमने कार्यो और कानूनो का बोल–बाला हुआ। आक्रांता के चेहरे पर मित्री और प्रशिक्षण का नकाब चढाया गया। दिखाया

१– रेनेसेन्ट इंडिया', पृ० ६२

गया कि हम आपको आपके सभी अधिकार धीरे-धीरे दे देना चाहते हैं। देरी केवल उतने समय तक की है जबतक कि आप यह सिद्ध न कर दें कि आप उन अधिकारों का उपयोग करने के योग्य हैं, और वास्तविकता यह थी कि वे हम पर अविश्वास करने लगे थे और सोचते यह थे कि भारतीयों को उतना ही दिया जाय जिससे अंग्रेजों की प्रभुता उनकी शक्ति और उनके हितों पर कभी किसी प्रकार की आंच न आने पाये। सांस्कृतिक आक्रमण की तीव्रता कम हो गई। आगे का इतिहास दो अविश्वासी जातियों के परस्पर प्रेम एवं सद्भावना-प्रदर्शन का इतिहास है। यदि अंग्रेजों ने सोचा तो भारतीयों को भी सोचने के लिये मजबूर होना पड़ा। महारानी विक्टोरिया की घोषणा हुई कि अब अधिकृत प्रदेशों को नहीं बढ़ाया जायगा ईस्ट इंडिया कंपनी के द्वारा की गई संधियों और समझौतों को माना जायगा, सबको अपने कर्त्तव्य पालन की स्वतंत्रता रहेगी, सबको धार्मिक कर्त्तव्यों एवं अनुष्ठानों को पालन करने एवं पूरा करने की स्वतंत्रता रहेगी, शिक्षा-योग्यता और ईमानदारी के आधार पर सबको समान रूप से नौकरियां दी जायगी, बलपूर्वक धर्म परिवर्तन करवाने वाला दंड का भागी होगा भारतीयों के भारत प्रेम का सम्मान किया जायगा, तथा भारतीयों के अधिकारों और न्यायोचित मांगों को माना जायगा। सहज विश्वासी भारतीयों ने विश्वास कर लिया और उनका सारा आक्रोश समाप्त हो गया प्रवृत्ति बदल गई। वे राजभक्त हो गये। उसकी तरफ से लड़ने-मरने को तयार होगये। कवि भारतेन्दु ने आशीर्वाद दिया – पूरी अमी की कटोरिया-सी चिरजीवहु तुम विक्टोरिया रानी" या 'हे प्रभु रच्छहु श्री महारानी'[1] किन्तु सत्य की ओर से आंखें बहुत दिन मूंदी जाती। साम्राज्ञी के घोषणा-पत्र पर पूरी ईमानदारी से अमल नहीं किया गया। विश्वासी अंधा तो नहीं होता। उसी भारतेन्दु को आखिर एक दिन 'भारत-दुर्दशा' लिखनी पड़ी और कहना पड़ा 'पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी'[2]। भारतीय राष्ट्र अंग्रेजों में स्वरूप को पहचान गया किन्तु वह यह भी समझ गया कि अब भारत के रंगमंच पर से हथियारों के प्रयोग के दिन बहुत दिनों के लिये उठ गये। हथियारों का प्रयोग दोनों नहीं करना चाहते थे क्योंकि दोनों ने दोनों की तलवारों का पानी देख लिया था और फिर जब एक कानूनी शिकंजे में हो और दूसरा सर्वशक्ति सपन्न, तो दोनों में हथियारों की लड़ाई हो भी कैसे सकती है? भारत ने समझ लिया कि अब उसे हथियारों का सहारा छोड़ना है। १७०० ई० के आसपास से नई मोड़ लेकर चली आने वाली सांस्कृतिक चेतना और शक्ति ने

१—"भारतेन्दु ग्रंथावली" भा० २, पृ० ८१४।

२—भारतेन्दु नाटकावली, पृ० ५६८।

प्रेरणा दी। इतिहास ने एक नई मोड़ ली। युद्ध ने नया रूप धारण किया। इतिहास ने एक नई कहानी लिखनी प्रारम्भ की। हमने स्वयं हथियार छोड़ तो उनके भी हथियार रखवा दिये। वे भारी अनीति और दुर्नीति का समर्थन नीति और झूठ का सहारा लेकर करने लगे। भारतीय संस्कृति की जय हुई। हमने जबरदस्ती का उत्तर अनुरोध, व्याख्यान का उत्तर व्याख्यान, दुर्बुद्धि का उत्तर सद्बुद्धि, घृणा का उत्तर प्रेम, दमन का उत्तर असहयोग, जबरदस्ती लादे गये कानून का उत्तर कानून भङ्ग, कूटनीति का उत्तर स्पष्ट एवं सत्य कथन, मायाजाल के बादलों का उत्तर सत्य का सूर्य-प्रकाश, और हिंसा का उत्तर अहिंसा से दिया और १९४७ ई० में इतिहास ने सुनहरे अक्षरों में अपना निर्णय लिख दिया– 'सत्यमेव जयते नानृतम्'। अस्तु १८५७ ई० के बाद भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक विधिवत् उपनिवेश बन गया। भारत के इतिहास में यह एक नई बात हुई। नया अनुभव मिला। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, 'हिंदुस्तान के इतिहास में पहली बार उसके ऊपर बाहर के किसी अन्य देश का राजनीतिक नियन्त्रण स्थापित हुआ और उसके अन्तिम तन्त्र का केन्द्र किसी सुदूर देश में स्थापित हुआ। उन लोगों ने हिंदुस्तान को आधुनिक युग का एक विचित्र उपनिवेश बना दिया। अपने लम्बे इतिहास में भारत पहला बार गुलाम देश बना।"[1]

शान्ति के लिए सम्पन्नता की बलि—

भारत का विक्टोरिया—युग के साम्राज्य की देनों का सम्भवत निष्कर्ष रूप में उपस्थित करते हुए रमेश दत्त ने लिखा है, भविष्य के इतिहासकारों को यह दुखभरी कहानी कहनी होगी कि (ब्रिटिश) साम्राज्य ने भारतीय जनता को शान्ति तो दी किन्तु समृद्धि नहीं दी, कारीगरों के हाथों से उनके उद्योग निकल गये निरंतर बढ़ते जाने वाले भारी भारी करों ने, जिनके कारण बचत की कोई भी सम्भावना नहीं रह गई थी, किसानों को पीस डाला, देश की आय का अधिकांश भाग इङ्गलैंड को रवाना कर दिया जाता था और करोड़ों की संख्या में जनता बार बार होने वाले प्रलयकारी अकालों से साफ कर दी जाया करती थी।'[2] १८५७ ई० से १९९९ ई० तक के ब्रिटिश शासन की भी यही कहानी है। महारानी विक्टोरिया का घोषणा पत्र १ नवम्बर, १८५८ ई० को इलाहाबाद में आयोजित दरबार में सरकारी तौर से सुनाया था। इस घोषणा पत्र के अनुसार रानी ने भारत का शासन अपने हाथों में ले लिया। ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है, 'भारतियों के लिए रानी का भारत शासन अपने हाथ में लेना एक नये युग

१— डिस्कवरी आफ इंडिया' पृ० २३३।

२—' इंडिया इन दी० विक्टोरिया एज' भूमिका पृ० ८–९

का प्रारम्भ था इस घोषणा का भारतियों ने अधिकार-पत्र के रूप में अभिनन्दन किया गया।[1] इस घोषणा पत्र से शासन में नई नीति का समावेश हुआ, देशी रियासतों की सीमाओं में छेड़ छाड़ समाप्त हो गई रियासती प्रदेशों को अंगरेजी राज्य में मिलाने की नीति समाप्त हो गई गोद लेने के अधिकार को भी स्वीकार कर लिया गया और इस प्रकार कम्पनी की नीति समाप्त हो गई शान्ति-समृद्धि की आशा होने लगी, अपने-अपने धर्म की रक्षा का विश्वास हो गया, समान व्यवहार और योग्यता के अनुसार ऊँची ऊँची सरकारी नौकरी पा सकने की उम्मीद की जाने लगी। भारत में शान्ति और सन्तोष की भावना जगी। ध्यान रहे कि ये वादे डर कर किये गये थे न कि किसी सिद्धान्त एवं नैतिक भावना से प्रेरित होकर। यह हाथ मिलाना अपना-अपना दाव खेलते हुए हाथ मिलाना था। यह प्रदर्शन मात्र था। अभी तक इस प्रकार व्यवहार किया जाता था जैसे कोई स्वार्थी मालिक अपने गुलाम से करता है। अब इस प्रकार का व्यवहार किया जाने लगा जैसे कोई मालिक अपने अधीनस्थ उस नौकर से करता हो जिसकी शक्ति और सम्भावनाओं से वह स्वयं डरता हो पहले स्वार्थ का नाच खुलकर बेशर्मी के साथ किया जाता था, अब कूटनीति के साथ किया जाने लगा। दिखाया गया कि हम आपकी भलाई के लिए आपको सब कुछ दे रहे हैं और सब-कुछ करने के लिए तैयार हैं लेकिन दिया और किया वही गया जिसके लिए विवशता हो गई और वह भी जहां तक हो सका अपने स्वार्थ और अधिकार को सुरक्षित रखते हुए इस युग में दस वायसराय आये। शासन अवधि के साथ उनके नाम इस प्रकार हैं—लार्ड कैनिंग (१८५८-१८६२), लार्ड एल्गिन (१८६२-६३) लार्ड जान लारेंस (१८६३-१८६९) लार्ड मेयो (१८६९-७२), लार्ड नार्थब्रुक (१८७२-७६), लार्ड लिटन (१८७६-८०) लार्ड रिपन (१८८०-८४), लार्ड डफरिन (१८८४-८८), लार्ड लन्सडाउन (१८८८-१८९४), और लार्ड एल्गिन (१८९४-९८)। इस युग की सब प्रमुख विशेषता है भारत सरकार की शासन-नीति का विकास। १८७० ई० में लाल सागरीय केबल की स्थापना से शिमला और लन्दन के बीच समाचारों का आदान प्रदान मिनटों में होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय कार्यों पर भारत सचिव का नियन्त्रण बहुत बढ़ गया। इस नियन्त्रण से भारत का प्राय अहित ही हुआ। आर्थिक अधिकारों के वितरण की नीति इसी युग में अपनाई गई। इसके अनुसार व्यय के कुछ विभागों, जैसे—जेलें, सड़कें, पुलिस आदि को इनके साथ सम्बद्ध आय सहित स्थानीय सरकारों के हाथ में रख दिया। प्रान्तों को केन्द्रीय सरकार से एक निश्चित धन प्रति वर्ष मिलता था। प्रान्तों को बचत का धन अपने पास रखने

१—'अर्वाचीन भारत का इतिहास,' पृ० ३१५

और अपनी आवश्यकता के अनुसार प्यार कर नरेशों को अधिकार दिया। यह भी निश्चय किया गया कि स्वतन्त्र आचार, अपनी नीति, धर्म, किसी भी विभाग में निरीक्षण और नियन्त्रण के अपने अधिकार को न छोड़ेगा परन्तु स्थानीय राज्य और देश-आयोगों की व्यवस्था के द्वारा में हस्तक्षेप और प्राचीन अर्थव्यवस्था को उखाड़ने से दूर रहेंगे। निश्चय किया गया कि किसी एक वंश का उत्तराधिकार विगत होने पर सरकार के समक्ष नाव। समाप्त हो जाने अन्य किसी युद्ध में प्राचीन सरकार। से कोई मांग न की जायेगी। अकालों में जाहीं सरकार तत्काल सहायता पहुँचायेगी। स्थानीय स्वायत्त शासन का प्रारम्भ भी इसी युग में हुआ। बम्बई स्वायत्त शासन अधिकार दिये गए। १८६१ से १८८८ के बीच ७ भयानक अकाल पड़े। लाखों लोग अकाल से पीड़ित हो उठे। इस युग में कृषि की दशा सुधारने के जो प्रयत्न हुए वे न होने के बराबर थे। लगान-नीति ने कृषि पर और भी भार डाल दिया। यूरोप की औद्योगिक क्रांति और भारत में विदेशी पूँजीपतियों के प्रवेश ने भारत के उद्योग धन्धों का जाना दूभर कर दिया। कच्चा माल पाना और तैयार माल की खपत के लिए मंडियों को अपने अधिकार में रखना इंग्लैंड को अभीष्ट ही था। भारतीयों के उच्च पदों पर पहुँचने के मार्ग में तरह तरह की बाधाएँ खड़ी की जाती रहीं। सिविल सर्विस की परीक्षा में जो लन्दन में होती थी बैठने के लिए अधिकतम आयु पहले २२ (१८६० ई०) फिर २१ (१८६६) कर दिए जाने के कारण भारतीयों के लिए यह परीक्षा और उससे मिलने वाले पद दुराशामात्र रह गए। इसका कारण था अविश्वास की नीति। इससे लोगों में असाधारण असन्तोष उत्पन्न हो गया। १८७० ई० तक प्रेस स्वतन्त्र रहा। तब तक वह अङ्गरेजों के हाथों में था। बाद में यह भारतीयों के हाथों में आ गया और राजनीतिक शिक्षा और जागृति का साधन बन गया। सरकार की आलोचनाएँ भी होने लगी। सरकार सतर्क हो गई। १८७८ ई० में वर्नाक्युलर ऐक्ट पास कर दिया गया। इससे प्रेस की स्वतन्त्रता छिन गई। १८८२ ई० में यह रद्द हुआ। १८८३ ई० में इल्वर्ट बिल पास हुआ। इस बीच जातीय घृणा के भाव बहुत जोर पकड़ गये थे। काला आदमी यूरोप वासियों का मुकद्दमा देखे, यह गोरों को असह्य था। उन्होंने इसका विरोध किया। भारतियों ने इस विरोध की निन्दा की। भारतेन्दु युग की कविताओं में ये सारी दुरवस्थाएँ बड़े ही मार्मिक रूप में अभिव्यक्त हुई हैं। अकाल सम्बन्धी निम्नलिखित कविता देखिए—

कोई पात पेड़न के खाव, कोई मारी काई घास चबाय।
कोई बेटवा बिटिया बेच, अब तो भूख सही नहिं जाय॥

कोई घर घर भीख मार्गे कोई लूट पाट के साथ।[1]

टक्स और महगाई के विषय मे प्रताप नारायण मिश्र ने लिखा है —

महगी और टिक्ट के मारे सगरो वस्तु अमोली है"[2]

'प्रेमघन" ने बडी ही दूरदर्शिता के साथ भारत की वास्तविक माग इस प्रकार सामने रखी है —

पै दुख अति भारी इक यह जो बढ़त दीनता
भारत में सपति को दिन दिन होन छीनता
सुख सुकालहू जिनहिं अकालहिं के सम त्रासित
कई कोटि जन सदा सहत भोजन की सासत

भारत को धन अन्न और उद्यम व्यापारहिं
रच्छहु वृद्धि करहु साचे उन्नति आधारहिं।[3]

इससे राष्ट्रीयता के विकास मे पर्याप्त सहायता मिली। १८८५ ई० म भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की स्थापना हुई। सुधारों की मागें प्रारम्भ हो गई। प्रारम्भ से ही यह नरम दलीय और वधानिक सुधारो वाली सस्था रही। इस युग की वृत्तियो की एक झलक महात्मा गाधी द्वारा लिखित निम्न पक्तियों में मिल जाती है, "उनके शासन से हमारा देश कगाल होता जा रहा है। वे साल व साल हमारे देश का धन ढोये लिये जा रहे हैं। वे गोरे चमडे वालो को ही ऊचे ओहदे देते हैं, हमे गुलाम की दशा मे रखते हैं। हमारे साथ उद्दडपन से पेश आते हैं और हमारे भावो का तनिक भी परवाह नही करते।"[4] भारतेदु हरिश्चन्द्र ने इसी भाव की अभिव्यक्ति इन पक्तियो मे की है —

बाहर भीतर सब रस चूसे, हसि हसि के तन मन धन मूसे
जाहिर बातन मे अति तेज, क्यो सखि, साजन नहिं, अगरेज।[5]

इस समय की एक और बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है और वह यह है कि अगरेज मुसलमानो से विशेष रूप से खिचे रहे, क्योंकि वे, जसा कि स्वाभाविक

१– हिन्दी प्रदीप' म प्रकाशित, "भारतेन्दु युग" पृ० १२ से उद्धृत
२– 'होली है' शीर्षक कविता से
३– "हार्दिक हर्षादर्श" से
४– 'हिन्द स्वराज्य", पृ० २२
५– भारतेन्दु ग्रथावली", पृ० ८११

है, सोचते थे कि साम्राज्य हमने मुसलमानों से लिया है और इसलिये मुसलमान हमसे विशेष रूप से शत्रुता रखेंगे और विश्वास न करेंगे। इधर कुछेक कारणों से मुसलमान भी अंगरेज, अंगरेजी भाषा और अंग्रेजी संस्कृति से खिंचे रहे। इस युग की मानसिक प्रवृति चित्रित करते समय मन्मथ नाथ गुप्त ने लिखा है 'गदर हुए ४० साल गुजर चुके थे। इस बीच में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध कोई चां चूं करने वाला नहीं था। बड़े आनंद से सरकार और उसके पिट्ठुओं के दिन कट रहे थे। मालूम होता था कि यही बहार सदा रहेगी। भारतवासी एसे ही गुलाम रहेंगे।'¹ इस पृष्ठभूमि में हमारा आलोच्य काल अर्थात् बीसवीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध प्रारम्भ होता है।

विक्टोरिया की मृत्यु—

इस युग की सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है बयासी वर्षीया महारानी विक्टोरिया का देहान्त। इस महीयसी का जीवन इस १८ वीं शताब्दी पर छाया हुआ है। इसका जन्मकाल भले ही १८ वीं शताब्दी का जन्मकाल न रहा हो किन्तु इसकी मृत्यु अवश्य ही १६ शताब्दी की मृत्यु थी। बयासी वर्ष का जीवन लगभग एक शताब्दी का जीवन होता है। विक्टोरिया १६ वीं शताब्दी की प्रतीक थी। उन्नीसवी शती विक्टोरिया की शती थी जिसे साम्राज्य विस्तार की शती कहा जा सकता है। यह इंगलैंड के उत्कर्ष की शती थी। विक्टोरिया का देहान्त एक प्रवृत्ति का, एक दृष्टिकोण का देहान्त था। बीसवी शताब्दी परिवर्तित प्रवृति परिवर्तित दृष्टिकोण की शताब्दी है—भले ही आमूलतः परिवर्तित प्रवृत्ति की शताब्दी कम से कम उस समय न हो पाई हो।

भारतीय स्वतन्त्रता —

जिस प्रकार उन्नसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध की सबसे प्रमुख घटना थी १८५७ ई० की क्रांति या विद्रोह जिसे कुछ इतिहासकारों ने 'सैनिक विद्रोह' मात्र कहना चाहा था वसे ही बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की सबसे प्रमुख घटना है १६४७ ई० की भारतीय स्वतन्त्रता। २८ मार्च, १८५७ ई० को मंगल पांडे की गोली ने विप्लव का सूत्रपात किया था और १५ अगस्त, १६४७ ई० की मध्य रात्रि में १२ बजे नेहरू और पटेल के हस्ताक्षर द्वारा उस महान् विप्लव को समाप्त किया गया। एक यज्ञ पूरा हुआ।

१— भारत में सशस्त्र क्रांति चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास", पृ० २१।

गाधी युग—

८२ वर्ष की आयु विक्टोरिया की थी ७८ वर्ष की आयु गाधी को मिली। यदि इगलैंड के इतिहास का वह युग महारानी विक्टोरिया का युग था, तो भारत के इतिहास का यह युग महात्मा गाधी का युग था। १९०१ ई० के आते ही विक्टोरिया चली गई और १९४७ ई० मे स्वतत्रता पाते ही गाधी चले गये। प्रत्येक महापुरुष के जीवन का एक लक्ष्य होता है जिसकी प्राप्ति उनके जीवन की समाप्ति होती है। महाभारत की समाप्ति के पश्चात् अरजुन बेकार हो गये और गाडीव चलाना एव दिव्यास्त्रों का प्रयोग करना भूल गये थे। १९४७ ई० की स्वतन्त्रता के बाद गाधी असहाय हो गये थे— उनकी कोई सुनता ही नही था। लास्ट फेज' मे प्यारे लाल ने और 'प्रार्थना प्रवचन मे कई जगह गाधी ने स्वय कहा है कि आज मैं अकेला हूँ मेरा कोई प्रभाव नही रह गया है मेरी कोई नही सुनता। तात्पर्य यह कि गाधी युग समाप्त हो गया।

भारतीय परतन्त्रता की उम्र—

इस प्रकार यदि परतन्त्रता का अर्थ है दूसरे देशवासियों का दूसरे देशवासियों पर शासन तो भारतीय इतिहास के इतने लम्बे काल मे भारत केवल ८८ वर्ष ४ महीने ही परतन्त्र रहा—अब यह बात दूसरी है कि यह परतन्त्रता इतनी भयानक थी कि लगता है कि गुलाम रहना और गुलामी के दोषो से "दूषित' होना ही हमारा स्वभाव है? प्रचार का प्रभाव कितना भयानक होता है और वह गलत बात को भी 'विश्वास' मे परिवर्तित कर देने मे कितना समर्थ है—इसका उदाहरण कुछ लोगों की उपयुक्त धारणा है। समन्वय एव सामजस्य हमारी सास्कृतिक प्रकृति है अन्यथा किसी की दासता भारत ने अपने इस दीर्घकालीन इतिहास मे कभी—भी नही स्वीकार की है। जिसने पराया बनकर भारत मे रहना चाहा भारत की आत्मा ने उसे या उसके शासन को कभी भी नही स्वीकार किया—उसे कभी भी मन से नही बैठने दिया। इस दृष्टि से भारत कभी भी गुलाम नहीं रहा।

इरविन—

१८६६ ई० मे एक बहुत ही योग्य और परिश्रमी आदमी भारत मे आया और उसने १९०५ ई० मे कहा, 'इसमे सन्देह नही कि पूर्व मे, जहा चालाकी और कूटनीतिक चालबाजियों का हमेशा ही बहुत सम्मान होता रहा है, उच्च सम्मान प्राप्त करने के पहले सत्य पाश्चात्य देशों के नैतिक नियमो मे बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर चुका था'।' किन्तु वही व्यक्ति जब भारत से गया तब 'उसकी दशा एक

हताश व्यक्ति की-सी थी अपने ही देश के मन्त्रिमण्डल ने उस को हतोत्साह किया था, जिस जनता की प्रसन्नता के लिये उसे भेजा गया था, उसी की घृणा लेकर वह लौट रहा था, उसके सहयोगी और अधीन कर्मचारी उस पर श्रद्धा या प्रेम रखने की अपेक्षा उससे भयभीत ही रहते थे। भारत से विदा होते समय उसका मानसिक सन्तुलन इतना बिगड़ गया था कि वह राजकीय जीवन के सामान्य शिष्टाचारों का भी पालन न कर सका"[१]। भारत का अपमान करने वाले योग्य या अयोग्य व्यक्ति की यह दशा हो जाती है। भारत एक न्यायप्रिय पवित्र एवं आध्यात्मिक अस्तित्व है। उसका अहित करने वाला फूलने-फलने नहीं पाता।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में देखा कि ब्रिटिश सरकार ने अपने वायसराय के रूप में भारत को एक बड़ी अच्छी चीज उपहार-स्वरूप भेंट की है जिसका नाम है कर्जन और जिसने यह कहा था "मैंने भारतीयों को राजनीतिक सुविधाएँ इसलिये नहीं दी है क्योंकि मैं ऐसा करना भारत के हित में न तो बुद्धिमानी समझता था और न राजनीति-कुशलता ही" अथवा जिसकी मनोवृत्ति इन शब्दों से स्पष्ट झलकती है, "भारत में रहते हुए मेरी एक महान् आकांक्षा यह है कि मैं कांग्रेस के शान्तिपूर्वक समाप्त हो जाने में सहायता करूँ।"

बंग-भंग—

भारत ने कृतज्ञता पूर्वक इस उपहार को स्वीकार किया। इस उपहार का परिणाम १६ जुलाई १६०५ ई० को बंग-भंग के विवरण के रूप में मिला। उपहार और बंग-भंग के लिये धन्यवाद-प्रदान के स्वरूप ही जैसे '१६ अक्टूबर को, जिस दिन सरकारी तौर पर बंगाल के विभाजन का उद्घाटन हुआ उस दिन सारे बंगाल में राष्ट्रीय शोक-दिवस मनाया गया। लोगों ने सारा दिन उपवास किया, गंगा में स्नान किया, एक दूसरे के हाथ में एकता और भ्रातृत्व की प्रतीक रेशमी राखी बांधी और 'वंदे मातरम्' के तुमुल नाद के साथ शपथ ली कि जब तक बंग-भंग की योजना समाप्त नहीं कर दी जाती तब तक वे यथासम्भव विदेशी वस्तुओं का परित्याग करेंगे'[१]। भारतवासी बहुत दिनों से यह सोचते आ रहे थे कि उनका इंगलैण्ड में बनी हुई वस्तुओं का व्यवहार करना उचित नहीं है क्योंकि जब हम विदेशी वस्तुओं का उपभोग करते हैं तब एक तो हम पराधीन होते हैं तथा "अपनपौ" खो बैठते हैं, और दूसरे अंग्रेजों का व्यापार बढ़ता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा था —

१— अर्वाचीन भारत का इतिहास", पृ० १६७।

मारकीन मलमल बिना चलत कछू नहिं काम,
परदेसी जुलहान के मानहुँ भए गुलाम।

परदेसी की बुद्धि अरु वस्तुन की आस,
परवस ह्वै कब लौं कहौ रहिहौ तुम ह्वै दास। [1]

बालमुकुन्द गुप्त ने चाहा था कि —

अपना बोया आप ही खावें
अपना कपड़ा आप बनावें।
माल विदेशी दूर भगावें,
अपना चरखा आप चलावें। [2]

भारतेन्दु जी ने साधारण जनता के नाम एक अपील निकाली और स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार की माग की थी—"हम सब लोग सर्वान्तर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि सब लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिनेंगे और जो कपड़ा पहले से मोल ले चुके हैं और आज की मिती तक हमारे पास हैं उनको तो उनके जीर्ण हो जाने तक काम में लावेंगे पर नवीन मोल लेकर किसी भांति का भी विलायती कपड़ा न पहिरेंगे।" [3]

इस कार्यक्रम ने बग भग के विरुद्ध होने वाले आन्दोलन मे एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया और बाद मे तो इसने लंकाशायर और मानचेस्टर को तथा उनके सरक्षकों को आसमान के तारे तका दिये। सचमुच वास्तविक कवि भविष्य द्रष्टा होता है। अस्तु बग भग का उत्तर भारत ने स्वदेशी आदोलन से दिया। बग भग असफल होगया, स्वदेशी आंदोलन सफल हो गया। यह आंदोलन और यह सफलता सम्भवत भविष्य के आंदोलनों और उनकी सफलताओं एव अन्तिम महानतम सफलता की प्रतीक थी। यह देव का इशारा था जिसे उचित समय पर अंग्रेज कभी भी न समझ पाया। भारतीय संस्कृति ने स्वाधीनता के आंदोलन को यह स्वरूप दिया था कि स्वाधीनता की प्राप्ति मे न एक बूंद रक्त बहने पाता, न एक बूंद पसीना। काश कि अंग्रेज कुछ और दूरदर्शी होते कुछ और समझदार।।

१—"भारतेन्दु ग्रथावली" पृ० ७३५, ७३७,
२—स्फुट कविता, पृ० १९६।
३—"कवि वचन सुधा", माघ, १८७४ ई०।

एक ऐतिहासिक प्रवृत्ति—

इस युग की ऐतिहासिक प्रवृत्ति यह थी कि भारतवासी यह समझ गये कि एक मात्र विनम्रतापूर्वक मांगते रहने से—प्रार्थना पत्र देते रहने से—कुछ मिलने का नहीं। उसके लिये युक्ति, बुद्धि, और तर्क के साथ-साथ जनता का समर्थन—जनता की शक्ति भी होनी चाहिये। महात्मा गांधीने लिखा है 'अब तक हम यह समझते आ रहे थे कि हम बादशाह के पास अपनी अर्जी, फरियाद पहुंचानी चाहिये और वहां सुनवाई न हो तो चुपचाप कष्ट अन्याय सहन करते रहें। बीच-बीच में अरजी जरूर भेजते रहें। बंगभंग के बाद लोगों ने देखा कि अरजी प्रार्थना के पीछे कुछ बल होना चाहिये, लोगों में कष्ट-सहन करने की क्षमता होनी चाहिये। नई भावना को ही बंगभंग का मुख्य परिणाम समझना चाहिये जो बातें डरते हुए और चुप छिप कर कही जाती थीं वे अब खुले-खजाने कही जाने लगीं अंग्रेज को देखकर पहले छोटे बड़े सभी डर कर भागते थे, अब डरना-कांपना बंद हो गया।"[1] उनका यह भी विश्वास हो गया था कि भारतवर्ष पर अंग्रेजों का शासन किसी नीति, सदुद्देश्य एवं भारत की हित से प्रेरित होकर नहीं हो रहा है बल्कि उसके पीछे उनका राजनीतिक एवं आर्थिक स्वार्थ है, जिसकी पूर्ति के लिये वे कूटनीति से लेकर बर्बरतापूर्ण दमन तक कुछ भी करने को तैयार हैं। सांस्कृतिक पुनरुत्थान ने उनके अन्दर आत्म विश्वास की भावना पूर्ण रूप से भर दी थी। अंग्रेज यह समझता था कि भारतवासी अयोग्य हैं, उनकी अयोग्यता से लाभ उठाना चाहिये, उन्हें थोड़ा-'बहुत देकर फुसला लो न मानें, तो शक्ति प्रयोग करके उन्हें दबा दो और अगर इतने से भी न काम चले तो कुछ और देकर उन्हें चुप करने का प्रयत्न करो। होता यह था कि जब तक वे यह 'कुछ और देने का निर्णय करते थे तब तक बीसवीं शताब्दी की तीव्रतम ऐतिहासिक प्रगतियां और प्रवृत्तियां हमें और भी जागरूक करके 'कुछ और भी मांगने को विवश कर देती थीं और वे इन्कार करके हम फिर दबाने मारने लगते थे, तथा हम नये सिरे से नया आन्दोलन करने लगते थे। इन दोनों प्रवृत्तियों का सम्मिलन सन् १९४७ ई० में हुआ जब एक ओर भारत के प्रतीक गांधी ने कहा था कि अंग्रेजों को जल्दी से जल्दी भारत छोड़कर चला जाना चाहिये और दूसरी ओर इंगलैंड के प्रधान मंत्री ने घोषणा की थी कि अधिक से अधिक जून, १९४८ ई० तक सत्ता हस्तांतरित कर देना चाहते हैं। गांधी ने कहा था कि जून १९४८ ई० से भी पहले उन्हें चला जाना चाहिये और वे अगस्त, १९४७ ई० को ही चले गये। इस प्रकार दोनों जहां मिल गये वहीं समस्या का समाधान प्राप्त हो गया।

---

१ 'हिंद स्वराज्य' पृ १७-१८।

भारत मे दो प्रकार के व्यक्ति—

इस युद्ध मे भारत के रंगमंच पर दो प्रधान दल थे। पहला, भारत की स्वतन्त्रता के लिये सब कुछ बलिदान कर देने को कटिबद्ध देशभक्तो का दल, और दूसरा, किसी न किसी बहाने से भारत को परतन्त्रता बनाये रखने को कटिबद्ध अंग्रेजी शासक दल। देशभक्तो के पीछे थी भारत की समस्त देश भक्त, प्रगतिशील, स्वातन्त्र्यप्रिय, निरीह-पीडित जनता एवं उत्पन्न रक्त वाला तरुण वर्ग अंग्रेजी शासक दल की सहायता करने वाले वे लोग थे जिन्हें अंग्रेजी शासन ने अपने स्वार्थ के लिये अधिकारो से विपन्न किन्तु भोग विलास के साधनो से सम्पन्न कर दिया था, जिनके लिये शरीर सुख शरीर को सजाने का सुख भौतिक सुख एवं अधिकारी होने का स्वांग भरने का सुख भारत मां के स्वातन्त्र्य-सुख से अधिक महत्वपूर्ण था, जो मन से अभारतीय थे जो परतदिल मृतात्मा या हतात्मा, अथवा नीच थे। इनमे से कुछ लोग ऐसे थे जो किसी न किसी अनिवार्य विवशता के कारण देशभक्तो का साथ नही दे पाते थे, एकांत मे अपनी कायरता पर रोते थे, प्रत्यक्ष रूप एवं क्रियात्मक रूप से हमारा साथ नही दे पाते थे, कभी कभी स्वातन्त्र्य विरोधियो का साथ भी देते थे किन्तु जिनके भावो का अंतर का एक एक कण हमारे साथ था। ये लोग चोरी छिपे हमारी सहायता भी करते थे। और मैं तो यह मानता हू कि इस युग मे जिसका हृदय एक बार भी परतन्त्रता के कारण क्षुब्ध हुआ और स्वाधीनता के लिये छटपटाया उसके अंतर का स्पन्दन भारत मां के अंतर के स्पन्दन का एक भाग हो गया। अपने को भारतीय सांस्कृतिक पुनरुत्थान के अमृत से सींच कर उसमे अनुरंजित हो जाने वाली प्रत्येक चेतना भारतीय चेतना थी धन्य चेतना थी माता की चेतना थी। मैं इन सबको देशभक्त एवं देशभक्तो के साथ मानता हूं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात दूसरे वर्ग के लगभग सभी लोगो ने अपने को इसी वर्ग का बताया और आजादी का फल अधिकांश ये ही लोग खा रहे हैं। हिन्दी-साहित्य की सेवा सभी वर्ग वालो ने किसी न किसी रूप से अपने अपने ढंग से करने का प्रयास किया है। माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पंत, निराला, रामकुमार वर्मा, श्री नारायण चतुर्वेदी, नवीन, गणेश शंकर विद्यार्थी, आदि इसके उदाहरण हैं।

बंग भंग विरोधी आंदोलन की तीव्रता एवं उसका प्रभाव—

अस्तु, इस युग के इतिहास की सर्वप्रथम महत्वपूर्ण घटना है बंग भंग। इसके महत्व की ओर संकेत करते हुये पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, "१८५७ के विद्रोह के बाद पहली बार भारत लड़ने की क्षमता दिखा रहा था। विदेशी राज्य के

पालतू पशु की तरह पराजित हो कर दब नही रहा था।"[१] ३ सितम्बर, १६०३ ई० को यह प्रसिद्ध प्रस्ताव सामने आया। इस योजना के अनुसार "पूर्वी बगाल तथा आसाम" नामक एक नया प्रान्त बनना था जिसमे आसाम के अतिरिक्त बगाल के चटगाव, ढाका तथा राजशाही प्रदेश सम्मिलित किये गये। सरकार ने कहा कि यह पुनर्व्यवस्था शासन की सुविधा की दृष्टि से की गई है, जनता ने समझा कि यह बगाल की राजनीतिक एकता भग करने की, हिन्दुओ-मुसलमानो मे भेद पैदा करने की, और नव जागृत राष्ट्रीय चेतना पर कुठाराघात करने की चाल है। जनता ने इसका इतना तीव्र विरोध किया कि दिसम्बर, १८११ मे राज्याभिषेक दरबार के समय लार्ड मकडानेल के शब्दो मे) 'प्लासी के युद्ध के समय के बाद से लेकर आज तक के बीच की गई सबसे बडी भूल" को सुधारना पडा और बग भग का विचार छोड देना पडा। भारतीय दृष्टिकोण से बग भग का विरोध सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात है। इसके विरोध ने ही उस स्वदेशी आन्दोलन को जन्म दिया जिसने आगे चल कर लकाशायर और मनचेस्टर के मिल मालिको को आसमान के तारे दिखला दिये थे। इसके विषय मे सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी लिखते हैं, 'नये प्रान्त के निर्माण की घोषणा बम के समान गिरी। हमने अनुभव किया कि हमारा अपमान किया गया हमारे साथ चाल चली गई है जनता की बढती हुई दृढता एव आत्म चेतना पर आघात किया गया है ।" महात्मा गाँधी ने लिखा है, 'जिसे आप सच्ची जाग मानते हैं वह तो बग भग से पैदा हुई है।'[२] काग्रेस ने बग भग को एक अखिल भारतीय समस्या का रूप दे दिया था जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत का कोना कोना इससे प्रभावित हो उठा था। बगाल के इस आंदोलन का प्रभाव उत्तर प्रदेश के एक १०-११ वर्षीय बच्चे पर कमा पडा, इसे उसी के शब्दों म पढिये, "सन् १६०७ ई० के बग भग के आन्दोलन के समय देश की समस्या की ओर मेरा ध्यान पहले पहल गया था। उस समय मैं केवल १०-११ वष का था विदेशी कपडो का पहनना मैंने तभी से छोडा था ।"[३] यह बगभग विरोधी आंदोलन बडे ही उग्र रूप म चला। सरकार के लिये इस प्रकार का आंदोलन एव सरकार का इस प्रकार विरोध एक नया अनुभव था। उसने समझा कि यह कुछ स्वार्थी व्यक्तियों का हुडदगा है जो बढता ही जा रहा है। वह इस उग्रता से बहुत ही चिढ उठी। उसने दमन चक्र उठाया। जिन स्कूलों और कालेजों ने अपने छात्रों का आंदोलन म भाग लने से न रोका उनको सरकारी

१ 'आटो बायग्राफी' पृ० २१

२ 'हिंद स्वराज्य, पृ० १६

३ मेरी कालेज डायरी, स० डा० धीरेन्द्र वर्मा पृ० ८६

सहायता रोकने की धमकी दी गई थी। 'वन्देमातरम' का उच्चारण अवैध हो गया। किन्तु इन सबसे आंदोलन रुका नहीं।

इस आन्दोलन की देनें—

बगभग की घटना से कुछ प्रवृत्तियाँ पूर्ण रूप से स्पष्ट हो गई। एक बात तो यह थी कि अँग्रेज शासक हमारी राष्ट्रीयता को फूलते फलते नही देखना चाहता। दूसरी बात यह भी सामने आ गई कि अग्रेज इस बात को समझ गया था कि भारत मे उसका शासन न तो अच्छे ढग का है और न अच्छी नीयत से किया जा रहा है। इस सम्बन्ध मे लाला लाजपतराय ने डा० बी० एच० रथफोर्ड की निम्न सम्मति उद्धृत की है, 'यह सरकार जनता की शिक्षा की अवहेलना करती है, गाँवो मे सफाई और चिकित्सा की व्यवस्था नही करती, शान्ति नहीं स्थापित रख सकती, निधनो के निवास की ओर ध्यान नहीं देती, ऋण देने वालो से कृषको की रक्षा करने का परवाह नही करती, कृषि सम्बन्धी बैक नहीं खोलती, इसी प्रकार कृषि की उन्नति और विकास की ओर ध्यान नही देती, भारतीय उद्योग धन्धो की वृद्धि नहीं करती, ट्राम गाडिया चलाने, बिजली की रोशनी का प्रबध करने और दूसरी सार्वजनिक सेवाओ मे अँग्रेज व्यापारियो के पूरे दखल को नही रोकती, और भारतीय करेंसी का लन्दन के हित मे प्रयोग किए जाने की रोकथाम नही करती भारतवर्ष मे जिस पद्धति के अनुसार ब्रिटिश शासन चलाया जा रहा है वह इस ससार मे अत्यन्त निकृष्ट और पतित—एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र द्वारा लूट-खसोट की पद्धति है।'[1] इस अनुभूति ने उसकी नैतिक दृढता को खत्म कर दिया था। इसी से तीसरी बात यह निकली कि वह अपनी कमजोरी को कूटनीति, अहकार, अधिकार रोब-दाब, क्रूरता प्रदर्शन एव दमन, आदि से ढके रहना चाहता था। चौथी बात यह निकली कि उसने हमें हराने के लिए अपने को उतना सुदृढ करने का प्रयत्न नही किया जितना हमें वंचित रखने और हमे कमजोर करने का। इसका कारण यह है कि वह जान गया था कि भारतीय प्रवृत्ति अब प्रशासनिक रियायतों और राजनीतिक अधिकारों के लिये प्रार्थना करने की जगह आन्दोलन करने की हो गई है। अँग्रेज हमारी शक्ति से आतंकित और हमारी बढती हुई राष्ट्रीयता से आशंकित था। अग्रेजो ने जो बग भग की आयोजना रद्द कर दी उससे हमे अपने आंदोलन की सफलता पर विश्वास भी हो गया था। हम अँग्रेजों की राजनीतिक और आर्थिक नीयत से परिचित हो चुके थे। इसलिए भारत की स्वतन्त्रता को हमने अपना परम पुनीत कर्तव्य समझ लिया था। सांस्कृतिक

१ 'आधुनिक भारत और उसकी समस्याएँ' के पृ० १६१ और ७७ — -----

पुनरुत्थान हुये सबल एव उत्साह से पूर्ण किए हुए था। इसी समय अर्थात् १९०५ ई मे जापान ने रूस पर सामरिक विजय प्राप्त की जिससे योरोपवासियो की अजेयता भ्रम का निवारण हो गया। भारतीय भी जीत सकता है, अंग्रेज भी हार सकता है वे देवता नही हैं हम बबर नही हैं। हम दोनों बराबर स्थिति के हैं। इस राष्ट्रीय की भावना को–शक्ति को कम करने के लिए उसके प्रतिकार के लिए अंग्रेज शासको बडे हर्ष के साथ १९०६ ई० म मुस्लिमलीग को जन्म दिया था। इस प्रकार की ताम सिक शक्तियां भारतीय स्वतन्त्रता की सबसे बडी बाधक प्रवृत्ति और उसके प्रतीक प्रतिमूर्ति–को जन्म देन के लिए सारे प्रयत्न कर रही थीं–उसकी तयारी कर रही थीं। दूसरी ओर, परम पिता परमात्मा–या यह कहा जा सकता है कि एतिहासिक प्रवृत्तियां शक्तियां भारत से हजारों मील दूर दक्षिण अफ्रीका में भारत के 'बापू' भारतीय स्व तन्त्रता के भव्य प्रतीक स्वातन्त्र्य युद्ध के अद्वितीय सेनानी का निर्माण कर रहीं थी। आतक का उत्तर आतक से देने के लिए भी भारतीय युवक तयार हो गए थे। इस प्रकार बीसवी शताब्दी की प्रथम दशाब्दि के समाप्त होते-होते भारत के रगमच पर उन सभी शक्तियो का उदय हो चुका था जो आगे आने वाले दिनो मे भारत के इति हास का नाटक खेलने म महत्वपूर्ण भाग लेने वाली थी।

वायसराय—

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध म भारत के अन्दर निम्नलिखित वायसराय तथ गवनर जनरल आये —(१) लाड कजन, (१८९९ १९०५), (२) लाड मिन्टो (१९०५ १९१०), (३) लाड हार्डिज (१९१०-१९१६), (४) लाड चेम्सफोड (१९१६ १९२१), (५) लाड रीडिंग (१९२१ १९२६), (६) लाड इरविन (१९२६ १९३१), (७) ला विलिंगडन (१९३१-१९३६), (८) लाड लिनलिथगो (१९३६-१९४४), (९) ला वेवल (१९४४ १९४७) (१०) लाड माउन्टबेटन (१९४७-१९४८) और (११) राज गोपालचाय (१९४८ १९५०)।

तिथियां और घटनाएँ—

इस युग की महत्वपूर्ण तिथियाँ और घटनाएँ इस प्रकार हैं —

१८९९–(१) प्लेग, दुर्भिक्ष (इस मय २०० वर्षों के अन्दर सर्वाधिक अनावृष्टि), मले रिया इन्फ्लुएन्जा, कई लाख मौत।
(२) लाड कजन का आगमन।

१९००–(१) उत्तर-प सीमाप्रान्त बना।
(२) एग्रीकल्चरल बैंक और सहकारी समितियों की स्थापना।

(३) नगरपालिका अधिनियम ।

१६०१–(१) पूसा, बिहार, मे कृषि अन्वेषण सस्था ।

(२) इन्सपेक्टर जनरल ऑव एग्रीकल्चर की नियुक्ति ।

(३) सर कालिवन स्काट मान्क्रीफ की अध्यक्षता मे सिंचाई जाँच समिति की नियुक्ति ।

(४) रेल मार्ग व्यवस्था की जाच के लिये टामस राबर्ट्सन की नियुक्ति ।

(५) शिक्षा विभाग के उच्चतम अधिकारियो और प्रमुख विश्वविद्यालयो के सरकारी प्रतिनिधियो का सम्मेलन ।

(६) महारानी विक्टोरिया का देहान्त

(७) हबीबुल्ला अफगानिस्तान के अमीर बने

१६०२–(१) सर ऐन्ड्र फ्रेजर की अध्यक्षता मे पुलिस जाँच-समिति की नियुक्ति ।

(२) विश्वविद्यालय जाच समिति की नियुक्ति ।

१६०३–(१) दिल्ली दरबार ।

(२) बग भग प्रस्ताव सामने आया ।

१६०४–(१) कोआपरेटिव सोसाइटीज ऐक्ट ।

(२) विश्वविद्यालय अधिनियम ।

(३) सहकारी ऋण समिति कानून ।

१६०५–(१) प्लेग के कारण के रूप मे पिस्सुओं का ज्ञान ।

(२) लैंड तथा आयसट नामक प्लेग अधिकारियो की हत्या ।

(३) पुलिस विभाग का नए ढङ्ग से सगठन ।

(४) बग बग की घोषणा ।

(५) बग भग के विरोध मे स्वदेशी आन्दोलन का श्री गणेश ।

(६) वाणिज्य-उद्योग विभाग खुला ।

(७) कर्जन का पद-त्याग ।

(८) रूस पर जापान की विजय ।

(९) इगलैंड में लिबरल दल की सरकार ।

(१०) मार्ले भारत सचिव बने ।

१६०६–(१) दादा भाई नौरोजी कलकत्ता कांग्रेस के सभापति बने ।

(२) मुस्लिम लीग का सगठन तत्कालीन वायसराय के आशीर्वाद और सलाह से ।

१६०७–(१) सूरत कांग्रेस मे कांग्रेस का नरम-गरम दल मे विभाजन-गरम दल उदय ।

(२) बंगाल के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर को ले जाने वाली रेलगाड़ी उड़ा दी गई और ढाका के भूतपूर्व मजिस्ट्रेट [illegible] की गई।

(३) [illegible]

१९०८–(१) किंग्सफोर्ड के धोखे में मुजफ्फरपुर में मिसेज और मिस केनेडी की हत्या।

( ) तिलक को ६ वर्षों की कैद।

(३) [illegible] कानून।

(४) देश द्रोह (हत्याओं और हिंसाओं को उभाड़ने के अपराध में दण्ड और [illegible] की व्यवस्था।

(५) विस्फोटक द्रव्य कानून

१९०९–(१) मिंटो मार्ले सुधार।

(२) लंदन में [illegible] का वध।

१९१०–(१) लार्ड हार्डिंग [illegible]।

१९११–(१) राजद्रोहात्मक सभा निषेध कानून।

(२) प्रेस विधान।

(३) [illegible] और [illegible] कानून।

(४) राजधानी परिवर्तन।

१९१२–(१) बंग भंग रद्द।

(२) दिल्ली दरबार और सम्राट जार्ज पंचम का भारत आगमन

१९१३–(१) दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के बारे में लार्ड हार्डिंग की घोषणा।

१९१४ }
१९१८ } –(१) प्रथम महायुद्ध

(२) महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे।

१९१५–(१) तिलक व नरम दल में उग्र दल का कांग्रेस में पुनः प्रवेश।

१९१६–(१) होमरूल लीग बनी-होमरूल आन्दोलन।

(२) लखनऊ कांग्रेस में हिन्दू मुस्लिम समझौता।

१९१७–(१) मांटेग्यू भारत सचिव बने।

(२) भारत सचिव भारत आये।

(३) कुली प्रथा समाप्त।

(४) गांधी जी चम्पारन में।

१९१८–(१) प्रथम महायुद्ध समाप्त।

१९१८–(१) रौलट ऐक्ट ।
(२) ६ अप्रैल का प्रसिद्ध हड़ताल प्रदर्शन ।
(३) अमृतसर और जलियान वाला बाग के काण्ड और मार्शल ला।
(४) टगोर का "सर" की पदवी छोड़ना ।

१९२०–(१) तिलक का देहान्त ।
(२) अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन का श्री गणेश ।
(३) हन्टर कमीशन की रिपोट ।

१९२१–(१) भारतीय व्यवस्थापिका सभा का उद्‌घाटन ।
(२) प्रिंस आफ वेल्स का भारत-आगमन ।
(३) मोपला विद्रोह ।
(४) चेम्बर आफ प्रिंसेज की स्थापना ।

१९२२–(१) चौरीचौरा काण्ड जिससे आन्दोलन बन्द ।
(२) गांधी गिरफ्तार ।
(३) गुरू का बाग काण्ड ।

१९२३–(१) नमक कर विधिवत् स्वीकार कर लिया गया ।

१९२४–बंगाल आर्डिनेन्स ।
(२) कांग्रेस मे परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी ।
(३) स्वराज्य दल और कौंसिल मे उसका प्रवेश ।
(४) गांधी जी का २१ दिनो का उपवास ।

१९२५–(१) चितरंजनदास का देहान्त ।
(२) मुडीमन जाच समिति की रिपोट ।

१९२६–(१) कृषि के लिये शाही कमीशन ।
(२) कलकत्ते मे हिन्दू मुस्लिम दंगे ।
(३) स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या ।

१९२७–(१) फिर हिंदू मुस्लिम दंगे ।
(२) साइमन कमीशन की घोषणा ।
(३) 'रूपी स्टविनाइजेशन' कानून ।
(४) काकोरी ट्रेन डकती ।

१९२८–(१) दिल्ली मे सर्वदल सम्मेलन ।
(२) नेहरू रिपोट ।

(३) भारतीय राजनीति में जिना का एक साम्प्रदायिक नेता के रूप में पुनः प्रवेश।

(४) साइमन कमीशन का बहिष्कार

१९२९–(१) जिना की चौदह माँगें।

(२) वायसराय की गाड़ी के नीचे बम फूटा।

१९३०–(१) पूर्ण स्वराज्य के लक्ष्य की घोषणा।

(२) २६ जनवरी स्वतन्त्रता दिवस घोषित।

(३) सविनय अवज्ञा (नमक) आन्दोलन।

(४) डांडी कूच।

(५) प्रथम गोलमेज कान्फ्रेंस।

१९३१–(१) गांधी इरविन समझौता।

(२) मोतीलाल नेहरू का देहान्त।

(३) द्वितीय गोलमेज कान्फ्रेंस।

(४) साम्प्रदायिक दंगे, गणेशशंकर विद्यार्थी की हत्या।

(५) भगतसिंह को फांसी (आतंकवादी आन्दोलन पूरे जोरों पर)

(६) चन्द्रशेखर आजाद प्रयाग में शहीद हुए।

१९३२–(१) कम्युनल अवार्ड।

(२) गाँधी जी का अनशन और पूना-समझौता।

(३) कांग्रेस का दमन।

(४) तृतीय गोलमेज कान्फ्रेंस।

१९३३–(१) सामूहिक सत्याग्रह स्थगित और व्यक्तिगत सत्याग्रह चलता रहा।

(२) बिहार का भूकम्प

(३) श्रीमती एनी बेसेंट की मृत्यु।

१९३५–(१) भारत सरकार कानून।

१९३६ / १९३७ –(१) प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के चुनाव और कांग्रेस की जीत।

१९३८–(१) हिन्दू-मुस्लिम समझौते के असफल प्रयत्न।

(२) सुभाष बोस के फारवर्ड ब्लाक की स्थापना।

(३) कांग्रेस मन्त्रिमण्डल का पदत्याग और लीग का मुक्ति दिवस।

१९४०–(१) पाकिस्तान की माँग।

(२) व्यक्तिगत सत्याग्रह।

१९४१–(१) जापान युद्ध में कूदा।

१९४२–(१) सिंगापुर पतन तथा जापान की अन्य सफलताएँ।
(२) असफल क्रिप्स मिशन।
(३) "भारत छोड़ो" आन्दोलन।
१९४३–(१) गांधी जी का उपवास।
(२) वेवल का आगमन
(३) बंगाल का दुर्भिक्ष।
१९४४–(१) गांधी जी की रिहाई।
(२) गांधी जिना वार्ता।
१९४५–(१) असफल शिमला सम्मेलन।
(२) मजदूर दल की जीत।
(३) आई० एन० ए० के मुकदमे।
१९४६–(१) नौसेना के कर्मचारियों की हड़ताल।
(२) कैबिनेट मिशन।
(३) संविधान सभा के लिये चुनाव।
(४) जिना की 'प्रत्यक्ष कार्यवाही" और भयानक नर-संहार।
(५) अन्तरिम सरकार और जिना का "शोक दिवस'।
(६) अन्तरिम सरकार में लीग आई।
(७) भारत भर में दंगों का दौरदौरा।
(८) गांधी जी नोआखाली में।
(९) संविधान सभा की बैठक।
१९४७–(१) जून, ४८ तक भारत छोड़ने का अँग्रेजों का निश्चय।
(२) माउन्टबेटन का आगमन।
(३) भारत स्वतन्त्र हुआ।
(४) भयानक दंगे।
(५) माउन्टबेटन स्वतन्त्र भारत के प्रथम गवर्नर जनरल।
(६) पाकिस्तान को गांधी जी ने ५५ करोड़ रुपये दिलाये।
(७) गांधी जी का महाभिनिष्क्रमण।
(८) देशी रियासतों पर से अँग्रेजों का अधिराज्य समाप्त और उनका भारत विलयन।
(९) पटेल की प्रमुखता में स्टेट डिपार्टमेंट की स्थापना।
(१०) काश्मीर भारतीय संघ में सम्मिलित।

१९४८–(१) हैदराबाद भारत मे मिला।

१९४९–(१) राधाकृष्णन आयोग की स्थापना (शिक्षा के लिये)

(२) जूनागढ़ भारतीय संघ मे।

१९५०–(१) भारत का नया संविधान जनवरी, ५०, से लागू।

(२) राजेन्द्र प्रसाद भारत के प्रथम राष्ट्रपति।

(३) आयोजना आयोग की स्थापना

(४) जमीदारी उन्मूलन अधिनियम।

युग की प्रधान प्रवृत्तियाँ—

उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करने से यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है कि इस युग की सर्वप्रधान प्रवृत्ति थी भारतीयो की स्वाधीनता प्राप्ति की इच्छा और तत्सम्बन्धी प्रयत्न और अँग्रेजो को उसे असफल कर देने और दबाये रखने के सभी प्रकार के प्रयत्न। इस यत्न की बाधाओ को वे परी तरह से कुचल डालने को तयार रहते थे। वे दमन को उद्यत थे और भारतीय अपनी आकाक्षा की दुर्दमनीयता सिद्ध करने को कटिबद्ध थे। वे गाया करते थे कि सर फरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल मे है, देखना है जोर कितना बाजुए कातिल म है।" कारण यह था कि उनकी प्रेरणा शक्ति [भारतीय सांस्कृतिक पुनरुत्थान प्राचीन गौरव के पुन प्राप्त करने की अभिलाषा] असाधारण रूप से बलवती थी। इस असाधारण इजेशन स व दुनियाँ दारी क दृष्टिकोण से अपना मानसिक सन्तुलन खो कर दीवाने हो गय थे। उन्हे और कुछ नही चाहिए था, केवल भारत की आजादी चाहते थ। और इसके लिए बडी से भी बडी कीमत चुकाने को तयार थे। सब कुछ बलिदान करने को उत्सुक थे और इस रूप मे "सर बांध कफनियाँ हो शहीदा की टोली निकली।" दीवानों का यह दल पूरी तरह से निभय था। वास्तविकता यह है कि व्यय के प्रेमालापो की बात छोड दें तो, इस ससार मे भय का कारण होता है मोह और मोह का स्वरूप है किसी भी प्रकार से अपनी प्रिय वस्तु को जाने न देना। यहाँ प्रियता का केन्द्रबिन्दु थी भारत की स्वतन्त्रता। महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने लिखा,

'जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।

वह नर नहीं, नर पशु निरा है, और मृतक समान है॥'—उसके अतिरिक्त अब कोई भी वस्तु उतनी प्रिय नहीं थी जीवन भी नही परिवार भी नहीं। वस्तु और परिवार के मोह के अभाव ने बन्धन तोड दिये, शरीर के मोह के अभाव ने मृत्यु भय से मुक्त कर दिया अपने व्यक्तित्व के महत्व–अपने नाम की आकांक्षा के ने कल्पनाओं और आकांक्षाओं से मुक्ति दिला कर लगन से ठोस काय करने

को तत्पर करा दिया। सब ओर के वैराग्य ने चित्तवृत्ति को एक ओर निरोधित करके एक के प्रति भक्ति पैदा कर दी। भारत की आजादी के ये दीवाने पूर्णत निर्भय हो गये। एक वह युग था कि अंग्रेज की सूरत देखते ही, उसका नाम सुनते ही, लाल पगडी देखते ही, लोग ऐसे भागते थे जैसे बिल्ली के आगे चूहे, और, एक वह दिन आ गया जब जेल ससुराल हो गई, गांधी बाबा दूल्हा हो गये, सुभाष जवाहर सहबाला हो गये, दीवानों ने बारातियों का रूपक अपनाया, ब्रिटिश सम्राट ससुर हो गया, और जेलों तथा जेलों के बाहर शादी की यह 'गाली' गाई जाने लगी—"गांधी बाबा जेवन बइठे गोखें गावत गारी जी वाह वाह', आदि। निर्भयता का एक दूसरा उदाहरण देखिये—"कुछ समय बाद पडित मोतीलाल नेहरू विरोधी दल' के नेता और श्री विट्ठल भाई स्पीकर हो गये। उस समय विरोधी दल की ताकत बहुत बढ गई उनके स्पीकर चुने जाने से पहले एक बार एक सरकारी सदस्य ने भारत मे ब्रिटिश शासन का औचित्य साबित करने के लिए यह कह कर चुनौती दी कि "क्या सदन म कोई भी ऐसा सदस्य है जो छाती पर हाथ रख कर कह दे कि वह चाहता है कि ब्रिटिश शासक भारत से चले जाँय। उस पर विट्ठल भाई ने अपने दोनों हाथ छाती पर रख कर यह घोषणा कर नाटकीय दृश्य उपस्थित कर दिया कि 'मैं ऐसा सदस्य हू और मैं चाहता हू कि सभी ब्रिटिश शासक अपना बोरिया बिस्तर बाँध कर भारत से विदा हो जायँ। हम अपने देश का शासन खुद चला लेंगे।"[१] निर्भयता का इससे भी अधिक उल्लेखनीय उदाहरण इन्ही विट्ठल भाई पटेल के जीवन मे हमे तब मिलता है जब इन्होंने एक स्पीकर की हैसियत से हिन्दुस्तान के बडे लाट साहब यानी वायसराय को यह धमकी देते हुए, कि यदि वे स्वय न गए तो उन्हे अपने आदमियो द्वारा निकलवा दिया जायगा, सदन से बाहर निकाल दिया था और जिससे अपमानित अनुभव करके वायसराय ने कहा था कि आज एक काले आदमी ने हमे सदन से बाहर निकाल दिया। जनता मे कितनी निर्भयता आ गई थी इसका उल्लेख राजेन्द्र बाबू ने इस प्रकार किया, पर उन्होंने इतना सुन लिया था कि उनकी मदद करने वाला कोई पास के जिला मुजफ्फरपुर तक आ गया है और न मालूम उनके दिल में यह विश्वास कैसे आ गया कि वह उनका उद्धारक है। न मालूम वह डर जो उनको हमेशा सताया करता था, कहाँ चला गया "[२] 'वे लोग वही रैयत थे जो डर के मारे कभी कचहरी के नजदीक नीलवरों के खिलाफ नालिश करने नहीं आते थे, पर आज गवर्नमेंट के हुक्म की अवज्ञा करने वाले के मुकदमे की पेशी देखने वहाँ हजारों की तादाद

१ 'मोतीलाल नेहरू जन्म शताब्दी स्मृति ग्रन्थ' पृ० ८४
२ 'बापू के कदमो मे' पृ० ६

में आ जुटे और जब मजिस्ट्रेट के पहुंचने पर मुकदमे की पेशी हुई तो कमरे के अन्दर घुसने में इतना कोलाहल और धक्कम धुक्का हुआ कि खिड़कियों के शीशे भी टूट गये और पुलिस इनका तमाशा ताकती रही। न मालूम वह डर कहाँ चला गया और जोश और हिम्मत कहाँ से आ गई।"[3] यही अभीष्ट भी था क्योंकि आगे राजेन्द्रबाबू ने लिखा है, 'सार यह भी कि सारे प्रोग्राम की तह में निहित था कि या तो उससे ब्रिटिश गवर्नमेंट का रोब और दबदबा इस देश में कम हो जाय [हम] आत्म निर्भरता सीखें निर्भीकता पूर्वक स्वतन्त्र विचार करना सीखें।'[4] अंग्रेजों के भय और आतंक से मुक्ति का उदाहरण आदर्शवादियों के कार्यों में भी मिल जाता है और नवयुवकों की मनोवृत्तियां भी इसी के अनुसार थीं। इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण 'अम्बापद' जिसकी जेब में भरी पिस्तौल रहती थी नामक लेख के इस उद्धरण में मिलता है हेड मास्टर साहब, एक बात मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूं। मेरी जेब में भरी हुई पिस्तौल हमेशा रहती है।"[5] यह था निर्भयता का प्रकाश 'एक भारतीय आत्मा।'

दो महत्वपूर्ण घटनाएं —

इस युग की दूसरी महत्वपूर्ण घटना है प्रथम महायुद्ध। प्रथम महायुद्ध ने सारे संसार में क्रांति की एक लहर फैलादी थी। उसी ने भारतीयों में भी महान् परिवर्तनों के एक युग का सूत्रपात किया। इस युद्ध के अन्त के पश्चात् संसार में आर्थिक संकट आ गया था और उस आर्थिक संकट का प्रभाव भारत पर भी पड़ा था। युद्ध के अन्त में यह अनुभव किया गया था कि इस समय भारत किसी प्रकार अपनी उत्तेजनाओं को दबाये हुए चुप बैठा है। आंशिक औद्योगीकरण के कारण पूंजीपति वर्ग की शक्ति और पूंजी बढ़ गई थी। ऊपर के कुछ लोग प्रभुता के लोभी थे और अपनी बचत के धन को किसी उद्योग में लगाने के अवसर के लिये उत्सुक और इस प्रकार अपना धन बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील थे। सामान्य जनता इतनी भाग्यशालिनी नहीं थी। वह उस बोझ को, जो उसे दबाये और मारे डाल रहा था, कम करने की आशा लगाये थी। मध्य वर्ग किसी बड़े संवैधानिक परिवर्तन की आशा लगाये था — ऐसा परिवर्तन जिससे कुछ हद तक स्वशासन मिले जिनके परिणाम स्वरूप उनकी पदवृद्धि, धन-वृद्धि और मानवृद्धि हो तथा विकास के नये रास्ते खुलें। किसानों और सैनिकों में बड़ा असंतोष था। पंजाब में सैनिकों की भर्ती के सम्बन्ध में

---

३ बापू के कदमों में, पृ० ८

४ वही, पृ० ७८

५ 'धर्मयुग', साप्ताहिक, ३० जून, १९६३ वाला अंक

जो ज्यादतियां हुई थी उनकी स्मृति अभी धुंधली नहीं हुई थी। इस संबंध में राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है, "जर्मन युद्ध के समय भारतवर्ष ने सरकार की सहायता की थी, पर जो युद्ध सहायता अपनी खुशी से की थी उसके अलावा जोर-जबरदस्ती से भी बहुत सहायता ली गई थी जिसके कारण देश में बहुत असंतोष भी फैला था"।[१] लौटे हुए सैनिकों में भी बड़ा असंतोष था। टर्की के साथ किये गये व्यवहार को लेकर मुसलमान भरे बैठे थे। फिर भी, लोग प्रतीक्षा कर रहे थे आशाएँ लगाये थे, मगर कुछ कुछ आशंकाएँ भी थी डर भी था। इस युद्ध से सबसे बड़ी बात यह हुई थी कि गोरों का–अँगरेजो का–हौवा समाप्त हो गया था। व हमारे ही जैसे हैं–हम उनसे किसी भी रूप में और किसी भी मानी में कम नहीं–यह भावना पैदा हो गई थी क्यों कि महायुद्ध के अवसर पर, १६१४ की कड़ाके की सर्दी में फ्लैण्डर्स और फ्रांस के मैदानों में जर्मन सेनाओं के आक्रमणों का भारतीय फौजो ने जिस अद्‌भुत वीरता, धैर्य और सहनशीलता के साथ सफलतापूर्वक मुकाबला किया था उससे एशिया और यूरोपीय देशों पर भारतवासियों की खासी अच्छी धाक बैठ गई थी।[२] जिन गोरों को हम अपने से कुछ अनोखे प्राणी समझते थे उन्हीं के भाई-बन्धुओं और उन्ही की महिलाओं का आर्त रूप देखा और क्रन्दन सुना था और अपने सिपाहियों को उनके उद्धारक के रूप में देखा था। उन्हीं के देश में हमारे सैनिकों को गोरी जाति वालो की कृतज्ञता उनका समर्पण, उनकी श्रद्धा उनका सत्कार आदि मिला था। वे हमारे लिये वह न रह गये जो भारत का अँगरेज शासक अपने को समझता था क्यो कि पहली बार इस युद्ध में हम एशियावासी भारतीयो ने निर्भय होकर यूरोपवासियो से युद्ध किया था और उन लोगो को विपन्नावस्था मे डर कर भागते हुए देखा था। इस युद्ध की समाप्ति हमारे अन्दर साहस और आशा का प्रकाश लेकर आई थी। ईश्वरी प्रसाद ने भी लिखा है 'इस युद्ध को जीतने मे भारत ने जो सहायता की वह उसके साधनो से कहीं अधिक थी यह सहायता कुछ उन प्रशंसाओं और वचनों का परिणाम थी जो प्रमुख अँगरेज राजनीतिज्ञ भारत पर बरसा रहे थे बार-बार की य[illegible] घोषणाएं कि वह युद्ध स्वतंत्रता का जनतंत्र का और मानवीय अधिकारो का युद्ध है भारतीयो के मन में समा गया कांग्रेस ने सरकार के साथ फिलहाल समझौता कर लिया और सरकार को भारतीयो से सहायताएं इतनी तीव्र गति से और प्रचुर मात्रा में मिलने

---

१ 'आत्म-कथा', पृ ३०।

२ "कांग्रेस का इतिहास (संक्षिप्त संस्करण) ले डा पट्टाभि सीतारामय्या पृ ६६।

लगी कि वह चकित रह गई (पृ ४५४-४५५) और अन्त में भारत को क्या मिला उसको तो इस युद्ध में फलस्वरूप आर्थिक दिवालियापन, लकड़ी की टाँगें, विधवाएँ और अनाथ, कोरी प्रशंसाएँ, कुछ उपाधियाँ और थोड़े से विक्टोरिया क्रास ही प्राप्त हुए युद्ध के बाद भारत की आँखें खुल गई और इंगलैण्ड के प्रति अविश्वास की भावना जाग उठी ।"[1]

और इससे किसी भी प्रकार कम महत्वपूर्ण द्वितीय महायुद्ध नहीं था। इस महायुद्ध ने अँग्रेजी शक्ति को इतना खोखला सिद्ध कर दिया और उनकी अपनी ही दृष्टि में उनका इतना ह्रास और क्षय का सिद्ध कर दिया, तथा भारत को इतना महत्वपूर्ण सिद्ध कर दिया था कि इस महायुद्ध की समाप्ति पर भारतीय स्वतन्त्रता एक अनिवार्य परिणाम सिद्ध हो चुकी थी। इस युद्ध के बीच में अँग्रेजी राज्य अपनी प्रभुता, अपनी शक्ति और अपने सामर्थ्य का अनुभव कराना चाहता था। उसने भारत रक्षा कानून की धाँधलियाँ चलाई। देश की आर्थिक स्थिति को बिगड़ जाने दिया। किसान मजदूर पिसा। ठेकेदारों और चोर बाजार के नायकों की पाँचो अँगुलियाँ घी में हुई। चारों ओर लूट और बेईमानी का बोल बाला हो गया। अधिकारियों और ऊँची तनख्वाहों वालों की तो चाँदी ही थी। पुलिस का राज्य था। राष्ट्रीय और श्रमिक आन्दोलनों का दमन किया जाता रहा। कांग्रेस वालों को जेल भेजने में सरकार को बड़ा आनन्द मिलने लगा। लगा कि भारतीय राष्ट्रीयता सदैव के लिये मिटा दी गई है। दूसरी ओर, हमने देखा कि ये अँग्रेज जापानियों के सामने केवल चतुराई और सफलता के साथ पीछे हट आना ही जानते हैं। हम समझ गये कि इनमें कोई दम नहीं। ये हमारी रक्षा नहीं कर सकते। ये जापानियों के भूत के आगे भी दुम दबा कर भागने वाली बिल्ली हो गये हैं। ये केवल अहिंसक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के दमन में ही शेर हैं। द्वितीय महायुद्ध ने अँग्रेजी साम्राज्य पर से हमारे हर एक वर्ग का विश्वास खत्म कर दिया। वे स्वयं अपनी योग्यता और क्षमता पर सन्देहशील हो उठे थे। सन् १९४२ ई० के आन्दोलन के दमन काय के रूप में बुझते हुए दीपक ने आखिरी भभक मारी थी—जैसे दम तोड़ते हुए शेर की आखिरी गुर्राहट हो। ऐसा लगता था कि जैसे किसी व्यक्ति से उसकी अधिकृत बहुमूल्य वस्तु वापस ली जा रही हो और वह लोभ के कारण उसे न देना चाहता हो और इसलिये वह मार-पीट, लड़ाई झगड़ा झूठ-बेईमानी नीति-कुनीति आदि सभी उपाय उसे अपने पास रखने के लिए अपना रहा हो। इस महायुद्ध ने भारत को तीन चीजें दी—(१) 'भारत छोड़ो' आन्दोलन, (२) बंगाल का अकाल और (३) आई० एन० ए० के मुकदमे। पहली भारतीयों की स्वतन्त्रता

[1] 'अर्वाचीन भारत का इतिहास' पृ ४५७।

प्राप्ति को बेचनी और उसके लिए बलिदान करने की शक्ति की द्योतक थी, दूसरी, अंग्रेजो की भारतीय जीवन के प्रति उपेक्षा, अपनी स्वार्थप्रियता और प्रशासनिक अक्षमता तथा व्यवस्था एवं आयोजना की रुचि के अभाव की, और, तीसरी इस तथ्य की द्योतक थी कि अब भारतीय स्वतन्त्रता की माग को दबाया नहीं जा सकता और यह कि उसे जितना ही दबाया जायगा वह उससे भी अधिक वेग के साथ अवसर पा कर फिर उभरेगी और उसका प्रभाव-क्षेत्र और अधिक बढ जायगा। नौसेना की हड़ताल ने यह सिद्ध कर दिया कि फौज भी राष्ट्रीयता के रंग मे रंगने लगी है और सम्भवत इस तथ्य ने अंग्रेजो को और भी अधिक कमजोर कर दिया और वे समय रहते चेत गए जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। इस प्रकार ये दोनो महायुद्ध भारतीय स्वाधीनता के दृष्टिकोण से बड़े ही ऐतिहासिक महत्व की घटनाओं के रूप म दिखाई पड़ते हैं।

झकझोरने वाली अन्य घटनायें—

(१) होमरूल—इसके पश्चात् अब हम उन घटनाओ के स्वरूप और महत्व की ओर आते हैं जिन्होंने एक के बाद एक घटित होकर भारतीय राजनीति और भारतीय जनता के अंग प्रत्यंग को इस बुरी तरह से झकझोर दिया कि उसका कोई भी अंश कोई भी अङ्ग, कोई भी कण चेतना-विहीन और इसलिये निष्क्रिय रह ही न सका।

सन् १८१५ ई० के आसपास देश की वास्तविक अवस्था कुछ अच्छी न थी। नरम दल वालो के हाथ से शक्ति निकल चुकी थी। देश का नेतृत्व प्राय वे लोग करने लगे थे जिनकी मनोवृत्ति नौकरशाही वाली थी। राष्ट्रीय दल अभी नये अपने को सभाल नही पाया था। १८१४ तथा १८१५ में श्रीमती एनी बेसेन्ट ने दोनो दलों को मिलाने का प्रयत्न किया अवश्य था परन्तु वह असफल हो चुका था। इस प्रकार १८१६ के आसपास देश को किसी कार्यक्रम और किसी नेता की आवश्यकता थी। १८१७ मे भारत ने उत्तरदायी शासन की माग की और श्रीमती बेसेण्ट होमरूल" का आन्दोलन लेकर कार्यक्षेत्र मे उतरी। महात्मा गाधी ने लिखा है, 'होमरूल की लगन लोगो में पैठ गई। होमरूल के बिना लोगों को कभी सन्तोष न होगा। वे समझते हैं कि उसके लिये जितना बलिदान किया जाय उतना कम है।'[१] राष्ट्रीय कवि चकबस्त ने गाया था— न लें बहिश्त भी हम होमरूल के बदले। राजेन्द्रप्रसाद ने भी लिखा है, 'श्रीमती ऐनी बेसेंट ने होमरूल लीग' कायम करके सारे देश मे १८१७ मे ही बड़ी हलचल मचा दी थी। प्राय सभी प्रान्तो मे उसकी शाखायें कायम हो गई थी। लोग खूब जारो से प्रचार के काम म लग गये थे। जग-

१ गांधी जी की 'आत्मकथा', पृ० ३८८

सन्धि-पत्र मे टर्की के प्रति दया दिखलायेगा किन्तु प्रतिशोध और निर्ममता अत्याचार का निवारण असम्भव था। जब यह विचार तथ्य रूप धारण करने लगा तो हमारे मुसलमान भाइयो के हृदय की आशा निराशा का रूप धारण करती हुई क्षोभ म परिवर्तित हो गई जिसकी अभिव्यक्ति खिलाफत आन्दोलन के रूप म हुई। साधारण व्यक्ति राजनीति की इतनी बातें क्या जाने ? उसने खिलाफत का अभिधात्मक अर्थ ही स्वीकार किया—अर्थात् विरोध—अंगरेजो का विरोध। इस प्रकार भारत का एक एक मुसलमान—समझदार और नासमझ, दोनो—अंगरेजो का विरोधी हो चला। एक केन्द्रीय खिलाफत समिति स्थापित की गई। देश भर म इस समिति की शाखाएँ खोली गई। घोर आन्दोलन छिड़ गया। दिन प्रति दिन यह आन्दोलन तीव्र से तीव्र तर होता गया। १८१८ मे गांधी जी की राय इस आन्दोलन को भी मिली। कांग्रेस का और इस आन्दोलन का पारस्परिक सहयोग हुआ जिसका परिणाम उस समय देश का हिन्दू मुस्लिम एकता के रूप मे मिला। इस आन्दोलन ने देश मे राजनीतिक असन्तोष खूब भड़का दिया। हिन्दू मुस्लिम एकता के साथ साथ यह आन्दोलन खूब प्रगति करता रहा। देश की सघर्षात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन और बल मिला। आन्दोलन ने ऐसा जोर पकड़ा कि राज्य-सचिव श्री माटेग्यू और वायसराय लार्ड रीडिंग भी चौंक पड़े। यह आन्दोलन असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के साथ २ समाप्त हो गया। इसी आन्दोलन के मच पर से भारतीय राष्ट्रीयता को 'असहयोग या नान-कोआपरेशन' शब्द मिला। १६१८ म गांधी जी दिल्ली के खिलाफत सम्बन्धी कान्फ्रेंस मे बुलाये गये थे। लुई फिशर ने लिखा है गांधी रगमच पर बैठे हुए थे और उनका मस्तिष्क किसी उपयुक्त कार्यक्रम की योजना के आविष्कार म व्यस्त था। वे किसी प्रोग्राम की ओर उनके लिए किसी ऐसे उपयुक्त शब्द की खोज म थे जो नारे की तरह हो और जिसके अन्दर से उस कार्यक्रम की मर्मस्पर्श ध्वनि निकलती हो। अन्ततोगत्वा उन्हे यह मिल गया और जब उनसे बोलने के लिए कहा गया तो वे बोले 'नान-कोआपरेशन'[1] इस पर विचार करने म पूर्व हम एक और तूफान का दर्शन करना आवश्यक है।

(६) रौलट ऐक्ट विरोध—ऊपर यह कहा जा चुका है कि गांधी और भारत ने प्रथम महायुद्ध म अंगरेजी सरकार की मुक्त हृदय से सहायता इसलिए की थी कि अंगरेजो के प्रति उनका विश्वास अभी बना था। युद्ध की समाप्ति पर भारत की आशा वादो का प्रत्यक्ष, व्यावहारिक एव क्रियात्मक रूप देखना चाहती थी। विश्वास का भाव आलबन से उसके अनुभाव की अपेक्षा करने लगा था। और मिला क्या ? १८१८ म युद्ध समाप्त हुआ और १६१६ मे इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउन्सिल म यह

१—'दि लाइफ आफ महात्मा गांधी, भाग० १ पृ० २३२।

बिल पेश हो गया—जिसके पिता थे सरसिडनी रौलट—जि सका तत्कालीन स्थिति का विश्वास करके 'गवनर जनरल सावजनिक जीवन को समाप्त करने के लिए पुलिस और कार्यकारिणी को असीमित अधिकार दे सकता है।

ये अधिकार इतने व्यापक थे कि इनके आगे नागरिक स्वतन्त्रता का कोई भी अर्थ नही रह जाता था। १९१९ मे ही ये रौलट विधेयक कानून भी बन गये। निश्चित था कि ये उपाय भारतीय राष्ट्रीयता के दमन के लिये ही अपनाये गये थे। लुई फिशर ने लिखा है, 'सारे देश को जैसे बिजली का एक धक्का लग गया। क्या यही औपनिवेशिक स्वराज्य का प्रारम्भ है। युद्ध मे भारत ने जो खून बहाया, क्या यह उसका पुरस्कार है।[1] सरकार को बहुत समझाया गया किन्तु परिणाम कुछ न निकला। विरोधी आदोलन उग्रतर हुआ। इस आदोलन की लहरें देश के प्रत्येक भाग और प्रत्येक वर्ग मे फैल गई। अनेक स्थानो पर उपद्रव और हत्याए तक हुई। सशस्त्र नौकरशाही नि शस्त्र प्रदर्शनकारियो पर अमानुषिक चोटें कर रही थी। लाठियो और गोलियो की बौछारें हुई। सभी तरफ से निराश होकर गाधी जी ने ६ अप्रेल को हडताल कराने का निश्चय किया। दिल्ली मे यह हडताल ३० मार्च को मनाई गई और बम्बई तथा देश के अन्य भागो मे ६ अप्रेल को। राजेन्द्र बाबू ने लिखा है कि यह ठीक पहला समय था जब हिन्दुस्तान मे गाधी जी ने सामूहिक रूप से कानून तोडने का कार्यक्रम देश के सामने रक्खा।[2] लुई फिशर ने दि लाइफ आफ महात्मा गाधी" मे इसे भारतवर्ष की अग्रेजी सरकार के विरुद्ध गाधी जी का पहला कार्य माना है। सचमुच भारत मे यह उनका प्रथम राजनीतिक कार्य था। यह गाधी युग की उषा है। गाधी जी ने प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर करके भेजने का कहा। सत्याग्रह सभा के नाम से देश भर मे कमेटिया नियुक्त हुई। देश भर मे उत्साह उमड रहा था। हडताल के दिन गाधी जी ने देश को उपवास करने, सब कारबार बन्द रखने, जुलूस निकालने तथा सभाए करके विरोध प्रस्ताव पास करने का आदेश दिया। उन्होने यह भी कहा कि उस दिन सभी लोग अपने-अपने धर्म के अनुसार अपने-अपने देवालयो मे, प्रार्थना करें। इसका स्वरूप बग भग विरोध आदोलन के स्वरूप से कुछ अधिक भिन्न न था लेकिन लगा कि यह अनोखी चीज है। बगभग के रद्द हो जाने के बाद लोग उसे भूल से गये थे। हा, जो उग्र मिजाज के थे, वे क्रान्तिकारी दल मे शरीक हो गये। क्रान्तिकारी लोग उन हिन्दुस्तानी और

१—दि लाइफ आफ महात्मा गाधी पृ० २२१।

२—बापू के कदमो मे, पृ० ७०।

अंग्रेजी अफसरों का भार डालते थे जो बहुत ही अत्याचार करते थे। निश्चय था कि यह काम गुप्त रीति से किया जाय। यही कारण है कि उस का जनता पर अधिक प्रभाव या प्रचार नहीं हो पाया। रौलट बिल के विरुद्ध होने वाले आन्दोलन में भाग लेने वालों में अन्दर असाधारण उत्साह था और इस उत्साह में अभूतपूर्व दृश्य दिखाई पड़े। हड़ताल हुई। पटना के इतिहास में उस दिन सबसे बड़ी सभा आयोजित हुई। किसी भी प्रकार की सवारी या गाड़ी किसी को भी न मिली। गंगा स्नान किया गया। मन्दिरों में प्रार्थनाएं हुईं और मस्जिदों में दुआएं। दो ढाई मील लम्बा जुलूस चला। नंगे सिर, नंगे पैर लोग जुलूस में थे। देहातों में न हल जोते गये और न बैलगाड़ियां चलीं। गांधी जी ने लिखा है "इस जान कर से सारी व्यवस्था हो गई समूचे हिन्दुस्तान में—शहरों में और गांवों में—हड़ताल हुई। वह दृश्य भव्य था।[1] दिल्ली में उस दिन जैसी हड़ताल हुई वैसी पहले कभी न हुई थी। ऐसा जान पड़ा मानो हिन्दुओं और मुसलमानों के दिल एक हो गये हैं। श्रद्धानन्दजी को जामा मस्जिद में निमन्त्रित किया गया और वहां उन्हें भाषण करने दिया गया। अधिकारी यह सब नहीं सह पाये और स्टेशन की तरफ जाते हुए जुलूस को रोक कर गोलियां चलाईं। बहुत लोग घायल हुए। कितने ही प्राण गये। बम्बई में सवेरे-सवेरे हजारों लोग चौपाटी पर गये और वहां माधव बाग जाने के लिये जुलूस रवाना हुआ। मुसलमान भी पर्याप्त संख्या में थे। सरोजिनी नायडू और गांधी जी से मस्जिद में भाषण करवाये गये। यहां कानून की सविनय अवज्ञा की तैयारी कर रखी गई थी। निश्चय किया गया था कि या तो बिना आज्ञा नमक बनाया जाय या जब्त पुस्तकें बेची जायं। दूसरे का अधिक पसंद किया गया। शाम को उपवास छूटने के बाद और चौपाटी की विराट सभा के विसर्जित होने के बाद कई स्वयंसेवक, स्वयं गांधी जी और सरोजिनी नायडू बेचने निकलीं। सभी प्रतियां बिक गईं। "एक प्रति का मूल्य चार आना रखा गया था। पर मेरे हाथ पर अथवा सरोजिनी नायडू देवी के हाथ पर शायद ही किसी ने चार आने रखे होंगे। जिसकी जेब में जो था सो सब देकर किताबें खरीदने वाले बहुतेरे निकल आये। कोई कोई दस और पांच के नोट भी देते थे। मुझे स्मरण है कि एक प्रति के लिये ५० रुपये के नोट भी मिले थे। लोगों को समझा दिया गया था कि खरीदने वाले के लिये भी जेल का खतरा है लेकिन क्षण भर के लिये लोगों ने जेल का भय छोड़ दिया था।[2] भारी भीड़, हर्षोन्माद, 'वन्देमातरम्' और 'अल्लाहो अकबर' के गगनभेदी नारे, पुलिस के घुड़सवार, उनके लिये ईंटों की बौछारें,

---

१— आत्मकथा,

२—गांधी जी की 'आत्मकथा', पृ० ४००।

वातावरण को आतंकपूर्ण बनाये थी। गांधी जी ने फिर लिखा है, "जुलूस को रोकने के लिये घुड़सवारों की एक टुकड़ी सामने से आ पहुंची। वे जुलूस को किले की ओर जाने से रोकने की कोशिश कर रहे थे। लोग वहां समा नहीं रहे थे। लोगों ने पुलिस की पांत को चीरकर आगे बढ़ने के लिये जोर लगाया। वहां हालत ऐसी न थी कि मेरी आवाज सुनाई पड़ सके। यह देखकर घुड़सवारों की टुकड़ी के अफसर ने भीड़ को तितर बितर करने का हुक्म दिया और अपने भालों को घुमाते हुए इस टुकड़ी ने एकदम घोड़े दौड़ाने शुरू कर दिये लोगों की भीड़ में दरार पड़ी। भगदड़ मच गई। कोई कुचल गये। कोई घायल हुए। घुड़सवारों को निकलने के लिये रास्ता नहीं था। लोगों के लिये आसपास बिखरने का रास्ता नहीं था। वे पीछे लौटे तो उधर भी हजारों ठसाठस भरे हुए थे घुड़सवार और जनता दोनों पागल जैसे मालूम हुए।'[१] ऐसी ही हड़ताल अहमदाबाद में हुई। गांधी जी को यह निश्चय करना पड़ा कि जबतक लोग सविनय भंग का मर्म न समझ लें तब तक सत्याग्रह मुलतवी रखा जाय।

(७) जलियाँवाला काण्ड और मार्शल ला —

इस प्रसंग में पंजाब में जो-कुछ हुआ उसने मानवता को रुला दिया तथा बर्बरता और दानवता ने अपने आश्रयस्थल की स्थिति सुदृढ़ पाकर मुक्त अट्टहास किया। पंजाब में दो घटनाएँ हुईं। एक घटना है जलियान वाला बाग की और दूसरी है अमृतसर का मार्शल ला। अमृतसर में एक समाचार यह मिला कि वहां के स्थानीय नेता डा० सत्यपाल और डा० किचलू को गिरफ्तार करके निर्वासित कर दिया गया है। इस समाचार से जनता क्षुब्ध हो उठी। नेताओं की गिरफ्तारी का समाचार पाकर जनता एक जुलूस बनाकर डिप्टी कमिश्नर के बंगले की ओर बढ़ी। सैनिक टुकड़ी और घुड़सवार पुलिस ने जुलूस को रोका। कुछ गड़बड़ी मची कि सरकार की ओर से अंधाधुंध गोलियों की बौछार कर दी गई। इस अत्याचार से कुछ भावुक व्यक्ति अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे। परिणामतः एकाध स्थानों पर आग लगी और कुछ यूरोपीय अपनी सम्पत्ति और अपने प्राणों से हाथ धो बैठे। अंगरेजों की एक विचित्र प्रवृत्ति थी। हजारों भारतीय मर जायं तो कोई चिंता की बात नहीं। एक जांच समिति बैठा दी जायगी। दो-चार अंगरेज भी मारा जाय तो समस्त निरीहजनता से 'खून के बदले खूरेजी' के अनुसार पहले निपट लिया जायगा—जांच समिति उसके बाद। अस्तु, अमृतसर का नियंत्रण जनरल डायर को

१–वही पृ० ४०२–४०३,

सौंप दिया गया। गोली-वर्षा के विरोध में शांतिपूर्वक प्रदर्शन करने के लिये निःशस्त्र प्रदर्शनकारी जलियांवाला बाग में एकत्र हुए थे। इस बाग में एक द्वार था जिस पर इस अत्याचारी के सैनिक एकत्र थे। बाग के चारों ओर ऊँची-ऊँची चहारदीवारी थी। बिना चेतावनी दिये हुए डायर ने गोलियां चलवा दीं। सैनिकों के पास की सब की सब गोलियां समाप्त हो गईं तब यह वर्षा रुकी। इस अमानुषिक घटना के परिणामस्वरूप सारा पंजाब रोष और क्षोभ से उबल उठा। सारा भारत तड़प उठा। सरकार ने पंजाब से समाचारों और मनुष्यों के आने-जाने को रोक दिया। नलों का पानी बंद कर दिया गया। पेट के बल रेंग-रेंग कर चलने की आज्ञा दी गई और जब लोग इस प्रकार घिसटते थे तो उनको देखकर हँसा जाता था। बिजली काट दी गई। लोगों को नंगा करके सबके सामने ही बेंत लगाये जाते थे। सभी साइकिलें फौज के अधिकार में कर ली गई थीं। दूकानें जबरदस्ती खुलवाई जाती थीं। जो नहीं खोलता था उसे या तो गोली से उड़ा दिया जाता था या उसकी दूकान खोलकर वहां का सारा सामान लोगों में मुफ्त बांट दिया जाता था। वकील तथा दलालों को शहर से बाहर नहीं आने दिया जाता था। जिनके मकान की दीवारों पर फौजी कानून की नोटिस चिपकाई जाती थी वे ही उसकी हिफाजत के उत्तरदायी थे। यदि कोई उसको फाड़ दे बिगाड़ दे, तो दण्ड मकान का स्वामी पायेगा और वह भी तब जब उसे घर से बाहर निकलने की आज्ञा नहीं थी। भारतीयों की मोटरें और साइकिल फौज में जमा करवा ली गई थीं जिन पर अधिकारी चढ़ते थे। हाजिरी देने के लिये सभी तांगे वालों को शहर से बाहर बुलाया जाता था। अपनी उपस्थिति सूचित करने के लिये अप्रैल की उस भयानक गर्मी में विद्यार्थियों को शहर से बाहर ४ मील दूर जाना पड़ता था। लड़के बेहोश होकर गिर पड़ते थे। जहां भीड़ जमा हो जाती वहां बम और मशीनगन का प्रयोग किया जाता था। कर्नल ओब्रायन ने यह आज्ञा प्रसारित करवा दी थी कि जब कोई हिंदुस्तानी किसी अंग्रेज अफसर से मिले तो वह उसको सलाम करे, यदि किसी सवारी या घोड़े, आदि पर हो तो उतर जाय और यदि छाता लगाये हो तो उसे नीचे झुका दे। स्टेशन के पास एक बड़ा-सा पिंजरा बना दिया गया था जिसमें सन्देहास्पद व्यक्तियों को ठूंस दिया जाता था। खुले आम फांसी लगाने के लिये एक फांसी घर बना लिया गया था। स्कूल के लड़के तीन-तीन बार परेड करते और झण्डे को सलामी देते थे। कितने ही बच्चे लू लगने से मर गये। उन को बार-बार कहना पड़ता था मैंने कोई अपराध नहीं किया है मैं कोई अपराध नहीं करूंगा, मुझे अफसोस है मुझे अफसोस है। चौपायों की तरह चलने की भी आज्ञा

थी। ऐसी और इस तरह की कहानियो को लिखने का तात्पर्य यह नही है कि किसी जाति के प्रति विद्वेष पैदा हो बल्कि इनसे उन स्रोतो और प्रवृत्तियो पर प्रकाश पडता है। जिन्होने हमारे मन और मस्तिष्क को छूकर हमारे भाव, स्वभाव और साहित्य को बदल दिया। इन घटनाओ के परिणामस्वरूप सरकार की नैतिक प्रतिष्ठा को बडा धक्का लगा, स्वातन्त्र्य आन्दोलन का नैतिक पक्ष और अधिक प्रबल हो गया, टैगोर ने 'नाइट' का और गाधी ने 'कैसरे हिंद' पदक और बोअर युद्ध मे पाये गये पदको का परित्याग कर दिया, कवि और दार्शनिक तक अग्रेजो के विरुद्ध हो गये। कांग्रेस ने इन घटनाओं की जाच के लिये जो समिति बनाई थी उसकी रिपोर्ट के प्रकाशित होते ही देश भर मे आदोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया। जब इस बात का पता चला कि डायर न कहा है कि उसने लोगो को सजा देने और सबक सिखाने के लिये जानबूझ कर यह हत्याकाड करवाया था—वर्ना इसकी कोई आवश्यकता न थी और अपने इस कार्य के लिये उसे कोई दुख नही, बल्कि दुख है तो इस बात का कि वह इससे अधिक कुछ क्यो न कर सका और इसके साथ-साथ जब यह भी मालूम हुआ कि अधिकारियो ने भी उसका समर्थन किया है तब भारतीयो का हृदय अपनी परवशता और अग्रेजो के प्रति क्रोध की भावना मे उबल उठा। राहुल साकृत्यायन ने लिखा है कि सेना ने निहत्थे स्त्री-पुरुषो-बाल-वृद्धो पर जो अत्याचार किए उनकी कथाए सुनकर खून खौलने लगता था। बेगुनाहो की फासी, लम्बी-लम्बी सजाए, भगवान पर रोष आता था। उसका ध्यान कहा गया ! उसका चमत्कार कहा !! [१]

इसने राज भक्त गाधी को विद्रोही बना दिया। १९२२ के अपने प्रसिद्ध अहमदाबाद वाले बयान मे उन्होंने स्वीकार किया है कि उन्हें पहला धक्का रौलट ऐक्ट ने दिया जिसके बाद पजाब के हत्याकाड का नम्बर आया और उनकी सारी आशाएं धूल मे मिल गई। अनेक समझदार अग्रेज भी इस अमानुषिक कार्य से शर्मिदा हुए। वायसराय चेम्सफोर्ड ने डायर के इस दृष्टिकोण को 'जोरदार ढग से भर्त्सनीय समझा, हण्टर कमीशन ने "भयानक भूल" और सर वेलेंटाइन चिरोल ने "ब्रिटिश भारत के इतिहास का काला दिन" कहा। डायर के इन कुकृत्यो ने देश को मजबूर कर दिया कि वह कोई बडा कदम उठाए। गाधी जी अभी सत्याग्रह नहीं करना चाहते थे। १९१९ मे अमृतसर मे कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमे गाधी का महत्व स्वीकार कर लिया और तभी से भारत राजनीतिक मच पर महात्मा गाधी की जय' का घोष गूजने लगा। कलकत्ता मे कांग्रेस के एक विशेष-

१—'मेरी जीवन यात्रा, पृ० २६८।

अधिवेशन ने उनके असहयोग प्रस्ताव को बहुमत से स्वीकार कर लिया । और नागपुर के वार्षिक अधिवेशन में फिर उसी का आग्रह हुआ ।

असहयोग आंदोलन—

अन्ततोगत्वा १९२० में यह आंदोलन छेड़ दिया गया । इसके मुख्य कार्यक्रम थे सरकारी उपाधि न लेना और मिली हुई को भी छोड़ना, कौंसिल के चुनाव में न खड़ा होना और न वोट देना, स्कूलों कालेजों अदालतों का बहिष्कार, विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार, चर्खा-खद्दर राष्ट्रीय शिक्षा पंचायती अदालतों का कार्यक्रम अपनाना गांधी जी ने एक शर्त यह रखी थी कि सत्याग्रह वहीं शुरू करेंगे जहाँ खादी का काफी प्रचार हो और रचनात्मक कार्यक्रम के अंग यथासाध्य पूरे किये गये हों । इसका परिणाम यह हुआ कि जगह जगह इन शर्तों को पूरा करने की तैयारियाँ की जाने लगीं । भारत एकदम बदल गया । उसकी राष्ट्रीय बुभुक्षा तीव्रतम हो गई । इस प्रकार राष्ट्रीयता जन जन तक पहुंच गई । धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है "बंगभंग के आन्दोलन के फलस्वरूप राजनीतिक जागृति समाज के मध्यवर्ग में पहुंची किन्तु स्वतंत्र भारत के सन्देश को जनसाधारण तक पहुंचाने का श्रेय महात्मा गांधी का है ।"[1] कुछ ऐसे लोग भी थे जो इस आन्दोलन के महत्व की कल्पना नहीं कर पाते थे । साधारण जनता में भी ऐसे लोगों की कमी न थी । इससे कुछ ऊपर के वर्ग वाले लोग यह कहते थे कि जेल जाने से कहीं आजादी मिलती है ! इससे कुछ अधिक चमत्कार लोगों ने इसका मजाक उड़ाया जिनके शीर्ष बिन्दु पर तत्कालीन वायसराय थे जिनका कथन था कि असहयोग समस्त मूर्खतापूर्ण योजनाओं में भी सबसे अधिक मूर्खतापूर्ण है । जो लोग राष्ट्रीय थे और फिर भी इसके महत्व को समझने की अन्तर्दृष्टि से वंचित थे उनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय नाम श्रीमती एनी बेसेन्ट का है जिन्होंने शुरू से ही असहयोग आन्दोलन का विरोध बड़े जोरों से किया था और एक बार तो यहां तक लिख दिया था कि गांधी जी अंधकार की शक्तियों के प्रतिनिधि हैं (रिप्रेजेन्टेस दि फोर्सेज आफ डार्कनेस') । गांधी जी ने असहयोग को इतना व्यक्तिगत रूप दे दिया था कि प्रत्येक व्यक्ति यह सोचने को विवश हो गया कि यदि वह सरकार से असहयोग न करेगा तो स्वराज्य प्राप्ति में विलम्ब हो जायगा । १९२० में ही गांधी जी ने यह आश्वासन दिया था कि यदि लोग पूर्णतः अहिंसात्मक ढंग से असहयोग करें तो एक वर्ष में स्वराज्य मिल जायगा । मोतीलाल नेहरू जवाहर लाल नेहरू चित्तरंजन दास, वल्लभ भाई पटेल आदि हजारों ने असहयोग

---

१ 'मध्यदेश—ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन' पृ० १८६ ।

थे। उन पर आक्रमण हो गया। स्वराज्य उत्सव अर्थात् [illegible] हाथ लगा। गांधी ने इसके विरोध में उपवास किया। कुछ दिनों बाद ऐसी ही यह बहिष्कार भावना भारत भर में व्याप्त हुआ। युवक सरकार बदला लेने पर उतर आई। बंगाल और यू० पी० में क्रूर दमननीति हुई। ऐसा करके सरकार कांग्रेस का काम ठप कर देना चाहती थी। कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्ता, सामान्य कार्यकर्ता उत्साह और जोश में भरे हुए थे। अध्यापक और विद्यार्थी, वृद्ध और युवक, नारी और पुरुष, धनी और गरीब, वकील और मुवक्किल, किसान और जमींदार, मजदूर और मालिक, देहाती और शहराती, शिक्षित और अशिक्षित सभी वर्गों के लोग बन्दीगृह गये। सभी से बन्दीगृह कृष्णमन्दिर बन गया। मोहनदास 'मोहन' हो गए। कारा गुलशन चमन बन गया। राजेन्द्र बाबू ने[1] लिखा है कि बिहार सरकार के नये प्रधान सचिव (चीफ सेक्रेटरी) ने एक दूसरी विज्ञप्ति निकाली जिसमें जिला अफसरों को प्रोत्साहन दिया गया कि वे विलायती वस्त्र सम्बन्धी प्रचार करें और जनता को यह बतावें कि विलायती वस्त्र के बिना लोगों को बहुत कष्ट होगा, कपड़ा बहुत मँहगा हो जायगा और जहाँ कहीं कार्यकर्ता लोग आकर लगावें गिरफ्तार किये जायँ। उनके इस प्रचार ने उन लोगों की मनोवृत्ति, खादी के प्रति उत्सुकता और उत्साह ने अप्रत्यक्ष रूप से सहायता पहुँचाई जो लोग खादी का मोटा कपड़ा न पहन पाते थे, न सम्भाल पाते थे, न सँभल पाते थे और जिनका शरीर उससे छिल जाता था। फिर भी, वारंट बिना ही जेल जाने वाले उत्साहियों की संख्या भी कम न थी। जेल अफसर परेशान थे कि इतने और इन कैदियों के साथ क्या करें।

(१२) चौरी चौरा कांड—इस समय देश की स्थिति ऐसी थी कि महात्मा जी के एक शब्द में वह संग्राम छेड़ दिया होता जिसकी तुलना में १८५७ का विद्रोह बहुत ही छोटी चीज लगता।[2] अहिंसावादी गांधी ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने बारदोली में बहुत बड़े पैमाने पर सत्याग्रह (असहयोग) आन्दोलन करने का निश्चय किया। यह १ फरवरी, १९२२ की बात है और ५ फरवरी को 'चौरी चौरा-कांड' हुआ। हिंसा !! गांधी जी ने सारा आन्दोलन बन्द कर दिया। सारा देश भौचक्का हो गया। कल्पनातीत धक्का लगा। लोग बौखला उठे। गांधी जी के इस निश्चय की प्रतिक्रिया में लोगों के हृदय रो उठे। सरकार, सरकारी आदमी, कांग्रेस, कांग्रेसी नेता, जनता और रजनी पामदत्त, आदि भावी इतिहासकारों के लिए भी यह समझ में न आ सकने

---

१ 'आत्मकथा" पृ० १८१–१८२।

२ "दि लाइफ आफ महात्मा गांधी", पृ० २४५

वाला आश्चर्य था। एक ओर विजयलक्ष्मी और गौरव की देवी हाथ मे स्वागत की माला लिये खडी है और दूसरी ओर विजेता पराजय की घोषणा करता है। सच है, अध्यात्म का पथ ऐसा ही होता है। उसके पथिक का सूक्ष्म विचार लौकिकता की समझ में आये भी तो कैसे। जवाहरलाल नेहरू क्षुब्ध होकर जेल की कोठरी मे इधर से उधर चक्कर काटते रहे, 'क्या कुछ लोगो की भूल से इतना व्यापक आदोलन बन्द किया जा सकता है।' उनको गाधी का पत्र उद्बोधन भी न सतुष्ट कर सका। १० मार्च को गाधी गिरफ्तार कर लिये गये। वायसराय लार्ड रीडिंग और उनके साथ साथ अनेक विचारको का मत था कि सत्याग्रह-स्थगन के कार्य के द्वारा गाधी ने अपनी राजनीतिक आत्म हत्या कर ली है। ऐसे आदमी का साथ, जो ठीक समय पर धोखा देकर निकल जाय, कौन देगा। कुछ लोगो का यह भी विचार है कि उनके इस कार्य से लगने वाले मानसिक आघात और उससे उत्पन्न निराशा के परिणामस्वरूप ही उसके बाद देश मे साम्प्रदायिक दगो का दौरदौरा चल पडा। गाधी जी पर मुकद्दमा चला और उन्होने वही अपना अहमदाबाद का प्रसिद्ध बयान दिया जिसमे उन्होने अग्रेजी सरकार के उन दोषो और अत्याचारो का उल्लेख किया उन्होने उनको विद्रोही बना दिया था। उन्हे ६ वर्ष के कारावास का दण्ड मिला। १९२४, १९२५, १९२६ और १९२७ मे गाधी जी खद्दर के प्रचार, चर्खा के प्रचार, आदि पर बहुत जोर देते रहे। १९२५ मे उन्होंने सारे देश का दौरा किया था। तब लोगो ने गाधी जी को पूर्णरूप से अलौकिक पुरुष मानना प्रारम्भ कर दिया था।

(१३) रचनात्मक कार्यक्रम—इसी समय से उन्होने खादी, हरिजनोद्धार, आदि कार्यों के लिए चन्दा एकत्र करना प्रारम्भ किया और लोगो ने आशातीत ढग से उनकी माग पूरी की। महिलाओ ने आभूषण उतार दिये। पुरुषो ने जेबे खाली कर दी। इसी वर्ष सारे भारत मे उनकी ५३ वी वर्षगाठ मनाई गई। उनकी अनुपस्थिति मे कस्तूरबा ने उनका काम चलाते रहने का प्रयत्न किया। १९२४ मे सरकार ने उनकी बीमारी के कारण उन्हें बिना शर्त के छोड दिया। तब तक काग्रेस दो दलो मे बट चुकी थी—अपरिवर्तनवादी और परिवर्तनवादी। अपरिवर्तनवादी गाधी के मार्ग पर चलते हुए सरकार से असहयोग करके ही अपना कार्य करना चाहते थे जबकि परिवर्तनवादी इस नीति मे कुछ परिवर्तन करके कौंसिलो मे जाकर सरकार का विरोध करना चाहते थे। गाधी जी ने दोनो दल वालो के बीच देश का कर्त्तव्य बाट दिया। अपरिवर्तनवादी रचनात्मक कार्य करें और परिवर्तनवादी कौंसिलो मे जाकर सरकार का विरोध करें क्योंकि दोनो ही अच्छे कार्य हैं। मोतीलाल नेहरू, चितरजनदास, आदि परिवर्तनवादी थे। इन्होने स्वराज्य पार्टी की स्थापना की थी। ये लोग कौंसिलो मे गये और वहा भी सरकार को चैन न लेने दिया। अन्त मे इन लोगो ने अनुभव किया

कि उस इस मार्ग से उन सबके परम लक्ष्य—स्वतंत्रता—की प्राप्ति में कुछ अधिक मदद नहीं मिल सकती।

(१४) झंडा सत्याग्रह (१५) गुरु का बाग का सत्याग्रह —नागपुर में झंडे के प्रश्न पर कुछ दिनों तक सत्याग्रह का आंदोलन चलाना पड़ा किंतु इस अवधि का सबसे भयानक आंदोलन था गुरु का बाग का। पतित मठाधीशों से मठों को मुक्त करने के लिये सिक्खों ने यह आंदोलन किया था। इसमें सरकार मठाधीशों के साथ थी। सत्याग्रहियों को खूब पीटा जाता था। उनके सिर फूट जाते थे। रक्त रंजित हो उठते थे किन्तु असाधारण थी उनकी अहिंसा की निष्ठा कि चुपचाप सहे जा रहे थे। एक के बाद एक सत्याग्रहियों के दल आते हो जा रहे थे। ऐंड्रूज ने इस कांड के बारे में कहा है कि अब तक मैंने जितने हृदय विदारक और करुणाजनक दृश्य देखे हैं, यह उनमें सबसे बढ़कर है।

(१६) जेल में सत्याग्रहियों पर अत्याचार —

इधर यह हाल था और उधर जेल में सत्याग्रहियों के ऊपर अमानुषिक अत्याचार किये जा रहे थे। उनसे चक्की चलवाना और कोल्हू पेरवाना तो मामूली बात थी। अगर आज्ञा के अनुसार पूरा काम न हो तो उसके लिये अलग से सजा होती थी। पैरों में बेड़ी, डंडा–बेड़ी खड़ी हथकड़ी चट्टी कपड़ा जो जेल की सख्त सजाएं हैं बहुतों को भोगनी पड़ी। कहीं–कहीं बेंत भी लगाए गए। मुसलमानों की संख्या भी जेल में काफी थी। इसलिये बिहार में उनसे अजान के मामले को लेकर सरकार से मुठभेड़ हो गई। अधिकारियों ने इस बंद करने की आज्ञा दी। वे न माने। इसके लिये भी उन्हें सजाएं मिलीं। नगरों में सरकार और सरकारी आदमियों की कृपा और व्यवस्था के कारण साम्प्रदायिक दंगे दिन–प्रति–दिन बढ़ते ही जा रहे थे और बढ़ती जा रही थी हिन्दू–मुसलमान के बीच की खाई—पारस्परिक वैमनस्य। इसका भयानकतम रूप उस स्वामी श्रद्धानंद की हत्या के रूप में प्रकट हुआ जिसे जामा मस्जिद के भीतर बुलाकर व्याख्यान दिलवाया गया था। १९२६ में उनकी हत्या हुई और सारे भारतवर्ष में प्रकंपित कर देने वाली एक आतंक की लहर दौड़ गई। साम्प्रदायिकता के विष का यह भयानक परिणाम था जो सम्भवतः उस समय के २० वर्ष बाद की उन क्रूरताओं की ओर उठी हुई उंगली जैसा था जिनको देखकर हलाकू और चंगेज खां की रूह भी थर्रा गई होगी, जिसके आगे पशुता और दानवता भी कांप उठी होगी परन्तु जिन्हें देखकर उनका एकमात्र जिम्मेदार अंग्रेज जरा भी न पसीजा। गांधी जी से यह सब न देखा गया और उन्होंने १९२४ में साम्प्रदायिक एकता के लिये २१ दिन का उपवास कर डाला। देश भर में घूम–घूम कर, व्याख्यान

६-दस्तर बात दर-दस्तर गांधी जी ने स्वराज्य संबंधी विचार और कार्यक्रम समझा समझा कर देश की स्वातन्त्र्य भावना जागरूक और तीव्रतर करते रहे जैसे कोई सनिक अवकाश-वेला में अपने अस्त्र शस्त्रों पर धार रख रख कर उसे तेज करता रहे, चमकाता रहे। शिथिलता कहीं आने ही नहीं पाई। कहीं राष्ट्रीय विद्यापीठ खुल रहे हैं। कहीं स्वदेशी प्रदर्शनी हो रही है। कहीं पार्टियों के अधिवेशन हो रहे हैं। कहीं सामाजिक समस्याओं पर विचार विनिमय हो रहा है। कहीं राष्ट्रभाषा पर बात चीत हो रही है। कभी भाषण होते हैं तो कभी चरखा खादी एवं साम्प्रदायिक एकता के प्रयत्न हो रहे हैं। कहीं राष्ट्रीय कार्य के लिये बनने वाले भवनों की आधारशिला रखी जा रही है तो कभी राष्ट्रीय नेताओं के चित्रों और मूर्तियों का अनावरण हो रहा है।

(१८) साइमन कमीशन —इस प्रकार देखते ही देखते १६२८ आ गया और केवल अंग्रेजों अर्थात् गोरी चमड़ी वालों से विनिर्मित एवं सुसज्जित और भारतीयों की हवा से भी सुरक्षित साइमन कमीशन सर साइमन के नेतृत्व में भारत का भाग्य निर्णय करने आया। भारत की आत्मा एक बार फिर तड़प उठी—यह है अंग्रेज प्रभुओं की असली दावत। १६२६ में भारत सचिव लार्ड बर्केन हेड ने बड़े ही व्यंग्यात्मक स्वर में हाउस आफ लार्ड्स में कहा था इस सदन में क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो यह कह सकता है कि वह एक पीढ़ी दो पीढ़ियों में और १०० वर्षों में भी कोई भी सम्भावना इस तथ्य का दर्शन करता है कि भारत की जनता, सेना, नौ-सेना नागरिक नौकरियों पर नियंत्रण रखने की स्थिति में हो सकेगी और ऐसा गवर्नर-जनरल बना सकेगी जो केवल भारतीय सरकार के लिये ही उत्तरदायी हो—इंग्लैण्ड इत्यादि की किसी सत्ता के प्रति न हो। यह थी भारत की नीति के ब्रह्माओं की दूरदर्शिता जो १६ वर्ष आगे हो सकने वाली घटनाओं की कल्पना मात्र तक नहीं कर सकती थी। इसी बर्केन हेड ने एक और अपमानजनक बात कही थी। उसने चुनौती दी थी कि भारतीय भारत की भावी सरकार की रूपरेखा के सम्बन्ध में कोई ऐसी योजना उपस्थित कर दें जो सभी भारतीयों को स्वीकार्य हो। इसका उत्तर भारत ने मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में निर्मित नेहरू रिपोर्ट से दिया। देश ने साइमन-कमीशन का बहिष्कार कर दिया। गांधी जी ने तो उसका बहिष्कार इस सीमा तक किया कि उसका नाम तक नहीं लिया। उनके लिये तो जैसे उसका अस्तित्व ही नहीं था। देश के सभी राजनीतिक दलों ने उसका बहिष्कार किया। पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है यह जानकर आश्चर्य होता है कि जब कमीशन बम्बई में घूम रहा था तब सर की पदवी धारण करने वाले २२ नाइटों प्रेस-

एक ने भी कमीशन से मिलने की तकलीफ गवारा न की। देश में बहिष्कार की जो लहर फैली हुई थी उसका इससे ज्वलन्त प्रमाण और क्या मिल सकता है।"[1] सारी भारतीय जनता इस अंग्रेजी नाम और "गो बैक", इन दो अंग्रेजी शब्दों से परिचित हो गई। कमीशन के सदस्यों के लिये सायमन एक होवा हो गया था। आधी रात में चिल्लाते थे सियार और अपने होटलों में सोते हुए य बकारे समझते थे कि इस समय भी सायमन के द्वारा हमारा पीछा नहीं छोड़ा गया। इसी विरोध के सिलसिले में लाठी चार्ज के कारण लाला लाजपत राय की मृत्यु हो गई। अंगरेजों ने 'शेरे पंजाब' को मार डाला। हमारे इतने बड़े नेता के साथ भी यह राक्षसी व्यवहार। सारे भारत ने दुख से सिर नीचे झुका लिया और यही दुःख क्रोध और क्षोभ में बदल गया। यह हमारा राष्ट्रीय अपमान है। सारा भारत दांत पीसने लगा। दिसम्बर, २८ में लाहौर के प्रसिद्ध सुपरिटेन्डेन्ट साण्डर्स की हत्या कर दी गई। लुई फिशर ने लिखा है कि १९२८, १९२९ और १९३० में अदृश्य रूप से स्वयं भी न जानते हुए और विदेशियों द्वारा भी न देखे जाते हुए भारतीय स्वतन्त्र हो चुके थे।[2] शरीर पर शृंखलाएं अब भी थी किन्तु आत्मा बन्धनों से मुक्त हो चुकी थी। गांधी ने कुंजी घुमा दी थी। शत्रु के विरुद्ध अभियान करते हुए किसी भी सेनापति ने आज तक अपनी वाहिनी की गतिविधि इतनी पूर्ण कुशलता के साथ नहीं योजित की थी जितनी कि इस मनुष्य ने सत्य के कवच और नैतिक सत्य के भाले को लेकर की। १९३१ ई० में अपने अंतिम क्षणों में मोतीलाल नेहरू ने गांधी से कहा था— मैं जा रहा हूँ महात्मा जी। मैं स्वराज्य देखने के लिए जिन्दा नहीं रहूँगा लेकिन मैं जानता हूँ कि आपने स्वराज्य जीत लिया है और आपको शीघ्र मिल जायगा[3]। सुभाषचन्द्र बोस बंगाल में, उस बंगाल में जो अंगरेजी सरकार के लिये सदा ही एक सिर दर्द बना रहा, आजादी की बुभुक्षा तीव्र से तीव्रतर और तीव्रतम कर रहे थे। बहुत बाद में यह घोषणा उन्होंने की थी कि आप हमें खून दें और हम आपको आजादी दिला देंगे।

(१९) बारदोली —१९२८ में ही गांधी जी के आशीर्वाद के साथ बारदोली में सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में सत्याग्रह प्रारम्भ किया गया। सरकार ने वहां के किसानों की सम्पत्ति छीननी प्रारम्भ की उनके बैल खोल लिये गये, बैलगाड़ियां ले ली गईं जमीन ले ली गई लेकिन वीर सत्याग्रहियों ने टस से मस नहीं किया।

१—'दि लाइफ आफ महात्मा गांधी', पृ० ३२०—३२१

२—"मोतीलाल नेहरू जन्म शताब्दी स्मृति ग्रंथ, पृ० ८४।

३—'कांग्रेस का इतिहास', पृ० १६६।

बारडोली के वीर सत्याग्रहियो के समर्थन म गाधी जी न सारे देश मे हड़ताल कराई। बारदोली का समाचार देश विदेश पहुच गया। सारे देश न सत्याग्रह करने की माग की। अततोगत्वा राष्ट्रीय विद्रोही भारत की जीत हुई। इस सफलता के कारण सारे देश म उत्साह की लहरें उमड आई। अब सब लोगो के दिल म यह विचार उठने लगा कि पूर्ण प्रयत्न अगर किया जाय तो सारे देश म बारदोली जसा ही सत्याग्रह चल सकता है और इसी तरह सफलता भी प्राप्त हो सकती है। अब तक सत्याग्रह केवल विचार म ही रहा करता था। इतने बडे पमाने पर उसका कोई प्रयोग नही हुआ था बारदोली म उसकी इस सफलता न यह प्रमाणित कर दिया कि यदि जनता भी अपनी ओर से डटी रहे कभी भी बलवा फसाद न करे तो ब्रिटिश गवनमेंट को हार माननी ही पडेगी। गाधी जी ने भारत को निरस्त्र करके अगरेजो के हथियार व्यर्थ कर दिये। १८२६ म विदेशी वस्त्रो के बहिष्कार की आयोजना बनाई गई। दिसम्बर १६२८ म ही यह प्रस्ताव भी पास किया गया कि यदि १८२८ ई० के अन्त तक औपनिवेशिक स्वराज्य की घोषणा न हो जाय तो हम पूर्ण स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य घोषित कर देंगे। १६२८ में ३१ दिसम्बर को १२ बजे रावी नदी के तट पर लाहौर म कांग्रेस का लक्ष्य भारत के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना हो गया। भारतीयो ने इसके लिये बड से बडा बलिदान दिया अत्याचार सहे, कीमत चुकाई।

(२१) बारसद —ऐसी ही घटना का उल्लेख १२ जनवरी के मेनचेस्टर गार्जियन म बोरसद म है। 'बारसद म भी इसी प्रकार की एक रोमाचकारी घटना हुई। यहा की महिलाओ ने बडी वीरता दिखाई। पुलिस प्रदशन को रोकने का निश्चय कर चुकी थी। स्त्रियो ने जुलूस वालो को पानी पिलान के लिये विभिन्न स्थानो पर पानी के बडे-बडे बतन रख छोडे थे।'पुलिस न पहले इन बतनो को ही तोडा। फिर स्त्रियो को बलपूवक तितर बितर कर दिया। यह भी कहा जाता है कि जब स्त्रियां गिर गईं तब पुलिस वाले उनके सीनो को बूटो से कुचलते हुए चल गये। १६३० मे मोतीलाल जी ने अपना सुदर मकान आनद भवन" कांग्रेस को दान मे दे दिया।

(२२) नमक आदोलन—१२ माच, १८३० को प्रसिद्ध दाडी-यात्रा प्रारम्भ हुई जो ६ अप्रैल की दाडी मे नमक कानून तोडने के रूप मे समाप्त हुई। इस प्रकार 'नमक आदोलन या सविनय अवज्ञा आदोलन' प्रारम्भ हुआ। दस महीने के थोडे समय म ही नब्बे हजार स्त्री पुरुष और बच्चे दोषी करार देकर जेलो म ठूस

दिये गये। यह कोई नहीं जानता कि मार कितनो पर पड़ी लेकिन जितना का कद की सजा हुई थी, पिटने वालो की सख्या उनसे तीन या चार गुनी अधिक थी।

हाईकोर्ट के एक एडवोकेट को सताने के लिए एक एक करके उसके बाल उखाड़े गये और यह सिर्फ इसलिए कि उसने अपना नाम और पता नहीं बताया था। सारे भारत म नमक की गूज होने लगी और सारा देश नमक कानून तोड़ने पर उतारू हो गया। बड़े शहर, छोटे कस्बे, गाव, देहात, जहा देखिये, गैर कानूनी ढग से नमक बनाया जा रहा है। बड़े जोर शोर म जुलूस, लाठी प्रहार पकड धकड हड़ताल, आदि होने लगी। विदेशी कपड़े और शराब की दूकानो पर भी धरना दिया जाने लगा। सभ्रान्त परिवार की सकड़ो महिलाएँ आदोलन म कूद पड़ी। काग्रेस गैर कानूनी करार दी गई। एक दजन आर्डिनेन्स निकाले गये। भारतवर्ष व्यवहारत फौजी कानून (मार्शल ला) के अन्दर था। जेल अधिकारियो से भी सत्याग्रहियो की न बनी। वे माफी मगवाने पर तुले थे। सजा, मारपीट, खराब व्यवहार खराब भोजन पेचिस आदि बीमारियो से जेल की कहानिया बनी। जुर्माने किये गये और कड़ाई के साथ उनका वसूल किया गया। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, इस समय ऐसा लगता था मानो किसी दबी हुई स्प्रिंग को सहसा छोड दिया है। अजीब जादू था।[१] राजेन्द्रबाबू के नेतृत्व मे बिहार का नमक आदोलन एक असाधारण गौरव और मर्यादा के साथ चला। सत्याग्रह की सूचना डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट को पहले से दे दी जाती थी ताकि उन्हे चौबीसो घटे सत्याग्रहियो की खोज और प्रतीक्षा न करनी पडे। ठीक समय पर वे आये और सत्याग्रहियो को पकड कर जो-कुछ करना चाहे, करें। गुड फ्राइडे और ईस्टर आदि धार्मिक त्यौहारो पर पुलिस वालो के धर्म पालन मे बाधा न पहुचाने के उद्देश्य से इन विशेष धार्मिक दिनो म सत्याग्रह के स्थगन की सूचना पुलिस के अफसरो को दे दी जाती थी। इस प्रकार विरोधियो के प्रति गाधीवादी प्रेम की स्निग्धता लेकर बिहार का आंदोलन चला। फिर भी, दमन की क्रूरता से बिहार भी न बचा। भीड़ हटाने के लिए डडे और चाबुक का प्रयोग किया जाता था। कभी-कभी भलेमानुष कर्मचारी बहुत बचा बचा कर वार करते। लोगो के सिर फूटते रक्त बहता फिर भी शान्त रहते। नमक बनाने के लिए एकत्र किये गये हाडी बासन तोड़े फोड़े जाते। जनता दो-दो घटे पानी म भीग कर भाषण देने वाले की प्रतीक्षा करती। भाषणकर्ता भीगता भागता आता। पानी बरसते म भाषण होता। ज्यो ज्यो मार अधिक पड़ती त्यो त्यो और अधिक उत्साह के साथ सत्याग्रह किया जाता। कभी-कभी वीर सत्याग्रही प्रतिक्रिया का कार्यान्वित न कर पाने के कारण रो उठते। मारपीट के अतिरिक्त अन्य

१—'आत्मकथा' पृ० २१३

प्रकार की कठिनाइयां और यातनाएँ भी सत्याग्रहियों की शोभा बनती थीं। राजेंद्र बाबू ने लिखा है कि एक लड़के के कान में साइकिल का पम्प लगा कर इतने जोर से हवा की गई कि उसके कान का पर्दा फट गया।[1] नेताओं को तथा अन्य सत्याग्रहियों को चोरी छिपे एक जेल से दूसरी जेल में भेजा जाता। मजिस्ट्रेट लोग कभी-कभी सिर झुका कर मुकद्दमा करते, सजा सुनाते और घर जाकर रोया करते थे। कभी-कभी मीटिंगों में स्वयं सेवक या सत्याग्रही बेरहमी से पीटे जाते थे। इतनी मार पड़ती थी कि बेहोश हो हो जाते थे। बेहोशी की हालत में घसीट कर उन्हें नालों और झाड़ियों में फेंक दिया जाता था जहां से उनको कांग्रेसी लोग खाट पर उठा कर कांग्रेसी अस्पताल में पहुंचाया करते थे। ऐसे समाचार सुनकर भी लोग सत्याग्रह करते थे।

राजेंद्रप्रसाद जी ने लिखा है "बिहार में चौकीदारी टैक्स बंद करने का कार्यक्रम चल रहा था। सरकार सख्ती से उसे दबा रही थी जहां किसी गांव के लोगों ने टैक्स बन्द किया, सारा गांव ही लूट लिया जाता। एक दूसरे गांव में मैंने खुद जाकर देखा था, वहां घर में घुस कर गल्ला रखने की कोठियां तोड़ डाली गई थीं सभी बासन-बर्तन चूर कर दिये थे, यहां तक कि चारपाइयों की बुनावट काट दी गई थी मकान के लकड़ी के खम्भे भी काट दिये गये थे। एक गांव की यह कैफियत थी कि पुलिस के चले जाने के बाद वहां गांव में न एक घड़ा था और न एक रस्सी जिससे लोग कुए में पानी निकाल कर प्यास बुझा सकें। जुर्माने की अच्छी-अच्छी रकमों की वसूली में घर वालों के साथ ज्यादतियां की जातीं, एक के बदले दस का माल बरामद किया जाता।"[2] इस काल में सत्याग्रहियों का जो बात सबसे अधिक खलती थी वह थी बनाये हुए नमक का छीना जाना क्योंकि गांधी जी ने कह दिया था कि सम्प्रति भारत का सम्मान एक मुट्ठी नमक में निहित है और सचमुच नमक से भरी हुई सत्याग्रहियों की मुट्ठी वह वज्र की मुट्ठी हो गई जिसे खोलने में महान ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति पसीने-पसीने हो गई पर खोल न सकी। वह भारत के सम्मान की ही तरह अनत रही। गांधी जी ने जो नमक उठाया था उसे एक डाक्टर कनुगा ने १६०० रुपये में खरीद लिया था। विधान परिषदों के अनेक सदस्यों ने सदस्यता से त्यागपत्र दे दिये जिनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय नाम विट्ठलभाई पटेल का है। कांग्रेस अवैध घोषित कर दी गई। उसके दफ्तरों को सरकार ने अपने अधिकार में ले लिया। लुई फिशर ने लिखा है "१९३० में गांधी

१—'बापू के कदमों में', पृ० १५४।
२—'आत्मकथा' पृ० ४०२।

ने दो बातें की —उन्होंने अंग्रेज जनता को इस तथ्य के प्रति जागरूक कर दिया कि वे भारत को अत्यंत क्रूरता पूर्वक पराधीन बनाये हुए हैं, और उन्होंने भारतवासियों का यह विश्वास करा दिया कि वे सर ऊँचा करके और अपनी रीढ़ की हड्डी सीधी करके अपने कंधों पर से जुआ उठाकर फेंक सकते हैं। अंग्रेजों ने भारतवासियों को डंडों और बन्दूकों के कुंदों से पीटा। भारतीय न तो गिड़गिड़ाए, न उन्होंने शिकायत की और न पीछे ही हटे। इसने इंगलैंड को शक्तिहीन और भारत को अजेय बना दिया।"[1] शोलापुर में जनता ने पुलिस को अपने कब्जे में करके राष्ट्रीय झंडा फहरा कर अपने को अंग्रेजी राज्य से स्वतंत्र घोषित कर दिया था। पेशावर में पुलिस ने शहर लालकुर्ती दल वाले सत्याग्रहियों को सौंप दिया। था। अंग्रेजी सेना के एक भाग ने मुसलमानों पर गोली चलाने से इनकार कर दिया। उनका कोर्ट मार्शल हुआ उन्होंने १४ वर्षों की सख्त सजा भुगतली। परिस्थिति बड़ी विकट होगई थी। गिरफ्तारी के दो ही सप्ताहों के पश्चात् अधिकारियों ने जार्ज स्लोकाम्बी नामक अंग्रेज को जो 'डेली हेरल्ड' के संवाददाता थे, मध्यस्थ बनाकर समझौते की बातचीत प्रारंभ की। नेताओं को जेल में ही गांधी जी से बातचीत करने का अवसर दिया गया। इसी बीच १९३० के नवम्बर में पहली गोलमेज परिषद् का अधिवेशन हुआ और वह निष्फल हो गई। २६ जनवरी को २० अन्य नेताओं के साथ-साथ गांधी भी बिना शर्त रिहा कर दिये गये। ६ फरवरी को पं० मोतीलाल नेहरू का देहान्त हो गया। इस मृत्यु से सारे देश में हाहाकार मच गया, शोक उमड़ आया। देश भर में न मालूम कितनी सभाएं हुईं। देश ने असाधारण क्षति का अनुमान किया।

(२३) गांधी-इर्विन समझौता —५ मार्च, १९३१ को सुप्रसिद्ध गांधी-इर्विन समझौता हुआ। यहां पहली बार भारत और इंगलैंड के प्रतिनिधि बराबर की हैसियत से बैठे थे, बातचीत की थी और दूसरे को अपने बराबर समझते हुए एक दूसरे के साथ समझौता किया था। यह एक बहुत बड़ी बात थी। इसके १७ वर्षों के बाद भारत और इंगलैंड सचमुच और सभी तरह से समान स्थिति के स्वतंत्र राष्ट्र हो गये। यह गांधी की बहुत बड़ी जीत थी। सम्भवतः इसलिये सिविल सर्विस वालों को यह अच्छा नहीं लगा। इर्विन के उत्तराधिकारी लार्ड विलिंगडन के भारत पहुंचते-पहुंचते हवा का रुख बदल गया। इस वर्ष कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन कराची में हुआ था और द्वितीय गोलमेज कान्फ्रेंस के लिये सब सम्मति से गांधी जी उसके एकमात्र प्रतिनिधि चुने गये थे।

१— "दि लाइफ आफ महात्मा गांधी", भा० २, पृ० ३०।

(२४) क्रान्तिकारियों को फाँसी—कांग्रेस अधिवेशन के कुछ ही वर्षों पूर्व भगतसिंह को फाँसी दे दी गई थी और लम्बे अनशन के कारण यतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु हो गई थी। सारे देश में खलबली मच गई। दूकान-दूकान पर भगतसिंह के चित्र लगाये गये। गाँधी जी ने इन युवकों की वीरता की सराहना करते हुए भी इनके हिंसात्मक कार्यों का समर्थन नहीं किया। देश का युवक वर्ग इनसे नाराज हो गया। और गाँधी जी के कराँची जाते समय रास्ते भर विरोध का प्रदर्शन होता रहा। लोग अपना शोक, क्षोभ और क्रोध दिखाने के लिये गाँधी जी को देने के लिए काले फूल लाये। गाँधी जी ने इन फूलों को स्वीकार किया और क्रोध अथवा घबराहट के कुछ भी चिह्न नहीं प्रगट होने दिये।

(२५) अवध का कृषि आंदोलन—इसी युग में अवध कृषि आंदोलन चला। हुआ यह था कि सरकार ने किसानों के लिये जो लगान निश्चित किया था वह सभी नेताओं विचारकों, तथा किसानों के सामर्थ्य, आदि की दृष्टि में कहीं अधिक था। किसानों ने जवाहरलाल नेहरू से परामर्श किया और लगान न देने का आंदोलन छेड़ दिया। यह आंदोलन कांग्रेस से पूर्णतः पृथक और स्वतन्त्र था। इस तरह के किसान-मजदूर आंदोलनों से सहानुभूति रखते हुए भी कांग्रेस प्रत्यक्ष रूप से इनसे अपने को पृथक रखती थी। इस युग में शहरों और व्यापारिक केन्द्र में मजदूरों के आंदोलन देश भर में आगे-पीछे चला करते थे और इसी प्रकार किसानों के भी आंदोलन थे। यह अवध का आंदोलन उदाहरण-स्वरूप है। शहर, वहाँ के राजनीतिज्ञों, और वहाँ की राजनीति से किसी भी प्रकार की सहायता पाये बिना यह आंदोलन चला था। यह अवश्य था कि इस आंदोलन से ससार के लिये गाँधी का नाम राम-नाम की तरह था, गाँधी का व्यक्तित्व वहाँ जैसा था। गाँधी का उद्देश्य इसकी आत्मा बन गया। ग्रामीण भाई अपने नेताओं का स्वागत करने, उनको सुनने और उनकी आज्ञा मानने में असाधारण उत्साह दिखला रहे थे। आवश्यकता पड़ने पर वे उनको कार अपने कंधे पर उठा लेते थे। पुलिस के लोग और अफसर नेताओं-इतना चल कर उनके साथ नहीं रह पाते थे, क्योंकि एक ओर नौकरी थी और दूसरी ओर लगन और उत्साह। बिना समझे हुये भोले-भाले देहाती घण्टों धूप-पानी में चुपचाप बैठे लोगों की व्याख्यायें सुना करते थे। पददलित किसान अपने में एक नवीन आत्म विश्वास की भावना का अनुभव करने लगा था और अपना सर सीधा उठा कर चलने लगा था। जमींदार और पुलिस का डर कम हो गया था। जब बेदखली होती थी तो कोई भी आदमी बेदखल जमीन को लेने के लिये तयार ही नहीं होता था। जमींदार के नौकर मार-पीट पर-उतर आते थे मगर जैसे ही यह होता वैसे ही जाँच करवाने की कोशिश

की आती थी। इस प्रकृति के जमींदार और पुलिस एक प्रभुता के साथ आ गये थे। ये जमींदार और तालुकेदार प्रायः पूर्णतया बुद्धिहीन होते थे फिर भी अपने को 'मालिक', 'माई-बाप' और सरकार समझते थे। ये सरकारी अफसरों के पैर चाटते फिरते रहते थे और अपने पर आश्रित कर्मचारियों और किसानों के सिर पर। कांग्रेस की शिक्षा के परिणामस्वरूप मुकदमेबाजी कम हो गई। किसानों की अपनी पंचायतें बनने लगीं। अहिंसा के प्रचार के कारण किसानों ने हिंसात्मक कार्यवाही प्राय नहीं की। फिर भी वे इतने साहसी हो गये थे कि एक किसान ने एक जमींदार को सबके सामने इसलिए थप्पड़ मार दिया था कि वह उसकी पत्नी के लिये अनुचित और अपमानजनक था। इस घटना का उल्लेख जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'मेरी कहानी' के १८वें पृष्ठ पर किया है। बिना किराये झुण्ड के झुण्ड किसान बिना टिकट सफर करने लगे। लाखों की संख्या में लोग कचहरी जा कर अपने नेताओं को छुड़ाने में, सजा कम कराने में और मुकदमों को जेल के ही भीतर खतम कराने में सफल हो जाते थे। यह सब देख कर सरकार चौकन्नी हो गई। उसने सोचा कि एक शासन नहीं चलेगा। ऐसे ही प्रश्न को लेकर रायबरेली में लाखों को गोलियों से भून दिया गया। बरेली प्रसिद्ध बन गया। चूंकि यहां नगरों में लोकप्रिय था इसलिए सरकार उसे पकड़ पकड़ कर जलाने लगी। हजारों गिरफ्तारियाँ हुईं। बहुत लोग सजाएँ काटते काटते दुनियाँ से चल बसे। यह पूरे का पूरा विवरण जवाहरलाल नेहरू की 'आत्म कहानी' के आधार पर प्रस्तुत किया गया है जिसे पढ़ कर ऐसा लगता है कि राष्ट्र अपने जन्म सिद्ध अधिकारों की प्राप्ति और उसके लिए संघर्ष करने को तन कर और जम कर खड़ा हो गया था। इस वातावरण में लोगों ने अनुभव किया गांधी इर्विन समझौता हो तो गया किन्तु सरकार की ओर से समझौते की शर्तों का पालन करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। कांग्रेस ने आन्दोलन बन्द कर दिया था. किसी प्रकार मतभेद को समाप्त कर-करा के गांधी द्वितीय गोल मेज परिषद में गये वहां जार्ज पंचम और रानी मेरी से चप्पल, घुटनों तक की धोती, और चद्दर वाले वेश में ही भेंट की। वहाँ गांधी की भेंट लायड जार्ज, चार्ली चपलिन, जार्ज बर्नार्ड शा, इरविन स्मट्स कण्टरबरी के आर्च बिशप और डीन, हेराल्ड लास्की, आदि से हुई। बच्चों ने इन्हें 'चाचा गांधी', बर्नार्ड शा ने 'महात्मा माइनर', और मैडम मांटेसरी ने 'नोबुल मास्टर' कहा।

(२६) गोलमेज कान्फ्रेंस और दमन—गोलमेज परिषद् तो एक कठपुतली का तमाशा था। उसे निष्फल होना था, निष्फल हुआ। भारत के सम्मान के साथ किसी भी प्रकार का समझौता न करते हुए गांधी इङ्गलैंड से खाली हाथ लौटे-समझ

साम्प्रदायिक निर्णय—

१७ अगस्त, १९३२ को रमजे मैकडानल्ड ने अपना 'कम्युनल अवार्ड' (साम्प्रदायिक निर्णय) घोषित किया जिसके अनुसार भारत के प्रत्येक सम्प्रदाय या वर्ग के लिये पृथक निर्वाचन क्षेत्र और सीटों की सुरक्षा का आश्वासन दिया गया था। यह भारतवर्ष की आत्मा को मानस को टुकड़े टुकड़ों में काट डालने का प्रयत्न था। भारत की आत्मा ने विरोध किया अर्थात् गांधी जी ने जेल में आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया। दुःख एवं विषाद की काली छाया की दृष्टि से जो उस समय देश पर छा गई थी टैगोर ने इसे 'सूर्यग्रहण' कहा था। लुई फिशर के अनुसार यह पखवारा (पक्ष) भारत के आधुनिक इतिहास का सर्वाधिक उत्तेजनापूर्ण काल था। राजगोपालाचार्य के मत में यह सुकरात की मृत्यु के समय के समान इनके अनुयायियों को पीड़ा प्रद था। गांधी जी के इस अनशन ने सबको चकित कर दिया उनकी युक्तियों को यदि एक ओर मैकडानल्ड न समझ पाये तो दूसरी ओर उनके होने वाले उत्तराधिकारी जवाहरलाल नेहरू भी न आत्मसात कर सके। २० सितम्बर १९३२ को यह आमरण अनशन प्रारम्भ हुआ। टैगोर ने यह सम्भावना प्रकट की थी कि कदाचित् गांधी इस दाँव में हार जाँय। स्पष्ट था कि इसका परिणाम था उनका देहावसान। राष्ट्र इस सम्भावना से थर्रा गया। हिन्दुओं ने सोचना प्रारम्भ किया कि यदि इससे कुछ अनिष्ट हो गया तो प्रत्येक हिन्दू को अपने को ही गांधी का हत्यारा समझना पड़ेगा। सबने इस स्थिति को न आने देने का संकल्प करके कार्य करना आरम्भ किया। नेताओं में विचार विनिमय हुआ। हरिजन प्रतिनिधि अम्बेदकर को सन्तुष्ट करना था। इधर गांधी की दशा बिगड़नी प्रारम्भ हो गई थी। टैगोर मिलने आये। एक एक क्षण महत्वपूर्ण था। सारा राष्ट्र स्तब्ध होकर, किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर, चिंता से जड़ सा होकर, देख रहा था प्रतीक्षा कर रहा था कि अब क्या होगा। समाचार जानने की उत्सुकता राष्ट्र को जितनी इस समय थी उससे अधिक सम्भवतः कभी नहीं थी। कोई भी माता अपने मरते हुए पुत्र की दशा और परिणाम जानने के लिये उतनी उत्सुक न रही होगी जितनी भारतमाता इस समय अपने इस लाल का समाचार जानने के लिये थी। कलकत्ता का कालीघाट मन्दिर बनारस का राम मन्दिर, दिल्ली के अनेक मन्दिर प्रयाग के एक दजन मन्दिर, इस प्रकार हजारों मन्दिर हरिजनों के लिये भी खुल गये। बम्बई में जनता का निर्वाचन हुआ और लगभग ३०,००० लोगों ने अस्पृश्यता निवारण के पक्ष में वोट दिया। स्वरूप रानी नेहरू, बनारस के प्रिंसिपल ध्रुव, आदि ने जनता के सामने हरिजनों के हाथ से बनाया परोसा भोजन स्वीकार किया।

देश भर मे प्रस्ताव पास हुए। अनशन के प्रथम सप्ताह म देश भर में हरजनोद्धार की जो स्फूर्ति व्याप्त हुई और जितना काम हुआ उतना अनेक वर्षों म अनेक समाज सुधारक भी कभी नही कर सके थे। गाधीकी प्रेरणा से कभी राजनीतिक महत्वा काक्षा के कारण देश झकझोर उठता था तो कभी समाज सुधार की दृष्टि से सारे देश मे भयानक उथल पुथल मच जाती थी। गाधी जी ने कितनी 'आवर-हालिंग' की है !! पूना पैक्ट के बाद २६ सितम्बर को यह उपवास समाप्त हुआ। विलिंगडन सरकार फिर भी नरम न हुई। वह इनकी लाश को जलाने का प्रबन्ध कर रही थी। २६ अप्रैल, १८३३ को इन्होंने फिर २१ दिन के उपवास की घोषणा का। ८ मई को सरकार ने इन्हें छोड़ा। यह वह दिन था जब गाधी जी का उपवास प्रारम्भ होना था। २६ मई का यह उपवास समाप्त हुआ। ८ मई का ६ सप्ताहों के लिये सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित कर दिया गया था। २६ जुलाई को व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आदोलन प्रारम्भ किया गया। ७ अप्रैल १९३४ को यह आन्दोलन पूर्णत स्थगित कर दिया गया। १८३४ ई० की १५ वी जनवरी का बिहार का कुप्रसिद्ध भूकम्प आया जिसके पीड़ितो की सहायता सारे देश के लोगो ने मुक्त हृदय से की थी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अब देश एक व्यक्ति या एक प्रात क दृष्टि कोण से न सोचकर समस्त राष्ट्र की दृष्टि से सोचता और अनुभव करता है। हृदय का स्पन्दन अखिल भारतीय हो गया। इस कार्य को राजेन्द्र प्रसाद जी के नेतृत्व म गर सरकारी लोगों ने जिस ढग से सफलता पूर्वक सपन्न किया उससे यह स्पष्ट हुआ कि भारतवासी किसी भी कार्य करने मे अक्षम नहीं हैं।

इसके परिणामस्वरूप गाधी जी ने देश की यह इच्छा प्रकट की कि राजेन्द्र बाबू राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति बनें। इस प्रकार देश राजेन्द्रबाबू के प्रति अपनी कृत ज्ञता प्रकट करना चाहता था। इस अभिव्यक्ति का स्वरूप कितना भव्य था इसका चित्रण राजेन्द्रबाबू ने इस प्रकार किया है बहुत धूमधाम से मैं बम्बई पहुंचा। जहाँ जहाँ रास्ते म गाड़ी ठहरी स्वागत का हजूम रहा। फूलमालाओं स डिब्बा भर गया। रगबिरगी चीजें लोगों ने भेंट कीं। बम्बई स्टेशन पर इतनी भीड थी कि मुझे उतार कर सवारी तक ल जाना कठिन था। लोगो ने चार घोडों की गाड़ी पर चढ़ा कर मुझे जुलूस में ले जाने का प्रबन्ध किया था जुलूस बहुत लम्बा था। शहर की सजावट भी अनोखी थी। लोगों की भीड़ भी बड़ी ही थी। तमाम दुकान सजाई गई थीं। जगह-जगह लोगों न सुन्दर महराबें बनाई थीं। बाजार म जहाँ जिस चीज की मुख्यता थी वहाँ उसी चीज की प्रधानता सजावट और मेहराब म नजर आई।
मैंने सुना कि उस महराब में जो बहुत ही विशाल थी लाख रुपये से अधिक की

(नई की) गाठें लगा दी थी। रास्ते भर में अनगिनत स्थानो पर लागा न फूल, माला, आरती इत्यादि से स्वागत किये। न मालूम कितनी ही चीजें भेंट दते गये। गाडी चीजो से बिलकुल भर गई थी जुलूस म प्राय तीन घन्टे से अधिक लगे।'[1] १९३४ स १९३९ तक देश ने गांधी जी के नतृत्व मे हरिजनोद्धार, ग्रामोद्योग, चर्खा, स्वास्थ्यप्रद भाजन स्वास्थ्य गो सेवा, ग्राम स्वातन्त्र्य और ग्रामोद्धार, राष्ट्रभाषा हिन्दी, लघु उद्योगों की प्रधानता, औद्योगीकरण के दोष, रचनात्मक कार्यक्रम, आदि पर ही जोर दिया।

(२८) प्रथम चुनाव —कांग्रेस के १९३३ के दिल्ली वाले अधिवेशन म एक बात यह स्पष्ट हो गई कि अब कुछ लोग फिर इस सत्याग्रह के कार्य क्रम से असंतुष्ट होकर चुनावो मे भाग लेकर सरकार के भीतर घुस कर काम करना चाहते हैं। राजेन्द्र बाबू ने लिखा है यह खेद क साथ लिखना पडता है कि चुनावो के अनुभव ने मुझे यह मानने पर मजबूर कर दिया है कि बहुतेरे कांग्रेसी कार्यकर्ता अपनी सेवाओ का मूल्य आकने लगे हैं। उसके बदले म कुछ न कुछ खोजने लगे हैं, चाहे वह असेम्बली या कौंसिल की मेम्बरी हो चाहे वह जिला बोर्ड या म्युनिसिपल बोर्ड की सदस्यता या कोई दूसरा पद हो चाहे और कुछ न हो तो कांग्रेस कमेटियो क अन्दर ही कोई प्रतिष्ठा और अधिकार का स्थान हो।'[2] अखिल भारतीय स्वराज्य पार्टी फिर से जीवित हुई। १९३४ मे भारत सरकार के १९३५ वाले ऐक्ट का विवरण प्रकाशित हुआ। कांग्रेस इसका पूर्णत अस्वीकार करने क पक्ष म थी। जिना इसके प्रान्तीय सरकारों वाले भाग मान का स्वीकार करने के पक्ष मे थे। यही हुआ। इसका संघीय भाग कभी भी कार्यान्वित न हुआ। १९३६-३७ म प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओ के लिये चुनाव हुए। कांग्रेस और लीग दोनो ने भाग लिया। आम निर्वाचन क्षेत्रों मे कांग्रेस की बहुमत से विजय हुई। साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रो म लीग जीती। मद्रास, बिहार उडीसा, मध्य प्रान्त, संयुक्त प्रान्त, बम्बई और उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त म कांग्रेस के मन्त्रि मण्डल बने। सिन्ध और आसाम मे संयुक्त मन्त्रि मंडल बना। कांग्रेस ने उन प्रान्तो म, जहा उसका स्पष्ट बहुमत था, लीग के साथ मिलकर मन्त्रि मंडल बनाना इनकार कर दिया। यह एक बडी भारी ऐतिहासिक भूल थी जिसका परिणाम बडा भयानक हुआ। सरकार वैसे ही मुसलमानो को भडकाना चाहती थी, उसके संकेतो पर चलने वाले स्वार्थी लोग भी इस आग को भडकाये रखना चाहते थे, कांग्रेस की इस भूल ने भी यह अवसर दिया कि लोगो मे यह भावना भर दी जाय कि

१ 'आत्मकथा', पृ० ४८०-४८१

२-"आत्मकथा" पृ०५२८।

आजादी पाने पर हिंदू प्रधान कांग्रेस मुसलमानों को इसी तरह दबा कर रखेगी। इस्लाम खतरे में है। मुसलमान सचमुच भयग्रस्त हो गया और चिढ़ गया। इस मनोवृत्ति के दुष्परिणाम से आज तक भारत भुगतता आ रहा है। साम्प्रदायिकता की आग पूरी तरह से जला दी गई। जो मुसलमान कांग्रेस में थे उन्हें जातिद्रोही और कांग्रेस के हाथ की कठपुतली कहा गया। लीग ने अपने को मुसलमानों का एक मात्र प्रतिनिधि घोषित किया और सामान्य मुस्लिम जनता ने निर्वाचनों के समय इसी घोषणा की पुष्टि की। अस्तु, मन्त्रि मंडल बने। जहां तक हुआ कांग्रेसी मन्त्रियों ने असाधारण परिश्रम योग्यता, कुशलता और धैर्य के साथ काम किया। १९३६–३७ तक देश जहां तक प्रगति कर गया था वहां पहुंच कर इस बात की आवश्यकता होनी स्वाभाविक थी कि चूंकि निकट भविष्य में भारतवासियों को शासन संभालना ही है अतः उसका भी एक अनुभव हो जाना चाहिये। १९३५ के ऐक्ट ने यह अवसर दे दिया। इसकी उपलब्धियों के विषय में विचार करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि नए ऐक्ट से कोई भी लाभ नहीं हुआ।[१] ॥ मनोवैज्ञानिक परिवर्तन असाधारण हुआ सारे देश में चेतना की एक लहर दौड़ गई। शहर की अपेक्षा देहातों पर यह अधिक पड़ा। शहरों के औद्योगिक केन्द्रों के मजदूरों में भी यही प्रतिक्रिया हुई। एक स्वस्थ वर्ग की भावना थी मानो जनता को कुचलने वाला बहुत बड़ा बोझ हट गया हो और बहुत आराम चैन मिले। बहुत समय से दबी हुई सामूहिक शक्ति को मुक्ति मिली। कम से कम कुछ समय के लिये पुलिस और खुफिया विभाग का डर गायब हो गया। गरीब से गरीब किसान में भी आत्म सम्मान और आत्म विश्वास की भावना बढ़ी। उसे पहली बार अपने महत्व की अनुभूति हुई। उन्होंने समझा कि वे सरकार के निर्माता हैं। सरकार का आतंक खत्म होगया। जैसे एक बार रूस की कोई सामान्य बुढ़िया जार को देखकर चिल्ला पड़ी हो– अरे! यह तो हमीं लोगों की तरह एक आदमी है"–वैसे ही जनता ने कौतूहल के साथ देखा कि सरकार कोई अनजान दैत्य नहीं है। जिनको हमने देखा है जाना है, जिनके साथ रहे हैं और जो हम जैसे ही हैं वे ही सब सरकार हैं। सामीपने का भाव पैदा हुआ। वह रहस्यमय प्रान्तीय सेक्रेटेरियट जहां कोई पहुंच नहीं सकता था झांक नहीं सकता था क्योंकि चेतना को आतंकित कर देने वाला रोबदार पहरा वहां था, जहां से ऐसी आज्ञाएं निकलती थी जिनको कोई चुनौती नहीं दे सकता था अब वहां अचानक ही झुंड के झुंड लोग घूम रहे हैं। जहां चाहते हैं घूमते हैं। मिनिस्टर का कमरा झांका। पुरानी मशीनरी हट गई। पुरानी कसौटियां बेकार पड़ गई। यूरोपीय पोशाक का अब कोई महत्व

१–'डिस्कवरी आफ इण्डिया'–पृ० ३७३–७४।

नही रह गया था। असेम्बली के मेम्बरो और शहर-देहात से आये हुए आदमियो म पहचान करना कठिन हो गया।

(२९) द्वितीय महायुद्ध — ऐसे वातावरण और मनो विज्ञान की सृष्टि करके काग्रेस के प्रथम मन्त्रिमडल फिर १९३९ मे बाहर आ गये क्योकि १९३९ म द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होगया था और सरकार ने भारतवासियो की राय लिये बिना ही भारत को युद्ध में घसीट लिया था। यह भारत का घोर अपमान था। उसकी पराधीनता का द्योतक था। काग्रेस का दृष्टिकोण यह था कि द्वितीय महायुद्ध और उसके साथ भारत के सम्बन्धो की रूपरेखा का निर्णय स्वय भारतीयो के द्वारा किया जाना चाहिये। क्रियात्मक रूप से अग्रेज का कथन था– तुम गुलाम हो। तुम्हे स्वतन्त्र रूप से निर्णय करने का क्या अधिकार हम तुम्हारे मालिक हैं। हम जो निर्णय कर दें वही तुम्हारा निर्णय। फिर वही आजादी और गुलामी का प्रश्न। फिर वही सघर्ष अनिवार्य होगया। और इसकी अनिवार्यता का जन्म और उसका अनुभव तो उसी समय हो गया जब इगलड के भाग्य विधाता के रूप म भारतीय स्वतन्त्रता का सबसे बडा शत्रु चर्चिल वहा का प्रधान मन्त्री बना। इस सघर्ष का रूप गाधी के द्वारा कल्पित, इसका उपयुक्त समय परिस्थितियो के द्वारा निर्धारित और इसकी व्यवहारिक रूपरेखा अगरेज और उनके पिट्ठुओ द्वारा निर्मित होनी थी। इस युग मे भारत देश के अन्दर परस्पर विरोधी प्रवृत्तिया और विरोधी शक्तियो का विकट टकराव होगया।

(३०) नाटक की चरम सीमा —१९०० से १९४० ई० के बीच भारतवासियो के रगमच पर विधाता जो नाटक खिलवा रहा था उसकी चरम सीमा १९४० से १९४५ ई० की अवधि मे अभिनीत हुई। इस अवधि म भारत के अन्दर भारतीयो को विकट चिन्तन और मनन करना पडा, विकट तनाव और असामान्य उत्तेजनाओ का अनुभव करना पडा और मरणान्तक कष्ट उठाने पडे। इस अवधि मे भारत का न गरीब प्रसन्न था, न अमीर, और न अगरेज ही। और, चिढ खीझ और असहायता की विकटतम चुभन प्रताडित किये थी। भारत के रगमच पर प्रत्येक प्रवृत्ति अपनी पूर्ण क्षमता और कुशलता से खुलकर खेली। स्वातन्त्र्य मनोवृत्ति का सघर्ष गुलाम बनाये रखने की प्रवृत्ति से हुआ, क्रातिकारी प्रकृति वालो का सघर्ष पराधीनता प्रियता से हुआ, राष्ट्रीयता का सघर्ष साम्प्रदायिकता से हुआ, मानवता प्रेमियो का सघर्ष एकमात्र स्वार्थप्रेमियो से हुआ, उदारता और परिवर्तनशीलता का सघर्ष कट्टरता और हठवाद से हुआ, अमृत की सजीवनी तरलता का सघर्ष चट्टान की जड कठोरता से हुआ, प्रेम का सघर्ष कूटनीति से हुआ। एक ओर अगरेज था, एक ओर

चर्चिल था एक ओर पुराने सेवक और राजभक्त जमींदार और तालुकदार, आदि थे, एक ओर जिना और उनके अनुयायी थे, एक ओर कम्युनिस्ट थे, एक ओर सुल्-छिप, छाट-चद, सफेद और काले गुडे थे, और इन सबके बीच मे खडा था प्रदीप्त भाल एवं सस्मित आननवाला ७० वर्षीय वृद्ध—७० वर्ष का अभिमन्यु जो अन्ततोगत्वा भारतमाता रूपी द्रौपदी की रक्षा करते-करते शहीद हो ही गया। अब तक अंगरेज यह जान गया था कि उसे अब भारत मे अधिक दिनो तक नही रहना है। लुई फिशर ने लिखा है कि वायसराय की परिषद् के होम मेम्बर सर रेजिनाल्ड मैक्सवेल ने उनसे कहा था कि युद्ध की समाप्ति के दो वर्षों के बाद ही अंग्रेज भारत से चले जायगे। स्वयं वायसराय ने भी ऐसी ही धारणा प्रकट की थी।'[1] आश्चर्य होता है कि इतना सब जानते हुए भी अंग्रेजो ने भारत मे इतनी खून खराबी होने दी। चर्चिल-एमरी-लिनलिथगो ने यदि थोडी भी उदारता और समझदारी से काम लिया होता तो १९४२ का आदोलन न होता, और वेवल-माउंटबेटन की सरकार के लोग यदि ईमानदारी, सच्चाई निष्पक्षता और तत्परता से काम करते तो न बगाल का अकाल पडता और न आई० एन० ए० होती, न कलकत्ता-काण्ड होता, न नोआखाली-काण्ड, न बिहार काण्ड होता, न गढमुक्तेश्वर-काण्ड न लाहौर काण्ड होता न अमृतसर और रावलपिंडी काण्ड। ये राजसत्ता पर अधिकार जमाये थे किन्तु जब कुछ सख्त कार्य करने का मौका आता था तब "हम तो अब जाने वाले हैं, हमे क्या करना है" वाली मनोवृत्ति दिखाते थे। एक बार भी ऐसा न किया कि जिस मन्त्रिमडल जिस मन्त्री जिस वर्ग एव जिस व्यक्ति का दोष होता उसे सबक सिखा देते। उदासीनता दिखाकर, उनका महत्व स्वीकार करके, इन्होने सदैव उनको प्रोत्साहित किया। इन सबके पीछे चर्चिल था। जिना शायद आखिरी समय तक तैयार न होता यदि उसे माउंटबेटन ने चर्चिल का गुप्त पत्र अपने भवन मे आधी रात को एकान्त मे न दिखाया होता। सो उसी के हाथ में था। वही भारतशत्रु था। विधि की विडम्बना, लीलामय की लीला, कि भारत की स्वाधीनता प्राप्ति के लिये जब पाच वर्ष रह गये तब भारतीय स्वतन्त्रता के सबसे बडे शत्रु को भारत पर राज्य करने, मनमानी करने और भारतीय स्वतन्त्रता के निर्माताओ पर अमानुषिक अत्याचार कर सकने का अखड एवं अबाध अधिकार मिला। कौन जानता है कि भारतीय स्वतन्त्रता को भारतीयो के निर्दोष रक्त से स्नान शोषण रूप मे भीगा हुआ देखकर भी चर्चिल और जिना को तृप्ति मिली या नही !! युद्ध के प्रथम चरण मे सरकार ने यह घोषणा की कि केन्द्र मे सघ-सरकार की योजना भग कर दी गई। लीग ने

१—'दि लाइफ आफ महात्मा गाधी, द्वितीय भाग पृ० १४७।

यह मांग की कि उसकी सहमति के बिना भारत का कोई भी संविधान स्वीकार न किया जाय। १६४० में उसकी यह मांग स्वीकृत घोषित की गई। कांग्रेस ने यह मांग की कि भारत का स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित किया जाय और वर्तमान समय में इस पद का यथासंभव अधिकतम अंश तक विस्तार किया जाय।

वायसराय ने घोषित किया कि युद्ध के पश्चात् सारी संवैधानिक योजना पुनः प्रचलित की जायगी और युद्ध काल में एक सलाहकार समिति नियुक्त की जायगी जिसमें भारत के विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व दिया जायगा। कांग्रेस मन्त्रि मण्डलों ने त्याग पत्र दिया और जिन्ना ने सारे भारत में 'मुक्ति दिवस मनवाया। १६४० में जिन्ना ने पाकिस्तान की मांग की। उधर हिटलर विजय पर विजय प्राप्त करता जा रहा था। गांधी जी ने यह कहा कि हम ब्रिटेन के विनाश में अपनी स्वतन्त्रता नहीं खोजते, उसके साथ हमारी नैतिक सहानुभूति है किन्तु सक्रिय सहायता स्वतन्त्रता की घोषणा के बिना असम्भव है। कांग्रेस ने कहा कि यदि स्वतन्त्रता का आश्वासन मिल जाय तो हम हर तरह से सहायता करेंगे। सरकार ने इस पर कोई ध्यान न दिया और १६४० में सुभाष बोस गिरफ्तार कर लिए गये। सितम्बर १६४० में व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ किया गया। दिसम्बर, १६४१ में जापान भी युद्ध में कूदा। उसकी सफलताओं ने सबको चकित कर दिया। अंगरेज बुरी तरह से हारने लगे। १६ मार्च १६४२ को रंगून भी जापान के अधिकार में आ गया। अब युद्ध भारत के द्वार पर आ गया था। उधर उत्तरी अफ्रीका में धुरी राष्ट्रों की विजय वाहिनी का स्वागत अरब सागर करने को तैयार होने लगा। अफ्रीका से जापान तक का भाग धुरी राष्ट्रों के अधिकार में आने की संभावना हो गई। भारतियों का अंग्रेजों पर से विश्वास उठ गया। जन भावना थी कि यह तो होशियारी में पीछे हटना मात्र जानते हैं। बर्मा से भाग कर आये हुए भारतीय अंगरेजों की वीरता के कारनामे विलख विलख कर सारे देश में फैला रहे थे। जब भारत पर जापान का आक्रमण होगा तब ये अंगरेज भारत की सम्पत्ति और उसके साधनों को नष्ट भ्रष्ट करते हुए पीछे हटते हटते भारत जापान को सौंप देंगे। भारत विनाश की यह लीला भारतीय चुपचाप दर्शक बने देखते रहे क्या ! अन्तर्राष्ट्रीय दबाव पड़ने पर क्रिप्स संवैधानिक सुधारों की एक नई आयोजना लेकर भारत आये और चर्चिल की दुर्नीति के कारण सफलता की पहली सीढ़ी पर पहुंचते-पहुंचते असफल होकर वापस लौट गये। उनके जाने पर सारी आशाएं समाप्त हो गई। फिर वही भय, आशंका अनिश्चय और तनातनी का वातावरण हो गया। जापानी आक्रमण की संभावनाएं बढ़ती जा रही थीं। बड़ा विकट प्रश्न उपस्थित हो गया। यह विश्वास पक्का हो गया था कि अंग्रेज भारत को नहीं बचा

सकत । जनता का सकल्प ही भारत को बचा सकता है । समय नाजुक था । कांग्रेस म लोग अथवा कोई भी यदि ऐसी बात कहता जिससे युद्ध-सचालन म बाधा पडता, तो वह विद्रोही घोषित किया जाता । देश की रक्षा के लिए कोई भी स्वतन्त्र उपाय सोचा नहीं जा सकता था । सरकार अब भी भारत को अपनी सम्पत्ति के रूप म ही देखना चाहती थी । वह जापानियों को भले ही न दबा सके किन्तु उसके पास इतनी शक्ति थी कि भारत की राष्ट्रीयता को पीस दे—कम से कम वह तो नही सोचना चाहती थी । महात्मा गांधी जी देश को भारत की रक्षा का भार उठाने की चेतावनी दे रहे थे । भारत समझता था कि इस बार चूका तो न मालूम कब तक के लिए गया। भारत की आत्मा ने मांग की कि अगरजो ! 'भारत छोडो" और चल जाओ। भारत की तमाम् प्रवृत्ति ने कहा, "भारत को बाट दो और चले जाओ ।' कांग्रेस ने गांधी जी को अपना निर्देशक मान लिया और ८ अगस्त को गांधी जी ने भारत से कहा कि अब से भारत का प्रत्येक व्यक्ति अपने को स्वतन्त्र समझे । आगे आखिरी और सबसे भयानक एव निश्चयात्मक संघर्ष होता है किन्तु उसकी रूपरेखा मैं बाद म बता ऊँगा । पहले वायसराय से मिलूँगा । सरकार ने पहले हमला कर दो' वाली नीति अपनाई । सुबह होते होते सरकार ने नेताओं को गिरफ्तार कर लिया । जनता समझ नही पाई कि क्या करें । तभी एमरी के एक वक्तव्य ने उसे तोड फोड का कार्यक्रम सुझा दिया । इस प्रकार "भारत छोडो आन्दोलन प्रारम्भ हुआ । ऐसा लगा कि जैसे किसी ने दबी हुई स्प्रिंग को छोड दिया हो । शहरो म धूम मच गई । जुलूस निकले। सरकारी इमारतो पर राष्ट्रीय झण्डे फहराये गये यद्यपि इस काय म न मालूम कितने वीर बालक और युवक गोलियो से भुन गये । कचहरियो को बन्द कर देना पडा। सवारियो का चलना मुश्किल हो गया । धडाधड गिरफ्तारिया होने लगी । जेलो म जगहो की कमी हो गई। कैम्प जेलें बनाई गई । स्कूल कालेजो, और विश्व विद्यालयो के छात्रो ने जुलूस निकाले और गोलिया खा-खाकर पुलिस के सामने स्वातन्त्र्य भावना की आन-और शान रक्खी । जनता काबू से बाहर हो गई । फौज और पुलिस की मदद ली गई । तारे काटे गये । थाने जलाये गये । रेल्वे स्टेशनों, बसो, डाक खाना आदि को आग की लपटों की भेंट कर दिया गया । रेल की पटरिया उखाड डाली गई । रेल्वे लाइन के आसपास के गावो को असाधारण विपत्तियो और सामूहिक जुर्माना से सरकार ने तबाह कर दिया। स्टीमरो का चलना बन्द हो गया। सडको पर बडे बडे पेडों को काट कर गिरा दिया गया । पुलो को भी तोडने का प्रयत्न किया गया । कही-कही से ब्रिटिश राज्य समाप्त कर दिया गया और स्वतन्त्रता घोषित कर दी गई । सरकार ने गोलियो की वर्षा कर दी । फौज ने अपने आने-जाने के ——े म पडने वाले गावो को तहस-नहस कर डाला । गावो म आग लगा दी गई ।

भागने वालों को संगीनों से छेद डाला। बच्चों को उछाल कर संगीनों पर लोका गया। नारियों और पुरुषों पर ऐसे ऐसे अत्याचार किये गये कि दानवता भी रो उठी। सरकार के पास जापान से लड़ने के लिए जो सामग्री थी उसका उपयोग भारत को पीस डालने के लिए किया गया। न्याय अंधा हो गया। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, "इस आंदोलन के पीछे इस उत्कट भावना की प्रेरणा थी कि अब हम विदेशी निरंकुश शासन में रहना और उसको सहन करना किसी भी भांति सम्भव नहीं है।"[1] आगे चलकर उन्होंने लिखा है "एक बार फिर वही पुराना दमन चक्र चला। १८५७ के बाद पहली बार १९४२ में विशाल जनता ने भारतवर्ष में महान् अंग्रेजी शासन को फिर निःशस्त्र शक्ति से चुनौती दी।"[2]

यह भारतवर्ष की अगस्त क्रांति कही जा सकती है। कुछ लोगों ने इसे निरर्थक कहा है। हो सकता है कि यह मूर्खता ही रही हो किन्तु इससे देश का उत्कट स्वातंत्र्य प्रेम निःसन्देह रूप से अभिव्यंजित होता है। सरकार का दमन चक्र तो बुझते हुए दीपक की आखिरी लहर थी—पूरे का पूरा गांव कोड़ों की मृत्यु पर्यन्त मार की सजा से दंडित हुआ। २१००० की मौत !! १ लाख या २६ लाख का जुर्माना !!! भारत के स्वातंत्र्य संघर्ष के इतिहास में "भारत छोड़ो" आन्दोलन एक बहुत ही महत्वपूर्ण मोड़ है। यह एक नारा ही नहीं वरन् आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये संघर्षशील भारत की आत्मा का सबल सिंहनाद था। इसको अधिकारियों ने कुछ समय के लिये दबा जरूर लिया था किन्तु इस आंदोलन ने जिस भावना जिस आवेश को प्रबुद्ध कर दिया था वह निरन्तर गतिशील रहा। राजनीतिक बुद्धिमत्ता के अनुमान का तराजू को अन्तरात्मा ने एक बार फिर गलत कर दिया। उसकी भविष्य वाणी सही सिद्ध हुई। पांच ही वर्षों के अन्दर अंग्रेजों को भारत छोड़ने का कार्यक्रम स्वयं बनाना पड़ा। बन्दी गांधी स्वतन्त्र भारत की आत्मा का प्रतीक बन गया। जो गांधी जापानियों के आक्रमण के प्रतिकार की प्रेरणा से सक्रिय हो रहा था उसे अंगरेज सरकार प्रसार के सामने जापानियों पिट्ठू और देश के पांचवें दस्ते के रूप में रख रही थी। दक्षिण अफ्रीका के फील्ड मार्शल स्मट्स तक ने इस मनोवृत्ति को 'शीयर नानसेन्स (मूर्खता मात्र)' कहा था। अंग्रेज कांग्रेस और गांधी को इस आन्दोलन का उत्तरदायी ठहरा रहे थे। इस पर "भगवान का निर्णय" प्राप्त करने के लिये गांधी ने २१ दिनों का उपवास किया जो चिन्ताजनक स्थिति पर पहुंच कर भी सफलता पूर्वक समाप्त हो गया। अंग्रेज

१—"दि डिस्कवरी आफ इण्डिया", पृ० ४६१।

२—"दि डिस्कवरी आफ इंडिया", पृ० ४६६।

इस उपवास में अन्त में भी गांधी मरा न जना सके। सारी तयारियां बेकार हो गई। इसी समय बर्नार्ड शा ने कहा था कि हमारे इस काम से हिटलर के विरुद्ध हमारे अभियान की सारी नैतिकता खोखली पड़ जाती है। इस अवसर पर देश ने गांधी के स्वास्थ्य और जीवन के प्रति जो जिज्ञासा, जैसी उत्सुकता, जैसी अनन्य भक्ति प्रदर्शित की उससे अंगरेजों को कुछ समझ जरूर आई होगी। सन् १८४३ में बंगाल का अंग्रेजी राज्य को एक और दन मिली। यह देन थी १६४३ का अकाल जो सरकार की दुर्नीति के परिणामस्वरूप थी। इसने यह सिद्ध कर दिया कि भारत में अंगरेजों के अतिरिक्त अभी एक ऐसा वर्ग भी है जो भोगवासना और सम्पत्ति की कामना की पूर्ति के लिये भारत की निरीह जनता को भयानक से भयानक विपत्ति में पाकर भी अपनी लाभ और लाभवृत्ति को छोड़ने के लिए तयार नहीं। जब मानव कमरे के अन्दर से भी अनाज के कण पाने के लिये कुत्तों से लड़ रहा था, जब एक मुट्ठी चावल के लिये पिता अपनी पुत्री के शुष्क शरीर को भी सेठों की जहरीली आग में झोंकने को मजबूर था, जब भोजन के लिए मा-बच्चे में चोरी होती थी जब अशक्त पिता के सामने अशक्त पुत्र की आंख कौवे निकाल ले जाते थे और पत्नी का शरीर कुत्ते और सियार काट-काट कर खाते थे तब ये नर राक्षस अपनी कोठियों और खत्तियों को चावल के बोरों से, तिजारियों को सिक्कों और नोटों से और मन को नारकीय उत्तेजनाओं से भरते जा रहे थे। इस युग के भारत का चित्रण रामकुमार वर्मा ने इस प्रकार किया है, "वस्त्र के लिए हमने अपना व्यक्तित्व दे दिया है अन्न के लिये हमने अपनी आत्मा बेच दी है जहां आत्मा के ऊपर भूखा शरीर डट गया है जहां क्रय-विक्रय के कांटा पर रूप और श्रृङ्गार तुल गया है, वहां ऐसी परिस्थितियों में मानवता कराह रही है'।[1] भारत की आत्मा तड़प उठी। अंगरेजों के दमन से रक्त-स्नात, आहत भारत ने पूरी निष्ठा, सहानुभूति और उदारता के साथ पीड़ितों की सहायता की। ऐसे समय में चर्चिल एमरी की झूठ और मक्कारी ने अंगरेजों की शराफत और ईमानदारी पर से हमारा विश्वास हिला दिया। बंगाल का आर्थिक ढांचा ढह गया। सारे भारत में जो हो रहा था उसी का भयानक रूप बंगाल में अभिव्यक्त हुआ। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ३१ वें वार्षिक अधिवेशन में साहित्यसभापति-पद से भाषण करते हुए उक्त विद्वान ने कहा था, " आज के जीवन की असुविधाओं ने तो उस मानसिक भोजन की अपेक्षा शारीरिक भोजन की ओर अधिक यत्नशील बना दिया है। युद्ध की लपटों में हमारी आवश्यकताएं और भी तृषित हो उठी हैं'। इसी बीच भारत में अमेरिका की सेनाएं आई। इनके-

१—'विचार दर्शन", पृ० १५३।

अमरीकी सैनिक ब्रिटिश नौकरशाही के रंग-ढंग और चाल-ढाल से अपरिचित थे। वे जिस मुक्तभाव से अपने देश में रहते थे वैसे ही भारत में भी रहने लगे। व्यवहार में किसी प्रकार का ऊँच और नीच का, शासक और शासित का, गरीब-अमीर का तथा देशी-विदेशी का चुभने वाला भेद-भाव नहीं। सरकारी रोब-रुतबे को इसके कारण भी बड़ा धक्का लगा। अक्तूबर, १९४३ में लिनलिथगो गये। वेवल आये और देखा कि नेताओं के सहयोग के बिना असंतुष्ट और दुर्भिक्षग्रस्त भारत से सहयोग नहीं प्राप्त किया जा सकता। गांधी जी बिना शर्त छोड़े गये। जेल से छोड़े-जाने पर गांधी जी का स्वागत जिस भारतवर्ष ने किया वह दीन-हीन पीड़ित अवश्य था किन्तु अपराजेय रहा। सरकार का दमन पूरे जोरों पर था। छिपे हुए कुछ कार्यकर्त्ता अब भी 'भारत छोड़ो' आंदोलन चला रहे थे। राजनीतिक तनाव और गतिरोध बना हुआ था। गांधी जी ने जिन्ना से बातचीत करके साम्प्रदायिक समस्या का कुछ हल निकालना चाहा किन्तु सफलता न मिली। वेवल कुछ राजनीतिक हल निकालने को कटिबद्ध थे। उन्होंने धीरे-धीरे नेताओं को छोड़ना प्रारम्भ किया। इन छूटे हुए नेताओं का स्वागत जनता ने जिस असाधारण उत्साह प्रदर्शन के साथ किया वह इस तथ्य का द्योतक है कि अंग्रेजों ने जिस भावना को दबा रखा है वह भावना तूफानी नदी है। जिस दिन उभरेगी उस दिन साम्राज्यवाद बह जायगा। जापानी आक्रमण का भय समाप्त हो गया। इसी वर्ष आजाद हिंद फौज के तीन बंदियों पर दिल्ली के लाल किले में मुकदमे चले। इसी प्रसंग में सुभाष बोस के उन प्रयत्नों पर भी प्रकाश पड़ा जो उन्होंने जर्मनी और जापान में भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये किये थे। आजाद हिंद फौज उसी का परिणाम थी। पट्टाभि सीतारामैया ने लिखा है, 'भारत में ऐसा शायद ही कोई व्यक्ति हो जिसका दिल फौज के रोमांचकारी अनुभवों तथा साहसिक कार्यों को जानकर हिल न उठा हो। जज एडवोकेट की अदालत में जिन घटनाओं का बयान किया जाता था उन्हें भारत की साक्षर जनता बड़ी ही उत्सुकता से नित्य ही पढ़ती थी और निरक्षर जनता बड़ी उत्सुकता से सुनती थी। इन मुकदमों का विवरण सुनने के लिये निजी तथा सार्वजनिक रेडियो के आसपास भीड़ लगी रहती थी ... एक समय तो ऐसा जान पड़ता था कि कर्नल शाहनवाज, कर्नल सहगल और कर्नल ढिल्लन की ख्याति राष्ट्रीय नेताओं की ख्याति को भी ढक लेगी ... अहिंसात्मक लड़ाइयों की याद धुंधली बना देगी[१]।' गांधी ने देश की राजनीतिक निराशा एवं अवसाद को समाप्त किया और आजाद हिंद सेना के मुकदमों ने फिर से उत्साह उमंग को उत्तेजना दी। वेवल के प्रयत्नों ने अंग्रेजों के

१—"कांग्रेस का इतिहास", पृ० ५३६—५४०।

प्रति व्याप्त असन्तोष और क्षोभ को कम कर दिया। जुलाई, १९४५ में इंगलैण्ड में अनुदार दल हार गया और चर्चिल महोदय का स्थान एटली पैथिक लारेंस ने लिया। ग्रहण काल समाप्त हुआ। आशा का सूर्य चमका। दृष्टिकोण बदला।

(३०) रक्त रंजित स्वतन्त्रता—इसके बाद बहुत कुछ हुआ। अच्छा भी हुआ और बुरा भी हुआ। जो-कुछ बुरा हुआ उसका उत्तरदायित्व इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री, भारत-सचिव, वायसराय और राष्ट्रीय नेताओं पर नहीं है। इसके लिये उत्तर दायी है सड़ी गली पुरानी निकम्मी अंगरेज नौकरशाही और जिना का जहरीला स्वार्थपरक अमानवीय दृष्टिकोण। कांग्रेसी नेता असहाय हो गये। वे अंग्रेज नौकरशाही और जिना की साम्प्रदायिकता के विष को उभाड़ने की कल्पाहरी चक्कियों के पाट में पिस गये। इसके बाद हमारे नेता शान्ति और मानवता के लिये तड़पे। गांधी का सात्विक हृदय छटपटाया गुमराह जनता की सरेआम हत्याएं हुईं। इस निर्दोष रक्त की सरिता के बीच से कटे छंटे पाकिस्तान और बंटे फटे भारत का नक्शा उभरा। बेगुनाहों के खून से सना हुआ ताज जिना ने पहना। भारत ने उसे माउंटबेटन को पहना दिया। इसी नारकीय दृश्य के बीच युग के सबसे बड़े महापुरुष गांधी की असाधारण, अलौकिक एवं तेजस्वी मूर्ति का दर्शन भी सम्भव हो सका। स्वतन्त्रता देवी के दर्शन हुए। तभी हमारी कमजोरियां हमारे बापू को खा गई। प्यारेलाल ने लिखा है "सभी वर्गों और सभी प्रकार की जनता में निजी हानि की भावना पैदा कर। वाली और इतने व्यापक क्षेत्र में दुःख एवं शोक की भावना उभार देने वाली किसी व्यक्ति की ऐसी मृत्यु शायद ही कभी हुई हो जैसी गांधी की हुई। भारतवर्ष के कुछ लोग तो इस दुःखद समाचार के धक्के से ही मर गये और कुछ लोगों ने यह मानकर कि अब उनके लिये संसार में कुछ रह ही नहीं गया आत्म हत्या करने का प्रयत्न किया श्रीमती पल बक ने यह समाचार सुनकर कहा था कि एक बार फिर ईसा सूली पर चढ़ा दिया गया। सरदार पटेल की नीति के परिणाम स्वरूप प्रायः सभी देशी रियासतें भारत में मिल गई। आजादी पाने के बाद देश के नेता जब मिले तो भारत के पुनर्निर्माण में लग गये। पाकिस्तान के आक्रमण के कारण काश्मीर एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन गया। पाकिस्तान से भागकर जान बचाकर आये हुए शरणार्थियों को फिर बसाने की समस्या सामने आई। युद्ध कालीन रक्षा और अनतिकता के कारण बिगड़ी जन मनोवृत्ति भी एक समस्या हुई। सदियों की गुलामी में उत्तराधिकार के रूप में मिली हुई अपनी कमजोरियां भी हैं। सरकार गरीबी दूर करने के लिये कमरे

१—ई० भारत फेज भाग २ पृ० ७८६।

रहने के लिये मकान, व्यक्तित्व के विकास लिये समुचित शिक्षा, राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्र भाषा, पाकिस्तान के साथ समुचित सम्बन्ध, आदि सबको समस्याओं को देकर बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध भारत में गया। ख्वाजा अहमद अब्बास ने १९५० के युग का चित्रण इस प्रकार किया है, 'हिंदुस्तान के इतिहास की तूफानी नदी में आज का युग आशा और सम्भावनाओं के जादुई द्वीप की तरह अलग खड़ा है और इस देश की उन्नति के बड़े आंदोलन में एक महत्वपूर्ण मंजिल की तरह से है। तूफान और अंधेरे की रात गुजर चुकी है।'[१]

आतंकवादी आंदोलन—

लक्ष्य की दृष्टि से एवम् भी भावनाओं की तीव्रता में उससे कहीं अधिक, परन्तु साधन और कार्य प्रणाली की दृष्टि से गांधीवाद से पूर्णतः भिन्न एक शानदार कहानी है उन प्रयत्नों की जो भारतवर्ष को अंग्रेजों के अत्याचारों से मुक्ति दिलाने के लिये यहां के कुछ दीवाने नौजवानों ने किये थे। इन्हें किसी से कुछ लेना नहीं था, इन्होंने कुछ चाहा भी नहीं था, कभी मांगा भी नहीं— जो "स्वाहा' हो गये उन्होंने भी नहीं और जो आज तक जीवित हैं उन्होंने भी कभी नहीं। इन्हें आत्म सम्मान की फिक्र थी। ये आजादी के दीवाने थे। इन्हें गुलामी से नफरत थी। इनका विश्वास था कि मांगने से कुछ नहीं मिलेगा। इनका रक्त उष्ण था और ये अत्याचार को चुपचाप बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। बदला लेने को बेचैन हो उठते थे। इस प्रकार के कार्यों की प्रेरणा भी हमको नवोत्थान से ही मिली। भारतीय संस्कृति के अनुसार आत्मा अमर है और मृत्यु वस्त्र-परिवर्तन मात्र है। इस तत्व ने मारे जाने का भय मिटा दिया भारत के अतीत के गौरवपूर्ण होने की धारणा और वर्तमान अधोगति का कारण अंग्रेजी शासन के होने की अनुभूति ने आत्मसम्मान और अंग्रेजों के प्रति असंतोष की भावना को जागृत किया। राष्ट्रीयता की सर्वव्यापी भावना ने व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठने की प्रेरणा दी। विभिन्न देशों के स्वतंत्रता-संग्राम ने लड़ कर स्वतंत्रता प्राप्त करने की उत्तेजना भर दी। राणा प्रताप और शिवा जी के उदाहरण ने राष्ट्र के लिये असह्य कष्ट सहने, त्याग करने और बलिदान के लिये आगे बढ़ने का आह्वान किया। विवेकानन्द ने कृष्ण का पाँचजन्य फूंका। गीता ने कहा, 'क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप"। 'बंदी जीवन' की भूमिका में और अपनी 'विद्रोह भावना और विप्लववादी भावना के विकास को चित्रित करते हुए शचीन्द्रनाथ सान्याल ने इन्हीं तत्वों का उल्लेख किया है।' भारत के इस विप्लववाद के अन्दर विवेकानन्द

१—' आज भारतीय साहित्य पृ० ७४।

का उत्थान था"। चनमाहार था और भारतीय विप्लवियों में से अधिकांश इसी महापुरुष की प्रेरणा से अनुप्राणित थे ।"[1] भारत में संन्यासी भी विचित्र होते हैं। ये कभी समाज सुधार करवाते हैं तो कभी साम्राज्य और साम्राज्यों के प्रति विद्रोह कर बैठते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने सशक्त और निर्भय होने का जो आह्वान किया उसका परिणाम यह विप्लववाद है। तिलक ने लिखा था, "यदि हमारे घर में चोर घुस आवें और हममें उन्हें भगाने की सामर्थ्य न हो तो हमें चाहिए कि हम बिना किसी हिचक के उन्हें कमरे में बन्द कर जीवित ही भस्म कर दें। भगवान ने भारत के राज्य का पट्टा ताम्रपत्र पर खोद कर म्लेच्छों के नाम नहीं कर दिया है। कुएँ के मेढक के समान अपनी दृष्टि को संकुचित मत करो। दण्ड विधान के घेरे से बाहर आ जाओ। 'भगवद् गीता' की उच्चतम भूमि में प्रवेश करो और सब महापुरुषों के कार्यों पर विचार करो।"[2] केसरी की यह दहाड़ सरकार नहीं सह सकती थी। तिलक को सजा हुई। उसी वर्ष रण्ड और आयर्स्ट की हत्या चापेकर बन्धुओं ने कर दी। १९०९ ई० में मदनलाल धींगरा ने लन्दन में सर कर्जन वाइली की हत्या कर दी। उसी वर्ष भारत में मि० जैक्सन की हत्या हुई और लार्ड और लेडी मिन्टो पर अहमदाबाद में बम फेंका गया। १९०७ में बंगाल में गवर्नर की गाड़ी उड़ा देने के लिये दो षड्यन्त्र किये गये। १९०८ में मि० किंग्सफोर्ड के धोखे में मि० केनेडी और उनकी पत्नी की हत्या हो गई। अलीपुर षड्यन्त्र भी इन्हीं दिनों हुआ। बाद में इसके सरकारी वकील और डी० एस० पी० की हत्या हो गई। १९१० में सतारा षड्यन्त्र रचा गया। २३ दिसम्बर, १९१२ को फिर वायसराय पर बम फेंका गया। १९१३ में लाहौर के लारेंस बाग में बम फूटा। 'कोमागाटा मारू' और 'तोसा मारू' जहाजों के द्वारा भारत में विदेशों से अस्त्र शस्त्र लाने का प्रयत्न किया गया। बनारस के शचीन्द्रनाथ सान्याल और बंगाल के रासबिहारी बोस ने सारे उत्तर भारत में एक ही दिन विप्लव मचा देने का प्रयत्न किया। फिर मैनपुरी में षड्यन्त्र रचा गया। राजा महेन्द्र प्रताप ने भी विप्लव कराने का प्रयत्न किया। इन क्रान्तिकारियों की पुलिस वालों से मुठभेड़ें भी हुईं और आमने-सामने गोलियाँ भी चलीं। १९१४ में बिलूची फौज में गदर हुआ। १९१५ में सिंगापुर में भारतीय फौजों ने दंगा कर दिया। नागपुर में छात्रों ने मलका विक्टोरिया की मूर्ति तोड़ी और उसके मुख पर कालिख लगा दिया। नलिनी मोहन मुकर्जी ने जबलपुर की फौजों में दंगा कराने का प्रयत्न किया। बनारस षड्यन्त्र रचा गया। १९२३ में बंगाल में शंखारी टोला काण्ड हुआ और चटगाँव के

१— 'बन्दी जीवन', पृ० १८२।

२— केसरी पत्र १५ जून, १८९७ वाला अंक।

शस्त्रागार पर डाका डाला गया। चटगाव काण्ड की जाँच करने वाले दरोगा की हत्या कर दी गई। सर चार्ल्स टेगस के धोखे मे "डे" की हत्या हो गई। १६२४ मे ब्रूस की हत्या करने का प्रयत्न किया गया। धन की आवश्यकता होने पर चलती ट्रेनो के खजानो पर डाके डाले गये। प्रसिद्ध काकोरी केस इसी घटना के परिणामस्वरूप हुआ। कानपुर साम्यवादी षडयन्त्र हुआ। छात्रो ने भी बम बनाना सीखा। बम बनाने की प्रक्रिया मे ही अनेक होनहार युवक शहीद हो गये। १६२७ म देवघर मे और १६२६ मे मनमाड मे बमकाण्ड हुआ। लाला लाजपतराय की मृत्यु का बदला लेने के लिये साडस की हत्या कर दी गई। १६२६ मे लाहौर असेम्बली म भगतसिंह ने बम फेंका। १६३१ मे गोली का उत्तर गोली से देते हुए जगदीश मारे गये। इसी प्रकार कानपुर मे शालीग्राम शुक्ल शहीद हुए। जलालबाद की पहाडो पर भयानक युद्ध हुआ। १६३० मे हरिपद भट्टाचाय ने पुलिस इन्सपेक्टर को मार डाला। इसी साल ढाका म मि० लोमन की हत्या हुई। १६३१ मे टिपरा म दो लडकियो ने मजिस्ट्रेट मि० स्टीवेंस को गोली से उडा दिया। १६३२ मे वीणादास ने बगाल के गवनर पर गोलियाँ चलाई। प्रयाग के आजाद पाक म चन्द्रशेखर आजाद लडते हुए मारे गये। १६३८ मे पिपरीडीह और १६४१ म सहजनवाँ मे ट्रेन डकैतियाँ हुइ। १६४० म लन्दन मे ऊधमसिंह ने जलियाँ वाला बाग के हत्यारे डायर को गोली से उडा दिया गया। १६४२ मे बालक, युवक वृद्ध, बालिकाओ और वृद्धाओ ने अपनी आहुतिया दीं। जिस प्रकार फिरंगी के टटटुओ ने हमारी माँओ तथा बहनो की इज्जत को बात की बात मे नष्ट करके धर दिया और अँग्रेज शायद जिसे सोच भी नहीं सकते थे ऐसे जघन्य अत्याचार हमारे राष्ट्रीय वीरो पर किये हैं उसे पढ कर भारत की आने वाली पीढियाँ—सदियो-सदियो खून के आँसू बहाया करेंगी—उत्तेजित हो उठा करेंगी। शहीद फुलेनाप्रसाद—६ गोलियाँ खा कर मरे। यह है एक झाँकी उन कार्यों की जो इन विप्लववादियो ने किय। इसमे आजाद हिंद फौज के और १६४२ के आंदोलनकारियो के कार्यों का उल्लेख नही किया गया है। इसकी प्रतिक्रिया म सरकार न वह किया जो उस जसी सरकार को करना चाहिये था। क्रान्तिकारियो मे से मुखबिर तयार किये गये। क्रांतिकारियो को पकडा गया। उन्हे जेलो की सख्त से सख्त सजाएँ और फाँसिया दी गई। उनके परिवार वालो को नारकीय यन्त्रणाएँ दी गई। व भूख से तडपे। जेल मे क्रान्तिकारियो ने कुछ कहा और किया तो उन पर बेंत लगे। बेंत के घावो पर दवा नही लगाई गई बल्कि वे घसीट कर कोठरियो म ले जाये गये। सरदियो में कम्बल तक न मिले। हर बात पर मार पडी। मार के कारण लोगो के मल-मूत्र तक निकल पडे। भंगियों से पिटवाया गया। खाना न खाने पर मार

बीमारी के कारण काम न कर पाने पर मार, मार कर अङ्ग भङ्ग करना, मार से पानी का पड़ना, गिरा कर टाँग उठा कर मारना, उल्टे टाँग कर मिर्च की धूनी देना, इतना मारना कि मुँह से मूत्र और टट्टी से खून निकलना, भयानक गालियाँ, भूखा रखना कर मारना, नाखूनों में कील ठोकना, बर्फ की सिलो पर सुलाना, पानी न देना सोने न देना, आदि अन्य प्रकार की असहनीय यातनायें इन वीरों ने सही। न सह पाने पर अनेक मर गए। शचीन्द्रनाथ सान्याल ने लिखा है "एक-एक दो-दो करके कितने लोगों ने फाँसी के तख्ते पर जान न्यौछावर कर दी, कैदखानों में बन्दी होकर उनके कितने साथी तिल तिल करके प्राणों की बलि देने लगे और इसके कारण कितने ही परिवार बरबाद हो गए, कितनी ही माताएँ ये सब हृदय अधिक न सह सकी और पागल हो गईं, कितने ही के पिताओं की सरकारी नौकरी चली जाने से उनका परिवार गरीबी की चक्की में पिस कर आश्रय की खोज में दर-दर फिरने लगा, समाज के अन्दर एक मर्मभेदी अन्तर्नाद गहरा उठा ॥"[1] इन क्रांतिकारियों की वीरता पर राष्ट्र ही नहीं राष्ट्र के विरोधी तत्व भी मंत्रमुग्ध थे। मन्मथनाथ गुप्त ने लिखा है "उसी समय वह गोरा (बोला) आप रोते क्यों हैं? जिस देश में ऐसे वीर पैदा होते हैं, वह देश धन्य है। मरेंगे तो सभी किन्तु ऐसी मौत कितने मरते हैं।"[2] बुड़िया बालाम के किनारे यतीन्द्र के युद्ध का वर्णन करते हुए अन्त में उन्होंने लिखा है "इस स्वर्गीय दृश्य को देख कर पुलिस वाले रो दिये, नैतिक विजय थी! इस मुठभेड़ में पुलिस वाले विजयी हुए, किन्तु जब वे अपने द्वारा हराए हुए इन पाँच वीरों के सामने आते हैं तो वे रो देते हैं। एक पुलिस अफसर मनोरंजन (नामक व्यक्ति) को छोड़ कर स्वयं पानी लेने गया।"[3] इन सब कार्यों का परिणाम क्या हुआ? निश्चित है कि इनसे भारत को आजादी नहीं मिली। किन्तु यह भी निश्चित है कि इन कार्यों का विदेशी शासकों पर असाधारण प्रभाव पड़ा है भारत की इज्जत बढ़ी है और संवैधानिक सुधारों की प्रगति और मोड़ों को निर्धारित करने में इनका महत्व असाधारण है।

जाति की मुरझाई हुई मनोवृत्ति पर शहीदों के खून की यह वर्षा काफी उत्तेजक साबित हुई"[4], यह बात बिना किसी अत्युक्ति के कही जा सकती है कि कन्हाईलाल और खुदीराम बंगाल की चेतना के अन्तरतम स्तर में प्रविष्ट हो गए तथा

१ 'बन्दी जीवन', भाग २, पृष्ठ २१
२ 'भारत में सशस्त्र क्रांति चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास, भाग १, पृ० ४१
३ वही पृष्ठ १३२-१३३
४ "भारत में सशस्त्र क्रांति चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास', भा १ पृ ४७।

बगाल के राष्ट्रीय जीवन के उस हिस्से मे घुस गये जहा से उन्हें कोई नहीं निकाल सकता याने लोरियों म, गानों में, बच्चो की कहानियो म और जहां से वे राष्ट्रीय जीवन के उत्स-स्थल की मजे मे अपनी पवित्रधारा से पूत कर सकते थे"[1]

"आखिर चिता भी जल चुकी खुदीराम की देह उसमे भस्मीभूत हो चुकी किन्तु जनता को अपने प्यारे शहीद की स्मृति प्यारी थी, वह झपटी उसकी राख के लिये। किसी ने उसकी तावीज बनवाई, किसी न उसको सिर से मला, स्त्रियों ने उसे अपने स्तन पर मला! एक स्वर्गीय दृश्य था और यह क्या? हजारा आदमी एक साथ फूट-फूट कर रो रहे थे सकडो अग्नधारा के जरिये से एक दल वर्षों मे जितना जनता मे प्रविष्ट नही हो पाता य अलमस्त एक फासी से एक दिन के अन्दर उससे कही ज्यादा जनता के दिल म घर कर लेते थे।"[2] चन्द्रशेखर आजाद और भगतसिंह भी इसी प्रकार जनता के प्यारे हो गए हैं। देश के कोने-कोने मे राष्ट्रीयता और वीरता की भावना फला देने म इन घटनाओ का महत्वपूर्ण योग है। ये युगान्तरकारी घटनाएँ हैं और इस अर्द्ध-शताब्दी के भारत के लिये गौरव हैं।

सवैधानिक सुधार —

इस अर्द्ध शताब्दी की अन्य उल्लेखनीय घटनाओ में विभिन्न सवैधानिक सुधारों का भी नाम आता है। ये सुधार हैं —१९०९ का (मिन्टो मार्ले) १९१९ (माटेग्यू-चेम्सफोर्ड), १९३५ का और फिर १९४७ का कानून। इन सुधारो या कानूनों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं —(१) इनसे धीरे धीरे भारतीयो को स्वराज्य का अधिकाधिक अधिकार मिलता गया, (२) ये समय और परिस्थिति की प्रगति की दृष्टि से सदव कुछ पीछे ही रहे, (३) इनसे देश की जनता और उसके नेताओं को कभी भी सन्तोष नही हुआ, (४) ये नय आन्दोलनों के कारण बना करते थे और पिछले आन्दोलनो के परिणामस्वरूप निर्मित होते थे और (५) ये राष्ट्र की प्रगति के अनुसार और अनुकूल कभी नहीं होते थ। इनसे जनता के जीवन का प्रत्यक्ष रूप से कोई भी सम्बन्ध नहीं था। अपने नेताओं के माध्यम से जनता इनसे सम्बन्धित होती थी और उन्ही की धारणाओं और सुझावों के अनुसार इनके प्रतिकूल या अनुकूल अपनी प्रतिक्रियाएँ प्रकट करती थी।

साम्प्रदायिक दगे —

इस अर्द्ध शताब्दी की एक अन्य प्रकार की उल्लेखनीय घटनाएँ हैं साम्प्रदायिक दगे। न इनका उद्देश्य अच्छा था न इनके प्रेरणा स्रोत अच्छे थे, न इनके नेता अच्छे

१ वही, पृ० ५३
२ वही, पृ० ११८, ११९।

थे, न इनका स्वरूप अच्छा था, न इनके कर्ता अच्छे थे और न इनका परिणाम अच्छा था। उद्देश्य स्वार्थ था प्रेरक स्वार्थी थे, प्रेरणा स्रोत प्रतिक्रियावाद और भय एवं अविश्वास था, स्वरूप कायरता से भरा हुआ और गैर शरीफाना था। कर्ता नीच और गुण्डे थे और परिणाम के रूप मे युगो युगो तक चलने वाला अविश्वास तथा संघर्ष का स्थायी साधन, माध्यम अथवा स्रोत निर्मित हो गया। ऐसा क्यो हुआ ?

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ होने से कुछ पहले तक मुसलमानो में दो वर्ग थे, एक धनी आदमियो का और दूसरे गरीब आदमियो का। दूसरा वर्ग भारत की सामान्य संस्कृति म घुल मिल गया था भारत का हो गया था और भारत के लिये हो गया था। उनके धर्म पर उनको कभी किसी प्रकार का खतरा नही दिखाई पडा। दूसरा वर्ग स्वार्थ प्रधान था और इसलिये मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों वाला वर्ग था। साम्प्रदायिक समस्या मूलत इसी वर्ग की समस्या थी। अंग्रेजों ने जब भारत पर अपना पूरा अधिकार कर लिया तब इन्होने उनको अपना नाथ समझा लुटेरा समझा, क्योंकि ये अपने को भारत का शासक समझते थे। उनसे मिलना उनसे कुछ सीखना उनकी भाषा और उनके साहित्य का अध्ययन आदि इन्होने अधार्मिक कार्य समझा। अन्य सांस्कृतिक उत्थान स प्रोत्साहित हिन्दू भारतीय संस्कृति की सामाजिक प्रवृत्ति के अनुसार अंग्रेज और अंग्रेजी संस्कृति स सम्पर्क स्थापित करने लगे। सांस्कृतिक आन्दोलनो क परिणामस्वरूप हिन्दू धार्मिक संस्कृति सरोवर मे डुबकी लगा कर नहाते हुए भी अपने प्राचीन ऋषियों, मुनियो, महान पुस्तको और महान् विचारधाराओ मे डूब डूब कर मस्त हो रहे थे। परिणामस्वरूप ज्ञान विज्ञान, समाज विकास और समृद्धि सम्पन्नता आदि की दृष्टि से अपने मुसलमान भाइयों से आगे बढ़ गये। इधर ये भाइ समझते थे कि हमने हिन्दुओ पर शासन किया है अतएव उनसे श्रेष्ठ हैं। सम्भवतः महमूद गजनवी और औरंगजेब के पूर्वजों के स्मरण ने इन्हे स्वयं इस योग्य न रखा कि वे हिन्दुओ की उदारता पर विचार कर सकें। अंग्रेजों से शत्रुता और घृणा तथा हिन्दुओ के प्रति अविश्वास और ईर्ष्या उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चरण के मुसलमानो की मनोवृत्ति हो गई। स्वाभाविक परिणामस्वरूप हिन्दुओ म राष्ट्रीयता की जो मनोवृत्ति उपजी उसकी व्याख्या रूप रंग क धार्मिक अर्थात् हिन्दुत्व प्रधान होना अनिवार्य था। इससे भी मुसलमान भाई क्षुब्ध मानस हुए कि अगर अंग्रेज चले गये तो हमारा क्या होगा! मुसलमान भाई क्या करे? धर्म परिवर्तन से किसी की प्रकृति, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्पराएँ नहीं टूट जाती यह एक सत्य है परन्तु यह सत्य इन भाइयो की पकड म न आया। इनमें से इस्लाम के लिए खतरा दिखाई पडा, चाहे था नहीं। ये कट्टर बने। मुगल और पठान युग म उठाये हुये लाभ उनसे छिनता न भर

सकी। तत्पश्चात् इस्लाम के व्यापक इतिहास पर गौर फरमाया गया। धार्मिक आग्रह राष्ट्रीयता का तिरस्कार कर गया और भारतीय मस्जिदों में टर्की के सुल्तान का नाम आदर के साथ लिया जाने लगा। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सन्तोष मिला जो प्रथम महायुद्ध के बाद कमाल पाशा ने पूर्णत विनष्ट कर दिया। अपनी कमी का अनुभव करके सैयद अहमद खां ने मुसलमानों का अंग्रेजी भाषा, संस्कृति साहित्य के प्रति उन्मुख कर दिया और अंग्रेजों को यह विश्वास दिला दिया कि उनके शत्रु मुसलमान नहीं हिन्दू हैं। परिणामत मुसलमान अंग्रेजों की ओर और अंग्रेज मुसलमानों की ओर। अंग्रेज सरकार हिन्दू और मुसलमान दोनों को अपनी पत्नियाँ समझता था और भारत पर शासन करने के लिये दोनों का लड़ते रहना आवश्यक समझता था। कुछ मुसलमानों ने सचमुच हिन्दुओं से सौतिया डाह ठान लिया। सौतों के झगडों के कारण घर में शांति नहीं स्थापित हो पाती। एक सौत कुटिल निकल जाय तो घर बर्बाद होकर ही रहता है। यही भारत का हुआ १६०६ में अंग्रेजों ने 'एक बड़ी बहुत बड़ी घटना' घटित की और वह थी मुस्लिम लीग की स्थापना। यह एक ऐसा जहर था जिसने एक बार योरोप का सवनाश कर दिया था। मिण्टो ने लिखा था, "यह राजनीतिज्ञता का एक ऐसा काय है जो भारत और भारतीय इतिहास को बहुत वर्षों तक प्रभावित करता रहेगा। यह काय ६ करोड ७० लाख लोगों को राजद्रोहात्मक विरोध में सम्मिलित होने से रोक देने वाला है।' उसकी यह कल्पना अक्षरश सत्य हुई। जब जब "अंग्रेजी राज खतरे में' आया तब-तब अंग्रेजों के स्रोत से 'इस्लाम खतरे में' है का नारा बुलन्द किया गया। मरे हिन्दू और मुसलमान और स्थिति मजबूत हुई अंग्रेजों की। कुछ स्वार्थियों की जेबें गरम हुई और भारत माँ का वक्ष उसके ही गरम रक्त से रक्तस्नात हो उठा। पीपल कटता था तो हिन्दू धर्म के मिटने की आशंका पैदा कर दी जाती थी और मस्जिद के सामने बाजा बजता या ताजिये पर एकाध ढेले फेंक दिये जाते थे तो इस्लाम धर्म के खतरे में होने की घंटी बजवा दी जाती थी। कई बार स्पष्ट रूप से इस बात का पता लगा कि ढेले फेंकने वाले और इस प्रकार दंगे करा देने वाले स्रोत सरकारी नौकर हैं। ऐसा कर-करके ऐसे पंडित और मुल्ला एकान्त में बन्दीश और शाबासी लेने जाया करते थे।

असन्तोष आर्थिक विषमता के कारण होता था और इन असन्तुष्ट व्यक्तियों को अतिरिक्त धर्म वालों से लड़ा दिया जाता था। इधर नोआखाली और उधर भोपाल काण्ड की जड़ में यही था। बाद में एसेम्बली की सीटों और नौकरियों की प्राप्ति के लिये उनको लड़ा दिया जाता रहा जो कभी भी उन्हें प्राप्त करने का स्वप्न तक नहीं दे सकते थे। इन दंगों का फल किसको मिला और किसको नहीं मिला—यह

पाकिस्तान बन जाने पर स्पष्ट हुआ। गुजरात का जिना और यू० पी० का लियाकत गवर्नर जनरल और प्रधानमन्त्री बन सकता था किन्तु पाकिस्तान पाने के लिये जिन्होंने खून की नदियाँ बहा दी और जो उसे अपना 'स्वर्ग' समझते थे उनके उस स्वर्ग प्रवेश पर बन्धन लगा दिया गया। गरीब जिनसे शत्रुता कर बैठा था उन्हीं से उसे फिर मित्रता करनी पड़ी। न कोई राम को गाली देता था, न कोई मुहम्मद को, न कोई कृष्ण की निंदा करता था, न कोई रसूल की, न किसी ने कुरान जलाई, न किसी ने गीता रामायण, न किसी ने रोजा नमाज को बुरा कहा, न किसी ने सन्ध्योपासना और व्रत उपवास को, न हज को बुरा कहा गया, न तीर्थयात्रा को, उनकी मस्जिद को कोई खतरा नहीं था, उनके मंदिर पर कोई आपत्ति नहीं थी। व्यावहारिक जीवन में सब मिल कर एक हो गये थे। हम ताजिये पर सिन्नी चढ़ाते थे और वे होली के रङ्ग में रङ्ग उठते थे। हम सेवइयाँ खाते थे और वे 'परसाद'। बहराइच में सैयद सालार गाजी के मेले में 'अलम' ले कर ७० प्रतिशत से भी अधिक हिन्दू जाते हैं। इतनी ही मात्रा में लोग ताजिये भी उठाते हैं। किन्तु तारीफ है उस बुद्धि और चतुराई की सदुपयोग-वृत्ति की और देशभक्ति, जाति भक्ति और धर्मभक्ति की कि बेगुनाहों के खून से धरती रंग उठी गुनाहों की भयानकता से आसमान थर्रा उठा। वास्तविकता यह है कि यह समस्या साँप्रदायिक थी ही नहीं। यह राजनीतिक गुण्डाशाही थी जिसे स्वार्थवश चलने रहने दिया गया। प्यारेलाल ने लिखा है "भारतवर्ष की साम्प्रदायिक समस्या यहाँ के उस प्रतिक्रियावाद की सृष्टि है जिसका प्रतिनिधित्व अंग्रेजी साम्राज्यवाद, यहाँ के कुछ रूढ़िवादी और कुछ मध्यवर्गीय नेताओं के साथ मिल कर करता है। राजनीतिक शक्ति पाने तथा उस राष्ट्रीय आंदोलन को विघटित करने के उद्देश्य से, जिसने उनके अस्तित्व के लिये खतरा पैदा कर दिया था।, अंग्रेजों ने साम्प्रदायिकता के हथियार को अपने हाथों में लिया था।"[1] यह एक आश्चर्यजनक बात है कि मध्यवर्ग वाले कुछ स्वार्थी लोगों ने भोली भाली जनता की एक कमजोरी का इस प्रकार का दुरुपयोग किया। ऐसी ठग विद्या उचित नहीं कही जा सकती। इस प्रवृत्ति का अन्त भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ-साथ हुआ।

युग की प्रधान प्रवृत्तियाँ—

यह है हमारे देश के इस अर्द्ध शताब्दी के इतिहास की एक संक्षिप्त झाँकी। इस युग की प्रधान प्रवृत्तियाँ ये हैं—(१) राष्ट्र के प्रति भारतवासियों का अगाध प्रेम, (२) अंग्रेजी शासन के स्वार्थपरक और भेद-भाव पूर्ण व्यवहार से भारतवासियों में

१ लास्ट फेज भा १ पृ० ७२

उनके प्रति क्षोभ, (३) अपने जन्मसिद्ध एवं स्वाभाविक अधिकारों को प्राप्त करने की भारतीयों की इच्छा, (४) उस इच्छा की अभिव्यक्ति, और उसके लिये आंदोलन करने को भी कटिबद्ध होना, (५) अंग्रेजों का ऐसे आंदोलनों का दबाना, कभी कुछ संवैधानिक सुधार करके और कभी क्रूरता के साथ व्यवहार करके, (६) राष्ट्र भाव के जागरण के लिये प्राचीन इतिहास और गौरव की खोज में, रुचि और उसकी प्रशस्ति, (७) भारतीयों के हिंसात्मक और अहिंसात्मक दोनों प्रकार के प्रयत्न, (८) राष्ट्र के प्रति हमारा प्रेम धार्मिक वृत्ति से, सांस्कृतिक वृत्ति से, किसानों और मजदूरों की दृष्टि से, प्रकट हुआ, (९) अराष्ट्रीय तत्वों की राजभक्ति और उसका स्वरूप, (१०) दो-दो महायुद्ध और हमारी राष्ट्रीय वृत्ति पर उनके प्रभाव (११) गाधी और कांग्रेस का महत्व, (१२) साम्प्रदायिकता, और (१३) भारतीयों के प्रति अंग्रेजों का अविश्वास। मूल रूप से इस युग की एकमात्र प्रवृत्ति है स्वाधीनता की प्राप्ति के लिये किये गये भारतीयों के प्रयत्न और उनको न सफल होने देने के लिये अपनाई गई नीतियाँ। इन्हीं की क्रीडा-क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ-ही इस युग का इतिहास हैं। इस नाटक का प्रधान पात्र है गाधी, प्रधान संस्था है कांग्रेस और प्रधान नीति है सत्य और अहिंसा, इसके खलनायक हैं अंग्रेज शासक, उनकी प्रधान संस्था है प्रशासन-व्यवस्था और प्रधान-नीति है असत्य और हिंसा। स्वाधीनता के आंदोलन इस युग की प्रधान घटनायें हैं। उनको गति मिली है सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, प्रशासनिक और विश्वयुद्ध-जन्य परिस्थितियों से।

अखिल भारतीय दृष्टिकोण—

इस युग म अखिल भारतीय दृष्टिकोण या तो प्रशासन का था या फिर कांग्रेस का महात्मा गाँधी ने लिखा है, 'कांग्रेस ने भिन्न भिन्न प्रान्तों के भारतीयों को इकट्ठा करके उनम एक राष्ट्र होने की भावना पैदा की।'[१] पट्टाभि सीतारामय्या ने लिखा है, 'तात्पर्य यह है कि सरकार को भी अगर योग्य भारतीयों की जरूरत हुई तो इसके लिये उसे भी कांग्रेसियों पर ही निगाह डालनी पड़ी और उनके राजनीतिक विचारों को उसने ऐसा नहीं समझा जो वह उन्हें सरकारी विश्वास एवं बड़ी से बड़ी जिम्मेदारी के ओहदों के लिये नाकाबिल मान लेती कांग्रेस का इतना महत्व स्वीकार करते हुए भी सरकार उसके प्रति सदैव सतर्क रहती थी ।'[२] जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है हिन्दुस्तान के इतिहास मे तो इनका नाम है ही, बड़े हरफों मे नाम है, क्योंकि कांग्रेस एक बड़ी संस्था थी। बड़े नेता उसने पैदा

१ 'हिंद स्वराज्य', पृ १५।
२ 'कांग्रेस का इतिहास' पृ ६३।

वहिष्कार प्रारम्भ कर दिया था। नये–पुराने, छायावादी–रहस्यवादी, हालावादी, संस्कृति–प्रेमी, सभी ने राष्ट्रगीत गाये। सुमित्रानन्दन पन्त ने लिखा है, 'मैंने देश के आंदोलन में बाहर से तो कभी भाग नहीं लिया और न भाई की तरह मैंने कारावास ही झेला पर हमारे राष्ट्रीय जागरण के आन्दोलन का जो भीतरी पक्ष रहा है उससे मैं निरन्तर जूझता रहा हूँ और अपनी सामर्थ्य के अनुसार मैंने उसका ऋण भी चुकाया है।"[1] अपनी काव्य साधना के विकास का संस्मरण प्रस्तुत करते हुए रामकुमार वर्मा लिखते हैं "१९२१ में असहयोग आंदोलन अपनी भरपूर उमंग पर था। मैंने उसी उमंग में स्कूल छोड़ दिया और कांग्रेस का काम करना आरम्भ किया। प्रतिदिन प्रभातफेरी में झंडा लेकर अपने साथियों के साथ निकलता और उस समय समाचार पत्रों में प्रकाशित राष्ट्रीय कविताएँ प्रभातफेरी में गाया करता। एक दिन प्रभात फेरी के लिए मैंने एक गीत बनाया और अपने खट्टे मीठे स्वर में गाया—

कमबोरी का है क्या खेल। मुस्कराते जावेंगे जेल ॥
प्राण की तनिक नहीं परवाह हृदय में नहीं किसी से डाह।
यही केवल उनकी चाह, देश प्यारा बस हो न तबाह ॥
सत्य हित सकट लेंगे झेल ।[2]

१७ वर्ष की अवस्था में इन्हें इनकी देशसेवा विषय पर लिखी गई कविता के ऊपर कानपुर के वेणीमाधव सभा द्वारा आयोजित प्रतियोगिता में ४१ रुपये का पुरस्कार मिला। उस कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

जिस भारती की धूल लगी है मेरे तन में
क्या मैं उसको कभी भूल सकता जीवन में
चाहे घर में रहूँ, रहूँ अथवा मैं वन में
पर मेरा मन लगा हुआ है इसी वतन में
मैं भारत का हूँ सदा, भारत मेरा देश है।

मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है—

न्याय धर्म के लिये लड़ो तुम स्वत हित समझो बूझो
अनय राज निर्दय-समाज से निर्भय होकर जूझो।[3]

---

१ साठ वर्ष–एक रेखांकन, पृ० ३७
२ धर्मयुग साप्ताहिक पत्रिका, ८ सितम्बर, १९६३, वाला अंक,
३ द्वापर', पृष्ठ ६४ चतुर्थावृत्ति (२०२१ वि०)

'प्रसाद' ने लिखा है—

हिमाद्रि तुङ्ग-शृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती
अराति सैन्य सिंधु में
सुवाडवाग्नि से जलो
प्रवीर हो, जयी बनो
बढ़े चलो बढ़े चलो।[1]

दिनकर गरज उठे—

गरज कर बता सबको मारे किसी के
मरेगा नहीं हिन्द देश
लहू की नदी तर कर आ गया है
कहीं से कहीं हिन्द देश
लड़ाई के मैदान में चल रहे हैं
ले के, हम उसका उड़ता निशान
खड़ा हो जवानी का झण्डा उड़ा
ओ मेरे देश के नौजवान।

खद्दरधारिणी महादेवी ने अपने और भारत का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए 'छायावादी' शैली में कहा—

मैं कम्पन हूँ तू करुण राग
मैं आँसू तू है विषाद
मैं मदिरा तू उसका खुमार
मैं छाया तू उसका अधार
मेरे भारत, मेरे विशाल
मुझको कह लेने दो उदार
फिर एक बार, बस एक बार

फिर उन्होंने 'प्रिय' से अनुरोध किया—

मेरे बंधन आज नहीं, प्रिय,
संसृति की कड़ियाँ देखो

१ 'चन्द्रगुप्त' नाटक,
धामा, पृ० ३३

समय तक हमारे अन्दर मातृभूमि के सौंदर्य दर्शन की भावना का उन्मेष हो चुका था। सांस्कृतिक पुनरुत्थान के प्रभाव ने प्राचीन संस्कृति के प्रति गौरव की भावना और वर्तमान के प्रति क्षोभ की भावना पैदा कर दी। परिणामस्वरूप 'भारत भारती' के कवि का उदय हुआ। चूँकि हमारी राष्ट्रीयता में द्वेष और घृणा का भाव नहीं था अतएव हमारे राष्ट्रीय साहित्य में अंग्रेजों के प्रति द्वेष की भावना उतनी नहीं मिलती जितनी अपनी दुर्दशा का गान प्राचीन गौरव और उत्थान के प्रति मोह और तुलना के परिणामस्वरूप जागरण, उद्बोधन, उत्थान, आत्मस्वरूप की अनुभूति और अपनी कमजोरियों को मिटाने की ललकार। हमारे देश प्रेम ने भारत की भूमि को 'माता' के 'देवी' के स्वरूप में देखा। इसका पहला स्पष्ट उल्लेख स्वामी रामतीर्थ ने किया। हमने जनता को जनार्दन कह कर पुकारा। इस राष्ट्रीय भावना का प्रवेश प्राचीन विषयों से सम्बन्धित कविताओं में भी हुआ, और सत्यनारायण कविरत्न ने भ्रमर गीत में ब्रजप्रदेश को मातृभूमि के रूप में देखा जिसकी प्रतिमूर्ति बनी जसोदा। पं० रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न' नामक काव्य में स्वदेश भक्ति की भावना अभिव्यक्त हुई लाला भगवानदीन की कविताओं में भी यही भावना मिलती है कि 'वीरों का सुमन गान है अभिमान वराम का। द्वारकाप्रसाद मिश्र ने कृष्णायन में भी यही राष्ट्र भावना किसी न किसी प्रकार अभिव्यक्त की है। केसरी नारायण शुक्ल ने लिखा है, 'राष्ट्र जीवन की विवशता और उसके उत्साहपूर्ण बलिदान की झलक (और) ' दमन चक्र और दरिद्रता के परिणामस्वरूप जो निराशा जगी उसकी अभिव्यक्ति प्राय सभी छायावादी कवियों की रचनाओं में मिलती है।'[१] निराला की बाद की कविताओं में तो देश का तत्कालीन जीवन और उसकी संस्कृति पूर्णरूप से अभिव्यक्त हुई ही है उनकी प्रारम्भिक और छायावादी कविताओं में भी राष्ट्रीयता के संस्कार विद्यमान हैं। 'जागो फिर एक बार" की अंत प्रेरणा राष्ट्रीय है। राष्ट्रीय प्रभाव ने हमारी कविताओं को बलात्मिक के स्वर और योद्धाओं के सिंहनाद का स्वरूप दे दिया है। हमारी छायावादी कविता पर भी गांधीवाद का प्रभाव पड़ा है। दोनों का दर्शन एक ही है अर्थात सर्वात्मवाद। गांधीवाद के दार्शनिक और नैतिक पक्ष की अनुभूति ने सियारामशरण गुप्त को हिंदी का एकमात्र विशुद्ध गांधीवादी कवि बना दिया है। शेष कवि भी गांधी जी से भिन्न भिन्न प्रकार की प्रेरणाएँ ले लेकर कविताएं लिखते रहे। सुमित्रानन्दन पंत ने लिखा है कि गांधी के संसर्ग में मुझे सदैव आत्मबल तथा आत्मविश्वास मिला है।[२] इसकी अभिव्यक्ति पंत की उन कविताओं में हुई है जो 'ज्योत्सना' और ग्राम्या के बाद लिखी गई हैं।

---

१ 'आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत' पृ० १८८

२ साठ वर्ष-एक रेखांकन पृ० ६७

राष्ट्रीयता और हिंदीभाषा—

जब हिन्दी एक बार फिर से विद्रोह की भाषा, विद्रोहियों की भाषा, देशभक्त की भाषा और राष्ट्रीयता की भाषा हो गई तो इस ओर देशभक्त राजनीतिज्ञों का भी ध्यान गया। इस बात का अनुभव किया गया कि यदि भारत को स्वतंत्र होकर एक राष्ट्र बनना है तो उसकी अपनी राष्ट्रभाषा होनी चाहिये। अनेक कारणों से यह निश्चित हुआ कि वह राष्ट्रभाषा हिंदी ही होगी। यह निश्चित होते ही सभी के सभी देश भक्त हिंदी अपनाने, पढने, सीखने और लिखने के लिये तयार हो गये। तब यह आश्चर्य की बात नहीं रह गई यदि हिंदी साहित्य सम्मेलन' की स्थापना की प्रेरणा राजेन्द्रप्रसाद ने दी और मालवीय जी ने उसको स्वरूप दिया तथा पुरुषोत्तमदास टंडन ने आजीवन उसका सरक्षण और मार्ग-दर्शन किया। तिलक, गांधी पटेल, सुभाष, आदि हिंदी के शुभचिन्तक हुए। इन नेताओं ने हिंदी के प्रचार में अपना-अपना महत्वपूर्ण योग दिया है। इसके परिणामस्वरूप नेताओं की प्रकृति की विभिन्नता के अनुरूप भाषा के विभिन्न स्वरूप सामने आये। नेताओं की रुचि और प्रकृति के अनुसार हिंदी को अनेक नलिया मिली। राष्ट्रीयता के परिणाम स्वरूप संभवत पहली बार हिंदी साहित्य म विभिन्न विषयो की पुस्तकें लिखी जाने लगी। नेताओं ने हिंदी का भंडार अनेक प्रकार के विचारों और विचारधाराओं से समृद्ध करना प्रारंभ कर दिया। हिंदी में अनुवाद कार्य पर विशेष ध्यान भी इसी का परिणाम है। चू कि राष्ट्रीयता का स्वरूप अखिल भारतीय था अतएव हिंदी ने भी अखिल भारतीय स्वरूप अपनाना प्रारम्भ किया और इस प्रकार असम से उत्तरी-पश्चिमी-सीमा-प्रांत तथा काश्मीर से कन्या कुमारी तक हिन्दी चली गई। अब हिंदी का कार्यक्षेत्र कविता-कहानी-नाटक-आदि से विस्तृत होकर साहित्येतर विषयों तक पहुच गया। हिंदी प्रचार की योजनाए बनी और अखिल-भारतीय स्तर पर उसकी परीक्षाए आयोजित की जाने लगी। ज्ञानवती दरबार ने लिखा है, "वास्तव में हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि के लिये पचास वर्षों में जितनी प्रेरणा राष्ट्रीय भावना से मिली, इतनी संभवत और किसी तत्व से नहीं मिली।" [१] इसका मूल्यांकन उन्होंने बड़े ही सुदर ढग से या किया है, 'हिन्दी भाषा के इतिहास म राष्ट्रीय आंदोलन, विशेषकर कांग्रेस के कार्यक्रम द्वारा, जो प्रोत्साहन मिला है महत्व की दृष्टि से उसकी, तुलना हम मध्ययुगीन भक्ति साहित्य (या आंदोलन ?) से ही कर सकते हैं। [२] इसने हिंदी को पुस्तकें दी लेखक दिये, विषय दिये, प्रेरणाए दी, साहित्य दिया

१—'भारतीय नेताओं की हिन्दी सेवा' पृ० १४७।

२—"भारतीय नेताओं की हिन्दी सेवा' पृ० १५४।

और साहित्य की प्रवृत्तियां दी। हिंदी का कोई भी लेखक इससे अछूता न बचा-अलग न रह सका। आंदोलनों की असफलताएं साहित्यक को अन्तर्मुखी कर देती थी और सफलता की आशा मुखरित। दमन का आतंक ऐसे साहित्य को जन्म देता था जो छपते ही जब्त हो जाय। उन पर विस्तार से बाद में लिखा गया किन्तु उस समय भी कभी न कभी कुछ न कुछ ऐसे साहित्य की रचना हो ही जाया करती थी।

घटनाओं का साहित्य पर प्रभाव—

राजनीतिक घटनाओं ने हमारे जीवन और मन को इतना आक्रान्त कर दिया है कि हम किसी भी बात को अथवा किसी भी भावना को लेकर बहुत दूर तक और बहुत देर तक उलझे रहने-उसमें स्थित रहने में असमर्थ हो गये। घटनाएं हुई, हमारे अन्दर भावनाएं उठी प्रतिक्रिया हुई और कुछ दिनों में हम आगे बढ़ गये क्योंकि उनके समान या उनसे अधिक प्रभावपूर्ण घटनाएं होने लगी। हम नन्हें-नन्हें भाव को छीटों से ही समाज का शीतल करने लगे। इसने एक ओर भावप्रधान लघु गीतों, लघु कथाओं लघु निबन्धों और एकांकियों, आदि की प्रवृत्ति पैदा की और दूसरी ओर थोड़े ही समय के अन्दर साहित्य की प्रवृत्तियां और धाराओं का बदलने में सहायता दी। दस-दस बारह-बारह वर्षों की आयु के वादों का युग आया। ४० वर्षों के अन्दर हिंदी काव्य ने छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के युग देखे। साहित्य के विषय भी जल्दी-जल्दी बदले। कभी हमने बंगाल के अकाल पर कविताएं और कहानियां लिखी और कभी साम्प्रदायिक दंगों पर। कभी आजाद हिंद फौज के वीरों पर साहित्य रचा गया और कभी गांधी जी की मृत्यु पर। कोई भी महत्वपूर्ण घटना ऐसी नहीं हुई जिसने कुछ साहित्य न लिखा लिया हो किंतु ऐसा कोई भी साहित्य स्थायी मूल्य का नहीं हो पाया। महायुद्धों से प्रेरणा प्राप्त करके भी कवियों ने कविताएं लिखी किंतु चूंकि उनका प्रभाव हिंदी प्रदेश पर सीधा नहीं पड़ा था अतः वे भी स्थायी न हो पाई। ये कविताएं चारण कालीन कविता की भांति न तो भटों का नृत्य बन सकी और न उनसे किसी प्रकार की प्रेरणा ही मिली। द्वितीय महायुद्ध में सरकार ने आल्ह खंड के ढंग पर "आल्हा" लिखवाया किंतु कहां आल्हा-ऊदल और कहां नौकर सिपाही!!! अतः जन-भावना ने "जन-साहित्य" के नारे को जन्म दिया।

अध्याय—३

राजनीतिक पृष्ठभूमि

परस्पर विरोधी प्रवृत्तियो का क्रीडा-क्षेत्र—विद्रोह की भावनाओ को दबाने मे सरकार की सतकता—दुदमनीय राजनीतिक चेतना—सवधानिक सुधार और उसके लिए होने वाले आन्दोलन—अपूर्ण एव अपर्याप्त सवधानिक सुधार—राजनीतिक आन्दोलनो की प्रकृति और भाव-जगत—साम्यवादी राजनीति—साम्प्रदायिकता—भारत और अगरेजी राजनीति—हमे किसने जगाया—राष्ट्रीयता—सुधारवादी आन्दोलनो का प्रभाव।

राजनीतिक पृष्ठभूमि

परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का क्रीडाक्षेत्र—

रजनी पाम दत्त [1] का और राजेन्द्रप्रसाद [2] का विचार है कि आधुनिक भारत समस्त विश्व का लघुतम संस्करण हो गया है। संसार की सभी प्रकार की प्रवृत्तियां भारत में मिल जाती हैं। हमारी सम्पत्ति और साधन तथा हमारा जीवन और श्रम साम्राज्य के हस्त गत लूट, आक्रमण और अन्ततोगत्वा दासता के साथ रहे हैं। हमारे देश में एक प्राचीन एवं ऐतिहासिक सभ्यता के भग्नावशेषों के बीच जो आधुनिक विजेताओं के असहनीय शासन के नीचे दब कर सांस नहीं ले पा रही है आधुनिक ढंग का शोषण निम्नतम कोटि की अव्यवस्था गरीबी और गुलामी है। अन्धविश्वासों से ग्रस्त कृषि अकाल ऋण, दासत्व, जाति-व्यवस्था के बन्धन, छुआछूत की शृंखलाएं औद्योगिक शोषण धन का अभाव एवं विषम वितरण, घटिया किस्म की अमीरी और घटिया किस्म की ही गरीबी, धार्मिक और सामाजिक संघर्ष, वर्गसंघर्ष, आदि विश्वजनीन समस्याएं भारत में व्याप्त हैं। इनका कारण खोजने पर हमें सुमित्रानन्दन पन्त के शब्दों में यही कहना पड़ता है, 'मैं जानता हूँ कि यह हमारी दीर्घ पराधीनता का दुष्परिणाम है।' [3] अस्तु इस पराधीनता को मिटाना हमारी इस अर्द्ध शताब्दी की समस्त क्रियाशीलताओं का लक्ष्य एवं प्रेरणा-स्रोत रा है और ऐसा न होने देना सरकार और उसके अनुयायियों की राजनीति का ध्ये इन परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का प्रधान क्रीडा क्षेत्र रहा है। इसका उससे व्यापक व्यापक का संबंध है।

विद्रोह की भावनाओं को दबाने में सरकार की सतर्कता—

यद्यपि स्पष्ट रूप से पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता की माग हमने १९२९ ई० की किन्तु इस माग का बीज हमारे हृदयों में अनन्त काल से पड़ा था और उस... १८५७ ई० में हुआ जो प्रतिकूल परिस्थिति पाकर एक बा फिर दब गया था। यह एक आग थी जो भीतर ही भीतर धधक रही थी। उसकी लपटों के विस्फोट को रोकने का प्रयत्न सरकार बराबर करती रही। लपटें बाहर निकलने के लिये भट्टी की मिट्टी को फोड़ कर छेद कर लिया करती हैं और मि

१— इण्डिया टुडे की भूमिका।

२—'पट्टाभि सीतारामय्या के 'कांग्रेस का इतिहास'' की भूमिका।

३— उत्तरा, पृ० १२।

वाला उस छेद को गीली मिट्टी से बन्द कर दिया करता है। यह क्रम दोनों में से किसी एक की समाप्ति तक बराबर चला करता है। ठीक इसी प्रकार कुछ छूट, कुछ सुविधाएं और कुछ छोटे-मोटे राजनीतिक अधिकारों की गीली मिट्टी से सरकार हमारे राजनीतिक असन्तोष की ज्वाला की जिह्वा को मुखरित होने से रोका करती थी। हमारे राजनीतिक असन्तोष का स्वभाव पूरी तरह समझती थी किन्तु वह न तो हम पर विश्वास कर पाती थी और न हमारी योग्यता पर। कलुषित स्वार्थ और साम्राज्यवाद की क्रियाशीलता की प्रकृति ऐसी ही होती है।

दुर्दमनीय राजनीतिक चेतना—

१८५७ ई० में अंग्रेजों ने हमारे साथ क्रूरता करने में कोई कसर उठा नहीं रखी किन्तु स्वाधीनता की हमारी मांग एवं पराधीनताजन्य हमारा असन्तोष मिटा नहीं। हम भीतर ही भीतर उबल रहे थे जिसकी अभिव्यक्ति समय-समय पर हो जाया करती थी। अंग्रेजों को इस बात का ज्ञान हो गया था कि वातावरण खतरनाक हो रहा है, विद्रोह की प्रलयकारी आंधी के आने के पहले की भयानक शान्ति वाला क्षुब्ध वातावरण है, असन्तोष के आवेग से सारा देश प्रकम्पित हो रहा है, और यदि कुछ किया न गया तो इस ज्वालामुखी के विस्फोट में सरकार जल कर खाक हो जायगी। वह अपनी कमजोरी—कमजोर स्थिति—को भी जानती थी। शंकर दत्तात्रेय जावडेकर ने लिखा है, 'जिन अंग्रेज अधिकारियों ने हिन्दुस्तान पर कब्जा कर लिया था वे इस तथ्य से वाकिफ थे। वे कहते थे, 'हमने भारत को नहीं जीता है। मोहवश वह हमारे आधीन हो गया है। जब अपनी असली ताकत का पता उसे चल जायगा तब एक पल भर के लिए भी उसे अपने काबू में रखना हमारे लिये असम्भव है। लाख-डेढ़ लाख लोग बीस-पच्चीस करोड़ की संख्या वाले किसी राष्ट्र को सदा के लिए अपने आधीन नहीं रख सकते।' '[1] परिणामस्वरूप एक चतुर अंग्रेज ह्यूम ने १८८५ में कांग्रेस की स्थापना की। कांग्रेस सेफ्टी वाल्व या चिमनी की तरह थी जिसका लक्ष्य था विद्रोह के धुएं को बाँध कर ऊपर हवा में उड़ा देना। सरकार ने हमारी राजनीतिक चेतना और हमारे राजनीतिक असन्तोष को कभी भी स्नेह और सहानुभूति की दृष्टि से नहीं देखा क्योंकि वह जानती थी कि घोड़ा घास से प्रेम करे तो खाय क्या? हमारी राजनीतिक चेतना का स्वरूप यह था कि हम अपने देश की राजनीति के लक्ष्य, उसकी दिशा और उसके स्वरूप के निर्णय में अपना हाथ चाहते थे और इसी के अनुरूप हमारे राजनीतिक असन्तोष का स्वरूप यह था कि भारत पर राज्य करने में भारतवासियों का अधिकाधिक हाथ नहीं रहता, इसमें उन्हें सहयोग

१— 'आधुनिक भारत', पृ० २१८।

करने का अवसर नहीं दिया जाता और प्राथमिकता और महत्व विदेशियों–विशेषरूप से अंग्रेजों–को दिया जाता है। महत्वपूर्ण पद उनके लिये थे और अधिकाधिक वेतन उनके लिये थे। वे मालिक और हम नौकर थे जबकि उन्हें नौकर और हमें मालिक होना चाहिये था। निश्चित था कि इसका अन्तिम परिणाम 'अंगरेजो का भारत छोड़ना' था। अंगरेज जानता था कि भारतीय एक दिन यही माग करेगा। लार्ड मार्ले ने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि सुधारो की रूपरेखा बनाते समय हमें तीन प्रकार के लोगो को अपने सामने रखना पड़ता है जिनमें से कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो एक दिन हमको भारत से निकाल भगाने का स्वप्न देखते हैं। दूसरे वर्ग में ऐसे लोग आते हैं जो उपनिवेशो के ढग के स्वशासन या स्वाधीनता की आशा करते हैं। औपनिवेशिक स्वराज्य चाहते हैं। तीसरे वर्ग के लोग हमारे प्रशासन में अपना सहयोग देना चाहते हैं और जनता की आवाज जोरदार ढंग से प्रभावशाली शैली में और स्वतन्त्रता के साथ हम तक पहुंचाना चाहते हैं। मेरा विश्वास है कि सुधारों का उद्देश्य दूसरे प्रकार के लोगों को तीसरे वर्ग में ला देना है।

सवैधानिक सुधार और उसके लिये होने वाले आन्दोलन —

१८९२ ई० में पार्लियामेंट ने एक नया इण्डिया कौंसिल अधिनियम बनाया जिसके अनुसार विधान परिषदों के अधिकार क्षेत्र को बढ़ा दिया गया था। कुछ शर्तों और प्रतिबन्धों के साथ ये परिषदें अब सम्बन्धी वार्षिक वक्तव्य पर विचार विनिमय कर सकती थीं। जनता के हित सम्बन्धी बातों पर परिषद के सदस्य सरकार से प्रश्न पूछ सकते थे जिनके लिये ६ दिनों पूर्व सूचना देनी होती थी। सभापति बिना कारण बताये ही किसी प्रश्न का पूछा जाना रोक सकता था। विषय भेद पर भी गवर्नर जनरल या गवर्नर प्रतिबन्ध लगा सकता था। सुप्रीम कौंसिल में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या १० से १६ के बीच तथा बम्बई और मद्रास में ८ से २० तक हो सकती थी। बंगाल की संख्या २० अवध तथा उत्तर पश्चिमी प्रान्त के लिये १५ थी। अतिरिक्त सदस्यों की २/५ संख्या गैर सरकारी होती थी। सरकार ने नियम की सीमा के भीतर ही भारत में चुनाव की आज्ञा दे दी थी किन्तु ये निर्वाचित सदस्य सरकार द्वारा नियुक्ति किये जाने पर ही अपनी सीट पर बैठ सकते थे। इस अधिनियम से दो ही महत्वपूर्ण बातें हुईं, निर्वाचन पद्धति का अपनाया जाना और कार्यकारिणी पर विधान परिषदों का अनिश्चित नियंत्रण, नहीं तो, यह अधिनियम मुझे तो ऐसा ही लगता है मानो कोई क्रूर एवं निरंकुश व्यक्ति किसी से बोल बोलने लगा हो अथवा उसने यह कह दिया हो कि तुम बात करना चाहते हो किन्तु बोलने के पहले मुझसे पूछ लेना अनिवार्य है क्योंकि तुम बोलना नहीं जानते। स्पष्ट था कि यह अधिनियम व्यवहार में आने पर

बड़ा ही खोखला सिद्ध होना। स्पष्ट था कि यद्यपि अँग्रेज भारत में धीरे धीरे उत्तरदायित्वपूर्ण शासन लागू करने का नाटक कर रहे थे किन्तु वे भारतीय स्वराज्य के शत्रु थे और वे लार्ड कर्जन के अनुसार ही यह मानते थे कि भारतवासी कोई भी उत्तरदायित्वपूर्ण पद सँभालने की योग्यता नहीं रखते और यदि अँग्रेजों की ओर से भारतीयों के हाथों में अधिकार सौंपने की उदारता दिखाई गई तो वह भगवान की इच्छा के प्रतिकूल होगी। परिणामतः एक ओर जापान की रूस पर विजय, आयरलैंड की स्वतंत्रता, रूस में स्वातंत्र्य आन्दोलन की सफलता, मिश्र के राष्ट्रीय आन्दोलन, सब इस्लामवाद के आन्दोलन नये चीन की गतिविधि, १९०६ के चुनाव में उदारदल की जीत, भारतीयों की दुर्दशा और उनके प्रति होने वाले दुर्व्यवहार, भारतीयों के क्षोभ और इन सबके परिणामस्वरूप हमारी विद्रोहाभिव्यक्तियों से डर कर अँग्रेज अधिकारी हमारी भावनाओं को दबाने के लिये हमारे दमन पर कटिबद्ध हो गये, और दूसरी ओर, हमारी राष्ट्रीयता को लँगड़ा करने के लिये १९०६ ई० में मुस्लिम लीग की स्थापना कर दी। इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि अपने राजनीतिक अधिकारों को मांगने का हमारा ढंग प्रकार और अन्दाज, सब बदल गया। दमन का उत्तर आतंकवाद से अर्थात् हत्याएँ करके बलात् किसी योजना को लागू करने का उत्तर सङ्गठित आन्दोलन से वक्तव्यों का उत्तर वक्तव्यों से, तथा कानून का उत्तर उसकी कटु आलोचना से देना प्रारम्भ किया गया नरम कांग्रेस गरम हो गई और नरम गरम दलों में बँट गई। शासकों को कुछ और झुकना पड़ा और १९०८ ई० का इण्डिया कौंसिल अधिनियम बना जिसके सुधार मिंटो मार्ले सुधार कहलाए। इसके अनुसार विधान परिषदों के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। गवर्नर जनरल की परिषद् के सदस्यों की अधिकाधिक संख्या ६०, मद्रास बंगाल यू० पी०, बम्बई बिहार और उड़ीसा की ५०, पंजाब और असम की ३०, शाही विधानपरिषद् में सरकारी सदस्यों की ३७ और गैर-सरकारी सदस्यों की ३२ हो गई। शाही विधान परिषद् के २८ सरकारी और ५ गैर सरकारी सदस्यों की नियुक्ति गवर्नर जनरल के हाथ की बात थी। सरकारी सदस्यों में से शेष ९ में १ गवर्नर जनरल परिषद् के ७ सामान्य सदस्य और एक कोई असाधारण सदस्य होता था। परिणामतः (३७+३२) ६९ में से ४२ सरकार के अपने आदमी हो गये। उत्तरदायी शासन के नाटक का एक स्वरूप यह था। प्रान्तीय विधान परिषदों के अधिकांश सदस्य यद्यपि गैर-सरकारी थे परन्तु चूँकि बहुत से गैर-सरकारी सदस्यों को गवर्नर नामजद करता था इसलिये वहाँ भी सरकार के सदस्यों का ही बहुमत रहता था। भारत सरकार क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के स्थान पर भिन्न भिन्न वर्गों एवं विभिन्न स्वार्थ वालों का विभिन्न प्रतिनिधित्व विभिन्न भारतीय ... ... रखना अधिक

ठीक समझता था, जैसे मुसलमानों का अलग, जमींदारों का अलग, व्यापारियों का अलग, इत्यादि। इसका दूसरा सिद्धान्त था विरोध सिद्धान्त का भेद करो। एक को और से बाँट कर उस ओर के लोग एक को स्वतन्त्र मान लेना और उन्हें स्वतन्त्र एवं पृथक् अस्तित्व के अधिकारों के योग्य अनुभव कराना ब्रिटिश शासकों की एक प्रमुख नीति यदि राजनीति में रही जैसा कि ऊपर के विवरण से स्पष्ट है तो आज देश में भी थी। आधुनिक भारतीय भाषाओं के वर्गीकरण में विभाजन की बात का अपना रूप से यही नीति परिलक्षित होती है। कुछ भी हो विधान परिषदों के काम बढ़ा दिये गए। प्रान्तीय विधान परिषद में विनियोग विवरण (बजट) के बारे विवाद सम्बन्धी नियम बना दिये गये। इन सभाओं पर परिवर्तन आने से प्रस्तावित स्थानीय शासन या स्थानीय सरकार को अतिरिक्त सहायता देना, इसके सम्बन्ध में प्रस्ताव उपस्थित कर सकने का अधिकार सदस्यों को दिया गया। ऋण के ब्याज, धार्मिक व्यय या रेल आदि के विषय पर विवाद कर सकने का अधिकार नहीं दिया गया। किसी विशेष दृष्टिकोण को और अधिक स्पष्ट करने के लिये प्रश्न या पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार तो दिया गया किन्तु उत्तर देने या न देने की स्वतन्त्रता उस विभाग के सदस्य को दे दी गई। सदस्यों का प्रस्ताव उपस्थित करने का अधिकार दिया गया और सभापति को यह अधिकार दिया गया कि वह पूरे प्रस्ताव को या उसके किसी अंश को सकारण या अकारण ही रोक दे। जनता के सामान्य हितों के विषय में वाद विवाद हो सकने के सम्बन्ध में भी नियम बना दिये गये। अधिकार देने के ढंग की इससे अधिक भौंडी हो भी क्या सकती थी! इसको हम यों समझें कि कोई कहे कि हम आपको अधिकार देते हैं किन्तु अमुक अमुक बातों पर आप नहीं बोल सकते आप बोल तो सकते हैं किन्तु बहस नहीं कर सकते आप बहस तो कर सकते हैं किन्तु हम उत्तर न देने के लिये स्वतन्त्र हैं और आप प्रार्थना कर तो सकते हैं किन्तु आपके प्रार्थना पत्र को रद्दी की टोकरी में फेंकने के लिये हम स्वतन्त्र हैं!! किया गया उत्तरदायी शासन देने का वादा और हमको दी गई अफसर हुक्म तानाशाही! कहा गया १००० पौंड का चैक देने को और दिया गया जाली चैक! पृथक् निर्वाचन पद्धति के परिणामस्वरूप, पं० जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, भारतीय मुसलमानों के चारों ओर एक घेरा डाल दिया गया जिसने उनको शेष भारत से अलग कर दिया। ऐतिहासिक प्रवृत्तियों की दिशा मोड़ दी। कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने इसे पनपती हुई प्रजातन्त्रात्मक पद्धति की पीठ में छुरा भोंकना कहा है। गाँधी जी ने कहा था कि इस सुधार ने हमें मिटा दिया। इस ऐक्ट के द्वारा देश में अंग्रेजों के पिट्ठू वर्ग के निर्माण की प्रेरणा मिली। मार्ले साहब का देश भक्तों को आस्ट्रेलिया में भेज देने के बारे में अर्थात् दूसरे

वर्ग को तीसरे वर्ग में बदलने में भी इन सुधारों से कोई सहायता न मिली। यह प्राणहीन प्रेत था। मृग मरीचिका थी। महज चांदनी थी। स्पष्ट था कि बङ्ग भंग का घाव इससे नहीं भर सकता था। कुछ आन्तरिक और कुछ बाह्य कारणों से मुसलमान भी अंग्रेजों से असन्तुष्ट हो चले। १९१५ में तुर्कों और जर्मनों का एक दल काबुल आया और वहां उससे ओबदुल्ला, मुहम्मद अली, आदि भारतीय मुसलमान मिले और अंग्रेजों को निकालने की योजना में लग गये तथा एक अस्थायी भारत सरकार की रूपरेखा बना डाली। मुस्लिम लीग ने भी अपना दृष्टिकोण बदला और १९१६ में दोनों ने अंग्रेजों के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बना लिया। अंग्रेजों की रङ्ग भेद की नीति हमें बहुत चुभती थी। युद्ध काल में ही आयरलैंड की समस्या सुलझाने वाला अंग्रेज हमारी मांग पर युद्ध-व्यस्तता का बहाना कर करके हमें और विक्षुब्ध कर रहा था। कुछ अंग्रेज अधिकारियों के मूर्खतापूर्ण वक्तव्यों से भी यह कटुता बढ़ रही थी। इस समाचार ने कि अंग्रेज युद्ध के बाद अपने साम्राज्य का एक संघ बनायेंगे और इस प्रकार हम भारतीय अन्य उपनिवेशों के भी दास बना दिये जायेंगे हमें और भी उत्तेजित कर दिया। लार्ड क्रिवी के इस वक्तव्य ने कि वे अपने से भिन्न नस्ल वाले लोगों को अपने समूह के नियन्त्रण से मुक्त करके स्वशासन देने की प्रयोगात्मक स्थिति में भी लाने को तयार नहीं नरम दल वालों को भी अंग्रेजों के विरुद्ध कर दिया। बड़ी सख्ती से क्रान्तिकारियों के मुकदमे करने और उनके निर्णय की अपील न होने देने की सभा बना ने हमें और भी क्रुद्ध कर दिया। देश भर में क्रान्तिकारी संगठन बनने लगे। क्रान्तिकारी आन्दोलन उत्तरी भारत में तेजी से फैलने लगा। होमरूल लीग ने भी भारत को झकझोरा। वायसराय बनने के बाद लार्ड चेम्सफोर्ड इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ब्रिटिश साम्राज्य के अभिन्न भाग के रूप में स्वशासित भारत अंग्रेजी शासन का लक्ष्य है जिसकी पूर्ति तीन प्रकार से की जा सकती है (१) नगरों कस्बों गांवों, आदि के क्षेत्र में स्वायत्त शासन की स्थापना का अधिकार प्रदान करके भारतीयों को शासन करने की ट्रेनिंग देकर और उनमें उत्तरदायित्व की भावना विकसित करके, (२) भारतीयों को उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर नियुक्त करके और (३) विधान मण्डलों का विकास करके। १९१७ में माण्टेग्यू भारत-सचिव हुए।

इसी बीच मद्रास की एक संस्था ने, जिसका नाम मद्रास पार्लियामेंट था 'कामनवेल्थ आफ इण्डिया' नामक एक संविधान बनाया। पंजाब चीफ्स एसोसिएशन ने पंजाब के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर के पास भारत में युद्धोत्तर सुधारों की रूपरेखा का एक स्मरण पत्र भेजा। जब सितम्बर, १९१६ में शाही विधान मण्डल की शिमला में बैठक हुई तो उसके सदस्यों ने इस बात पर क्षोभ प्रकट किया कि भारत-सरकार ने उनके

परामर्श किए जिन्ना आदि ने प्रस्तावित सुझाव भेज दिये थे। परिणामतः इस विधान परिषद् के १६ निर्वाचित सदस्यों ने, जिनमें जिन्ना, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्रीनिवास शास्त्री आदि थे, स्वतन्त्र रूप से एक स्मरण पत्र भेजा। १६१६ के दिसम्बर में सुप्रसिद्ध कांग्रेस लीग स्कीम निकला। स्मरण पत्र में कहा गया था 'भारत को एक अच्छे शासन की ही आवश्यकता नहीं है वरन् उस सरकार की भी आवश्यकता है जो जनता को मान्य हो और जिसका जनता के प्रति उत्तरदायित्व हो। यदि युद्ध के पश्चात भी व्यावहारिक रूप से भारत की वही स्थिति रहती है जो युद्ध के पूर्व थी तो समान संकट के विरुद्ध भारत और इङ्गलण्ड के समान प्रयत्नों का अपूर्ण आशाओं की दुखमयी स्मृति के अतिरिक्त और कोई परिणाम न होगा। लार्ड विलिंग्डन के कहने पर १८१५ ई० में गाखले ने उन सुधारों की एक रूपरेखा बनाई थी जो युद्ध के बाद भारत में किये जाय। इसे गाखले का राजनीतिक टेस्टामेंट कहते हैं। राउण्ड टेबुल ग्रुप की स्थापना १८०६ ई० के लगभग दक्षिण अफ्रीका में हुई थी। वहां उसे जो सफलता मिली उससे उत्साहित हो कर उसने यूजीलण्ड आस्ट्रेलिया और कनाडा का भी भ्रमण किया। कामन वेल्थ आफ नेशन्स के द्वितीय भाग को लिखते समय उन्हें भारतीय समस्याओं पर भी विचार करना पड़ा। कुर्टिस महोदय की प्रार्थना के अनुसार सर विलियम ड्यूक ने,जो बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर रह चुके थे और जो इस दल के सदस्य भी थे दल के सम्मुख अपना सुप्रसिद्ध स्मरण पत्र रक्खा। भारतीय समस्याओं का अध्ययन करने कुर्टिस १८१६ ई० में भारत पधारे। कुछेक कारणों से उनके सम्बन्ध में यह धारणा बन गई कि वे भारत देश की आशाओं और महत्वकांक्षाओं को नष्ट करने के षड्यन्त्र में लगे हैं। इसी बीच उन्होंने अपने सुधारों की रूपरेखा बनाई। उनके विचारों ने भारत के भावी शासन विधान को बहुत अधिक मात्रा में प्रभावित किया। भारत के प्रति मोन्टग्यू का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक उदार था। २० अगस्त, १८१७ को उन्होंने घोषणा की कि सम्राट् और उनकी सरकार की नीति यह है कि भारतीयों को प्रशासन के सभी विभागों में अधिकाधिक सहयोग देने का अवसर मिले और स्वशासित संस्थाओं का धीरे धीरे विकसित किया जाय जिससे ब्रिटिश साम्राज्य के एक अविभाज्य अंग की स्थिति या हैसियत में ही भारत में अन्दर उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार की स्थापना का आदर्श प्रगतिशील रूप में धीरे धीरे कार्यान्वित किया जा सके। यह कार्य एक क्रम से ही हो सकता है। कब, कैसे और किन किन ढंगों से ऐसा होगा—इसका निर्णय ब्रिटिश सरकार और भारत ही करेगी। इसमें दूसरों की राय अवश्य ली जायगी। मौंटेग्यू महोदय की इस घोषणा से भारतवर्ष के राजनीतिक इतिहास में एक युग की समाप्ति और दूसरे युग का प्रारम्भ होता है। मौंटेग्यू महोदय एक निष्ट

मण्डल के साथ भारत आये और ५½ महीने भारत भ्रमण करके तथा बहुतों से विचार विनिमय करके लन्दन वापस गये। कुछ दिनों के पश्चात उनकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। नरम दल वालों ने इस रिपोर्ट का स्वागत किया और गरम दल वालों ने विरोध। श्रीमती एनी बेसेन्ट ने कहा कि ये प्रस्ताव ऐसे नहीं हैं जिन्हें इङ्गलण्ड जैसा देश हमारे सम्मुख रखे या जिन्हें हम स्वीकार करें। तिलक ने इसे 'पूर्णतः अस्वीकार्य' कहा। कांग्रेस ने कांग्रेस लीग समझौते पर ही फिर अपना विश्वास प्रकट किया। १९१८ के दिसम्बर में कांग्रेस ने फिर अपने कुछ प्रस्ताव उपस्थित किये। माण्ट फोर्ड योजना ने कांग्रेस के नरम और गरम दलों में स्थायी रूप से मतभेद उपस्थित कर दिया। २ जून, १९१९ को श्री माण्टेग्यू ने अपना भारत सरकार विधेयक उपस्थित कर दिया। उसकी मुख्य बातें इस प्रकार थी—

(१) भारत सचिव का वेतन इंगलैंड के राजस्व से दिया जायगा। भारत सचिव के कुछ कार्य उससे लेकर भारत के हाई कमिश्नर को दे दिये गये जिसकी नियुक्ति भारत सरकार द्वारा होनी थी और जिसका वेतन भी भारत सरकार द्वारा दिया जाना था। उसे गवर्नर जनरल और उसकी परिषद् के अभिकर्ता (एजेंट) के रूप में कार्य करना था। कुछ विभाग भी उसके अधीन हो गये। प्रांतीय क्षेत्र के स्थानान्तरित विभागों में भारत-सचिव के अधिकार कम कर दिये गये। भारतीय विषयों का अधीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण भारत-सचिव के ही हाथों में रहा। उसकी आज्ञाओं का पालन गवर्नर जनरल का कर्त्तव्य था।

(२) केन्द्र में दो सदनों वाली व्यवस्थापिका सभायें स्थापित होनी थी एक केन्द्रीय विधान सभा और दूसरी राज्य परिषद्। राज्य परिषद् के ६० सदस्यों में से ३३ निर्वाचित और २७ नामजद अर्थात् मनोनीत और केन्द्रीय विधान सभा के १४५ सदस्यों में से १०३ निर्वाचित और ४२ मनोनीत होने थे। निर्वाचन क्षेत्र का आधार पूर्ववत् धर्मीय ही रहा, क्षेत्रीय न हो सका।

(३) केन्द्रीय विधान सभा की आयु ३ वर्षों की और राज्य परिषद् की ५ वर्षों की रखी गई। कार्यकाल को कम करने का अधिकार गवर्नर जनरल को दिया गया।

(४) दोनों सदनों के लिये प्रत्यक्ष निर्वाचन करवाने का निर्णय किया गया।

(५) मत देने का अधिकार सबको नहीं दिया गया। उसके लिये आयकर आय, लगान या सार्वजनिक कार्यों का अनुभव, आदि की शर्तें लगा दी गई।

(६) गवर्नर जनरल को भवन की बैठक बुलाने, बढ़ाने और भंग कर करने

का अधिकार दे दिया गया। उस दोनो सदनो के सदस्यों के सम्मुख भाषण देने का भी अधिकार था।

(७) केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभाओं को बहुत ही व्यापक अधिकार थे। वह पूरे भारत के लिये विधान बना सकती थी, वह विधान को भंग कर सकती थी या उसमें परिवर्तन कर सकती थी। केवल उच्च न्यायालय को भंग कर सकने और इंगलैंड की ससद द्वारा लिखित या अलिखित विधान, आदि पर उसका कोई अधिकार नहीं था। कुछ महत्वपूर्ण विषय ऐसे थे जिनमें सबधित विधेयक उपस्थित करने के लिये गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति आवश्यक थी। पारित प्रस्तावों पर सम्राट की स्वीकृति अनिवार्य थी। गवर्नर जनरल भारत सचिव, ससद और अंग्रेजी राज्य का शासन रखकर भारत में जो चाहे सो कर सकता था। उसका अपना मत ही कानून था। उसके द्वारा लगाये गये अध्यादेश कानून की ही तरह मान्य थे। आवश्यकता पड़ने पर गवर्नर निषेधाधिकार का भी प्रयोग कर सकता था।

(७) वित्तीय विवरण में कुछ मदें ऐसी भी थी जो मतदान की सीमा के परे थी। मतदान की सीमा के अन्दर आने वाली मदों पर भी गवर्नर जनरल को स्वेच्छापूर्वक निर्णय लेने का अधिकार था। वह अपारित को पारित और पारित को अपारित कर सकता था। कार्यकारिणी पर व्यवस्थापिकाओं का कोई भी अधिकार नहीं था।

(८) लोगों ने ठीक कहा है कि केन्द्रीय सरकार उत्तरदायित्वहीन तो थी किन्तु उत्तरदायित्वपूर्ण या उत्तरदायी नहीं थी।

(९) विषयों को केन्द्रीय और प्रान्तीय दो भागों में विभाजित कर दिया गया था। सिद्धान्त यह था कि जिनका सबध अनेक प्रांतों से हो वे केन्द्रीय और जिनका एक प्रांत से हो वे प्रान्तीय। अवशिष्ट विषय को भी केन्द्रीय और प्रांतीय भागों में विभाजित किया गया था। विभाजन सुस्पष्ट और सुनिश्चित कभी नहीं रहा।

(१०) प्रांतीय विधान सभाओं की रूपरेखा विस्तृत कर दी गई। ७० प्रतिशत सदस्यों का निर्वाचन अनिवार्य कर दिया गया। सदस्यों के कार्यक्षेत्र और अधिकार भी बढ़ा दिये गये। यह सब हुआ किन्तु इन सबको गवर्नर की इच्छा के अधीन कर दिया गया।

(११) प्रांतों में द्वैध शासन स्थापित कर दिया गया। इस प्रणाली के अनुसार प्रांतीय सरकारों के विषयों को दो भागों में विभाजित किया गया रक्षित

और हस्त तरित या स्थानातरित। रक्षित विषय गवनर और उसकी कार्यकारिणी परिषद् के अधीन कर दिये गये और हस्तातरित विषय गवनर और उसके मत्रियो के। परिषद् के सदस्यो को मनोनीत और व्यवस्थापिका सभाओ के सदस्यो मे से मत्रियो का चुनाव गवनर ही करता था। जसे केन्द्र म गवनर जनरल सर्वाधिकार सपन सर्वेसर्वा था वसे ही प्रातो म गवनर था।

अपूर्ण एव अपर्याप्त सवधानिक सुधार—

कहने की आवश्यकता नही कि य सुधार भी पूर्णरूप से असतोषजनक सिद्ध हुए। लक्ष्य की पूर्ति म इनके कारण बहुत असुविधाए, कठिनाइया और बाधाए उपस्थित होती थी। १९१९ के अपने वार्षिक अधिवेशन म काग्रेस ने अग्रेजी सरकार से अनुरोध किया कि वह शीघ्रातिशीघ्र भारतवष म उत्तरदायित्वपूर्ण स्वायत्तशासन की स्थापना की ओर कदम बढाये और यह आश्वासन भी दिया कि इन सुधारो को कार्यान्वित करने म सहयोग दिया जायगा। इसका उत्तर सरकार ने रौलट ऐक्ट बनाकर दिया। इसकी प्रतिक्रिया म जब हमने ६ अप्रल, १९१८ को हडताल किया तब जलिया वाला बाग और माशलला के कुकृत्यो से हमको जवाब दिया गया। भारत ने खिलाफत और सत्याग्रह का माग अपनाया। सत्याग्रह बद किये जाने के पश्चात् स्वराज्य पार्टी ने व्यवस्थापिका सभाओं म सदस्य बनकर सरकार का विरोध इस क्षेत्र मे भी किया। जाच के लिये आये हुए साइमन कमीशन का बहिष्कार किया गया। १९२८ म लाड बर्केन हेड की चुनौती के उत्तर मे नेहरू रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसमे अग्रेजी साम्राज्य के अन्तगत स्वशासित स्वराज्य की माग की गई थी। इसी बीच इगलण्ड म रम्जे मकाडानल्ड की उदारदलीय सरकार बनी। भारत का इस सरकार से बडी आशाए थीं। १९२९ म देश की आन्तरिक उथल-पुथल बहुत बढ गई थी। इधर मजदूर सरकार से भी निराशा ही प्राप्त हुई। परिणामस्वरूप जब १९२९ म ही नमक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तब सरकार ने सभी प्रकार के नैतिक एव अनैतिक साधनो म हमारे आन्दोलन को कुचल डालने का जो क्रूर प्रयास किया उसम सारे देश म इस सरकार के प्रति अपूर्व एव असाधारण घृणा पैदा होगई। १९३० मे साइमन कमीशन की रिपोट प्रकाशित हुई जिसम सुधारमय शासन गवनर जनरल के पहले ही जैसे व्यापक अधिकार ब्रिटिश भारत और रियासतो के प्रतिनिधियो द्वारा सम्राट से निर्मित एक भारत मडल की स्थापना, आतरिक मामलो म प्रान्तो को पूर्ण स्वतत्रता प्रदान, मताधिकार म वृद्धि सेना के शनै शनै भारतीयकरण, आदि का सुझाव दिया गया। भारत ने इस रिपोट को "रद्दी टोकरी मे फाडकर फेंक देने योग्य" समझा। इसके बाद अग्रेज सरकार ने

पहला गोल मेज सम्मेलन आयोजित किया जो कांग्रेस के असहयोग के कारण निरर्थक हो गया। बाद में गांधी-इर्विन समझौते के परिणामस्वरूप कांग्रेस के प्रतिनिधि गांधी ने दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लिया। तब तक इंगलैंड में अनुदार दल की सरकार बन चुकी थी और राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध रचा गया यह षड्यन्त्र' भी असफल होकर रह गया। फिर भी इस सम्मेलन से संघीय न्यायपालिका, प्रान्तों तथा केन्द्र के बीच आर्थिक साधनों के विभाजन, संघीय व्यवस्थापिका के निर्माण, संघ में रजवाड़ों के सम्मिलित होने आदि की रूपरेखा निश्चित हो गई। इधर राष्ट्रीय आन्दोलन उग्रतर हुआ, उधर मुस्लिम लीग के नेताओं ने नौकरशाही का साथ दिया। अछूतों की ओर साम्प्रदायिक भावना को ध्यान में रखकर मैकडानल्ड ने अपना "साम्प्रदायिक परिनिर्णय' घोषित किया जिसके विरोध में गांधी जी ने अपना आमरण अनशन प्रारम्भ किया जो 'पूना समझौते' के बाद टूटा। १७ नवम्बर १९३२ ई० को तृतीय गोलमेज सम्मेलन बुलाया गया जिसमें केवल ४६ प्रतिनिधियों ने भाग लिया। मार्च १९३३ ई० को सरकार ने अपना श्वेतपत्र प्रकाशित किया जिसमें भारत के नये संविधान की रूपरेखा थी। यह अत्यन्त अनुदार तथा प्रतिक्रियावादी था और था हमारी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं का अपमान। भारत के विरोध के बावजूद भी ५ फरवरी १९३५ को भारत सचिव सैम्युएलहोर ने यह विधेयक उपस्थित कर दिया। यह अधिनियम एक लम्बा और पेचीदा विधान था। इसके अनुसार अखिल भारत संघ की स्थापना होनी थी जिसमें अन्य प्रान्तों का सम्मिलित होना अनिवार्य था किन्तु रियासतों के लिये—चाहे छोटी हों चाहे बड़ी—स्वेच्छा की बात थी। सम्मिलित हो जाने के बाद उन्हें बाद में निकल सकने का अधिकार नहीं था। एक निश्चित संख्या में देशी राज्यों का संघ में सम्मिलित होना अनिवार्य था। देशी राज्यों को इस विषय में पूर्ण स्वतन्त्रता थी कि वे अपने कौन से विषय और विभाग संघ को हस्तान्तरित करें। किस राज्य के लिये संघ में कितनी सीटें होंगी, इसका निर्धारण किसी एक सिद्धान्त पर आधारित नहीं था। कहीं उसका आधार था जन संख्या और कहीं महत्व और साम्राज्य के प्रति की गई सेवाएँ। राज्यों का विशेष प्रतिनिधित्व भी प्रदान किया गया था। उनके सदस्य शासकों द्वारा मनोनीत होने थे। केन्द्रीय सरकार इन्हीं रियासतों पर केवल दो ही प्रकार के कर लगा सकती थी—निगम कर और आयात पर विशेष अधिकार। राज्य के शासकों को निषेधाधिकार भी दिये गये थे जिससे वे संघ की सारी योजनाओं को नष्ट कर सकते थे। इस विधान के अनुसार द्वैध शासन प्रान्तों में समाप्त करके केन्द्र पर लागू कर दिया जाने वाला था। संघीय व्यवस्थापिका में दो सदन होने थे—संघसभा और राज्यपरिषद्। इन

व्यवस्थापिकाओं की शक्तियां असाधारण रूप से सीमित थी। संघीय न्यायालय के सभी न्यायाधीशों की नियुक्तियां सम्राट द्वारा होनी थी जिनको हटाने के लिये ब्रिटिश प्रिवी कौंसिल की राय अनिवार्य थी। भारत सचिव की मन्त्र-परिषद् समाप्त होनी थी। उसके स्थान पर परामर्शदाताओं की एक परिषद् बननी थी। स्व विवेकानुसार कार्य करने के लिए गवर्नर जनरल और उसके माध्यम से गवर्नर भारत-सचिव के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायी थे। विशेष परिस्थितियों में गवर्नर जनरल निरंकुश शासक के समस्त अधिकार ग्रहण कर सकने के लिये स्वतन्त्र था। यह संविधान अपरिवर्तनीय था। *इसमें परिवर्तन केवल इंगलैंड की सरकार ही कर सकती थी।* प्रान्तों को बहुत स्वतन्त्रता थी किन्तु उस स्वतन्त्रता का अपहरण करने के लिये गवर्नर को अधिकार थे। इनके अनुसार गवर्नर जनरल, चर्चिल के शब्दों में, "एक हिटलर अथवा मुसोलिनी की सारी शक्तियों से सुसज्जित है। तनिक सा कलम घुमाकर वह सारे संविधान को छिन्न भिन्न कर सकता है।" प्रान्तों का गवर्नर मन्त्रिमंडल तथा व्यवस्थापिका सभाओं के नियन्त्रण से मुक्त था बल्कि वे ही इसके नियन्त्रण में थी। इस अधिनियम को लीग और कांग्रेस दोनों ने अस्वीकार कर दिया। जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि यह संविधान एक ऐसी मशीन है जिसके ब्रेक तो बहुत मजबूत हैं मगर जिसमें इंजिन कोई भी नहीं। के० टी० शाह ने कहा कि सब की जड़ें सड़ी हुई हैं, ढांचा कुरूप है और ऊपरी सजावट और चित्रकारी भी घृणित है। सी० वाई० चिन्तामणि ने इसको "भारत विरोधी अधिनियम" कहा। एटली के अनुसार इसकी मुख्य विशेषता थी '*अविश्वास*'। *मदन मोहन मालवीय ने इस ढाल में पोल ही पोल देखी।* सचमुच यह उपयोगिता शून्य आभूषण था। पता नहीं कि इसके निर्माताओं ने क्या सोचकर इसका निर्माण किया था। यदि उन्होंने भारतीयों को इतना मूर्ख समझा हो कि वे इसके दोष समझने की भी बुद्धि नहीं रखते और इसलिये इसे स्वीकार कर लेंगे, तो आश्चर्य है उनकी सूझ बूझ पर।

सन् १९३७–३९ के वर्षों में कांग्रेस में दो दल होगये —दक्षिण पंथी और वामपंथी। दक्षिण पंथी थे गांधीवादी राजगोपालाचार्य और पटेल, आदि, वामपन्थी थे सुभाष बोस। गांधीवादी राष्ट्रीय शक्तियां को संगठित करके अंग्रेजी *साम्राज्यवाद* को उन्मूलित करने के विरोधी नहीं थे परन्तु वे ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहते थे जो फासिस्ट विरोधी युद्ध-नीति के मार्ग में बाधक हो। कांग्रेस ने १९३७ के निर्वाचन में भाग लिया और ११ प्रान्तों में से ६ में कांग्रेस की सरकारें बनी। सरकार बनाने से पूर्व कांग्रेस को सरकार ने *यह आश्वासन* दे दिया था कि वह मंत्रियों के कार्य में यथा सम्भव विघ्न न डालेंगे। केन्द्र में भूलाभाई देसाई के नेतृत्व

म कांग्रेसी दल सरकारी पक्ष के लिये स्थायी सरदर्द बन गया था। इन प्रांतीय सरकारों ने दो वर्षों तक काम किया। मंत्रियों का परिश्रम और कार्य-सफलता आशातीत थी। ३ सितम्बर १९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ा और अंग्रेजों ने ३ सितम्बर १९३९ को भारतवासियों से राय लिये बिना भारत को मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित घोषित कर दिया और भारत रक्षा आर्डिनेन्स भी घोषित किया गया। कांग्रेस ने १४ सितम्बर को इंगलैंड से युद्ध उद्देश्यों की घोषणा करने की मांग की जो ठुकरा दी गई और 'वायसराय महोदय के वक्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेजों का वश चलते भारत में जनतंत्र की स्थापना सम्भव नहीं है' (गांधी)। १९ नवम्बर को कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिया। इससे लीग को बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने २२ नवम्बर को 'मुक्ति दिवस' मनाया। मार्च, १९४० में मौलाना आजाद कांग्रेस के प्रेसिडेण्ट हुए। गांधी जी ने वर्किंग कांग्रेस कमेटी को सत्याग्रह कमेटी में बदलने की राय दी। ७ जुलाई १९४० को कांग्रेस ने कहा कि यदि अंग्रेज युद्ध के बाद भारत को स्वतंत्र करने का आश्वासन दें और आपत्ति काल के लिये केन्द्र में एक अस्थायी सरकार बना दें तो कांग्रेस धन-जन से युद्ध में इंगलैंड की सहायता करने को प्रस्तुत है। यह प्रस्ताव भी अंग्रेजों ने ठुकरा दिया। इसी बीच इंगलैंड के प्रधान मंत्री बने भारतीय स्वतंत्रता के कट्टर विरोधी चर्चिल और भारत-सचिव बने एमरी। यह भी घोषणा की गई कि एटलान्टिक चार्टर भारत के लिये नहीं है। युद्ध की परिस्थिति बिगड़ी और अंग्रेजों के जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया। ८ अगस्त १९४० को वायसराय लिनलिथगो ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसकी मुख्य बातें ये थीं —(१) गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी का विस्तार और एक युद्ध परामर्शदात्री समिति की स्थापना। (२) ब्रिटिश सरकार ऐसी किसी सरकार को सत्ता हस्तान्तरित नहीं करेगी जिसके अधिकार को भारत के राष्ट्रीय जीवन का कोई बड़ा तथा शक्तिशाली अंग स्वीकार न करता हो। तात्पर्य यह कि मुस्लिम लीग के समर्थन के बिना भारत के लिये कोई भी संविधान नहीं बन सकता और न कोई राष्ट्रीय सरकार बन सकती है। (३) युद्ध के बाद भारत अपना संविधान स्वयं बनायेगा। (४) राष्ट्रमंडल के इस संकट काल में वैधानिक समस्याओं पर कोई भी निर्णय न होगा। युद्ध के बाद भारत के प्रतिनिधियों का एक संगठन आयोजित होगा जो नव विधान का निर्माण करेगा। उस समय तक अंग्रेज सरकार देश की विभिन्न संस्थाओं का विधान के स्वीकार सिद्धान्तों पर एकमत होने में सहायता करेगी। (५) इस अन्तरिम काल में देश के सभी राजनीतिक दल युद्ध-प्रयासों में सहयोग करें और भारत को निजी अंग्रेजी राष्ट्रमंडल में समानता का स्तर प्राप्त कराने में सहायता दें।

इस प्रकार जब हमने पूर्ण स्वराज्य मांगा तब वे औपनिवेशिक स्वराज्य देने को तयार हुए और वह भी युद्ध के बाद। विवश होकर १७ अक्टूबर, १९४० को कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ किया। मित्र राष्ट्रों के दृष्टिकोण से युद्ध की स्थिति अत्यंत गंभीर होने लगी। पूर्व में जापानी सेनाएं विजय पर विजय प्राप्त करने लगी। भारत पर भी खतरा बढ़ गया। तब अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति तथा प्रगतिशील देशों के साथ सक्रिय सहानुभूति की कामना से कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह रोक दिया। चर्चिल और एमरी का भी दृष्टिकोण कुछ बदला सत्याग्रही छोड़े जाने लगे। २२ फरवरी, १९४२ को अमेरिका के राष्ट्रपति ने घोषित किया कि एटलांटिक चार्टर सारे संसार के लिये है। २७ फरवरी को आस्ट्रेलिया के विदेश मन्त्री डा० इवाट ने भी भारतीय स्वतंत्रता का समर्थन किया। २३ मार्च १९४२ को सर स्टैफोर्ड क्रिप्स अपना मिशन लेकर भारत आये। उन्होंने आते ही विभिन्न दलों के नेताओं से परामर्श करना प्रारम्भ कर दिया। कई बार ऐसा लगा कि समझौता हो जायगा पर हुआ नहीं और २९ मार्च, १९४२ को उन्होंने अपना प्रस्तावित घोषणा-पत्र प्रकाशित किया —(१) युद्ध के बाद स्वतंत्र भारतीय संघ का निर्माण हो जिसे पूर्ण उपनिवेश का स्तर प्रदान होगा और ब्रिटिश राष्ट्र संघ से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर सकने की भी इसे स्वतंत्रता होगी। (२) युद्ध के बाद एक भारतीय विधान निर्मात्री सभा का निर्माण होगा। उसके बनाये हुए विधान को ब्रिटिश सरकार तभी स्वीकार करेगी जब —(अ) यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रान्त इस नये संविधान से सहमत न हो तो उसे अपनी वर्तमान वैधानिक स्थिति बनाये रखने का अधिकार होगा, (ब) यदि वह आगे चलकर संघ में सम्मिलित होना चाहे तो इसकी भी व्यवस्था होगी, (स) देशी राज्यों को भी स्वतंत्रता होगी कि वे नये संविधान को स्वीकार करें या न करें, (द) संविधान-सभा तथा इंगलैंड की सरकार के बीच एक सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये जायगे जिसमें पूर्ण उत्तरदायित्व हस्तांतरित होने के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली संभावनाओं तथा ब्रिटिश सरकार के पूर्ण आश्वासनों के अनुसार अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा की व्यवस्था होगी। (३) युद्ध काल में भारत की सुरक्षा का भार ब्रिटिश सरकार पर ही रहेगा।

गांधी जी ने कहा कि यह एक ऐसी हुंडी है जिस पर आगे की तिथि पड़ी हुई और सो भी ऐसे बैंक के नाम जिसके दिवालिया होने में सन्देह नहीं रह गया है। इस प्रस्ताव में भारत-विभाजन की पूरी व्यवस्था थी क्या कि देशी राज्यों को अपने-अपने राज्यों से संविधान-सभा के लिये सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार था, प्रांतों को अलग होने का अधिकार था और मुस्लिम लीग का अपनी हर मांग मनवा

सकों का अधिकार था। कांग्रेस ने इसे अस्वीकार कर लिया। क्रिप्स भारत को उत्तेजित अवस्था में ही छोड़ कर इंगलैंड चले गये और अपनी असफलता का उत्तरदायित्व कांग्रेस पर डाल गए। उन्होंने ११ अप्रैल को अपना प्रस्ताव वापस ले लिया। अब संघर्ष के सिवाय और कोई चारा नहीं रह गया। नेहरू जी ने प्रयाग के एक भाषण में आग के साथ खेलने की' और "दोधारी तलवार" की बात की, राजेन्द्र बाबू ने 'गोली राज और तोप का सामना करने के लिये तैयार" रहने को कहा, पटेल ने थोड़े दिनों में किन्तु बहुत भयानक संग्राम की ओर संकेत किया और गांधी जी ने कहा—'मैं बिना साहब के हृदय परिवर्तन की बाट नहीं देख सकता यह मेरे जीवन का अंतिम संघर्ष होगा।' ८ अगस्त १९४२ ई० को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास किया। ९ अगस्त १९४२ को देश के कोने-कोने में नेताओं और कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारियां शुरू हो गई जनता पागल हो उठी। साथ ही सम्पूर्ण नौकरशाही सब प्रकार के अमानुषिक अत्याचारों से इस राजनीतिक आन्दोलन को दबाने में लग गई। सरकारी अनुमान के अनुसार २५० रेलवे स्टेशन और ५०० डाकघर नष्ट हुए। १५० से अधिक थानों पर आक्रमण हुए। १९४२ के अन्त तक ५३८ अवसरों पर गोलियां चलाई गई। ९४० व्यक्ति मरे, १६३० घायल हुए और ६०,००० व्यक्ति गिरफ्तार हुए। फिर गांधी जी ने इस संबंध में कांग्रेस की नीति स्पष्ट करने और वर्किंग कमेटी के सदस्यों से मिलने का अवसर मांगा जिसके न मिलने पर उन्होंने २१ दिन का अनशन किया। इस संबंध में एमरी और लिनलिथगो की क्रूर नीति से असन्तुष्ट होकर उनकी कार्यकारिणी के एच० पी० मोदी, नलिनी रंजन सरकार और एम० एस० अणे ने त्याग पत्र दे दिया। १९४३ में बंगाल में भयानक अकाल पड़ा जिसमें लग-भग ४० लाख आदमी भूखों मरे। इसका उत्तरदायित्व एकमात्र सरकारी कुप्रबंध पर था। उड़ीसा, मालाबार, काठियावाड़ आदि में भी हजारों आदमी भूखों मरे। अक्टूबर, सन् १९४३ ई० में लार्ड वेवेल भारत के वायसराय होकर आये और ६ महीने के मौन के बाद कहा कि उन्हें भारत की समस्या सुलझाने में किसी प्रकार की उतावली नहीं है। अप्रैल, १९४४ में गांधी जी बीमार पड़े। इस बीमारी ने वेवेल को भी विचलित कर दिया और हत्या के कलंक से बचने के लिये ६ मई को उन्हें कारागृह से मुक्त कर दिया गया। इसी अप्रैल १९४४ में सुभाष बाबू की (जो जनवरी १९४१ ई० में भारत से छिपकर भाग गये थे और जिन्होंने अफगानिस्तान इटली, फिर जर्मनी होते हुए जापान आकर हिंद सेना का संगठन किया था) आजाद सेना ने अंगरेजी सेनाओं को हराकर आसाम में कोहिमा पर अपना अधिकार कर लिया था। जापान की हार

के बाद युद्ध सामग्री की कमी और भयानक वर्षा के कारण इस सेना ने आत्मसमर्पण कर दिया। उनके तीन सेनानायकों (सहगल, ढिल्लन तथा शाहनवाज) पर लाल किले में मुकद्दमा चलाया गया जिस के बाद में उन्हें निरपराध घोषित करके छोड़ दिया गया। आजाद हिंद सेना के इन अनेक वीरों पर चलने वाले मुकदमों ने देश के कोने-कोने को आलोड़ित कर दिया। स्वस्थ होने पर गांधी जी ने कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्यों से भेंट करने की सुविधा वायसराय से मांगी जो अस्वीकृत होगई। फिर जिना साहब के सामने गांधी जी की स्वीकृति से राजा जी ने कांग्रेस-लीग समझौते की अपनी योजना रक्खी। इस योजना की मुख्य बातें ये थीं —(१) मुस्लिम लीग स्वतन्त्रता की मांग का समर्थन करे तथा सक्रान्तिकालीन अस्थायी सरकार के निर्माण में कांग्रेस के साथ सहयोग करे। (२) युद्ध समाप्त होने पर भारत के उत्तर पश्चिमी तथा पूर्वी भागों में समीपस्थित मुस्लिम बहुसंख्यक क्षेत्रों की सीमा निर्धारण करने के लिये कमीशन नियुक्त किया जाय। तत्पश्चात् वयस्क मताधिकार प्रणाली के अनुसार इन क्षेत्रों के निवासियों की मतगणना करके भारत से उनके संबंध-विच्छेद के प्रश्न का निर्णय किया जाय। परन्तु समीपवर्ती उपक्षेत्रों को अपनी इच्छानुसार एक अथवा दूसरे राज्य में रहने का अधिकार रहे। (३) मतगणना के पूर्व सब दलों को अपने दृष्टिकोण के प्रचार की पूर्ण स्वतन्त्रता हो। संबंध-विच्छेद की दशा में रक्षा, यातायात तथा अन्य आवश्यक विषयों में पारस्परिक समझौते की व्यवस्था हो। (५) निवासियों की अदला-बदली उनकी स्वेच्छा पर हो, (६) उपर्युक्त शर्तें उसी दशा में मान्य होंगी जब इंगलैंड भारतीयों को पूर्ण अधिकार तथा उत्तरदायित्व देना स्वीकार कर ले। जिना साहब ने इसे स्वीकार नहीं किया। इसी वर्ष गांधी जी ने बम्बई में कई दिनों तक रहकर जिना साहब से मिलकर उनसे बातें करके समझौते का एक प्रयास और किया किन्तु जिना साहब न माने। ऐसे ही कितने असफल प्रयत्न राजा जी और कृष्ण ने भी किये थे किन्तु तीनों के हठी प्रतिद्वन्दी नहीं माने। जनवरी १९४५ में भूलाभाई देसाई और नियाकत अली खां ने आपस में बातचीत करके एक योजना-सूत्र तयार किया किन्तु कांग्रेस और लीग में समझौता न हो सका। १४ जून, १९४५ को मि० एमरी ने ब्रिटिश लोकसभा में तथा लार्ड वेवेल ने भारत में साथ-साथ घोषणा की कि कांग्रेसी नेता शीघ्र ही छोड़ दिये जायेंगे तथा शिमले में सब दलों के नेताओं का एक सम्मेलन होगा। उन्होंने एक नई तथा जनमत की प्रतिनिधि कार्यकारिणी परिषद् बनाने के लिये केन्द्रीय तथा प्रान्तीय राजनैतिक दलों के नेताओं को निमन्त्रित किया जिसमें "सभी सम्प्रदायों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों तथा 'सवर्ण-हिन्दुओं और

मुसलमानों की संख्या समान अनुपात में थी। यह परिषद् सरकारी संविधान के अन्तर्गत काम कर रही थी। प्रधानमंत्री तथा प्रधान सेनापति के अतिरिक्त सब सदस्य भारतीय होते थे। विदेश विभाग का निरीक्षण भी किसी भारतीय को ही सौंपा जाता था। इस अस्थायी सरकार का उद्देश्य स्थायी समझौते का मार्ग प्रशस्त करना था। २५ जून १९४५ को प्रसिद्ध शिमला सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। जिन्ना साहब ने इस बात पर विशेष बल दिया कि (१) कार्यकारिणी के सभी मुसलमान सदस्य लीगी ही हों और (२) यह बात मान ली जाय कि यह निश्चित रूप से कुलीन हिंदुओं की एक संस्था है। कांग्रेस इस स्थिति को बिल्कुल ही नहीं स्वीकार कर सकती थी। वायसराय लीग के सहयोग के बिना कुछ भी नहीं कर सकते थे। सम्मेलन भंग हो गया।

जुलाई सन् १९४५ ई० के आम चुनाव निर्वाचन में इंग्लैंड में मि० एटली के नेतृत्व में मजदूर दल की सरकार स्थापित कर दी। परिणामस्वरूप लार्ड पैथिक लारेंस भारत सचिव हुए। प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारा सभाओं के लिये १९४५-४६ के जाड़े में साधारण निर्वाचन की घोषणा हुई। भारत सचिव से परामर्श करने के बाद वेवल ने १९ सितम्बर की घोषणा में बताया कि निर्वाचन के पश्चात् एक संविधान सभा का निर्माण होगा तथा प्रमुख राजनैतिक दलों के सहयोग से कार्यपालिका का पुनः संगठन होगा। निर्वाचन हुए। सभी प्रान्तों में लगभग शतप्रतिशत गैर मुस्लिम स्थान कांग्रेस को मिले। अन्य स्थानों में कांग्रेस ने कुछ मुस्लिम स्थान भी प्राप्त किये। अप्रैल, १९४६ में सिंध तथा बंगाल के अतिरिक्त सभी प्रान्तों में कांग्रेस ने शासन संभाला। पंजाब में संयुक्त मंत्रिमण्डल बना। कांग्रेस की इस अद्भुत विजय से अंग्रेज आश्चर्य चकित हो गये। बम्बई, कराची, तथा मद्रास के भारतीय नाविकों ने विद्रोह कर दिया। भारतीय सेनाओं ने इन पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। अम्बाला आदि स्थानों पर भारतीय वायु सेना ने भी विद्रोह कर दिया। आजाद हिन्द सेना के सैनिकों वाले मुकदमे ने भारत में रणातुर राष्ट्रीयता की आग भड़काई। राष्ट्रीय जागरण सेना में पहुँचा। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इंगलैंड की महत्ता बहुत घट गई। अस्तु भारतीय गतिरोध को, शीघ्रातिशीघ्र दूर करके समस्या का मैत्रीपूर्ण समाधान निकालना अनिवार्य हो गया। ४ दिसम्बर, १९४५ ई० को भारत सचिव ने मन्त्रिमण्डल मिशन की नियुक्ति की घोषणा की। २४ मार्च, सन् १९४६ को यह मिशन दिल्ली पहुँचा। इसके पहले १५ मार्च, को प्रधान मंत्री ने यह घोषणा की कि अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों की प्रगति की राह में रुकावट नहीं डालने दी जायगी। इस मिशन के दो कार्य थे—(१) ऐसा सुझाव उपस्थित करें जिसके आधार पर भार

तीय विधान बनाया जा सके और (२) अंतरिम राष्ट्रीय सरकार स्थापित करे। अंगरेज सरकार द्वारा जलमना को दिये गये वचन अब इस मिशन के कार्य में बाधा उपस्थित करने लगे। लीगी नेताओं ने खुले आम धमकियां दीं और उनके द्वारा दिलाई गई उत्तेजनाओं के परिणामस्वरूप देश में दंगे हुए जिन्होंने मानवता के पवित्र आनन को कलंकित कर दिया। किसी स्वतंत्र देश में ऐसे व्यक्तियों और दलों का किया जाना, इस मानव के लिये किसी बड़ी कल्पना की आवश्यकता नहीं है किन्तु अंग्रेज लीग और लीगी नेताओं पर कोई भी अंकुश लगाने के बदले उनकी मांगों का समर्थन खुले और छिपे तरीकों से करने लगे। ? अप्रैल से १७ अप्रैल १९४६ तक कैबिनेट मिशन विभिन्न दलों और वर्गों के नेताओं से मिला। कांग्रेसी और लीगी नेताओं का एक सम्मेलन शिमला में हुआ जो १२ मई को असफल होकर समाप्त हो गया। तब मंत्रिमण्डल मिशन ने अपनी यह योजना प्रकाशित की—(१) एक भारतीय संघ की स्थापना हो जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रान्त तथा देशी राज्य सम्मिलित हों। वैदेशिक सम्बन्ध रक्षा तथा यातायात विभागों पर संघ का अधिकार हो। इन विषयों की व्यवस्था के लिये वह आवश्यक अर्थ-संग्रह कर सकेगा (२) संघ में ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की एक कार्यपालिका और व्यवस्थापिका हो। किसी महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक समस्या से सम्बन्धित किसी प्रश्न का व्यवस्थापिका में निर्णय करने के लिये दोनों प्रमुख सम्प्रदायों के उपस्थित तथा मतदाता प्रतिनिधियों एवं सब उपस्थित तथा मतदाता सदस्यों का बहुमत आवश्यक होगा। (३) संघ वाले विषयों के अतिरिक्त अन्य सब विषयों तथा अवशिष्ट शक्तियों पर प्रान्तों का अधिकार होगा। (४) देशी राज्यों को वे सारे अधिकार होंगे जो उन्होंने संघ शासन को नहीं दिये हैं। (५) प्रान्तों को अपने वर्ग अलग-अलग बनाने का अधिकार होगा। इन वर्गों की अपनी कार्यपालिकाएं तथा व्यवस्थापिकाएं होंगी और प्रत्येक वर्ग निश्चय करेगा कि प्रान्तीय सूची में अंकित किन विषयों की सम्मिलित व्यवस्था हो। प्रान्तों के तीन वर्ग होंगे—(१) मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त, बिहार तथा उड़ीसा (२) उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त, पंजाब, तथा सिंध, (३) बंगाल तथा आसाम। (६) संविधान सभा में ब्रिटिश भारत के २९६ (सामान्य २१० मुसलमान ७८, सिक्ख ४, तथा चीफ कमिश्नरों द्वारा शासित क्षेत्रों से ४) और देशी राज्यों के अधिकाधिक ९३ प्रतिनिधि सदस्य होंगे। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के (लोअर) निम्न सदनों द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा निर्वाचित होंगे। देशी राज्यों के प्रतिनिधि मंत्रणा द्वारा निश्चित होंगे। प्रारम्भिक अवस्था में देशी राजाओं का प्रतिनिधित्व एक विशेष मंत्रणा समिति करेगी। (७) संविधान सभा में

ब्रिटिश भारत के सदस्य अ वग से १६०, व से ३६, और म वग से ७० अर्थात् २८६ होगा। (८) प्रमुख राजनतिक दलों की एक अस्थायी सरकार बने परन्तु वायसराय के विशेष अधिकार पूर्ववत् रहें। देशी राज्यों से सम्बन्धित ब्रिटिश शासन सत्ता का प्रभुत्व नई सरकार को नहीं दिया जायगा। (९) संविधान लागू होने के दस वर्ष के उपरान्त तथा इसके बाद भी दस दस वर्षों के अन्तर से कोई भी प्रान्त अपनी व्यवस्थापिका सभा के बहुमत द्वारा संविधान की धाराओं में संशोधन करवाने की मांग कर सकेगा। (१०) विधान सभा और इंगलैंड की सरकार सत्ता हस्तांतरण सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करेंगी।

ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत विभाजन रोकने का यह अन्तिम प्रयास था। गांधी जी ने इस योजना को ब्रिटिश सरकार का सबसे महत्वपूर्ण निर्णय माना। कांग्रेस ने इसके संविधान सभा वाले अंग को स्वीकार किया। मुस्लिम लीग ने इसे पूरे का पूरा स्वीकार कर लिया। सिक्खों ने पूर्णतः अस्वीकार कर दिया। केबिनेट मिशन २८ जून, १९४६ को लौट गया। उसने संविधान निर्माण की सम्भावना पर सन्तोष प्रकट किया और इस बात का दुःख प्रकट किया कि अन्तरिम सरकार न बन सकी। अन्तरिम सरकार के बनाने की योजना टाल देने से जिन्ना साहब इतने क्रुद्ध हुए कि उन्होंने मुस्लिम लीग से योजना की पहली दी गई स्वीकृति वापस करवा ली। समय के वैधानिक साधनों को तिलांजलि दे दी। उन्होंने १६ अगस्त को सारे भारत में 'प्रत्यक्ष आंदोलन दिवस' मनवाया। कलकत्ता नोआखाली बिहार तथा बाद में सारे भारत के अन्दर साम्प्रदायिक दंगे हुए। अंग्रेज सरकार ने इसे रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया। देश की आन्तरिक स्थिति बिगड़ने लगी और कांग्रेस को विवश होकर केन्द्रीय सरकार में जाना पड़ा। लार्ड वेवेल ने उस समय के कांग्रेस सभापति पंडित जवाहरलाल नेहरू को सरकार बनाने के लिये बुलाया जिन्होंने २ सितम्बर, १९४६ को शपथ ग्रहण किया। मुस्लिम लीग इसमें सम्मिलित नहीं हुई। सम्भवतः साम्प्रदायिक दंगों से उसे सन्तोष मिल रहा था। १३ अक्तूबर सन् १९४६ ई० को मुस्लिम लीग ने भी इस सरकार में सम्मिलित होने का निश्चय कर लिया ताकि पाकिस्तान की लड़ाई सरकार के भीतर से भी लड़ी जा सके। वहीं कुछ तो क्षेत्र और विषय ऐसे थे जिसके वे अधिकारी होते और जिसे वे बिगाड़ सकते थे। अब केन्द्रीय सरकार का वातावरण दूषित और तनावपूर्ण हो गया। सरदार पटेल ने कहा कि लीग और लार्ड वेवेल का उद्देश्य कांग्रेस को सरकार से निकालना था और नेहरू जी का मत था कि ये लोग कबिनेट को नितान्त निष्क्रिय बना देना चाहते हैं। जुलाई ४६ में संविधान सभा के चुनाव हुए और ९ दिसम्बर, १९४६ को उसकी पहली बैठक हुई। मुस्लिम लीग ने इसमें भाग नहीं लिया। डा० राजेन्द्र प्रसाद इसके स्थायी सभापति बने। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री एटली ने कबिनेट योजना की रक्षा करने के लिए

म "जल पड़े कोटि पग उसी ओर"[२] का स्वर सुनाई पड़ेगा। अब महत्ता जनता-जनार्दन की होगी, 'स्वदेश का स्वाती' की होगी। ये लोग राष्ट्रीय आंदोलन का कट्टर हिंदुत्व और अध्यात्म प्रधान प्राचीन भारतीय आर्य संस्कृति की श्रेष्ठता के आधार पर खड़ा करना चाहते थे। शिवाजी, गोरक्षा, गणपति पूजा काली पूजा, आदि को राष्ट्रीय रूप दिया गया। भारत देश "माता" हो गया। परिणाम यह हुआ कि जिस निराशा और उत्साह कांतियाँ का जन्म हुआ और जिस राष्ट्रीय शक्ति को कांग्रेस की राजनीति के पक्ष में नियोजित करने के लिये तिलक, आदि ने भगीरथ प्रयत्न किया उसकी प्रथम अभिव्यक्ति बंग भंग के प्रतिकार के रूप में हुई। अब राजनीतिक दृष्टि से जागरूक भारतीयों ने पश्चिम के राजनीतिक और नैतिक इतिहास की जानकारियों का उपयोग अपने राष्ट्र के हित में करना प्रारम्भ कर दिया। अंग्रेजों की ही कसौटी पर हम अंग्रेजों के कथन और न्याय की परीक्षा करने लगे। अयोग्य कह कर अंग्रेजों का हम उत्तरदायित्व और पदों से वंचित रखना, हमारे शासन के प्रति अंग्रेजों की ईमानदारी, हमारे राजनीतिक अधिकार देने के पहले सामाजिक एकता स्थापित होने की अंग्रेजों वाली नीति राज्य कर सकने की हमारी अयोग्यता, हमारी अशिक्षा, आदि प्रश्नों पर नैतिक और न्याय-सम्बन्धी दृष्टिकोणों से विचार किया जाने लगा। हम समझने लगे कि राष्ट्रोन्नति एक नैतिक लक्ष्य है। बीच में एक प्रश्न यह भी उठा कि हमारा कर्त्तव्य केवल भारत राष्ट्र के ही प्रति है (गरम दल) या अंग्रेजों और राष्ट्र, दोनों के प्रति (नरम दल)। तिलक ने राष्ट्र को ही प्रधानता दी। १६ वीं शताब्दी के हिंदुत्व के पुनरुत्थान की पृष्ठभूमि में गणपति उत्सव, वेदांत के पुनरुत्थान, शिवाजी, राणा प्रताप आदि से राष्ट्र का प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो गया। अध्यात्म, ईश्वर और धर्म, देशभक्ति के आन्दोलन की सहायता में नियोजित किये गये। मैथिलीशरण गुप्त के राम इस पृथ्वी को स्वर्ग के समान बनाने के लिये अवतार लेते हुए दिखाई पड़ने लगे। इस दृष्टि से अरविन्द का यह उद्धरण विशेष रूप से द्रष्टव्य है 'राष्ट्र के इतिहास में कभी-कभी ऐसा अवसर आता है जब उसके सामने परमात्मा की ओर से बस एक ही उद्देश्य, एक ही कार्य, का निर्देश रहता है और उस उद्देश्य तथा कार्य के सामने शेष सारे कार्यों और उद्देश्यों का, चाहे वे कितने भी उदात्त और महान् क्यों न हों परित्याग कर देना पड़ता है।

हमारी मातृभूमि के लिये ऐसा ही समय उपस्थित है जब कि उसका सेवा से बढ़ कर कोई भी वस्तु प्रिय हो नहीं सकती, जब कि हमारे सारे कार्यों का लक्ष्य मातृभूमि की सेवा होना चाहिये। यदि आप लोग अध्ययन करना चाहते

---

२ सोहनलाल द्विवेदी कृत 'भरवो से

है ता माँ के लिये ही अध्ययन कीजिये, अपने शरीर मन और आत्मा का सस्कार माँ की सेवा के लिये ही कीजिये ।"[1] अरविन्द का विचार था कि ईश्वर का आदेश हो चुका है कि भारत स्वतत्र हो और वे आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता को परमात्मा की अवतार शक्ति मानते थे। हमारी राष्ट्र-अन्तर्जागरण को वे एक देवी लीला मानते थे और इसीलिये उन्हें आध्यात्मिक मोक्ष और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य में कोई भी भेद दिखलाई नहीं पडता था। वेदात ने उन्हें राष्ट्रीय कर्तव्य की ओर बढने की प्रेरणा दी। उपनिषद् के दो पक्षियो की एक कथा का आधार लेकर अरविन्द ने उसे राष्ट्रीय जीवन पर घटित करते हुए कहा था कि विदेशियो का शासन एक माया है जिस का जाल हमारी आत्मा पर भी फल गया है। जब हमने बग भग के कडुए फल का स्वाद चखा तो हम समझ गए कि हमारा स्वराज्य हमारे ही अन्दर है और उसे पाने तथा उसका साक्षात्कार करने की शक्ति भी हमारे ही अदर है। उनका विश्वास था कि भारत की आजादी भगवान का ही कार्य है और वह हमसे यह करा लेना चाहता है। परिणामत 'वन्दे मातरम्' एक मत्र हो गया। एक शक्ति हो गया। एक प्रेरणा बन गया। एक सत्य बन गया। उसने एक अनुभूति का स्वरूप धारण किया। आज के कुछ विचारक उस समय की इस राजनीति को प्रतिक्रियावादी अथवा साम्प्रदायिकतावादी मनोवृत्ति की कहते हैं। वे इस राजनीति की तात्कालिक सास्कृतिक पृष्ठ भूमि को भुला बठते हैं। उस समय क राष्ट्र-प्रेम और स्वातन्त्र्य सघर्ष के आंदोलन का स्वरूप इस चिंतन का भी परिणाम था कि हम आज पश्चिम पर बहुत अधिक आधारित हो गये हैं और इसलिये हम विदेशी आधार का परित्याग करना चाहिये। प्रश्न उठा कि हमे फिर कौन सा स्वरूप अपनाना चाहिये ! हमारी प्रेरणा का स्रोत क्या हो ! आज इसमे कोई भी सन्देह नहीं रह गया है कि हिंदू युग का भारत भारत के इतिहास म सर्वाधिक गौरवपूर्ण रहा है। हमारी सस्कृति का आदि रूप और असाधारण रूप से दीप्त रूप वही है। यदि पाश्चात्य सस्कृति की आंधी रोकनी है तो हिन्दू युग के भारत से शक्ति प्राप्त करनी होगी। उस युग का भारत अखड था एव अद्वितीय था। जिस समय इस्लाम टर्की के शाह को खलीफा समझ कर उनका आदर करने तथा अंगरेजो का उपयोगी समझ कर उनका अनुकरण करने की ओर प्रवृत्त हुआ उस समय हिन्दुत्व इस स्थिति को पीछे छोड कर चन्द्रगुप्त, अशोक, उपनिषद् गीता, और ऋषियो मुनियो की ओर देखने और उस युग की सस्कृति को अपनाने की ओर बढ चुका था। इसको साम्प्रदायिकता की दृष्टि से देखना इसके

---

१. 'अदिति', पत्रिका 'अरविन्द' विशेषांक, अगस्त १९५१ ई० पृ १७।

साथ में पाया जाता है। यह विशुद्ध रूप से राष्ट्रीय था। इसी पृष्ठभूमि में रख कर हम तिलक की विचार धारा का सही मूल्यांकन कर सकते हैं और इसी पृष्ठभूमि में रख कर हम 'भारत भारती', 'हिन्दू', 'गुरुकुल', के कवि के दृष्टिकोण का सही मूल्यांकन कर सकते हैं और 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'राज्य श्री', आदि के नाटक-कार के दृष्टिकोण को सही ढंग से समझ सकते हैं। तिलक के साथ मध्यवर्ग कांग्रेस में आया और अरविन्द के साथ मध्यवर्ग प्रत्यक्ष संघर्ष के क्षेत्र में कूद पड़ा। इसी दृष्टिकोण का जब प्रभाव क्षेत्र बढ़ा तो गांधी के साथ निम्न वर्ग भी आ गया। टामसन और गरेट ने लिखा है कि लार्ड कर्जन के शासन काल ने शिक्षित भारतीयों को राजनीतिक रूप से सोचना और अपने देश को शेष संसार से सम्बद्ध करके उस रूप में देखना सिखा दिया।[1] ज्यों-ज्यों हमारी स्वाधीनता का संघर्ष तीव्र से तीव्रतर होता गया त्यों त्यों सारे संसार के और स्वतः इंगलैण्ड के भी कुछ उदार विचार वाले हमारी प्यास को, हमारी आकांक्षाओं को सही रूप में समझने और उनसे सहानुभूति रखने लगे। इस प्रकार हमारा सम्बन्ध सारे संसार से और विशेष रूप में इंगलैण्ड के समाजवादी विचारधारा वाले दलों के साथ हुआ। उस आध्यात्मिक दृढ़ि एवं विश्वास और इस विश्वव्यापी सहानुभूति ने हमारी राष्ट्रीयता को निर्भीकता का तत्व दिया। हम कष्ट और मृत्यु का स्वागत करने लगे। उसको सहन करके गौरव का अनुभव करने लगे। बंगाल के १९०७ के आंदोलन में जब एक युवक को लम्बी सजा मिली तो उसकी बूढ़ी माता ने अपने पुत्र का इस देश सेवा पर हर्ष प्रकट किया और बंगाल की ५०० स्त्रियां उसे बधाई देने उसके घर गईं।

इस पृष्ठभूमि में हमारी राजनीति अपने विकास की दूसरी स्थिति में आती है और उसकी प्रवृत्ति परिवर्तित हो जाती है। अब हमारे कार्य संघर्ष की प्रेरणा से प्रेरित होकर सम्पन्न होने लगे। प्रार्थना पत्रों और नम्र निवेदनों का युग बीत गया। नैतिकता के तत्व ने खुली चुनौती देकर कार्य करने का साहस दिया। हमारे नेता और कार्यकर्ता कचहरियों में खड़े होकर यह वक्तव्य देने का साहस करने लगे कि वे इस सरकार और इस शासन को समाप्त करना अपना पुनीत कर्तव्य समझते हैं। इस समय तक मध्य वर्ग और निम्न वर्ग, दोनों राजनीतिक संघर्ष में भाग लेने के लिए आगे बढ़ गये किन्तु चूंकि आन्दोलन चलाने के लिए धन की आवश्यकता पड़ी, संगठन, आदि के लिये प्रभावशाली व्यक्तित्व की आवश्यकता पड़ी, और कूटनीति एवं बुद्धि प्रधान शासकों

---

२ 'राइज ऐण्ड फुलफिलमेंट आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया', पृ ५१७।

की कानूनी भाषा का जवाब देने के लिये वकीलों और बुद्धिवादियों की आवश्यकता पड़ी इसलिये स्वाभाविक रूप से प्रधानता मध्यवर्ग की हो गई। कुछ लोग नेता हो गये और शेष लोग अनुयायी एवं कार्यकर्ता। अब कांग्रेस राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये सरकार के खिलाफ संघर्ष में जनता का नेतृत्व करने वाली राजनीतिक पार्टी हो गई। जन आंदोलन चले।

प्रथम महायुद्ध के अनन्तर हमारी राजनीति में अंग्रेजों के प्रति विश्वास का अंश महत्वपूर्ण था। हमारी राजनीति प्रार्थनात्मक न होते हुए भी राजभक्तिस्वरूपा था। स्वयं गांधी महायुद्ध में अंग्रेजों की जीत चाहते थे और इस बात के लिये प्रयत्न किया था कि लोग अंग्रेजों की सहायता करें किन्तु महायुद्ध की समाप्ति ने रास्ता पलट दिया। अंग्रेजों ने अपने विभिन्न कार्यों से हम पर जो अपना अविश्वास प्रकट किया वह बहुत बड़ी बात हो गई। यह सही है कि उस समय की जनता की दुर्दशा, मँहगाई की मार और अन्धाधुन्ध नफाखोरी के परिणामस्वरूप होने वाली हमारी तबाही और बरबादी युद्धार्थ बलात् लिये गये चन्दों और सहायताओं एवं सैनिक भर्ती आदि से उत्पन्न असंतोष, खिलाफत आंदोलन, रूसी क्रान्ति की सफलता आयरलैण्ड की स्वतन्त्रता, जापान की रूस पर विजय, आदि अनेक तत्व हम उग्रतर संघर्ष के लिये उकसा रहे थे किन्तु फिर भी, आने वाले संघर्ष इतने भयानक न होते यदि अंगरेजी साम्राज्यवाद भारतीयों के अन्दर स्थित अपने प्रति असाधारण विश्वास को बूटों की ठोकरें न मारता, पेट के बल न रेंगाता चौपायों की तरह चलने के लिये मजबूर न करता, उन पर गोलियाँ न चलाता, उन पर घोड़े न दौड़ाता, उसे हण्टरों से न मारता। भारतीय असाधारण रूप से विश्वासी होता है किन्तु अपमान घूल का भी अच्छा नहीं होता और वह भी तब जब हम सजग एवं जागरूक होकर यह समझ गये हों कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में हमारे विरोधी का प्रभुत्व महत्व और सम्मान घट चला, है सांस्कृतिक विकास के पथ में वह एक विघटनकारी एवं विनाशकारी तत्व है लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाने के लिये उनके अवतार लेने की बात कोरी शेखी और ढोंग है। उन्हें वास्तविकता एवं यथार्थ को समझ कर उसके अनुसार चलना चाहिये था। और नस्ल की श्रेष्ठता की बात भुला देनी थी। हमने ऐसा भुला दिया कि हमारे इस पूरे युग के साहित्य में नस्ल सम्बन्धी श्रेष्ठता को लेकर एक पंक्ति भी नहीं लिखी गई किन्तु अंग्रेज नौकरशाही न भुला सकी क्योंकि, पण्डित जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, भारतीय नौकरशाही 'सामन्तवादी और आधुनिकतम नौकरशाही की मशीन का ऐसा संघटन (है) जिसमें अच्छाइयाँ किसी की नहीं हैं मगर

बुराइया दोनो की है । [1] अंग्रेजी प्रशासन के साम्राज्यवादी नौकर अपनी प्रभुता और विभुता, शक्ति और सामर्थ्य, तथा हमारी अचेतनता एव असमर्थता का जन्म सिद्ध समझने और इस समझ को प्रदर्शित करने से नहीं चूके और परिणामस्वरूप यह कर गुजरे जिसने गाँधी जैसे नरम विचारधारा के व्यक्ति को भी भयानक विद्रोही बना दिया । गाँधी ने ठीक ही समझा था कि अँग्रेजो ने भारत को धोखा दिया है । टामसन और गरेट ने लिखा है कि जलियान वाला बाग का काँड भारत–इंगलैण्ड–सम्बन्धो के क्षेत्र मे एक महत्वपूर्ण मोड बन गया–लगभग उतना ही महत्वपूर्ण जितना १८५७ का गदर । [2] इसके परिणामस्वरूप सघर्ष हमारी राजनीति का प्रमुख स्वरूप बन गया । हिन्दू मुसलमान ईसाई सिक्ख नरम, गरम, आदि सभी ने सयुक्त होकर स्वराज्य की हलचल करने का निश्चय कर लिया । शकरदत्ता जावडेकर के शब्दों मे गाधी जी को लगा कि अब बध राजनीति का युग समाप्त हुआ व उन्होंने निश्चय किया कि भारत को नि शस्त्र क्रांति की दिशा दी जाय ।'[3] अब भारतीय राजनीति का केन्द्र बिन्दु गाधी हो गया । हम यह भी कह सकते हैं गाधी भारत की दुनियाँ का ब्रह्म हो गया । उन्होने कानून क्या तोडा, शकर का जड–धनुष तोड दिया । उनका सत्याग्रह–आन्दोलनो के लिए आश्रम–निर्माण जैसे राम का वनवास हो गया । उनका जेल जाना मानो राम का युद्ध करना था । स्वाधीनता की प्राप्ति के समय उनका कल कत्ते मे रहना और जवाहर–पटेल का स्वतन्त्रता–पत्र पर हस्ताक्षर करना मानो राम का शिविर मे ही रहना और लक्ष्मण का सीता को लका से लाने जाना था और क्या आश्चर्य कि गाधी जी का शेष जीवन अधूरा लवकुश काण्ड बन गया । कहते है कि राम ने अयोध्या के गुप्तार घाट पर जल समाधि ली थी, कोई अचरज नही कि इस आधुनिक राम को निस्तोल–समाधि लेनी पडी !!! जैसे धनुष–यज्ञ–प्रसग मे राम–लक्ष्मण को देख कर—

देखहिं रूप महा रन–धीरा । मनहु बीर रस धरे सरीरा ।
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी । मनहु भयानक मूरति भारी ॥
रहे असुर छल छोनिप वेषा । तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा ॥
पुरवासिन्ह देखे दोउ भाई । नर भूषन लोचन सुखदाई ॥
नारि बिलोकहिं हरषि हियँ निज–निज रुचि अनुरूप ।
जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप ॥

---

१ आटा वाययाफी पृ० ११६

२ 'राइज एण्ड फुलफिलमेट आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया' पृ० ५४८

३ आधुनिक भारत

विदुषन्ह प्रभु विराटमय दीसा । बहु मुख कर पग लोचन सीसा ॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसे । सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे ॥
सहित विदेह विलोकहिं रानी । सिसु सम प्रीति न जाति बखानी ॥
जोगिन्ह परम तत्वमय भासा । सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा ॥
हरि भगतन्ह देखे दोउ भ्राता । इष्ट देव इव सब सुख दाता ॥
रामहिं चितव भाय जेहि सीया । सो सनेहु सुखु नहिं कथनीया ॥

निज निज रुचि—जेहि विधि रहा जाहि जस भाऊ । तेहि तस देखेउ कोसलराऊ ॥
अर्थात्— जाकी रही भावना जैसी । प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ।

ठीक इसी प्रकार जब भारतीय राजनीति के मंच पर गांधी रूपी बाल पतंग का उदय हुआ तब श्रीमती एनी बेसेन्ट ने उन्हें राजनीति की दृष्टि से दुध-मुंहे-बच्चे के सदृश देखा, नरमदल वालों ने इनको एक ऐसे नेता के रूप में देखा जिसका निःशस्त्र प्रतिकार उनको उनका अपने पहले वाला बहिष्कार-पाप ही प्रतीत हुआ, गरम दल वालों को इनकी अहिंसा और राजभक्ति मर्यादाहीन दिखाई पड़ी, सुधारकों को वे उस सुधारक के रूप में दिखलाई पड़े जो हमारी कमजोरियों को ही हमारी गुलामी का कारण समझ कर पहले उनका सुधार करना आवश्यक समझता है, धर्म सुधारकों को वे भागवत धर्मी सुधारक संत की तरह लगे, सनातनियों को वे चातुर्वर्ण पालक सनातनी महात्मा के रूप में दिखाई पड़े, नास्तिकों को वे सुकरात सत्य को पाने करने वाले की तरह प्रतीत हुए जो सत्य को ही परमात्मा समझता है, क्रांतिकारियों को वे होशियार क्रांतिकारी लगे, उग्रवादी उन्हें सरकारी खुफिया समझते थे, साम्यवादी उन्हें बुर्जुआ प्रवृत्ति का समझते थे, अंगरेजों को वे राजनीतिक सुधारवादी लगे आदि । कुछ भी हो किन्तु इस महामानव के नाम का जादू सबके सिर पर चढ़ कर बोलता था । इस महामानव में न मालूम कौन-सा आकर्षण था कि जो इनके सम्पर्क में आता था वह इनका अनुयायी हो जाता था—कम से कम, इस के रंग में रंग अवश्य जाता था ।

देश में उनसे अच्छे वक्ता थे, उनसे अधिक बुद्धिवादी थे, उनसे बढ़ कर कानून के विशेषज्ञ थे, उनसे बढ़ कर कार्यकर्ता थे, उनसे बढ़ कर त्यागी थे—सब कुछ था किन्तु इनमें कुछ ऐसा विशेष था जो सबको इनके चरणों पर न्योछावर कर देता था। इसका विश्लेषण आज तक न हो सका । राजेन्द्र बाबू ने लिखा है कि इन्हें मानने वाले सब अन्धविश्वासी ही रहे हों ऐसी बात नहीं है किन्तु फिर भी न मालूम क्यों सब इनकी बात यथा शक्ति मानते चले जाते थे ।[1] इनके विरोधी भी इनका आदर करते

---

१ 'बापू के कदमों में', पृ०

थ। इसका सबसे बड़ा उदाहरण चौरीचौरा-काण्ड के पश्चात् के सत्याग्रह-स्थगन के पश्चात् मिलता है। गाँधी जी ने पूरे आन्दोलन को बन्द कर दिया। सारा देश हक्का बक्का रह गया। एक एक भारतीय क्षुब्ध हो उठा। क्रोध और दुःख से पागल हो गया। चारों तरफ पस्ती छा गई। प्रतिरोध और जड़ता का वातावरण था। किन्तु फिर भी सब लोग गाँधी को न छोड़ सके। उन पर विश्वास इतना था कि लोग उनसे मतभेद रख कर उनसे अलग भी हो जाते थे किन्तु संकट की घड़ी आ पड़ने पर फिर सभी उनको अपना एकमात्र पथ प्रदर्शक मान कर उनकी आज्ञा पर चलते थे। और इस महामानव ने राजनीतिक चेतना को झटके भले ही दिए हों किन्तु उसके साथ धोखेबाजी कभी नहीं की। जिस कुशलता से इस नेता ने देश की राजनीतिक चेतना और गति विधि का नेतृत्व किया है उससे स्पष्ट है कि यह पुरुष असाधारण रूप से सुयोग्य कलाकार था। इससे अधिक कलाकुशलता के साथ कोई प्रबन्धकार कवि महाकाव्य की कथावस्तु की योजना नहीं कर सकता। एकान्त में बैठ कर सोच विचार कर जिस नाटकीयता, कलात्मकता और रस के साथ कोई कहानी या नाटक लिखता है उतनी ही नाटकीयता, कलात्मकता और आत्मा की सरसता के साथ इस कलाकार ने राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया है। देश की जनता को गतिशील किया है। और यह बहुत बड़ी बात है। इसके द्वारा चलाये गये आन्दोलनों और कार्यक्रमों की भट्टी में तप कर हर बार नयी और पहले से अधिक पुष्ट राष्ट्रीय भावना या चेतना एकता और प्रगतिशील प्रवृत्तियाँ के साथ आत्मविश्वास और गौरव के साथ निकलती रही। यह काम इतना नाजुक था कि यदि एक बार भी तनिक सी भी कमी दूरदर्शिता में रह जाती तो निश्चय क्रांतिवादी तन्त्र शास्त्र व तत्वज्ञान असफल हो जाता और सम्भवतः देश हिंसाप्रधान युद्ध करता एवं पूर्ण रूपेण साम्यवादी हो जाता। इस महात्मा के आगे अंग्रेजों की यह इच्छा और प्रयत्न असफल हो गए कि इस महाद्वीप को अनेक राष्ट्रों में बदल दें। और जब इसकी बात से तनिक ही लोग हटे तो देश दो भागों में बँट गया। संसार के सभी विचारक और राजनीतिज्ञ भारत की इस अपूर्व राजनीति को देखने लगे। तनिक से शांतिपूर्वक (?) अर्थात् बिना रक्त बहाए होने वाले शासक परिवर्तन की इङ्गलैंड की घटना को इङ्गलैंड का इतिहासकार ग्लोरियस रेवोल्यूशन कहता है यद्यपि वहाँ राजा डर के मारे चुपचाप भाग गया था किन्तु भारत का यह 'रेवोल्यूशन' कितना 'ग्लोरियस'—कितना, कितना अधिक ग्लोरियस' है कि यहाँ एक शासक नहीं एक पूर का पूरा—विशालतम और महत्तम साम्राज्यवाद बदला गया था। शासक डर कर भागा नहीं अपनी इच्छा से अपने मन के अनुरूप व्यवस्था करके स्वयं तिथि निश्चित करके उसके बाद खुशी-खुशी जाने का विधान बना कर गया यहाँ हटाने वालों न हटने वाले के अंतिम प्रतिनिधि को अपना बना कर अपना

पहला शासक नियुक्त किया, यहाँ जाने वाला मार खाकर, हार कर नही गया, यहाँ सफलता पूवक भगाने वालो ने मार खाई, यहाँ हारने वाला जीत गया और जीतने वाला हार गया, और इतना सब हो गया किंतु किसी भी पैमाने पर युद्ध नही हुआ !!! यह स्वरूप था यहा की राजनीतिक गतिविधियों का ! यह असाधारणता थी यहाँ की राजनीतिक प्रवृत्तियों की !! यह नेतृत्व था गाधी का ! इन सबके पीछे रहस्य क्या था ? किसने यहाँ की राजनीति को इतना गौरवपूर्ण बना दिया ? किसने यहाँ की राष्ट्रीयता से आधुनिक राष्ट्रीयता के सभी दोषा का निराकरण कर दिया ? इसका उत्तर एक है और वह है "सांस्कृतिक पृष्ठभूमि" । यह विशेषता है भारतीय सस्कृति की ! यह अभूतपूवता मिली भारतीय सस्कृति के कारण ! इस गौरव का श्रेय है उसी का । उसी भ रतीय सस्कृति के रङ्ग मे गांधी रग थे और इसलिये उसी भारतीय सस्कृति के रङ्ग म गांधीवाद रग गया जो तत्कालीन भारतीय जीवन और राजनीति की सबसे बडी सबसे प्रमुख, और सबसे अधिक प्रभावशाली प्रवृत्ति थी । बात यह है कि राजनीतिक उद्देश्यो और लक्ष्यो की प्राप्ति के लिये गाधी जी ने अपने राजनीतिक आन्दोलनो को जो स्वरूप दिया वह सत्याग्रह कहलाया । इस सत्याग्रह के वाह्य और आन्तरिक दानो पक्षो का निर्माण भारतीय सस्कृति के असाधारण तत्वो से हुआ है । (आ) हमारे चारो ओर व्याप्त या फैले हुए (सत्य) सत्य का (ग्रह) ग्रहण करना ही सत्याग्रह है । भ्रमवश कुछ लोग इसे सत्य का हठ या सच्ची जिद समझ बठे हैं । सत्य नाम परमेश्वर का है । उसके लिये जिद नही की जाती । उसका ग्रहण किया जाता है । हम समझते थे कि आस पास के वातावरण मे एक यह तथ्य परमेश्वर की तरह व्याप्त है कि अंग्रेजों का भारत में शासन करना ठीक नही है । इस सत्य का ग्रहण उन्हें भी करना था ।

हम समझते हैं कि विदशी वस्त्रा का व्यवहार भारत के लिये अहितकर है कि नमक कर अमानुषिक है कि मदिरा पान को सभी बुरा समझते है और क्यो कि इसका सम्बन्ध आपसे भी है, अतएव आपको भी इस सत्य का ग्रहण करना चाहिये । यदि आप ऐसा नही करते तो हम अपने आपको अधिकाधिक कष्ट म डालकर उसे सह कर उसकी अनुभूति करवाना चाहेंगे क्यो कि परमात्मा अर्थात् सत्य का अश होकर सत्य से विमुख रहना असत्य की ओर प्रवृत्त होना है और 'असदो मा सदगमय' भारत की सांस्कृतिक प्राथना है । इसम विरोधी के प्रति घृणा नही होती । उसको कष्ट पहुचाने की मनोवृत्ति नही होती । उसकी हानि करने का लक्ष्य नही होता । उद्देश्य यह होता है कि दूसरे पक्ष वाला व्यक्ति सत्य को ग्रहण करके उसी के अनुसार आचरण करे । इसी रास्ते पर चलकर ही ८न

राजनीतिक सत्यों की भी अनुभूति करना पड़ती है और राजनीतिक अधिकारों की भी प्राप्ति करनी है। इसमें व्यक्ति को भावना जाग्रत होती है। उसकी गति विधि परिवर्तित करना होता है। सत्य का ग्रहण और सत्य का आचरण भारतीय संस्कृति का मूल तत्व है। अहिंसा भारतीय संस्कृति का एक अमूल्य तत्व है। गांधी जी ने इसका महत्व समझा और अपने अनुयायियों का भी समझा दिया। श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने लिखा है "अगर लड़ाइयों व हत्याकांडों का इतिहास हम कुछ सिखाता है तो कम से कम इतना तो साफ बताता ही है कि कभी हिंसा के सहारे सत्य और न्याय की जय नहीं हुई है ...... लेकिन अगर हम हर एक परिवार का इतिहास खोजा जाय तो अहिंसक उपायों से पारिवारिक कलह सफलतापूर्वक मिटाये जाने के सैकड़ों उदाहरण मिल जायगे।"[1] गांधी जी ने राजनीतिक क्षेत्र में इसका प्रयोग इस प्रकार किया कि हम अपने विरोधी के प्रति द्वेष भाव ही नहीं रखना है। न मारना ही अहिंसा नहीं है। द्वेष भाव का अभाव ही अहिंसा की प्रतिष्ठा है यह तभी हो सकता है जब हमारे अन्दर उसकी आत्मा के प्रति आत्मभाव हो। हम उनके अपने बोध अद्वैत तत्व की अनुभूति कर लें। जो हमारे अन्दर है वही अँग्रेजों के अन्दर भी है। तब कौन किससे द्वेष करे? बस, बात इतनी सी है कि इस समय वह थोड़ा भ्रम में ग्रस्त हो गया है। इसलिये भ्रम की निराई करनी है भ्रमित की नहीं। इसीलिये पाप से घृणा करनी है, पापी से नहीं। इसलिये हमारी लड़ाइ अँग्रेज से नहीं मुख्य अंग्रेजों की असद् वृत्ति से है। यही कारण है कि हमारा पूरे का पूरा स्वतन्त्रता संग्राम घृणा और द्वेष की भावना से मुक्त रहा है। इस प्रकार धर्म और राजनीति का समन्वय हो गया। श्री कृष्णदत्त पालीवाल ने लिखा है, 'महात्मा जी ने राजनीति में धर्म का सम्मिश्रण करके वारांगना राजनीति को धार्मिक बना लिया है।'[2] इस आजादी की प्राप्ति को गांधी जी भारतवर्ष के लिये उसके आत्म स्वरूप सांस्कृतिक स्वरूप, की पुनर्प्राप्ति का एक साधन मानते थे, न कि भौतिक समृद्धि मात्र का एक मार्ग। उनके इस मार्ग पर चलने से राजनीतिक सत्ता का प्रभुत्व जीवन के समस्त क्षेत्रों पर सर्वग्राही या सर्वभक्षी प्रभाव नहीं डालने पाया। अहिंसा और सत्य के इस मार्ग पर चलने और देश को चलाने के लिये गांधी जी को कितना सतर्क रहना पड़ता था, कितनी सूक्ष्मता से सोचना पड़ता था यह कम उन्हें कितनी कुशलता के साथ करना पड़ता था, कि कुछ आदमी चौरीचौरा में मारे गये और सारे देश का आंदोलन रोक देना पड़ा।

१ गांधीवाद और समाजवाद' पृ २६–२७।

२ गांधीवाद और मार्क्सवाद पृ २१५।

जो तत्व का नही समझ पाये वे गांधी जी के उस भयानक कदम का औचित्य आज तक नही समझ पाये। इसका कहते हैं 'योग कमसु कौशलम्' और, सत्याग्रही के लिये जिस एकादस व्रत का विधान गांधी जी ने किया है वह जीवन के लिये भारतीय संस्कृति का सारभूत अमृत तत्व कहा जा सकता है —

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचय, असग्रह,
शरीरश्रम, अस्वाद सवत्र भयवजन,
सवधमसमानत्व, स्वदेशी सप्शभावना
विनम्र व्रतनिष्ठा से ये एकादश सेव्य है

(सियारामशरण गुप्त द्वारा किया गया अनुवाद)

यह व्रत कितना असाधारण है इसकी व्याख्या के लिये एकाध तत्व की ओर सकेत मात्र पर्याप्त होगा। गाधी जी स्वदेशी का अथ अपने पडोसी के प्रति अपना कतव्य समझते थे। स्वदेशी का अथ खद्दर या भारतवष मे बने सामान से ही न था। उनका कहना था कि जो तुम्हारा पडोसी है उसके प्रति तुम्हारा कतव्य यह है कि पहले उसके द्वारा बनाई गई उसकी वस्तु खरीदो और उसका उपभोग करो। असग्रह का महत्व वे यह समझाते थे कि आपका सग्रह किसी को उसके उपभोग से वचित रखता है और परिणामस्वरूप पाप करन का मजबूर करता है। आप सग्रही न हो कोई विग्रही न रह जायगा। आप इकट्ठा न कर कोई चोरी न करेगा। इसीलिए कजूस को चोर का बाप कहा गया है। ब्रह्मचय केवल यही नही है कि आप नारी के सम्पर्क से दूर रह एकांत मे उसके साथ बठे बातें और हँसी-मजाक न कर दशन न देखें शृङ्गार न करें ग्रथ-चितन और काम चितन न करें चटपट और मसालेदार एव उत्तेजक भोज्य का उपभोग न करें आदि, वास्तविक ब्रह्मचय तो यह है कि उससे प्रभावित होकर विपरीत योनि का व्यक्ति योनि भेद का पूणरूपण तिरस्कार कर दे। जैसे मा अपने पुत्र के साथ और पुत्री अपने पिता के साथ सोते समय योनि भेदभाव भूल कर 'सेक्सलेसनेस' का अनुभव करती हुई निशक रहती है वसी ही निशंकता पूण ब्रह्मचय की कसौटी है। गांधीजी के जीवन मे होने वाले इस प्रयोग का उल्लेख 'दि लास्ट फेज' में प्यारेलाल जी ने उस समय किया है जब गाधी जी नोआखाली अभियान मे निरत थे और एक स्थिति ऐसी आई थी जब इसके लिए उन्होंने मनु को माध्यम बनाया था और वे और मनु एक ही बिस्तर पर एक साथ सोते थे। राम-नाम को ही समस्त व्याधियो की एकमात्र औषधि मानने पर गांधीजी का अखण्ड विश्वास था, और इसीलिये प्राकृतिक चिकित्सा को ही सव श्रेष्ठ चिकित्सा समझना उनकी भारतीय संस्कृति पर होन वाली अखण्ड एव अटूट श्रद्धा एव आस्था

राजनीतिक सत्यों की भी अनुभूति करनी करानी है और राजनीतिक अधिकारों की भी प्राप्ति करनी है। इसमें व्यक्ति की भावना जीतनी होती है। उसकी गति विधि परिवर्तित करनी होती है। सत्य का ग्रहण और सत्य का आचरण भारतीय संस्कृति का मूल तत्व है। अहिंसा भारतीय संस्कृति का एक अमूल्य तत्व है। गांधी जी ने इसका महत्व समझा और अपने अनुयायियों को भी समझा दिया। श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने लिखा है, अगर दुनियाँ के हत्याकांडों का इतिहास हम कुछ सिखाता है तो कम से कम इतना तो साफ बताता ही है कि कभी हिंसा के सहारे सत्य और न्याय की जय नहीं हुई है लेकिन अगर एक एक बड़े परिवार का इतिहास खोजा जाय तो अहिंसक उपायों से पारिवारिक कलह सफलतापूर्वक मिटाये जाने के सैकड़ों उदाहरण मिल जायेंगे।[१] गांधी जी ने राजनीतिक क्षेत्र में इसका प्रयोग इस प्रकार किया कि हम अपने विरोधी के प्रति द्वेष भाव ही नहीं रखना है। न मारना ही अहिंसा नहीं है। द्वेष भाव का अभाव ही अहिंसा की प्रतिष्ठा है यह तभी हो सकता है जब हमारे अन्दर उसकी आत्मा के प्रति आत्मभाव हो। हम उसके अपना बोध अद्वैत तत्व की अनुभूति कर ले। जो हमारे अन्दर है वही अँग्रेजों के अन्दर भी है। तब कौन किससे द्वेष करे? बस, बात इतनी सी है कि इस समय वह थोड़ा भ्रम में ग्रस्त हो गया है। इसलिये भ्रम की निराई करनी है, भ्रमित की नहीं। इसीलिये पाप से घृणा करनी है, पापी से नहीं। इसलिये हमारी लड़ाई अँग्रेज से नहीं कुछ अंग्रेजों की असद् वृत्ति से है। यही कारण है कि हमारा पूरे का पूरा स्वतन्त्रता संग्राम घृणा और द्वेष की भावना से मुक्त रहा है। इस प्रकार धर्म और राजनीतिक का समन्वय हो गया। श्री कृष्णदत्त पालीवाल ने लिखा है महात्मा जी ने राजनीति में धर्म का सम्मिश्रण करके वारांगना राजनीति को योगिनी बना दिया है।[२] इस आजादी की प्राप्ति का गांधी जी भारतवर्ष के लिये उसके आत्म स्वरूप सांस्कृतिक स्वरूप, की पुनर्प्राप्ति का एक साधन मानते थे, न कि भौतिक समृद्धि मात्र का एक मार्ग। उनके इस मार्ग पर चलने से राजनीतिक सत्ता का प्रभुत्व जीवन के समस्त क्षेत्रों पर सर्वग्राही या सर्वभक्षी प्रभाव नहीं डालने पाया। अहिंसा और सत्य के इस मार्ग पर चलने और देश को चलाने के लिये गांधी जी का कितना सतर्क रहना पड़ता था, कितनी सूक्ष्मता से सोचना पड़ता था, यह धर्म उन्हें कितनी कुशलता के साथ करना पड़ता था, कि कुछ आदमी चौरीचौरा में मारे गये और सारे देश का आंदोलन रोक देना पड़ा।

१ 'गांधीवाद और समाजवाद' पृ २६–२७।
२ 'गांधीवाद और मार्क्सवाद' पृ २१५।

जो तत्व को नहीं समझ पाये वे गाधी जी के उस भयानक कदम का औचित्य आज तक नही समझ पाये। इसको कहते हैं 'योग कर्मसु कौशलम्' और, सत्याग्रही के लिये जिस एकादश व्रत का विधान गाधी जी ने किया है वह जीवन के लिये भारतीय सस्कृति का सारभूत अमृत तत्व कहा जा सकता है —

अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य असग्रह,
शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जन,
सर्वधर्मसमानत्व, स्वदेशी स्पर्शभावना,
विनम्र व्रतनिष्ठा से ये एकादश सेव्य हैं

(सियारामशरण गुप्त द्वारा किया गया अनुवाद)

यह व्रत कितना असाधारण है इसकी व्याख्या के लिये एकाध तत्व की ओर सकेत मात्र पर्याप्त होगा। गाधी जी स्वदेशी का अर्थ अपने पडोसी के प्रति अपना कर्तव्य समझते थे। स्वदेशी का अर्थ खद्दर या भारतवर्ष मे बने सामान से ही न था। उनका कहना था कि जो तुम्हारा पडोसी है उसके प्रति तुम्हारा कर्तव्य यह है कि पहले उसके द्वारा बनाई गई उसकी वस्तु खरीदो और उसका उपभोग करो। असग्रह का महत्व वे यह समझाते थे कि आपका सग्रह किसी को उसके उपभोग से वचित रखता है और परिणामस्वरूप पाप करने को मजबूर करता है। आप सग्रही न हो कोई विग्रही न रह जायगा। आप इकट्ठा न करें कोई चोरी न करेगा। इसीलिए कजूस को चोर का बाप कहा गया है। ब्रह्मचर्य केवल यही नही है कि आप नारी के सम्पर्क से दूर रहे, एकात मे उसके साथ बैठे बातें और हँसी-मजाक न करें स्मरण न देखें शृङ्गार न करें व्यर्थ-चितन और काम चितन न करें चटपटे और मसालेदार एव उत्तेजक भोज्य का उपभोग न करें आदि, वास्तविक ब्रह्मचर्य तो यह है कि उससे प्रभावित होकर विपरीत योनि का व्यक्ति योनि भेद का पूर्णरूपेण तिरस्कार कर दे। जैसे माँ अपने पुत्र के साथ और पुत्री अपने पिता के साथ सोते समय योनि भेदभाव भूल कर सेक्सलेसनेस का अनुभव करती हुई निशक रहती है वसी ही निशकता पूर्ण ब्रह्मचर्य की कसौटी है। गांधीजी के जीवन मे होने वाले इस प्रयोग का उल्लेख 'दि लास्ट फेज' मे प्यारेलाल जी ने उस समय किया है जब गाधी जी नोआखाली अभियान मे निरत थे और एक स्थिति ऐसी आई थी जब इसके लिए उन्होंने मनु को माध्यम बनाया था और वे और मनु एक ही बिस्तर पर एक साथ सोते थे। राम-नाम को ही समस्त व्याधियों की एकमात्र औषधि मानने पर गाँधीजी का अखण्ड विश्वास था और इसीलिये प्राकृतिक चिकित्सा को ही सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा समझना उनकी भारतीय संस्कृति पर होने वाली अखण्ड एव अटूट श्रद्धा एव आस्था

का द्योतक है। सत्याग्रह करने से पूर्व अपने विरोधी को सत्याग्रही का नाम, पता, सत्याग्रह करने का स्थान और सत्याग्रह करने की तिथि, आदि सूचित कर देना राजनीति में नैतिकता के समावेश की अन्यतम स्थिति है। विरोधियों के धार्मिक त्यौहारों, आदि का ध्यान रख कर उन दिनों सत्याग्रह न करने की सूचना देना वह असाधारण भारतीय नैतिक भूमिका है जिसका उदाहरण और कहीं भी नहीं मिल सकता। भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में ही यह सब सम्भव है। हँसते-हँसते कष्ट सहना, बिना कटुता का अनुभव किये फाँसी पर झूल जाना, वर्षों जेल की मरणांतिक यातना भुगतते रहना और फिर भी गौरव का अनुभव करना उसी के लिये सम्भव है जो अद्वैत की अनुभूति करता हो, सांसारिक दुःखों को असाधारण एवं अन्यतम महत्व न देता हो। सांसारिक सुखों का सहर्ष परित्याग उच्चतम तत्व के प्रति अनन्य निष्ठा एवं उसकी तुलना में इन सुखों की हीनतम स्थिति की अनुभूति का ही परिणाम हो सकता है। एक-एक सत्याग्रही सत्याग्रह आंदोलन की विचारधारा एवं विचार-दर्शन की एक लघुतम इकाई था-अंशरूप में प्रतिनिधि था। इस आध्यात्मिक विजय से राजनीति के क्षेत्र में भी लोगों को तृप्ति होती थी। यह तुच्छ पर महान् की विजय थी। इस प्रकार हमारी राजनीति को उच्चतम नैतिक भूमिका प्राप्त थी। भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों से वह अनुप्राणित थी। जवाहरलाल नेहरू ने स्वीकार किया है कि गाँधी जी की राजनैतिक समस्याओं और दिन प्रतिदिन के जीवन की कठिनाइयों को हल करने के लिए नैतिकता के रास्ते के अवलम्बन पर हमेशा जोर देते थे।[1] शंकर दत्तात्रेय जावडेकर ने लिखा है आत्मोन्नति और आत्मशुद्धि को ही वे स्वातन्त्र्य प्राप्ति का मार्ग बताते थे वे मानते थे कि समाज के राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवहारों पर से धर्म का नियन्त्रण हट जाने से यूरोपीय सभ्यता का नाश हो रहा है।[2] भारतीय संस्कृति रूपी कामधेनु से दुहे हुये दूध की तरह जो नैतिक और धार्मिक मान्यताएँ गाँधी जी को मिलीं उनसे उनका जीवन, उनके विचार और उनके कार्य अनुयायियों के भी तन मन-जीवन अनुरंजित हो उठे। उनसे प्रेरित भारतीय राजनीति का स्वरूप भी ऐसा ही था। गोपीनाथ धवन ने लिखा है कि उनका राजनीति दर्शन और उनकी राजनैतिक टेक्नीक उनके धार्मिक और नैतिक सिद्धान्तों के सहज परिणाम मात्र हैं। उनके अनुसार धर्म विहीन राजनीति एक मृत्यु जाल है क्योंकि वह आत्मा की हत्या

---

१ 'डिस्कवरी आफ इण्डिया',

२ 'आधुनिक भारत' पृ० २८४

राज्य था। कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने लिखा है, 'हमारे सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने हमारे साहित्य, कला और शिक्षा को एक नवीन रूप दिया किन्तु एक पीढ़ी से भी अधिक समय तक यह सांस्कृतिक जागरण ... इस पर युग में प्राधान्य गांधी जी का था जो नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के समर्थक थे। उन्होंने मनुष्य के संघर्षों को हल करने के लिये अहिंसा का नवीन रूप से उपयोग किया। उनकी अहिंसा की व्याख्या में संसार ने मानव-संघर्षों के समाधान का एक नया ही रूप देखा।'[1]

साम्यवादी राजनीति—

गांधीवाद के अतिरिक्त देश में एक और राजनीतिक विचार धारा का प्रवाह इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। यह विचारधारा थी साम्यवाद की। बात यह है कि देश के अन्दर सभी लोग एक ही स्वभाव के नहीं हुआ करते। जिन लोगों का विश्वास अहिंसा आदि भारतीय तत्वों पर था वे गांधी के अनुयायी बन गये किन्तु जिन नवयुवकों के हृदय में क्रान्ति की ज्वाला तो धधक रही थी परन्तु अहिंसावाद मान्य नहीं था वे रूस के साम्यवादी क्रान्ति शास्त्र की ओर झुक गये। इस विचारधारा के लोगों का विश्वास है कि समाज धर्म का उदय होना चाहिये। समाज धर्म के अभाव में राजनीतिक क्रान्तियां अधूरी रहती हैं क्योंकि ऐसी स्थिति में राजनीतिक शक्ति एक वर्ग के हाथ में निकल कर उसी मनोवृत्ति वाले दूसरे वर्ग के हाथों में चली जाती है अन्य कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। विपन्न वर्ग पूर्ववत् शोषित होता रहता है, पहले जैसा ही उसका दमन होता रहता है। इस क्रान्ति से वर्ग विहीनता का जन्म नहीं हो सकता। व्यक्तिगत सम्पत्ति और उसे बढ़ाते रहने की कामना करने वाला व्यक्ति भले ही आज पूंजी विहीन हो किन्तु मनोवृत्ति की दृष्टि से है वह पक्का पूंजीवादी। लेनिन ने लिखा है[1] कि वर्गस्वार्थों का सामंजस्य असंभव होने के कारण ही राज्य की उत्पत्ति होती है। मार्क्स के कथनानुसार राज्य की उत्पत्ति वैयक्तिक सम्पत्ति और सामाजिक संबंधों की रक्षा के लिये हुई है। वस्तुतः राज्य एक ऐसा हथियार है जिसके किसी विशेष युग में कोई सम्पन्न श्रेणी अन्य सभी वर्गों पर अपनी प्रभुता कायम किए रखती है। और इस प्रकार उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार स्थापित किये रहती है। एक संगठित प्रोलितारियत या विपन्न वर्ग राजनीतिक शक्ति को अपने हाथों में लेकर उत्पादन के साधनों पर प्रोलितारियत की तानाशाही का अधिकार घोषित कर देता है। यह प्रोलितारियत शासन सत्ता एक दिन स्वयं मुरझा जाती है और श्रेणीहीन समाज की स्थापना हो जाती है यद्यपि इस

---

१ आवर ग्रेटेस्ट नीड पृ० २६२।

प्रक्रिया में बहुत लम्बा समय लग जाता है। लेनिन कहता है कि प्रोलितारियत तानाशाही की स्थापना हिंसात्मक क्रान्ति के बिना असम्भव है। वे वर्ग-संघर्ष को आवश्यक समझते हैं। वे यह भी उचित समझते हैं कि जहाँ वर्ग-संघर्ष की चेतना न हो वहाँ उसे पैदा करने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रोलितारियत तानाशाही की पहली अवस्था में मजदूरों को उचित मेहनत का उचित फल मिलना सम्भव नहीं है। लेनिन का भी यही कहना है कि साम्यवाद की प्रारम्भिक अवस्था में न्याय और समता सम्भव नहीं है। स्वयं मार्क्स का यह कहना है कि लोगों के अधिकार बराबर होने के बदले कम-ज्यादा होने चाहिये। वह लोगों की अपरिहार्य असमता या विषमता पर विश्वास करता था। सरकार की पुरानी मशीनरी को पूरी तरह से नष्ट भ्रष्ट कर देना प्रोलितारियत तानाशाही का धर्म है। चूंकि जन-साधारण की चेतना पर प्राचीन परम्पराओं का असाधारण बोझ लदा रहता है इसलिये वह सुषुप्त उदासीन और एकता विहीन होता है। उनको संगठित करके राज्य को नष्ट करने का कार्य सुदृढ़, सुसंगठित और लौह अनुशासनशाली पार्टी ही कर सकती है। कम्युनिस्टों को इस बात में विश्वास नहीं कि संसदीय चुनावों के शान्तिमय उपायों या आम शिक्षा-संबंधी, आर्थिक तथा सहयोग भावना के विकास के द्वारा सामाजिक क्रान्ति हो सकती है। वे खुले बलप्रयोग, आम हड़ताल सर्वसाधारण के विद्रोह, शक्ति प्रयोग और बल प्रयोग पर विश्वास करते हैं किन्तु यह करना तब चाहिये जब पूरी तैयारी हो अन्यथा क्रान्ति की प्रतिक्रिया हो जायगी। क्रान्तिकारी मनोवृत्ति पैदा करने के लिये यदि संभावना प्रतीत हो तो, संसदीय निर्वाचनों में भाग लिया जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपर्युक्त विचारधारा का आविष्कार मानव समाज की वैचारिक प्रगति की एक महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी मोड़ का द्योतक है। मानव के दलित पीड़ित वर्ग के प्रति उत्पन्न होने वाली सच्ची एवं आंतरिक तथा क्रान्तिकारी सहानुभूति से प्रेरित होकर असाधारण मानव प्रतिभाओं ने अपने अथक परिश्रम चिंतन और मनन के पश्चात् ये निष्कर्ष उपस्थित किये हैं। निर्मल कुमार बोस ने लेनिन का भाव चित्र इस प्रकार उपस्थित किया है, 'लेनिन एक असाधारण योद्धा की भांति है जिसने मानव-जाति की बड़ी बड़ी आशाएं बाँध रक्खी हैं। इस महान् योद्धा की आत्मा उस आनन्द लोक के सपनों में डूबी हुई है जहां कोई भी व्यक्ति न अत्याचारों व निम्नमनाओं से पीड़ित होगा, और न कोई निठल्ला। प्रत्येक व्यक्ति प्रेम से स्निग्ध होकर अपनी प्रतिभा का सक्रिय सहयोग मानव जाति के कल्याण के कार्यों में समर्पित करेगा।'[1] आगे चल कर बोस महोदय ने लेनिन की उपमा उस कारीगर से दी है जो अपने सर के ऊपर मँडराते हुए भयानक अंधकार से बेखबर होकर अपने अन्तर की आकांक्षाओं से स्वयं प्रज्ज्वलित दीपक के आलोक में

१ स्टडीज इन गांधीज्म पृ० ३४८।

रात रात भर अपनी मिझाई के सामने बैठ कर लगन और तल्लीनता के साथ अपनी स्वप्न-कल्पना को मूर्त रूप देने में जुटा रहता है।'[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेनिन का कार्य असाधारण रूप से सराहनीय एवं अतुलनीय रूप से महत्वपूर्ण रहा है। राधाकृष्णन ने साम्यवाद का महत्व स्थापन करते हुए लिखा है, साम्यवाद केवल इसीलिए आवश्यक नहीं है कि मानव की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का वादा करता है उसका आकर्षण इसमें भी है कि वह मानव की सामाजिक प्रतिष्ठा समानता आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोणों से दूसरों की दासता और उनके अत्याचारों से मुक्ति का आश्वासन भी देता है।[2] असाधारण से भी असाधारण व्यक्ति की भी सीमाएँ हुआ करती हैं। लेनिन का साम्यवाद भारतीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुरूप न सिद्ध हो सका और विडम्बना कुछ ऐसी हुई कि भारत के साम्यवादियों ने उसे सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय साँचे में ढालना चाहा भी नहीं। परिणामतः भारतीय साम्यवाद हर मामले में रूस का मुखापेक्षी होकर भारतीयता से विमुख होकर अराष्ट्रीय, अप्रिय एवं अहित हो उठा और उसकी हिंसाप्रियता भारतीय प्रकृति के पूर्ण प्रतिकूल पड़ी। सामने भारतीयता का साक्षात् प्रतीक अथवा गाँधीवाद का सूर्य भारत में चमक रहा था। अस्तु भारतीय राजनीति के रंग मंच पर साम्यवाद कोई ऐसी महत्वपूर्ण भूमिका न प्रस्तुत कर सका कि वह जन जन के मन मन में अनुभूत हो उठता। उसने केवल इतना ही किया कि जिस मजदूर आन्दोलन में कांग्रेस ने कोई हाथ नहीं लगाना चाहा उसको इसने प्रभावित कर लिया। ऊपर कहा जा चुका है कि हड़ताल को साम्यवाद भी स्वीकार करता है। भारतीय साम्यवादियों ने कई बड़ी बड़ी मजदूर हड़ताल करवा दी। इससे अधिक इसका कोई भी राजनीतिक महत्व नहीं रहा। इसी के अनुकूल साम्यवाद की भूमिका में हिंदी साहित्य ने एक नया और महत्वपूर्ण दृष्टिकोण पाया। मजदूरों की हड़ताल, धनिकों अथवा पूँजीवादियों की मनोवृत्तियों का पाशविक नृत्य, दलित-दरि[illegible] र (नारी और मजदूर) का चित्रण, राजनीतिक दृष्टि से भी विपन्न वर्ग [illegible] नारी की मुक्ति और

साम्प्रदायिकता—

प्रायः यह देखा गया है कि इन दोनों के बीच में लोगों का झुकना है। भारतीय राजनीति के रंगमंच पर राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रीयवाद के अनुचित दासता से जब राष्ट्रप्रेम के परिणाम स्वरूप मिल सकने वाला स्वतन्त्रता सुख अधूरा बनता दिखाई पड़ने लगा—उसकी सम्भावना की कल्पना। मान हुई—तभी १९०६ में भारत के राजनीतिक रंगमंच पर एक अराजनीतिक एक धार्मिक, एक अवांछित रहस्य कुंजी से घुमाकर उपस्थित कर दिया गया। चाहे जो कुछ हो, चाहे जिस ढंग से चाहे इस अमृत को पाकर कुछ मदमस्त होकर देवताओं का कल्याण करना और फिर अमृत से सम्यक परिणाम को दानवों से प्राप्त पारस्परिक में बदल दो। यह कार्य कैसा रहा और इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह कार्य उतना कभी ही सफलता के साथ पूरा किया। जैसा कि कई बार कहा जा चुका है, प्रायः अंग्रेजों ने इस शताब्दी के प्रारम्भ हाल ही मान लिया था कि भारत में एक सबल और जागृत राष्ट्रीयता का उदय हो चुका है और यह उनके लिये सबसे बड़ा खतरा है। इसका प्रतिकार—राष्ट्रीयता का खण्डन-तभी किया जा सकता है जब यह दिखला दिया जाय कि भारत में दो राष्ट्र के लोग बसते हैं। बस, सरकार बात-बात में हिन्दू और मुस्लिम का प्रश्न लाने लगी। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की एकता को तो पीछे हटाया जाने लगा दिया गया ढूंढ कर खोजा यह जाने लगा कि दोनों में मतभेद एवं विभिन्नताएं कहाँ रहा है। तत्पश्चात् हर समय उभार न दर्शी पर जोर दिया जाने लगा—वर्गों को सामने लाया जाने लगा—उन्हीं का प्रमुखता दी जाने लगी—इतनी कि वे ही सब लोगों के मन में बस जाय—मनोविज्ञान का अनिवार्य अंग हो जाय। रजनी पामदत्त ने इस बात का उल्लेख किया है कि साम्प्रदायिकता अंग्रेजी साम्राज्यवाद की विशेष देन है।[1] राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर करने के लिए अंग्रेजों ने इस समस्या की सृष्टि कर दी थी—कभी मुसलमानों को बढ़ावा देकर और कभी हिन्दुओं का साथ देकर। साम्प्रदायिक चुनाव पत्र और साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व ने इस रोग को खूब उभाड़ा। वास्तविकता यह थी कि हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज की क्रान्तियों और उनके शुभ परिणाम के कारण प्राप्त होने वाली हिंसा की शक्ति और उसकी तेजस्विता तथा उसके व्यावहारिक स्वरूप को देखकर मुसलमानों ने भारतीय राष्ट्रीयता के विकास को हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान तथा इस्लाम धर्म के पराजय के रूप में देखा। सन्देह आशंका और फूट आदि का बीजा रोपण हो गया। आनन्द टवालनहीं ने लिखा है

१—'इण्डिया टुडे'

उसकी रसभरी बोली और साहित्य का परित्याग कर दिया। इस प्रकार उर्दू को हिंदी के विरोध में खड़ा कर दिया गया। आधुनिक हिन्दी साहित्य को मुसलमानों की प्रतिभा का वास्तविक और समुचित योग दान न प्राप्त हो सका और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस में थोड़ी बहुत हानि अवश्य हुई है। इस प्रवृत्ति से होने वाली क्रूरताओं ने कथा-क्षेत्र में 'राम रहीम' और "इंसान मर गया" जैसी दो स्थायी महत्व की कला कृतियों की सृष्टि करवा ली।

भारत और अंगरेजी राजनीति—

सो, इस अर्द्ध शताब्दी में भारत अंगरेजों के हाथों से निकल गया। उनकी राजनीतिक गुलामी से छुट्टी पा गया। उसे कसम और प्रीतिरीति से वापस लौटा दिया जिसे कभी तलवार और कूटनीति से लिया था। सचमुच भारत का महत्व इंगलैंड और यूरोप के लिये असाधारण था। भारत विजय की भावना ने २०० वर्षों तक यूरोप के इतिहास की रूपरेखा निश्चित की है और गति विधियां निर्धारित की हैं। इसी की लालच में अनेक युद्ध लड़े गये। इसी ने इंगलैंड की भीतरी राजनीति तथा सारे राजनीतिक और सामाजिक ढांचे की रूपरेखा निश्चित की है। भारत ब्रिटिश साम्राज्य का रथ रहा है। ब्रिटिश पूंजीवाद की रूपरेखा उसका विकास भारत ने ही बनाया है। इस भारत को अंगरेजों ने आसानी से नहीं छोड़ा है। उनकी विवशता या उन की भलमनसाहत या अच्छाई इतनी अवश्य रही कि वे ठीक समय पर ठीक से चले गये। इस सब का श्रेय क्लमेन्ट एटली का ही है—नहीं तो, इस समय भी इंगलैंड में चर्चिल जैसे अनुदार लोगों की कमी नहीं थी। इन लोगों ने प्रारम्भ से अन्त तक भारत को पराधीन बनाये रखने में कुछ कसर बाकी नहीं रक्खी। इस बीसवीं शताब्दी में अंगरेजों ने भारत की रूढ़िवादी प्रतिक्रियावादी शक्तियों को जीवित रक्खा, सक्रिय रक्खा, उनकी सहायता की और उनसे सहायताएं लीं। चतुराई के साथ भारत में फूट, धोखा, दमन और पुरानपन को बनाए रखने की उनकी प्रवृत्ति बराबर बनी रही। वे हिंसात्मक रहे। देशी राजाओं, नवाबों, बड़े-बड़े और छोटे-मोटे जमींदारों तालुकेदारों और नवाबों, को ये लोग बराबर बनाए रहे। इनकी कठपुतलियां में सर पर कलगीदार साफे और बगल में लटकी तलवार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। न तो साफे के नीचे बुद्धि ही थी और न तलवार की म्यान की पार्श्ववर्ती कलाइयों में बल। इनकी मूर्खता की एक झलक मुल्कराज आनन्द के सुप्रसिद्ध उपन्यास "एक था राजा" के नायक के क्रियाकलाप और चरित्र—से मिलती है। इनके खोखलेपन का एक उदाहरण "गोदान" के "होरी" के गांव

के जमींदार और 'सीधी-सादा रास्ता' के नवाब के रूप में मिलता है—और समस्त विशिष्टताओं के साथ मिलता है। ये जनता पर मनमाना अत्याचार कर सकने थे। इन्हें कानूनों को उठाकर ताक पर रख देने की इजाजत थी। इनके क्षेत्र की वास्तविक और निर्णायिका राजनीतिक शक्ति अंगरेजों के ही हाथों में थी। ये राजा नवाब बौद्धिक दिवालियेपन के प्रमाण थे। मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से ये पिछड़ेपन की सबसे भयानक स्थिति में थे। गुलामी, बेगारी, दमन, कुशासन, पतन, अत्याचार और भ्रष्टाचार का इन रियासतों में नंगा नाच होता था। साम्राज्यवादी अंग्रेज सबसे पहले तो इस बात को ही मानने के लिये नहीं तैयार था कि भारत एक राष्ट्र है। उनके अनुसार अंग्रेजी शासन ने ही सबसे पहले भारत में राष्ट्रीय एकता स्थापित की। वास्तविकता तो यह है कि भारत को निर्बल करने के लिये हमारे अंगरेज प्रभु ने भारत को एक छोटा-सा महाद्वीप कहा, विभिन्न धर्मों की उपस्थिति को एक राजनीतिक उलझन का स्वरूप दे दिया, जातियों और वर्गों की विभिन्नता, आदि पर जोर दिया, छूत-अछूत के भेद भाव को बढ़ाकर हमारे सामने रखा, और भाषाओं की संख्या में निरन्तर वृद्धि करने का प्रयत्न किया। एक पीढ़ी पहले अछूतों और दलितों की संख्या लग-भग ३ करोड़ थी। १६१० में वैलेन्टाइन चिरोल ने उसे ५ करोड़ बताया और १६२६ में बीरा ऐंस्टी महोदया ने ६ करोड़। १६०१ में भारत में १८७ भाषाएं थीं, १६२१ में २२२ भाषाएं हो गईं। कावुई ४ आदमियों की, आद्रो १ आदमी की और नोरा २ आदमियों की भाषाएं थीं। वस ये कितनी ही नगण्य हों किन्तु भाषा-वृद्धि के लिये तो महत्वपूर्ण थीं ही !! स्पष्ट है कि ये प्रवृत्तियां अराष्ट्रीय थीं और राष्ट्रीयता-प्रधान आधुनिक हिन्दी साहित्य में इनकी प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप और वास्तविकता के आग्रह के परिणाम-स्वरूप इन प्रवृत्तियों को कोई भी महत्व या प्रयास नहीं मिला। उसमें भारत एक अखंड व्यक्ति वाले सजीव अस्तित्व—माता—के रूप में प्रतिष्ठित है। वहां धर्मों की बाहरी विभिन्नताओं का उल्लेख तक नहीं है। वहां धर्मों के प्राणतत्व को अपनाया गया है। जातियों की विभिन्नता आधुनिक हिंदी साहित्य का विषय न बन सकी। वर्ग-भेद साम्यवादी क्रान्तिकारों की कृतियों में अवश्य कुछ मिलता है किन्तु वह साधन है समस्त जन समूह के अन्ततोगत्वा उत्थान के लिये। वहां विभिन्न भाषाओं को भाई भी महत्व नहीं दिया गया। यहां तक कि ब्रजभाषा और खड़ी बोली के स्वतन्त्र अस्तित्व को भी कोई महत्व नहीं दिया गया। सबको मिलाकर जैसे एक राष्ट्र कहा गया वैसे ही समस्त बोलियों को एक-ही संज्ञा-हिन्दी-से अभिहित किया गया।

हमें किसने जगाया ?

सच तो यह है कि भारत के राष्ट्रीय जागरण का श्रेय अंगरेजों की शासन-नीति को उतना नहीं है जितना विश्वव्यापी विचारधाराओं की क्रान्ति और अनिवार्य परिस्थितियों को। यदि साम्राज्यवाद जाने या न पराधीन राष्ट्र की राष्ट्रीय चेतना का यंत्रालिक होता तो संसार का इतिहास कुछ और ही होता। साम्राज्यवादी अंगरेज यह कहते हैं कि हमको बर्क, मेकाले, ग्लैडस्टन आदि ने जगाया। १९१८ ई० में माटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ने सरकारी तौर भारतीय जागरण वर्ग को बौद्धिक रूप में अपनी सन्तान माना है। शायद शायद वर्ग मा-बाप का पद लेने में बहुत कम शरमाता है। भारत के जमींदार और तालुकेदार भी शोषितों से अपने लिये "माई-बाप" का सम्बोधन सुनने में सन्ताप का अनुभव करते थे। ध्यान रहे कि अंगरेजी शिक्षा और अंगरेजी साम्राज्यवाद ये दोनों दो चीजें हैं। बर्क, मिल, काली, इटली और क्लाइव हेस्टिंग्ज डलहौजी, चर्चिल और लिनलिथगो-ये दोनों दो वर्ग हैं। कशीमिचरण डीन ने लिखा है[1] कि गांधी यह जानते थे कि अपने देश के अन्दर अंगरेज जाति दो विभिन्न विचारों में विभक्त हो गई है-प्रथम, साम्राज्य को बनाये रखने की तीव्रतम इच्छा, और द्वितीय जिन नृशंस उपायों का उपयोग करने में हिटलर और स्टैलिन को तनिक भी हिचक न होती ऐसी परिस्थितियों में भी उन उपायों का भारतीय राष्ट्रवाद के विरुद्ध प्रयोग करने में अरुचि और घृणा।" जवाहरलाल नेहरू ने भी इसी प्रकार दो इंगलैंडों की कल्पना की है। इनमें से एक का श्रेय दूसरा नहीं ले सकता, एक का दोष दूसरे के सिर पर नहीं लादा जा सकता। हिन्दी जनता और हिन्दी साहित्य पर प्रभाव दूसरे इंगलैंड का पड़ा है। अस्तु रुपये का लालची इंगलैंड और साम्राज्य का भूखा अंगरेज जिस दिन से भारत में आया उसी दिन से हम उसके विरुद्ध हो गए। हम १७५७ में लड़े १८५७ में लड़े और १९४२ में लड़े। जनता की बरबादी भारतीयता का विनाश और जनता का शोषण उनका इतिहास है, असंतोष, बेचैनी तथा राष्ट्रीय जीवन और संस्कृति की रक्षा के लिये संघर्ष और बलिदान हमारी कहानी है। १८३५-३६ में भारत के गवर्नर जनरल मेटकाफ ने लिखा था, "पूरा भारत हर घड़ी यही मनाया करता है कि हमारा तख्ता उलट जाय। हमारे विनाश पर हर जगह लोग खुशियां मनाएंगे और ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो उस घड़ी को नजदीक लाने में अपनी पूरी ताकत लगा देंगे।" मि० ए० ओ० ह्यूम की जीवनी में लेखक सर

---

[1]—' यू पटर्न आफ डिमाक्रेसी' पृ० ७२।

विलियम वेडरबर्न ने लिखा है कि दुर्भाग्य से सरकार ने जिन प्रतिक्रियावादी उपायों से काम लिया और जिन तरीकों से पुलिस के द्वारा दमन किया उन सबका यह नतीजा हुआ कि लार्ड लिटन के जमाने में भारत में चन्द दिनों के अंदर एक क्रान्तिकारी विस्फोट होने की आशंका पैदा होगई। १८५७ के बाद अंगरेजी साम्राज्यवादी शक्ति ा से मिलता कर ली। अंगरेज उनके अत्याचारों और अनाचारों को बर्दास्त करने लगे और ये अंगरेजी के भारत-शोषण को चुपचाप सहन लगे। किन्तु तब तक जनता का पक्ष समर्थन करने के लिये और उसकी सहायता करने के लिये एक उदार और प्रगतिशील तथा भारत की राष्ट्रीयता तथा संस्कृति का समर्थक मध्यम वर्ग जन्म लेकर क्रियाशील होने लगा था। उसको स्वामी विवेकानन्द के पाचजन्य के इस उद्घोष ने प्रबुद्ध कर दिया था कि पहले रोटी, पीछे धर्म। अपने निर्धन देशवासियों से उसी भांति प्रेम करना सीखो जिस प्रकार तुम्हारे वेद तुम्हें सिखाते हैं।'[१] इस मध्य वर्ग का हित और स्वार्थ अंग्रेजी पूंजीवाद और साम्राज्यवाद से टकराया। इस टकराहट के साथ संघर्ष अनिवार्य होगया। अंगरेजी पूंजीवाद ने भारतीय पूंजीपतियों और व्यापारियों को और अंगरेजों को ही ऊंची और अच्छी नौकरी देने की नीति ने भारतीय बौद्धिक प्रतिभा का अपमान किया। स्वार्थ ने राजभक्ति को ढकेल बाहर किया। भारत का प्रत्येक वर्ग अंगरेजों के विरुद्ध था। उद्योगपति इसलिये विरुद्ध थे कि अंगरेजों के संपूर्ण नियंत्रण और पक्षपात पूर्ण नीति के कारण इनका विकास और इनकी उन्नति नहीं होने पाती थी। पढ़े-लिखे वर्ग वाले अपनी योग्यता के अनुसार नौकरी न पाने के लिये अप्रसन्न थे। किसान लगान और भूमि व्यवस्था के कारण अपनी भयानक गरीबी का कारण अंगरेजों को समझाने के कारण उनसे क्षुब्ध था। मजदूर वर्ग उन्हें अपनी स्थिति के सुधार-मार्ग का रोड़ा समझता था। परिस्थितियां ऐसी थी कि राष्ट्रीयता का उदय अवश्य होता। कौन कह सकता है कि पंडित जवाहरलाल नेहरू, गांधी, तिलक, पटेल, आदि यदि अंग्रेजी न जानकर केवल संस्कृत ही जानते होते तो भारत में वह न करते जो किया? क्या आत्मा और स्वभाव विचारों की अभिव्यक्ति के माध्यम-भाषा और बाह्य साहित्य के वशीभूत होकर क्रियाशील होता है? भारत की राष्ट्रीय चेतना यहां की राजनीतिक, आर्थिक, और सामाजिक दुर्गति का परिणाम है। हमें शोषण और अपमान की तीखी चुभन ने स्वाधीनता की मांग के लिये मजबूर कर दिया था। रजनी पामदत्त ने लिखा है, 'भारत के राष्ट्रीय आंदोलन

१ — 'भक्ति और वेदान्त', पृ० १२६-१३०।

का इतिहास उसकी विकसित होती हुई चेतना का इतिहास है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के इस आदोलन का मूलाधार है यहां का विशाल जन-समूह" [१]। इसी प्रकार शंकर दत्तात्रेय जावडेकर ने अरविंद का यह कथन उद्धत किया है, 'राष्ट्रवाद के संदेश का जन्म निराशा से नहीं हुआ है इसका जन्म श्रीकृष्ण की तरह

१—"इंडिया टु डे", पृ० २६५।

बन्दीगृह म हुआ है। जिन्ह अनियान्ति किन्तु उन्नत सुराज्य वाला हिंदुस्तान जेल की काल-कोठरी की तरह असल मालूम होता था उनके हृदय म इसका जन्म हुआ है। श्री कृष्ण का लालन-पालन जसे दरिद्र और अज्ञानी जनता के अगात घर म हुआ उसी तरह यह राष्ट्रवाद सन्यासियो की गुफा म, फकीरो के वन म युवको के हृदयो म (बलिदानियो के) अन्तःकरण म और (त्यागियो के) जीवनों मे धीरे-धीरे बढा और पनपा है । यह राष्ट्र धम एव अवतार ही है यह परमात्मा-नियुक्त शक्ति है और वह ईश्वर नियोजित काय का पूरा किय बगर विश्व की चित् शक्ति मे जहा से कि उसका उद्गम हुआ है फिर नही मिलने की।" [१] इसमे कोई सन्देह नही कि यह विश्वात्मा स उद्भूत एव विश्वशक्ति थी क्योकि समस्त विश्व म यह व्याप्त हो गई थी। सभी देशो में स्वाधीनता का राष्ट्रीय आन्दोलन एव जन-आदोलन सागर की उमग भरी उमडती हुई तरगो क समूह की भाति आगे बढा। साम्राज्यवाद । के पर डगमगाए । औपनिवेशिक स्वतत्रता की आधी म ठ ठ साम्राज्यवाद की रूखी-सूखी निष्प्राण जड हिल उठी। जन जागरण और राष्ट्रीय असन्तोष की तफनाती हुई लहरें गरज-गरज कर रही थी—'भारतीय क्रान्ति सफल हो, "इन्कलाब जिन्दाबाद"। एटली ने कहा था कि 'मुझे पूरा विश्वास है कि इस समय भारत म और सारे एशिया मे राष्ट्रीयता की धारा पूरी तेजी से वह रही है।' इसी राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि म आधुनिक हिंदी साहित्य का जन्म हुआ हैं और इसी के साथ-साथ उसका विकास भी हुआ हैं। दोनो में बहुत कुछ समानताए है। श्यामसुन्दर दास ने लिखा है "हिन्दी बोलने वाला तो गवार समझा जाता था। वह बडी हेय दृष्टि से देखा जाता था" [२]।

जिस प्रकार राष्ट्रीयता का विकास दमन और जेल के वातावरण म हुआ है उसी प्रकार आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास भी भयानक उपेक्षा और अवज्ञा के प्राणातक वातावरण मे हुआ है। हजारी प्रसाद द्विवेदी न लिखा है "ससार क इति-

---

१—'आधुनिक भारत, पृ० १४५—१४६।

२— मेरी आत्म कहानी पृ० २०—२१।

हास मे ऐसी दूसरी भाषा शायद नही है जो सब ओर से उपेक्षित रहते हुए भी इतनी शक्ति अर्जन कर सकी हो आधुनिक हिंदी भाषा का साहित्य प्रतिकूल और विसदृश परिस्थितियों के बीच रचा गया है एक ओर साहित्यकारो को उपेक्षा का शिकार होना पड़ा है दूसरी ओर अवज्ञा की चोट सहनी पड़ी है। इस दुहरी मार के कारण साहित्यकार को अधिकांश शक्ति परिस्थितियो से जूझने में खर्च करनी पड़ी है लेकिन हिंदी के महाप्राण साहित्यकार विचलित नही हुए यह कहानी जितनी ही खेदजनक है उतनी ही स्फूर्तिदायक" ।[१] इस साहित्य का राष्ट्रीयता से इतना तादात्म्य है कि उपर्युक्त उद्धरण में यदि हिन्दी की जगह "भारत" 'साहित्य" की जगह देश", 'साहित्यकार' की जगह "देशभक्त" कर दें तो यह कहानी भारतीय राष्ट्रीयता की हो जायगी। जैसे भारत की राष्ट्रीयता सीमित शक्ति वाली भारतीय जनता के मानस में पनपी वैसे ही आधुनिक हिंदी "साहित्य (के) निर्माण का भार उन लोगो पर पड़ा जिनकी शक्ति परिमित' थी' [२]। निम्न मध्यवर्ग के गरीब देशभक्तों की तरह इन साहित्यकारो में प्रतिभा और बुद्धि उतनी नहीं थी जितनी लगन, ईमानदारी कष्ट सहिष्णुता, परिश्रम, राष्ट्रभाषा भक्ति आत्मसम्मान और राष्ट्र प्रेम। इनको सुख आराम, शान शौकत और रौबदाब की उतनी चिन्ता नही थी जितनी एक उच्चतर नैतिक सन्तोष की। इन्हें इस बात की इतनी चिन्ता नही होती कि उनका कार्य या उनकी कृति महत्व और कला की दृष्टि से किस कोटि की है। लिखना एक कर्तव्य है इसलिये लिखा और एक पवित्र कार्य करने का सन्तोष पा लिया। देशभक्तों का कार्य जितना निष्काम था उतना ही इन साहित्यकारो का भी था। वे प्रेम भी करते थे। स्नेह भी करते थे। द्वेष और ईर्ष्या से भी प्रेरित होते थे। उनका दावा महात्मापने का नही था। उनका दावा विश्व साहित्य का नहीं था। फिर भी 'उन्होंने जिसका सृजन किया वह राष्ट्रीयता की ही भांति महत्वपूर्ण है। कारण यह है कि दोनों की पृष्ठभूमि एक ही थी और कुछ हद तक दोनों के कारकर्ता भी एक ही थे।

राष्ट्रीयता—

और राष्ट्रीयता है क्या ? इस बात को यदि हम ठीक से समझ ले तो आधुनिक हिंदी साहित्य और राष्ट्रीयता के इस घनिष्ठतम सबंध का कारण समझ

१—"हिन्दी साहित्य", पृ० ५०७।

२—'मेरी अपनी कथा", पृ० ८१, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी।

लगे। ए० आर० देसाई ने राष्ट्र और राष्ट्रीयता–संबंधी धारणा इस प्रकार अभिव्यक्त की है कि राष्ट्र मनुष्यों के उस समुदाय का नाम है जिसमें निम्नलिखित विशेषताएं हों —(१) उस पूरे समुदाय की एकमात्र एक ही सरकार हो, (२) उस समुदाय के सभी व्यक्तियों के सम्पर्क की एक निश्चित निकटता और उसका एक स्वरूप होना चाहिये, (३) उसकी एक निश्चित सीमारेखा हो (४) उसकी अपनी कुछ ऐसी विशिष्टताएँ हों जो उसे अन्य राष्ट्रों या राष्ट्रीयता विहीन वर्गों से स्वतन्त्र सिद्ध कर सकें, (५) व्यक्तियों में कुछ सामान्य स्वार्थ या हित हों, और (६) लोगों के मस्तिष्क में उस राष्ट्र का जो चित्र है उस चित्र से संबंधित कुछ अनुभूतियां, भावनाएँ या इच्छाएँ कुछ हद तक लोगों में सामान्य रूप से पाई जाय। गत युगों के सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास वर्तमान राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक ढांचों, समाज के विभिन्न वर्गों की मनोवैज्ञानिक और आर्थिक प्रवृत्तियों की कुछ खास विशिष्टताओं आदि के आधार पर किसी देश की राष्ट्रीयता का स्वरूप निर्मित होता है और विकसित होता है। आज के मानव–समुदाय में राष्ट्रीयता की मनोवृत्ति सर्वप्रमुख सर्वप्रधान और सर्वाधिक शक्तिशाली एवं वेगवती मनोभावना हो गई है। विश्व राजनीति के विश्वकोष में 'राष्ट्रीयता को ऐसी सामुदायिक मनोभावना माना गया है जिसका मूलाधार राष्ट्रीय विशिष्टताएँ हों, जैसे, भाषा और संस्कृति, आदि'। इसकी प्रवृत्ति है राष्ट्रीय इकाइयों के बीच के अन्तर को अधिक महत्व देना। इस मनोभाव को खूब बढ़ा चढ़ाकर उपस्थित करना भी राष्ट्रीयता माना जाता है।[१] एक दूसरे प्रसिद्ध विश्वकोष में राष्ट्रीयता मस्तिष्क की एक ऐसी स्थिति को कहा गया है जिसमें किसी व्यक्ति की समस्त एवं सर्वोच्च भक्ति अपने राज्य के कारण और उसके लिये ही होती है।[२] यहां राजा या राष्ट्र का जनता के साथ पूर्णरूप से तादात्म्य हो जाता है। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है 'विगत उपलब्धियां, परम्पराओं और अनुभवों का सामूहिक स्मरण ही मूल रूप से राष्ट्रीयता है।'[३] उपर्युक्त परिभाषाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीयता का मूलाधार संस्कृति है अर्थात् हम यह कह सकते हैं कि भारतीय राष्ट्रीयता भारतीय संस्कृति से अनुरंजित एवं अनुप्राणित है। भारतीय संस्कृति का आधार आस्तिकता, उच्चकोटि की नैतिकता, साधना के साधना की पवित्रता, सात्विकता, आदर्शों के प्रति निष्ठा, अद्वैत भाव की प्रतीति आदि

१ 'एनसाइक्लोपीडिया आफ वर्ल्ड पालिटिक्स", पृ० ३०१।

२—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटनिका, पृ० १४६।

३ डिस्कवरी आफ इण्डिया" पृ० ५२८।

है। परिणाम यह हुआ कि हमारी राष्ट्रीयता का आधार हो गया वैयक्तिक नैतिकता। व्यक्तिगत पवित्रता व्यक्तिगत महानता, व्यक्तिगत साधना, साधन शुद्धि, हृदय-परिवर्तन, अस्पृश्यता निवारण हिंदू मुस्लिम एकता की भावना चरखा अहिंसा पाश्चात्य संस्कृति के प्रति आग्रह रखते हुए उसके केवल सद् अंशों को ही अपनाने की प्रवृत्ति, असहयोग बहिष्कार, ग्रामोत्थान, व्रत, उपवास, अनशन, आदि हमारी राष्ट्रीयता के अनिवार्य अंग हो गये। किसी भी देश का राष्ट्रीय आंदोलन और उसकी प्रेरणा शक्ति, राष्ट्रीयता, इतनी पवित्र, आत्मोत्थान में इतनी सहायक, इतनी रचनात्मक एवं सुधारात्मक, तमस से इतनी मुक्त, समझौता सहयोग सद्भावना से इतनी युक्त, एक मात्र जागरण एवं उत्थान की भावनाओं से परिपूर्ण तथा विपक्षी के प्रति घृणा एवं विनाश की भावनाओं से अकलुषित एवं अमलीन नहीं जितनी भारत की। इसलिये हमारे देश की राष्ट्रीयता में विश्व की सामान्यतः प्रचलित राष्ट्रीयता के दोष नहीं आने पाये। हमारी राष्ट्रीयता आक्रमणशील न होकर रचनात्मिका एवं उत्थानात्मिका थी। यही कारण है कि इस राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित हमारा आधुनिक हिंदी साहित्य भी सात्विकताप्रधान है। बहुत अधिक हुआ तो उसमें थोड़ी बहुत रजस की भावनाएँ आ गई। इसीलिये इस साहित्य में आस्तिकता की प्रधानता है। इसमें किसी जाति के प्रति घृणा नहीं व्यक्त की गई। बहुत हुआ तो विरोधी के अत्याचारों व अनाचारों का चित्रण मात्र कर दिया गया। इसमें भी समाज के उत्थान की भावना की ही प्रधानता है। हमारा यह साहित्य आक्रमणशील नहीं है। हमारे इस साहित्य में विनाश का आह्वान उतना अधिक नहीं है। वह किसी को उत्तेजित नहीं करता। इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में वंचित ही कोई लिख सकता है कि पूर्व पूर्व है और पश्चिम, पश्चिम दोनों कभी मिल नहीं सकते। हमने सामूहिक रूप से यह कभी नहीं लिखा कि हे हिटलर "खबर लेने पश्चिम की जो अब की बार तुम जाना, हमारे नाम से भी चार गाले फेंकते आना" या हमने अंगरेजों से यह नहीं कहा 'वक्त लिखेगा फसाना एक नये मजमून की, जिसकी सुर्खी को जरूरत है तुम्हारे खून की।" ये उर्दू साहित्य की पंक्तियाँ हैं।

लोकतन्त्र—

शासक और शासित का एक सम्बन्ध हुआ करता है और इस नाते ये दोनों एक दूसरे को प्रभावित किया करते हैं। इस नाते भी हम अंगरेजों की लोकतन्त्रात्मक पद्धति से बहुत प्रभावित हुए। यह लोकतन्त्र या डेमोक्रेसी है क्या। "डेमोक्रेसी" शब्द यूनानी भाषा के दो शब्दों से मिलकर बना है जिनमें से एक का अर्थ है 'जनता और

दूसरे का, "राज्य करना"। विश्वकोष[1] के अनुसार डेमोक्रेसी सरकार का वह रूप है जो जनता के स्वशासन पर आधारित है और जो आजकल प्रतिनिधि संस्थाओं द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक निर्वाचित प्रतिनिधियों पर आधारित है। यह जीवन की एक पद्धति है जो सभी व्यक्तियों की समानता की मौलिक एवं मूलभूत धारणा पर आधारित है और जिसका आधार है जीवन का, स्वतन्त्रता का (जिसमें विचारों और उनकी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता भी मिली है) और सुख की प्राप्ति के लिये किये जाने वाले प्रयत्नों को कर सकने का अन्य किसी के भी समान बराबर अधिकार। इस प्रणाली में प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से महत्वपूर्ण समझा जाता है। अपनी योग्यता के अनुसार जो भी जो चाहे, बन सकता है प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये और सुखपूर्वक जीवित रह सकने के लिये स्वतन्त्रता होती है। ऐसा नहीं है कि यह प्रणाली असमताओं विषमताओं और भेदों को न स्वीकार करती हो। यह इनकी अपेक्षा समानताओं, समताओं और स्निग्धताओं को अधिक महत्व देती है। इसमें सहिष्णुता समझौता और मतैक्य एवं अधिकाधिक मतैक्य के अनुसार कार्यों के करने पर बल दिया जाता है। यहां सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है और जनता जब चाहे तब सरकार को बदल सकती है। स्पष्ट है कि अंगरेजी साम्राज्यवाद की उपस्थिति में यह लोकतन्त्र पूरी तरह से यहां नहीं पनप सकता था और इसलिये नहीं पनपा किन्तु उसका नाटक, हो सकता था सो किया गया। उसे देखकर उसकी एक झांकी हमें अवश्य मिल गई। हां, लोकतन्त्र के स्वरूप को बौद्धिक दृष्टि से समझने, उस पर विचार करने और तत्सम्बन्धी साहित्य के अध्ययन मनन का हमें अवसर अच्छी तरह से मिल सकता था और हमने इस अवसर का उपयोग किया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्यक्ष रूप से नहीं, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से हमारा आधुनिक साहित्य इस लोकतन्त्र की भावना से प्रभावित अवश्य हुआ है। जो सब में एक भगवान को देखता है और एक भगवान में ही सभी को देखता है वही सच्चा ज्ञानी और सच्चा समझदार है यह भावना हमें गीता सिखाती है। इस सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि में हमने लोकतन्त्र को ग्रहण किया। परिणाम यह हुआ कि आधुनिक हिंदी साहित्य में किसी रामचन्द्र ने किसी तपस्वी शूद्र को मारने का धार्मिक या कानूनी समर्थन नहीं पाया और न किसी परशुराम ने पृथ्वीतल पर से किसी जाति के उन्मूलन का अनुष्ठान किया क्योंकि लोकतन्त्र की धारणा के अनुरूप आधुनिक भारत में कानूनों का स्वरूप जनतन्त्रात्मक था। एक जाति के रूप में आधुनिक हिन्दी साहित्य में ब्राह्मण क्षत्रिय, या किसी भी विशेष वर्ग के लिये कोई विशेष रियायत नहीं। सभी के लिए एक स

१—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, पृ० १८२

सिक्के, सभी के लिये एक से कानून, सभी के लिये एक-सी शिक्षा-पद्धति, सभी के लिये प्रशासन की एक सी भाषा रानी और सभी के लिये एक-सी अर्थ व्यवस्था। आधुनिक हिंदी साहित्य में यदि ब्राह्मण कहीं विशेष रूप से प्रतिष्ठित है तो इसलिये कि भारतीय संस्कृति के अनुसार ब्राह्मणत्व मनुष्य का श्रेष्ठतम और आदर्शतम स्वरूप है। नहीं तो, डा० राम कुमार वर्मा के "कौमुदी महोत्सव" का क्षत्रिय चन्द्रगुप्त ब्राह्मण चाणक्य के अखंड अधिकार पर प्रश्न चिन्ह लगा देता है।

सुधार आन्दोलनों का प्रभाव —

गाधी जी की राष्ट्रीयता में समस्त आधुनिक सुधार आन्दोलन की प्रवृत्तियां एकत्र थी और इस राष्ट्रीयता से प्रभावित आधुनिक हिंदी साहित्य ने इन समस्त आन्दोलनों के प्रमुख तत्वों को अपना लिया है। अपने से पहले के सुधारकों के द्वारा तैयार की गई पृष्ठभूमि का गाधी ने सदुपयोग किया और उन्होंने राजनैतिक आन्दोलनों की एक शानदार इमारत तयार कर दी उन्होंने राष्ट्रीयता, धार्मिकता, सामाजिकता नैतिकता आदि का आश्चर्यजनक अद्भुत और गौरवपूर्ण समन्वय किया। हिंदी साहित्य में सुभद्रा कुमारी चौहान की "झांसी वाली रानी", कविता तथा वृन्दावन लाल वर्मा का 'झांसी की रानी' नामक उपन्यास इसी राष्ट्रीय भावना की कृतियां हैं। रांगेय राघव का 'सीधा सादा रास्ता' और भगवती चरण वर्मा का 'टेढ़े मेढ़े रास्ते" आदि अनेक उपन्यासों के पीछे राष्ट्रोत्थान की ही भावना है। 'नये पुराने झरोखे' में बच्चन ने लिखा है कि दिनकर ने गाधी के दलितोद्धार आन्दोलन से प्रभावित हो कर बुद्ध पर कविता लिखी और सियारामशरण गुप्त के "एक फूल की चाह" का भी विषय अछूतोद्धार ही है। प्रेमचन्द आदि के उपन्यास, दिनकर, भारतीय आत्मा माखनलाल द्विवेदी, आदि की कविताओं में राष्ट्रीय संघर्ष प्रतिध्वनित है। गुप्त जी की कविताएं प्राचीन हिंदुत्व और भारतीय गौरव के सबलतम तथा प्रभावशाली चित्रों से परिपूर्ण हैं। अंगरेजों के दमन की प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप होने वाले आतंकवादी आन्दोलन की पृष्ठभूमि में "रक्त मंडल' आदि जासूसी उपन्यास, "बंदीजीवन', आदि आत्मकथाएं, तथा 'भारत में सशस्त्र क्रांति का इतिहास", आदि ऐतिहासिक ग्रंथों का प्रणयन हुआ। "राम रहीम', की पृष्ठभूमि साम्प्रदायिक आन्दोलन हैं। राजनीति के एक अनुचित पथ के प्रभाव का चित्रण करते हुए सुमित्रानन्दन पंत ने लिखा है "उस युग का साहित्य, विशेष कर आलोचना-क्षेत्र, किस प्रकार संकीर्ण, एकांगी, पक्षधर तथा वादग्रस्त रहा है और उसमें तब की राजनीतिक दलबन्दियों के प्रतिफलस्वरूप किस प्रकार मान्यताओं तथा कला-रुचि संबंधी साहित्यिक गुटबंदियां

रही हैं[१]।" राष्ट्रीयता और आधुनिक हिंदी साहित्य का सम्बन्ध दिखाते हुए नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है, "हम तो यहां तक कहना चाहेंगे कि इस व्यापक राष्ट्रीय जागृति की हलचल में ही हमारा यह साहित्य पनपा और फला-फूला है ... नव जागृत राष्ट्रीयता की प्रेरणा से कितने ही नए कवि और लेखक नया साहित्य निर्माण करने लगे थे।"[२] अतुलचन्द्र चटर्जी ने लिखा है कि भारतीय सेना में "कमीशन पाये हुए भारतीयों की संख्या वस्तुतः शून्य थी और भारतीय सैनिकों की तरक्की की और नेतृत्व के पद तक पहुंचने की कोई भी संभावना नहीं थी।"[३] तात्पर्य यह कि द्वितीय महायुद्ध तक भारतीय सरकार भारतीयों को मिलिटरी के गौरवपूर्ण पदों से प्रायः अलग किये रही। १८५७ की भारतीय शूरता वह भूल ही कैसे सकती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इस अर्द्ध शताब्दी के साहित्य पर युद्ध का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ने पाया। मूलरूप से हिन्दी साहित्य युद्ध साहित्य की दृष्टि से विपन्न है। "उसने कहा था" जैसी एकाध कहानियों की पृष्ठभूमि भले ही कहने के लिये युद्ध की हो किन्तु आत्मा उसकी भी युद्ध की नहीं, वह भारतीय प्रेम और शराफत की है। आधुनिक हिन्दी गद्य की एक सबसे बड़ी विशेषता है राजनीतिक पत्र-पत्रिकारिता से उसका घनिष्टतम सम्बन्ध। इसने साहित्य के लघु रूपों के विकास और उसकी वृद्धि में बहुत सहायता पहुंचाई। लेख और निबन्ध बहुत लिखे गये। भानवती दरवार ने लिखा है "हिन्दी का राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त हो सका, इसका श्रेय बहुत अंश में हमारे नेताओं को ही है। राष्ट्रीय भावना से पूरित हमारे नेता हिंदी की ओर आकर्षित तो हुए ही किन्तु उन्होंने भाषा को भी राष्ट्रीय उन्नति के मूल में देखने का प्रयास किया। इसीलिये उन्होंने अपने जीवन के आदर्शों, राष्ट्रीय भावनाओं और देशोन्नति की आकांक्षाओं को जन-जीवन तक पहुंचाने के लिये हिन्दी को अपनाया ... हिन्दी को राष्ट्रवाणी का पद मिला और साहित्य उससे मुखरित हो उठा।[४] प्रभाकर सीतवल्कर ने इस बात का उल्लेख किया है कि लोकमान्य तिलक हिन्दी को राष्ट्रभाषा होने के योग्य मानते थे और चाहते थे कि देवनागरी लिपि में मराठी के समान ही गुजराती, बंगला, आदि भाषाएं भी लिखी जायं।[५] लेखक ने इस बात का भी उल्लेख किया

१—'दिग्दर्शन', पृ० १०।
२—'आधुनिक साहित्य', भूमिका पृ० २१-२२।
३—'द इण्डिया पृ० ८४।
४—'भारतीय नेताओं की हिन्दी सेवा
५—साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' २८ जुलाई १९६१ बाला अङ्क।

है कि गांधी जी के कहने पर तिलक ने एक बार १५–२० मिनटों तक हिंदी ही में भाषण दिया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य हिन्दी प्रदेश की और पूरे भारत की राजनीतिक परिस्थितियों और प्रवृत्तियों से उतना प्रभावित हुआ है जितना किसी सजीव साहित्य को होना चाहिये। व्यापक संस्कृति के इस अंग ने अपना प्रभाव इस युग के साहित्य पर डाला है।

अध्याय—४

आर्थिक पृष्ठभूमि

अर्थ का महत्व—भारत और कृषि—गांवों की जड़ता और गतिहीनता का कारण—हिन्दी का साहित्यिक और देहात—कमाई के सभी साधनों की असन्तोषजनक अवस्था—उद्योग-धन्धों की श्रेणियाँ—ग्रामीण शिल्प एवं उद्योग—बड़े पैमाने के उद्योग—व्यापार—नौकरी और नौकर—गरीब भारत—गरीब देश या सुप्त हुआ देश—भारत की प्रवृत्ति उधार की या देना वाली—अंग्रेज और भारत—औद्योगीकरण—बुद्धि और दृष्टि भ्रष्ट कर दी गयी—जड़ मूल पर आघात और उग्र उत्पन्न विषमता—आर्थिक परिवर्तन की भी बात सोची गया—साम्यवाद—गांधी नीति—आर्थिक जीवन और साहित्य—

दयनीय हो उठा है । अस्तु, अँग्रेजो ने जहा हमारे राजनीतिक अधिकारों का शोषण कीया वहाँ उससे अधिक भयानक रूप से हमारी आर्थिक सम्पन्नता का भी शोषण किया । राजनीति जीवन के ऊपरी स्तर पर ही प्रभाव डालती है और राजनीतिक क्षेत्र के कुप्रभावो का निराकरण शीघ्र भी हो सकता है जसा कि हमने १९४७ के पश्चात् कर लिया किन्तु आर्थिक कुव्यवस्था का प्रभाव सीधे जाकर मन और मनो विज्ञान को विकृत करने के रूप मे पडता है और उसम सुधार शीघ्रता के साथ नहीं हो सकता । इसीलिये अँगरेजो के जाने के बाद आज तक भी हम अपने समाज के इस प्रकार विकृत स्वभाव और मन को बदलने म सफलता नही पा रहे हैं ।' आइए पहल हम अपनी दयनीयता देखें ।

भारत और कृषि—

भारत म कृषि का बहुत बडा महत्त्व है । भारत की कुल जनसख्या का लगभग तीन चौथाई भाग कृषि काय म व्यस्त रहता है । देश के आर्थिक ढाँचे म कृषि का विशेष हाथ है । यह हमारी सभ्यता और सस्कृति तथा उन्नति एव समृद्धि की आधारशिला है । भारत को मिटाने के लिये भारत की कृषि को मिटाना अनिवाय था । भारत में शोषण की प्रथम स्थिति है यहाँ की कृषि का शोषण । व्यापारी अँगरेज सम्भवत इसे समझता था और इसलिये उसने सबस पहले यहाँ की कृषि-व्यवस्था म अपना हाथ लगाया और आज क्लाउस्टन के शब्दो मे, 'भारत म दलित जातियाँ हैं और उन्हीं के समान दलित उद्योग भी हैं, दुर्भाग्य से कृषि-उद्योग भी उन्हीं से एक है ।'[1] किसानो के खेत, खेती की स्थिति, खेती के औजार, खाद, बीज, सिचाई, पशु-पालन सहायक उद्योग-धन्धे, आदि सभी की दृष्टियों से हमारा कृषि उद्योग अत्यन्त पिछडी दशा मे है । उसका पतन चरम-सीमा को पहुच गया है । १८वी शताब्दी के द्वितीयार्ध से लेकर १९वी शताब्दी के अन्त तक हमारे कृषि उद्योग को शोषण, दुरुपयोग और बाद मे उपेक्षा के द्वारा इस प्रकार से बर्बाद किया गया कि इन सबका उत्तरदायी स्वय सुधारो का ढोग रचने के लिये मजबूर हो गया । १९वी शताब्दी के अन्तिम तीन दशकों मे भारत में भयानक दुर्भिक्ष पडे । १८६६-१८६७ म पानी न बरसने के कारण ३००,००० वर्गमील भूमि सूखी रह गई । १८-१९ लाख टन गल्ले की हानि हो गई । रमेशदत्त ने लिखा है, 'यह एक ऐसा दुर्भिक्ष था जो अब तक के सभी दुर्भिक्षो म जिनका इतिहास में वर्णन मिलता है, क्षेत्र म अधिक विस्तीर्ण था ।

१ कृषि आयोग रिपोर्ट,

इसने उत्तरी भारत तथा बगाल, मध्यप्रान्त, मद्रास तथा बम्बई को उजाड दिया'[1] प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमघन, आदि की कविताओ मे दुर्भिक्ष की दुरवस्थाओं का मार्मिक चित्रण मिलता है इसमे कुल १० लाख व्यक्ति मारे गये। १८६६ के दुर्भिक्ष मे ४७५ ००० वग मील भूमि तथा ५८,५०० ००० लोगो को भुगतना पडा। इन दुर्भिक्षो के पश्चात् बीमारियो और सक्रामक रोगो ने तबाह किया। इन दुर्भिक्षो का एकमात्र कारण है कृषि के सर्वांगीण विकास का अभाव और दुर्भिक्ष के प्रारम्भ होते ही दुर्भिक्ष की बात छिपाने के बदले तत्परतापूवक खाद्य सामग्री पहुचाने मे सुस्ती। १६०१ ई० मे हमारे भारत की जनसख्या साढे तेईस लाख के लगभग थी, जो १६५१ मे बढ कर साढे पैंतीस लाख के लगभग हो गई। वृद्धि लगभग साढे तेरह प्रतिशत की हुई। इसके विपरीत खाद्य सामग्री के उत्पादन का औसतन ह्रास ही हुआ है जिसका एकमात्र कारण यह है कि इसकी ओर पर्याप्त ईमानदारी, लगन और तत्परता से कोई भी काय नही किया गया। बीसवी शताब्दी के प्रथम कुछ वर्षों म आर्थिक अवस्था थोडी-बहुत सभली। १६०५ के आसपास का समय स्वदेशी आदोलन का समय था जिसमे लोगो का ध्यान अपने देश म बनने वाली वस्तुओं की ओर गया। १६०७ से १६०६ के प्रारम्भ मे अकाल के कारण थोडा-बहुत अवसाद का युग रहा। १६०६ ई० से १६१८ ई० तक अवस्था फिर सभली रही। १६१८-१६१६ के आस पास फिर दुर्भाग्य का युग आया। पानी कम बरसा। युद्धोत्तर विश्व मे आर्थिक अवसाद रहा। युद्ध के बाद तरह-तरह की चीजो की माग बढी और चीजो के दाम बढ गये। १६२० के बाद भयानक रूप से मन्दी आ गई। भारत पर भी उसका प्रभाव पडा। आय कम हुई। गरीबी, भुखमरी और बेकारी बढी। १६२६ म सारी दुनिया मे चीजों की कीमतें फिर गिरीं। १६२६-१६४७ तक कृषि की उन्नति अपेक्षाकृत कम हुई। ऐसे परिवतनो का भयानक प्रभाव उच्च वग पर अधिक नही पडता क्योंकि कुछ भी हो उन्हें दनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कभी-भी बिलखना या तरसना नहीं पडता। निम्न वग पर भी कोई महत्वपण प्रभाव नहीं पडता क्योंकि चाहे यह स्थिति हो, चाहे वह, उसे जितनी मेहनत और मुसीबत उठानी पडती थी बराबर उठानी पडती थी। प्रभाव उच्च वग की तिजोरी मात्र पर पडता है और निम्न वग को इस तरह से तिजोरी भरने या उसके खाली होने की समस्या पर कभी विचार भी नही करना पडता। इन परिवतनों से भुगतता यह वग अधिक है जिसे हम मध्य वग कहते हैं और इसी मध्यवग ने अधिकाशत हिन्दी साहित्य की रचना की है। इस कारण

१ एकनामिक हिस्ट्री आफ इण्डिया', पृ० ४५५

इन परिवर्तनों का हिंदी साहित्य पर किसी न किसी प्रकार से और किसी न किसी रूप में प्रभाव अवश्य पड़ता रहा। हां, इन प्रभावों की अभिव्यक्ति के स्वरूप अवश्य भिन्न-भिन्न रहे।

गाँवों की जड़ता और गतिहीनता का कारण—

तत्कालीन सरकार ने प्रोत्साहन और सहायता की जगह जब शोषण और उपेक्षा करनी प्रारम्भ की तब आजीविका के एक मात्र आधार कृषि (क्योंकि उद्योगों के समाप्त होने के पश्चात् ही लोग इधर आये थे और बड़े पैमाने के उद्योगों की प्रचुरता थी नहीं जिसमें मजदूर के रूप में खपत हो सके) की प्रकृति परम्परा मुखी, जड़ एवं गतिहीन हो उठी थी। साम्राज्यवादी अर्थशास्त्री तथा उनकी बौद्धिक सन्तानें भारतीय कृषि की समस्याओं में इस तत्व का उल्लेख तो अवश्य करती हैं किन्तु मूल कारण का स्पष्ट कथन करने में हिचकिचाती हैं। छोटे मोटे तथा इधर उधर बिखरे हुए खेतों में भारत का गरीब और मजबूर किसान (जो कभी कभी खराब जमीन भी जोतने के लिये मजबूर हो जाता है) खेती करता है। पीढ़ी-दर पीढ़ी के अनुभवों ने उसे सिखा दिया है कि इस खेती से पेट भरने भर को उपज हो जाय तो इसे ही गनीमत समझना चाहिये और फिर भी खेती नहीं छोड़नी चाहिये क्योंकि यह अपनी है जिस पर अपना अधिकार तो है और इसलिये जो गाढ़े वक्त भी आधा पेट ही सही, कुछ दे तो देगी। इसके परित्याग पर तो आजीविका का स्थायी रूप से विश्वसनीय अपना साधन कोई भी न रह जायगा। ध्यान रहे कि यह संतोष नहीं, मजबूरी है। मजबूरी की घुटन ही कुछ काल के पश्चात् सन्तोष का रूप धारण करने लगती है, और २०० वर्षों का समय कुछ कम से कहीं अधिक बड़ा होता है। जो लोग भारतीय कृषक को संतोषीवृत्ति कह कर उसकी दुरवस्था का दायित्व उसी के ऊपर डाल देते हैं उन्हें मैं उस तरह का व्यक्ति समझता हूं जो यह कहे कि हमारे नौकर को दूध, घी और फल अच्छे नहीं लगते, इन्हें खाना उनका स्वभाव ही नहीं है और इसलिये वह मरता है तो मरने को दायित्व उसी का है। मेरे एक मित्र ने एक बार अपने वृद्ध नौकर की शिकायत की कि दिन भर पड़ा रहता है, कोई भी काम हम उससे करवाते नहीं, मगर उससे यह नहीं होता कि अस्पताल चला जाया करे और दवा ले आया करे। अब, आप ही बताइये, मरता है तो हम क्या करें? मैं जानता था कि वह नौकर दवा लाने क्यों नहीं जाता। ६२ वर्ष के इस वृद्ध मरीज का औषधालय या अस्पताल साढ़े तीन मील दूर था और वह ज्वर से पीड़ित था। खेती के साधन घटिया किस्म के और अपर्याप्त होते हैं। जोताई गोड़ाई और बोवाई उचित ढंग से नहीं होती। बाँट बाँट कर खेतों के टुकड़े

टुकडे कर दिये गये हैं क्योंकि ऐसा करने के लिए हमारा विमान विवश है। साम्राज्य वाद कहता है कि संयुक्त परिवार प्रथा भी कृषक की आर्थिक दुरवस्था का एक कारण है। तात्पर्य यह है कि जैसे ही किसान का लड़का बडा और विवाहित हो जाय तैसे ही उसको उनसे अलग कर दिया जाय तो आर्थिक दृष्टि से अच्छा होगा। प्रश्न यह है कि अलग होकर वह क्या करेगा ? किसान की सम्पत्ति दस बीघे से पिघल कर बीस बीघे हो न जायगी। उद्योग धन्धों का विकास आप होने नहीं देते क्योंकि उससे मानचेस्टर का मजदूर भूखा मरने लगेगा (गांधी जी से मानचेस्टर में यही बात कही गई थी)। परिणामतः अलग होकर वह जमीन का भी अपना भाग अलग करना चाहेगा और जब इस प्रकार हमारे खेत बट जायेंगे तब कहा जायगा कि खेतों का छोटा और दूर दूर होना किसानों की गरीबी का कारण है। साम्राज्यवादी चिन्तन कितना कितना दुष्टतापूर्ण होता है !! अस्तु हमारा किसान इन छोटे छोटे खेतों पर पुराने हल और कुदाल का प्रयोग करने को विवश है। दो या चार चार बीघे जमीन पर ट्रैक्टर वह चलायेगा कैसे और उसे चलाये भी तो खरीदे कैसे ! हाथ से दँवाई होती है। कभी डंडे से कूट कूट कर और कभी बैलों को उस पर घुमवा कर यह काम किया जाता है। ओसाई सूप और हवा के सहारे होती है। बीज के लिये कोई विशेष प्रबन्ध नहीं। विवशता के परिणामस्वरूप जैसा भी अनाज मिला, बो दिया गया। कभी-कभी तो खराब दाने भी बो दिये जाते हैं। जमीन ठीक से तयार नहीं की जाती। निराई न तो काफी होती है न ठीक से। पशु-पालन के भी वैज्ञानिक ढंग से न होने की शिकायत की जाती है। सबको एक ही बाड़े में, एक ही जगह, रखने से उनमें बीमारियाँ फैलती हैं। उनकी देख भाल, दवाई, चरागाह, कोई भी बात ठीक और व्यवस्थित नहीं। मैं यह सब मानता हूं। कहना केवल इतना ही है कि जिस देश में शोषण प्रधान साम्राज्यवाद की कृपा से मानव के भी भोजन की समुचित और वैज्ञानिक व्यवस्था नहीं हो पाती, एक ही कमरे में बाप बेटे, सास बहू प्रजनन-पालन प्रसूति भोजन, आदि सबकी व्यवस्था होती है वहां जानवरों के लिये इससे बेहतर व्यवस्था की आशा हो भी कैसे सकती है ! जिस किसान का परिवार दवा के अभाव में मिट जाता है वह किसान बैल की दवा करे भी तो किस मन से और किन साधनों से !! ऋण लेने की व्यवस्था भी ठीक नहीं है। जिस किसान ने एक बार भी ऋण लिया कभी-कभी उसकी पीढ़ी दर-पीढ़ी उस ऋण से मुक्त नहीं हो पाती ! पश्चिम के सम्पर्क ने वस्तु-विनिमय की व्यवस्था मिटा दी। धन का, रुपये पैसे का, महत्व असाधारण रूप से बढ़ा दिया। हर काम और हर चीज के लिये धन चाहिए। उसके पहले का भारतीय जीवन धन पर उतना अधिक आधारित नहीं था जितना अधिक सहयोग, सहायता,

प्रेम और सहानुभूति जय पारस्परिक व्यवहारो पर। अब समस्या यह हुई कि यह धन आए कहाँ से ? किसान अब भी मूलत आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये ही उत्पादन करता है किन्तु अब उसकी आवश्यकताओ का स्वरूप और प्रकार भिन्न हो गया। एक छोटा-सा, सीमित समाज अब उनकी पूर्ति कर नही सकता था। क्रय की आवश्यकता पडी। उसके लिये धन चाहिये। इधर कहा गया है कि 'व्यापारे वसति लक्ष्मी' और इसीलिये देहात के व्यापारी साहु जी के पास किसानो की अपेक्षा अधिक धन पहुचा। अततोगत्वा कृषक ने उसी से ऋण लेना प्रारम्भ किया। साहु जी का सामाजिक महत्व बढता गया क्योकि किसान पर ऋण बढता गया। छोटे मोटे खेत बलो की मौतें, समुचित सुरक्षा की व्यवस्था के अभाव म उपज की अनिश्चितता जमीदारो की ज्यादतियाँ और उनकी धन लोलुपता सामाजिक अवसरो पर अनावश्यक और हैसियत से अधिक व्यय, आदि अधिकाधिक ऋण लेने के लिय कृषको को विवश कर देते हैं। एक बार ऋण लेने के पश्चात् किसान उसे प्राय चुका नहा पाता। कारण यह है कि जिन कारणो से विवश होकर वह ऋण लेता है उनका अभाव नही होता। वे बराबर मौजूद रहत हैं और उपज इतनी अधिक बढती नही जितना ऋण बढता है अर्थात् उपज इतनी अधिक नही होती कि खर्चा करने के पश्चात कुछ बचा कर उससे ऋण चुकाया जाय। किसान के पास दूसरा कोई व्यवसाय नही। ब्याज की दर ससार भर की अपेक्षा सबसे अधिक। किसान की चीज साहु जी ही खरीदेंगे और वे ही बेचेंगे। कम से कम दाम पर लेंगे अधिक से अधिक दाम पर बेचेंगे। किसान कुछ बचाए कमाए तो कसे ? साहु जी या जमींदार साहब ही हिसाब किताब रखते हैं। अपढ किसान यह कर ही नही सकता। ऋण का धन वे जितना चाहें, कर दें। इसम कोई भी चीं-चपड कर नही सकता। जमीदार साहब लगान ले लग परन्तु रसीद देंगे नही। माँगने की धृष्टता का दण्ड देना सक्षम समर्थ और सत्तात मालिक बहुत अच्छी तरह से जानता है। परिणामत किसान कानून की दृष्टि म कभी लगान चुकाता ही नही। जमींदार और साहूकार के हाथों म किसान की गर्दन सदव रहती है। जब चाहें नाश द। किसान शाश्वत कर्जदार होता है। नजर', और घूस और मुकदमे भी किसान के कर्जे को बढाते रहते हैं। किसान कज म पदा होता कज म जीता और कज म ही मरता है। बनिया उपयोगी और अनुपयोगी रचनात्मक और आडम्बर प्रधान, उत्पादक और अनुत्पादक, दोनों प्रकार क कार्यों क लिय ऋण देता है। गुआव क, सम्मान के और मजदूर कर लने, आदि क द्वारा वह किसान का ऋणी बना लेता है। तत्काल अदायगी क लिये कभी दबाव नहीं डालता। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ गई है कि इस पर उक्तियाँ प्रचलित हो गई हैं जसे, 'बनिया मार जान टग

मारे अनजान", 'न बनिया मीत न वेश्या सती', "बनिया सुई की तरह भीतर घुसता है और तलवार के रूप मे निकलता है", आदि। कर्ज लेन और 'नजर" देने का चित्रण प्रेमचन्द के 'गोदान" तथा अन्य उपन्यासो और कहानियो म बडे ही कलात्मक रूप मे मिलता है। अपनी सरकार ही किसानो को इससे बचाने के बारे मे सोचने का कष्ट कर सकता है और ईमानदारी से प्रयत्न कर सकती है। किसान की तमाम उपजाऊ जमीन ऊसर पडी रहती है। अपर्याप्त अनिश्चित और अनियमित रूप से पानी मिलता है। पानी कभी कम बरसा, कभी देर सबेर बरसा, कभी बहुत अधिक बरसा, और कभी बिल्कुल नही बरसा। सिचाई के साधन अपर्याप्त हैं और पुराने तथा अवज्ञानिक हैं जसे कुआं, ताल नहर, रहंट, आदि। नहरो के निर्माण की ओर सरकार ने कुछ ध्यान अवश्य दिया था किन्तु वह बिल्कुल ही अपर्याप्त था। १८३८-३६ तक १५२ ८ करोड रुपये इसम लगाये थे। १६००-१ मे प्रमुख नहरो तथा उनकी शाखाओ और सहायक नहरो की कुल लम्बाई ३८ १४२ मील थी। इस वष सिंचाई के कार्यो मे लगभग ४२ करोड रुपये लगाये गये थे। इससे स्पष्ट है कि भारत जसे विशाल देश के लिए, जिसके क्षेत्रफल (१५ ८१ ४१० वर्गमील) का लगभग ५० प्रतिशत से भी अधिक भाग जोता बाया जाता है, इतना धन कितना अल्प है! १८७८-७६ मे सीचा गया क्षेत्र १०५ लाख एकड था जो १६४१-४२ तक ३४० लाख एकड हो गया। भूमि-व्यवस्था दोषपूर्ण है जिसका प्रमाण उत्तरदायित्व सरकार पर पडता है। पोषक तत्वो की प्राप्ति क अभाव मे मिट्टी सत्वहीन हो रही है। स्वस्थ शरीर और अतृप्त मन वाले मनुष्यो का जहाँ सरकार द्वारा सनातन अभाव उपस्थित कर दिया गया हो वहा योग्य और कुशल मजदूर मिलें भी तो कसे? फसल ठीक नही होती और जितनी होती भी है उसमें कीडे लग जाते हैं। खेती के बारे मे कोई एक सहानुभूतिपूर्ण राष्ट्रीय नीति नही है। जान बूझ कर एसा वातावरण पदा किया गया और ऐसी लालच दी गई तथा कभी-कभी ऐसी जबरदस्ती की गई कि अनाज की खेती कम की जाय। इसका निश्चित परिणाम जब यह हुआ कि अनाज की कमी हुई तो विदेशो से उसका आयात किया गया। विदेशी विनिमय कम हुआ। तमाम झंझटें पदा हुई। अनाज रखने की व्यवस्था भी दोषपूर्ण और अवज्ञानिक है। बाजार की व्यवस्था भी ठीक नही। बेचने की व्यवस्था अवज्ञानिक, असुविधाओ से पूर्ण और असुन्दर है। शताब्दियो से दलित, दमित और इसलिय साहसहीन मुर्दादिल, तथा अशिक्षा के प्रसार के कारण अन्धविश्वासी, मजबूर रूढिवादी तथा जाहिल प्राणी भारतीय कृषि उद्योग का प्रथम पुरुष है। ऐसा महामानव अपने ऐसे अनाज को बैलगाडियो मे भर कर अपनी ऐसी विक

और धार्मिक दृष्टिकोण न हो जाते थे। अन्तराभाव व विचारशून्यता के लिये परिस्थितियाँ हैं। इसलिए आर्थिक दृष्टि से उसका ह्रास न होना बराबर है। यह किसान बसर करता है। खाने-पीने, स्वास्थ्य की दृष्टि से निकृष्ट कोठरियों में वे किसान रहते हैं। इन कोठरियों में न खिड़की न रोशनदान। व बरसात में प्रायः टपकती भी हैं। जाड़े में लोग पयाल या पुआल पर सोते हैं। राधा कमल मुकर्जी ने लिखा है "बहुत से किसानों के लिए झोंपड़ी केवल रात में रह सकने और सो जाने भर के लिए होता है। सारी उनकी जिन्दगी बाहर या बरामदे में बीतती है। एकान्त के अभाव के कारण अक्सर लाखों में से लाज, शर्म और हया का ख्याल ही खतम हो जाता है। मर्द और औरतें, छोटे और बड़े सब एक ही जगह लिपटे पड़े रहते हैं। ज्यादा से ज्यादा हाथ दो हाथ का अन्तर रहता है। पास ही सोने वालों में गाय बैल और बकरियाँ भी होती हैं। इस तरह ये लोग जाड़े में सोते हैं। वह घर जिससे मन और मस्तिष्क पर सुन्दरतम सामाजिकता, सुरुचिता, व्यावहारिक सौन्दर्य, सुशीलता और कलात्मकता का प्रभाव पड़ना चाहिये प्रायः बीमारियों और मुसीबतों की याद जैसा होता है, जहाँ लोग कीड़ों की तरह पैदा होते और मरा करते हैं। ऐसे व्यक्ति से न तो पर्याप्त परिश्रम हो सकता है, न काम में एकाग्रता और एक चित्तता। भारत में एक आदमी औसतन २.६ एकड़ भूमि पर खेती करता है जबकि इङ्गलैंड में १७.३ एकड़ पर। अमरिका की एक श्रमिक महिला औसतन १०० पौंड रुई चुनती है और मिश्र की ६० पौंड तक, मगर एक भारतीय महिला कुल ३० से ४० पौंड तक ही चुन पाती है।

अँगरेजों के आने से पूर्व हमारे ये गाँव पूर्ण रूप से स्वतन्त्र और आत्म निर्भर होते थे। अब इनकी यह विशेषता बहुत हद तक समाप्त हो गई है। प्रत्येक गाँव के इर्द-गिर्द मील-दो मील तक ग्राम निवासियों के खेत फैले रहते हैं। सामान्यतः किसान गाँव में ही रहता है। जिनके पास बीस-पचीस मील या इससे भी अधिक दूरी पर भी

खेत होते हैं। वे वहां भी एक झोंपडी बना लेते हैं जहाँ कभी-कभी परिवार का मालिक या और कोई तथा वहा की व्यवस्था देखने के लिए कोई एक नौकर प्राय रहा करता है। यद्यपि हमारे इन गाँवो मे सिक्का और नोटो का प्रवेश हो गया है किन्तु अब भी वस्तु विनिमय की प्रथा देखी जा सकती है। आवश्यकतानुसार लोग अनाज के बदले नमक या तेल या गुड, आदि ले लिया करते हैं। प्रत्येक गाँव मे एक बढई एक लोहार, नाई, तेली, कुम्हार आदि भी पाये जाते हैं जो गाव भर की एतद् सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति किया करते हैं। इसके बदले उन्हें प्राय के अनुसार पारिश्रमिक रूप मे तीन महीने या छ महीने पर अनाज मिल जाया करता है। प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग अब भी गावों के जीवन का आधार बना है। लोग एक दूसरे का काम करवा दिया करते हैं। किसी कारण यदि कोई खेती नहीं कर पाता तो अपने खेत खेती करने के लिए दूसरो को दे देता है और उपज का समुचित बँटवारा दोनो के बीच हो जाता है। पटवारी गाँव और खेत से सम्बन्ध रखने वाले जरूरी कागजात तयार रखता है। वह अपनी इच्छानुसार खेती के क्षेत्रफल मे अथवा उनके स्वामित्व के बारे मे लिख दिया करता है जो आगे चल कर भयानक मुकदमे-बाजी का कारण बनता है। अब जमीन भी लेनदेन और क्रय विक्रय की वस्तु बन गई है। जमीन के मालिक किसान न होकर वे जमींदार हैं जो खेती करते नहीं करवाते हैं या बहुत करके तो वे अपने खेतो का मुँह भी नही देख पाते क्योंकि यह सारा काम उनके मनेजर, मुख्तार या कारीन्दे किया करते हैं। खेती से इनका सम्बन्ध केवल इतना ही है कि ये उससे पसे पा जाया कर, वर्ना प्राय ये लोग शहर मे रहा करते हैं। इनके चरण बडे ही महत्वपूर्ण होते हैं और बडे ही साफ हात है। इसलिये इनकी ही खेती की मिट्टी-जमी तुच्छ और गन्दी वस्तु को उनके स्पर्श तक का सौभाग्य कभी नही मिलता! छोटे-छोटे किसान अपने खेतो के लिये किसान होते हैं और दूसरो के खेतों के लिये मजदूर। इस प्रकार वे किसान भी होते हैं और मजदूर भी। हर किसान के पास दो-चार पशु अवश्य होते हैं। उनसे गोबर मिलता है। जब जानवर अधिक होते हैं और उनका गोबर अधिक होता तब उसे घर के पास कहीं एक जगह बराबर फेंकते रहते हैं और समय पर उसे मजदूरो से उठवा कर खेतो मे डलवा दिया जाता है। अगर गोबर कम निकला तो उसके छोटे माटे उपले या कण्डे बना लिये जाते हैं जो जलाने के काम आते हैं। बरसात मे इन सूखे कण्डो के कारण ही गाव के सामान्य जीवन की समस्या हल हो जाती है? इसके लिये हमारे गरीब किसान को बहुत दोष दिया जाता है कि वह इतनी अच्छी खाद को जला डालता है। गुलामी को पूर्णत

सिता बुद्धि के सहारे चलाने निकलता है। विक्रय के माल म आढ़तिया, दलाल तौला, सब उससे अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहते हैं। बेईमानी करते हैं। किसान को कमीशन, दलाली, सफाई, चढ़ाई, उतराई, तोलाई भराई सिलाई, दान, धर्मादा आदि सबके लिए अनाज देना पड़ता है। ६० से ८० प्रतिशत तक दहाती को अपनी सारी उपज कुछ सस्ते ही दामों में बेच देनी पड़ती है क्योंकि वह गरीब होने के कारण कर्जदार है और अपढ़ होने के नाते अपने हर एक काम के लिए पराश्रित है। वे किसान साल के काफी दिनों म खाली रहते हैं। गाव की पचायतें केवल सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण से हो जाने वाले अपराधों के निराकरण क लिए गतिशील होती हैं। इसलिए आर्थिक दृष्टि से उनका होना न होना बराबर है। यह किसान बास करता है। छोटी, मढ़ी स्वास्थ्य की दृष्टि से निकृष्ट झोपड़ियों मे ये किसान रहते हैं। इन झोपड़ियों म न खिड़की न रोशनदान। ये बरसात म प्राय टपकती भी हैं। जाड़े में लोग पयाल या पुआल पर सोते हैं। राधा कमल मुकर्जी ने लिखा है, 'बहुत से किसानों के लिये झोपड़ी केवल रात म पर फैलाने और सो जाने भर क लिए होता है। बाकी उनकी जिन्दगी बाहर या बरामदे म बीतती है। एकान्त के अभाव के कारण अक्सर लोगो म से लाज, शर्म और हया का ख्याल ही खतम हो जाता है। मर्द और औरतें, छोटे और बड़े सब एक ही जगह लिपटे पड़े रहते हैं। ज्यादा से ज्यादा हाथ दो हाथ का अन्तर रहता है। पास ही सान वालों म गाय बैल और बकरियां भी होती हैं। इस तरह य लोग जाड़े में रात काटते हैं। वह घर जिससे मन और मस्तिष्क पर सुन्दरतम सामाजिकता, सुरुचि, व्यावहारिक सौन्दय, सुशीलता और कलात्मकता का प्रभाव पड़ना चाहिये, प्राय बीमारियों और मुसीबतों की याद जैसा होता है, जहां लोग कीड़ो की तरह पैदा होते और मरा करते हैं।' ऐसे व्यक्ति स न तो पर्याप्त परिश्रम हो सकता है, न काय म एकाग्रता और एक चित्तता। भारत म एक आदमी औसतन २.६ एकड़ भूमि पर खेती करता है जबकि इङ्गलैंड मे १७.३ एकड़ पर। अमेरिका की एक श्रमिक महिला औसतन १०० पौंड रुई चुनती है और मिस्र की, ६० पौंड तक, मगर एक भारतीय महिला कुल ३० से ४० पौंड तक ही चुन पाती है।

अँगरेजों के आने से पूर्व हमारे ये गाव पूर्ण रूप से स्वतन्त्र और आत्म निर्भर होते थे। अब इनकी यह विशेषता बहुत हद तक समाप्त हो गई है। प्रत्येक गाँव क इर्द-गिर्द मील-दो मील तक ग्राम निवासियों के खेत फैले रहते हैं। सामान्यत किसान गाँव म ही रहता है। जिनके पास बीस-पचीस मील या इससे भी अधिक दूरी पर भी

खेत होते हैं। वे वहा भी एक झोंपडी बना लेते हैं जहाँ कभी-कभी परिवार का मालिक या और कोई तथा वहा की व्यवस्था देखने के लिए कोई एक नौकर प्राय रहा करता है। यद्यपि हमारे इन गाँवों मे सिक्को और नोटो का प्रवेश हो गया है किन्तु अब भी वस्तु विनिमय की प्रथा देखी जा सकती है। आवश्यक्तानुसार लोग अनाज के बदले नमक या तेल या गुड, आदि ले लिया करते हैं। प्रत्येक गाँव मे एक बढई एक लोहार, नाई, तेली, कुम्हार आदि भी पाये जाते हैं जो गाव भर की एतद् सम्बन्धी आवश्यक्ताओ की पूर्ति किया करते हैं। इसके बदले उन्हे राय के अनुसार पारिश्रमिक रूप मे तीन महीने या छ महीने पर अनाज मिल जाया करता है। प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर सहयोग अब भी गाँवों के जीवन का आधार बना है। लोग एक दूसरे का काम करवा दिया करते हैं। किसी कारण यदि कोई खेती नहीं कर पाता तो अपने खेत खेती करने के लिए दूसरो को दे देता है और उपज का समुचित बँटवारा दानो के बीच हो जाता है। पटवारी गाव और खेत से सम्बन्ध रखने वाले जरूरी कागजात तैयार रखता है। यह अपनी इच्छानुसार खेतो के क्षेत्रफल मे अथवा उनके स्वामित्व के बारे मे लिख दिया करता है जो आगे चल कर भयानक मुकदमे-बाजी का कारण बनता है। अब जमीन भी लेनदेन और क्रय विक्रय की वस्तु बन गई है। जमीन के मालिक किसान न होकर वे जमींदार हैं जो खेती करते नहीं कर पाते हैं या बहुत करके तो वे अपने खेतों का मुँह भी नहीं देख पाते क्योंकि यह सारा काम उनके मनेजर, मुख्तार या कारीन्दे किया करते हैं। खेती से इनका सम्बन्ध केवल इतना ही है कि ये उससे पसे पा जाया कर वर्ना प्राय ये लोग शहर मे रहा करते हैं। इनके चरण बडे ही महत्वपूर्ण होते हैं और बडे ही साफ होते है। इसलिये इनको ही खेती की मिट्टी-जमी तुच्छ और गन्दी वस्तु को उनके स्पर्श तक का सौभाग्य कभी नही मिलता। छोटे-छोटे किसान अपने खेतो के लिये किसान होते हैं और दूसरो के खेतो के लिये मजदूर। इस प्रकार वे किसान भी होते हैं और मजदूर भी। हर किसान के पास दो चार पशु अवश्य होते हैं। उनसे गोबर मिलता है। जब जानवर अधिक होते हैं और उनका गोबर अधिक होता तब उसे घर के पास कहीं एक जगह बराबर फेंकते रहते हैं और समय पर उसे मजदूरो से उठवा कर खेतों मे डलवा दिया जाता है। अगर गोबर कम निकला तो उसके छोटे मोटे उपले या कण्डे बना लिये जाते हैं जो जलाने के काम आते हैं। बरसात मे इन सूखे कण्डो के कारण ही गाव के सामान्य जीवन की समस्या हल हो जाती है? इसके लिये हमारे गरीब किसान को बहुत दोष दिया जाता है कि वह इतनी अच्छी खाद को जला डालता है। गुलामो को पूर्णत

अगीकार कर लेने के कारण चिंतन की स्वतन्त्रता और मौलिकता के अभाव में लकीर पीटना और चापलूसी ही विद्वता हो जाती है और तब, लोग अजीब-अजीब बातें किया करते हैं। ऐसे ही एक महाशय लिखते हैं कि 'भारतीयो की हानिकारक आदतो मे से एक गोबर को जलाने की आदत भी है।" हमारी इस आदत' को रोकना वे परमावश्यक समझते हैं और इसके लिये 'जगल लगवाने तथा उसके लिये सस्ते रेल भाड़े की सम्भावना पर पूरी तरह विचार' करने की सिफारिश करते हैं। उनको यह नही मालूम कि 'गाँव के आसपास बेकार पड़े हुए मैदानो मे' प्राय पेड होते हैं और गाव के लोग उनकी एव आसपास के जङ्गलो की सूखी टहनियो को जलाते हैं और उससे जब पूरा नहीं पड़ता और गीली लकड़ियाँ फूँकते फूँकते आँख फूटने लगती हैं और फिर भी वे नही जलती तब यह कण्डा ही काम आता है। धुँआ इसमे भी होता है किन्तु उसके बाद आग अच्छी मिलती है। 'कण्डा जलाने का अर्थ अनाज जलाना होता है यह मानने मे कोई आपत्ति नही किन्तु फिर भी कण्डा' जलाना आदत नही, मजबूरी है जो आगे चल कर शताब्दियो के व्यवहार के कारण प्रथा और अधविश्वास बन गई। कोई बात कठिन नही। आप पतलून, टाई, बूट उतारिये। आप अपढ किसानो से मिलने और बोलने मे अपमानित न अनुभव करें और घिनाएँ नहीं। अपने बदन और कपड़ो को नायिका के मुख की तरह मिट्टी से सदा ही दूर न रखना चाहें। अँग्रेजी दासता छोड़िए। कुछ स्वतन्त्र चिन्तन की आदत डालिए। फिर देहात की ओर चलिए। किसान आवश्यकतानुसार अपनी सभी खराब आदतें छोड़ देगा। मैं जोर देकर कहना चाहता हू कि हमारा किसान जड नही है। वह उतना जड नहीं, उतना अधविश्वासी नही उसमे साहस उद्यम, सूझ-बूझ और परिश्रम की उतनी कमी नही है जितनी माशल बेचम, बीरासेन्स्टी आदि के (हीनता-ग्रन्थि से भुगतने वाले इन) आज्ञाकारी बौद्धिक सन्तानो मे है। हमारा किसान मजबूर है। उसके चारो ओर दीवालें खड़ी कर दी गई है। आजादी के बाद वह अपने कमजोर हाथों से इन्हीं दीवालो को तोड़ने मे लगा है। अपनी असीम शक्ति और अधिकारो से सुसज्जित सरकारें और बहुत-कुछ तो विदेशी सरकार की कुप्रवृत्तियो की विरासतें इन किसानों की उन्नति के रास्ते मे आकर अड़ने लगती हैं। सद्भावना और सहानुभूति से पूर्ण, ईमानदार और सच्चे प्रशासन की सहायता चाहिए और चाहिए मौलिक, क्रांतिकारी, भारतीय दृष्टिकोण वाली प्रेरक नीति।

हिन्दी का साहित्यिक और देहात—

हिन्दी के अनेक स्वनामधन्य साहित्यिकों का जन्म देहात में हुआ है बचपन देहात मे बीता है और आगे चल कर भी उनका सम्बन्ध इन देहातो से किसी न किसी

प्रकार बना ही रहा। पन्त और 'निराला' के जन्म और संस्कार का सम्बन्ध देहात से है। सियारामशरण गुप्त और मैथिलीशरण गुप्त का आजीवन सम्बन्ध देहात से रहा। महावीर प्रसाद द्विवेदी का सम्बन्ध देहात से बराबर बना रहा। प्रेमचन्द की चेतना देहात-मय थी। रामनरेश त्रिपाठी और 'सनेही' का देहात से अभिन्न सम्बन्ध रहा है। राम विलास शर्मा वृन्दावनलाल वर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'कौशिक', राम चन्द्र शुक्ल, लक्ष्मीनारायण मिश्र, राहुल सांस्कृत्यायन 'हरिऔध' ठाकुर गोपालशरण सिंह, गुरुभक्तसिंह 'भक्त', 'अनूप', श्यामनारायण पांडेय, आदि अनेक साहित्यिकों की साहित्यिक चेतना एवं सामान्य जीवन का सम्बन्ध देहात के जीवन से घनिष्ठतम रहा है। देहातों के प्राकृतिक सौंदर्य से कठोर हृदय धनपति भी प्रभावित होते हुये देखे गये हैं। ऐसी स्थिति में इन तरल हृदय भावप्रधान साहित्यिकों का प्रभावित होना अनिवार्य था। इनके द्वारा रचित हिन्दी साहित्य में प्रकृति-सौंदर्य के अनेक सुन्दरतम और कलात्मक चित्र मिलते हैं। इसीलिये आधुनिक हिन्दी साहित्य की भी एक प्रमुख विशेषता उसका प्रकृति चित्रण है जिसका विशुद्ध रूप देहातों में ही मिलता है। प्रकृति का यह चित्रण अनेक रूपों में और अनेक प्रकार से किया गया है। यह प्रकृति काव्य का भी विषय बनी है और गद्य का भी। प्रकृति-मय देहात का भावात्मक चित्र कविता में मिलता है और विशद विवरण पूर्ण चित्रण गद्य में-विशेष रूप से कहानियों और उपन्यासों में। ये चित्र भावना प्रधान भी हैं और तथ्य प्रधान भी। सम्भवतः देहात के इसी प्राकृतिक वातावरण के कारण भी हिन्दी साहित्य का स्वरूप मूल रूप से भावात्मक रहा है। इन देहातों की आर्थिक दुरवस्था भी कम प्रभाव डालने वाली नहीं है। उनकी गरीबी, उनकी मजबूरी, उनकी सीमाओं, उनकी कठिनाइयों और इस प्रकार इनसे निर्धारित जीवन का चित्रण कथा-साहित्य में-प्रेमचन्द में विशेष रूप से-मिलता है। इस दृष्टि से 'गोदान' 'मैला आँचल', आदि उपन्यास बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। जिस लेखक का देहाती जीवन से जितना ही अधिक सम्पर्क रहा है उसके चित्र उतने ही अधिक सशक्त और प्रभावशाली रहे हैं। इनको देखने का दृष्टिकोण विशेष चित्रों के प्रभाव को विशेष प्रकार का बना देता है। वर्ग संघर्ष के सिद्धान्तों से प्रभावित लेखक के चित्र गांधीवादी लेखकों के चित्रों से कुछ भिन्न प्रभाव वाले होते हैं। प्रसाद के 'तितली' का प्रभाव वैसा नहीं पड़ता जैसा 'गोदान' या 'मैला आँचल' या नागार्जुन के उपन्यासों का। ये चित्र विवरण प्रधान भी होते हैं और व्यंग्य प्रधान भी। प्रेमचन्द ने ग्रामीण ऋणिता और नजर-घूस की तीव्रता का व्यंग्य प्रधान चित्रण 'गोदान' में वहाँ उपस्थित किया गया है जहाँ ऋण लेने वाला कहता है कि हुजूर, ये बाकी रुपये भी ले लिये जाँय क्योंकि छोटी ठकुराइन साहब, बड़ी ठकुराइन साहब, आदि सबकी 'नजर' का हिसाब जोड़ने पर ये पूरे के पूरे उसमें ही खप जाते

शिल्प कलाएँ, (२) ग्रामोद्योग, कारीगरों तथा सामान्य जनों के उपयोग और उपभोग में आने वाली चीजों के उद्योग, और उद्योगशालाओं की चीजें, व उद्योग, तथा (३) बड़ी बड़ी मशीनें। आधुनिक युग की औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप और अंग्रेजी साम्राज्यवाद की स्वार्थपरक नीति के परिणामस्वरूप हमारे कुटीर उद्योग का भयानक विनाश, ह्रास और उपेक्षा हुई है। बीसवीं सदी के आते आते तक हमारे पास जो उद्योग धंधे बाकी बचे थे या जिनका विकास होने को रह गया था वे थे—चारपाई आदि का ढांचा बनाना और उनका बुनना, रस्सी सुतली बँटना, सिल बट्टा बनाना तथा उन्हें घूम घूम कर छोलना, चौका-बेलन बनाना, हल-कुदाल खुरपा, आदि बनाना, बैल गाड़ी बनाना, चटाई डलिया मौनी-खँचो, आदि बीन लेना, घास छीलना और चारा काट लेना, पहनने के कपड़े सिल लेना, गाढ़ा कपड़े धोना, गुड बनाना मिट्टी के दिये-सकोरे और देहाती बच्चों के खेलने योग्य खिलौना बना लेना आदि। भारतीय अर्थ-व्यवस्था के लिये जिन कुटीर उद्योगों का इतना अधिक बुनियादी महत्व है वे किसी न किसी भाँति आज तक देश में जीवित अवश्य रखे गये हैं। ये कुटीर उद्योग इस स्थिति में रखे गये हैं कि यहां की हर एक वस्तु जीवित रहते हुए भी जीवन के लिये तरसती है। इसलिये इस क्षेत्र की कोई भी वस्तु—कला कलाकार की भावना कलात्मक वस्तुएँ, आदि—साहित्य का विषय नहीं बन सकी। वातावरण के चित्रण में कभी-कभी इनका वर्णन मात्र अवश्य हो जाता है जैसे किसी भद्र महिला को स्वेटर बुनते हुए दिखाना, आदि। हाँ, साहित्य में चर्खे को थोड़ा बहुत स्थान अवश्य मिल गया है किन्तु इसका कारण उसका-हस्तकला वाला रूप अथवा कुटीर उद्योग होना नहीं है। इसका कारण है महात्मा-गांधी का पारस जैसा व्यक्तित्व जिसे छूकर मिट्टी भी सोना हो जाती थी। उनकी ही प्रेरणा के परिणामस्वरूप खादी या सूती कपड़ा उद्योग, रेशम उद्योग, ऊनी उद्योग, चर्म उद्योग, काष्ठकला उद्योग, तेल घानी उद्योग-हाथ से बने कागज, मधुमक्खी-पालन, हाथ से कुटे चावल आदि की ओर कांग्रेसियों और कांग्रेसी सरकारों का ध्यान गया और, ये सब अब उन्नति के पथ पर गतिशील हैं।

बड़े पैमाने के उद्योग —जब हमारा ध्यान बड़े पैमाने के उद्योगों की ओर जाता है तो वहाँ भी कुछ ऐसी ही नीति और स्थिति पाते हैं। हमारे यहाँ १९०० ई० में १९३ सूती मिलें थीं जिनकी संख्या १९४८ में ४३० हो गई। भारत में पहली सूती मिल १८५४ में बम्बई में खोली गई थी। १८६६ में इस देश में कुल तीन जूट मिलें थीं जब कि १९४७ में उनकी संख्या ११३ हो गई। भारत में आधुनिक चीनी उद्योग

की नीव १८६६ मे पडी और १६०१ म गन्ने के सुधार के लिये एक गवेषणा केन्द्र खोला गया तथा १६२६ ई० से 'भारतीय कृषि अनुसधान परिषद' चीनी उद्योग के विकास की बात सोचने लगी। उस समय देश में २७ कारखाने थे जो इस समय तक बढ कर १५६ हो गये है। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ ने हमारे यहाँ कागज की ३ मिले देखी जिनकी सख्या १६५४ के आस पास २१ हो गई। १६०७ ई० में "टाटा आयरन आर स्टील कम्पनी" स्थापित हुई। कोयले की खुदाई और अन्य खानो के भी खोदने का काम प्रारम्भ हुआ। जल विद्युत उद्योग भी बहुत बाद मे प्रारम्भ हुआ। १६०४ म भारत मे सब प्रथम "पोर्ट्लैड सीमेंट" का निर्माण प्रारम्भ हुआ। १६५२ तक सीमेंट के २३ कारखाने देश में खुल गये। १८८४ में हमारे यहाँ दियासलाई का एक ही कारखाना था जिसकी सख्या १६४६ मे १६२ हो गई। मोटर उद्योग का प्रारम्भ १६४६ मे, वायुयान का १६४० में, साइकिल का १६१८ मे, वनस्पति घी का १६३० म, सूखी बटरी का १६२६ में, सग्रह बटरियो का १६३८ म, केबिल और तारों का १६२१ मे, बिजली के पखो का १६२४ मे, हरीकेन लालटेनो का १६३६ म और सिलाई की मशीनों का १६३६ म हुआ। उत्पादन भी इसी हिसाब से बढा है। १६०० से १६०४ के बीच चाय के उत्पादन का औसत २०१ करोड था जो १६५० में ६०३ करोड हो गया। १६२६ में ३१७८१ टन कागज बनता था जो १६३७ म ७०२७३ टन बनने लगा। १६२६-३० म ३११००० टन चीनी बनी, और १६४४-४५ मे १०१६५०० टन। दोनो महायुद्धो के काल म देश का औद्योगिक विकास अधिक हुआ। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हमारा औद्योगिक विकास अपर्याप्त और अत्यन्त मन्द गति से हुआ है। जो कुछ विकास हुआ है वह कुछ विशेष क्षेत्रो मे ही। अब भी हम मशीनों औजारो तथा अन्य बहुत-सी आवश्यक वस्तुओ के लिय विदेशो पर निर्भर रहना पडता है। विदेशो से कुशल कारीगर मँगाने पडते हैं। इन औद्योगिक क्षेत्रो के सभी पक्षो पर विदेशियों का अत्यत गहरा प्रभाव है। १६४८ तक भारत मे विदेशो की विनियोजित पूँजी ५८६ करोड रुपये थी। हुआ यह कि हमको हर तरह से अपंग और असमर्थ करने के बाद यह नीति अपनाई गई कि भारत में भारतवासी तथा भारत के अतिरिक्त अन्य देशो के लोग भी बिना किसी प्रतिबन्ध के व्यापार कर सकते हैं। परिणामत विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा ने हमारे अनेक उद्योगो को मिटा दिया। हमारे राजनीतिक स्वामी सस्ते दामो पर हमसे कच्चा माल खरीदते थे और मँहगे दामों पर उनसे बनी चीजो को हमारे हाथ बचते थे। १८६० से लेकर प्रथम विश्व युद्ध तक गौरव की मन्दगति से हमारा विकास हुआ। प्रथम महायुद्ध के दौरान म आधुनिक वृहत् उद्योगों की नीव पडी। १८२० से १८३२ तक यह विकास फिर अव-

रुद्ध हो गया। उसके बाद से हमारे देश मे सीमित साधनों और शक्तियो के अनुसार फिर विकास प्रारम्भ हुआ। १६३६ ई० से १८४५ तक का काल भारतीय उद्योगों की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण काल माना जा सकता है। लम्बी कल्पना वाले भले ही इसे स्वर्णयुग मान लें किन्तु वस्तुत स्वर्णयुग यह नही हो सकता। वह बहुत बडी चीज है और अभी न मालूम कितने दिनो बाद आएगा। ओमप्रकाश वेता के अनुसार 'अब भारत का ससार के अच्छे औद्योगिक देशो म दसवां नम्बर है'[1] और, यह तब है जब सुप्रसिद्ध लेखिका वीरा ऐन्स्टी ने यह स्वीकार किया है कि ब्रिटिश सरकार ने भारत मे औद्योगीकरण के लिये जो कुछ किया वह परिस्थितियों और वातावरण से मजबूर होकर किया, किसी निश्चित सिद्धान्त और उद्देश्य से प्रेरित होकर नही।[2] परिणाम यह हुआ कि १८०० से ही अंग्रेजों द्वारा परिचालित रेलवे कम्पनियो ने फायदा उठाना प्रारम्भ कर दिया। वर्ग भेद और नस्ल भेद की भावना का भी प्रचार इन रेलवे कम्पनियो ने डट कर किया। यात्रा करते समय भी बड़े छोटे, धनी गरीब का भेद बना रहे इसलिये इन कम्पनियो ने प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी, अन्तरिम श्रेणी और तृतीय श्रेणी में रेलवे से दी जाने वाली सुविधाओं और उनके अनुसार डब्बों का जो वर्गीकरण किया सो आज तक किसी न किसी रूप मे चला आता है। यद्यपि रेलवे कम्पनियो को सबसे अधिक लाभ तृतीय श्रेणी के यात्रियो से होता रहा है किन्तु सुविधाओं से सबसे अधिक वे ही वंचित रखे गये। और होता भी क्या न! प्रथम और द्वितीय श्रेणी मे सबसे अधिक अंग्रेज और उनके भारतीय सेवक ही तो चलते थे। लाभ उठाने ही की दृष्टि से १८२५ मे रेलवे को सामान्य बजट से अलग कर दिया गया था। यह भी तो साम्राज्यवादी अर्थशास्त्र है। पटरियां, डिब्बे, इञ्जन पुर्जे, आदि सब कुछ विदेशों से मॅगाये जाते थे। कम्पनियां विदेशियों की थी। रेलो मे यदि कुछ स्वदेशी था तो कुली, मजदूर यात्री, छोटे-मोटे स्टेशनों के स्टेशन मास्टर और छोटे दर्जों के यात्री। यह कुछ ऐसा ही हुआ कि खरीदने वाले हम, कितने का खरीदा जाय" इसके निर्णायक हम, "कहाँ से खरीदा जाय" इसके निर्णायक हम, केवल धन आपका और आनन्द यह कि आपको इसके बारे मे कुछ भी पूछ सकने का कोई भी अधिकार नहीं। तो फिर रह क्या जाता है? एक सुई हजार रुपयों म भी खरीदी जा सकती है!!!

व्यापार.—जब खेती और उद्योगों की यह स्थिति है तो व्यापार की कल्पना

---

१ 'भारतीय अर्थशास्त्र का विवेचन' २६३

२ 'दि इकनामिक डेवलपमेंट आफ इण्डिया', पृ० ३२८

कर सकना कोई बडी कठिन बात नहीं। ध्यान रहे कि भारत वह देश है जिसका व्यापार ईसा से ३००० वर्ष पूर्व भी बेबीलोन से था। भारत की बनी हुई वस्तुओं की रोम में बडी माँग थी। चीन, अरब, फारस, जावा, सुमात्रा बोर्नियो आदि देशों तक हमारा व्यापार था। इङ्गलैंड, हालैंड, फ्रांस आदि देशों मे भारतीय लिनेन, छींट, हीरे जरी के काम किये हुये कपडे, ऊनी वस्तुएं बहुत पसन्द की जाती थीं। इन भारतीय वस्तुओं के बदले मे भारत को देने लायक कोई भी चीज इन देशों के पास न थी। परिणामस्वरूप इन्हें भारत को नकद रुपया देना पडता था। इस प्रकार प्राप्त होने वाले धन के कारण ही भारत 'सोने की चिडिया' हो रहा था। जथार और बेरी ने इस सम्बन्ध मे बडा ही रोचक तथ्य लिखा है।[1] इङ्गलैण्ड ने भारत मे काफी दिनों तक मुक्त व्यापार की नीति चलाई है अर्थात जो चाहे भारतीय बाजारों मे निर्बाध रूप से अपना माल बेचे और उसके माल पर कोई भी विशेष कर या प्रतिबन्ध न लगेगा इसी इङ्गलैण्ड ने अपने देश के वस्त्रोद्योग की उन्नति और अपने देश का धन व्यापार द्वारा भारत मे रोकने के लिये सत्रहवीं सदी के अन्त मे भारतीय कपडों का प्रयोग दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया था। इसके लिये या तो भारतीय कपडों पर इतना अधिक आयात कर लगाया गया कि उसका आयात बिल्कुल बन्द हो जाय या उसके प्रयोग की बिल्कुल मनाही कर दी गई। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक भारत उन्हीं वस्तुओं, उदाहरणार्थ कपडा और चीनी, का आयात करने लगा जिनका वह अब तक निर्यात करता आया था। १८७४ ई० तक प्राय सभी निर्यात कर उन्मूलित कर दिये गये और १८८२ तक सभी आयात कर। १८८३ ई० के आते-आते भारतीय बाजारों पर से अंग्रेजों का एकाधिकार समाप्त होगया। फिर भी, भारत की रेलों मे लगी अँग्रेजी पूँजी, बैंकिंग और जहाजरानी पर इङ्गलैण्ड के नियन्त्रण, विभिन्न अँगरेज-संगठन जैसे ब्रिटिश वाणिज्य मण्डल, ब्रिटिश निर्यात गृह आदि, और देश की वित्तीय नीति के संचालन के अधिकार, आदि के कारण भारत पर इङ्गलैण्ड का ही प्रभुत्व रहा। जब हम भारतीय व्यापार की बात करते हैं तो उसका तात्पर्य है भारत की सरकार द्वारा आयोजित व्यापार—न कि भारतवासियों के हित मे आयोजित व्यापार। नवीन शताब्दी के प्रथम चौदह वर्षों मे, विशेष कर १६०५ के बाद, भारत का विदेशी व्यापार ३७६ करोड का हो गया था। १६१३ से १६१६ के बीच आयात में बहुत ह्रास हुआ। इतना ह्रास निर्यात मे नही हुआ। १६१३-१४ मे आयात १८३ करोड रुपये का, और

१ १ 'भारतीय अर्थशास्त्र', भाग २, पृ० २००

धीरे धीरे अपना कार्य करते रहे।"[1] अंगरेजों के आने से देश में एक नवीन बंकिग व्यवस्था का आगमन हुआ और बैंकिंग सम्बन्धी एक नया वातावरण ही बन गया है। आज हमारे देश में देशी बैंकर, सहकारी बैंकें, भूमिबन्धक बैंकें, पोस्ट आफिस सेविंग बैंकें, मिश्रित पूंजी वाली बैंकें, विदेशी विनिमय बैंकें, बीमा कम्पनियाँ, स्टाक तथा बुलियन एक्स्चेंज, और भारत का रिजर्व बैंक, आदि आठ प्रकार की बैंकें हैं। बैंकों की विविधता अच्छी बात है। १६४६ तक हमारे देश में ५८३ सहकारी बैंक, ६२ विनिमय बैंक, ३६७ इम्पीरियल बैंक, २४८४ अन्य प्रामाणिक बैंक और १७८१ अप्रामाणिक बैंक थे। ६४६५ डाकखाने सेविंग्स बैंक का काम करते थे। हमारे यहां के लिये इतने बैंक पर्याप्त हैं या नहीं इसका अनुमान १६४८ की निम्नलिखित तालिका से किया जा सकता है

देश	बैंकिंग कार्यालय—क्षेत्रफल	जन सं०	बैंकों की सं०
आस्ट्रेलिया	२६७५ हजार वर्गमील	८० लाख	३५६०
कनाडा	३६६० ,, ,,	१३० लाख	३३२३
इंगलैंड	८८ ,, ,,	५ करोड़	११४६१
अमरीका	६७४ ,, ,,	१४ करोड़	
		७० लाख	१८६७५
भारत	१२२१ ,, ,,	३४ करोड़	
		२० लाख	५२७७

बैंक सम्बन्धी, उपर्युक्त आंकड़े हमारी आर्थिक दुरवस्था और पिछड़ेपन की कहानी बड़ी सफलतापूर्वक कहते हैं जिसका दायित्व न हमारे ऊपर है, न हमारे भूगोल पर, न जलवायु, आदि पर। देहातों और छोटे मोटे कस्बों तक अभी ये बैंक नहीं पहुंच पाये।

नौकरी और नौकर—

कृषि और उद्योग, दोनों की दुर्दशा के चित्र हम देख चुके। जब आदमी के पास करने के लिये न खेती हो और न व्यवसाय तब विवश होकर-आजीविका के लिये उसे एक ही मार्ग का अवलम्बन शेष रह जाता है और वह मार्ग है नौकरी का। इस क्षेत्र में भी हमारा पतन अत्यन्त दयनीय स्थिति तक हो चुका है। भारतवर्ष का नौकरी का क्षेत्र अजीबो गरीब प्रवृत्तियों और विचित्रताओं से भरा हुआ है। इस

१—'भारतीय अर्थ शास्त्र का विवेचन' पृ० ५४६।

अर्द्ध शताब्दी में भारतवर्ष के अन्दर प्राय, नौकर मालिक रहा है, और मालिक, नौकर किसी तानाशाह से भी अधिक शक्ति और अधिकार से सपन्न वायसराय एक तरह से भारतीय जनता का नौकर होता था मगर किस मालिक से कम था। यहां की जनता के सेवक अर्थात् बड़े-छोटे अफसर जनता द्वारा 'मालिक' या "सरकार" ही कह कर पुकारे जाते हैं। इस देश में मालिक गरीब और नौकर धनी हुआ करता है। वायसराय की तनख्वाह ससार में सबसे अधिक और जनता की प्रति व्यक्ति आय सब से कम अनुमानित की गई है। इस प्रकार हमारे यहां की नौकरी, की सबसे ऊंची स्थिति यह है। दूसरी ओर हमारे यहा नौकरियो की स्थिति इस युग में यह भी थी कि बेचारे नौकर को माह भर मे जितना वेतन मिलता था उसका कई गुना अधिक धन साहब के कुत्ते पर व्यय हुआ करता था। प्रारंभिक कक्षाओ के अध्यापको का भी वेतन इतना ही था। अस्तु, हमारे भारत में सबसे अधिक वेतन ससार भर मे सबसे अधिक, और सबसे कम वेतन, ससार भर मे सबसे कम था। सबसे अधिक विदेशी प्रतिनिधि पाता था, सबसे कम वेतन देशी अध्यापक पाता था। के० टी० शाह ने १६१३ ई० में भारत की विभिन्न नौकरियो के प्रतिशत, का इस प्रकार का उल्लेख किया है।

वेतन	अंगरेज	भारतीय	ऐंग्लोइण्डियन
२००–३००	१२%	६४%	२४%
३००–४००	१८%	६२%	१६%
४००–५००	३६%	४८%	१६%
५००–६००	५८%	३१%	११%
६००–७००	५४%	३६%	१०%
७००–८००	७८%	१४%	८%
८००–६००	७३%	२१%	६%
६००–१०००	६२%	४%	४%

अर्थात् वेतन जितना ही कम होता था अंगरेज उतने ही कम और भारतीय उतने ही अधिक नियुक्त किये जाते थे और वेतन जितना ही अधिक होता था अंगरेज उतने ही अधिक और भारतीय उतने ही कम नियुक्त किये जाते थे। यहां का एक नौकर अपने से बड़े नौकर का पैर अपने सिर पर रखता था और अपना पैर अपने से छोटे नौकर के सिर पर रखता था। यह शृंखला सभी जगह और आदि से अन्त तक बराबर मिलती थी। यहां छोटे नौकर और बड़े नौकर में

मानवता के आधार पर या सामाजिकता के आधार पर कोई भी सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सकता था। सबधों का आधार था मिलने वाला वेतन और प्राप्त अधिकार। यहाँ कालेज का प्रिंसिपल, थाने का दरोगा, कलेक्टर, आदि कालेज, थाने या कचहरी में भी प्रिंसिपल, दरोगा या कलेक्टर होता है और वरन् में, सांस्कृतिक उत्सवों पर शादी ब्याह में आयोजित सहभोजों पर भी वह प्रिंसिपल, दारोगा या कलेक्टर ही होता है। उसके अधीनस्थ कर्मचारी और उसके साथी भी उसे इसी संज्ञा से अभिहित करते हैं। बेचारा प्रिंसिपल इसान कहीं भी नहीं हो पाता। इसलिये पुलिस के सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब द्वारा असिस्टेन्ट सुपरिटेन्डेन्ट पर सबके सामने डाटों की बौछारें मैंने देखी है। सदैव डर यही लगा रहता है कि कहीं साहब अप्रसन्न न हो जाय। सम्भवत अंग्रेज अफसरों द्वारा तिरस्कृत भारतीय अफसर अपने अधीनस्थ को वैसे ही डाट कर अपने भीतर के अंग्रेजकृत अपमान का बदला ले कर अपने अन्तर का क्षोभ मिटाता था और फिर उसी अधीनस्थ से अपने को हर तरह से पूजित करवा कर और आदर सम्मान पाकर अपनी हीनता की भावना का प्रतिकार करता था। इसका परिणाम यह हुआ कि अधीनस्थ का एक मात्र कर्तव्य हो गया, साहब को खुश रखना। दफ्तर में खुश रखने की अपेक्षा घर और दफ्तर दोनों जगह खुश रखने से साहब सचमुच खुश होकर इसे 'तरक्की' देते थे। यह साहब कर्तव्य पालन से उतना प्रसन्न नहीं होता था (क्या कि वह प्रसन्नता बड़ी गंभीर और सात्विक होती है) जितना चापलूसी, खुशामद और 'डाली लगाने' से। अस्तु काम एक ओर पड़ा रह जाता था। यहीं से भारतीय नौकरियों में कर्तव्य का तत्परतापूर्वक पालन सपने की बात होने लगा। मेज पर फाइलों फाइलें पड़ी हैं ॥ -छ महीने तक छात्रों की अभ्यास-पुस्तिकाएँ बिना जाची हुई पड़ी हैं, पुस्तकें पढ़ाई नहीं जा रही हैं, किन्तु कोई चिन्ता नहीं, क्यों कि अपना अफसर खुश है तो कुछ कहेगा नहीं। साहब को मालूम है कि, उनके घर की फरमाइशें पूरी करने में बहुत समय लग जाता है और इसलिये काम पूरा नहीं हो सकता। हम प्रिंसिपल साहब की प्राप्त परीक्षा की उत्तर पुस्तकें जाँचकर उन्हें प्रसन्न करें या लड़कों की कापियां जाचें।। यही, कारण है कि भारतीय नौकर उत्तरदायित्व की भावना से शून्य हो जाता है। भारत में नौकर या चपरासी सिर्फ दफ्तर या विभाग का ही नौकर नहीं होता, दफ्तर या विभाग में ही नौकर नहीं रहता, दफ्तर या विभाग के ही समय नौकर नहीं होता और दफ्तर या विभाग के ही लिये नौकर नहीं होता बल्कि चार बजे के बाद मेम साहब के हुकुम से साहब के घर के लिये या उनके दोस्त के घर के लिये तरकारी लाने, और गेहूँ पिसवाने आदि के लिये भी नौकर होता है

और खुल्लम-खुल्ला होता है। साहब खुश रहे—चाहे जो हो जाय। भारत मे नौकरी का पद केवल साहब को ही नहीं मिलता, साहब के परिवार को भी मिलता है और इसलिये साहब चाहे अपने को प्रिंसिपल साहब कुछ कम ही मानें किन्तु उनसे ज्यादा मेमसाहब प्रिंसिपल पद के अधिकारों का भोग करती है। व मास्टर-साहब को भी डाटती है मास्टर की बीवी को अपना मातहत समझती हैं और कभी कभी तो नियुक्तियां भी वे ही करवाती हैं और निकलवा भी वे ही देती हैं। और जब महारानी साहबा का यह हाल है तो राजकुमार ही अपने को राजा से कम क्यों समझें। यह थी यहा की नौकरशाही की मनोवृत्ति। भारत में नौकरशाही का अर्थ हो गया साम्राज्यवादी, सामन्तवादी, पूंजीवादी और तानाशाही अनिष्टकारी प्रवृत्तियों की समष्टि। इस प्रणाली का प्रभाव यह हो गया है कि आज तक नौकरी के क्षेत्र में—चाहे वह सरकारी हो चाहे किसी की निजी—जनतन्त्रात्मक मनोवृत्ति का समावेश या प्रवेश भी नहीं हो पाया है। नौकर दास, उत्तरदायित्व-विहीन, चापलूस, खुशामदी, चुगलखोर, बुद्धि-विवेक-विहीन आज्ञापालक, सम्मान और आत्मसम्मान विहीन हो गया है। नौकरी और इज्जत दोनो दो चीजें हो गई हैं। बेकार रौब गांठने, धौंस जमाने और झूठी शान दिखाने की प्रवृत्ति बढ गई। अनुशासन की एकमात्र कसौटी रह गई आज्ञापालन और उसका एकमात्र उपाय माना गया आतंक। चूंकि भारत मे नौकरों और नौकरी खोजने वालों की ही संख्या बढ गई और नौकरी का स्वरूप ऊपर कहा हो गया है। इसलिये राष्ट्र में अधिकांशत चरित्र, दृढता और कर्त्तव्य-पालन और ठोसपने का अभाव हो गया। राष्ट्रीय चरित्र का अभाव हो गया। नौकरियों की इसी प्रवृत्ति को नौकरशाही कहा गया है। ये दोष व्यक्ति के दोष न रहकर व्यवस्था एव प्रणाली अथवा परम्परा बन गये। अब यह बात दूसरी है कि परमात्मा की इच्छा अथात् राष्ट्रीयता की भावना एव सांस्कृतिक पुनरुत्थान से ये भी अछूते न बच सके और अपनी समस्त सीमाओं के होते हुए भी अपनी अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार "नौकरों" ने भी राजनीतिक आंदोलनो, साहित्य-सृजना, समाज-सुधार, मातृभाषा की सेवा, आदि पुनीत कार्यों मे भाग लिया और महत्वपूर्ण भाग लिया।

नौकरी का दूसरा क्षेत्र है मिल मालिकों की मजदूरी। इस शताब्दी के अधिकांश भाग में मजदूरों की मजदूरी उनका जीवन चलाने के लिये काफी नहीं होती थी और वे बेचारे ऋण के चंगुल से बच नहीं पाते थे। किराया देने, घर का खर्चा चलाने, शादी-ब्याह, उत्सव-त्योहार, आदि के लिये ऋण लेना ही पडता था।

प्राय ये मजदूर अनाज, आदि भी उधार पर ही लिया करते थे। ब्याज की सामान्य दर एक आना प्रति रुपया मासिक होती थी अर्थात् ७५% वार्षिक !! कहीं-कहीं तो यह २०० या ३०० प्रतिशत तक बढ़ जाती थी। मजदूरी की इस स्थिति को मजदूर तो भलीभांति समझता ही था। इसलिये उसने देहात और खेतों से अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं किया। उसने निर्मूल और पूर्णत निराधार होना पसन्द नहीं किया। मजदूरी पर पशता है। पता नहीं कब धोखा दे जाय। अतएव अपने पेट भरने का अपना सहारा देहात में बनाए रखता था। इन मिल-मजदूरों के पास इनके गांवोंमे इनकी खेती रहती है। उसकी देखभाल करने वे कभी-कभी जाते रहते हैं। मजदूरी अपनी आमदनी या सम्पत्ति बढ़ाने के लिये की जाती है। औद्योगिक क्षेत्र में जब तक इनकी मजदूरी सन्तोषजनक और स्थायी रूप से सुदृढ न कर दी जाय तब तक इनकी इस दोहरी प्रवृत्ति के लिये इनको दोष देना या इसे इनकी कमी बताना उक्ति कुशलता का द्योतक भले ही हो किन्तु है वह सहानुभूति-शून्यता और हृदयहीनता एवं अव्यावहारिकता। ये मजदूर जहां मजदूरी करते हैं वहां इनकी स्थिति बहुत ही दयनीय होती है। इनकी स्त्रियों और इनके बच्चों का रहन-सहन असाधारण रूप से अस्वास्थ्यकर और सामाजिक दृष्टि से कर्वोद्वित होता है। भीड़ भाड़, स्वास्थ्यवर्द्धक वस्तुओं और वातावरण का अभाव, खराब मकानों के कारण संभावित नैतिक पतन, विपत्ताएं, आदि अमानवीय और असह्य हैं। हमारा जवाहर कानपुर में मजदूरों की ऐसी बस्ती, ऐसी स्थिति एवं ऐसी दुर्दशा देखकर चौंक उठा था। मजदूरों की इसी दुर्दशा ने आगे चलकर देश में मजदूर आंदोलन को जन्म दिया। मजदूरों ने मिलों में हड़तालें की। इनके नेता प्राय साम्यवादी विचारधारा के थे। ये हड़तालें और मजदूरों तथा मजदूरिनों की परवशता-जन्य पतितावस्था, अधिकारियों के अनाचार और अत्याचार कथा बन गये। इन पर मार्मिक कहानियों और उपन्यासों की रचनाएं हुईं। यह अवश्य है कि इस स्थिति ने अभी हमें गोर्की और डिकेन्स नहीं दिया। प्रेमचन्द एकमात्र अपवाद ठहरते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है खेती अच्छा सभ्य और लाभदायक काम रह नहीं गया। व्यवसाय के लिये पहले से ही पूंजी चाहिये जो यदि हो भी तो भी उस क्षेत्र में भी उन्नति की संभावनाएं रह नहीं गईं। इधर, नौकरी में, अधिक अधिकार और बिना अधिक श्रम किये काफी पैसा मिलने लगा। इसलिये अधिकाधिक जनता सरकारी नौकरी के पीछे पागल होने लगी। ऐसी नौकरी चाहिये जिसमें 'ऊपर की आमदनी' अर्थात् घूस की संभावनाएं अधिक हों। परिणाम यह हुआ

कि छोटी-सी थानेदारी हजारो रुपयो की आमदनी वाले व्यवसाय से भी अच्छी मानी जाने लगी। यह न मिले तो फिर और कोई नौकरी मिले। हम नौकरी प्रिय हो गये। और, यह एक मानी बात है कि नौकरियां इतनी अधिकता से नही बढती जितनी अधिकता से नौकरी खोजने वालों की सख्या। यही से बेकारी की नीव पड गई। सच्ची बात है कि बेकारी का निराकरण कृषि और व्यवसाय को अधिक आकर्षक बनाने से ही हो सकता है। यह भी इस युग म सभव नहीं हो पाया। कृषि क्षेत्र मे बेकारी बढी, औद्योगिक क्षेत्रो मे बेकारी बढी और पढे लिखे लोग बेकार होने लगे। दफ्तरों में नो वेकेंसी' की तख्तियां लटकाई जाने लगी। पराजय क्षोभ, निराशा, हतोत्साहिता, पस्ती और आत्महत्याओ की अधिकता हो गई। इसका सबसे अधिक शिकार हुआ मध्यम वर्ग। प्रथम महायुद्ध के बाद १६२८ के आसपास जब व्यापार के क्षेत्र में विश्वव्यापी मन्दी का युग आया तब भारत मे बेकारी इतनी अधिक बढी थी कि बी० ए० पास लोग २०-२० या २५-२५ रुपये म्हीने पर भी नौकरियां ढूढते हुए पाये गय थे। बेकारी ने बड़ा ही भयानक रूप धारण किया था। किसान बेकार मजदूर बेकार, पढ़े लिखे बेकार! लगता था जसे देश का सारा आर्थिक ढाचा चरमराता हुआ टूट जायगा।

गरीब भारत—

परिणाम यह हुआ कि हम गरीब हो गये। धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है, 'आर्थिक दृष्टि से अंग्रेजी शासन काल भारत तथा मध्य देश के इतिहास मे अत्यन्त दुरवस्था का काल कहा जा सकता है।'[१] देश की जनता की गरीबी के लिये भारत सारे ससार म एक कहावत बन गया। भारत के लिये अपने हृदय मे सहानुभूति का भावावेशपूर्ण अक्षय कोष लिये हुए श्रीमती वीरा ऐंस्टी ने भारत की गरीबी पर बड़ा आश्चर्य प्रकट करते हुये लिखा है, 'भारतवर्ष मे सहसा ही आया हुआ कोई भी यात्री यह देख कर आश्चर्यचकित हुये बिना नहीं रह सकता कि इस देश मे भौतिक उन्नति की कितनी अधिक सम्भावनाएं हैं और इस देश की जनता के अधिकांश भाग ने उनसे कितना कम आर्थिक लाभ उठाया है।'[२] श्रीमती जी को सचमुच इस सहानुभूति के लिये बहुत-बहुत धन्यवाद है किन्तु यदि दृष्टि को पक्षपात और साम्राज्यवादी धुध से साफ करके एक बार भी वे अपनी जाति के उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकारियो की करतूत देखें तो,

१ मध्य देश—ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन' पृ० १८६।

२ दि एकनामिक डेवलपमेंट आफ इण्डिया', की भूमिका।

उनको न केवल आश्चर्य न हो बल्कि अपनी जाति वालों के कुकृत्यों के कारण उनका सिर भी शर्म से झुक जाय। उन्हें समझना चाहिये कि हम उन्नति की सम्भावनाओं को वास्तविकता में परिवर्तित करना जानते थे और उसके शौकीन भी थे जिसका प्रमाण दक्षिण और उत्तर भारत की इमारतों की आश्चर्योत्पादक कला-कारीगरी, आदि है किन्तु हमें यह करने नहीं दिया गया। यदि थोड़ी भी ईमानदारी उनमें होती तो उन्हें इस बात पर आश्चर्य न होता कि ' जनता ने उनसे कितना कम आर्थिक लाभ उठाया है। क्षोभ अवश्य होता कि उनकी जाति वालों ने कितना कम आर्थिक लाभ उठाने दिया कोई जाति इस हद तक नीचे उतर सकती है। मानवता का तकाजा यह नहीं है कि अपनी जाति के दोषों का आरोपण शोषित जाति की सामाजिक पारिवारिक, दार्शनिक परम्पराओं, आदि पर डाला जाय, जैसा कि श्रीमती जी ने किया है। यह विषमता सचमुच अपनी ओर ध्यान आकृष्ट कर लेती है। एम० एल० डार्लिङ्ग का कथन है कि भारतवर्ष के विषय में सबसे अधिक अपनी ओर आकृष्ट कर लेने वाला तथ्य यह है कि उसकी मिट्टी (उपजाऊ है) सम्पन्न है मगर वहाँ के लोग विपन्न गरीब हैं।[1] विभाजन के पूर्व ब्रिटिश भारत में राष्ट्रीय आय का जो अनुमान लगाया गया है उसका विवरण नीचे दिया जा रहा है—

हिसाब लगाने वाला	हिसाब का समय	प्रतिव्यक्ति वार्षिक आय
दादा भाई नौरोजी	१८६७–७०	२० रु०
क्रोमर तथा बारबर	१८८२	२७ रु०
डिग्बी	१८९९	१७ रु० ८ आ० ५ पा०
लार्ड कर्जन	१९००	३० रु०
डिग्बी	१९०१	१८ रु० ८ आ० ११ पा०
एटकिन्सन	१८७५	३९ रु० ८ आ०
एटकिन्सन	१८९५	३९ रु० ८ आ०
वाडिया और जोशी	१९१३–१९१४	४४ रु० ५ आ० ६ पा०
शाह और खम्बाटा	१९००–१९१४	३६ रु०
	युद्ध के बाद	३८ रु०
फिन्डले शिराज	१९२१	१०७ रु०
फिन्डले शिराज	१९२२	११६ रु०
साइमन कमीशन	१९२९	११६ रु०

१ 'पंजाब पीजेंट इन प्रास्पेरिटी एण्ड डेट'

डा० राव	१६२५–२६		७६ रु०
डा० राव	१६३१–३२	ग्रामीण	५१ रु०
		शहरों का	११६ रु०
ग्रिग	१६३७–३८		५६ रु०
स्टूडेण्ट कामस	१६३८–३६		३६ रु०
स्टूडेण्ट कामस	१८४२–४३		१४२ रु०
	१६५०		२५५ रु०

भारत की अपेक्षा ब्रिटेन की प्रति व्यक्ति आय कम से कम ५ गुना अधिक और अमरीका की, लगभग ७ गुना अधिक समझी जा सकती है जथार और बेरी ने लिखा है, यदि केवल भारत के प्रान्तों को ही लिया जाय तो यह २०४ रुपये होगी। अन्य देशों की सरवाएँ इस प्रकार थी। आस्ट्रेलिया १७६६ रुपये, कनाडा २८६८ रु, इङ्गलिस्तान २३५५ र, सयुक्त राज्य ४८६८ रु।[१] यह अनुमान १६४५–४६ ई वाले वर्ष का है। इस अनुमान के अनुसार ब्रिटेन की प्रति व्यक्ति आय भारत की अपेक्षा ११ गुना अधिक और सयुक्त राज्य की, लगभग २३ या २४ गुना अधिक ठहरती है। पट्टाभि सीतारामया ने लिखा है कि इङ्गलण्ड मे फी आदमी की औसत आमदनी ४२ पौंड थी और भारतवासियों की एक ही पौंड।[२] भारत को कितना गरीब कर दिया गया है—कितना अधिक!!! विवेकानन्द जी ने ठीक ही कहा है, 'आप लोग (अंग्रेज) एक वर्ष मे जितना खर्च कर देते हैं, वह एक भारतीय के लिये जीवन भर की सम्पत्ति के बराबर है।'[३] लाला लाजपतराय ने लिखा है कि इस ससार मे भारतवर्ष के निवासी सबसे अधिक गरीब हैं। यदि ऐसी दरिद्रता योरप और अमेरिका के किसी देश म होती तो अब तक लोगों ने सरकार का तख्ता उलट दिया होता।[४]

गरीब देश या लुटा हुआ देश—

एक अमरीकी पादरी ने १६०२ ई मे लिखा था कि भारतवासी जी नहीं रहे हैं, केवल जीवधारियों म उनकी गिनती भर होती है।[५] पराधीन भारत को गरीब

१ भारतीय अर्थशास्त्र, खड २, पृ० १४२
२ 'कांग्रेस का इतिहास', पृ० ४७
३ 'ज्ञानयोग, पृ० २१२
४ 'दुखी भारत', पृ० ३४८
५ वही पृ० ३४८

होना ही चाहिये था। हिन्दुस्तान में अंग्रेजी साम्राज्य को बनाये रखने के लिए नियुक्त अंगरेज सैनिक पर ७७५ रु वार्षिक व्यय किया जाता था जबकि स्वयं इङ्गलैंड में उन पर होने वाला व्यय २८५ रु मात्र था। इसी के लिये लाला लाजपतराय ने लिखा है, 'वर्तमान परिस्थिति यह है कि ब्रिटेन साम्राज्य के विनोद के लिये बाजा बजवाता है और बाजा बजाने वाले का वेतन देता है भारतवर्ष। यह बाजा बजाने वाला प्रायः स्वयं ब्रिटेन ही होता है।'[1] दुखी भारत के ऊपर ऋण का भार डाल-डाल कर भी उसे निर्धन बनाया गया है। १९२३-२४ में स्थिति यह थी कि विदेशी लेन-देन का हिसाब चुकता कर देने पर व्यापार में भारतवर्ष को २५० करोड़ रुपये की होती थी किन्तु उस पर जो तकाजा होता था उसका योग १७८ करोड़ रुपये तक पहुँचता था, अर्थात् प्रतिवर्ष भारतवर्ष ३० करोड़ का ऋणी हो जाता था। यह ऋण भी क्या था? साम्राज्य की रक्षा के लिये युद्ध किये जाते थे खर्च भारत पर लाद दिया जाता था, भारतवासियों की राष्ट्रीयता के दमन के लिये सेनायें रखी जाती थी, खर्च भारत पर, १८५७ में हमें कुचला गया और कुचलने का खर्च भी हमसे लिया गया, आदि। दादा भाई नौरोजी के एक व्याख्यान से लेकर दत्तात्रेय जावडेकर ने यह कथन उद्धृत किया है महमूद गजनवी ने १८ बार हिन्दुस्तान को लूटा। उसकी सारी लूट आपकी एक साल की लूट से भी कम है। आपका यह वैभवशाली साम्राज्य हिन्दुस्तानियों के खून और खून पर खड़ा है।[2] यह बात तो कई अंग्रेज लेखकों ने भी जो सभी प्रकार से योग्य थे, स्वीकार की है कि भारतवर्ष ने ग्रेट ब्रिटेन को धनी बनाया है और ग्रेट ब्रिटेन ने भारतवर्ष को दरिद्र कर दिया है। कमसे कम भाव पर भारतवर्ष का करोड़ों मन अनाज विदेशों को भेजा गया, जिसके परिणाम स्वरूप लाखों भारतीय भूखा मर गये और साथ ही साथ देश दरिद्र भी हो गया। विदेशी 'साम्राज्यवाद' ने भारतीय पूंजीवाद को विकसित भी नहीं होने दिया और सामन्तवादी प्रणाली को जीवित भी रखा। यहाँ पूँजीपति और सामन्त-वर्ग का गठबंधन हो गया है, क्योंकि राजाओं, जमीदारों तालुकदारों और नवाबों ने उद्योग-धंधों में पूँजी लगा रखी है। परिणाम यह हुआ कि भारतीय आर्थिक जीवन में पूँजीवाद और सामन्तवाद दोनों के दोष आ मिले। इन सबके साथ साम्राज्यवाद ने मिलकर तुलसीदास की यह उक्ति चरितार्थ कर दी—

> ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बीछी मार
> ताहि पियाइहि बारुनी कहहु कौन उपचार।

१ 'दुखी भारत', पृ० ३६७
२ 'आधुनिक भारत', पृ० ७८

इसका परिणाम शिवनाथ ने इस प्रकार उपस्थित किया है उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार, व्यक्तिगत संपत्ति की रक्षा और समाज के आर्थिक शोषण में वे दोनों वर्ग एक हो गये यहाँ पूँजीपतियों ने प्रजासत्तात्मक क्रांति नहीं की।[1] उच्च वर्ग ने मध्य वर्ग का भी शोषण किया और उसे निम्न वर्ग की स्थिति में पहुँचा दिया। हिन्दी के लेखक प्राय इसी मध्य निम्नवर्ग से निकले हैं और उनके अन्तर्मानस में ज्ञात या अज्ञात रूप से इस शोषक वर्ग के प्रति असंतोष और क्षोभ था। इसलिये हिन्दी के साहित्यिकों में शोषक वर्ग अर्थात् सामन्तवादियों और पूँजीपतियों के लिये श्रद्धा भाव अधिकांशत नहीं रहा। चूँकि पुस्तकों के प्रकाशन का उद्योग प्राय इसी वर्ग के हाथ में था अत इन्हें पुस्तक समर्पित करने का रिवाज मजबूरन चला देना पड़ा। समाज पर इस प्रवृत्ति का प्रभाव यह पड़ा कि धनी बनने के लिये एक व्यक्ति पूँजीवादी शोषण और सामन्तवादी अत्याचार करने लग गया। एक धनी बना, लाखों गरीब हो गये। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, "एक व्यक्ति धनी हो जायगा इसलिये लाखों मनुष्यों को पीसा जा रहा है—एक व्यक्ति धनवान बने इसलिये सहस्रों मनुष्य दरिद्र से दरिद्रतर हो रहे हैं।'[2] वैज्ञानिक आविष्कारों का दुरुपयोग, दरिद्रता, शोषण, विनाशकारी आविष्कार, वकालत, वेश्यावृत्ति आदि कुवृत्तियाँ इसी पूँजीवाद की ही देनें हैं हिन्दी साहित्य में इन कुवृत्तियों का चित्रण और इनके निराकरण की कामना बराबर मिलती है। इस प्रकार देश गरीब और अमीर दो वर्गों में विभाजित होने लगा। पिछली एक शताब्दी में भारत का जो आर्थिक विकास हुआ उसकी एक प्रधान प्रवृत्ति रही है विषमता। आर्थिक गतिशीलता बम्बई, कलकत्ता, आदि बड़े नगरों में ही रही। सामान्य नगरों और देहातों तक नहीं पहुँची। भारतीय उद्योगों की गति ऊपर से नीचे की ओर हुई। बड़े से छोटे की ओर हुई। उसकी गति ऊर्ध्व नहीं, अधोमुखी रही। परिणामस्वरूप शहर और देहात के जीवनस्तर और सांस्कृतिक स्तर में आकाश पाताल का अन्तर हो गया। एक बड़ी खाई खुद गई। दोनों का एक सूत्र में पिरोना कठिन हो गया। संभवत इसीलिये जब "गोदान" में "प्रेमचन्द" ने सम्पूर्ण भारतीय जीवन का एक व्यापक चित्र उपस्थित करना चाहा तो वे दोनों में अविभाज्य सम्बन्ध न स्थापित कर सके। देहात की कहानी स्वतन्त्र लगती है शहर की स्वतन्त्र। दोनों को कुशलतापूर्वक अलग करके दो स्वतन्त्र और पूर्ण उपन्यासों का स्वरूप दिया जा सकता है।

१ 'आधुनिक साहित्य की आर्थिक भूमिका", पृ० ७३।

२ 'ज्ञानयोग', पृ० २२।

भारत की प्रवृत्ति उद्योगी थी या खेती वाली—

अस्तु, हमने देखा कि भारत एक गरीब लोगो का देश है। फिर भी, हम यह ध्यान रखना चाहिये कि यह गरीब देश नही है। सचमुच भारत निधन नही था। भारत के सिर्फ प्राकृतिक साधन ही इतने अधिक हैं कि यदि खेती और उद्योग धन्धो का मिला जुला विकास किया जाय तो देश समृद्धि के शिखर तक पहुंच सकता है। अंग्रेजो के आने से पहले आर्थिक विकास की दृष्टि से भारत संसार के सभी देशों मे अग्रगण्य था। कलकत्ते के दैनिक "स्टेटसमन" के सम्पादक सर एलफ्रेड वाट्सन ने १६३७ ई० मे रायल एम्पायर सोसाइटी की एक बैठक मे कहा था यद्यपि भारत मे एक महान् औद्योगिक देश बनने के लिये सभी आवश्यक बातें इफरात के साथ मौजूद हैं मगर फिर भी आज वह आर्थिक दृष्टि से दुनियां का एक पिछड़ा हुआ देश है और उद्योग धन्धो की दृष्टि से तो बहुत ही पीछे है ।" भारत म चावल, गेहूं, बाजरा, जौ दाल, तरकारी, गन्ना रुई, तिल, चाय, तम्बाकू फल, जङ्गल आदि सब-कुछ प्रकृति ने दे रखा है। वैज्ञानिक ढङ्ग से यदि इन सब की व्यवस्था की जाय तो भारतवर्ष म आश्चर्यों की सृष्टि की जा सकती है। मगर अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने कुछ न होने दिया। हमारे हाथ पाँव बाँध दिये और खुद भारत के लिये कुछ किया नही। हमारे देश म औद्योगीकरण के लिये भी बहुत सभावनाएँ थी। आज-कल प्राचीन भारत की जो कुछ कृतियाँ अवशिष्ट रह गई हैं वे यही कहानी कहती हैं। यदि हम उद्योग प्रधान नहीं थे तो वह मसाला और वह प्रक्रिया कहाँ से सम्भव हुई जिससे कुतुबमीनार के पास खडे उस लौहस्तम्भ की रचना की गई जिस पर इतने दिनो का शीत-ताप-वर्षा आदि के बावजूद भी जङ्ग नही लगने पाया? यदि हम इन्जीनियरिंग की कला नहीं जानते थे तो ऐसी इमारतें कैसे बनीं जो इतनी चिकनी हैं कि उस पर चीटी भी साधा म चढ़ सके? वह रग कैसे बना जो शताब्दियो के बाद आज भी अजन्ता की गुफाओ के चित्रों पर सुरक्षित है? उस स्थान का पता कैसे लगा जहाँ खड़े होकर आप बातें करें तो पूरी छत पर खडे लोगों को सुनाई पड जाय और उसमे तनिक भी हट कर बोलें तो पास खडे दो-चार आदमियो के अतिरिक्त और किसी को न सुनाई पड़े? कहाँ तक गिनाएँ! भारत म औद्योगीकरण के लिये विपुल साधन हैं। भारत म जितना जल बहता है उसका ६ प्रतिशत ही उपयोग मे आता है। इस उपयोग की मात्रा में भी लगभग एक प्रतिशत से ही जल विद्युत पैदा की जाती है। इसका विकास औद्योगीकरण में सहायक हो सकता है। असम के शिलांग पठार उत्तरी (नेफा) के कुछ पहाड़ी भाग, जम्मू उत्तरी राजस्थान, विन्ध्य की पहाड़ियाँ, आदि हम विपुल राशि कोयलों

की दे सकता है। भारत में जल विद्युत के पश्चात् खनिज तेल की सम्भावनाएँ बहुत ही अधिक हैं। भारत के मैदानी भाग के लगभग ४ लाख वर्ग मील से यह प्राप्त हो सकता है। अणु शक्ति के विकास के लिये भारत में यूरेनियम और थोरियम बहुत अधिक मात्रा में संचित हैं भूगर्भ वेत्ताओं ने निरन्तर अनुसंधान करके यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि आधुनिक युग में जिन जिन खनिजों की आवश्यकता औद्योगिक विकास के लिये होती है वे सब भारत में वर्तमान हैं। भारत में लोहे की संचित मात्रा उसके वर्तमान उत्पादन से कहीं अधिक है। मगनीज, अभ्रक, तांबा, क्रोमाइट, टंगस्टन, मगनसाइट, फास्फेट, गन्धक, शोरा, सल्फेट, आदि खनिज पदार्थों की सम्भावनायें भी भारत में अधिक हैं। छोटा नागपुर का पठार, अरावली की पहाड़ियां, नीलगिरि मसूर, आदि क्षेत्रों से ये प्राप्त की जा सकती हैं। इस प्रकार भारत में औद्योगीकरण के लिए अनंत सम्भावनायें हैं। किन्तु हमारे अँगरेज महाप्रभु ने हमें यह रटा दिया है कि भारत एक कृषि प्रधान देश है। हम खेती किये जाय और उन्हें कच्चा माल दिये जाय इससे अधिक उन्हें चाहिये ही क्या था? माना कि भारत में बहुत खेती होती है किन्तु खेती अमरीका में भी कम नहीं होती और न वहाँ अनाज ही कम होता है किन्तु अमरीकी बच्चे यह नहीं रटा करते कि अमरीका कृषि प्रधान देश है। साम्राज्यवाद कितनी निर्भीकता से झूठ बोलता था !!! साम्राज्यवादी नीति के ही कारण हमारे देश के पुराने उद्योगों को नष्ट कर दिया गया और संतुलित आर्थिक विकास होने नहीं दिया गया।

अँगरेज और भारत का औद्योगीकरण—

अँग्रेज भारत का औद्योगीकरण चाहता ही नहीं था। समय, परिस्थितियों और भारतीयों की मांग ने उसे इस ओर कुछ कदम उठाने के लिए मजबूर कर दिया। अस्तु, किसी से जबरदस्ती जितना कुछ कराया जा सकता है, अंगरेजों ने भारत का औद्योगीकरण उतना ही किया। उनका दृष्टिकोण भी ठीक था। उन्होंने भारत को हानि और अपमान सह सहकर, क्रूरताएँ और बेईमानियाँ कर-करके इसलिये तो नहीं जीता था कि उसकी वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति कराएँ !! उनकी आर्थिक नीति का प्रभाव हमारे ऊपर यह पड़ा कि व्यक्ति के अन्दर आगे बढ़ कर काम करने, प्रतिद्वंद्विता में भाग लेने, साहसपूर्ण और बड़े-बड़े उत्तरदायित्व के काय-हाथ में लेने का साहस नहीं रह गया। अँग्रेजी साम्राज्यवाद ने भारत को जितना भी धन देना चाहा वह सब जितनों को दिया अथवा आर्थिक दृष्टि से जितनों को कुछ अच्छा रखना चाहा वे थे सामन्तवादी दृष्टिकोण के लोग। उनकी संख्या बहुत कम थी। धन और अधि-

सुगन्धित पुष्पों वाले किसी पौधे को निर्ममतापूर्वक उसकी अपनी बगिया की क्यारी से उखाड़ फेंके। व्यवस्था रूपी पौधा जब सांस्कृतिक तत्वों रूपी खाद से परिपुष्ट धरती रूपी क्यारी में उगता है तब उसमें हरापन और सुख-आनन्द देने वाले रूपी फूलों की सम्भावना होती है। विच्छेद की अवस्था में जड़ गहरी नहीं हो पाती फूल मुरझाये हुए और फल फीके, कड़ुए और हानिकारक पैदा होते हैं। यही अवस्था हमारी अर्थव्यवस्था की हुई।

जड़मूल पर आघात और उससे उत्पन्न विषमता—

सभी देशों के अनुसार ही भारत को भी अर्थव्यवस्था का प्रधान पक्ष कृषि है। भारत की ग्राम्य संस्कृति और जीवन का मूलाधार ही खेती और ग्रामोद्योग था। आत्म-निर्भर एवं स्वावलम्बी ग्राम्य जीवन पर ही हमारी आर्थिक क्रियाशीलता एवं आर्थिक समृद्धि की नींव पड़ी थी। जड़ यह थी। यहीं से विकास प्रारम्भ हुआ था जिसका समुन्नत रूप राजधानियों और बड़े-बड़े नगरों में चमकता हुआ दिखाई पड़ता था। उसको नष्ट करने के लिए इस जड़ पर आघात करना जरूरी था। १७६५ ई० में जब मुगल सम्राट शाह आलम ने क्लाइव को बंगाल का दीवानी के अधिकार दिये तब से बंगाल और उड़ीसा की सम्पूर्ण भूमि पर अंग्रेजों का स्वामित्व स्थापित हो गया। अभी तक भूमि गाँव की थी, अब सरकार की हो गई। अभी तक भूमि माता थी, अब वही माता खरीदी, बेची एवं नीलाम किये जाने वाली चीज हो गई। अभी तक अन्न देवता था, अब उसकी तुलना सिक्कों और नोटों से होने लगी। वह देवता क्रय विक्रय की वस्तु हो गया। हम यह भावना 'समुद्रवसने देवि, पर्वतस्तनमण्डले, विष्णुपत्नि, नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे' भूलने लगे। यहीं से हमारी अर्थ-व्यवस्था की सांस्कृतिक जड़ कट गई। अब जमीन उनके पास चली गई जो सरकार को अधिकाधिक रुपया दे सकते थे। अब महत्व उपज या श्रम का नहीं रह गया रुपयों या सिक्कों का हो गया। प्रजापालक जमींदार जमीन से वंचित हो गए लुटेरे साहूकार जमीन के मालिक हो गये। जिस संस्कृति में श्रम, प्रेम, भक्ति और व्यवहार प्रधान था वहाँ जड़ सिक्के की प्रधानता हो गई। यह दूसरा सांस्कृतिक आघात था। भारतीय उद्योगों का दुष्टतापूर्वक नष्ट करके कारीगरों के अंगूठे काट उन्हें निराश्रित करके खेती की ओर जाने को मजबूर करना और इस प्रकार कृषि अधिकार मार डालना और कुटीर उद्योगों एवं ग्रामोद्योगों को नष्ट करना एक तीसरा सांस्कृतिक आघात था। कृषि का स्वामित्व कृषि करने वालों के हाथ से लेकर उनको दे देना जो खेती नहीं करते थे या गाँव से दूर रहते थे, कृषि और कृषि के धन्धे

के बीच स्थापित रागात्मक सम्बन्ध को नष्ट करने का कारण बन गया। खेत पराई सम्पत्ति हो गए। उसको उन्नत करने के अपार्थ प्रेरित प्रयत्न नष्ट कर दिये गये। यह भी एक सांस्कृतिक अपराध था। इस प्रकार गरीबी से मारे हुए मजबूर लोग कृषि-कला के कर्ता और कृषिकार्य से पूर्णत अभिज्ञ धनपति लोग उसके स्वामी हो गये। अवनति अनिवार्य थी। इङ्गलैण्ड की औद्योगिक क्रांति के कारण मशीनों से बनाई गई जड़ एवं कलात्मकता विहीन सस्ती वस्तुओं की बाढ़ ने उच्च कोटि की कलात्मकता-कृतियों की मांग खत्म कर दी। हाथ कट गये, मशीन सबल हो उठी। कारीगर मिट गया। यह भी कलात्मक एवं सांस्कृतिक आघात था। उपभोक्ताओं से उत्पादकों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध टूट गया। प्रेम भाव समाप्त हुआ। यूरोपीय फशन के अनुकरण ने छिछलापन बढ़ा दिया। ठोस चरित्र का अभाव हो गया। स्वदेशी की उपेक्षा होने लगी। अपनी संस्कृति के प्रति श्रद्धा के अभाव का बीजारोपण हो गया। मानसिक और बौद्धिक दासता की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। उत्पादन की प्राथमिक इकाई के रूप में हमें वह नन्हा सा महत्वहीन व्यक्ति दिखाई पड़ता है जो कभी स्वतन्त्र, कभी नौकर के रूप में, कभी अपने घर पर और कभी ग्राहक के घर पर, कभी अपने आप और कभी 'आर्डर' पाकर उत्पादन करता है। कभी ठेके पर काम होता है, कभी मजदूरी पर। कभी-कभी इनाम, बख्शीश भेंट की प्राप्ति होती है और कभी कभी केवल बेगारी ही रह जाती है। रेलों और मोटरों ने भी भारत की पुरानी अर्थ-व्यवस्था को नष्ट करने में कम महत्वपूर्ण योग नहीं दिया है। इनके द्वारा विदेशी चीजें और फशन देहातों और कस्बों तक पहुंचे। पुराने उद्योग टूटे। प्राचीन आर्थिक मान्यताएँ विशिष्टताएँ और प्रवृत्तियां समाप्त हो गईं। गांवों का सम्बन्ध बाहर से हो गया। आर्थिक स्वावलम्बन समाप्त हुआ। देहातों का दृष्टिकोण वातावरण एवं दुनियाँ बदल गई। अपना सांस्कृतिक स्वरूप खो गया। जिस हिसाब से जनसंख्या बढ़ी उस हिसाब से उत्पादन बढ़ने नहीं दिया। ये परिवर्तन यदि हमारे समाज की प्रगति के साथ-साथ हुए होते

सुगन्धित पुष्पों वाले किसी पौधे को निर्ममतापूर्वक उसकी अपनी बगिया की क्यारी से उखाड़ फेंके। व्यवस्था रूपी पौधा जब सांस्कृतिक तत्वों रूपी खाद से परिपुष्ट वातावरण रूपी क्यारी में उगता है तब उसमें हरापन और सुख-आनन्द देने वाले तत्वों रूपी फूलों की सम्भावना होती है। विच्छेद की अवस्था में जड़ें गहरी नहीं हो पाती। फूल मुरझाये हुए और फल फीके, कड़ुए और हानिकारक पैदा होते हैं। यही अवस्था हमारी अर्थव्यवस्था की हुई।

जड़मूल पर आघात और उससे उत्पन्न विषमता—

सभी देशों के अनुसार ही भारत की भी अर्थव्यवस्था का प्रधान पक्ष खेती है। भारत की ग्राम्य संस्कृति और जीवन का मूलाधार ही खेती और ग्रामोद्योग था। आत्म-निर्भर एवं स्वावलम्बी ग्राम्य जीवन पर ही हमारी आर्थिक क्रियाशीलता एवं आर्थिक समृद्धि की नींव पड़ी थी। जड़ यह थी। यहीं से विकास प्रारम्भ हुआ था जिसका समुन्नत रूप राजधानियों और बड़े-बड़े नगरों में चमकता हुआ दिखाई पड़ता था। उसको नष्ट करने के लिए इस जड़ पर आघात करना जरूरी था। १७६५ ई० में जब मुगल सम्राट शाह आलम ने क्लाइव को बंगाल की दीवानी के अधिकार दे दिये तब से बंगाल और उड़ीसा की सम्पूर्ण भूमि पर अंग्रेजों का स्वामित्व स्थापित हो गया। अभी तक भूमि गाँव की थी, अब सरकार की हो गई। अभी तक भूमि माता थी, अब वही माता खरीदी, बेची एवं नीलाम किये जाने वाली चीज हो गई। अभी तक अन्न देवता था, अब उसकी तुलना सिक्कों और बाटों से होने लगी। अब वह देवता क्रय विक्रय की वस्तु हो गया। हम यह प्रार्थना 'समुद्रवसने देवि, पर्वत स्तनमंडले विष्णुपत्नि, नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे' भूलने लगे। यहीं से हमारी अर्थ-व्यवस्था की सांस्कृतिक जड़ कट गई। अब जमीन उनके पास चली गई जो सरकार को अधिकाधिक रुपया दे सकते थे। अब महत्व उपज या श्रम का नहीं रह गया रुपयों या सिक्कों का हो गया। प्रजापालक जमींदार जमीन से वंचित हो गया, लुटेरे साहूकार जमीन के मालिक हो गये। जिस संस्कृति में श्रम, प्रेम, व्यक्ति और व्यवहार प्रधान था वहां जड़ सिक्के की प्रधानता हो गई। यह दूसरा सांस्कृतिक आघात था। भारतीय उद्योगों का दुष्टतापूर्वक नष्ट करके कारीगरों के अंगूठे काट कर उन्हें निराश्रित करके खेतों की ओर जाने को मजबूर करना और इस प्रकार कृषि पर अधिभार मार डालना और कुटीर उद्योगों एवं ग्रामोद्योगों को नष्ट करना एक तीसरा सांस्कृतिक आघात था। कृषि का स्वामित्व कृषि करने वालों के हाथ से लेकर उन्हें ' देना जो स्वयं खेती नहीं करते थे या गाँव से दूर रहते थे, कृषि और कृषि के मालिक

के बीच स्थापित रागात्मक सम्बन्ध को नष्ट करने का कारण बन गया। खेत पराई सम्पत्ति हो गए। उसको उन्नत करने के अपनत्व प्रेरित प्रयत्न नष्ट कर दिये गये। यह भी एक सांस्कृतिक अपराध था। इस प्रकार गरीबी से मारे हुए मजबूर लोग कृषि-कला के वर्ना और कृषिकाय से पूर्णतः अभिन धनपति लोग उनके स्वामी हो गये। अवनति अनिवार्य थी। इङ्गलण्ड की औद्योगिक क्रांति के कारण मशीनों से बनाई गई जड़ एवं कलात्मकता विहीन सस्ती वस्तुओं की बाढ़ ने उच्च कोटि की कलात्मकता-कृतियों की माग खतम कर दी। हाथ कट गये, मशीन सबल हो उठी। कारीगर मिट गया। यह भी कलात्मक एवं सांस्कृतिक आघात था। उपभोक्ताओं से उत्पादकों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध टूट गया। प्रेम भाव समाप्त हुआ। यूरोपीय फैशन के अनुकरण ने छिछलापन बढ़ा दिया। ठोस चरित्र का अभाव हो गया। स्वदेशी की उपेक्षा होने लगी। अपनी संस्कृति के प्रति निष्ठा के अभाव का बीजारोपण हो गया। मानसिक और बौद्धिक दासता की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। उत्पादन की प्राथमिक इकाई के रूप में हमें वह नन्हा सा महत्वहीन व्यक्ति दिखाई पड़ता है जो कभी स्वतन्त्र, कभी नौकर के रूप में, कभी अपने घर पर और कभी ग्राहक के घर पर, कभी अपने आप और कभी 'आर्डर' पाकर उत्पादन करता है। कभी ठेके पर काम होता है, कभी मजदूरी पर। कभी-कभी इनाम, बख्शीश भेंट, की प्राप्ति होती है और कभी-कभी केवल बेगारी ही रह जाती है। रेलों और मोटरों ने भी भारत की पुरानी अर्थ-व्यवस्था को नष्ट करने में कम महत्व-पूर्ण योग नहीं दिया है। इनके द्वारा विदेशी चीजें और फैशन देहातों और कस्बों तक पहुंचे। पुराने उद्योग टूटे। प्राचीन आर्थिक मान्यताएँ, विशिष्टताएँ और प्रवृत्तियां समाप्त हो गई। गाँवों का सम्बन्ध बाहर से हो गया। आर्थिक स्वावलम्बन समाप्त हुआ। देहातों का दृष्टिकोण वातावरण एवं दुनियाँ बदल गई। अपना सांस्कृतिक स्वरूप खो गया। जिस हिसाब से जनसंख्या बढ़ी उस हिसाब से उत्पादन बढ़ने नहीं दिया गया। ये परिवर्तन यदि हमारे समाज की प्रगति के साथ-साथ हुए होते तो सम्भवतः इतना अनर्थ और अनिष्ट न होता। किन्तु घृणा और आतंक की पात्र साम्राज्यवादी मनो-वृत्तियों ने ये परिवर्तन इतनी क्रूरतापूर्वक तथा अस्वाभाविकता और परायेपन के साथ हम पर लादे और प्रत्येक परिस्थिति में हमारे शोषण का ही दृष्टिकोण इतना प्रधान रखा कि भारतीय समाज इस परिवर्तन के धक्के या झटके को सँभाल न सका और आर्थिक जीवन विघटित हो गया।

आर्थिक परिवर्तन की बात भी सोची गई साम्यवाद

सांस्कृतिक पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि में हमारा ध्यान अपनी आर्थिक

दुर्गति को इस चरम सीमा की ओर भी गया। हम इस स्थिति को बदलने अर्थात् आर्थिक दृष्टि से भी अच्छे होने की बात सोचने लगे। राजनीतिक दृष्टि से हम पराधीन थे ही। नीति और नियम बदल सकने का कोई भी अधिकार हम अब भी नहीं था। व्यवस्था के आमूल परिवर्तन की ओर अब भी कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया जा सकता था। प्रश्न हुआ कि क्या किया जाय जिससे हमारी हालत अच्छी हो जाय। इसमे कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्रीय आंदोलनों के सामने आर्थिक सुधारो के आंदोलनो के सामने आर्थिक सुधारो के आंदोलनों की बात कुछ फीकी पड गई। १९०० ई० के भी पहले से हम आर्थिक दुर्गति की चुभन का अनुभव कर रहे थे। प्रथम महायुद्ध तक यह मनन और चिन्तन एवं विचार विनिमय का ही विषय बना रहा। बगभग के विरोध मे होने वाले आंदोलन के विदेशी बहिष्कार-पक्ष का एक आर्थिक पक्ष था अवश्य किन्तु वह उतना प्रधान न बन सका। प्रथम महायुद्ध के बाद ही रूस मे मार्क्स एंजिल्स-लेनिन स्टालिन के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप आश्चर्यचकित कर देने वाली विचार-क्रांति और राज्य-क्रांति हुई। यह क्रांति असाधारण रूप मे मौलिक थी। नई थी। सारा ससार चौंक उठा। सारे ससार की विचारधारा पर उसका प्रभाव पडा। संसार मे एक नया दल ही बन गया। ससार के सभी साम्यवादियो को एक सूत्र मे बांधने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन भी बना। इस विचार-क्रांति का प्रभाव भारत पर भी पडा। हमारे भी सोचने के ढग पर इसका प्रभाव पडा। अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे मार्क्सवाद की विशेषता है पूंजीवादी आर्थिक सगठन का बौद्धिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण। इस विश्लेषण के अनुसार पूंजीपतियों का ही प्रभुत्व उत्पादन के साधनों-पूंजी और भूमि-पर होता है। उत्पादन के साधनो पर कार्यकर्ताओ का कोई भी अधिकार नहीं होता। वे इनके अपने नहीं होते। परिणामत कार्यकर्ताओं को अपना श्रम पूंजीपतियो को अपने हाथ बेचना पडता है जिसके बदले मे उन्हें मजदूरी मिलती है। इस प्रकार समाज के अन्दर दो महत्वपूर्ण वर्ग बन जाते हैं-पूंजीवाद और कार्यकर्ता, बुर्जुआ और प्रोलेतारियत, हुजूर और मजूर सम्पन्न और विपन्न या जो भी कहिये। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की दूसरी विशेषता है बडे पैमाने पर उत्पादन करने वाली बडी बडी मिलें जिनमे अधिकाधिक मजदूर उत्पादनार्थ नियोजित किये जा सकें। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे चीजें इसलिये नहीं बनाई जाती कि वे बडी उपयोगी होती हैं बल्कि इसलिये बनाई जाती हैं कि बाजार मे बेची जाय। रुपया इसलिये लगाया जाता है कि उससे बनी हुई चीजें और अधिक रुपया दे सकें। यहाँ साध्य रुपया होता है वस्तु की उपयोगिता एवं अधिकाधिक प्राणियों की सुख-सुविधा नहीं। रुपया इसलिये होता है कि उससे दूसरे के

श्रम का अपहरण अपना रुपया बढ़ाने के लिये किया जा सके। इसी को कहते हैं कि रुपया रुपये को खींचता है। अस्तु हम उस वस्तु को अधिक बनवाना चाहेंगे जो अधिक रुपये ला सके। मान लीजिये 'क' और 'ख' दो वस्तुएं हैं। दोनों की कीमत एक एक रुपये है। 'क' के बनाने में एक मजदूर को दो दो घण्टे लगते हैं किन्तु 'ख' के बनाने में केवल एक ही घण्टे। इस स्थिति में 'क' और 'ख' का सापेक्षिक मूल्य २ : १ हुआ। अब यदि बाजार में दोनों का दाम एक-एक रुपया ही हुआ तो 'क' को बनवाने में फायदा नहीं होगा। फायदा होगा 'ख' के ही बनवाने में। पूंजीपति 'ख' का उत्पादन इतना अधिक करवायेगा कि बाजार उससे भर जाय। 'क' का उत्पादन बहुत कम हो जायगा। 'क' के उत्पादन में मजदूर अधिक लगाये जायगे। अब यदि 'ख' का उत्पादन करने वाला पूंजीपति 'अ' है तो सभी पूंजीपति 'अ' बनने का प्रयत्न करेंगे। सभी 'ख' का उत्पादन करेंगे और अपने 'ख' को अधिक से अधिक लोगों में और अधिक से अधिक कीमत पर बेचना चाहेंगे। यह उद्देश्य प्रतिस्पर्द्धा का पिता बन जाता है। 'ख' के उत्पादक किसी ऐसी वस्तु (मान लीजिये 'ग') का प्रचार और अधिक उत्पादन न होने देना चाहेंगे जिससे 'ख' का अवमूल्यन हो जाय। तो 'ख' और 'ग' के उत्पादकों में प्रतिस्पर्द्धा होगी। 'ख' के उत्पादन का अधिक मँहगा भी वे नहीं होने देना चाहेंगे। इसलिये वे श्रम की खरीददारी को सस्ता बनाना चाहेंगे जबकि श्रमिक अपने श्रम की अधिकाधिक कीमत चाहेगा। तो, मिल मालिक और श्रमिक में प्रतिस्पर्द्धा हुई। पूंजीपति श्रम को क्रय-विक्रय की वस्तु समझता है। इसके लिये उसके पास कोई भी मानवीय या रागात्मक अनुभूति नहीं होती है। वह पैसा देता है और श्रम खरीदता है। मजदूरी इसलिये होती है कि श्रमिक जीवित रहे और अपनी श्रमशक्ति को बनाये रहे। मान लीजिये कि जीवित रहने के लिये उसे ५ रुपये का सामान प्रतिदिन खरीदना है। तो, उसको ५रुपये प्रतिदिन मिलने चाहिये। इसके लिये उसको इतने घंटे काम करना है जितने में वह ५रु लायक का सामान पूंजीपति के लिये बनादे। यदि इतना उत्पादन वह ५ घण्टे में कर सकता है तो ५ ही घंटे का श्रम उससे लेना चाहिये। किंतु पूंजीपति उससे ८ घण्टे काम करवाता है। अब यह ३ घंटे का श्रम ही अतिरिक्त श्रम हुआ। इस तीन घण्टे में वह जितनी चीज बना कर देगा उससे मिलने वाला धन अतिरिक्त धन हुआ। कार्य करने के घंटे बढ़ा कर मजदूरी कम करके अतिरिक्त धन या अतिरिक्त मूल्य बढ़ाया जा सकता है। यही शोषण है। प्रत्येक पूंजीपति इस शोषण का अपराधी है। यह अपराध पूंजीवादी व्यवस्था में अनिवार्य रूप से निहित है। इस पूंजीवादी व्यवस्था का अन्तिम परिणाम यह होता है कि पूंजी एकत्र हो जाती है, बेकारी बढ़ती है क्योंकि आगे चल कर पूंजीवादी मानव-श्रम की अपेक्षा मशीनों में अधिक लाभ देखने लगता है, और समाज में विषमता तीव्रतर हो उठती है।

उत्पादन की अधिकता एक स्थिति के बाद उपभोग की कमी का कारण बन जाती है। लाभ की दर कम हो जाती है। इन असंगतियों और विरोधों से पूंजीवादी व्यवस्था स्वतः आक्रान्त है। इस तरह बौद्धिक विश्लेषण के पश्चात् मार्क्स ने इसका निराकरण खोजा। उनके निष्कर्षों के अनुसार उत्पादन के साधनों को किसी एक को व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होने देना चाहिये। उन्हें सामूहिक एवं सामाजिक रूप से ही कार्यकर्ताओं को देना चाहिये। भूमि और धन पर से व्यक्तिगत अधिकार यहाँ भी समाप्त रहेंगे। उपभोग व्यक्तिगत रूप से हो और किन्तु उत्पादन और वितरण पर अधिकार पूरे समूह या समाज का होना चाहिए। वर्ग संघर्ष की भावना के अनुसार यह समाजवाद केवल श्रमिक ही अपने लिये ला सकते हैं। चूँकि सरकार पर पूंजीपतियों का अधिकार होता है अतएव मार्क्सवाद वैधानिक उपायों पर विश्वास न करके राजनीतिक क्रांति पर विश्वास करता है। यह बलपूर्वक हिंसात्मक साधनों द्वारा भी राजनीतिक अधिकार छीन लेने का समर्थन करता है।

यह व्यवस्था अच्छी है किन्तु भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक परिवेश के अनुरूप नहीं है। भारतीय संस्कृति व्यक्ति के व्यक्तिगत महत्व को स्वीकार करती है। उत्पादन के साधनों पर से और इसीलिये उत्पादन पर से भी व्यक्ति के व्यक्तिगत अधिकारों को अस्वीकार करके मार्क्सवाद उत्पादन के मामले में व्यक्ति की अपनी रुचि एवं सज्जा एवं कार्योत्साह की संभावना समाप्त कर देता है। वर्ग-संघर्ष की बात भी भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल है। श्रुतियाँ विश्व-मैत्री का सन्देश देती हैं मार्क्स वर्ग-संघर्ष की बात करता है, और, जहाँ न हो, वहाँ उभारने की बात करता है। भारतीय संस्कृति समस्याओं का समाधान संघर्ष और हिंसा में नहीं खोजती। वहाँ दान का विधान है। साम्यवाद की प्रायोगिक सफलता हमारे सामने बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में आई थी। उसके बाद उसने पहल हमारे विचारों को प्रभावित करना शुरू किया। विदेशी (रूस-विरोधी-पूंजीवादी-साम्राज्यवादी) सरकार ने और भी इस दिशा में कुछ करने न दिया। साम्यवादियों का अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण एवं महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व एवं उनकी विचारधारा के कारण भी हमारी आर्थिक क्रियाशीलताओं पर साम्यवाद या समाजवाद का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ने पाया। अधिक से अधिक इतना हुआ कि साम्यवादियों ने मिलों के मजदूरों को संगठित करके कुछ हड़तालें करवा दीं। जिस प्रकार साम्यवाद ने हमारी आर्थिक क्रियाशीलताओं को अपना हमारे दृष्टिकोण एवं हमारी विचारधारा को अधिक प्रभावित किया उसी प्रकार साहित्य में भी इसने एक नया दृष्टिकोण दे दिया। चूंकि भारतीय आर्थिक जीवन में उसका कोई भी प्रामाणिक रूप सामने नहीं आया इसलिये हमारे साहित्य में

भी साम्यवादी आर्थिक जीवन के कोई भी चित्र नही मिलते। कायक्रम और आयोजना की जगह साम्यवाद का विश्लेषण-पक्ष अधिक सबल और प्रभावशाली है इसलिये हमारे साहित्य मे मजदूर, किसान, नारी, मिल मालिक सामन्तवादी पूजीपति-पुरुष अर्थात् शोषितो और शोषकों के सबल और सशक्त चित्र अवश्य मिलते हैं। यशपाल के कई उपन्यासो और कई कहानियो मे से चित्र भरे पडे हैं। किंतु क्रांतिकारी आर्थिक योजनाओं और कायक्रमों के साहित्यिक चित्र हमे नहीं मिलते।

गांधी नीति—

मार्क्सवाद की अपेक्षा गांधीवाद हमारी सभ्यता और संस्कृति के अधिक निकट एव अनुरूप था और इस योग्य था कि तत्कालीन वातावरण म उसके अनुसार काय किया जा सके। यही हुआ भी। मुझे ऐसा लगता है कि गांधी मे अध्ययन इतना विशाल एव बुद्धि-बल उतना प्रखर मुखर नही था जितना मार्क्स मे और मार्क्स मे आध्यात्मिक शक्ति, मानसिक शक्ति अथवा हृदय बल इतना सक्रिय नही था जितना गांधी म। एस० एन० अग्रवाल ने लिखा है, यद्यपि विश्व के महानतम पुरुषो मे गांधी जी ने सबसे कम अध्ययन किया था किन्तु अपने देश की नाडी टटोल कर उसकी व्याधि का समुचित ज्ञान करके उसके लिये सचमुच अच्छा प्रभाव डालने वाली औषधि तयार कर लेने की क्षमता उनमे असाधारण और विलक्षण थी।'[1] गांधी का जीवन दशन समग्र जीवन-दशन था। उन्होंने कुछ पढा, उन्हे कुछ जँचा, और उसके अनुसार उन्होने प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। बौद्धिक विश्लेषण की जगह गांधी के जीवन म प्रयोगशीलता की प्रधानता थी—ऐसी प्रयोगशीलता की, जिसमे व्यक्ति प्रधान हो और ऐसा प्रथम व्यक्ति प्राय गांधी स्वय ही हुआ करता था। अपनी धारणा को कार्यान्वित करके व्यावहारिक रूप मे उपस्थित करने की विधि ने लोगो को बहुत प्रभावित किया। अस्तु गांधी के आर्थिक कायक्रमो को देश ने अपन सामथ्य और शक्ति के अनुसार अपनाया—यहाँ तक अपनाया कि लकाशायर और मानचेस्टर हिल उठा।

गांधी के उदय के पूव भारत का आर्थिक जीवन और कायक्रम पाश्चात्य दृष्टिकोण से अनुप्रेरित एव प्रनुप्राणित हो रहा था। इसके अनुसार भोग-विलास की अधिकता होनी चाहिये, जीवन-स्तर को उच्चतर करने का तात्पय था देखने में विशाल, बारीक, सुन्दर, और चेतना को आतंकित करने वाली छूने में चिकनी, मन को आकृष्ट करने वाली, दाम म कीमती, और आँखों के लिये चमकदार वस्तुओ का अधिकाधिक

१ गांधीयन प्लान री अफर्म्ड', पृ० १७

उपभोग होना चाहिए, अपनी आवश्यकताओं को अधिकाधिक बढ़ाते रहना और उनकी पूर्ति के लिए उचित-अनुचित सभी उपायों से धन प्राप्त करते रहना चाहिए, आर्थिक दृष्टिकोण को आध्यात्मिकता, नैतिकता एवं मानवता की मान्यताओं एवं धारणाओं से दूर करते जाना अनिवार्य है, व्यक्तिगत दृष्टिकोण या लाभ की भावना की प्रधानता हो जानी अनिवार्य है, बड़ी-बड़ी मशीनों का प्रयोग होना चाहिये जिसके परिणामस्वरूप शोषण की प्रवृत्ति अनिवार्यतः क्रियाशील हो उठती है। जीवन में भौतिक दृष्टिकोण, निजी स्वार्थ और हित की भावना, फैशन, आडम्बर, हिंसा, संघर्ष, आदि पाश्चात्य अर्थव्यवस्था के अनिवार्य परिणाम हैं। गांधी का व्यक्तित्व और उसकी चिन्तनधारा एवं उसके विश्राम तथा उसकी मान्यताएं पूर्णरूपेण भारतीय संस्कृति में डूबी हुई थीं। इसके परिणामस्वरूप उनकी अर्थनीति पाश्चात्य अर्थनीति से मूलतः भिन्न हो जाती है। पाश्चात्य अर्थव्यवस्था से भारत में दो वर्गों को बहुत लाभ हो रहा था (१) व्यापारी, और २) जमींदार। राष्ट्रवादियों का यह विचार था कि भारतीय परतन्त्रता का प्रधान कारण है अंग्रेजों द्वारा हमारी आर्थिक शक्ति का ह्रास और आर्थिक शोषण। इसका परिणाम यह हुआ कि गांधी जी का स्वराज्य आर्थिक स्वराज्य भी हो गया। वे देश के सभी नर-नारियों के भोजन, वस्त्र और आवास की प्राप्ति के साधन जुटाना चाहते थे। सबके लिए काम चाहते थे। सबको समान रूप से सुविधा, सुख और विकास के अवसर प्राप्त कराना चाहते थे। अंग्रेजों की आर्थिक दासता से मुक्ति चाहते थे। क्योंकि वे मूल कारण को ही पाश्चात्य आर्थिक मान्यताओं और धारणाओं को ही उन्मूलित कर देना चाहते थे। स्पर्धा को प्रतियोगिता में जीत कर नहीं, पर दृष्टिकोण के परित्याग और अपने दृष्टिकोण के ग्रहण द्वारा कराना चाहते थे। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'—यह गीता का वाक्य है। इस प्रकार हमारा आर्थिक कार्यक्रम एक ओर हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अनुसार होकर धर्म और नैतिकता से सम्बद्ध हो गया और दूसरी ओर भारत की स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता के भी अनुकूल हो गया। गांधी जी ने लिखा है कि "मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैं अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के बीच कोई सुनिश्चित भेद या स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींचता हूँ।"[1] महादेवप्रसाद के शब्दों में इसका परिणाम यह हुआ कि गांधी जी एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था चाहते हैं जिसमें सबको काम करने का बराबर अवसर प्राप्त हो, जनता में उत्पादन का समान वितरण किया जाय, जिससे व्यक्तियों और परिवारों को उनकी आवश्यकताओं पर पूर्ण पदार्थ एवं समान वितरण प्राप्त हो और वह व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए उचित वातावरण निश्चित कर

१ यंग इंडिया, १३ अक्तूबर १९२१ का अंक

है ।'[1] बात यह है कि उपभोग और उत्पादन को एक जगह कर देने से अनेक बुराइयों का अन्त हो जाता है। युगों से चली आती हुई भारत की आर्थिक विधि-व्यवस्था के स्वरूप का सांस्कृतिक आधार भी यही है। कृषक फल के उपभोग का प्रथम और अनिवार्य अधिकारी होता है। भारतीय संस्कृति किसी भी मानव को हीन या उपेक्षणीय नहीं मानती। वहाँ सर्वभूतेषु आत्मवत् दृष्टि डालने का आदेश है। भगवद्गीता के १३वें अध्याय के २७वें श्लोक में लिखा है कि जो नष्ट होते हुए सब चराचर में नाश रहित परमेश्वर को समभाव से देखता है, वही देखता है। उपनिषद् का भी कथन है कि इस संसार में जो कुछ है उस सब में ईश्वर का वास है। शंकराचार्य तो ईश्वर या ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ मानते ही नहीं। इसी भारतीय संस्कृति की धारणा के अनुसार गरीब, अमीर, विद्वान, मूर्ख, पढ़े-लिखे, अनपढ़ आदि सभी मनुष्यों के विकास के लिये गाँधी जी सोचते थे। उनके हृदय में सबके लिये दर्द था। इसीलिये वे गरीब को भी नहीं मरने देना चाहते थे और अमीर को भी नहीं नष्ट होते देख सकते थे। इसीलिये गाँधी जी के आर्थिक कार्यक्रमों में वर्ग-संघर्ष के लिये कोई स्थान नहीं है। वहाँ सर्वोदय है—'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया,' सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुख भाग्भवेत्।' गाँधी जी के अर्थशास्त्र में मानव-श्रम की असाधारण प्रतिष्ठा है। उसे वे सबके लिये अनिवार्य समझते थे। मशीनों का सर्वग्राही प्राधान्य स्वीकार करके वे मनुष्य की श्रम शक्ति को व्यर्थ एवं निरादृत नहीं करना चाहते थे। उत्पादन का यन्त्रीकरण उन्हें अमान्य था। जैसे भारतीय संस्कृति के ऋषि मुनि जीवन और जगत की प्रधान समस्याओं पर अद्वितीय रूप से विचार करते हुये भी आवश्यक श्रम करते रहते थे वैसे ही गाँधी जी रवीन्द्र और रमन के लिये भी शरीर श्रम अनिवार्य समझते थे। गाँधी जी चर्खे एवं सूत की कताई को इसीलिये प्रधानता देते थे। जैसे राम के साथ धनुष-बाण का, इन्द्र के साथ वज्र का, अर्जुन के साथ गांडीव का, सरस्वती के साथ वीणा का, कृष्ण के साथ मुरली का एवं विष्णु के साथ सुदर्शन चक्र का अभिन्न सम्बन्ध है एवं एक का नाम दूसरे का स्मरण बन जाता है वैसे ही स्थिति गाँधी और चर्खे की है। उन्होंने लिखा है 'चरखा तो सूरज है और दूसरे जो उद्योग हैं वे ग्रह हैं जो सूरज के इर्द गिर्द घूमते हैं।'[2] उत्पादन को निर्जीव, निरात्म एवं अकलात्मक न होने देने के लिये ही गाँधी जी ने उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध मनुष्य के हाथों से बनाए रखा। यही कारण है कि गाँधी जी ने ग्रामोद्योग एवं कुटीर उद्योग का असाधारण रूप से समर्थन किया है। संघर्ष को शान्त करने

१ सोशल फिलासफी आफ महात्मा गाँधी, पृ० २८०
२ प्रार्थना प्रवचन, भाग २, पृ० २२७

के बजाय उसे और अधिक उग्रतर करने वाले इसी वर्ग संघर्ष की भावना भी गांधी को अग्राह्य थी। सब मे परमात्मा का निवास है और परमात्मा मूलत बुरा नहीं हो सकता। इसलिय कोई भी मनुष्य चाहे वह धनी हो, चाहे गरीब मूल रूप से बुरा नही हो सकता। यदि माया वश वे बुरे हो गये और मौलिक रूप से दूर नही हैं तो उनका हृदय परिवर्तन हो सकता है। इसलिये गांधी जी की अर्थ नीति म धनी लोगो को अपनी सम्पत्ति धरोहर रूप मे समझनी चाहिये। अपने को उसका ट्रस्टी मात्र समझना है। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृध, कस्यस्विद्धनम्' वाला भारतीय आदर्श गांधी जी के सामने रहा है। जमनालाल बजाज, आदि अनेक धनिकों ने यथाशक्ति इस नीति को माना। इस प्रकार गांधी जी के अर्थशास्त्र म रुपये का स्थान गौण रखा गया है। वहाँ मानव-श्रम, पशु प्रयोग, एव प्रेम तथा सहयोग की नीति को आधार बनाया गया है। भारत के देहातो म सहयोग एव सहानुभूति की इस भावना की अभिव्यक्ति आर्थिक कार्य-व्यापार मे बराबर होती रहती है। भारतीय दर्शन का आदर्श है न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य। ईशोपनिषत् समझाता है, 'कस्यस्विद्धनम्'। सारी भारतीय संस्कृति 'सादे जीवन' के आदर्श से अनुप्राणित है। हमारी सांस्कृतिक अर्थ-नीति है—

साईं इतना दीजिये जामे कुटुम समाय
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय।

इसी धन की चटक मटक से दूर, सादे, गांधी जी थे गांधीवादी थे और उसी के अनुरूप आधुनिक हिन्दी-साहित्य भी है। न कागज आकर्षक, न छपाई आकर्षक, न जिल्द आकर्षक और न दाम आकर्षक, और न उसमे अभिव्यक्त भाव या विचार उत्तेजक। अपवाद सभी जगह होते हैं किन्तु प्रधानरूप म यह अपने भारतीय सांस्कृतिक स्वरूप को प्राप्त करने की दिशा ही है।

भारतीय संस्कृति का विश्वास है कि वासनाओं का पूर्ति से प्रशान्त नहीं किया जा सकता। आवश्यकता का जन्म वासना और इच्छा के प्रबुद्ध होने से होता है। दूसरे को जितना ही बढ़ने दिया जायगा पहला उतना ही बढ़ता जायगा। जस जस सुरसा बदन बढ़ावा, तासु दुगुन कपि रूप देखावा। इसलिये न वासनाओं अर्थात् आवश्यकताओं की कोई सीमा है और इसीलिए न उनकी पूर्ति की सम्भावना। ऐसी स्थिति मे उचित यही है कि उनको सयमित, अनुशासित एव दमित रक्खा जाय। उनको बढ़ते देखकर हाय हाय करते रहना कोई बुद्धिमानी नहीं है। गांधी जी का भी यही कहना कि हम केवल उन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति करने का प्रयत्न करना चाहिये जो हमारे जीवित रहने के लिये अनिवार्य हैं। इसी बात को बड़े ही विद्वत्ता पूर्ण ढंग से जे० के० मेहता ने इस प्रकार कहा है, 'अत उपयोगिता की चरम सीमा

तक बढा देना वही चीज है जो पीडा को कम से कम कर देना है इसलिये पीडा से मुक्ति पाने का तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि विशेष समय या अवस्था में प्रतीत होने वाली आवश्यकताओं को मिटा या हटा दिया जाय या शान्त कर दिया जाय बल्कि यह भी है कि यह देखते रहा जाय कि भविष्य में उस प्रकार की नई आवश्यकताओं का फिर उदय न हो। आवश्यकताएँ जितनी भी कम हो दुःख उतना ही कम होगा अस्तु, अच्छी सूझबूझ वाले मानव के लिये अर्थशास्त्र एक ऐसा विधान है जो अन्ततोगत्वा मनुष्य के दुःख को कम करने के लिये किये जाने वाले मानवीय व्यवहारो का अध्ययन करता है।'[1] गाधी जी की अर्थ व्यवस्था मे प्रत्येक व्यक्ति का अपने पडोसी के प्रति भी कर्तव्य होता है। इसी कर्तव्य-भावना से एक ओर दान की बात पैदा होती है और दूसरी ओर स्वदेशी की। हमारे पडोसी ने जो वस्तु उत्पादित की है उसका उपभोग करना हमारा प्रधान धर्म है। इसलिये अपने गाँव, जिले प्रदेश प्रान्त एव देश के कुम्हार, ठठेरे सोनार, दर्जी, बढई, वैद्य, जुलाहे आदि के उत्पादन का उपभोग ही स्वदेशी है जिस पर गाधी जी इतना जोर देते थे। यह दृष्टिकोण भी भारत का अपना सास्कृतिक दृष्टिकोण है। गाधी जी की अर्थनीति के अनुसार हमारा प्राथमिक क्षेत्र है गाँव, लक्ष्य है गरीब मानव, और साधन है हाथ और हमारे सहयोगी घरेलू पशु। गांधी जी का अर्थशास्त्र विभिन्नताओं मे एकता की अनुभूति करके ही चलता है और यह भारत की सांस्कृतिक विशेषता है। गाँधी जी की अर्थनीति में शोषण के लिये कोई भी स्थान नहीं। गाँधी जी देहात को आर्थिक दृष्टि से भी स्वावलम्बी बनाना चाहते हैं। गांधी जी ऐसी आर्थिक हलचलों मे विश्वास करते हैं जो उत्पादक एव रचनात्मक हो। इसीलिये वकालत, ब्याज एव वेश्यावृत्ति, सट्टा, आदि उन्हें अमान्य थे। प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। गाँधी जी के आर्थिक प्रोग्राम ने देश के आर्थिक जीवन और हलचलों पर अपना स्थायी प्रभाव डाला है। इसका नवीनतम प्रमाण है भूदान आन्दोलन जिसने सेठ गोविंददास से नाटक लिखवा लिया और 'दिनकर' तथा मैथिलीशरण गुप्त आदि से कविताएँ। भारत के वातावरण में खद्दर की सात्विकता फैल गई गाँव-गाँव और शहर शहर मे चर्खे चलने लगे, गो-सेवा-केन्द्र खुल गये, ग्रामोद्योगो और कुटीर उद्योगो को असाधारण रूप से प्रोत्साहन मिला, शरीर श्रम को आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा, आदि। मैथिलीशरण गुप्त ने वस्त्रहीनों को लक्ष्य करके लिखा—

१ 'स्टडीज इन एडवान्स थियरी आफ एकनामिक्स',

तुम अब नग्न क्यों रहो अनोप समय में
आओ हम कातें बुनें गान की लय में'[१]

शान्तिप्रिय द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है, 'जीवन का स्थूल और यन्त्रताओं की समिधि बना कर उसने (गांधी जी ने) एक आध्यात्मिक महायज्ञ की रचना की। कट्टर अपरिवर्तनवादियों को छोड़ कर जो लोग साहित्य समाज और राजनीति में विविध रूपेण युद्ध को गतिशील थे वे सभी इस आध्यात्मिक महायज्ञ (गांधीवाद) में मिल कर एकाकार हो गये।'[२]

आर्थिक जीवन और साहित्य—

समाज की आर्थिक व्यवस्था का प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ते हुए हमारे साहित्य पर भी पड़ता है। हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य पर भी हमारी आधुनिक आर्थिक स्थिति का प्रभाव पड़ा है। हमारे देश के आर्थिक ढाँचे का सामन्तवादी स्थिति से औद्योगिक अवस्था तक का विकास स्वाभाविक रूप से नहीं हुआ। इस अस्वाभाविक परिवर्तन (न कि विकास) के कारण देश में जिस मध्यवर्ग का उदय हुआ वह अस्वाभाविकताओं से भर गया। वह आस्थाओं और विश्वासों से भारतीय और रहन सहन आदि से अभारतीय हो गया। वह न पूर्वी रह गया, न पश्चिमी हो सका। उसका मन एवं उसकी चेतना विभक्त हो गई। इस विभक्त चेतना वर्ग द्वारा रचित हमारा साहित्य, मध्यवर्ग की ही स्थिति के अनुसार न बहुत ऊँचा ही हो सका और न बहुत हीन कोटि का ही। अंग्रेजों से अपनी आर्थिक स्थिति की तुलना करने पर इस वर्ग को जिस हीनता का अनुभव होता था उसी हीन ग्रन्थि ने इनकी कल्पना की उड़ान को सीमित कर दिया। इसका अनुभव हम तब होता है जब हम अपने साहित्य की तुलना एच० जी० वेल्स, कार्लाइल बर्नार्ड शा लेयुई और रूजामियां, रूसो, वाल्टेयर, पलबक आदि के साहित्य से करते हैं। भारत के जड़ क्लर्कों एवं नौकरों का साहित्य आखिर पहुंचेगा भी तो कितनी ऊँचाई तक ! यह एक विचित्र तथ्य है कि हिन्दी साहित्य को जिन पर नाज है वे पन्त, वे प्रसाद, वे निराला, वह महादेवी, वह भगवतीचरण वर्मा, वह प्रेमचन्द, आदि आर्थिक दृष्टि से अंग्रेजी साम्राज्यवाद के दास (नौकर) नहीं थे। इसलिये आर्थिक दृष्टिकोण वाली हीन ग्रंथि से बचे थे। परन्तु दुःख की अनुभूति से वे भी न बचे। इनमें से कुछ गरीबी भुगत चुके थे और कुछ गरीबी से पूरी तरह परिचित थे मगर इनमें से कोई भी गरीबी से पराजित नहीं हुआ। हर

१ साकेत, आठवां सर्ग
२ 'युग और साहित्य' पृ० १५७

गया, क्षय रोग म ग्रस्त होकर मर गया, पागल हो गया, मगर उससे हार न मानी। इसलिये ये लेखक गरीब समाज और गरीबों की मनोवृत्ति का सफलतापूर्वक चित्रण कर सके। उच्चतम कोटि की अमीरी से इनका परिचय नहीं था इसलिये अमीरी अमीरों व मनोविज्ञान के चित्रण म अनुभूति की प्रधानता उतनी नहीं हो सकी जितनी उसके सद्धांतिक पक्ष की। इनम से अधिकांश लेखक शोषित हुये हैं। इसलिये निम्न मध्यवर्ग या निम्नवर्ग की प्रतिमाओं के शोषित किय जाने के मार्मिक चित्र हमारे साहित्य म मिलते हैं। मध्यवर्ग के मनोविज्ञान और जीवन के भी मार्मिक चित्र मिलते हैं गिरती दीवारें, आदि सकडो उपन्यास इसके उदाहरण के रूप में उपस्थित किये जा सकते हैं। असाधारण गरीबी के कारण इनका साहित्य समाज म उतना नहीं बिकने पाया जितना होना चाहिये। परिणामस्वरूप लेखक प्रशंसा और यश से भी गया और आर्थिक पुरस्कार से भी। लेखक गरीब का गरीब रह गया। उसका आदर कम हो गया। मामूली डिप्टी कलक्टर भी अपने को हिन्दी के कवि और लेखक से अधिक योग्य समझता था और आदर पाता था। न मालूम कितने लोगों ने लिखना छोड़ दिया। न मालूम कितनी कृतियाँ समय पर छप न पाई और उनमें से बहुत काल के गाल म समा गई। मध्य वर्ग की ढोंग भरी आर्थिक सम्पन्नता ने साहित्य के क्षेत्र म भी ढोंग फला दिया। ऐसे चित्रण हुए जो समाज म कहीं भी नहीं पाये जाते। जीवन का झूठ और ढोंग और अनुकरण साहित्य म भी आ गया। अधिकांश साहित्य वास्तविकता प्रधान एवं तथ्यप्रधान और सच्ची मनोवैज्ञानिकता से दूर होने लगा कुछ ने अपने साहित्य को सिद्धान्तों के आधार पर ही ढाल लिया। सिद्धान्तों को उभारने के लिये ही साहित्य रचा। यशपाल का अधिकांश साहित्य इसी दृष्टिकोण से लिखा गया है। सामन्तवादी अर्थ-व्यवस्था के टूटने के कारण साहित्य राजदरबारों से बाहर निकल आया। ऐसे भी साहित्यिक हुए जिन्होंने अर्थ सकट तो सहा किन्तु किसी राजदरबार म जाने को तयार न हुये। बच्चन ने नये पुराने झरोखे में अपने जीवन की उस घटना का उल्लेख किया है जब उन्होंने गिरिधर शर्मा के कहने पर भी महाराज झालरापाटन का दरबारी कवि बनना नहीं पसन्द किया। इसका अच्छा ही परिणाम हुआ। इसका एक दूसरा परिणाम यह हुआ कि साहित्य वहाँ से निकल कर पूँजीपतियों और नेताओं के चँगुल मे फँस गया। समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ और प्रकाशन-संस्थाएँ-सब पूँजीपतियों के थे और वे थे साम्राज्यशाही के चंगुल में। इस प्रकार पूँजीपतियों के और साम्राज्यवाद के विरुद्ध लिखे हुए साहित्य का प्रकाश म आ सकना असम्भव था। इसी आर्थिक मजबूरी के कारण इस युग म क्रांतिकारी, साम्राज्य विरोधी और पूँजीवाद विरोधी साहित्य की अधिक रचना न हो सकी। भारतीय

समाज के दोष निकालने और उनके लिये सीमित क्षेत्र तक के सुझाव चित्रित होने देने मे दोनो मे से किसी का भी आपत्ति नहीं हो सकती थी। इसलिये हमारा कथा साहित्य समाजसुधार प्रधान एव व्यग्य प्रधान हो गया। प्रथम महायुद्ध के बाद आर्थिक सकट उपस्थित हुआ था। बेकारी बढी थी। पूँजीवादी शोषण प्रारम्भ हो गया था। कोई भी एक व्यक्ति पूरी व्यवस्था से नही लड सकता। सकटग्रस्त की विवशता उसे पलायनवादी बना देती है—'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे'। निराशा सस्ती भावुकता, हल्का आदर्शवादी रोमास, सस्ती उत्तेजना, कल्पना की अतिशयता, ऐसे विवश व्यक्ति की विशिष्टता बन जाते हैं। बीसवीं शदी के द्वितीय और तृतीय दशक के हिन्दी साहित्य मे इन्ही प्रवृत्तियो की प्रधानता थी। पूँजीवादी समाज की सस्कृति और उसका साहित्य भी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अनुसार ही व्यक्तिवादी होता है। सामन्तवादी समाजव्यवस्था म साहित्यिक को जो स्वतन्त्रता नही मिलती उसको पाने के लिये भावुक साहित्यिक पूँजीवादी युग म प्रयत्नशील होता है। बडे ऊँचे-ऊँचे सपने देखते हुये आता है। उसके साहित्य म एक नये समाज की रचना की कल्पना रगीन कल्पना—होती है। पन्त, प्रसाद चण्डीप्रसाद हृदयेश, आदि म ऐसी कल्पनाओ की प्रचुरता है। पुराने बन्धन टूटते हैं। नये की चाह होती है। 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र' पन्त गाता है। छद-बन्ध टूटते हैं। नए स्वर, नया ताल, नयी लय, नए गीत—यह छायावाद की प्रमुख विशेषता है—

नव गति, नव लय, ताल छन्द नव, नवल कण्ठ, नव जलद मन्द्र रव
नव नभ के नव विहगवृन्द को नव पर नव स्वर द वर दे, वीणावादिनी वर दे!

सब कुछ पुराना खलने लगता है। कवि इतना नया हो जाता है कि उसे समझना समझ पाना कठिन हो जाता है। साहित्यिक फिर अपने को अकेला पाता है। समाज के लिये भी यह नवीनता सदव आकर्षक नही रह पाती। इधर पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था कवि के मधुर सपनों को झकझोर देती है। वह देखता है कि रुपये के पीछे मनुष्य मनुष्यता खो बठता है। अपनों की आत्मीयता नष्ट हो जाती है। कोई किसी का नहीं। सब पैसे के गुलाम हैं। मानव की रागात्मकता, ऊँची-ऊँची मान्यताओं की हत्या हो जाती है। पन्त[1] ने इस तरह सपनों के टूटने की बात कही है। अब कवि को दूसरा रास्ता अपनाना पडता है। पत, 'निराला, महादेवी, भगवती चरण वर्मा, प्रेमचन्द, आदि सब की दिशाएँ बदल जाती हैं। दृष्टिकोण व्यग्यप्रधान जागरण प्रधान, अथवा समाजवादी हो जाता है। साहित्य के क्षेत्र म अर्थव्यवस्था एक बार फिर परि

१— आधुनिक कवि, की भूमिका।

पतन उपस्थित करती है। छायावाद के बाद प्रगतिवाद का युग आता है। आदर्शवाद का स्थान यथार्थवाद ले लेता है। आर्थिक जगत में विषमता से पीड़ित, एकाकी और अन्तर्मुखी कलाकार कभी प्रकृति सुन्दरी का आँचल ओढ़ना चाहता है और कभी हाला प्याला की बात करता है। 'बच्चन' ने 'मधुशाला' जिन दिनों लिखी थी वे दिन आर्थिक पीड़न के थे। शोषक वर्ग के पास साहित्य को समझने के लिये न समय है और न उसे इसकी आवश्यकता ही है। कविता की प्रशंसा करने या प्रयत्न करके समझ लेने से उसकी मिल का उत्पादन कभी नहीं बढ़ सकता। उसकी साहित्य प्रशंसा, उसका साहित्य प्रेम झूठा होता है, ढोंग होता है। काव्य प्रेम या साहित्यानुराग पूँजीपति के वक्ष को सुशोभित करने वाला एक तमगा मात्र होना है। इससे अधिक बढ़ने पर उपेक्षा और तिरस्कार मिलता है। सबके सामने जो सरस्वती अथवा बृहस्पति अथवा वीणापाणिनी की वीणा का अवतार लगता है अकेले में वह स्वयं अपनी कलई खोल देता है, क्योंकि जानता है कि यह निरीह, भुक्खड़, अभागा, कवि या लेखक उसका कुछ बिगाड़ ही नहीं सकता। साहित्य की आत्मा तड़प उठती है। साहित्यकार टूट जाता है। वह असामाजिक हो जाता है। सबके सामने जिसकी रचना की खुल कर प्रशंसा की जाती है अपनी बेटी की दवा वह इसलिये न करा सके कि उसके पास पैसा नहीं, यह घाव कम गहरा नहीं होता। 'निराला' पागल हो जाता है। 'हितैषी' लोहा बेचने लगता है। रामेश्वर प्रसाद श्रीवास्तव कहानी लिखना छोड़कर टामसन इंटर कालेज, गोंडा, का प्रिंसीपल मात्र रह जाता है। यह एक तथ्य है कि अभी हिन्दी का समाज ऐसा नहीं है कि उसका साहित्यकार साहित्य रचना के सहारे रह कर आराम से कुटुम्ब चला सके और इज्जत के साथ जीवन बिता सके। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने लिखा है 'साहित्य को जिन लोगों ने अपने जीवन-निर्वाह का साधन बनाया है उनको सब प्रकार से कष्टमय जीवन ही व्यतीत करना पड़ता है।'[1] 'निराला' की आर्थिक स्थिति के बारे में महादेवी ने लिखा है, 'जिसकी निधियों से साहित्य का कोष समृद्ध है उसने मधुकरी माँग कर जीवन-निर्वाह किया है इस कटु सत्य पर आने वाले युग विश्वास कर सकेंगे, यह कहना कठिन है।'[2] सुभद्राकुमारी चौहान के बारे में उन्होंने ये पंक्तियाँ लिखी हैं, 'सुभद्रा जी की आर्थिक परिस्थितियों में जेल जीवन का ए और सी क्लास समान ही था। एक बार जब भूख से रोती बालिका को बहलाने के लिए कुछ नहीं मिल सका तब उन्होंने अरहर दलने वाली महिला कैदियों से थोड़ी सी

---

१ 'मेरी अपनी कथा', पृ० ३७
२ 'पथ के साथी', पृ० ५८

अरहर की दाल ली और उसे तवे पर भून कर बालिका को गिराया घर से बाहर बैठ कर वे कोमल और ओज भरे छन्द लिखने वाले हाथों से गोबर के कण्डे पाथती थीं।'[1] वे लिखती हैं, अब सङ्कट के इस बवण्डर ने इस युग के अधिकांश साहित्यकारों को कभी खाई म गिरा कर और कभी पर्वतों पर पटक कर चूर कर दिया है।'[2] दयीदयाल चतुर्वेदी 'भरत' ने भी यही बात लिखी है, 'और प्रतिकूल परिस्थितियों की विषम तथा ऊबड़-खाबड़ भूमि पर चलते-चलते हिन्दी साहित्यकार को जब प्रकाशकों की अनुदारता और उदासीनता की कठोर चट्टानों से बराबर टकराना पड़ता है तब उसका मन गहन विषाद की जिस काली छाया से आवृत हो जाता है, जो कुहासा उसके अन्तराल में छा जाता है उससे उसका अपना असाम अहित तो होता ही है, हिन्दी का भी कम अकल्याण नहीं होता।[3] कौन कह सकता है कि निराला जो दूसरी 'जुही की कली' 'राम की शक्तिपूजा' तुलसीदास, आदि न लिख सके और अणिमा', 'बेला, 'नये पत्ते' आदि म उनकी काव्यकला ने जो विरूप धारण किया है उसके पीछे भारत म प्रचलित पूँजीवादी अर्थतन्त्र एवं मनोविज्ञान का बहुत अधिक हाथ नहीं था? मनसुखलाल झवेरी न लिखा है अब साहित्य एक व्यवसाय बन गया है। अब यह केवल स्वान्तः सुख की वस्तु नहीं रहा जो पैसा देंगे वे अपना नाच नचायेंगे। साहित्य की समस्या इस प्रकार अर्थशास्त्र के प्रश्न से अप्रतिबिम्बित नहीं रहती। अब यदि कवि अपने आश्रयदाता की मर्जी के बिना तनिक भी इधर उधर नहीं चल पाता तो वह जनसाधारण और पाठक की रुचि की उपेक्षा भी नहीं कर सकता।'[4] हम इतना और कहना चाहते कि यह व्यवसाय बड़े घाटे का व्यवसाय है। यह व्यवसाय करने वाला टूट जाता है। अस्तु पूँजीवादी युग मे साहित्य व्यवसाय न हो तो क्या हो? यदि हमारे पीछे सात्विकता और श्रम की इतनी बड़ी परम्परा न होती तो हमारे हिन्दी साहित्य का अन्तरग और बहिरंग दोनों ही व्यावसायिक हो जाता। फिर भी, व्यवसाय वृत्ति की प्रधानता के नाते इस साहित्य के आकार-प्रकार, स्वरूप व्यजना भाव और विषय पर ग्राहक-पाठक की रुचि का प्रभाव काफी पड़ा है। लेख या कविता इतनी छोटी न हो कि पुरस्कार ही न मिले, इतनी बड़ी न हो कि छपने को जगह ही न मिले। इतनी गम्भीर न हो कि उसे पाठक पढ़ना ही न चाहें। इसीलिये गम्भीर, स्वतन्त्र, विशुद्ध,

---

१ 'पथ के साथी' पृ० ४१-४२

२ वही पृ० ३०

३ आजकल' जनवरी १९६०, ई०, पृ० ३३,

४ 'आज का भारतीय साहित्य, पृ० १६३-१६१

साहित्यिक रचना उतनी नहीं छपती जितनी पाठ्य पुस्तकें। पूँजीपतियों के द्वारा हमारे साहित्यिकों की आत्मसम्मान की भावना को बड़ी ही गहरी चोट पहुंचायी जाती थी। उनका अहम्भाव जागृत हो उठता था। इस प्रकार आर्थिक विषमता साहित्य के अन्दर वयक्तिकता की सृष्टि करती थी जिससे विद्रोह की भावना उत्पन्न होती थी। अर्थ के अभाव में यह साहित्यिक मजबूर भी तो होता है। इसलिये साहित्य में हुंकार या विद्रोह का आन्तरिक या सैद्धान्तिक रूप ही प्रकट हो पाता है। गम खून वाले ऐसे ही नकली विद्रोह का आवेश लिये साम्यवादी या समाजवादी बन जाते हैं। जो यह भी नहीं कर पाते वे कुण्ठा के शिकार हो जाते हैं। यह अवजन्य कुण्ठा बड़ी ही तीव्र होती है। इस कुंठा के द्वारा साहित्य पर पड़ने वाले प्रभाव का विवेचन करते हुए नगेन्द्र लिखते हैं "कुंठा और काव्य का सीधा सम्बन्ध है कुण्ठाओं की तीव्र प्रेरणाओं से जो गीत फूट उठते हैं वे मानव मन को सहज ही प्रिय होते हैं।"[1] भाव दृष्टि से बच्चन' की लोकप्रियता का एक रहस्य यह भी है। उमङ्ग और उत्साह, साहस और स्फूर्ति-रहित भारत की आर्थिक हलचलों का साहित्य पर यह प्रभाव पड़ा है कि हमारा जासूसी और रोमांचकारी साहित्य पश्चिम का अनुकरण मात्र हो कर रह गया है। उसमें बुद्धि के चमत्कार और कल्पना के कौशल का चमत्कृत कर देने वाला रूप नहीं मिलता। सुस्त आर्थिक जीवन ने हमारी साहित्यिक कल्पना को भी सुस्त और अरम्जुद कर दिया है। समस्त प्रेम साहित्य का ढाँचा एक ही सा और इसीलिये प्राय अरन्तुद होता है। उसमें कोई भी बात नई या सजीव नहीं दिखाई पड़ती। अर्थनीति का साहित्य पर दो प्रकार से प्रभाव पड़ा करता है। हमारा आर्थिक जीवन जिस प्रकार का है वह पृष्ठभूमि और विषय बन कर साहित्य में चित्रित हो जाय। गाँधीवादी आर्थिक जीवन इस रूप से हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य में पर्याप्त रूप से चित्रित हुआ है। मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' में चर्खा कातने का उल्लेख हुआ है। सोहनलाल द्विवेदी ने 'भैरवी' नामक काव्य संग्रह में खादी के धागे धागे में अपनेपन का अभिमान भरा जैसा साहित्य लिखा है। आदर्शवादी जीवन के चित्रण में गाँधीवादी आर्थिक जीवन ही मूर्त हो उठता है। प्रेमचन्द की कहानियों और उपन्यासों में भी यह मिलता है। विशेष रूप से 'रङ्गभूमि' के सूरदास का उल्लेख किया जा सकता है। अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर तो कोई कवि कविता लिखने बैठता नहीं। मार्क्स की 'सरप्लस वल्यू तो कविता का विषय नहीं बन सकती। उसके पीछे का दृष्टिकोण अवश्य काव्य का विषय बन सकता है। साहित्य का विषय बन सकता है। उसका ——

१ 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ', पृ० ६५

एव उसके पीछे की रागात्मकता अवश्य साहित्य को जन्म दिला सकती है। गाँधी के आर्थिक सिद्धान्तो म इतनी भावात्मकता है, इतनी तरलता है, इतनी रागात्मकता है कि कभी-कभी वे स्वय काव्य बन जाते हैं। गाँधी का आर्थिक विचार शरीर-श्रम स्वीकार करके श्रमिक और कृषक की महत्ता प्रतिपादित करता है और सोहनलाल द्विवेदी 'भैरवी' मे मानव-जाति के सभी श्रेष्ठ निर्माणो या उत्पादनों को श्रम-सम्भव बताता हुआ कहते हैं—'यह तेरी हिम्मत पर किसान, यह तेरी मिहनत पर किसान', आदि। युग की विचारधारा के प्रभाव को अस्वीकार न करते हुये भी यह कहा जा सकता है कि गांधी की अपनीति एव उसके भी मूल स्रोत गाँधी-दर्शन का प्रभाव है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य मे विशेष मानव की जगह सामान्य मानव की प्रतिष्ठा हो गई है उसका स्वरूप भी गांधीवादी ही है। इस प्रवृत्ति के प्रतीक के रूप म प्रेमचन्द का होरी और सूरदास है। प्रसाद की 'गुण्डा' कहानी का नायक हृदय परिवतन के सिद्धात की सच्चाई सिद्ध करता है। गाधी जी के आर्थिक सिद्धान्तो के परिणाम स्वरूप हमको नये-नये आदर्श वाक्य एव सूक्तियाँ मिल रही हैं जैसे मेहनत सेवा राम की, मेहनत वशी श्याम की।' सिद्धान्त-प्रधान एसा साहित्य अधिक नहीं है क्योकि गाधी जी के ढग पर जीवन बिताने वाले एक तो शुद्ध साहित्यिक न रह कर प्राय राजनतिक कायकर्ता बन जाते थे, गाधी की बू-बास आने मात्र से लेखक सरकार का कोप भाजन बन जाता था, और भाव क्षेत्र मे पहुच कर गाधी के आर्थिक सिद्धान्त नीति धम, और दर्शन बन जाते हैं जिनका विवेचन आगे होना है।

अध्याय ५

शैक्षणिक पृष्ठभूमि

भारत की समृद्धतम शिक्षा—परम्परा—प्राचीन काल में शिक्षा का महत्व—काल विभाजन—ब्राह्मण-शिक्षा-व्यवस्था—बौद्ध शिक्षा-व्यवस्था—मुसलमानी शिक्षा-व्यवस्था—अंग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ—शिक्षा—अनावश्यक पढ़ाई और देहात—शिक्षा के लिए देहात शहर का मुखापेक्षी—शिक्षा की प्रगति—राष्ट्रीयता और शिक्षा—भारत मे शिक्षा—दूषित शिक्षा का परिणाम—सच्ची शिक्षा के प्रयत्न भी असफल—दूषित शिक्षा, दूषित दृष्टिकोण, महाअनय—हिन्दी और हिन्दी वालों का अद्वितीय महत्व—गान्धी और शिक्षा—अंगरेजी अथवा सस्कृत हिन्दी—क्या हिन्दी अंगरेजी की मुखापेक्षी है—आधुनिक शिक्षा—व्यवस्था और हिन्दी साहित्य ।

शैक्षणिक पृष्ठभूमि

भारत की समृद्धतम शिक्षा परम्परा—

इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि किसी देश का भविष्य उस देश की शिक्षा स्वरूप और उसकी प्रगति पर आधारित होता है। हमारी आशाओं और आकांक्षाओं स्वप्नों और कल्पनाओं को मूर्त रूप तभी दिया जा सकता है जब हमारी नई पीढ़ी के लिये अनुरूप अनुकूल, सच्ची वास्तविक तथा उपयोगी और उचित शिक्षा का व्यवस्था सम्भव हो जाय। इस प्रकार की शिक्षा की कल्पना और आयोजना करने में भारत कभी भी अक्षम एवं असमर्थ नहीं रहा। शताब्दियों की निर्मम पराधीनता ने कल्पना के पंख तोड़ दिये हैं, भावनाओं को अशक्त कर दिया है, उद्भावना—शक्ति को अप कर दिया है और मौलिकता विमूर्छित है। आज हम सोच भी नहीं पाते कि यदि अंग्रेज के द्वारा प्रचारित शिक्षा व्यवस्था को छोड़ दें तो कैसे छोड़ दें। हम सोचते हैं कि यदि ऐसा हुआ तो हम असभ्य, पतित मूर्ख-गँवार और पिछड़े हुए रह जायेंगे। आज के भारत के किसी 'बड़े आदमी' को यह विश्वास दिला सकना एक टेढ़ी खीर है, यद्यपि है यह सत्य कि इस तथाकथित सभ्य शिक्षा पद्धति को पाकर हम जितने सभ्य, महान और उन्नत हो सके हैं उससे कहीं अधिक श्रेष्ठ, उन्नत एवं महान् हम तब थे जब इस शिक्षा पद्धति का जन्म ही नहीं हुआ था। जिस देश ने वाल्मीकि, व्यास, कालिदास जैसे कवि पुंगव, गीता उपनिषद् वेद जैसे ग्रन्थों के महानतम प्रणेता, पाणिनि जैसा संसार का सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण राम कृष्ण जैसे महामानव आदि पैदा किये हैं उस देश में कोई असाधारण रूप से श्रेष्ठ शिक्षा व्यवस्था न रही हो यह कैसे सम्भव है! डा० काट लक्ष्मण स्वामी मुदालियर ने बिलकुल सही कहा है, भारतवर्ष शैक्षणिक प्रगति की समृद्धतम परम्पराओं वाला देश है। यहाँ की शिक्षा का इतिहास उन युगों से प्रारम्भ होता है जब आज के तथा कथित अनेक आधुनिक एवं उन्नत देश अभी मूर्खताओं और अज्ञानताओं से पूर्ण अन्ध युगों की आदिम स्थितियों को ही पार कर रहे थे और जब इन देशों में से प्रत्येक के सभ्य नागरिक अभी वृक्षों की डालियों से लटके हुए फाँद ही मचाया करते थे।[1]

प्राचीनकाल में शिक्षा का महत्व—

शिक्षा मनुष्य को ज्ञान और सामर्थ्य देती है। शिक्षा न मिले तो हम न तो विद्या प्राप्त कर सकते हैं न ज्ञान ही। भारतीय संस्कृति में इन दोनों को बहुत ही

---

1 एजुकेशन इन इण्डिया पृ० ६

महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। विद्या हमको मुक्ति प्रदान कराने वाली होती है। कहा गया है —

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुक्ते
कांतेव चापि रमयत्यनीय खेदम्।
लक्ष्मी तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्ति
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥[१]

विद्या विहीन को तो हमारे यहाँ पशु माना गया है। हमारे देश की परम्परा ज्ञान के समान श्रेष्ठ आंख और कोई मानती ही नहीं और कहती है —

ज्ञान तृतीय मनुजस्य नेत्र
समस्ततत्वाय विलोकदक्षम्।
तेजोऽनपेक्ष विगतान्तराय
प्रवृत्तिमत्सव जगत्त्रयेपि॥[२]

संसार के विभिन्न कार्यों को सही ढङ्ग से समझने और उचित ढङ्ग से संपादित करने के लिये समुचित और यथायोग्य अन्तर्दृष्टि हमे ज्ञान से ही प्राप्त हो सकती है। सच्ची शिक्षा से भ्रम का निवारण हो जाता है अज्ञानता का अंधकार हट जाता है कठिनाइयाँ रास्ते से हट जाती हैं, मनुष्य जीवन का वास्तविक महत्व समझने लगता है और इस प्रकार वह एक आदरणीय तथा आत्मनिर्भर नागरिक बन जाता है। ए एस अल्तेकर के शब्दो मे कहे तो "एक शब्द मे यह कहा जा सकता है कि शिक्षा हमारी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियों और सामर्थ्यों के संतुलित और उत्तरोत्तर विकास का प्रवर्तन करते हुए हमारी प्रकृति की कायापलट करके उसे उदात्त एवं प्रोज्ज्वल कर देती है।"[3]

काल विभाजन—

आजकल बौद्धिक क्षमताओं और संभावनाओं के विकास मात्र को ही शिक्षा समझा जाने लगा है। इस दृष्टि से देखने पर भारतीय शिक्षा में तीन युग सामने आते हैं—प्राचीन मध्ययुगीन, और आधुनिक। ए एस अल्तेकर ने भारत की प्राचीन शिक्षा-व्यवस्था का अध्ययन उसे चार भागो मे विभाजित करके किया है[४] —

१ "सुभाषित रत्नभण्डार" पृ० ३०, भाग २
२ 'सुभाषित रत्नसन्दोह" पृ० १६४
३ "एजूकेशन इन ऐंशियन्ट इण्डिया' पृ० २६८
४ वही, पृ० २५६–२६०

(१) वैदिक युग प्रारम्भ से लेकर १००० ई० पू० तक

(२) उपनिषत-सूत्र महाकाव्य काल १००० ई० पू० से २००० ई० पू० तक

(३) धर्मशास्त्र काल या

शुङ्ग-सातवाहन-वाकाटक गुप्त काल २०० ई० पू० स ५०० ई० तक

(४) पुराण और निबन्ध काल —८०० ई० से १२०० ई० तक

इसी अन्तिम युग म बौद्ध शिक्षा व्यवस्था भी आता है। मध्ययुग म मुसलमानी शिक्षा व्यवस्था प्रचलित हुई और आधुनिक युग में अंग्रेजी शिक्षा-व्यवस्था। कोई भी शिक्षा-व्यवस्था एक युग मे प्रचलित होकर बाद म दूसरा युग आने पर पूर्णत नष्ट नहीं हुई। उसका स्वरूप और महत्व अवश्य परिवर्तित हो गया।

ब्राह्मण शिक्षा व्यवस्था—

व्यक्ति और समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप ही प्राचीन भारत का शिक्षा व्यवस्था का विकास हुआ था। ए एस अल्तेकर के कथनानुसार 'ईश्वर भक्ति तथा धार्मिकता की भावना चरित्र निर्माण व्यक्तित्व का विकास, नागरिक तथा सामाजिक कर्तव्यों का पालन, सामाजिक कुशलता (सोशल एफीशियेन्सी) की उन्नति तथा राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और प्रसार प्राचीन भारत मे शिक्षा के मुख्य उद्देश्य एव आदर्श थे।[1] यह ठीक है कि शिक्षा आजीविका की समस्या को हल करने म भी समर्थ है किन्तु "प्राचीन भारत म शिक्षा को जीविका का साधन नहीं माना गया और जिन्होंने ऐसा मत व्यक्त किया उनकी घोर निन्दा की गई।"[2] अस्तु महान् लक्ष्य को सामने रख कर भारतीय मनीषियो ने भारत म शिक्षा का प्रारम्भ किया था। हमारे यहाँ शिक्षा की भूमिका यों तो गर्भाधान की रात्रि से पूर्व से ही उनकी प्रारम्भ हो जाती थी किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से भारतीय शिक्षा-तन्त्र को मुख्य रूप से तीन श्रेणियों म विभाजित किया जा सकता है—माता क प्रभाव स होने वाली शिक्षा और संस्कार, पिता के प्रभाव से होने वाली शिक्षा और संस्कार तथा आचार्य के प्रभाव से होने वाली शिक्षा और संस्कार। आजकल हम अन्तिम को ही शिक्षा की संज्ञा दी गई है। आगे इसी प्रकार की शिक्षा के स्वरूप पर दृष्टिपात किया जायगा।

एफ ई की ने लिखा है भाषा का शास्त्रीय ज्ञान और स्तोत्र पिता के द्वारा पुत्र को प्रदान किया जाता था और इसम कोई सन्देह नहीं कि ब्राह्मण युग की शिक्षा का प्रारम्भ इसी से होता है।'[3] शुरू-शुरू मे शिक्षा केवल ब्राह्मण-पुरोहित-वर्गो के

१ एजूकेशन इन एंशियन्ट इण्डिया", पृ० ८–६

२ 'भारत म शिक्षा' लेखक वी पी जौहरी और पा डी पाठक, पृ० १०

३ 'ए हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान' पृ० २–३

ही लिये थी। इसीलिये उस आदि युग की पाठशाला को 'पुरोहित शाला' की संज्ञा दी जा सकती है। पुरोहित का कार्य करने के लिए ब्राह्मणों के छोटे-छोटे बच्चों को शिक्षा दी जाती थी। बाद में अर्थात ५०० ई० के आस पास से क्षत्रिय और वैश्य भी पढ़ने लगे। उपनयन संस्कार के बाद बालक की शिक्षा प्रारम्भ हो जाती थी। ब्राह्मण बालक की शिक्षा पाँचवें वर्ष से क्षत्रिय बालक की शिक्षा छठवें वर्ष से, और वैश्य बालक की शिक्षा आठवें वर्ष से प्रारम्भ होती थी। नये छात्र का जीवन कठोर संयम, अनुशासन और अथक परिश्रम का जीवन होता था। छात्र गुरु के आश्रम में रहता था और गुरु के घर और खेत का काम किया करता था। वह गुरु के अग्निहोत्र का सारा प्रबन्ध किया करता था। पशु चारण और भिक्षान्न भी इसी का दायित्व था। गुरु का देवता और धर्म-पिता की तरह आदर किया जाता था। छात्र गुरु की आज्ञाओं का सदा प्रतीक्षा किया करता था। योग्य और प्रख्यात गुरु की खोज में शिष्य बहुत दूर दूर तक जाया करते थे और मिल जाने पर हर प्रकार उसे प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे। गुरु की सेवा से जब अवकाश मिलता था तब वेदाध्ययन होता था। शिष्य केवल दो बार भोजन करता था। उसका भोजन पूर्णरूपेण सात्विक होता था। अति भोजन उसके लिये वर्जित था। हाथ में दण्ड होता था और कमर में मूँज की मेखला। वस्त्र साधारण होते थे और वे सिले हुए नहीं होते थे। अलंकार और प्रसाधन उनके लिये पूर्णत वर्जित थे। उन्हें सादी आदतों की शिक्षा दी जाती थी। कहा गया है—"विद्यार्थी भवेद् वा सुखार्थी भवेत् अथवा सुखार्थिन कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिन सुखम्। इसीलिये दैनिक स्नान तपस्वियों जैसा जीवन दिन में न सोना अपने स्वभाव पर नियन्त्रण आचरण मर्यादा पर अनुशासन का संयम संध्या-वन्दन और हवन तथा अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन उनके जीवन का स्वरूप था। शिक्षा की अवधि एक वर्ष में साढ़े चार या पांच महीनों तक की होती थी, अर्थात् वर्षा ऋतु और जाड़े की ऋतु में अध्ययन-अध्यापन होता था। एक वेद में पारंगत होने के लिये लगभग बारह वर्षों का समय लगता था और इस प्रकार चारों वेदों के अध्ययन में अड़तालीस वर्ष लग जाते थे। सभी छात्र चारों वेद नहीं पढ़ते थे। साहित्य तथा धर्मशास्त्र का अध्ययन दस वर्षों में समाप्त हो जाता था। गुरु ब्रह्मनिष्ठ हुआ करते थे। अपराधी छात्रों को कठोरतम दण्ड मिलता था। शिक्षा निःशुल्क होती थी। शिक्षा की समाप्ति पर समावर्तन संस्कार होता था और इस समय शिष्य को गुरु की इच्छा के अनुरूप गुरु-दक्षिणा चुकानी होती थी। ए० एस० अल्तेकर ने लिखा है कि भारतीय शिक्षा प्रणाली में किसी भी प्रकार की वार्षिक या नियत कालिक परीक्षा का कार्यक्रम नहीं था। नया पाठ तब

दिया जाता था जब आचार्य सन्तुष्ट हो जाता था कि शिष्य ने पुराने पाठ को पूर्णरूपेण हृदयगम कर लिया है। शिक्षावधि की समाप्ति किसी बड़ी लम्बी या विस्तृत परीक्षाओं के परिणामस्वरूप नहीं होती थी। छात्र को केवल अन्तिम पाठ सुना देना होता था और उसकी व्याख्या भी करनी होती थी। न किसी प्रकार की डिगरी दी जाती थी न डिप्लोमा।[१] शिक्षा प्रणाली व्यक्ति-प्रधान थी। पहले गुरु प्रत्येक शिष्य को अलग-अलग पढ़ाता था। कभी कभी सामूहिक रूप से भी पढ़ा दिया जाता था। कुछ आय-ग्रन्थों को रटना भी पड़ता था। शिक्षा बाह्य नियन्त्रण से पूर्णतः मुक्त थी। स्त्री शिक्षा का भी विधान था। व्यावसायिक शिक्षा की भी व्यवस्था थी। दीक्षा और प्राय शिक्षा भी कार्यशाला (वर्कशाप) में ही होती थी। इस क्षेत्र में अध्ययन के विषय का निर्णय प्राय पितृ परम्परा के अनुसार होता था। यह सब समाज विशेष की देख रेख में होता था। अध्ययन का मुख्य स्थान था गुरुकुल। कभी-कभी परिषदों सम्मेलनों और राजदरबारों में भी जाकर लोग शिक्षा ग्रहण किया करते थे। अध्ययन के विषय थे —रेखा-गणित बीज-गणित, सामान्य गणित फलित ज्योतिष, खगोल विद्या, शरीर विज्ञान, औषधि विज्ञान व्याकरण दर्शन, धर्म शास्त्र, विधि शास्त्र अर्थात कानून, भूगोल, व्यापार, भाषा युद्ध-कला अस्त्र शस्त्र विज्ञान राजनीति वेद इतिहास पुराण, पौराणिक कथाएँ, उपनिषद् नीतिशास्त्र सर्प विद्या ब्रह्म विद्या, भूत विद्या शास्त्र विद्या। इस शिक्षा व्यवस्था में कुछ ऐसे ठोस एवं शाश्वत महत्व के तत्व थे कि सहस्राब्दियों के बीत जाने के बाद आज भी वे किसी न किसी रूप में भारत के अन्दर मिल ही जाते हैं। एफ ई की ने ठीक ही लिखा है "प्रारम्भ से लेकर आज तक ब्राह्म शिक्षा पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ लगभग वैसी ही की वैसी ही रह गई।[२]

बौद्ध शिक्षा व्यवस्था—

बौद्ध युग की शिक्षा पद्धति आर्यों की शिक्षा पद्धति से कुछ भिन्न थी। इस युग की शिक्षा का आधार वैदाध्ययन मात्र ही नहीं था। अध्यापक गण प्राय ब्राह्मण या पुरोहित मात्र ही नहीं हुआ करते थे। यहाँ शिक्षा केवल तीन उच्च वर्णों के ही लिये न होकर सबके लिये थी। छात्रों का यह कर्तव्य था कि वह आचार्य अर्थात शिक्षक की सेवा सभी प्रकार से करे। गुरु-सेवा, शिक्षा की प्रमुख विशेषता थी जिसके बदले में आचार्य शिष्य को सभी प्रकार की बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा देता था। गुरु में ऐसा कर सकने की क्षमता होती थी क्योंकि गुरु या आचार्य वही हो सकता था जिसने

---

१ "एजूकेशन इन ऐंशियेंट इण्डिया", पृ० २७३ २७४।

२ 'ए हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान', पृ० १६।

अन्दर उच्चकोटि की नैतिकता आत्मनिग्रह बुद्धिमत्ता, योग्यता, निर्भीकता, विनम्रता धर्म भीरता के साथ-साथ पाप से डर, अनाचारिता का अभाव, सुशिक्षण-सामर्थ्य, आदि विशेषताएँ हों। बुद्धसंघ में दीक्षित होने पर प्रत्येक नवागतुक को एक आचार्य की देख रेख और उसके नेतृत्व में दस वर्षों तक रहना पड़ता था। प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात नवागन्तुक 'श्रमण' हो जाता था। बीस वर्षों के पश्चात् उसे 'उपसम्पदा' मिलती थी और तब वह 'भिक्खु' कहलाता था। श्रमण को 'सिद्धिविहारिका' भी कहा जाता था। इस युग की शिक्षा अधिकांशतः बौद्ध भिक्षुओं और आचार्यों के ही हाथों में थी। इस पर उनका एकाधिकार सा था। एक आचार्य अनेक नवान्तुकों को पढ़ा सकता था। छात्र की प्रगति एवं उसके कल्याण का दायित्व आचार्य के ऊपर होता था। इस युग की शिक्षा दो भागों में विभक्त थी—सामान्य और विशेष या उच्चतर। स्त्री शिक्षा का भी विधान था क्योंकि नारियों को भी प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति गौतम बुद्ध का दनी पनी थी। इन भिक्षुणियों के लिये पहले अलग पाठशालाएँ थीं। बाद में इनका स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो गया। इतने पर भी नारी-शिक्षा समाप्त नहीं होने पाई और बुद्ध युग में अनेक सुशिक्षिता भिक्षुणियों के नाम मिलते हैं जैसे—सघमित्रा शुभा, अनुपमा सुमेधा प्रभुदवी शिलाभट्टारिका, विजय नका नयनिका, प्रभावती गुप्त आदि। ये महिलाएँ बड़े घरों की थी। सामान्यतः नारी शिक्षा को बहुत अधिक प्रोत्साहन नहीं मिल सका। व्यावसायिक शिक्षा इस युग में भी दी जाती रही। मेगास्थनीज को भारत के समाज में दर्शन और विज्ञान के प्रति आदर और रुचि मिली थी।[1] तर्कशास्त्र और औषधि विज्ञान भी अध्ययन के महत्वपूर्ण विषय थे। बौद्ध धर्म और दर्शन का अध्ययन-अध्यापन विशेष रूप से होता था। कताई बुनाई कपड़े की छपाई सिलाई गणना चित्रकला, आयुर्वेद, शल्य, लिखाई, आदि का भी अध्यापन होता था। गुरुकुल प्रणाली की जगह इस युग में शिक्षा की विहार प्रणाली प्रचलित हुई। तक्षशिला नालंदा वल्लभी विक्रमशिला ओदन्तपुरी, नादिया, मिथिला जगद्दाल आदि इस युग में शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे।

मुसलमानी शिक्षा-व्यवस्था—

भारतीय शिक्षा के इन महत्वपूर्ण केन्द्रों को मुसलमान आक्रमणकारियों ने बुरी तरह से नष्ट किया। पुस्तकालयों में लगाई गई आग महीनों तक नहीं बुझी। ११८२ ई० में मुहम्मद गौरी ने भारत पर आक्रमण किया और अजमेर के मन्दिरों को तोड़ कर उनकी जगह मस्जिदों और स्कूलों को बनवाकर भारत में मुसलमानो

१ एजूकेशन इन इण्डिया", लेखक अरकाट लक्ष्मणस्वामी मुदालियर पृ १४—

अंग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ—

यह सब चल ही रहा था कि अंग्रेज आ गये और वह देशी शिक्षा व्यवस्था जो युग के अनुकूल अपने में बहुत परिवर्तन करके भारत की कल्याणकारिणी शिक्षा पद्धति बन सकती थी उपेक्षित हो गई। टामस मुनरो, एल्फिन्स्टन और एडम आदि देशी शिक्षा के पुनरुत्थान के समर्थक थे परन्तु उनके प्रस्तावों पर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया। पाश्चात्य मिशनरियों ने ईसाई धर्म प्रचार के लिये आधुनिक शिक्षा का सूत्रपात कर दिया। १७८२ में [illegible] ग्रान्ट ने यह विचार प्रकट किया कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार किया जाना चाहिए। बाद में राजाराम मोहन राय ने भी इसी मत का समर्थन किया। मैकाले तो इनसे बढ़ कर प्रबल समर्थक थे। १८०० में 'फोर्ट विलियम कालेज' का शिलान्यास हुआ ताकि कम्पनी के तरुण कर्मचारियों को उचित शिक्षा दी जा सके। कूटनीति और कुटनीति के विधायक साम्राज्यवादी शासकों ने एक ओर जगह जगह अंग्रेजी स्कूल खोलना आरम्भ किया और दूसरी ओर हिन्दुओं और मुसलमानों को प्रसन्न रखने तथा उन्हें शिक्षित करने के लिये बनारस संस्कृत कालेज के साथ साथ 'कलकत्ता मदरसा' भी खोल दिया। १८५४ में सर चार्ल्स वुड ने "भारत में अंग्रेजी राज्य का मैग्नाकार्टा" उपस्थित किया क्योंकि १८१३ से १८३३ तक की अनिश्चयात्मक नीति को १८३८ में ऑकलैंड ने समाप्त कर दिया था और भारत में वर्तमान अंग्रेजी शिक्षा की नींव डाल दी थी। यह एक रोचक संयोग की बात है कि १८५७ में भारतीय स्वतन्त्रता का प्रथम विद्रोह हुआ था और उसी वर्ष भारतीय बुद्धि और चेतना का विकृत अभ्यास और नियन्त्रण करने वाली विश्व विद्यालयीन शिक्षा का सूत्रपात हुआ अर्थात् कलकत्ता, बम्बई, और मद्रास के विश्व विद्यालय बने। १८८२ में एक 'एजूकेशन कमीशन' बना और १९०२ में एक 'यूनिवर्सिटीज कमीशन'। लार्ड कर्जन ने अपने शासन काल में विश्वविद्यालयीन शिक्षा को एक सुव्यवस्थित रूप दे दिया था।

शिक्षा—

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में होते होते भारतवर्ष की न तो कोई अपनी राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति रह गई थी और न राष्ट्रीय शिक्षा का कोई स्वरूप ही सामने था। पुराने ढंग के मुसलमान अपने बच्चों को मकतबों में कुरान रटवाते थे और पुराने ढंग के ब्राह्मण संस्कृत पाठशालाओं में अपने बच्चों को 'सिद्धांत कौमुदी' रटवाते थे। इनका लक्ष्य था बच्चों को इस योग्य बना लेना कि वे श्रीमद्भागवद् अथवा सत्यनारायण जी की कथा बाँच सकें, संस्कार सम्पन्न करवा सकें और "पत्तरा" देख सकें। संस्कृत साहित्य के विधिवत एवं व्यवस्थित अध्ययन का कोई भी प्रबन्ध नहीं था।

इधर-उधर बिखरे हुए विद्वान् दस-दस बारह बारह विद्यार्थी लेकर अपने अपने घरों पर उन्हें पढ़ाते थे। यह काम कभी-कभी संन्यासी भी किया करते थे। संस्कृत पढ़ने की इच्छा रखने वाले छात्रों अथवा उनके अभिभावकों को ऐसे विद्वानों की प्रायः खोज करनी पड़ती थी और व्यक्तिगत रूप से उनके घर पर जाकर पढ़ना पड़ता था। किसी निश्चित व्यवस्था के अभाव में ये विद्वान अपनी अपनी रुचि अपनी-अपनी सनक के अनुसार पढ़ाया करते थे। ये नितान्त निराकांक्षी हुआ करते थे। प्रदर्शन से दूर भागते थे। इनकी ख्याति भी प्रायः नहीं होती थी। बनारस आदि धर्मस्थानों में संस्कृत के अध्ययन की थोड़ी बहुत व्यवस्था थी। कभी-कभी उदार प्रवृत्ति के लोग यहाँ के अध्यापकों और इन पाठशालाओं को दान-दक्षिणा भी दे दिया करते थे। बनारस संस्कृत अध्ययन का केन्द्र था। इन असंख्य तपस्वी दधीचियों की हड्डियों पर तथा धार्मिक सांस्कृतिक अनुरागता के कारण ही संस्कृत भाषा और साहित्य का अध्ययन लुप्त होने से बच गया और आज फिर उसके गौरव की अनुभूति हम करने लगे हैं।

अनावश्यक पढ़ाई और देहात—

इसके अतिरिक्त देहात के निवासी को विशेष पढ़ने लिखने की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं होने पाता था। पढ़ाई नौकरी के लिए थी और देहात के आदमी को करवानी थी खेती। अधिकांशतः तो लोगों ने अक्षरज्ञान भी नहीं प्राप्त किया। सदा अँगूठा लगाने को तैयार रहते थे। किसी किसी गाँव में प्राइमरी स्कूल अवश्य थे जिनमें दो-दो तीन-तीन मील दूर से लड़के पढ़ने के लिए आया करते थे। ये लड़के झुण्ड बनाकर आया करते थे। इन्हीं लोअर प्राइमरी स्कूलों में से अनेक के साथ-साथ अपर प्राइमरी स्कूल भी होते थे। कस्बों के प्राइमरी स्कूलों के छात्रों के लिए कहीं-कहीं छात्रावास भी होते थे। जो छात्र उनमें नहीं रह पाते थे वे धर्मशाले, ठाकुरद्वारे अथवा सम्बन्धियों के घर ठहर जाया करते थे। नंगे सिर स्कूल अर्थात् मदरसे जाना कायदे के खिलाफ था। जूता भी पहनना अनुचित था। बरसात में खूँटीदार खड़ाऊँ चलती थी। साल में दो-तीन महीने की पढ़ाई होती थी। शेष समय गुरु-सेवा अथवा खेल-कूद में बीतता था। प्रायः लोग उर्दू पढ़ते थे। उन्हें पट्टी पर स्याही से लिखना पड़ता था। हिंदी वाले अपनी पट्टी को कजली से पोतकर घुटने (बोतलों के नीचे का भाग) से रगड़ कर उसे चमकाकर घुली हुई खड़िया मिट्टी से लिखते थे। कभी-कभी पंडित जी चारपाई पर बैठ कर भी पढ़ाते थे। पढ़ाते-पढ़ाते सो भी जाते थे। मुंशी जी के जगने के पहले लड़के हुक्का भरे तैयार रखते थे। पाठ न याद रहने पर या अशुद्धियों और भूलों पर विद्यार्थी के ऊपर छड़ियाँ बरसती थीं। यह सामान्य प्रवृत्ति

थी। इसे न मास्टर बुरा मानता था, न सरकार, और न, आगे चल कर स्वयं छात्र ही। मिडिल स्कूल के हेडमास्टर सातवें दर्जे के छात्रों को रात में भी पढ़ने के लिए स्कूल में बुलाते थे जहां उनकी देखभाल में छात्र रात रात भर रहते थे। पढ़ाई का स्वरूप रटनात्मक था। मनोवैज्ञानिकता के लिए कोई भी गुंजाइश नहीं थी। इस कक्षा में विद्यार्थियों के लिए खेल-कूद एवं मनोरंजन सभी वर्जित थे। प्राइमरी स्कूलों, आदि की कुछ वार्षिक परीक्षाओं के लिए विद्यालय निरीक्षक, उपनिरीक्षक अथवा उनके भी अधीनस्थ निरीक्षक पहुँच जाया करते थे। पास (उत्तीर्ण) होने पर विद्यार्थियों को हक (अधिकार) देना होता था। हेडमास्टर का "हक" दो रुपये, देवता का "हक" पांच आने का 'परसाद', और पंडितों तथा मौलवियों, आदि का हक पेड़े या बताशे या लड्डू, आदि होता था। अपर प्राइमरी परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद मेधावी छात्र वजीफा पाने के लिए एक अतिरिक्त परीक्षा देते थे। अध्यापक गण बड़े ही निष्ठावान एवं 'पंडित जी बड़े ही कर्मरागी' हुआ करते थे। प्रतिदिन स्नान, किसी का छुआ न खाना, पूजापाठ आदि में किसी भी प्रकार का व्याघात असह्य था। इनका वेतन इतना कम होता था कि बिना "हक" अर्थात् भेंट लिए या दानी लिये इनका जीवन-यापन हो भी नहीं सकता था। प्रायः गांव वाले मास्टर साहब, मुंशी जी या पंडित जी के पास कुछ न कुछ भेजवाया ही करते थे। सम्भवतः यह प्रवृत्ति उस उस प्राचीन हिन्दू-परम्परा से प्राप्त थी जिसके अनुसार गुरु के जीवन-व्यापन की सुविधाएँ देते रहने का दायित्व पूर्णतः गृहस्थों पर ही था। लिखना पढ़ना गिनती पहाड़ा अंकगणित हिन्दी, उर्दू, इतिहास, भूगोल, आदि सामान्य विषय थे। प्राइमरी स्तर पार करते-करते छात्र लिखना पढ़ना और हिसाब लगाना जानने लगता था। शेष विषयों की सामान्यतम जानकारी वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूलों में कराई जाती थी। देहात के तेज लड़के पढ़ने के लिए कस्बों में भेजे जाते थे। स्कूल और उसके आस-पास के क्षेत्र में हेडमास्टर का रौब बहुत रहता था। लड़के और मास्टर उनसे कांपते रहते थे और लड़कों के अभिभावक उनका अपार आदर किया करते थे। अंग्रेजी सरकार ने हमारे देहातों के लिए ऐसी अमनोवैज्ञानिक, अव्यवस्थित, उपेक्षापूर्ण, बुद्धि और शरीर के लिए हानिप्रद और जीवन के लिए अनुपयोगी शिक्षा की व्यवस्था की थी और वह भी पूर्णतः अपर्याप्त। १९२१ में हमारे देश के अन्दर १५५०१७ प्राइमरी स्कूल थे और ६१०९७५२ छात्र। १९३७ ई० में स्कूलों की संख्या १९२२२४ हो गई और छात्रों की १०२२४२८८। भारत के प्रायः ७० लाख गावों के बच्चों की शिक्षा दीक्षा के लिए, जिन पर इस देश की सुख समृद्धि आधारित है, इस देश की सरकार के पास ऐसी शिक्षा-योजना थी? कोई आश्चर्य नहीं कि १९३१ की जनगणना के अनुसार भारत के ८९ नगरों को छोड़ कर शेष भारत में केवल ७.५ प्रतिशत जनता पढ़ी लिखी थी।

शिक्षा के लिये देहात और शहर का मुखापेक्षी—

देहात की शिक्षा यहीं तक पहुंचती थी। इसके आगे या इसके अतिरिक्त हमारी शिक्षापद्धति में देहात के लिये महाशून्य था। बहुत हुआ तो बालक किसी नामल स्कूल में भर्ती हो कर इन्हीं प्राइमरी स्कूलों में फिर पढ़ाने आ जाता था। इसके आगे शहर का मुँह देखना पड़ता था। देहात की शिक्षा व्यवस्था रूपी जमुना, स्पेशल क्लास रूपी प्रयाग में आकर शहर की शिक्षा व्यवस्था रूपी मैकाले की जाह्नवी में समा जाती थी। लिखना, पढ़ना, और गणित की प्रारम्भिक जानकारी के पश्चात् बालक तीसरी, चौथी, पांचवी, छटी सातवी, आठवी, नवी कक्षाएँ पास करता हुआ हाई स्कूल की परीक्षा पास करता था। तदुपरान्त इण्टर, बी० ए०, और एम० ए० की परीक्षाएं होती थी। यह अन्तिम कक्षा थी। इसके पश्चात् प्राय बी० ए० के पश्चात् ही छात्र या तो एल एल० बी० पास करके वकील-एडवोकेट बनते थे, या सी०टी० अथवा एल० टी० करके अध्यापक। अधिकाधिक अंक प्राप्त करने वाले छात्र विश्वविद्यालयों के विभागीय अध्यक्ष की सेवा करके उन्हें प्रसन्न करने के पश्चात् विश्वविद्यालयों में पढ़ाने के लिये नौकरी पा जाते थे। कुछ खानदानी लोग या कुछ ऐसे लोग जो सिफारिशें करवा कर 'साहब' को खुश करवा सकते थे, प्रतियोगिताओं में बैठ कर कानूनगो, नायब-तहसीलदार डिप्टी कलेक्टर, पुलिस अफसर, रेलवे अफसर जनरल के अफसर या ऐसे ही कुछ बन जाते थे। समाज के अधिकतर प्रतिभावान् सदस्य अपना जीवन "किलरकी' (क्लक-काय) में बिताते थे। प्रतिभा पाने का फल अथवा 'तरक्की' करने का तात्पर्य यही था कि अँगरेजी पढ़ कर सरकारी नौकरी पा ली जाय। डिप्टी कलक्टरी से बड़े ओहदे की सामान्यत कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। देहाती समाज के जो प्रतिभाशाली छात्र अपने खानदान को रौशन करना या धन्य बनाना चाहते थे उन्हें अँगरेजी पढ़ कर सरकारी नौकरी पा लेने वाली बहादुरी अवश्य दिखानी चाहिए थी। लोग बड़े गर्व से कहते थे कि हमारे लड़के को जेल भेज देने तक का अख्तियार मिला हुआ है। वैसे, देहात वालों के लिये ब्रह्मा विष्णु महेश, तोना, की शक्तियां एकमात्र "दरोगा" में ही निहित थी। वे इससे बड़े पद की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। इसके लिये यह आवश्यक था कि देहात का तेज लड़का प्रथम श्रेणी में वर्नाक्यूलर परीक्षा पास करके शहर जाय। वहां गर सरकारी स्कूलों में प्राय एक 'स्पेशल क्लास' होता था जिसमें एक साल तक देहात से आए हुए ऐसे लड़कों को मात्र अँगरेजी रटाई जाती थी और रटा रटा कर उन्हें इतना ज्ञान करा दिया जाता था कि अगले साल वे सातवीं कक्षा में उन लड़कों के बराबर बैठ सकें

जो तीसरी चौथी, पांचवी और छठवी कक्षाएं पास करते हुए आये हैं। वहां वे लड़के अंगरेजी और विज्ञान के अतिरिक्त वे सारे विषय वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल की सातवीं कक्षा पास करके पढ और रट कर आते थे जो यहां आठवीं और नवीं कक्षाओं तक पढाये जाते थे। परिणामतः अंगरेजी में वे कम अच्छा अंक पाते थे और शेष विषयों में ये। मनोरंजक स्थिति कक्षा के बाहर आती थी। रहन-सहन की विषमता का द्वंद्व इन छोटे बच्चों में विचित्र रूप में दिखाई पड़ता था। बरसों देहात के लड़के शहर के लड़कों के साथ घुलमिल नहीं पाते थे। बाद में इनमें मेल हो जाता था क्योंकि देहात के लड़के प्राय तेज होते थे और उनके साथ "सह-अध्ययन शहर के लड़कों के लिये लाभदायक होता था। और फिर इतने दिनों तक साथ रहने के कारण उनका ('कल्चरल ऐडजस्टमेन्ट") सांस्कृतिक समीकरण सम्भव भी हो उठता था। नहीं तो एक ओर नंगे पर, सिर पर टोपी जिसके नीचे उस्तरे से घुटे या नहन्नहें बाला वाले सर घुटनों से थोड़े ही नीचे तक धोती या लट्ठे का पायजामा बदन पर मामूली कपड़े की कमीज, चहरे पर देहाती वातावरण की शुष्कता, और दूसरी ओर अंगरेजी फैशन से कटे हुए बाल जिनमें सुगंधित तेल और जो कायदे-करीने से बढ़े हुए बढ़िया कालरदार कीमती कपड़े की कमीज, नेकर या पतलून, मोजा और फैंसी जूता, मुलायम खाल, सुस्निग्ध आनन! एक ओर देहाती बोली, दूसरी ओर सभ्य लहजे! एक ओर विकर्षक व्यक्तित्व दूसरी ओर खुशबूदार आकर्षक देव पुत्र! एक ओर कांटे, दूसरी ओर फूल!! शहर के लड़के इन लड़कों को 'मिडिलची' कहकर पुकारते थे जिसका अभिप्राय था मिडिल पास गंवार असभ्य!

शिक्षा की प्रगति—

एस० एन० मुकर्जी का विचार है कि गत युगों में शिक्षा की जो प्रगति रही और उसका जैसा विकास हुआ वह उतना भी नहीं था जितने की आशा हमारी जनता का एक महत्वपूर्ण भाग कर रहा था।[१] प्रगति धीमी थी गैर सरकारी प्रयत्नों को प्रोत्साहन नहीं मिलता था और प्राइमरी शिक्षा की उपेक्षा की जाती थी। सैयद नूरुल्ला और नायक के अनुसार १८०१–२ ई० के आसपास शिक्षा प्रसार का सर्वाधिक कार्य भारतीय समाज के उदारचेता व्यक्तियों और संस्थाओं ने व्यक्तिगत रूप से प्रारम्भ कर दिया था। १९०४ ई० में लार्ड कर्जन ने इस दिशा में कुछ प्रयत्न किये और विश्वविद्यालय अधिनियम पारित हुआ। कालेजों को विश्वविद्यालयों से सम्बन्ध करने की भी अनुमति मिलने लगी। कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन ने अपनी रिपोर्ट के प्रथम

१ हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन इंडिया, पृ० १५३।

भाग के ४८ व पृष्ठ पर लिखा है कि विश्वविद्यालयो की डिगरी लोगो की आकांक्षाओ का केन्द्र थी, सरकारी नौकरियो की विशेष योग्यता का पासपोट थी और विद्वत्ता सम्बन्धी व्यवसायो की योग्यता का प्रमाणपत्र थी। १६०२ ई० म इण्डियन यूनीव सिटीज कमीशन ने लिखा था कि भारत मे विश्वविद्यालयीन शिक्षा का सबसे बडा दोष यह है कि यहा अध्यापन एव प्रशिक्षण परीक्षाओ का दास है न कि परीक्षा अध्यापन एव प्रशिक्षण की दासी। विद्यार्थी रटट् मशीन हो रहे हैं और शिक्षा की कसौटी हो रही है मात्र स्मरणशक्ति। महादेव गोविन्द रानाडे के प्रयत्नो के परिणामस्वरूप १८०१ ई० म पहली बार बम्बई विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा म आधुनिक भारतीय भाषाए भी सम्मिलित की गई। एस० एन० मुकर्जी ने लिखा है कि १६०१ ई० की जनगणना के अनुसार प्रत्येक १००००० नारियों म १० हिंदूनारियां और ४ मुसलमान नारिया अ ग्रजी जानती थी। उस वष पूरे भारतवष म प्रति १००० पर ४६ व्यक्ति पढना-लिखना जानते थे।[1] इस बीसवी शता म शिक्षा के विकास की प्रगति का कुछ अनुमान इन आकडो को देखकर किया जा सकता है कि प्रति एक हजार व्यक्ति पर १६०१ मे ४६ १८२१ म ७१ १-३१ म ८० १६४१ म १२१ और १६५१ म १६६ व्यक्ति पढना लिखना सीख सके थे। ५० वर्षो म सरकार के अक्थनीय सद्प्रयासो के परिणामस्वरूप प्रति सहस्त्र कुल १२० लोग अधिक पढे। सरकार की कितनी गौरवपूर्ण उपलब्धि है! वास्तविकता से अनभिज्ञ व्यक्ति यह कहे बिना रह ही कसे सकता है कि भारतीय बडा ही मूढ और काहिल होता है!! हटर कमीशन ने ईसाइ धम और अ ग्रजी शिक्षा दानो को दो अलग-अलग तत्व घोषित करके बडा अच्छा काम किया था। कुछ भी हो किन्तु १६०४ के भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम न अपनी सीमाओ क बावजूद भी भारतीय शिक्षा के हर क्षेत्र म सुधार किये। व्यापक दृष्टि से देखने पर यह प्रयास एस० एन० मुकर्जी के शब्दो म, अनमना प्रयास था। इसने एक व्यवस्था स्थापित कर दी। इसी बीच लार्ड कर्जन ने एंशिएन्ट मान्यूमेन्ट प्रीजरवेशन अधिनियम पारित करवाया और इस काय के लिए एक विभाग खोला। इस विभाग के कार्यो ने आगे चलकर प्राचीन भारतीय गौरव की भावना को सजीव एव सबल बनाने मे सहायता दी। इसमे आधुनिक हिन्दी साहित्य के सास्कृतिक स्वरूप को निर्धारित करने म बडी मदद मिली। लार्ड कर्जन के काम तो अच्छे थे किन्तु उसका उद्देश्य अच्छा नही था। वह शिक्षा को सरकारी अफसरो के आधीन राष्ट्रीयता की विनाशक, प्रगति विरोधिनी और जनता की आजादी की भावना को खत्म करने वाला बनाना चाहता था।

१—वही पृ० १७७-१७८

नामक शत्रुता प्रधान एव आक्रोशात्मक दृष्टिकोण ने शिक्षा के क्षेत्र मे क्रांति का आहवान किया। दूरदर्शी आय समाज ने पहले से ही इस आवश्यकता का अनुमान कर लिया था और डी० ए० वी० कालेजो तथा गुरुकुलो की स्थापना प्रारम्भ हो गई थी। गुरुकुल कागडी की स्थापना १६०० ई० मे ही हो गई थी। इन्द्र विद्यावाचस्पति ने लिखा है कि इन सबकी मूल भावना तो यह थी कि शिक्षा क्रम को अधिक भारतीय बनाया जाय।[1] आय समाज, टगोर, गाधी, ईसाईयत, इस्लाम तथा इगलण्ड, आदि का हमारी शिक्षा से घनिष्ठतम सबध था। हम थोडे बहुत सबसे प्रभावित हुए। राष्ट्रीय शिक्षा सस्थाओ मे पाठ्यक्रम प्राय अंगरजी शिक्षा व्यवस्था का ही रहता था। शिक्षा का माध्यम अंगरजी की जगह हिंदी या उर्दू कर दिया जाता था। बेसिक शिक्षा का भी गाधी जी न प्रयोग किया और उसे अखिल भारतीय स्तर पर चलाया गया। १६२१ से १६३७ के बीच शिक्षा के क्षेत्र म अनेक प्रयोग हुए। आय समाज के गुरुकुल, टैगोर की "विश्व भारती' कर्वे का महिला विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, जामिया मिल्लिया, आदि इसके प्रमाण हैं।

भारत मे शिक्षा—

भारतवष मे जनता की निजी सस्थाओ ने आरम्भिक तथा उच्चकोटि की ओर कला कौशल सबधी शिक्षाओ के लिये बडा उद्योग किया है और कर रही है। १८५०-५१ मे भारत म कुल २८० २१७ शिक्षा सस्थाए थी जिनम पढने वालो की सख्या २५, २५६, ३३६ अर्थात् समस्त जनसख्या का ५ प्रतिशत थी। १८४८-४६ म इगलण्ड में प्रति व्यक्ति शिक्षा-व्यय ७४ ५ रुपये, अमेरिका म १६४५-४६ म, ६७ ३ रुपये, और भारत म १६४८-४८ म कुल २ ३ रुपये था। लाला लाजपत राय ने लिखा है, 'समस्त भारत मे बँटी योरोपियन जनसख्या पर जो २ लाख से भी कम है, यह प्रति वष प्रति व्यक्ति २५ रुपया से भी अधिक पडता है। अब इसकी तुलना प्रति भारतीय की शिक्षा के लिय व्यय की गई तुच्छ रकम से कीजिए। कोई राष्ट्रीय शासन कभी शिक्षा को इतनी तुच्छ वस्तु समझ सकता है जितना कि वर्तमान सरकार भारत के लिये समझ रही है इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।'[2] १६०१ मे १० वर्षो से ऊपर की आयु क ११ ५ प्रतिशत पुरुष, ० ७ प्रतिशत महिलाएँ, १६११ म १२ ६ प्रतिशत पुरुष और १ १ प्रतिशत

---

१ भारतीय संस्कृति का प्रवाह , पृ० १८५।

१, "दुखी भारत" , पृ० ८३।

महिलाएँ, १८२१ में १४२ प्रतिशत पुरुष और १८ प्रतिशत महिलाएँ, १८३१ में १५.६ प्रतिशत पुरुष और २४ प्रतिशत महिलाएँ, १९४१ में २७४ प्रतिशत पुरुष और ६.६ महिलाएँ और १९५१ में २४.९ प्रतिशत पुरुष और ७.९ प्रतिशत महिलाएँ साक्षर थीं। भारत में कुल मिलाकर १९२१ में २२, ६०३, ६५१, १८३१ में २३९८४२००, १९४१ में ४७,२२७०० और १९५१ में ६०, ०००, ००० व्यक्ति साक्षर थे। १८२१–२२ से लेकर १८३६–३७ के बीच हमारे देश में विश्वविद्यालय १० से १५ आर्ट्स कालेज १६५ से २७१, व्यावसायिक प्रशिक्षण विद्यालय ६४ से ७५ और माध्यमिक विद्यालय ७५३० से १३, ०५६ हो गये। १८३६–३७ में विश्वविद्यालयों में ८९८७, आर्ट्स कालेजों में ८६,२७३, व्यावसायिक दीक्षा विद्यालयों में २०६४४ और माध्यमिक स्कूलों में २२८७८७२ छात्र थे। भारत में शिक्षा की इस दुर्व्यवस्था को देखकर दुख अवश्य होता है किन्तु आश्चर्य बिल्कुल नहीं होता। परिस्थितियों की चक्की के दो भयानक पाटों के बीच हम विवश होकर पिसे जा रहे थे। अँगरेजी द्वारा चलाई गई शिक्षा भयानक दोषों से भरी हुई थी और राष्ट्रीय व्यक्तियों द्वारा चलाई गई शिक्षा ग्रहण करके न हम अच्छी नौकरी पा सकते थे और न अच्छी कमाई कर सकते थे। अँगरेजी कम से कम इतनी आशा तो दिलाती ही थी कि पढ़ोगे लिखोगे तो होगे नवाब, खेलोगे कूदोगे तो होगे खराब।[1]

दूषित शिक्षा का परिणाम—

इस अंग्रेजी शिक्षा में अनेक दोष हैं। सीमित विकास, अराष्ट्रीय दृष्टिकोण, भारत की जनता के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में असमर्थता, खर्चीलापन, अंग्रेजी और अंगरेजियत की गुलामी, स्वभाव में आडंबर प्रियता और रोब डालने की इच्छा पैदा कर देना इसकी प्रकृति है। नैतिकता और धार्मिकता से इसका कोई भी सम्बन्ध नहीं। प्रारम्भ में इस शिक्षापद्धति का लक्ष्य था हिन्दुओं को ईसाइयत की ओर ले जाना, अंगरेजों को प्रशासनिक कार्यों में सहायता देने वाले हिन्दुस्तानी "जी हुजूरों" का पैदा करना, आर्थिक क्षेत्र में अंगरेजी जानने वाले क्लर्क, मैनेजर और एजेंट पैदा करना, भारतीयों को अपने ढंग से 'सभ्य' बनाना, भारतीयों के अंदर अंगरेजों से सम्बन्धित होने की भावना उत्पन्न करना और अंगरेजी राज्य के अनुकूल भावना वाले वर्ग की उत्पत्ति और वृद्धि। इस शिक्षा का सर्व प्रथम परिणाम यह हुआ था कि कुछ भारतीय अपनी संस्कृति और सभ्यता आदि से घृणा करने लगे थे। ये लोग स्वयं हिन्दी संस्कृत लिखने-पढ़ने को गँवारपन—भयानक भूल एवं अन्याय अपराध तो समझते ही थे हिन्दी लिखने-पढ़ने वालों की तीन-चार पीढ़ियाँ तक इनकी क्रूरतम उपेक्षा भुगतनी पड़ी है। पुजारी को मारने-मार डालने का जो पाप होता है उससे

[1]—एक प्रचलित उक्ति।

भी भयानक राष्ट्रीय, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पाप के वे भागी हैं। दुर्भाग्य है कि उनकी अपनी सन्तानों का सफाया आज भी पूर्णतः नहीं हो पाया है। अस्तु एक प्रकार से मानसिक और सांस्कृतिक अराजकता पैदा हो गई। नये और पुराने लोगों के बीच एक खाई खुद गई। शिक्षित भारतीय और सामान्य जनता के बीच भेद भाव की एक बहुत बड़ी दुर्लघ्य दीवाल खड़ी हो गई। अंगरेजी इतिहास और शास्त्र की प्रशंसा करने वाली तथा भारत को गलत ढंग से पेश करने वाली यह शिक्षा। किसी भी डिगरी कालेज, पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, या विश्वविद्यालय में इस शिक्षा से विभूषित ऐसे विद्वान् मिल जायगे जो कहेंगे "जीवन का अनिवार्य तत्व संघर्ष है," विकास प्रतियोगिता से ही सम्भव है," "अंगरेजी न होती तो भारत में राष्ट्रीयता का प्रचार न होता", "भारतीय सुस्त और आलसी होता है" प्राचीन भारत ने केवल ईश्वर धर्म, आदि पर ही विचार किया है', 'भारतीय रूढ़िवादी होता है", आदि। एक बार एक प्रोफेसर साहब कह रहे थे कि भारतीय समाज मेहनत करना नहीं चाहता, सुस्त और आलसी होता है तथा जो हिन्दुस्तानी इंगलैण्ड गये वे असाधारण रूप से राष्ट्रीय होकर लौटे।' इस अंगरेजी शिक्षा ने हमारा मस्तिष्क इतना विकृत कर दिया है कि हम सही ढंग से सोच भी नहीं पाते। गनीमत यही थी कि अंगरेजी भाषा और साहित्य तथा योरोप के नवीनतम विचारों का अध्ययन मुठ्ठी भर लोगों तक ही सीमित रह गया अन्यथा यह शिक्षा हमें कहीं का न रखती। इसी के परिणामस्वरूप शताधिक वर्षों तक हमारी शिक्षा अंगरेजी योजनाओं की नकल मात्र होकर रही। इस दासतापूर्ण अनुकरण का ही यह परिणाम है कि हम अपने ज्ञान का उपयोग रचनात्मक कार्यों के लिये नहीं कर पाते। हम बौद्धिक दृष्टि से अपरिपक्व हैं। जितनी परिपक्वता है भी वह इस शिक्षा की देन नहीं है। टी०ना०, शिववरा ने कहा है कि पढ़े लिखे भारतीयों का मस्तिष्क "सेकण्ड हैंड विचारों" से भरा रहता है। यह शिक्षा हमारे तरुणों को दास मनोवृत्ति का बना देती है। वे अफसरों का खुश रखो' (प्लीज दि बास मेन्ट लिटी") वाली नीति के अनुयायी हो जाते हैं। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, "हमारी यूनिवर्सिटी में ही ताकत की यह भावना फैली हुई है और व्यवस्था रखने के बहाने वह उन सबको कुचल डालती है जो चुपचाप उसके हुक्म नहीं मान लेते। वे ताकतें उन गुणों को पसन्द नहीं करतीं जिन्हें आजाद मुल्कों में प्रोत्साहन दिया जाता है।"[1] आज की शिक्षा के वास्तविक वातावरण से दूर, सिनेमा, चाट और पान-सिगरेट वाली दूकानों के पास, शहर के बीच, गंदे वातावरण से घिरी हुई जगह में,

१ 'हिन्दुस्तान की समस्याए', पृ० ८३।

दी जाती है। "रटो" आज की शिक्षा का स्वरूप है, "यदि रखो" लक्ष्य, और "अच्छी श्रेणी प्राप्त करो" उसका अंतिम उद्देश्य है। टगोर ने लिखा है, "आज का शिक्षक एक व्यापारी है शिक्षा बेचता है ग्राहक की खोज मे है' और बेचने वाले के पास जो सामान है उसकी सूची मे स्नेह, आदर, निष्ठा, अनुराग या ऐसी किसी अन्य भावना का उल्लेख भी न मिलेगा। अपनी चीजो को बेच चुकने और वेतन के रूप मे दाम पा जाने के बाद उसे अपने छात्रो के साथ और कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता।"[1] अन्यत्र उन्होंने लिखा है कि इस शिक्षा के परिणामस्वरूप हमारा किसी भी चीज पर समुचित अधिकार नही हो पाता, हम किसी भी चीज को ठीक से निर्मित करके खडा नही कर सकते, हम किसी भी चीज को नीचे से ऊपर तक बना भी नही सकत इसका हमारे जीवन से कोई भी संबध नहीं (यह) आनन्द विहीन शिक्षा (है)–।[2] पण्ढरी नाथ प्रभु ने लिखा है[3] कि समानता की भावना की दृष्टि से आज की शिक्षा पद्धति की बडी विचित्र स्थिति है। जहाँ इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है वहा इसका पूर्ण अभाव है और जहा यह बिल्कुल ही नही होनी चाहिए वहा आश्चर्यजनक रूप मे पाई जाती है। भौतिक आवश्यकताओ की दृष्टि से छात्रो को समानता के वातावरण म रखना चाहिए। इससे छात्र मनोवैज्ञानिक ग्रंथियो से पीडित होने से बच जायगे। इस क्षेत्र म समानता का पूर्ण अभाव है। कोई रेशम पहनता है तो कोई फटा गबरून कोई मक्खन सा मुलायम जूता पहनता है तो कोई नगे पाव, कोई पतलून टाई पहनता है तो कोई धोती कमीज, कोई पाकर से गोदता है तो कोई एम०ए०के लेक्चर नोटस भी पेंसिल से लिखता है, कोई चिकने कागज पर भी नोट बनाता है तो कोई भाफिग स फक गये रद्दी कागजो पर नोट लिखता है कोई धूल उडाता हुआ आता है तो कोई धूल फाकता हुआ ~ समानता नहीं है। समानता वहा है जहा एक ही कमरे म भगी, चमार, १ वकील, प्रोफेसर मिल मालिक

और भावी पिता को भी और वर्तमान माता और वर्तमान पिता को भी एक ही चीज पढ़ाई जा सकती है। परीक्षा-पद्धति भी अत्यन्त दोषपूर्ण है। सारी योग्यता रखता हुआ भी छात्र यदि उन प्रश्नों का उत्तर परीक्षक के दृष्टिकोण से ठीक नहीं लिखता तो अयोग्य है। वर्ष भर के अध्ययन पर पानी फिर जाय यदि परीक्षा के दिनों में कोई बीमार हो जाय। परीक्षण का कार्य नितान्त अवैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिकता से शून्य और आर्थिक व्यापार जैसा हो गया है। इसकी व्यावहारिक एवं प्रचलित बेईमानी से सभी परिचित हैं पर कोई बोलता नहीं। उसे और स्वीकृति मिल गई है। अच्छे से भी अच्छे अध्यापक का भी यह एक उद्देश्य रहता है कि वह विद्यार्थी को परीक्षा पास करा दे न कि यह कि वह विद्यार्थी को विषय की सच्ची और सही जानकारी दे और ठीक से समझाए। आधुनिक युग में बौद्धिक विकास एवं नैतिक उत्थान के पारस्परिक पृथक्करण के कारण शिक्षालयों का सामाजिक संस्थान वाला रूप नष्ट भ्रष्ट हो गया है। जीवन का व्यावहारिक क्षेत्र नैतिकता के आचरण से वंचित हो गया है। खेल के क्षेत्र की ईमानदारी व्यापार में कहीं नहीं दिखाई पड़ती। स्कूल जीवन का समाज की व्यावहारिक व्यवस्था से कोई भी संबंध नहीं रह गया है। भारतीय छात्र का मन और दृष्टिकोण विपाक्त है। उच्चतम धारणाओं के लिये कोई भी संभावना नहीं। जीवन आडंबरपूर्ण है। उसमें झूठ भर गया है। जीवन के सभी क्षेत्रों में कूटनीति की प्रधानता हो गई है।

सच्ची शिक्षा के प्रयत्न भी असफल—

सच्ची शिक्षा को व्यवहार में उतारने के लिये जो प्रयत्न हुए भी वे परिस्थितियों के कारण सफल नहीं होने पाये। धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है "शासन के संरक्षण के अभाव में आर्यसमाज द्वारा संचालित गुरुकुल तथा कांग्रेस आंदोलन की प्रेरणा द्वारा स्थापित विद्यापीठ अधिक सफल नहीं हो सके। महामना मालवीय जी द्वारा स्थापित हिंदू विश्व विद्यालय भी ऐंग्लो इंडियन संस्था हो बनकर रह गई।" महात्मा गांधी की प्रेरणा से बेसिक शिक्षा संबंधी प्रयोग हुए।[1] अधिक सफल न होने पर भी इन शिक्षा-संस्थाओं ने राष्ट्र हित का वातावरण पैदा करने और भारत को कल्याण मार्ग की ओर अग्रसर करने में अपना-अपना महत्वपूर्ण योग दिया है। उदाहरणार्थ गुरुकुल कांगड़ी के विषय में लिखते हुए आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने लिखा है, 'यह एक ऐसा विद्या मंदिर था जहां यूनिवर्सिटियों तथा पाश्चात्य शैली का सर्वथा त्याग किया गया था। वैदिक धर्म और वैदिक संस्कृति का भारत में प्रचार करना इस विद्या मंदिर का मूल मंत्र था। यहां के विद्यार्थियों को प्राचीन भारतीय गुरुकुल प्रणाली पर ब्रह्मचारी वेश में अनागरिक वृत्ति से रहना पड़ता था। उनके लिए धार्मिक शिक्षा और अनुष्ठान भी अनिवार्य थे। यद्यपि उन्हें संस्कृत की शिक्षा दी

१ मध्यदेश ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन", पृ १८६।

जाती थी पर उनकी शिक्षा का माध्यम हिंदी था। जिज्ञासु मुंशी राम के इस सदुद्योग से लोगों के मन में अपनी भाषा, अपने देश और अपनी संस्कृति के प्रति श्रद्धा के भाव उत्पन्न हुए। यहां के स्नातक आगे चलकर प्रथम श्रेणी के मेधावी निर्भीक लेखक सिद्ध हुए और उन्होंने हिन्दी साहित्य को विचार विज्ञान तथा प्रगति से ओत प्रोत कर दिया। जिज्ञासु मुंशीराम स्वयं एक आचार्य लेखक, वक्ता और सम्पादक की हैसियत से हिन्दी के एक स्तम्भ रहे और उन्होंने आधुनिक हिन्दी को प्राण दान देने वाले मेधावी तरुणों का एक अटूट झरना ही खोल दिया।"[१] इसी प्रकार हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने हिंदी भाषा और साहित्य सम्मेलन ने हिंदी भाषा और साहित्य के जीवन में रीढ़ की हड्डी का काम किया है।

दूषित शिक्षा, दूषित दृष्टिकोण महा अनर्थ—

चूंकि शिक्षा-पद्धति और उसकी पृष्ठभूमि में व्याप्त जीवन दर्शन का स्वरूप भारत का सांस्कृतिक एवं जातीय नहीं था, इसलिए उसका परिणाम प्राचीन भारत से विपरीत होना ही था। इस दृष्टिकोण से सबसे पहली बात यह हुई कि ब्राह्मणों का बौद्धिक एवं धार्मिक एकाधिकार समाप्त हो गया जातिवाद पर आधारित सामाजिक छोटाई-बड़ाई की भावना पर भी इस शिक्षा पद्धति ने आघात किया। इस शिक्षा ने जीवन में धन और नौकरी का महत्व बढ़ा दिया और ज्ञानार्जन का महत्व बिलकुल समाप्त ही कर दिया है। सम्पूर्णानन्द जी कहते हैं 'यह हमारी शिक्षा पद्धति का बड़ा दोष है कि वह ज्ञान पिपासा नहीं जगाती। लोग किसी प्रकार परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हैं फिर पुस्तक में हाथ नहीं लगाते। जगत के ज्ञान भंडार में नित्य वृद्धि हो रही है परन्तु पढ़ाई समाप्त करने के बाद हमारा स्नातक उसकी ओर आंख उठाकर नहीं देखता।"[२] एक सीमित क्षेत्र में उदार विचार वाले और उदार धारणाओं वाले बी० ए० पास भारतीयों का एक नया ही वर्ग भारतीय समाज में पैदा हो गया जिसकी कुछ अपनी विशिष्टताएं थीं। एक नये ढंग की व्यावसायिक गतिशीलता दिखाई पड़ी भले ही वह कितने ही सीमित वर्ग के अन्दर क्यों न हो! इसने हमारे दृष्टिकोण को बहुत कुछ उपयोगितावादी कर दिया। हम लोग यह अच्छी तरह समझ गये कि जिस काम से अपना कुछ फायदा न हो वह काम कभी भी न करना चाहिये! धन, पद और मान कमाने के साधन के रूप में ही शिक्षा की उपयोगिता है! नौकरी के अतिरिक्त भी अध्ययन का और कोई उद्देश्य हो सकता है यह इस बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हमारी समझ में नहीं आता था और, इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रचलित

१ हिन्दी साहित्य का परिचय, पृ १०८।
२ कुछ स्मृतियां और कुछ विचार पृ १८८।

शिक्षा-व्यवस्था के प्रसग मे यह धारणा नितान्त निर्मूल भी नही थी। कुछ विचारको का मत है कि इस शिक्षा मे कुछ विशेष लाभ[1] हुए हैं !!! सबसे बडा लाभ तो यह हुआ कि हमने ढीला ढाला और भद्दा कपडा पहनना छोड कर कोट-पतलून टाई पहनने का महत्व सीख लिया। दूसरा लाभ यह हुआ कि चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य जैसे उच्च कोटि के देशभक्त और विचारक व्यक्तियों की समझ मे यह बात आ गई कि यदि भारत मे अगरेजी को राजभाषा के रूप मे स्वीकार नही किया गया तो जिस हिन्दी ने देश के दो टुकडे करवा दिये वह देश को टुकडा-टुकडा मे बाट देगी। इसी शिक्षा पद्धति के कारण और केवल इसी अंगरेजी के कारण ही रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, दयानन्द, तिलक गाधी, नेहरू सुभाष, आदि भारत के सपूतो के अन्दर राष्ट्रीयता की भावना पैदा हुई !! हम यह भी समझ गये कि अगरेजी शिक्षा न होती तो हम यह कभी न समझ पाते कि स्वतन्त्र इकाइयो वाले प्रदेशों से विनिर्मित होकर भी भारत मूलत, एक राष्ट्र है !! अगरेजी शिक्षा न होती तो हम सारे भारत के लिये एक राज्य शासन, एक सविधान, एक-से कानून एक सी शिक्षा की कल्पना भी न कर पाते !! अंगरेजी के अभाव मे हम सारे भारत को शिक्षित न कर पाते। पश्चिम के ज्ञान विज्ञान का अनंत कोष अगरेजी द्वारा प्रचलित शिक्षा पद्धति के बिना हमे सुलभ न हो सकता !! इसके बिना हमे रेल, तार, डाकखाने बैंक, मोटर कपडे की मिल, आदि न मिल सकती !! इसके बिना हम पश्चिम के मुक्तवादी और जनतन्त्रात्मक विचारो से कैसे परिचित हो पाते !! जिस तरह से अगरेजो ने हमे पढाया लिखाया है उस तरह से यदि हम न पढते लिखते तो विश्व साहित्य के समृद्धतम अग अंगरेजी साहित्य तक हम पहुच ही न सकते, उससे लाभ उठाना तो दूर की बात है !! इसके बिना तो हम विश्व साहित्य की कल्पना भी नही कर सकते थे !! भाग्य और परिस्थितियो की क्रूरताओ के विषय मे जो कुछ भी कहा जाय, कम है। पराधीनता के वातावरण मे पले हुए बुद्धिवादियो की चिंतन पद्धति भी कैसी विचित्र और उसके निष्कर्ष भी कैसे दयनीय होते हैं !

धूर्जटी प्रसाद मुकर्जी ने अंगरेजो द्वारा प्रचारित शिक्षा पद्धति का उल्लेख करते हुए उसके बारे मे मेट्रिलू का यह विचार उद्धृत किया है कि जिस सरकार ने यह सिद्धान्त निकाला और उसे व्यवहार मे उतारा है, उसकी जम कर और कस कर पिटाई होनी चाहिये क्योकि उसने करके उसने सामान्य जनता और वर्गविशेष। गाव और शहर, पूर्वी और पश्चिमी विचार पद्धतियों और जीवन पद्धतियो के बीच एक बडी खाई खोद दी। ससार की दो महान जातियो-अंगरेज और भारतीय के बीच प्रजातीय वैमनस्य पैदा कर दिया। इस शिक्षा को देखकर मन मे यह भावना दृढ

[1] माडर्न इडियन कल्चर, पृ, ८६।

होती है कि शिक्षा एक ऐशोआराम की चीज है भोग विलास का साधन है। यह एक ऐसा व्यापार है कि जिसमें पढ़े लिखे लोग अपना धन इसलिए लगाते हैं कि बाद में उन्हें मुनाफा होगा। इस शिक्षा पद्धति ने सौ-सवासौ रुपये महीने की कीमत का जो नकलची खोखला बबुआ (बाबू) पैदा कर दिया है वह रंग और खून से भारतीय किन्तु रुचि, विचार, नैतिकता और बौद्धिकता की दृष्टि से ऐसा अधकचरा अंगरेज है जिसे भारत की सभ्यता और संस्कृति, ज्ञान और विज्ञान मूल्य और उपलब्धि क्षमताओं और संभावनाओं का न कोई ज्ञान है और न उन पर किसी प्रकार की आस्था। प्रख्यात उर्दू कवि और कुख्यात बुद्धिजीवी श्री रघुपति सहाय "फिराक" से जब मैंने इस डी० लिट० के विषय में कुछ विचार विनिमय करना चाहा तो वे बोले 'पहले यह बताओ कि क्या तुम भारत की हर चीज को सभ्यता और संस्कृति को-कूड़ा धूर विष्टा समझते हो या नहीं। अगर नहीं समझते तो डी० लिट० तो बहुत बड़ी बात है तुम कोई भी उल्लेखनीय कार्य नहीं कर सकते।' निष्ठा उनके द्वारा उच्चरित शब्दों का वैसे का वैसा ही लिखने से मना करती है। परिपक्व 'फिराक' को मैं अंगरेजी शिक्षा पद्धति की देन का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक समझता हूँ। लार्ड हार्डिंज के इस निश्चय ने, कि सरकारी नौकरियों में अंगरेजी स्कूलों से पढ़ कर निकले हुए लोगों को प्राथमिकता दी जायगी, अंगरेजी पढ़ने वालों की संख्या बढ़ा दी। फिर विश्वविद्यालय खुले और भारत की शिक्षा का भविष्य उनके हाथों में कैद हो गया।

हिन्दी और हिन्दी वालों का अद्वितीय महत्व—

इस शिक्षा-पद्धति रूपी राक्षस के विद्रूपों से विनिर्मित वातावरण के फौलादी, शैतानी एवं क्रूर चंगुल में जकड़े जाकर भी हमारे साहित्यिकों ने हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य की सृष्टि की है। आज लोग बड़ी शान एवं बड़े रौब में कहते हैं कि हिन्दी का साहित्य उतना समृद्ध नहीं है जितना अंगरेजी का। विधि की विडंबना ही तो है कि १८ वीं और २० वीं शताब्दी के जिस साहित्य पर अंगरेजी के मानस पुत्रों को इतना गर्व है उसकी नींव जिन दिनों पड़ रही थी उन दिनों भारत की आत्मा, उसका हृदय और उसका शरीर कुछ अपनी ही कमजोरियों के परिणामस्वरूप अंगरेजी साम्राज्यवाद के चरमराते और ठुमकते हुए बूटों के नीचे छटपटा रहा था! धन का लोभी अधिकारी हमारे श्रम और हमारी प्रतिभा को गीले कपड़े की तरह निचोड़ निचोड़ कर निर्लेप कर रहा था। साथ ही, यह भी कह रहा था कि पूर्वी जगत का समस्त साहित्य अंगरेजी साहित्य के पुस्तकालय की किसी एक अल्मारी के एक खाने के साहित्य के भी बराबर नहीं है! शायद, किसी भी बद

दिमाग अधिकारी ने इससे अधिक जोरदार शब्दों में किसी भी समृद्ध और सत्साहित्य का इससे अधिक अपमान न किया होगा। हमारे शरीर को घावों से छलनी करके आप कहते हैं कि इसका शरीर कमजोर और बदसूरत है। हमने उपेक्षापूर्ण वातावरण में लडखडाते हुए परों से चक्कर खा-खाकर, बेहोशी के झोंको में झूम-झूम कर, पस्त मन और जहरीली शिक्षा से भरे मस्तिष्क से सोच-सोच कर हाफते, गिरते पड़ते, मिटते मिटते अपने आधुनिक साहित्य की रचना की है। हमने स्याही से नही, अपने परिश्रम की उज्ज्वल और रक्त की लाल बूंदों से लिखा है। कागज पर नही, परिवार वालों की सुख-सुविधा की लाशों पर लिखा है। प्रशंसा से प्रोत्साहित होकर नहीं, व्यग्य भरी मुस्काना, वक्रूक्तियों और छटपटवा देने वाले शब्दों से पीड़ित होकर लिखा है। हिन्दी वालों के इस त्याग और बलिदान का मूल्य कौन आंकेगा। उन्होंने हारी हुई बाजी जीती है। उनसे भूलें हुई और वे इस कुशिक्षा एवं कु-व्यवस्था के परिणाम स्वरूप चरित्र में अनिवार्य रूप से उत्पन्न होने वाले दोषों और कमजोरियों से ग्रस्त भी रहे। और, हम यह भी स्वीकार करते हैं कि पिछली दो शताब्दियों का अंगरेजी साहित्य अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध है। हम यह सब स्वीकार करने में हिचकते नहीं क्योंकि हम अपने सामर्थ्य और अपने भविष्य के ऊपर अखंड विश्वास है। हम मानते हैं कि "कार्यसिद्धि सत्वे भवति महतां नोपकरणे"। हम देख रहे हैं कि तुलसी और सूर जागरण की करवट ले रहे हैं और मिल्टन और शेक्सपियर की बेचैन आंखें एक दूसरे को अर्थपूर्ण दृष्टि से देख रही हैं। इस अंगरेजी शिक्षा का हमारे ऊपर प्रभाव पड़ा है और निश्चित रूप से पड़ा है। तभी तो 'प्रसाद' कालिदास जैसे महान न हो पाये, तभी तो 'निराला' 'राम की शक्तिपूजा" और 'तुलसीदास' तक ही पहुंच पाए, 'रामचरितमानस' की नवीन अवतारणा न कर सके, तभी तो महादेवी मीरा न हो पाई, तभी तो पंत की कला और विहारी की कला में इतना अंतर रह गया तभी तो भारवि, माघ, बाणभट्ट, की अवतारणा की प्रतीक्षा की अवधि समाप्त न हो पाई। सांस्कृतिक विघटन रामायण और महाभारत–जैसे महाकाव्यों की पुनसृष्टि में बाधक हो रहा है। प्रयत्न सही दिशा की ओर अब अभिमुख हुए हैं। कदम मंजिल की ओर अब उठने लगे हैं। उपलब्धि में समय तो लगेगा ही। जिस अंगरेजी का हमारा साथ एक शताब्दी से भी अधिक समय तक रहा उससे हम पूर्णतः अप्रभावित रहते यह असंभव था। इसलिये वर्तमान हिन्दी साहित्य मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य से भिन्न हो गया है। इसलिये भारतेंदु और द्विवेदी से लेकर गुप्त और अज्ञेय तक सब पर इसका थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ा है।

गांधी और शिक्षा—

भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के साथ ही साथ राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार भी प्रारम्भ हो गया था। इस शिक्षा ने जो ... व्यापक रूप से देश का सम्पूर्ण सत्यानाश करने पाई। उसके विष ... देश की महान प्रतिभाओं ने पहचान लिया था और इसलिये उसके विरुद्ध प्रचार भी होने लगा था और उसके स्थान पर राष्ट्रीय शिक्षा के स्वरूप की खोज और उस क्षेत्र में प्रयोग भी प्रारम्भ गये थे। अंग्रेजों ने देश में जो आर्थिक क्रांति कर दी थी उसके कारण जीवन जिस दिशा में चलपन्न था उसमें और भारत के अपने सांस्कृतिक मूल्यों और धारणाओं में समुचित संतुलन और समन्वय चूंकि अभी तक स्थापित नहीं हो पाया और जीवन का नवीन सांस्कृतिक स्वरूप विनिर्मित नहीं हो पाया इसलिये ये खोज और प्रयोग सफल होकर नई शिक्षा व्यवस्था की सृष्टि भी नहीं कर पाये। शायद, इस शिक्षा शास्त्री का जन्म अभी होना है जो नवीन भारत के लिये सर्वथा उपयुक्त, उपयोगी और उचित शिक्षा व्यवस्था की आयोजना करे। तब तक प्रचलित शिक्षा व्यवस्था के कुप्रभावों से यथासंभव बचने का प्रयत्न तो होना ही चाहिए। यही इनका महत्व है। इस दृष्टि से आर्य समाज की गुरुकुल प्रणाली और गांधी जी की बुनियादी तालीम के प्रयत्न स्तुत्य रहे। एक भारतीय संस्कृति के अधिक निकट रहा और दूसरा भारतीय संस्कृति की अनुरूपता की दिशा में चलता हुआ देहात के अधिकाधिक निकट रहा। गांधी जी ने कहा था कि शिक्षा से मेरा मतलब है अन्तर की समस्त श्रेष्ठतम प्रवृत्तियों का पूर्णतः प्रस्फुटन अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी प्रकार की क्षमताओं का विकास[1]। एम०एस० पटेल ने लिखा है कि यह याद रखना चाहिये कि गांधी के शिक्षा दर्शन की जड़ें भारतीय जीवन और संस्कृति के अन्दर हैं[2]। इसका मुख्य उद्देश्य चरित्र निर्माण है अर्थात् 'सा विद्या या विमुक्तये'। शिक्षा मानव को बाहरी लघुताओं से मुक्ति दिलाती है। इसी संबंध में पटेल महोदय ने आगे लिखा है, 'गांधी जी के शिक्षा दर्शन का अन्तिम लक्ष्य आत्मानुभूति है।[3] कम से कम पैसे का खर्च सीखने और कमाने की प्रक्रियाओं को अधिकाधिक समीप लाना, रचनात्मक क्षमताओं का विकास, श्रम की प्रतिष्ठा, आर्थिक स्वावलम्बन, मानव-महत्ता की स्वीकृति, जीवन-यापन को सादगी और आडंबर शून्यता की दिशा की ओर ले जाना, एक मात्र बौद्धिकता, विश्ले

१ हरिजन, ३१ अगस्त, १९३७।

२ 'दि एजूकेशनल फिलासफी आफ महात्मा गांधी', पृ० ३७।

३ "वही, पृष्ठ ४५।

पूर्णात्मकता एवं सिद्धान्तवादिता की अपेक्षा उत्तम रागात्मकता, गतिमत्ता, पार्थिवता रचनात्मकता एवं व्यावहारिकता का भी समावेश गांधी जी की शिक्षा-नीति का लक्ष्य था। इसके लिये उन्होंने मातृभाषा के अध्ययन पर जोर दिया था। मातृभाषा को केवल शिक्षा का माध्यम ही नहीं बनाना चाहिए वरन् भाषाओं में इसको प्रमुख स्थान मिलना चाहिये। गांधी जी का विचार था कि हिन्दी उर्दू दोनों का ज्ञान प्रत्येक भारतीय बच्चे को और संस्कृत का ज्ञान प्रत्येक हिन्दू बच्चे को अवश्य होना चाहिए। गांधी जी ने हिंदी अपनाई इसलिये अपनाई थी कि उसमें सभी काम और सभी का काम चल सकता है। धर्मनिरपेक्षिता, धार्मिकता, दार्शनिकता, व्यापार, विज्ञान और उत्पादन आदि सभी क्षेत्रों के काम हिन्दी में हो सकते हैं। हिंदी राष्ट्र की एकता का साधन और वाहन है-यह गांधी जी जानते थे। इसीलिये उन्होंने हिन्दी अपनाई थी। वरना, उन्हें हिंदी साहित्य से न कोई विशेष प्रेम था, न द्वेष और न शायद इसके लिये कोई कारण ही था। 'निराला' ने लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर उनसे जो भेंट की थी (जिसका उल्लेख उन्होंने "प्रबन्ध प्रतिभा" में किया है) उससे यही निष्कर्ष निकलता है। अंगरेजी शिक्षा और उसके परिणाम के बारे में गांधी जी के जो विचार थे उसका उल्लेख राजेन्द्र बाबू ने इस प्रकार किया है "सभा में किसी ने महात्मा जी से प्रश्न किया कि आप अंगरेजी शिक्षा के विरुद्ध क्यों हैं-अंगरेजी शिक्षा ने ही तो राजा राम मोहनराय, लोकमान्य तिलक और आपको पैदा किया है। महात्मा जी ने उत्तर में कहा-मैं तो कुछ नहीं हूं, पर लोकमान्य तिलक जो हैं उससे कहीं अधिक बड़े हुए होते यदि उनको अंगरेजी द्वारा शिक्षा का बोझ ढोना न पड़ा होता। राजा राममोहन राय और लोकमान्य तिलक श्री शंकराचार्य, गुरु नानक, गुरु गोविन्द सिंह और कबीरदास के मुकाबले में क्या हैं! आज तो सफर के और प्रचार के इतने साधन मौजूद हैं। उन लोगों के समय में तो कुछ नहीं था तो भी उन्होंने विचार की दुनिया में कितनी बड़ी क्रान्ति मचाई थी।'[१] प्रायः लोग कहते हैं कि अंगरेजी बुरी नहीं है, बुरा है साम्राज्यवादी अंगरेज और इसलिये हमें अंगरेजी साहित्य अवश्य पढ़ना चाहिए। हम कहते हैं कि अंगरेजी साहित्य ही क्यों, दुनिया में बुरा तो कुछ भी नहीं है परन्तु क्या हम सबको पढ़ा करेंगे। रूसी साहित्य भी तो बुरा नहीं है, फ्रांसीसी साहित्य भी तो बुरा नहीं है यूनानी साहित्य भी तो बुरा नहीं है, फिर अंगरेजी ही पढ़ने का आग्रह क्यों! इसीलिये न कि उसे कभी हम मजबूरन पढ़ना पड़ा था और अब हमें अपनी ही बेड़ियों हथकड़ियों से जेल की चहारदीवारियों से मोह हो गया है। हर भाषा और साहित्य की अपनी-अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

१ "आत्मकथा" पृ १७१-१७२।

होती है। उसमें पूर्ण स्नात हुए बिना हम उसकी सांस्कृतिक बारीकियों से अपरिचित रह कर उस साहित्य की वास्तविक सौन्दर्यानुभूतियों से वंचित रह जायेंगे। इसीलिये कई जनम भारत में पैदा होकर भी और हर जनम में केवल अंगरेजी पढ़ कर भी हम अंगरेजी साहित्य के अमर साहित्यकार नहीं बन सकते। टैगोर में कम प्रतिभा नहीं थी[1]। विचित्र बात है कि लोग अंगरेजी के प्रोफेसर की कल्पना धोती-कुरते में और हिन्दी और संस्कृत के एम० ए० की कल्पना पतलून टाई कोट में नहीं कर सकते। मेरे एक मित्र संस्कृत में एम० ए० हैं और उनके पास कई गोल्ड मेडल हैं। वे सज्जन मर्यादा द्वारा निश्चित की गई वेश भूषा ही धारण करते हैं। वे सबके लिये आश्चर्य, कौतूहल, जिज्ञासा एवं व्यंग्य के विषय बन हैं। छात्राएं उन्हें 'पंडित इन सूट' की उपाधि देती हैं। इसका कारण है नियत निश्चित सांस्कृतिक भाव चित्रों का वैषम्य एवं वैपरीत्य। वह दूसरी संस्कृति की चीज है यह दूसरी संस्कृति की। हम हिन्दी संस्कृत इसलिये अपनानी चाहिये कि वह हमारी सांस्कृतिक विभूति है, हमें अंगरेजी इसलिये छोड़नी है क्योंकि वह हमारी आत्मीय नहीं, हमारी संस्कृति से उसका कोई मेल-कोई अनुरूपता नहीं। अँग्रेजी अंगरेजियत लाती है, अतएव त्याज्य है। हमें अंग्रेजी की दासता से असंतोष है दोस्ती से नहीं और हुआ कुछ ऐसा कि हम अंगरेजी की दासता एवं उसके आतंक में ही रहना पड़ा है। और तब आत्मा के सत्यवेत्ता की भांति यदि रामकृष्ण, दयानन्द, विवेकानन्द तिलक, गांधी, टैगोर, महामना मदन मोहन मालवीय आदि न होते तो हम क्या हो जाते-यह सोचकर मन कांप उठता है। वारांगना अंगरेजी हमारे घर में घुसी, दुलहिन या कुलवधू बन कर नहीं 'मेम साहब' बनकर! बूढ़ी बूढ़ी सास (संस्कृत) को अवमानना एवं तिरस्कार के तमावृत्त कोने में ढकेल दिया! कुल वधू हिन्दी को असभ्य सेविका की गई गुजरी स्थिति में ला पटका! हमसे कहती रही कि तुम जंगली, तुम असभ्य तुम्हारा खानदान मूर्खों का तुम्हारा रहन सहन खानपान तौर-तरीका, सब कुछ मूर्खतापूर्ण! हमने मां से नाता तोड़ा। जीवन-संगिनी का ह्रास समझना प्रारम्भ कर दिया। बलात् लादी गई प्रेमिका की भांति उसने हमारे घर के वातावरण को अपनी रुचि और अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप परिवर्तित कर लिया। ससुराल को सकेण्ड हैण्ड मायका बना लिया! हम न अपने रह गए, न बिराने हो पाये! हम यह सोचने लगे कि जब अंगरेज बोलता है यदि वैसे ही हम न बोल पाये तो असभ्य और पिछड़े हुए रह जायेंगे राजेन्द्र बाबू ने लिखा है 'अभी तक लोगों के मन में अंगरेजी भाषा के लिये यह मोह था कि जब पन से ही अगर यह नहीं पढ़ाई जायगी तो इसका पूरा ज्ञान नहीं हो सकेगा और हमारे युवक संसार की होड़ में पीछे रह जायेंगे।'[1] ऐसी प्रवृत्ति वाले लोगों ने

१ 'आत्मकथा पृ १५१।

प्रभाव सन् १८६२ में भी नहीं है। अंगरेजी बोल कर गौरव का और हिन्दी बोलने में आत्म हीनता का अनुभव करने वाला तो यहूमन अब भी है। "देखिए, मेरी इस फाउन्टेन पेन से हिन्दी न लिखिएगा, खराब हो जायगी" कहने-वाले बहुत दिख हैं किन्तु स्पष्ट रूप से और शान के साथ यह कहने वाला, 'देखिये, मेरी इस कलम से अंगरेजी न लिखियेगा यह इसकी पवित्रता का अपमान होगा', मैंने अपने इस अल्प जीवन और अल्प अनुभव के सीमित क्षेत्र में केवल गुरुवर आचार्य रामकुमार वर्मा को ही पाया। मस्तिष्क में अंगरेजी इतनी भर गई कि अध्ययन और चिन्तन की रूपरेखा पर पाश्चात्य प्रभावों की अधिकता हो गई। अनुकरण की प्रवृत्ति बढ़ गई। स्वतन्त्र दृष्टिकोण, स्वतन्त्र चिन्तन एवं मौलिकता का प्रायः अभाव हो गया। जैसे शिक्षा जनता के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में असमर्थ थी, वैसे ही साहित्य जन जीवन एवं जन मानस की आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ रहा। वास्तविक जीवन से वह बहुत दूर पड़ गया। साहित्य में सैद्धान्तिकता, अध्ययन और चिन्तनात्मकता की प्रधानता हो गई क्योंकि जीवन से विच्छिन्न पुस्तकीय शिक्षा का भी स्वरूप यही था। उन्मूलित मध्यवर्ग द्वारा सृजित साहित्य में वास्तविक जीवन के सजीव चित्रों की आशा दुराशा ही है। इस साहित्य में मध्यवर्गीय शिक्षित वर्ग की प्रवृत्तियां, मनोवृत्तियों और दृष्टिकोणों की प्रधानता है। शान्तिप्रिय द्विवेदी ने लिखा है, "हमारे काव्य में छायावाद के उठान तक जो सुख-दुःख चला आया है वह जनता का सुख दुःख न होकर कुछ सीमित व्यक्तियों का राजसी अभ्यास रहा है, राजा के मुकुट की तरह उसमें भी एक कला है किंतु उसमें उस बहुसंख्य मानव जगत का यथार्थ नहीं है उसमें राजा और राज कवि नहीं हैं किंतु उसमें जो कवि हैं वे उसी मध्यकालीन व्यवस्था से उत्पन्न सुख दुःख के परिणाम हैं ।"[1] पाश्चात्य साहित्य की प्रवृत्तियों का कुछ ने अनुकरण करना चाहा किन्तु वे भूल गये कि साहित्यिक प्रवृत्तियां सामाजिक वातावरण में उद्भूत होती हैं। इसके प्रतिकूल यदि मानसिक और बौद्धिक विकास के लिये हम उन्हें कहीं दूसरी जगह लेकर उनके अनुसार लिखना प्रारम्भ कर दें तो लिखे तो कुछ न कुछ जायगा ही, किंतु वह शाश्वत और सत्साहित्य न हो सकेगा। इसीलिये आधुनिक पाश्चात्य साहित्य की अपेक्षा आधुनिक हिंदी साहित्य कला और मूल्य की दृष्टि से कुछ कम उत्कृष्ट है। इसी युग में उच्च कक्षाओं में हिंदी का अध्ययन-अध्यापन प्रारंभ हुआ था। अतएव विद्यार्थियों के लिये गये साहित्य की भरमार हो गई। आलोचनात्मक साहित्य तो अधिकतर इसलिए ही लिखा जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि यह आलोचनात्मक साहित्य-अपवादों को छोड़ कर-उस कोटि तक नहीं उठ पाया है कि पाश्चात्य आलोचना

१ युग और साहित्य, पृ ४३, ४४, ४५।

साहित्य से टक्कर ले सके। उसमें बौद्धिक दृष्टि से पूर्ण परिपक्वता नहीं मिलती।

क्या हिन्दी अँगरेजी की मुखापेक्षी है ?

यदि हिन्दी साहित्य केवल इसी शिक्षा पद्धति का परिणाम होता तो उसकी स्थिति कितनी नगण्य होती, इसकी कल्पना करने को मन नहीं करता। कहते हैं कि विष मिला हुआ भोजन खिला देने के पश्चात् दुर्योधन ने बेसुध भीम को गंगा में फेंक दिया। डूब कर वे पाताल पहुँचे जहाँ नागों ने उन्हें डसना प्रारम्भ कर दिया। आश्चर्य कि नागों के विष की प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप भीम दुर्योधन के विष से मुक्त हो गये। तो, क्या यह माना जा सकता है कि विष अच्छी चीज है ? विष ने भीम को भीम नहीं बनाया ? उनकी आंतरिक शक्ति और क्षमता उनके अन्दर पहले ही से थी। विष ने ही विष को नष्ट किया। भीम को अब विष से कोई भी संबंध नहीं रखना चाहिये क्षमता को कदापि नहीं। यदि भाम को हिन्दी दुर्योधन की अँगरेजी साम्राज्यवाद, शोषण और उपनिवेशवाद को पाताल मार दें, तो अँगरेजी को नागों का विष मानना पड़ेगा। हम यह नहीं मान सकते कि भाम रूपी हिन्दी का इस विष से कल्याण हुआ है। हम कहना चाहते हैं कि यदि अँगरेजी न आई होती और हिन्दी ने स्वतन्त्र रूप में स्वस्थ ढंग से विकास किया होता तो हिन्दी आज की हिन्दी की अपेक्षा कहीं अधिक सशक्त समर्थ और सम्पन्न होती। पृथ्वीराज रासो से जो रामचरितमानस और सूर सागर तक की गौरवपूर्ण ढंग से यात्रा कर सकती है वह उसके बाद "कामायनी अथवा "राम की शक्तिपूजा तक ही रह जाय, यह आश्चर्य है। वह उध्वगति, यह अधोगति!! हिन्दी वही की वही है अन्तर केवल यह हुआ कि तब अकबर महान का राष्ट्रीय शासन था और इस काल में अँगरेजी राजा सम्राट का मुकुट का अराष्ट्रीय शासन था। कहानी केवल इतनी है कि हमारी तन्द्रावस्था में डाकुओं ने हमारे घर पर अधिकार जमा लिया। जब हमारे पास कोई और चारा नहीं रह गया तब हमने उनका स्वरूप उनका मुखौटा, उनकी विद्या अपना ली जो उनके द्वारा प्रचारित जीवन विधा के अनुकूल भी थी। हमारी आत्मशक्ति थी उनका मुखौटा था। हिन्दी इस नये रास्ते पर भी सफलतापूर्वक चली। अँगरेजी शिक्षा के प्रसार के साथ ही साथ राष्ट्रीयता का भी प्रसार हुआ था। पृष्ठभूमि में था १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के महान् सांस्कृतिक पुनरुत्थान का अमृततत्व-पूर्ण फल। अँगरेजी का विष उसके कारण अधिक प्रभावशाली न हो पाया। हिन्दी में असाधारण आत्मशक्ति थी आत्मोत्थान की इच्छा एवं तत्संबंधी प्रयास प्रारम्भ हो गये। हिन्दी का अधिकांश भाग उसी का परिणाम है।

ज्ञान का शिक्षा से अभिन्न संबंध होता है। अशिक्षित जनसमूह के लिये ज्ञान का अर्जन प्रायः असम्भव हो जाता है। अपने देश की स्थिति यह थी कि अँगरेजी शिक्षा पद्धति के कारण नब्बे प्रतिशत से भी अधिक जनता अशिक्षित रह गई। इधर रामकृष्ण, परमहंस, विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ आदि के उपदेश हम तक अँगरेजी भाषा के माध्यम से ही पहुँचते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि नब्बे प्रतिशत से भी अधिक जनता तक सांस्कृतिक पुनरुत्थान का फल नहीं पहुँचने पाया। बहुत लोग तो आज तक भी उससे वंचित रह गये हैं। यही कारण है कि आत्मोत्थान की इच्छा एवं तत्सम्बंधी प्रयास थोड़े ही लोगों द्वारा सम्भव हो सके। एक आर्य समाज ने, जिसने हिंदी को सम्पूर्ण मान्यता दी थी जनता तक पहुँच कर ऐसी क्रांति कर दी थी कि लोग चकित हो उठे, एवं कांग्रेस ने हिंदी को अपना कर सारे देश की काया पलट करके संसार को विस्मय विमुग्ध कर दिया। यदि परिस्थितियाँ अनुकूल होतीं और उचित समय पर समस्त जनता के अन्दर सांस्कृतिक पुनरुत्थान का फल पहुँच सका होता तो भारतवर्ष की रूप रेखा अब तक कुछ और ही होती तथा हिन्दी का भी स्वरूप कुछ और ही होता। कारण यह है कि इस समय हिन्दी में जो कुछ है वह कुछ मुठ्ठी भर लोगों के त्याग, बलिदान, तपस्या चेतना और अनुभूति का फल है। हुआ यह कि दस प्रतिशत से भी अधिक कम लोग शिक्षित हो पाये। उनमें से भी बहुत कम लोग अच्छे ढंग से और ऊँची कक्षाओं तक पढ़ पाये। सुशिक्षितों में से अधिक लोग हिन्दी का तिरस्कार करने और अँगरेजी के भक्त अनुयायी बनने में अपने को गौरवान्वित समझने लगे। अल्प शिक्षितों में से अधिकांश अँगरेजी के लिये तरसने और जितनी तथा जैसी भी हो सके अँगरेजी बोलने लिखने में अपने को बड़ा और गर्वान्वित समझने लगे। बहुतों को यह कहते हुए सुना गया है कि अमुक सज्जन ने पढ़ा लिखा तो कुछ खास नहीं मगर जब अमुक साहब यहाँ आया था तो उसके सामने ये ऐसे 'फर' फर' 'फर' 'फर अँगरेजी बोले कि वह भी दंग रह गया और बहुत बढ़िया 'सार्टिफिकिट' दे गया। बड़े गर्व से ये वह सर्टीफिकेट दिखलाया करते हैं"। तात्पर्य यह है कि भारतवर्ष के जितने लोग पढ़ लिख भी सके उनमें से भी बहुत कम—बहुत ही कम लोग ऐसे निकले जो सांस्कृतिक पुनरुत्थान की ज्योति से अनुरंजित हो सकते और हिन्दी के लिये पागल हो सकते। ये थोड़े से लोग थोड़ी बहुत अँगरेजी जानते अवश्य थे किन्तु इनमें से किसी की भी चेतना या आत्मा अँगरेजियत के विष में डूबकर मिट नहीं चुकी थी। ये साधन असमर्थ, अयोग्य, एवं अभावों से पूर्ण भले ही रहे हों परन्तु इनमें से कोई निराश्रय या परातंत्र नहीं था। कुछ है ही ऐसा कि

हिन्दी भारत की राष्ट्रीयता आकांक्षा अथवा अपनी सांस्कृतिक गुरुता की पुनर्प्राप्ति की महत्वाकांक्षा की भाषा है। अँगरेजियत या उसकी गुलामी से भरी हुई हृतात्मा में इसका कोई संबंध नहीं स्थापित हो पाता। इन थोड़े से लोगों के द्वारा ही आधुनिक हिन्दी साहित्य की नींव पड़ी और उनका कार्य प्रारम्भ हुआ। इन स्वनाम धन्य व्यक्तियों के अन्दर यह इच्छा पैदा हुई कि जिस उच्चकोटि का और जैसा समृद्ध अँगरेजी का साहित्य है वैसा ही अपना हिन्दी साहित्य भी होना चाहिये जिसके लिये उन्होंने अपना प्राचीन साहित्य भी देखा और नवीन जीवन भी।

अस्तु इस शिक्षा के परिणामस्वरूप सबसे बड़ी बात यह हुई कि हिन्दी प्रदेश के अधिकांश लोग अशिक्षित रह गये। एक तो स्वयं उनके अन्दर पुस्तकें पढ़ने खरीदने की क्षमता नहीं थी और दूसरे मध्यवर्ग के लिये लिखे गये साहित्य को खरीद-पढ़कर वे करते भी क्या, क्योंकि उस साहित्य का उनके प्रत्यक्ष जीवन से कोई संबंध ही नहीं था। अँगरेजीप्रिय व्यक्तियों को हिन्दी की पुस्तकें पसन्द नहीं आ सकती थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी वालों की पुस्तकें अधिक नहीं बिकीं। लेखक आर्थिक दृष्टि से दरिद्र हो गया। प्रकाशकों को हिन्दी की पुस्तकों के छपने में घाटा होने लगा। हिन्दी के समाचार पत्र और मासिक पत्र पत्रिकाओं की भी खपत अधिक नहीं थी। हिन्दी का प्रकाशक, सम्पादक और लेखक सभी दरिद्र हो गये। समाचार पत्रों के और पत्रिकाओं के लेखकों को पारिश्रमिक अवसर तो दिया ही नहीं जाता था और यदि कभी दिया भी गया तो अल्पतम। लेखक की लेखनी की भी यही स्थिति थी। हिन्दी की पुस्तक या हिन्दी का लेख छप गया, यही क्या कम ! प्रकाशक कृपा का परिणाम और इसलिये धन्यवाद का अधिकारी था। लेखक का शोषण होने लगा और हमारा साहित्य शोषित या साहित्य दरिद्रता का साहित्य हो चला। हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य आरम्भ पर अल्पायु हो गया।

अँगरेजी शिक्षा पद्धति के कारण हम अँगरेजी की साहित्यिक विधाओं से परिचित हो गए। वहाँ ये विधाएँ पाश्चात्य समाज के भीतरी जीवन का परिणाम थीं और हमारे यहाँ वे भिन्न समय एवं अन्य कारणों के परिणामस्वरूप थीं। ...अन्तर पद्धति जीवन ज्ञान एवं भावनाएँ और इनके साथ-साथ पाश्चा... साहित्यिक विधाएँ आज भी हमारी अपनी नहीं हो पाई हैं। इसका परिणाम यह है कि साहित्यिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से उच्चकोटि के होने पर भी ... आधुनिक कहानियाँ आधुनिक उपन्यास, आधुनिक एकांकी औ...

जनकाकी, आदि जन जीवन की चीज नही हो पाए हैं। मुक्त छन्द की तो बात ही क्या करें, स्वय 'प्रसाद', महादेवी, पत, 'निराला' और रामकुमार वर्मा के गेय गीत भी जन मानस के अन्तर को अभी नही छू सके और न मस्ती के आलम म गाये जाते हैं। "कविता" का अर्थ वह "धनाक्षरी" मात्र ही समझता है।

आधुनिक शिक्षा व्यवस्था और हिन्दी साहित्य—

इस अर्द्ध शताब्दी म शिक्षा सस्थाओ का द्वार सभी जाति वालो के लिये खोल दिया गया। सभी तरह के लोग पढने लगे। परिणामत साहित्य का द्वार भी सबके लिये खुल गया। नारी, पुरुष, कायस्थ, गुप्त, हरिजन, आदि सबका प्रयत्न एव सबकी प्रतिभा का सहयोग आधुनिक हिन्दी साहित्य की वृद्धि म प्राप्त हुआ। इसके साथ एक सीमा भी थी। शिक्षा क्षेत्र के समस्त सुधारो प्रयोगो, आदि का प्रभाव न तो उच्च वर्ग पर पडा और न निम्न वर्ग पर। सामान्यत मध्यवर्ग और विशेषत निम्नमध्यवर्ग ही उसका लक्ष्य और क्रिया क्षेत्र रहा। जागरण राष्ट्रीयता और सास्कृतिक पुनर्जागरण आदि इसी वर्ग तक विशेष रूप से सीमित रहा। समाज म यही वर्ग विशेष रूप से सक्रिय भी रहा। यह स्थिति बहुत अच्छी तो नही थी, मगर थी यही और सम्भवत इसी कारण हिन्दी साहित्य मध्यवर्ग का, मध्यवर्ग के द्वारा और मध्यवर्ग के लिये लिखा गया साहित्य है। रुसो, वाल्टेयर, लेनिन मार्क्स, गाधी, नेहरू आदि के दर्शनो म निष्णात आज का विद्यार्थी समाज म अपने को असहाय पाता है। पढ कर निकलता है तो नौकरी नहीं मिलती। पक्षपात और बेईमानिया होती हैं। पढाई उसे नौकरी के अतिरिक्त और किसी भी काम के लायक रहने नही देती। वह खीझता है क्यो कि यह स्थिति आदमी को तोड देने वाली होती है। आत्महत्या, आदि अपराध बढते हैं। पराधीनता के दिनो म इससे राष्ट्रीयता बढी और अँगरेजी तथा अँगरेजियत के रोब के टूटने म सहायता मिली। इस असन्तुष्ट, विपन्न एव अभाव ग्रस्त छात्र समाज ने कविता और गद्य दोनो के साहित्य पर कुछ-कुछ साम्यवादी रग चढा दिया। शिक्षा प्रसार के कारण जिस प्रकार देश की राजनीति राजाओ के हाथ से निकल कर मध्यवर्ग के हाथो म आ गई उसी प्रकार साहित्य के केन्द्र राज-सभाओ एव राज-दरबारो से उठकर शिक्षित जनता के बीच गोष्ठियो, सम्मेलनो, सस्थाओ और नेताओ के बीच आ गये। इससे झूठी प्रशसाओ, प्रशस्तियो एव आशीर्वादो से साहित्य बच गया। नवीन शिक्षा पद्धति का परिणाम यह हुआ कि पुराने सस्कारो से हमारा सपर्क बहुत कम रह गया। जड विज्ञान और मानवतावाद पर आधारित शास्त्र के अध्ययन के परिणामस्वरूप नवीन मान्यताओ की स्थापना हुई। सामाजिक वातावरण इसके

विपरीत रहा। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, उसके चिन्तन में रोमांटिक अँगरेजी साहित्य के व्यक्तिवाद की छाप थी परन्तु बाह्य जगत में उसका सामंजस्य नहीं था। वह नवीन मूल्यों को अपनी भाषा में व्यक्त भी नहीं कर पाया था। संवेदनशील युवक के मन में यह बड़े ही अन्तर्द्वन्द्व का कारण था। चिन्तन उन्मुक्तता इस कविता का प्रधान उद्गम थी और बदलते हुए मानों के प्रति दृढ़ आस्था इसका प्रधान संबल। इस श्रेणी के कवि ग्राहिकाशक्ति से बहुत अधिक संपन्न थे और सामाजिक विषमता और असामंजस्यों के प्रति अत्यधिक सजग थे।'[1] परिणाम यह हुआ कि उन्होंने प्रयत्न करके भाषा को अपने भावों के योग्य बनाया गया। इस प्रयत्न में सफलता भी मिली और रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, 'अँगरेजी आदि अन्य समुन्नत भाषाओं की उच्च विचारधारा से परिचित और अपनी भाषा पर भी यथेष्ट अधिकार रखने वाले कुछ लेखकों की कृपा से हिन्दी की अर्थोद्घाटिनी शक्ति की अच्छी वृद्धि और अभिव्यंजना प्रणाली का भी अच्छा प्रसार हुआ।"[2] पी-एच०डी० और डी० लिट् के लिये लिखे गये अनुबन्धों के रूप में हिन्दी साहित्य संबंधी जो शोधें और आलोचनाएँ प्राप्त हुई हैं उनका भी श्रेय अँगरेजी शिक्षा पद्धति को है। इतना अवश्य है कि उनमें से अधिकांश रामचन्द्र शुक्ल के "हिन्दी साहित्य का इतिहास' या 'त्रिवेणी' अथवा हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' अथवा "कबीर" के महत्व के नहीं हैं? ध्यान रखना चाहिये कि शुक्ल और द्विवेदी दोनों में से एक भी मूलतः अँगरेजी शिक्षा पद्धति की देन नहीं हैं। फिर भी, रामकुमार वर्मा द्वारा उद्धृत एक अमरनाथ झा के शब्दों में कहा जा सकता है " आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माण और हिन्दी के प्रसार में विश्वविद्यालयों से प्रशंसनीय सहायता मिली है।"[3] इसी के परिणामस्वरूप अँगरेजी राज्य में हिन्दी साहित्य के अध्ययन की पाश्चात्य पद्धति के अनुसार वर्गानिक और विधिवत् व्यवस्था हो सकी। पाठ्यक्रमों में रखने के लिये प्राचीन और मध्ययुगीन कवियों और लेखकों के ग्रन्थों की खोजें हुईं, उनके शुद्धतम

१ हिन्दी साहित्य, पृ० ४५१-४५२-४५३।

२ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', ११ वाँ संस्करण, पृ० ४५०।

३ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ३१ वें वार्षिक अधिवेशन के साहित्य-परिषद् के सभापति पद से दिया गया भाषण।

पाठ का निर्धारण किया गया और वैज्ञानिक ढंग से उनका साम्प्रदायिक विधि व्यवस्था समाप्त हो गई और पाश्चात्य युक्तिवादी दृष्टि और वैज्ञानिक ढंग से आलोचनाएँ की गई। उनका साहित्यिक मूल्यांकन और मनोवैज्ञानिक सामाजिक एवं ऐतिहासिक महत्व निर्णय किया गया। तुलनात्मक अध्ययन भी इसी व्यवस्था की देन है। अध्ययन का दृष्टिकोण व्यापक और विस्तृत हो गया। भाषा विज्ञान जैसे अनेक नवीन विषयों का भी अध्ययन प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार अँगरेजी शिक्षा व्यवस्था ने हमारी हिन्दी को प्रभावित किया।



अध्याय—६

सामाजिक पृष्ठभूमि

हमारे समाज की पिछली पृष्ठभूमि अँगरेजों का उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण परिणाम और जनता की प्रतिक्रिया परम्परा-प्रियता और उसका कारण वर्णभेद एवं वर्ग-भेद कट्टरता क्यों कट्टरता वाला दृष्टिकोण बदला हरिजन नारी दयनीय स्थिति नारी-जागरण पर्दा उठा नारी और राष्ट्रीयता नारी-शिक्षा जागृत नारी नारी स्वतंत्रता की उपयुक्त दिशा यह नारी और हिंदी साहित्य काम (सेक्स) और हमारी जीवन-दृष्टि सुनियोजित काम-भावना विवाह साथी का चुनाव कैसे हो बाल-विवाह दहेज विवाह का स्थायित्व वृद्ध विवाह और बहु विवाह परिवर्तन की प्रक्रिया प्रेम विवाह क्या नहीं एक ही गोत्र में और एक ही गांव में विवाह वर्जित सम्मिलित परिवार भारतीय पत्नी बच्चे विधवा त्योहार और ऋतु आदि वेश्या मादक द्रव्य भिखारी वैरागी फैशन शान मनोरंजन प्रेम अंधविश्वास धार्मिक सहिष्णुता समाज-सुधार—परिवर्तन प्रवृत्ति मार्क्स ग्रामोत्थान लौकिक दृष्टिकोण और भारतीय परम्परा सांस्कृतिक विघटन सुधार के प्रयत्न।

सामाजिक पृष्ठभूमि

हमारे समाज की पिछली पृष्ठभूमि—

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारतवर्ष अथवा हिन्दी प्रदेश की जो सामाजिक स्थिति थी उस पूरी तरह से हृदयगम करने के लिये उन सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखना होगा जो अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर अब तक हमारे प्रदेश में थीं। औरंगजेब के कट्टर इस्लामवाद अथवा उसकी कट्टर साम्प्रदायिकता ने देश के अन्दर व्याप्त ऐव सभावित सामाजिक एकता का नष्ट करके देश के विभिन्न सम्प्रदायों एव समाजों को अपनी विशिष्टता बनाए रखने के लिये प्रतिरक्षात्मक उपायों का अवलम्बन लेने अथवा उस दिशा में सोचने के लिये बाध्य कर दिया था। जब शिया सम्प्रदाय के मुसलमानों तक को अपने स्वतंत्र अस्तित्व की सुरक्षा की चिन्ता पड़ी हो गई थी तब हिन्दुओं की तो बात ही क्या ? राजनीतिक पराधीनता एव विपन्नता की स्थिति में अपने को विघटित होने से बचाये रखने के लिये हिन्दुओं को किलेबन्दी करनी पड़ी। सुरक्षा के लिये जब राजनीतिक अधिकार नहीं रह जाते और यह देखा जाता है कि शक्ति और अधिकारों से सपन्न एक आपदा हमारे सर्वनाश के लिये समुपस्थित है तब उस सकटकालीन परिस्थिति में सुरक्षा का सर्वश्रेष्ठ साधन होता है एक सुव्यवस्थित, सुगठित एव सुदृढ सगठन और कठोर अनुशासन। इस काल में अनुशासन भजक को स्वप्न में भी क्षमादान नहीं किया जा सकता। नियमों—कायदों का फौलादी कठोरता के साथ पालन होना चाहिये। यदि समाज को बचाना है, यदि संस्कृति की रक्षा करनी है, तो सामाजिक प्रथाओं और रीतियों का तथा सांस्कृतिक विधि निषेधों का और हिन्दू संस्कृति के क्षेत्र को यदि ध्यान में रखें तो "नानापुराणनिगमागम सम्मत यद्" जो कुछ है उस सब का पालन कठोरता के साथ आख मूँद कर होना चाहिये। विचार-विनिमय, तर्क-वितर्क, बुद्धि और ज्ञान, वर्तमान की अनुकूलता, परिस्थितियों की अनुरूपता, सुख-सुविधा, आदि की दृष्टि से सोचकर काम करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। धर्म और शास्त्र का अनुशासन तथा महान पुरुषों का अनुगमन ही एक मात्र रास्ता है। राजनीतिक अधिकारों की एव विधि विधान की प्रतिकूलता में हम किसी को मार तो नहीं समाज को विघटित होने से रोकने के लिये हम स्वेच्छाचारी का

ष्कार तो कर ही सक्ते हैं। यदि यह कठोरता और सफलता के साथ नहीं होता तो व्यक्ति मनमानी करने लगता है जैसा कि १८५० के बाद हिन्दू समाज में हो रहा है। ऐसा यदि होने दिया जाता तो समाज की अपनी संस्कृति विशेष मिटने में कोई देरी नहीं लगती। अठारहवीं शताब्दी तक मुसलमानों से बचने के लिये और १६ वीं शताब्दी से लेकर महात्मा गांधी के उदय तक मुसलमानों और ईसाइयों — दोनों से बचने के लिये हिन्दू समाज को प्रतिरक्षात्मक स्थिति में रहना पड़ा। यदि वह इसमें ढिलाई करता इसके पालन में शिथिलता बरतता तो मिटा दिया गया होता। बीसवीं शती के पहले और स्वयं इस शती में भी अपनाये गये प्रतिरक्षात्मक विधि-विधानों ने और इनके पालन की कठोरता ने हिन्दू समाज में रुढ़ि परम्परा का रीति-रिवाज का प्रथा-अनुष्ठान का धर्मानुशासन का रूप धारण कर लिया था। गुण दोष के रूप में दिखाई पड़ने लगा। स्वतन्त्र-चिन्तन सामाजिक उदारता, क्रान्तिकारी, कार्य सांस्कृतिक तत्वों के आदान-प्रदान आदि को अनुचित माना जाने लगा। कुछ भी हो, किन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इन्हीं प्राचीरों के कारण हमारा समाज प्रलय-परिस्थिति में भी सही सलामत निकल तो आया कि अब सुधार मार्ग पर चल सके? इन उपायों को न अपनाया गया होता तो चलना तो एक ओर, चलने वाला ही न रह जाता। अन्ध-विश्वासी होकर हम बचे, लेकिन बचे तो! यही क्या कम है कि हम अनेक प्राचीन जातियों की तरह नष्ट नहीं हो गये! जो लोग इस तथ्य को नहीं समझते वे प्रायः कह दिया करते हैं कि हिन्दू बड़ा अन्ध विश्वासी होता है, हिन्दू समाज बड़ा ही रुढ़िवादी समाज है। सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अथवा ऐतिहासिक आवश्यकताओं को न समझने वाले लोग हमारे रुढ़िवाद के सही रूप को समझ नहीं पाते और इसके कारण हमारी उपेक्षा एवं हमारा तिरस्कार करते हैं।

अँगरेजों का उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण, परिणाम, और जनता की प्रतिक्रिया—

१८५७ ई० की सशस्त्र भारतीय-स्वातन्त्र्य क्रांति के पश्चात् अँगरेजों का भारत संबंधी दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा कुछ बदल गया था, यह हम पीछे देख चुके हैं। हमारे साम्राज्यवादी प्रशासक अँगरेज को हमसे किसी प्रकार की सच्ची सहानुभूति नहीं रह गई थी। अँगरेजी साम्राज्य के एक अनिवार्य अंग एवं शाही मुकुट के सर्वोत्तम रत्न भारत पर उन्हें शासन अवश्य ही करना था, अपने देश एवं अपनी प्रजाति की रक्षा, उन्नति और समृद्धि के लिये भारत का आर्थिक शोषण और भारतीय बाजारों पर एकच्छत्र अधिकार बनाये रखना ही था राज्य करने के औचित्य को सिद्ध करने के लिये कुछ शासन सुधारों की घोषणा और भारतीयों को

प्रशासनिक अयोग्यता एवं अनुभवहीनता का ढिंढोरा उन्‍हें अवश्यमेव पीटना था। ऐसे दृष्टिकोण एवं उद्देश्य वालों के लिये उपनिवेशवासियों के लिये यह हितकर नहीं होता कि वे उपनिवेशों के अन्दर निवसित समाज की समृद्धि एवं विकास के लिये आयोजनाएँ बनाएँ और उन्हें कार्यान्वित करें। यही कारण है कि इस युग में अंगरेजों की सरकार की ओर से हमें सामाजिक उत्थान के लिये कोई भी प्रेरणा नहीं मिली। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से कल्याणकारी सरकार को इस बात की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये कि जनता किसी हितकारी कार्य के लिये आंदोलन करे। आंदोलन से विवश होकर अधूरे हितकारी अधिनियम पारित करने वाली सरकार राष्ट्रहितकारी सरकार नहीं कही जा सकती। सरकार ने समाज सुधार के लिये यदि एकाध कार्य किये भी थे तो आंदोलन के परिणामस्वरूप। राष्ट्रहित के कार्यों के प्रति सरकार की उपेक्षा ने समाज को आगे बढ़ने की प्रेरणा नहीं दी। जीवन के लिये सर्वथा अनुपयोगी और अत्यन्त मँहगी शिक्षा ने जनता को शिक्षित होने से वंचित रक्खा। किसान को पेट भरना और तन ढाकना था। कूटनीतिपूर्ण आर्थिक शोषण में उसकी स्थिति ऐसी करदी थी कि अथक परिश्रम करने के पश्चात् भी उसकी वे आवश्यकताएँ पूरी नहीं होने पाती थीं। अपने बच्चों को वह पढ़ाने की स्थिति में नहीं था। एक तो उसके पास पढ़ाने के लिये पैसा भी नहीं था और दूसरे वह पढ़ाए भी तो क्यों? पढ़ाने का तात्पर्य था लड़के से हाथ धो बैठना। पढ़ कर लड़का न किसानी करने के योग्य रह जाता था और न मां बाप-परिवार के प्रति आदर और अनुराग का भाव रखने वाला। अस्तु जनता अशिक्षित रह गई जिसका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक सुधारों की आवश्यकता को अनुभव करने की बौद्धिक पृष्ठभूमि उसके पास रह नहीं गई। एक बात और भी थी।

परम्परा प्रियता और उसका कारण—

जिन प्रथाओं, रीतियों, रिवाजों और परम्पराओं ने इतने आंधी तूफान के बीच उसके समाज के अस्तित्व और रूप को बनाए रखा उनका परित्याग वह करे भी तो क्यों? अंगरेजी पढ़े लिखों द्वारा प्रस्तावित और प्रचारित सुधार उसके जीवन को वह स्वरूप दे देते थे जो न तो उसके लिये उपयोगी था और न सांस्कृतिक दृष्टि से स्वीकार्य। परिणामतः जनता इन पढ़े लिखे लोगों के द्वारा उपस्थित सुधार के कार्यक्रमों के प्रति शंकालु हो उठी। सुधार विचार स्थगित हो गए। सामाजिक एवं पारिवारिक बहिष्कार का भय इतना आक्रांत करने लगा कि आर्य समाज तक के क्रांतिकारी सुधार उसे स्वीकार्य न हुए। स्थिति की विषमता इतनी तीव्र हो गई और जीवन के प्रचलित कार्यक्रमों पर होने वाला विश्वास और उन्हें

वसे ही बनाए रखने का आग्रह द्वारा अन्त हो गया कि विचार विनिमय का विस्तार प्रारम्भ हो गया। वह आग्रह बहुत नहीं करता, आपके सामने चुप भी रहेगा जवानी आपकी बात मान भी लेगा किन्तु करेगा वही जिसका उस परम्परा में समर्थन प्राप्त है। सुधारक स्वामियों और महात्माओं पर तो भी उसकी छाप तब तक समाप्त नहीं हुई जब तक उनके कार्यक्रमों ने जीवन के भीतर घुस कर अपनी अनिवार्यता स्वयं सिद्ध रूप में उपस्थित नहीं कर दी।

क्रांति या सुधार के किसी भी कार्यक्रम को जन समूहने सर्वप्रथम कभीभी स्वीकार नहीं किया। जिस प्रकार ब्राह्म वेला की सद्य जात अरुणाभा से पर्वतराज का उन्नत शिर और ललाट सर्वप्रथम वर्ग और कटि तत्पश्चात् चरणतल सबसे अन्त में अभिस्नात अथवा अनुरंजित होता है उसी प्रकार क्रांति की अग्नि शिखा-सी प्रोज्ज्वल क्रांति से समाज में वृद्ध शीर्षस्थ-सम्पन्न व्यक्ति सर्वप्रथम मध्यम वर्ग का उष्ण रक्त तरुण वर्ग तदुपरान्त और शेष समाज सबसे अन्त में उद्भासित होता है। राजा राममोहनराय द्वारा कल्पित सुधार सामान्य जनता में पहुंच कर अब स्वीकृत हो रहे हैं। स्वामी दयानन्द के द्वारा प्रचारित समाज-सुधार एवं धर्म-सुधार सामान्य जनता द्वारा पूर्णत एवं सर्वथा अभी तक स्वीकृत न हो पाये, यद्यपि उनके प्रभावों से उसका जीवन पूरी तरह से डूब गया है। प्रचलित व्यवस्था की तात्कालिक अवस्था के दोषों से जीवन तो सभी का आक्रान्त रहता है किन्तु उसकी चुभन की अनुभूति से आक्रान्त हो उठने वाले प्राणी या तो उनके होते हैं जिनकी उस अनुभूति की धार को प्रखरतर कर देने वाले और चेतना को अनुभूतिशील बनाने वाले साधन और माध्यम सुलभ हैं और या फिर उनके होते हैं जिनके अन्दर के शोणित कणों की ऊष्मा दुर्दमनीय होती है। एक बात और है। क्रान्ति या सुधार के कार्यक्रम को अपनाने पर जो तूफान खड़ा होजाता है या उसके प्रतिकूल जो प्रतिक्रिया प्रारंभ हो जाती हैं उन्हें प्रभाव विहीन एवं निष्फल कर सकने की उचित स्थिति एवं परिस्थिति भी तो होनी चाहिये। परम्परा के विरुद्ध कोई कार्य यदि जवाहरलाल नेहरू करें तो कोई उनका क्या बिगाड़ लेगा। इसी प्रकार यदि किसी प्रतिभाशाली नवयुवक ने अन्तर्जातीय या अन्तर्राष्ट्रीय विवाह सम्पन्न किया तो उसके विरुद्ध कोई क्या करेगा। हुक्का-पानी बन्द करो, वह सिगरेट पीने लगेगा? धन-सम्पन्न व्यक्ति अथवा पदाधिकारी के विरुद्ध कोई कार्य करते समय अपने आप ही लोग डरते हैं। फिर आप उनके साथ न खाएँ पिएँ तो खाने-पीने में उनका साथ देने वालों एवं इसके लिए लालायित लोगों की कमी नहीं रहेगी। उनके बच्चों के शादी-ब्याह रुकेंगे नहीं। जाति बिरादरी में ब्याह करने की उन्हें वैसे ही चिन्ता नहीं रहती जाति से बाहर के प्रतिभाशाली तरुण-तरुणियों की भी कमी नहीं। जिस परम्परा को आज हम तोड़ रहे हैं उस तोडने के लिये आज से बीस बाईस वर्षों के बाद कोई भी न

।

मिलेगा-यह माना भी नही जा सकता। बौद्धिकता एव युक्तिवाद की तरगो के प्रसार के साथ परलोक का भय आक्रात करता नही। क्राति निष्पन्न हो जाती है। धीरे धीरे इसका अनुकरण होता है और छोटी स्थिति के लोग भी ऐसा ही करने लगते हैं। धीरे धीरे यही प्रवृत्ति एक सामाजिक प्रवृत्ति बन जाती है। जनता के सामने इस कार्य-क्रम का व्यावहारिक रूप और परिणाम दोनो आ जाता है। इस प्रकार समाज बडी ही सतर्कता के साथ और अनुभव के बाद क्राति के मार्ग पर चलने को तैयार होता है। नारी शिक्षा की बात ले लीजिए। "स्त्री शूद्रो नाधीयाताम्' के आदर्श म आपाद मस्तक डूबे हुए समाज के सामने एक सामाजिक क्राति-स्त्री शिक्षा-का कार्यक्रम आय। पहले समाज के उन व्यक्तियो ने, जिनको इसकी सार्थकता बुद्धिग्राह्य थी, अपनी लडकियो को पढाना प्रारम्भ किया क्योकि उनके अन्दर इसका सामर्थ्य भी था कि व इस कार्य की प्रतिक्रिया द्वारा उत्पन्न तूफान से अछूते रह सक। दम्पति के बौद्धिक-स्तर की समानता की आवश्यकता ने भी इस कार्यक्रम के प्रसार म सहायता दी। विधवाओ के आर्थिक स्वावलबन और तदुपरात परिवार की आर्थिक स्थिति के बेहतर होने के विचार ने भी स्त्री शिक्षा के कार्यक्रम को और अधिक गतिशील किया। अनुभवो ने यह भी सिद्ध कर,दिया कि पढ लिख कर लडकिया न तो ईसाई ही हो जाती हैं और न भ्रष्टा ही। प्रत्यक्ष उपयोगिता समाचित आशका की अपेक्षा अधिक स्वीकार्य हुई। कार्यालयो म नौकरी करने वाली महिलाएँ उपयोगी अधिक सिद्ध हुई, असुविधा जनक अपेक्षा-कृत कम। समाज को यह विश्वास हो गया कि इससे उसका विघटन नही होगा और स्त्री शिक्षा अनुकूल परिस्थिति पाकर बढने लगी। आज यह याद करके कौतूहल मनोरजन और उसकी सावधानी के ऊपर सतोष होता है कि हमारे समाज ने किस ढग से धीरे धीरे लडकियो को घर से बाहर निकाला है। रामायण पढ सकने भर को घर पर पढले एक चिट्ठी म हालचाल लिखकर मायके भेज सकने भर को पढ ले बालिका विद्यालय म नौकरी करके वधव्य का जीवन काट सकने भर को पढ ले अच्छा और योग्य वर प्राप्त करने भर को पढ ले घर पर 'पडित" रख कर पढवा लिया जाय घर पर 'मास्टर' लगाकर पढवा लिया जाय— सूर्य की किरण और वायु की लहर भी जिसके भीतर न जा सके ऐसे ठेल मे भर कर स्कूल भेज दिया जाय पर्दे से घिरी सवारी मे बठा कर भाइयो या विश्वसनीय नौकरो से सुरक्षित करके भेज दिया जाय मुहल्ले की लडकिया के साथ भेज दिया जाय कोई भेज आया करे और ले आया करे घडी देखकर जाया और आया करे बुर्का अथवा चद्दर ओढ कर जाया करें और उसको ओढे हुए ही कक्षा म बैठा करे ओढ कर जाया कर और मात्र कक्षा म ही मुँह खोल लिया करे विद्यालय मे मुह खोले रहे मगर उसकी चहारदीवारी के बाहर

बराबर आईने पर [illegible] मुँह मार कर आया करे ।। सुनते हैं कि किसी विशे विद्यालय में स्त्री शिक्षा के लिये प्रारम्भ कक्षा को दो वर्गों में विभाजित किया गया था, जिनमें से एक वर्ग में [illegible] पढ़ते थे ! ! ! [illegible] रहा है कि हमारे समाज ने कतिपय कार्यक्रमों का इस प्रकार [illegible] और उनकी उप-योगिता और हानि [illegible] का ज्ञान अनुभव कर [illegible] है। इस दृश्य को न समझ सकने वाला [illegible] यह पढ़ कर [illegible] है कि भारतीय समाज की [illegible] हीनता और आधुनिक युग में 'भगवती [illegible] की [illegible] है। "बराबर बराबर मूँ [illegible] रहा बाँधी [illegible] !"[१] जिसका विचार है कि भारतीय समाज भयानक रूप से रूढ़िवादी है उनसे मेरा निवेदन है कि वे अपनी आंखों पर पड़ा हुआ घृष्ट्र विश्नी हटा दें। भारतीय समाज के मन में आधुनिक परिवर्तन स्वीकार करने की उतनी सुधारकों के कुछ विचारों तथा इन्होंने के वास्तविक अनुभवों और इनसे तुलना में अब प्रकृतियों सुविधा-देख साधन पर अगर विश्वास हो तो उसका यह उनकी उतना नहीं जाता। यह साथ समय पर कदम उठाता है। सुधारकों के प्रति विश्वास, समुचित वातावरण उचित प्रेरणा, और सुवाष्य प्रोत्साहन पाकर भारतीय समाज कितना गतिशील हो उठता है इसका एक उदाहरण गांधी जी द्वारा सचालित आन्दोलनों की सफलता में मिल सकता है। गांधी के आन्दोलन ने भारतीय समाज को कितना और कितनी तेजी से बदल दिया है यह पुराना आँखें ही देख सकती हैं पुराने हृदय ही अनुभव कर सकते हैं। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में एक सामाजिक क्रांति के कार्य सम्पन्न करके आपत्तियों और कठिनाइयों को सहन करने का साहस प्राय सभी वर्गों के थोड़े-बहुत व्यक्तियों में आ गया था। त्याग और बलिदान करके तथा कष्ट उठाकर और साहस करने की शक्ति से सम्पन्न तथा बौद्धिक उदारता से युक्त जिन महामनाओं के अन्दर सामाजिक क्रांति करने की इच्छा पैदा हुई थी उन्हीं में से अधिकांश ने आधुनिक हिन्दी साहित्य की रचना भी की है। कुछ लोग अँगरेजी लिख-पढ़कर अँगरेजी सोच-चाल कर और अँगरेजी रह-सहकर रुपया और अधिकार भोगते हुए परम्परित मार्ग पर अपने श्वासो-च्छ्वासों और उच्छ्वासों से शरीर को गाड़ी ढकेलते रहे। इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारे आधुनिक साहित्य में हमारे तत्कालीन समाज और उसकी समस्याओं का प्रशस्त चित्रण प्राप्त है।

जाँति पाँति—

शिक्षा व्यवस्था नवीन आर्थिक जीवन और उसके परिणामस्वरूप निर्मित

---

१ भगवती प्रसाद वर्मा की 'मसानादो' कविता की प्रथम पंक्ति।

मनोवृत्ति ने एक सबसे बड़ा काय यह किया कि जिन लोगों को इन्होंने प्रभावित कर रक्खा था उनके मन मे से जातिवाद के विधि निषेधों का भय समाप्त कर दिया। न मालूम कितने हजार वर्ष बीते जब (महाभारत के दिनों म) श्रीकृष्ण ने गुण और कर्म के आधार पर चार वर्णों की रचना की थी। अलग-अलग जातियो और वर्गों का एक सामाजिक सगठन के अन्दर लाने का यह सफल प्रयास था तब से आज तक किसी न किसी रूप मे हिन्दू समाज के अन्दर जाति-व्यवस्था प्रचलित है। अनन्त जीवनी शक्ति लेकर यह प्रथा जनमी थी कि हजारो वर्षों के बाद आज भी जीवित है। आज तक इसके सजीव एव सक्रिय तथा समाज के लिये किसी न किसी रूप म उपयोगी बने रहने का एक मात्र कारण यही हो सकता है कि एक तो यह मानव की कुछ मौलिक शाश्वत प्रवृत्तियो एव प्रकृतियो के आधार पर विनिर्मित हुई थी और दूसरे यह कि समाज के विकास क साथ ज्यो-ज्यो वे प्रवृत्तिया और प्रकृतिया बदलती रही त्यो त्यो इसने भी परिवर्तन स्वीकार किये। सात्विक, राजसिक और तामसिक वृत्तिया तथा सेवा काय मानव की शाश्वत प्रकृतिया हैं।

प्रसाद ने चन्द्रगुप्त नाटक म ब्राह्मणत्व की जो व्याख्या की है वह इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। ये प्राचीन काल के मानव समाज म थीं और आज के मानव समाज म भी हैं। इनके द्योतक काय मनुष्य पिछले युग म भी करता था और आज के युग म भी करता है और एक तरह के काय करने वालो का एक वर्ग–एक समाज–पहले भी बनता था और आज भी बनता है। यह वर्गो का विशिष्टीकरण था जो उस युग म भी था और आज भी है। एक तरह, एक स्वभाव और एक स्थान के लोगो मे पारस्परिक खान-पान विचार विनिमय आदी ब्याह का चल पड़ना न तब अस्वाभाविक था और न आज है। राजनीतिज्ञ राजनीतिज्ञो को और व्यापारी व्यापारियों को ही दावतें देगा। लिखन पढन वाले स्वभाव की लड़की को व्यापारी लडके की गृहिणी बना देने मे कोई भी समझदारी न तब थी, न आज है। अन्तर केवल इतना है कि हिंदू समाज शास्त्रियो ने इसे एक व्यवस्था का रूप दे दिया था, आज इस अवसर और परिस्थितियो की लहरो पर छोड दिया गया है।

जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, यह व्यवस्था एक विशेष युग की परिस्थितियो म बनी थी और इसका उद्देश्य समाज का सगठन और उसमे समतोल पैदा करना था लेकिन इसका विकास कुछ ऐसा हुआ कि यह उसी समाज के लिये और मानवीय मस्तिष्क के लिये बन्दी घर बन गई।[1] अस्तु बुराई केवल तब आई जब इस जाति व्यवस्था म कट्टरता आ गई। कहना यह है कि यह कट्टरता इस जाति व्यवस्था अनि

१ हिंदुस्तान की कहानी पृ० ३८

वार्य प्रकृति नहीं है। इस व्यवस्था म यदि ऐसी कट्टरता होती—लचीला पन न होता—तो यह कब की समाप्त हो गई होती। ब्राह्मण परशुराम और ब्राह्मण द्रोणाचार्य युद्ध कर सकते थे। ब्राह्मण चाणक्य कूटनीति का काय कर सकता था। क्षत्रिय विश्वामित्र तपस्या कर सकते थे। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'अशोक के फूल' नामक निबंध संग्रह म ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख किया है जबकि पूरे के पूरे वर्ग का जाति परिवर्तन कर दिया गया था। भयानक कट्टरता तो युग विशेष की आवश्यकता थी जो युग परिवर्तन के साथ समाप्त प्राय है। मेरा तो विचार है कि इस जाति व्यवस्था का हिन्दू समाज से पूर्णरूपेण उन्मूलन निरा तो कल्पना है। हाँ उसका स्वरूप अवश्य परिवर्तित हो जायगा। अतुलचन्द्र चटर्जी ने लिखा है—शायद यह आशंका करना बहुत अधिक आशावादिता ही न हो कि जाति व्यवस्था धीरे धीरे हिन्दू समाज के ऊपर से अपना बलमात्र स्वरूप एव प्रभुत्व खो बठेगी।[1] मेरा कुल परम्परा के सूचक तत्व के रूप म तो इसका अस्तित्व शाश्वत है क्योंकि यह एक सास्कृतिक चीज है। मेरा इस व्यवस्था से जो विरोध है वह केवल उस कट्टरता से है जो मध्ययुग की समाप्ति की शताब्दियों मे इसके अन्दर आगई थी।

कट्टरता क्यों?

मध्ययुग म राजनीति धार्मिक सम्प्रदायों की अशाश्वत एव एकदेशीय रूढ़ियों एव धर्म पाखण्डों का रूप धारण किये हुए थी। परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक कट्टरता एव उसका वर्गवाद धार्मिक सम्प्रदायों के साथ नियोजित हुआ और धर्म की शाश्वत प्रकृति पीछे पड़ गई। इन धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा विभाजित समाज उनकी प्रवृत्तियों से प्रभावित हुआ और यह भी वर्गों उपवर्गों म विभाजित होकर शाश्वत जातीयता की सास्कृतिक एव मौलिक एकता विस्मृत कर बैठा। सुरक्षा के लिये नियमों-उपनियमों के कट्टरता के साथ पालन करने की आवश्यकता होती है और उत्तर मध्ययुग मे सुरक्षा की भावना की आवश्यकता हिन्दू समाज से अधिक और किसी को नहीं हो सकती थी। इसीलिये जाति-व्यवस्था का और उसके विधि निषेधों का कट्टरता के साथ पालन प्रारम्भ हुआ। जवाहरलाल नेहरू ने यह स्वीकार किया है कि उन्नति के मूल्य पर सुरक्षा खरीदी गई है[2]। मैं सोचता हूँ कि यदि हम बचते ही न तो उन्नति किसकी होती? जिस प्रकार उस समय की राजनीति राजतन्त्र-अनुदारता और कट्टरता का शिकार था उसी प्रकार उस समय का समाज भी पराधीनता कट्टरता और अनुदारता से बाधित था। प्रजातन्त्र का राजतन्त्र म मौलिक मतभेद है। दूसरी बात यह है कि प्रजातन्त्र भारत की सामाजिक आवश्यकताओं एव उनके परिवर्तनों से

१ 'द इन्डिया' पृ० ४२

२ हिन्दुस्तान की कहानी पृ ३०

उद्भूत एव विकसित भी नहा हुआ है। वह बाहर से लाकर लादा गया है। हमारी नब्बे प्रतिशत जनता आज भी उसी मध्यवर्गीय प्रवृत्तिया वाली है। दो सौ वर्षों तक उसके विकास को रोक रखा गया और इधर कुछ दशाब्दियो की अवधि मे उसके अन्दर आधुनिक युग का वातावरण लाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इसलिये यदि अपने आलोच्यकाल के भारतीय समाज को हम देखते हैं तो वह उन प्रवृत्तियो और दापो म भरा हुआ दीखता है जो मध्ययुगीन हैं और जिसकी जड म कट्टर जातिवाद है। हमारा समाज जाति एव उपजाति के टुकडो म बँटा हुआ है। ऊँच-नीच का भेद भाव बहुत है। इसके अनुसार जन्म से ही व्यक्ति का सामाजिक स्थान निश्चित हो जाता है। प्रतिभा और सम्पत्ति के बल पर उसे बदला नही जा सकता। इसके अनुसार अपनी जाति से बाहर शादी नही की जा सकती। अस्पृश्यता की भावना को इसी समस्या ने जन्म दिया है। इसके कारण सामाजिकता की व्यापक भावना विकसित नही होने पाती। व्यक्ति का दृष्टिकोण जाति बिरादरी तक ही सीमित रह जाता है। जाति भावना जीवनके हरक्षेत्रम प्रमुखता पायेथी। अतएव व्यक्ति कीव्यक्तिगत स्वतत्रताका कोई अस्तित्व ही नही रह गया। हमारे आलोच्य काल म खान-पान, शादी-व्याह, ऊँच नीच और व्यवसाय की सीमाओ को प्रमुखता रही। इस शताब्दी के प्रारम्भ म जब राजेन्द्र बाबू कलकत्ता पढने गये तब 'जाति-पाति का झगडा इतना साथ लेते गये थे कि हिन्दू हास्टल म हमने अपने लिय अलग चौका रखा था जिसम बिहारी ब्राह्मण रसोई बनाता था। यद्यपि मैं डाक्टर गणेश प्रसाद के साथ भोज में शरीक हुआ था, तथापि जाति का बन्धन बहुत मानता था। वे तो मेरी अपनी जाति के आदमी (कायस्थ) थे, किसी भी दूसरी जाति के आदमी का छुआ हुआ कोई अन्न, जो अपने देश (बिहार) म नही खाया जाताहै वहा नही खाया। इतने दिनो तक वहा रहा, मगर बगाली 'मेस' म कच्ची रसोई एक दिन भी नही खायी।'[1] यह एक आदमी या एक परिवार का बात नहीं थी। "न बिहार के गाव का रहने वाला कोई आदमी होटल म रहकर वहा खाना पसन्द करता था '।[2] 'मेरी जीवन यात्रा' म राहुल साकृत्यायन ने समुद्र-यात्रा के वर्जित होने की बात लिखी है। समुद्र-यात्रा करने ही के कारण बलिया के विश्व विख्यात गणितज्ञ डाक्टर गणेश प्रसाद और गुजरात के महात्मा गाधी जाति से निकाल दिये गये थे। गाधी जी के लिये उनकी जाति की पचायत ने यह दण्ड घोषित किया था, यह लडका आज से जाति च्युत माना जायगा। जो कोई इसकी मदद करेगा अथवा इसे बिदा करने जायगा, पच उसस

१ 'आत्मकथा' पृ ७८।

२ 'बापू के कदमो म", पृ ३।

जवाब तलब करेंगे और उनसे सभा ग्रारा दण्ड भी दिया जायगा। [1] आंगिरस ने सोगले अहङ्कार की भावना पैदा कर दी है और इसका मध्य बड़ा शिखर सार्वभौम और सुनामधी 'बाभन' बन हुआ है। दोनों युग के गौरव "सनाम करते हैं और अहङ्कारी "बाभन" कहलाती 'सनाम' को आसमान समझकर स्वयं ही आंगिरस' हुजूर कह कर उसकी पूर्ति करता है। जो किसी का परिणाम था वह वास्तविक परिणाम का कारण बन जाता है। सनाम करने वाले को जो अनुकूलता और सम्मान प्राप्त करता है वही "आंगिरया" कहकर सामने वाला प्राप्त करता है यह जाति वाद अब शादी ब्याह पर अथवा समुदाय में खान-पान, और कुछ संस्कारों के अवसरों तक ही सीमित रह गया है।

कट्टरता वाला दृष्टिकोण बदला—

आपत्ति युग के अन्त और नवीन युग के आगमन ने मत-विमर्श द्वारा जनित और मान्यता प्राप्त कट्टरता को समाप्त कर दिया है, क्योंकि उस युग की प्रवृत्तियाँ नये युग के जीवन नई विचारधाराओं और नई प्रवृत्तियों के प्रतिकूल हैं। के० एम० पणिक्कर का विचार है कि जातिवाद और प्रजातन्त्र में दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं क्योंकि एक का आधार समानता है और दूसरे का जन्म के आधार पर नियत छोटाई-बड़ाई।[2] सांस्कृतिक पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप हिन्दू जाति में जो विचार-मंथन हुआ उसका यह नवनीत था अमूल्य निकला कि हिन्दू धर्म सम्प्रदाय नहीं है। उसका बहुत बड़ा गुण, उसका सबसे बड़ा गौरव और उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अनेक सम्प्रदायों की समष्टि होने पर भी स्वतः सम्प्रदाय नहीं है। अतः जाति की पवित्रता एवं विशुद्धता के नाम पर अन्य लोगों से दूर रहना और मनुष्य से परहेज करना वास्तविक पवित्रता एवं विशुद्धता नहीं है। छुआछूत, खान पान शादी-ब्याह आदि सामाजिक बातें हैं जो समय और परिस्थिति के साथ बदलती रहती हैं। ये हमारे धर्म के शाश्वत एवं मौलिक तत्व नहीं। इस प्रकार धर्म जातिवाद से अलग हो गया। समाज के महत्वपूर्ण लोगों की समझ में यह बात आ गई जिसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर कट्टरता समाप्त हो गई और दूसरी ओर जातियों की उत्पत्ति उनके विकास और उनके महत्व को सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोणों से देखा जाने लगा। भगवानदास ने लिखा है आश्चर्य नहीं कि जब दो सहस्र वर्ष पहले ब्राह्मण जाति बाहर से आई तब एक शाखा तलवार-बहादुर होने के कारण क्षत्रियों में मिल गई और दूसरी शाखा कलम की होशियारी होने के कारण किन्तु सर्वथा ब्राह्मण वृत्ति की अभिलाषा न करके एक अनिश्चित रूप से नये नाम से विख्यात हो गई जिसके व्यक्ति अपनी — अपनी विशेष प्रकृति, प्रवृत्ति और आचार-विचार के अनुसार कभी क्षत्रियों की ओर (गौड़) कभी वैश्यों की ओर, कभी शूद्रों की ओर झुकते रहे तथा

१ गांधी जी की आत्मकथा का एक प्रसंग।
२ कास्ट नामक पुस्तक।

इस जाति की एक तीसरी शाखा, जिसने सर्वथा ब्राह्मण वृत्ति अंगीकार की यह प्राय "शाकद्वीपी" ब्राह्मण हो गई।"[1] इसी जाति की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए उपयुक्त विद्वान ने लिखा है, 'मनुष्य की स्मृति, मनुष्य का हृदय, चित्त ही तात्विक वास्तविक आध्यात्मिक महाफिज दफ्तर' "रेकर्ड कीपर' मूल चित्रगुप्त है।"[2] इस प्रकार जातियां एक नई ही शक्ल मे हमारे सामने आई। उनकी मध्ययुगीन कट्टरता समाप्त हो गई। इस युग मे आर्यसमाज के आदोलन ने भी इस कट्टरता को मिटाने मे बड़ा योग दिया। इसके लिये त्याग बलिदान न करने पड़े हों, आजीवन कष्ट न सहना पड़ा हो ऐसी बात नही किन्तु लक्ष्य की प्राप्ति हो चली। नई जीवन-पद्धति, नवीन आवश्यकताओ और नई मजबूरियो ने धीरे-धीरे इन बंधनो को काट फेंका। पहले छिप कर उन्हे तोड़ा गया फिर खुल्लमखुल्ला सबके सामने। जीवन बदला। रहन-सहन के ढग बदले। मानव के महत्व -मूल्यांकन की कसौटी बनी उसकी योग्यता, 'उसके व्यक्तिगत गुण, और उसकी विशेषताएं'। जाति बाद न तो धार्मिक एवं आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति मे सहायक रह गया और न उसकी सामाजिक आवश्यकता ही रह गई। आज के जीवन के राजनीतिक प्रजातन्त्र, आर्थिक प्रजातन्त्र, और सामाजिक प्रजातन्त्र ने इसकी कट्टरता को निर्मूल कर दिया। गावो की कूपमडूकता की समाप्ति, भूमि मे व्यक्तिगत स्वामित्व की व्यवस्था, औद्-

व्यवस्था दे भी देते हैं। आर्यसमाज की विवाह पद्धति जो आर्य धर्म के अनुकूल भी है इसमें बड़ा सहायक हुई। सच्चे आर्यसमाजी इन क्रान्तिकारियों की सदैव सहायता करते रहे। लालच पंडित जी से हर तरह की नौकरी करवा लेता है। द्विजराज भृत्य "दादा, मनेजर बनने में अब हिचक नहीं सकते। होस्टल, होटल, रेस्टरां, रेल, और लम्बी लम्बी यात्राओं में छूत छात कैसे चलेगा! कब तक कोई गोमती के किनारे पानी छिड़क कर अंगोछा में सान कर सत्तू खाएगा। नल का पानी कब तक न पिया जायगा। अज्ञात के भय के अभाव बौद्धिक दृष्टि से निष्क्रिय रूप में प्राप्त निरर्थकता, तथा अच्छे खान और अच्छे पहनने की संभावना के कारण हर आदमी चाहे ब्राह्मण हो, चाहे कायस्थ मन युद्ध कर सकता है। वैश्य प्रिंसिपल का या हरिजन डिप्टी कलक्टर का रोब और प्रभुत्व ब्राह्मण चपरासी, कब तक न मानेगा। ब्राह्मण पुनः शूद्र माने जाने वाले कायस्थ प्रोफेसर से पढ़ने से कैसे इंकार कर देगा। 'हिंदू विश्व विद्यालय जितनी कल्याणी ' दविया को वेद पढ़ाने से इन्कार कर दिया और कहा तक इन दविया का वेद न पढने दिया। इस प्रकार राष्ट्रोत्थान एवं जातीयता के विनाश की भावना भी जातिवाद के विरुद्ध पड़ी। व्यावहारिक दृष्टि से अब जाति शासन का परिशिष्ट ही लिखा जा रहा है। हिंदी के आधुनिक साहित्य के स्रष्टा बीसवीं शताब्दी के इस परिवर्तन से पूरी तरह परिचित थे। हास्य में भी किसी ने जातिवाद की अव्यावहारिक कट्टरता का समर्थन नहीं किया। वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन उसके तात्विक एवं शाश्वत रूप को लेकर किया गया क्योंकि वह अपनी सांस्कृतिक धरोहर है और अपना सांस्कृतिक उत्थान हमें भी अभीष्ट था। कट्टर जातिवाद की भावना से आधुनिक हिंदी काव्य पूर्णतः मुक्त है। निराला और पंत आदि न तो कट्टर ब्राह्मण थे और न उनके साहित्य में ही यह है। हो भी नहीं सकता था। हमारे आधुनिक जातीय जीवन में इस कट्टर जातिवाद की जो दुर्दशा हो रही है उसी का प्रगतिशील चित्रण हिन्दी के आधुनिक कथा साहित्य में मिलता है। प्रेमचंद ने यह कह कर कि रोटियां हमारी जातिवादी पवित्रता के लिये ढाल स्वरूपा हो रही है, इसका मजाक ही उड़ाया है। कट्टर जातिवाद का यह विघटित स्वरूप हिन्दी कहानियों और उपन्यासों में इतना भरा पड़ा है कि उसका उदाहरण देना सूर्य को दीपक दिखाना होगा। शाश्वत प्रवृत्तियों एवं प्रगतिशील धारणाओं वाले तथा राष्ट्रीय उत्थान एवं सांस्कृतिक गौरव की पुनर्प्राप्ति की प्रेरणा में गतिवान विचार धाराओं वाले साहित्य को से विनिर्मित

१ स्व० मौलवी महेश प्रसाद आलिम फाजिल प्रा० हिंदू विश्व विद्यालय, काशी, की पुत्री जिसे पंडितों ने वेद पढ़ाने से इंकार कर दिया था।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में इस सामयिक एवं प्रगति विरोधी व्यवस्था का जो रूप मिलना चाहिये वही मिलता है। कविता में इसकी बुराई नहीं गाई गई है गद्य में इसका समर्थनशील चित्रण नहीं है। बौद्धिक दृष्टि से यह इतना बुरा सिद्ध हो चुका है कि इस पर प्रत्यक्ष रूप से साहित्य रचना प्रतिभा का दुरुपयोग मान लिया गया है।

हरिजन—

जातिवाद की कट्टरता की शिथिलता का सबसे अच्छा प्रभाव अछूतों की सामाजिक स्थिति पर पड़ा। हिन्दू समाज की एक अद्वितीय विशिष्टता है एक ऐसे वर्ग का अस्तित्व जिसको न छुआ जा सकता है न जिनके बीच बैठा रहा जा सकता है और न जिनको देखना अच्छा समझा जाता है। चाहे कितना ही बड़ा और विश्वसनीय महात्मा इनका समर्थन क्यों न करता हो किन्तु वह धर्म से बड़ा, मानव के अन्तर के शताब्दियों से चले आते हुए संस्कारों से बड़ा तो नहीं हो सकता और चूंकि, लोगों का विश्वास है कि इनका न छूना एक धार्मिक विधान है अतः अस्पृश्यता की भावना निर्मूल कर सकना बड़ा कठिन है। महात्मा गांधी ने "आत्म-कथा" में लिखा है कि जब अन्त्यज आश्रम में लिए जाने लगे तो सहायक मित्र मंडली में खलबली मच गई स्वामी दयानन्द की बात भी लोगों के गले आसानी से नहीं उतरी। जो जानिया ऐसे पेशे करता हैं जिन्हें सामान्यतः हिन्दू गन्दा और घृणित समझता है उनको अथवा भारत का मूल निवासी जन जातियों अथवा मनु के अनुसार प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न सन्तानों अथवा वर्ण-संकरों आदि को हिन्दू समाज में नीचा स्थान दिया गया और ये लोग अस्पृश्य समझे गये। भारत में कुछ अछूत ऐसे थे जिन्हें छुआ नहीं जा सकता था, कुछ ऐसे थे जिन्हें ब्राह्मणों के निकट आने की आज्ञा नहीं थी, और कुछ ऐसे थे जिन्हें अपना चेहरा भी दिखाने की आज्ञा नहीं थी। अंतिम दोनों वर्ग दक्षिण भारत में विशेष कर पाये जाते थे। अब इनका प्राय अभाव हो गया है – केवल अस्पृश्य वर्ग ही रह गया है। इनको दलित वर्ग बहिर्जातिया अछूत अथवा अस्पृश्य कहा जाता है। गांधी जी ने इन सभी संज्ञाओं में मानवता का अपमान अनुभव किया और इन सबके स्थान पर "हरिजन" शब्द प्रचलित किया। सी०बी० ममोरिया ने उन प्रतिबन्धों का उल्लेख किया है जो इस वर्ग पर समाज ने लगा रखे हैं।[1] ऐसे प्रतिबन्ध ६ हैं – (१) पवित्र ब्राह्मण से अपना काम-काज नहीं करवा सकते (२) जो नाई, कहार, दर्जी आदि स्वर्ण हिन्दुओं के यहां काम करते हैं वे इनका कोई

१ 'सोशल प्राब्लम्स ऍंड सोशल डिसआर्गनाइजेशन इन इंडिया' पृ० ३५३।

भी काम नहीं कर सकते, (३) ये सवर्ण हिन्दुओं को पानी नहीं पिला सकते (४) ये हिन्दू-मन्दिरों के भीतर नहीं जा सकते (५) जन साधारण के लिए निर्मित सड़कों पुलों कुओं, स्कूलों, आदि का इनके लिये उपयोग वर्जित है, और (६) गन्दे एवं घृणित काम करने से इनकार नहीं कर सकते। ये सब प्रतिबन्ध सभी अछूत वर्गों पर एक साथ ही लागू हो ऐसी बात नहीं है। जाति एवं प्रान्त के साथ इनमें कमी बेशी हो सकती है। आजकल अधिकार कम हो गया है कि गन्दगी उठाते समय लोग इनको न छूते हैं न सामान्यतः इनके हाथ का छुआ खाते हैं और न इनके हाथ का पानी पीते हैं। इन अछूतों में कुछ वर्ग ऐसे हैं जो औरों के द्वारा अस्पृश्य माने जाते हुए भी अपने से तथाकथित निम्नवर्ग वालों को अछूत समझते हैं। इनकी समस्या नगरों में उतनी अधिक नहीं दिखलाई पड़ती जितनी देहातों में क्योंकि एक तो शहरों में आवश्यकता परिस्थिति बौद्धिकता एवं विशालता जन्य प्रजातन्त्रात्मकता एवं नागरिक स्वतन्त्रता के योग इनकी दुर्गति की भयानकता छिप जाती है, और दूसरे ये लोग शहरों में जहाँ ५१ लाख के लगभग हैं वहाँ देहात में ५ करोड़ से भी अधिक हैं। भंगी चमार, पासी कोरी खटिक धोबी डोम दुसाध, मोची आदि इन अछूत वर्गों में माने जाते हैं। १९२१ में इनकी संख्या ५ करोड़ २७ लाख थी जो १९३१ में ५ करोड़ २ लाख रह गई। १९४१ में इनकी संख्या और भी घटी और कुल ४ करोड़ ८ लाख रह गई किन्तु १९५१ में ये फिर बढ़ कर ५ करोड़ ५३ लाख हो गये। मनुष्य जाति के इतने बड़े वर्ग को मनुष्य के सामान्य अथवा नागरिकता के मूलभूत अधिकारों से वंचित रखना सचमुच मानवता का अपमान था। सांस्कृतिक पुनर्जागरण अथवा बौद्धिक नवोत्थान की ज्योति में इनकी दुर्दशा का नया अर्थ हमारी समझ में आने लगा। जाति के एक भाग को पशुवत् जीवन बिताने के लिये विवश करके हम समस्त भारत को प्रगति और आत्मगौरव की प्राप्ति के पथ पर यथेच्छ गति से गतिशील कैसे कर सकते हैं यह सोचा जाने लगा। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद के अध्याय २६ वें के दूसरे श्लोक का उद्धरण देते हुए अछूतों के अध्ययन के अधिकार का समर्थन किया[1] और फिर लिखा 'और जो आजकल छूतछात और धर्म नष्ट होने की शंका है वह केवल मूर्खों के बहकाने और अज्ञान बढ़ाने से है ... आर्यों के घर में शूद्र अर्थात् मूर्ख स्त्री पुरुष पाकादि सेवा करें परन्तु वे शरीर वस्त्र आदि से पवित्र रहें ...।'[2] गांधी जी इसको हिन्दू जाति का ऐसा अक्षम्य और भयानक पाप समझते थे जिसके परिणामस्वरूप उसे न मालूम कितने कष्ट उठाने पड़ रहे हैं। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा, यह कि हम मे

---

१ सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास।

२ प्रकाश, प्रकाश दशम समुल्लास।

ऊँचना-नीचता नहीं होनी चाहिए। हमारे हरिजन भाई हैं जिनको हम जाने कितने पुश्तो से दबाए हुए हैं। यह बात खत्म हो जानी चाहिये।''[१] इसका सबसे बड़ा परिणाम यह हुआ कि अपनी स्थिति से असंतुष्ट होकर और उससे श्रेष्ठतर स्थिति में रखे जाने का आश्वासन पाकर ये लोग हिंदूधर्म छोड़ने लगे। इनके नेता डा० अम्बेडकर ने यह कहा था कि अस्पृश्य लोग मुसलमान और ईसाई हो जायेंगे। मरने से कुछ वर्ष पूर्व वे काफी लोगों को साथ लेकर बौद्ध हो ही गये थे। वैसे भी इनके नेताओं ने अपने को हिंदू कहना छोड़ दिया और अपने हितों के लिये हिंदुओं से पृथक होने का प्रयत्न करने लगे। अंगरेजी सरकार ने इस स्थिति का लाभ उठाया और दलित या अछूत जातियों की मनोवैज्ञानिक स्थिति का लाभ उठाकर इनके हितों के प्रश्न को उभार कर स्वराज्य आंदोलन के विरुद्ध एक अमोघ अस्त्र के रूप में इनका उपयोग किया। इनकी स्थिति में सुधार के प्रयत्न किये गये स्वयं इन लोगों ने 'अखिल भारतीय दलित संघ', "अखिल भारतीय दलित वर्ग फेडरेशन', आदि संस्थाएँ बनाकर, पढ़ लिख कर व्यापार, आदि के द्वारा अपनी आर्थिक स्थिति अच्छी करके, हड़ताल, आदि द्वारा अपना श्रमिक बढ़वा कर और स्वतः अपने सामाजिक महत्व की थोड़ी-बहुत अनुभूति करके अपने को अच्छा समझे जाने योग्य बनाया। १९३२ में जब अंगरेजी सरकार ने अपना 'साम्प्रदायिक परिनिर्णय' घोषित किया था तब उसके विरुद्ध गांधी ने जो अनशन किया था उसने देश भर में अछूतोद्धार की एक प्रबल लहर फैला दी और एक सप्ताह के अन्दर ही जैसे देश की कायापलट हो गई। राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों में, 'नतीजा यह हुआ कि आज अस्पृश्यता आहिस्ता-आहिस्ता अपने दुम के एक एक कोने से निकलती जा रही है।[२] आर्यसमाज पहले ही से इस प्रश्न को उठाये था। सम्मेलनों में भंगियों के हाथ से बनाना बँटवाना उनसे भोजन बनवा कर परोसवाना, उनको अपने पास बिठलाना आदि आये दिन का कार्यक्रम हो गया था।

गांधी जी द्वारा स्थापित 'हरिजन सेवक संघ' ने भी इनकी स्थिति सँभालने में असाधारण योग दिया। हरिजनों के लिये स्कूल खुले, छात्रावास स्थापित हुए, छात्रवृत्तियाँ और पुस्तक-सहायताएँ दी गईं हरिजन बस्तियों की सफाइयाँ हुई, स्वयं गांधी जी हरिजन बस्तियों में ठहरने लगे, और अनेक मन्दिर इनके लिये खुल गए। ब्रह्म समाज, आर्यसमाज, सामाजिक क्रांति एवं समाज सुधार की भावना ने अस्पृश्यता के उन्मूलन के प्रयत्नों को वेगवान बना दिया। हिंदू पुनरुत्थान की दृष्टि से यह कार्य

१ हिन्दुस्तान की समस्याएं पृ १५।

२ "बापू के कदमों में" पृ ७६।

अनिवार्य था। व्यापक मानवता भी इसी की माग कर रही थी। राष्ट्रीय एकता, शक्ति और सगठन के नाम पर भी इस कुप्रथा का अन्त हो जाना चाहिए था। आर्यसमाज के शुद्धि आदोलन और शुद्धि और हरिजनोद्धार के लिए महात्मा मालवीय के समर्थन ने भी हिन्दुओं को इस कार्य के लिये प्रोत्साहित किया। अग्रेजी सरकार ने इस सबध में कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया। जन आन्दोलनों से प्रभावित होकर १९३५ ई० के सविधान में अछूत जातियो की एक अनुसूची तैयार की थी जिसका उद्देश्य इनकी दशा सुधारना था। १९३७ के कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो ने हरिजनों के उत्थान के लिये विभिन्न प्रकार की योजनाए बनाईं। इस समय इनकी दशा और मनोवृत्ति में आश्चर्यजनक रूप से परिवर्तन उपस्थित हो गया है यद्यपि न तो वह पर्याप्त है और न व्यापक। जो कुछ है वह शहर तक सीमित है। हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य में इन अछूतो की जागृति और विद्रोह के बड़े ही मार्मिक और प्रभावशाली चित्र मिलते हैं। इसके पूर्व साहित्य में चित्रित सब में सुधारवादी मनोवृत्ति अर्थात् हरिजनो के प्रति सहानुभूति-सूचक दृष्टि की अभिव्यक्ति हुई है। सम्भ्रान्त कुल के लड़के खूबसूरत हरिजन लड़की से शादी करने की क्रांति करते हुए दिखाई पड़ते थे। कविता में इस सुधारवादी दृष्टिकोण की भावात्मक अभिव्यक्ति हुई है।

नारी दयनीय स्थिति—

सास्कृतिक पुनरुत्थान के वातावरण ने हमें देश की ओर दृष्टि दी अथवा गत आत्मगौरव की पुनर्प्राप्ति के अभिलाषियो ने जब अपने समाज को देखना प्रारम्भ किया, तात्पर्य यह कि जब हमने अहमालोचना प्रारम्भ किया कि यदि हम पहले जैसा महान बनना है तो अपनी किन किन कमियो को मिटाना होगा तब हमने पाया कि हमारे समाज का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्ग हमारे अस्तित्व का एक अनिवार्य अंग सभी दृष्टियों से अत्यन्त दयनीय स्थिति में है। उसको अनिवार्य रूप से दूसरे के घर जाकर रहना है इस विचार और इस मनोविज्ञान ने परिवार में उसकी स्थिति गौण कर रखी है। सामान्यत लोग ऐसी लड़की से अपने लड़के का ब्याह करना पसंद करते हैं जो असूर्यम्पश्या हो, जिसे किसी पर पुरुष ने छुआ तक न हो, जो सर झुकाकर चलती हो जो आख उठाकर, आख भर आख मिलाकर देखती न हो जोर से बोलती न हो मुह खोलकर चलती न हो, मन की बातो को मन में दबा कर रखना जानती हो, नये घर मे आकर अधिकार जमाने की इच्छा न रखती हो, वहम न करती हो जो दिया जाय वही खाय जो कहा जाय वही सुने जितना कहा जाय उतना ही करे उल्टा-सीधा जो भी आदेश हो उसे बिना मीन मेख निकाले मान ले जिसके पास न अपना कोई मन हो न अपनी कोई रुचि न अपना कोई अधिकार जो अपने कमरे

म पतिव्रता और उसके बाहर परिवारजना हो अर्थात् मनोविज्ञान की दृष्टि से जिसमें और एक न हो सी चुड़िया मे कोइ अतर न हो। जब लडकी को अन्तोगत्वा इसी तरह का बनना ही है तो बचारे मा बाप भी छ सात वर्ष की आयु की बालिका तक का जनाना डयोढ़ी के भीतर ढकेल कर पूणत इसी प्रकार की बना देते थे। लडकी और ससुराल ये दोनो तत्व इतने अभिन्न थे कि एक क्षण के लिये भी जन्म के पहले मे भी ससुराल की छाया से मुक्त लडकी के व्यक्तित्व एव अस्तित्व की कल्पना भी नही की जाती थी। इस दृष्टिकोण का प्रभाव लडकी के पालन-पोषण पर भी पडता था। लडका धनुष बाण स खेलेगा लडकी गुडिया गुड्डा खेलेगी और उनका ब्याह रचायेगी, लडका मार पाट, दौड धूप लडाई झगडा आदि खेलेगा लडकी चल्हा चौका खेलेगी, लडका दुकान पर जायगा, लडकी घर मे घुस जायगी और मैंने देखा है कि कही-कही लडकियो का घी दूध खाना सिद्धान्तत मना होता है क्यों कि मट्ठा अमृत होता है!! कहा जाता है कि जिसने नारी होकर खाना बनाना न जाना उसका जनम 'अकारथ' है। नगरो की स्थिति तो कुछ गनीमत भी थी किन्तु देहात म नारियों की स्थिति देखकर समझदार एव अनुभूतिशील प्राणी का दिल दहल जाता था। पढी लिखी लडकियो का दिमाग खराब हो जाता है ऐसा मानने वालो की कमी बीसवी शताब्दी के इस उत्तरार्द्ध मे भी नही है। यह दिमाग खराब हो जाना क्या है? लडकी का उन गुणो विशिष्टताओं एव अधिकारो की भाषा से सपन्न होना जिनकी उपस्थिति एव पूर्णतम विकास के कारण उसका भाई नर श्रेष्ठ माना जा सकता है। कितनी विषमता है कि ससुराल मे लडकी का जो कष्ट मिलता है, जिस प्रकार का अमानवीय व्यवहार उसके साथ होता है उसको देव-मुनकर मा बाप गम खा लेते हैं किन्तु यदि उन्हीं व्यवहारो के कारण उनकी लडकी विद्रोह करके उस घर से निकल आये तो वही प्यारी पुत्री उन्ही मा-बाप की आखो के लिये काटा हो जाता है। ये महिलाएँ आज भी देहातो म इतनी असम्मान्या होती हैं कि जिस कुशीनगर के दर्शन के लिये बर्मा और चीन तक से लाग आते हैं उसी का दर्शन वहा से केवल दस मील दूर बसे गाव की एक ब्राह्मण परिवार की महिला ने तीन वर्षों से नही किया थे शायद जीवन भर म एक बार भी नही किया था। पुल्लिग की दासता की मानसिक स्थिति यहा तक आ गई कि सात आठ वर्ष के बालक को साथ लेकर प्रौढ महिला कही भी निरापद अनुभव करके आने का साहस कर सकती थी। किन्तु अकेली कुछ दूर तक भी जाना उसके लिये मुसीबत थी किसी भी सामाजिक अवसर पर पुल्लिग रहिता नारी की कल्पना कष्ट कल्पना थी। दयनीयतम स्थिति विधवाओं की थी।

उनके लिये दो ही मार्ग थे — या तो वे परिवार की दासता स्वीकार करके आजीवन करुणतम स्थिति में रहकर सबके व्यंग्य और अत्याचार सहती रहें या वेश्यावृत्ति स्वीकार कर लें। पुरुष कुछ भी करके क्षम्य था स्त्रियां स्वाभाविक भूल चूक में भी कुछ भी करने पर अक्षम्य थी! बाल विवाह की चरम सीमा भ्रूण विवाहों के रूप में दिखाई पड़ने लगी थी! नासमझ बच्चों का ससुराल की इच्छानुसार रहने के लिये बाध्य करना सरल भी तो होता है! सम्पत्ति पर उनका कभी भी कोई भी अधिकार नहीं था — न पुत्री की हैसियत से, न पत्नी की हैसियत से न विधवा की हैसियत से। हमारे पास दो मापदण्ड थे पुरुष के लिये दूसरा और नारी के लिये दूसरा। पुरुषनिष्ठ पत्नी पतिव्रता है, क्षम्य है पूज्या है पत्नी-निष्ठ पुरुष 'जोरू का गुलाम' है, स्त्रैण, अनादरणीय! स्त्री के लिए ब्रह्मचर्य निषिद्ध है अकल्पनीय, पुरुष के लिए यह महत्ता का माध्यम है, वरणीय! लाला लाजपतराय ने लिखा है 'जिस देश में पुरुषों की राजनैतिक और सामाजिक स्थिति गुलामी की सी हो वहां स्त्रियों की स्थिति किसी दशा में अच्छी नहीं हो सकती। भारतीय स्त्रियों की वर्तमान दशा पश्चिमीय स्त्रियों की अपेक्षा उतनी ही बुरी है जितनी कि भारतीय पुरुषों की दशा पश्चिमीय पुरुषों की दशा से बुरी है।'[1]

नारी-जागरण—

सांस्कृतिक पुनरुत्थान के आन्दोलनों ने इस स्थिति की असाधारणीयता प्रत्यक्ष कर दी। हमने विचार विनिमय प्रारम्भ किया। पिछले इतिहास पर दृष्टि डाली और पाया कि वैदिक युग में शिक्षा और सामाजिकता की दृष्टि से नारी की स्थिति पुरुष के समान थी। हिन्दू नारी का आदर्श स्वरूप हमें सीता में मिला। महाभारत में नारी की स्थिति इतनी अच्छी थी कि वे पुरुषों का धर्म और समाज की समस्याओं पर राय दे सकती थी। द्रौपदी को "पंडिता" कहा गया है। भीष्म ने नारी को 'लालयितव्य' रखने की राय दी है और 'पूज्या' माना गया है। प्रियंवदा, "सौभाग्ययुक्ता" एवं 'गुणान्विता' कहा है। शान्ति पर्व में उन्होंने पुत्र रहित राजा की मृत्यु पर उसकी कन्या को 'रानी' पद देने का विधान दिया है (जो आज के भी सभी सभ्य राजतंत्रों में प्रचलित है)। स्मृतियों में लिखा है 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'। मनु ने 'पूज्या भूषयित्वा' कहा है। शास्त्रों में यह भी विधान है कि यदि पुत्री ऐसे वर को दी जाती है जो गुणहीन या चरित्रहीन है तो पुत्री को ऐसा वर कभी भी नहीं स्वीकार करना चाहिये। वह चाहे तो मृत्युपर्यन्त पिता के घर में कुमारी बनी रह सकती है। ऋतुमती होने के तीन वर्षों में भी यदि

१ दुखी भारत पृ० १९६।

से आज तक नारी की मनमानी दुर्गति पर विचार विनिमय होता आ रहा है और उन्हें सुधारवादी दृष्टि तथा जीवन की नवीनतम् आवश्यकताएँ प्रगति के मार्ग पर जाने और अनजाने, दोनों ही ढंगों से अग्रसर करती जा रही हैं। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है हमारी सभ्यता, हमारा रीति रिवाज, हमारे कानून सब आदमी ने बनाये हैं और आदमी ने अपने को ऊँची हालत में रखने का और स्त्रियों से माल मतली और खिलौनों जैसा बर्ताव करने और अपने फायदे और मनोरंजन के लिये उनका शोषण करने का पूरा ध्यान रखा है। इस लगातार बोझ के नीचे दबी रहकर औरतें अपनी शक्ति पूरी तरह से नहीं बढ़ा पाईं और तब आदमी उन्हें पिछड़ी हुई होने का दोष देता है[1]। वे फिर कहते हैं मेरा विश्वास है कि स्त्रियों को मानवीय कामों के प्रत्येक विभाग में सर्वोत्कृष्ट शिक्षा मिलनी चाहिये और उन्हें तैयार किया जाना चाहिए जिससे वे तमाम पेशों में और क्षेत्रों में सक्रिय भाग ले सकें"।[2] नये युग में नेहरू जी का यह विचार यहां तक कार्यान्वित हो चला है कि कान्डों में लिपटा रहने वाली नारियां मलिक वर्दी पहन कर चूड़ी पहनाने वाले तथा सहवा सिलाने वाले हाथों में बन्दूकें पकड़ कर घर में चूल्हा फूँकने वाले मुख से 'जय हिन्द' का उच्चारण करती हुई, लाज से नीची रहने वाली गर्दन को गर्व से उन्नत एवं तनी हुई करके परेड करती हुई और सुभाष बाबू के नेतृत्व में देश विरोधियों से रणक्षेत्र की प्रथम पंक्ति में खड़ी होकर हथियारों से मुलाकात करती हुई दिखाई पड़ीं। यह सही है कि ऐसी स्थिति में भारत का समस्त नारी-वर्ग नहीं है किन्तु कुछ है यह कम नहीं है। सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से आज भारत की नारी दफ्तरों में काम करने, सड़कों पर साईकिल और मोटर चलाने, दुकानों से सामान खरीदने सड़कों पर निर्भीक घूमने, अकेली यात्राएँ करने, और सामूहिक एवं सार्वजनिक रूप से खेलकूद में भाग लेने की स्थिति तक पहुँच गई है।

पर्दा उठा—

पर्दा हटना अनिवार्य हो गया। प्राचीन साहित्य ने हमको यह विश्वास करा दिया कि हमारे यहां पर्दे का रिवाज कभी भी नहीं था। यह हमारी अपनी चीज नहीं हो सकती। इस विश्वास की पुष्टि हुई एक ओर जवाहरलाल नेहरू द्वारा लिखित इन वाक्यों से, "शायद इसका आरम्भ बाइजेंटाइन दरबारियों के दायरे में हुआ ... बाइजंटाइन प्रभाव रूस में पहुँचा ... अरब और फारस की मिली जुली सभ्यता पर बाइजंटाइन रीति रिवाजों का बहुत-कुछ असर पड़ा ... मालूम पड़ता है कि परदे के रिवाज की उन्नति हिन्दुस्तान में मुगलों के जमाने में हुई ... इसमें मुझे जरा भी शक नहीं कि हाल की सदियों में हिन्दुस्तान के ह्रास के कारणों में से एक खास कारण औरतों को

१ हिंदुस्तान की समस्याएँ, पृ ८५।
२ हिंदुस्तान की समस्याएँ, पृ ८७।

परदे म रखने का रिवाज है। मुझे इसका और भी अधिक विश्वास है कि इस बवर रिवाज का पूरी तरह अंत होना हमारे समाजी जीवन की उन्नति के लिये अनिवार्य है [1], और दूसरी ओर स्वामी शिवानन्द के इसी प्रकार के निर्णय से कि पर्दा प्रथा का जन्म यूनान म हुआ जहा से यह ईरान मे आकर वहा के प्रारम्भिक मुसलमान आक्रमणकारियो द्वारा भारत में लाई गई।[2] इस रिवाज के पूर्णतया उन्मूलन म शताब्दियो से चलती आती हुई समूह की एक भ्रमपूर्ण धारणा, मनोवृत्ति, मात्र बाधा के रूप मे रह गई है। कोई भी समझदार व्यक्ति अब इसका समर्थन नही करता। नारी को पिंजडे मे बन्द रखने की जितनी भी धार्मिक युक्तियां या फतवे थे उन सबका तिरस्कार हो गया। भारत की प्राचीन नारी की स्थिति स्वागताह हुई।

नारी और राष्ट्रीयता—

पश्चिम की आधुनिक नारी की स्थिति के तुलनात्मक अध्ययन से भी नारी-स्वतन्त्रता की भावना को प्रेरणा मिली। राष्ट्रीय आदोलन और गाधी जी का महत्व इस दृष्टि से असाधारण था। जिस नारी को समाज ने गोण स्थान द रखा था उसे गाधी जी ने हिन्दू संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ तत्व 'अहिंसा' और युग क सर्वश्रेष्ठ हथियार सत्याग्रह का प्रतीक साक्षात् अवयार साकार स्वरूप थापित किया। युगों-युगो के बाद पहली बार भारतीय नारी ने (गाधी जी द्वारा सचालित) राष्ट्रव्यापी आदोलन म मर्दों के समान खुल कर उत्साहपूर्वक भाग लिया और इस प्रकार आधुनिक युग म पहली बार नारियो म निहित शक्ति और क्षमता की सामूहिक एव प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हुई। ताय। जिनविन ने लिखा है कि सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से आज की भारतीय नारी महात्मा गांधी की सृष्टि है।[3] उदार दृष्टिकोण और युक्तिवादी विचारों की तलवार न ना ी के समस्त बन्धन छिन्न भिन्न कर दिये। पर्दा अब लाज लिहाज और आत्मरक्षा-वृद्धि क लिय किया कराया जाता है। समझदारी आन क साथ साथ बाल विवाह खत्म होने लगा। यथार्थवादी और मानवतावादी दृष्टिकोण न विधवा विवाह को मान्यता दिला दी।

नारी-शिक्षा

ब्राह्मसमाज आर्यसमाज रामकृष्ण मिशन एव उदारचेता व्यक्तियों आदि ने नारी शिक्षा का कार्यक्रम उठाया। १९१६ ई० म डी क० कर्वे जा की 'इन्डियन वामन यूनिवर्सिटी' स्थापित हुई। १८१७ मे छात्राओ की सख्या १८६०००० थी

१ 'हिंदुस्तान की कहानी' पृ २०४–२०५।
२ हिंदुस्तान का कहानी' पृ २०४–२०५।
३ वल्ड पार्लियामेंट आफ रिलीजस का कमेमोरेशन' वाल्यूम, पृ ८५ ।

और १८३७ ई० में २८६०००० हो गई। यह अवश्य है कि सदस्यों के जीवन के लिये उपयोगी पाठ्यक्रमों का अभाव था। इस महिला नहीं, सदस्यों की आवश्यकता थी। प्रयाग महिला विद्यापीठ, प्रयाग, ने इस अभाव की पूर्ति का प्रयास किया था पर उसका व्यापक न पड़ सका। मारत अध्यापिकाओं का भी अभाव था क्या कि धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार, कुछ दिन पहले अपने देश में स्त्रियों के बीच में पढ़ना लिखना विधवाओं का कार्य समझा जाता था और प्रारम्भ में प्राय था भी ऐसा ही अध्यापिकाएं प्राय विधवाएं या कुमारी वर्ग की हैं यदि सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से उसे ऐसी कुमारी अध्यापिका अथवा विधवा अध्यापिका बनकर गृहस्थिन-सा बनना पड़े तो उस का सारा जन्म दुःख में कटे'[1] भारत की नारी की शिक्षा की प्रगति में बड़ी-बड़ी बाधाएँ थीं, जैसे पर्दा, बाल-विवाह लड़कियों के पढ़ाने में सामाजिक असुविधाओं और अनय की आशंकाओं के कारण मा बाप की हिचकिचाहट, नारी शिक्षा के पाश्चात्य स्वरूप पर अविश्वास, मध्य वर्ग की आर्थिक दुरवस्था, आदि।' फिर भी, पिछले ५० वर्षों के अन्दर उपहास और उपेक्षा की स्थिति से आगे बढ़कर उत्साह प्रेरित क्रियाशीलताओं और उत्सुकताओं तक की स्थिति आ गई है।[2] स० १९५१ ई० के जनगणना के अनुसार भारत में शिक्षित नारियों की कुल संख्या १३६५०६८३ थी जिसमें २६२०६० हाई स्कूल पास थी, ५८२७६ इ टर, और १८१०६४ डिग्री या डिप्लोमा पाये थीं। २६६४४ बा० ए० और बी०एस-सी० थी, ६८३७ एम०ए०-एम० एस सी०, ६१२ इंजीनियरिंग की डिग्री या डिप्लोमा पाय थी, ८५३ औषधि विज्ञान की, १०१५ वाणिज्य विज्ञान की, ८३३१ औषधि कला में दीक्षित थी, और ३७७७७ प्रशिक्षण में।

जागृत-नारी —

अब नारियों ने खुल कर अधिकारों की माग की। शिक्षा, महान् विभूतियों के सद्भावना पूर्ण दृष्टिकोण, उद्गारों, एवं क्रियात्मक सहयोग ने नारी को साहस प्रदान किया। उसे अपनी बुद्धि और नैतिक दृढ़ता पर आत्मविश्वास हुआ। पर्दा हटा। वह बाहर निकली। 'चाद' में प्रकाशित लेखों और महादेवी वर्मा की 'शृंखला की कड़ियां' नामक पुस्तक के लेखों ने क्रांति मचा दी। रूढ़िवादियों ने अपनी बालिकाओं को इस साहित्य के पढ़ने से रोकना चाहा। शरतचन्द्र चटर्जी की कहानियों और उपन्यासों के अनुवादों ने उसके नैतिक आत्म बलिदान की सराहना का प्रचार किया। गांधी ने कहा कि जिस दिन भारत की नारियां डरना छोड़

१ 'विचारधारा', पृ० १०।

दगी उस दिन गई इस देश की ओर आंख उठा कर देख भी न सकेगा। नारी का महत्त्व प्रतिष्ठापित हो गया। उसका व्यक्तित्व सबल, स्वतंत्र, और महत्वपूर्ण हो गया। ए०आर० देसाई ने लिखा है, 'हजारों महिलाएँ राजनीतिक क्षेत्र के जन आन्दोलन में भाग ले रही हैं—शराब की भट्टियों और विदेशी वस्त्रों की दुकानों पर पिकेटिंग कर रही हैं जुलूस में आगे-आगे चल रही हैं लाठियों की मारें और गोलियों की बौछारें झेल रही हैं, जेल जा रही हैं। य दृश्य महिला समाज के ये कार्य-सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में अद्वितीय थे—अनोखे थे।''[1] हजारों श्वेताम्बर धारे कमल कोमल किन्तु वज्रादपि कठोर करों से तिरंगे झंडे फहराती हुई तथा इन्कलाब जिन्दाबाद' के नारे लगाकर वायुमंडल को प्रकंपित करती हुई ब्रिटिश साम्राज्यवाद के वक्ष को अपने पाञ्चजन्यी घोष एवं शाङ्खों निनाद से आलोड़ित विलोड़ित करती हुई निकल पड़ीं। और, जो बाहर नहीं निकलीं उन्होंने मूक भाव से विज्ञापित न करते हुए भी, जितने असाधारण कष्ट सह-सहकर भी अपने घर के पुरुषों को घर की जिम्मेदारी से मुक्त करके राष्ट्र-सेवा के लिये जीवन अर्पित करने का जो सुअवसर प्रदान किया उससे भारतमाता की छाती गौरव से फूल उठी होगी, हृदय आवेग से प्रकम्पित हो उठा होगा, आंखें भावावेश से गीली हो उठी होंगी। 'यशोधरा' ने पूछा था—'सखि, वे मुझसे कह कर जाते, कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ बाधा ही पाते?'[2] इसका उत्तर भारत की इन्हीं बेटियों ने अपने बलिदानों से दिया। मुझे तो ऐसा लगता है कि यशोधरा के निम्नलिखित शब्दों में यह भारतीय नारी ही बोलती है—

जाओ नाथ! अमृत तुम लाओ मुझमें मेरा पानी
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी।
प्रिय तुम तपो, सहूँ मैं भरसक, देखूँ बस हे दानी
कहां तुम्हारी गुण-गाथा में मेरी करुण कहानी
तुम्हें अप्सरा विघ्न न व्यापे यशोधरा कर-धारी
अब कठोर हो वज्रादपि, ओ कुसुमादपि सुकुमारी
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।[3]

भारतीय महिला-समाज के इतिहास के नवीनतम एवं गौरवपूर्ण आलोकमय अध्याय का आलेख आरम्भ हुआ। मस्तिष्क में सात्विक विवेक, शरीर पर खद्दर, अन्तर

१ 'दि सोशल बैकग्राउण्ड आफ इंडियन नेशनलिज्म'' पृ० २५७।

१ मैथिलीशरण गुप्त लिखित यशोधरा।

२ वही।

म देशभक्ति की भावना एव स्वतन्त्रता की प्रज्वलित वह्नि, एक हाथ में कलम, दूसरे मे तिरगा, आगे उठे हुए चरण यह भारत की नवीनतम रणरानी का चित्र है दुर्गा का स्वरूप है। इसकी एक ओर म प्राचीन शील और मर्यादा सुरक्षित है और दूसरी म नवीनतम जागृत की आभा है। इसके पास प्रेम-समरस की पयस्विनी भी है और सुधार की दीपशिखा भी। सीता-सावित्री-गार्गी दमयन्ती-द्रौपदी लक्ष्मीबाई, आदि ने कमला, विजयलक्ष्मी, सरोजिनी अरुणा, इन्दिरा, कप्तान लक्ष्मी आदि का रूप धारण कर लिया। कौशिल्या, सुमित्रा आदि कस्तूरबा स्वरूप रानी आदि का रूप धारण करके निकल पडी। एक ही झटके म भारतीय नारी ने युगो युगो की अनावश्यक न सलाखों को तोड फेका। जागृत भारतीय नारी के साहस उसकी शक्ति उसकी क्रियाशीलता का उल्लेख करते हुए ताया जिंकिन ने जो कुछ लिखा है ¹ उससे पता चलता है कि आज नारी सारी कठिनाइयों उठा-उठा कर, पदल दौड-धूप कर धूप सर्दी-गर्मी बरसात सह-सह कर जमीन पर और मोटरो पर हाजिरिया लेकर कर, भूखे रह रह कर, देहातो की धूल फाक फाक कर, हर तरह के खतरे उठा उठा कर और हर तरह से उन्हे भुगत भुगत कर नय भारत का निर्माण इस तरह कर रही है कि उसे देख कर एक बार पुरुष भी काप उठा है। इन नारो ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों म नौकरिया कर कर के अपने और अपने परिवार के आर्थिक बोझ को कम किया है। वह अध्यापिका बनी नर्स बनी समाज सेविका बनी, टाइपिस्ट बनी मिलो मे काम किया और बस-कडक्टर बनी। आज यह धारणा निर्मूल हो चुकी है कि औरतो की दुनिया चहार दीवारी के भीतर है और मर्दों की उसके बाहर। के०एम० कपाडिया ने लिखा है, 'आधुनिक वैज्ञानिक विचारो ने स्पष्ट यह दिखला दिया है कि नारी योनि पाने ही के कारण कोई ऐसी बात नही हो जाती जिसके कारण नारी को कोई विशेष अधिकार न दिये जा सकें। नारी की हीन स्थिति उन पर समाज के द्वारा लादी गई है। मनोवैज्ञानिक या युक्तिवादी आधारो पर इसकी कोई विशेष सन्तोष जनक व्याख्या नही की जा सकती। परिणामत नारी ने समानता की माग की है और वह अपने व्यक्तित्व को मान्यता दिलाने के लिए आग्रहशील है² 'औद्योगिक क्रान्ति ने उत्पादन का स्वरूप इस प्रकार बदला कि शारीरिक श्रम पहले जैसा अनिवार्य नहीं रह गया और औरतें काम करने निकल पडी। १९५० की सख्याओ के आधार पर विभिन्न पेशो म स्त्रियो की सख्या इस प्रकार है³ — लगभग ५, १२ ००० प्राथमिक तथा बुनियादी स्कूलो की अध्यापिका, ३१००० माध्यमिक स्कूलों

१ 'इडिया चाज' पृ ४४।

२ मरिज एँड फेमिली इन इडिया' पृ० १८२।

३ कलानाथ शर्मा मॉडर्न भारतीय समाज और सस्कृत" पृ० २८४२८१।

अध्यापिकाएँ, २६०२ रजिस्टर्ड डाक्टर, २३८४ अन्य महिला डाक्टर, १७,६८३ नर्स, २४२१८८ फक्टरियों में श्रम करने वाली, ५३२४०६ चाय बगानों में काम करने वाली, ८६५०६ खानों में काम करने वाली, ३२८६०४ घरलू उद्योगों में काम करने वाली। एतः करने में उसका उत्तरदायित्व दूना हो गया। वह घर भी सँभालती हैं और नौकरी भी करती है। चाय–खाना तो उसे अवश्य ही तयार करना होता है क्योंकि मां और पत्नी के हाथ की रोटी बड़ी मीठी होती है न! मद ऑफिस कालेज से लौटने पर आराम करता है पत्नी परिवार की सेवा किया करती है बाद में लोगों को इस मिठाई का मोह कुछ छोड़ना पड़ा। अब यह कर्तव्य निष्ठ नारी कामिनी मोहिनी, रमणीमात्र नहीं रह गई। उसने जहरीली आंखों को फाड़ना और गुण्डों के सिरों पर चप्पल बरसाना भी सीख लिया। वह गुड़िया मात्र नहीं रह गई। अतुल चन्द्र चटर्जी ने लिखा है, सभी धारणाओं एवं राजनीतिक विचारधाराओं वाली महिलाएँ चाहे वे राजघरानों की हों चाहे सामान्य स्थिति वालों के घरों का सारी जनता की और विशेष रूप से नारियों की अवस्थाएँ सुधारने के उद्देश्य से अखिल भारतीय संगठनों एवं संस्थाओं में अपूर्व उत्साह, स्फूर्ति तेज और सक्रियतापूर्वक भाग लेने लगी हैं[२] के० नटराजन ने बिलकुल ठीक लिखा है कि यदि एसा कोई व्यक्ति उसकी मृत्यु आज से सौ वर्ष पहले हुई हो आज सहसा जीवित हो उठे तो उसके मस्तिष्क को झकझोर देने वाली सबसे पहली और सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात लगेगी नारी की स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन।[३] भारतीय नारी ने उन सभी महत्वपूर्ण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पदों को प्राप्त किया है और संसार में पहली बार प्राप्त किया है, जिसे पाकर कोई भी पुरुष धन्य हो उठता। वह विश्वविद्यालय की उपकुलपति रह चुकी है वह राष्ट्रीय कांग्रेस की सभापति रह चुकी है, वह प्रान्त की गवर्नर रह चुकी है। इस दृष्टि से हंसा मेहता सरोजिनी नायडू तथा एनी बेसेंट, राजकुमारी अमृतकौर, विजयलक्ष्मी पंडित सुचेता कृपलानी, कमला देवी चट्टोपाध्याय, इन्दिरा गांधी, रामेश्वरी नेहरू, आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

नारी स्वतन्त्रता की उपयुक्त दिशा ?

प्रश्न एक ही है नारी स्वतन्त्रता की यह दिशा या उसका स्वरूप क्या होगा। महादेवी वर्मा ने 'श्रृंखला की कड़ियां' में स्पष्ट रूप से यह घोषणा की है कि भारतीय नारी को पश्चिम की नारी की तरह फैशन की पुतली नहीं बनना है।

२ न्यू इंडिया, पृ० ४८।

३ "इंडियन सोशल रिफॉर्मर", के २५ सितम्बर, १८३७ वाला अंक।

स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है — 'हम पश्चिम में नारी पूजा की बात बहुत सुनते हैं पर यहां नारी केवल अपने यौवन और सुन्दरता के लिये ही पूजी जाती हैं। हमारे गुरु प्रत्येक नारी को अभयदायिनी माता ही मानकर पूजते, अन्य किसी कारण से नहीं'।[१] भारतीय नारी को अपने इसी गौरवमय पद की रक्षा करनी है। उसे सशक्त देवी बनना है। यह कैसे होगा इसको अभी निश्चित होना है। नये युग की पृष्ठभूमि में भारतीय समाज और परिवार के अन्दर स्त्रियों का स्थान क्या हो तथा पति-पत्नी के संबंध का रूप क्या होना चाहिए इस विषय में अभी भी विचारों में स्थिरता नहीं आ सकी है। यह एक गहन सांस्कृतिक प्रश्न है।[२] इसका उत्तर समय देगा। वैसे, भारतीय नारी अपना स्थान जानती है। उसके लिये उसे झगड़ना नहीं। पुरुष उसकी उन्नति का विरोधी नहीं, सहायक है।

यह नारी और हिन्दी साहित्य—

आधुनिक हिन्दी साहित्य में नारी के सभी रूप और उसके विकासशील जीवन की सभी स्थितियां मिलती हैं। उसके उस रूप का भी चित्रण है जो सरदार भगतसिंह की 'दीदी' का है और उसके देहातों के उस रूप का भी जहां उपयुक्त विकास के आलोक की एक भी किरण नहीं पहुंचने पाई है। प्रेमचन्द के 'गोदान'' की मालती, झुनिया और धनिया नारी के विकास की तीन स्थितियां एवं रूपों का प्रतिनिधित्व करती हैं। प्रसाद, चन्द्र किरण सौनरिक्सा पन्त गुप्त पहाड़ी, यशपाल, आदि लगभग सभी कलाकारों की कृतियों में ये चित्र भरे हैं। प्रसाद की श्रद्धा, गुप्त की यशोधरा और उर्मिला, और मुक्त करो नारी को मानव का आह्वान करते पंत की कल्याणि यशपाल की दिव्याएं आदि नारी जागरण की इसी पृष्ठभूमि पर कल्पित एवं चित्रित हुई हैं। भगवती चरण वर्मा की चित्रलेखा के रूप में जहां आधुनिक नारी ने ही कुमारगिरि रूपी पुरुष को चुनौती दी है और वह हार कर भी जीती है। प्रेमचंद महादेवी आदि एकाध कथाकारों को छोड़ कर शेष कलाकारों की कृतियों में नगरों के मध्य वर्ग की ही नारी के चित्र अधिक मिलते हैं। शेष चित्रणों में कल्पना और आदर्श के रंगों की अधिकता हो जाती है जो कदाचित इन साहित्यिकों की अपनी सीमाओं के परिणामस्वरूप हैं। नारी जागरण का एक शुभ प्रभाव हमारे साहित्य पर यह भी पड़ा है कि शिक्षित नारियों की एक बड़ी संख्या साहित्य सेवा में लग गई और इस क्षेत्र में उनका योग बहुत ही महत्वपूर्ण है। महादेवी वर्मा सुभद्राकुमारी चौहान विद्यावती कोकिल' व द्रमुखी ओझा

[२] 'भक्ति और वेदान्त', पृ० ३०।

[१] 'सम्पूर्ण ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन', पृ० १८८।

'सुधा', हीरादेवी चतुर्वेदी, रमेश्वरी देवी 'चकोरी', होमवती देवी, ऊषा मित्रा, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, आदि के अभाव में हमारा आधुनिक साहित्य निश्चित रूप से बहुत कुछ खो बैठता।

काम (सेक्स) और हमारी जीवन दृष्टि–

इस सृष्टि के चेतन प्राणी प्रायः जिन दो मूल वर्गों में विभाजित हैं उनमें से एक है नर और दूसरा मादा। एक को दूसरे से असंपृक्त रहकर सर्वथा पृथक रूप धारण न करने देने के लिये प्रकृति ने उनके अन्दर एक दूसरे के प्रति अनन्त आकर्षण पैदा कर दिया है। सभी अंगों के पूर्णतः विकसित हो जाने पर और अपने वास्तविक अस्तित्व के प्रति यथार्थ रूप से जागरूक हो जाने पर जब ये एक दूसरे को छूते हैं तो इनके मन को एक विशेष प्रकार की तृप्ति मिलती है। दोनों के अन्दर अपने अपने अस्तित्व के मूल तत्व को एक दूसरे में समाहित कर देने की एक दूसरे में समा जाने की वेगवती कामना पैदा होती है। अपने मानस में अज्ञात रूप से ही विनिर्मित अपने सखा या सखी के मानचित्र के अनुरूप व्यक्तित्व को देख लेने पर उत्पन्न हो जाने वाली इस वेगवती कामना लालसा या आंधी को रोक सकना दुर्निवार होता है। यही आंधी 'काम' कहलाती है। अंगरेजी में यही 'सेक्स' अनुभूति कहलाती है। स्थिर हो जाने पर यह आंधी प्राणदायिनी शीतल मंद-सुगन्ध समीर का रूप धारण कर लेती है। स्थायित्व पा जाने पर यही भावना जीवनव्यापी एवं ऐसे अनुराग-रागात्मिका प्रवृत्ति में परिवर्तित हो जाती है जो जीवन यात्रा को स्निग्धता से सुखद मधुर एवं सुन्दर बना देता है। यह जीवन यात्रा प्यारी और अच्छी लगने लगती है। बँध कर-मर्यादित होकर एकोन्मुखी-एकनिष्ठ होकर यह भावना मंगलमय वातावरण की सृष्टि कर सकती है। असंयत एवं अमर्यादित होने पर यह मानव को पशु बना देती है। भारतीय संस्कृति ने इसके अस्तित्व और इसके वेग को अस्वीकार नहीं किया किन्तु यह भी नहीं किया कि मानविधान धर्म और साहित्य सभी क्षेत्रों में सिद्धान्ततः इसी का ढिंढोरा पीटा हो, एकमात्र इसी को ही प्रमुखता मानी हो, इसी का उपदेश दिया हो, इसी पर गीत लिखे हों, इसी पर कहानियां लिखी हों, और इसी को उभार-उभार कर आंखों में इसी का रंग उतारने और चित्र खींचने वाली तस्वीरों की भरमार कर दी हो। हमारे यहां इसकी व्यापकता, इसकी शक्ति, इसकी प्रभुता यदि दिखाई गई है तो इसलिये कि इस हाथी पर का अंकुश कभी ढीला न किया जाय वरना यह अनर्थ कर देगा—इसलिये नहीं कि एक तो यह स्वयं हमारे अन्दर मौके की ताक लगाये बैठा है और दूसरे हमारा साहित्य भी इसको हमारे चारों ओर नाचता हुआ दिखाए। इस

कविता पढ़ें तो काम-मयी कहानी पढ़े तो काम पूर्ण, उपन्यास पढ़ें तो काम पूरित नाटक देखे तो कामलीला का, सिद्धान्त पढ़े तो काम की व्याख्या का। कौन नहीं जानता कि तरुण या तरुणी से एकान्त में काम भावना से भरी चार कलापूर्ण बात कर लेना उसका कामोत्तेजित तथा काम शिथिल कर देना है किन्तु ये कलाकार काम के सबल, आकर्षक, प्रभावशाली चित्रों से परिपूर्ण साहित्य हमारे नवजीवन को एकान्त में पढ़ने के लिये प्रचुर मात्रा में देने को तत्पर हैं। यथार्थ के नाम पर ये लोग बड़े भारी मनोवैज्ञानिक अनर्थ की सृष्टि कर रहे हैं। लेनिन भी संयम का महत्व एवं उसकी उपादेयता स्वीकार करता था[1] किन्तु शायद ये महानुभाव समाज में संयम विहीन, कामोत्तेजक तत्वों से पूर्ण वातावरण की सृष्टि करना चाहते हैं, शायद ये काशिक के कुत्तों और कुतियों के दृश्य कालेजों सड़कों, दूकानों, रेलों सिनेमाघरों, स्टेशनों आदि पर देखने के शौकीन हैं (ये दृश्य किसी न किसी रूप में अब दिखाई भी पड़ने लगे हैं।) भारतीय संस्कृति ने कहा है कामातुराणां न भयं न लज्जा अब ये कहते हैं—यही तो स्वाभाविक है तुलसीदास ने कहा "सियाराममय सब जग जानी—करहु प्रणाम जोरि जुग पानी' अब ये कहते हैं—यह तो कोरा, अस्वाभाविक और अव्यावहारिक आदर्श है—वास्तविकता एवं यथार्थ है एक काममय सब जग जानी, अरपउ सब तन मन धन बानी। भारतीय संस्कृति ने काम की भावना को इतना सुसंस्कृत एवं मर्यादित कर रक्खा है जितना इस सृष्टि में किसी के भी लिये संभव हो सकता है। यहां से अधिक नायन और कहीं भी यह इतना सुसंस्कृत मर्यादित एवं सुनियोजित नहीं है। दिल्ली में स्थित अनेक देशों के राजदूतों का यह अनुभव है कि उनके परिवारों की तरुणियां जितनी निश्चिन्तता के साथ भारतीय वातावरण में घूम फिर लेती हैं उतनी और कहीं नहीं। यहां मिथुन रत पशुओं का भी देखना वर्जित है। हम नारी शरीर को पवित्र मानते हैं। उसे दिगम्बरा देखना उस पवित्रता का सांस्कृतिक अपमान करना माना गया है। तायाजिनकिन ने लिखा है कि उनको वस्त्र रहित स्नान करते देखकर दूसरे घर के कोठे पर काम करने वाले मजदूर भी काम करना छोड़ कर नीचे उतर जाते थे।[2] काम की दृष्टि से हिंदू बड़ा ही विनम्र, संयमित एवं मर्यादित होता है। ब्रह्मचर्य की महिमा, शादी के बाद भी ब्रह्मचर्य के नियम आदि हमारी काम-वासना को संयमित एवं मर्यादित रखते हैं। संयमित वासना हमारी सांस्कृतिक मनोवृत्ति है। इसका प्रभाव आधुनिक हिंदी साहित्य पर ही नहीं सम्पूर्ण साहित्य पर पड़ा है। आधुनिक भारतीय साहित्य काम'

१— महादेवी का विवेचनात्मक गद्य पृ० २४५—२४८।

२— 'इंडिया चेंजेज',

वासना की दृष्टि से उतना ही शुद्ध एवं सुसंस्कृत है जितना भारतीय जनता का दृष्टिकोण, उतना ही मनोहर है जितनी नवपरिणीता कुलवधू ! हिन्दी साहित्य इसका अपवाद नहीं, सबसे अच्छा उदाहरण है। काम अपराधों एवं कामोन्उन्छ खलताओं का साहित्य हिन्दी में नगण्य है। उसके नग्न चित्रण को शिष्ट समुदाय ने न सिर्फ मान्यता ही नहीं दी है बल्कि उसको हतोत्साहित भी किया है। वह चोरी और बहानेबाजी की चीज है। जैनेन्द्र (सुनीता), यशपाल (दादा कामरेड) बलवन्तसिंह (रात चोर और चान्दनी) पहाड़ी (यथार्थवादी रोमांस), धर्मवीर भारती (सूरज का सातवां घोड़ा) आदि समाज को ग्राह्य नहीं हुए।

सुनियोजित काम भावना विवाह—

कमजोरी यदि मानव अस्तित्व के साथ अनिवार्य रूप से लगी हुई है, गलती किये बिना यदि वह नहीं रह सकता, नग्नता यदि उसकी विवशता है, और काम वासना की यदि उसके अन्दर प्रबलता है तो भारतीय संस्कृति की सिफारिश है कि उसे किसी एक तक ही सीमित कर दिया जाय और उसे मानव की किसी महत् प्रवृत्ति के साथ नियोजित कर दिया जाय उसे किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति का साधन बना लिया जाय, एवं उसको बाधित, मर्यादित व सुसंस्कृत कर दिया जाय। हमारी संस्कृति अधकार, अपूर्णता और कमजोरियों का सैद्धान्तिक समर्थन करके उनकी शाश्वतता घोषित करने के प्रतिकूल है। इनके निरर्थक नाजारे, एवं मानव समाज के चौराहे पर किये जाने वाले प्रदर्शन को हमारी संस्कृति ने घृणित एवं गर्हित माना है। उसने इनको निवारणीय दमनीय, अतात्विक तथा अशाश्वत माना है। इनके कारण सामाजिक जीवन में उपद्रव न मचने पाएँ, मनुष्य की दुर्बलताओं और आवेगों की धार्मिक तृप्ति उनके शमन का कारण बन कर व्यक्तिगत पारिवारिक सामाजिक एवं आत्मिक विकास एवं माधुर्य का साधन बन जाए, जीवन-यात्रा मधुर हो मानव लघुता और सीमा में महानता और असीम की ओर बढ़ने का वातावरण और मनोवृत्ति पा सके इसलिये भारतीय संस्कृति ने कामवासनाओं तथा अन्य मनोविकारों से पूर्ण दो विभिन्न मानवीय व्यक्तियों को विवाह के द्वारा अटूट बन्धन में बांधकर सदा सर्वदा के लिये एक दूसरे का बनाकर, दोनों के बीच के अन्तर को मनोवैज्ञानिक ढंग से मिटाकर दोनों को एक दूसरे का सभी परिस्थितियों में स्थायी साथी घोषित करके निर्वाह का अत्यन्त कल्याणकारी मार्ग प्रदर्शित किया है। भारतीय संस्कृति में विवाह का तात्विक स्वरूप और उद्देश्य यही है, हिन्दी साहित्य में विवाह का यही स्वरूप और यही उद्देश्य मान्य है। गोंडा जिले के बल रामपुर जैसी छोटी जगह के बहुत ही छोटे कवि स्वामी दयाल धाउ" ने निम्नलिखित पंक्तियों में ये ही उन्नत भाव व्यक्त किये हैं

यह य घन प्रेम का बधन है यहा दो दिलो के अरमान मिले।
यहा दो पथिको को सुमाग मिला यहा दो विधिना के विधान मिले।
यहा दो गुण, कम स्वभाव मिल, उर से उर प्राण से प्राण मिले।
वर को भी यहा वरदान मिला, है वधू को स्वय भगवान मिल।
इति प्रेम कहानी न हो इससे यहा दो इतिहासो का है मिलना।
न सजीवता की क्षति हो इससे यहा स्वासो से स्वासो का है मिलना।
पतझाड न आये कभी इससे यहा दो मधुमासा का है मिलना।
इस विश्व अतृप्त मे तृप्ति की खोज म दो चिर प्यासों का है मिलना।
यह ग्रथि नही यह ग्रथि नही यहा धार्मिक साधना जोडी गई।
शुभ भाव पराय के साथ गये और स्वाथ की भावना तोडी गई।
अनुराग की वाटिका सीचने को गति यौवन धारा की मोडी गई।
यहा प्रेम की चचलता नव स्नेह के सूत्र मे बाध के छोडी गई।

भारतीय विवाह का लक्ष्य अलक्ष मैथुन नही, भावी सुयोग्य नागरिक की सृष्टि है। यह काम के ऊपर धम और अथ का बधन है। यहा मथुन निरुद्देश्य राग रग सुख नही, वह सन्तान सुख का साधन है जो स्वत अपने म महान् उद्देश्य है। इसीलिये यह सन्तान आकस्मिक घटना या भूल गलती नही, सुनियाजित धम है। अपवाद रूप अद्वितीय महात्माओ के अतिरिक्त सब के लिय विवाह अनिवाय है क्योकि सामान्य जनों के इस लोक और उस लोक के सुख के लिये सन्तान अनिवार्य है। मनु ने साधारण नर नारी का उददश्य सन्तान प्राप्ति बताकर इसके साधन विवाह को सामान्य धम की सज्ञा दे दी है— 'प्रजननाथ स्त्रिय सृष्ट सन्तानाथ च मानव तस्माद् साधारणो धम श्रुतौपत्न्या सहादित ।

साथी का चुनाव कसे हो—

और जब ब्याह करना है तो प्रश्न उठता है कि ब्याह किससे किया जाय, कब किया जाय कब तक के लिये किया जाय कसे किया जाय आदि। क्या राह चलते जो भी मिल जाय और इस चिर चचलमन और क्षण-क्षण परिवर्तित होती हुई नवीनता की चिरप्यासी मनोवृत्ति का जिस घटी जो भी जँच जाय उसी से ब्याह करले और जब उससे न पटे तब उसको छोड द ? पशु भी तो सामान्यत यही करते हैं। जब जीवन के अय सभी क्षेत्रों मे बडों के अनुभव और विवेक द्वारा किया गया निणय अधिक व्यवहाय, अधिक उपयोगी अधिक लाभप्रद और अधिक

अच्छा होता है तब जीवन साथी के चुनाव जैसे महत्वपूर्ण कार्य में वासना के अन्धे, आयु में बच्चे और अनुभव की दृष्टि से नितान्त बच्चे की राय या निर्णय को प्राथमिकता न देने वाली हिंदू व्यवस्था कैसे दोषपूर्ण है—यह सोचने की बात है। एक बार चुने हुए साथी को छोड़ना उचित नहीं है क्योंकि बहुतों को अपनी लाज का अधिकारी बनाना स्वत एवं निर्लज्जता है—पशुता है। ऐसी स्थिति में चुनते समय ही एक बार खूब ठोक बजा कर चुन लेना चाहिये। चूंकि नारी एवं पुरुष का शरीर बाजार की वस्तु नहीं है इसलिये साथी की उपयुक्तता की कसौटी के कुछ सामान्य लक्षण ही बताये जा सकते हैं और इन लक्षणों का निर्धारण शताब्दियों के अनुभव ही कर सकते हैं। वात्स्यायन से लेकर कुटुम्ब के वर्तमान वृद्ध जनों तक का भी निर्णय यदि गलत हो सकता है तो बीस-बाइस के छोकरा और छोकरियों का अहंकार कितना दयनीय है—इसे हम क्या बताएं ! और फिर, क्या संसार में किन्हीं भी दो ऐसे पृथक व्यक्तियों का स्वतन्त्र अस्तित्व सम्भव है जिनमें विभिन्नता न हो—पूर्ण अनुरूपता एवं एकरूपता ही हो ? जब यह स्थिति इतिहास और समाज—दोनों ही क्षेत्रों में एक मात्र कल्पना का खेल है तब नये लोगों की ऐसी खोज विडंबना ही तो है। इन बच्चों की समझ में यह नहीं आता कि दोष वैषम्य एवं विभिन्नतामें नहीं है दोष है निबाह न करने का निश्चय करने वाली उद्दण्डता में। जो नवयुवक पति-पत्नी के बीच के सम्बन्धों के टूटने की बात पर जोर देता है उससे मेरी यह पूछने की इच्छा होती है कि क्या आप अपने अफसरों, अपने सहकारियों और अपने मित्रों से भी विभिन्नता एवं विषमता के अवसरों पर इसी प्रकार सम्बन्ध विच्छेद करते रहेंगे, और यदि हां, तो क्या एक दिन आपको कुआं—ताल न देखना पड़ेगा, क्योंकि ये लोग आपकी पत्नी से अधिक आपके हितैषी न सिद्ध हो सकेंगे ? किसी भी स्थिति में समस्या का अन्त तलाक नहीं—निबाह है। जीवन के क्षितिज पर सुख और माधुर्य के इन्द्रधनुष के सौन्दर्योन्मेष का आकलन निबाह की तूलिका से ही सम्भव है। अस्तु, साथी खोजने के सम्बन्ध में अनुभवों के आधार पर एक व्यापक कसौटी बना लेने की व्यवस्था और सामान्यतः उसके पालन का आदेश भारतीय संस्कृति में है। हमारी व्यवस्था कहती है कि विवाह अपनी ही जाति के लोगों में होना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक समाज का नियम है कि व्याह—सम्बन्ध लोग उन्हीं लोगों से करते हैं जो समान स्वभाव तथा आचार रखते हैं। चूंकि एक ही व्यवसाय के लोगों में सामान्य सांस्कृतिक परम्परा का विकास अधिक सम्भव है अतः समान व्यवसाय के लोगों में व्याह—सम्बन्ध एक नियम सा हो जाता है। दो विभिन्न "मूड" और प्रकृति वाले लोगों का व्यावहारिक सामंजस्य दो विभिन्न संस्कारों वाले—सांस्कृतिक परम्पराओं वाले लोग

की अपेक्षा अधिक सम्भव है। इसीलिये एक जाति वालों में विवाह का—सवर्ण विवाह का—अनुमोदन किया गया है। जाति का अर्थ है जाति विशेष, एक-सी विशिष्टताओं वाला वर्ग, आदि। इसमें पतृक परम्परा तथा पर्यावरण जनित गुण कर्म, स्वभाव एवं संस्कारों की बात सन्निहित है। मुझे गलत न समझा जाय। मेरा अनुभव है कि हिन्दू व्यवस्था ने जिन जातियों का निर्माण किया है उनकी अपनी विशिष्ट जातिगत विशेषताएँ ऐसी हैं जो औरों में नहीं मिलती। हर खेत की एक-सी विशेषता नहीं होती, हर बीज हर तरह की मिट्टी में ठीक से फूल फल नहीं सकता। एक से अंगों अवयवों, प्रकृति और मनोविकार वाली होकर भी हर नारी समान नहीं है और किसी वर्ग-विशेष की परम्पराओं और विशेषताओं का अपना कर उसकी शोभा-वृद्धि करने वाला पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकता। हर नारी पुरुष का योग पाकर जीव पैदा कर देगी किन्तु कुल को रोशन करने में सा पितरों को 'नरक' से "स्वर्ग' भेज सकने वाला पितरों को 'पानी' दे सकने वाला पुत्र केवल कुल ललना—कुलीन ललना ही पैदा कर सकती है। मैं अपवादों की बात नहीं करता, किन्तु 'राम' को जन्म कौशिल्या ही दे सकता है। 'दिव्य रमणियाँ' चाहे जितनी खूबसूरत हों उनसे ब्याह करने पर 'कुणालों' की आंखों की रोशनी गुल हो ही जायगी—खानदान डूब ही जायगा—नाक कट ही जायगी। जन्म से लेकर सोलह अठारह की आयु तक जिसने कुर्सी पर बैठ कर किताबें पढ़ी हैं उस कृषि प्रधान वातावरण में—कुटाई पिसाई होने वाले घर में रख देने पर किस मानुष की तृप्ति हो सकती है। खूबसूरत से भी खूब सूरत होने पर भी कोई मलमूत्र उठाने वाली भंगिन ठाकुर साहब की पटरानी बनने पर भी "ठकुराइन साहिबा" को—क्षत्राणियों की स्वाभाविक विशेषताएं नहीं पा सकती। चमड़े का रंग तथा मांस की प्रवृत्तियां और वंश परम्परा से प्राप्त होने वाले जातीय धर्म गुण कर्म, स्वभाव अलग अलग बात है। ठाकुर आज भी ठाकुर है—भले ही वह तलवार न चलाता हो, ब्राह्मण आज भी ब्राह्मण है भले ही वह वेद पाठ न करता हो। आज पहले की मान्यताएं बदल चली हैं। दफ्तर में सब के बदन पर आप एक सी ही पोशाक पाएंगे वाणी भी एक-सी पा सकते हैं किन्तु ब्राह्मण डिप्टी कमिश्नर और शूद्र कमिश्नर के घर के वातावरण और रहन सहन में एक मौलिक अन्तर आज भी मिलता है। ठाकुर आज भी जन्म से ... हो जाता है पटवारी पुत्र का पटवारीपन डिप्टी कलक्टर आई० सी० एस० या मिनिस्टर बनने पर भी नहीं जाता। प्रवृत्तियां वे ही रहती हैं उनकी अभिव्यक्ति का रूप रंग बदल जाता है। अतएव एक जाति में विवाह करने की व्यवस्था देकर हिन्दू शास्त्रकारों ने कोई भी अनर्थ नहीं किया है। इन्होंने सामाजिक विघटन ही रोका है।

)

असवर्ण विवाह की मान्यता तब भी थी किन्तु अपवाद रूप में। उसको मना भी नहीं किया गया था उन्हें सामाजिक प्रोत्साहन भी नहीं दिया गया था। यही कारण है कि हमारा समाज कुलीन विवाह का समर्थक रहा है। यद्यपि हिन्दू जाति में अन्तर्विवाह, बहिर्विवाह और अन्तर्जातीय विवाह-सभी थोड़े-बहुत होते ही रहते हैं किन्तु फिर भी, न इसे अच्छा माना गया है और न यह सामाजिक मान्यता ही प्राप्त कर सकी है। इस शताब्दी के प्रारम्भ होने से काफी पहले से विवाह के सम्बन्ध में जो हमारी सांस्कृतिक परम्पराएँ एवं मान्यताएँ थीं सैद्धान्तिक रूप से एवं कर्मकाण्डी व्यवस्था की दृष्टि से सामान्यतः उन्हीं का पालन होता आया है।

बाल-विवाह—

किसी विशेष युग में किसी विशेष आपत्तिकाल के वातावरण में हिन्दू शास्त्रकारों ने बालविवाह की व्यवस्था दे दी थी। रूढ़ियों ने उसे शाश्वत विधान मान लिया और हमारे हिन्दू समाज में कहा जाने लगा—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी
दशवर्षा भवेत् कन्या तत् ऊर्ध्व रजस्वला
माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च
त्रयस्ते नरक यान्ति दृष्ट्वा कन्या रजस्वलाम्।

कुछ भी हो किन्तु वास्तविकता यह है कि बाल विवाह स्वस्थ सन्तान की उत्पत्ति एवं विकास की दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं है। स्वामी दयानन्द जी ने इस विषय में धन्वन्तरि का श्लोक उद्धृत किया है।[1] ठीक है किन्तु हमारे समाज की कुछ अपनी मजबूरियाँ और उसकी आवश्यकताएँ थी और इसीलिये हमारे समाज में मध्य युग के विदेशी आक्रमणों और अपहरणके आपत्तिपूर्ण समय से बहुत छोटी उम्र से लड़के-लड़कियों का ब्याह कर दिया जाने लगा था ताकि प्रत्येक प्रकार के खतरे की सम्भावनाओं से गर्भित उस युग के वातावरण में लड़की अपने घर पहुँच कर मा-बाप के सिर पर से बोझा उतार दे। उसकी रक्षा का दायित्व अब एक की बजाय दो परिवारोंपर आजाता था। के० एम० कपाड़िया ने लिखा है, "इसी प्रकार धार्मिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्थितियों और प्रवृत्तियों ने शिशु-विवाह को एक नियम या कर्तव्य का रूप देने का कुचक्र रच लिया।[2] यही श्रेष्ठतर भी था। यह खतरे का युग बीता तो

१ "सत्यार्थ प्रकाश", पृ ४८।
२ "मैरिज एँड फैमिली इन इंडिया", पृ १४६।

'अष्टवर्षा भवेत्गौरी' वाला सिद्धांत भी शिथिल हो गया। यद्यपि इसकी सम्भावना अधिक होती नहीं थी क्योंकि जहां-जहां ये बाल विवाह रचाये जाते हैं वहां विवाह की विधियां और व्यवस्थाएं पूरी हो जाने के बाद भी अपवादस्वरूप ही वधू तत्काल ही पति गृह नहीं भेजी जाती। तीन तीन या चार चार वर्षों या कभी कभी इससे भी अधिक वर्षों के बाद अर्थात् तारुण्य प्राप्ति के पश्चात् ही वहां जाती है। १८२६ के बालविवाह अधिनियम ने विवाह की उम्र लड़के के लिये १८ और लड़की के लिये १४ कर दी। सामाजिक परम्पराएं कानून बना देने से नहीं बदला करतीं उनके लिये सामाजिक आवश्यकता सामाजिक वातावरण एवं सामाजिक अनुकूलता की सृष्टि करनी पड़ती है। कानून बन जाने के बाद भी हमारे समाज से और विशेष रूप से देहाती समाज से बाल विवाह गया नहीं। रजस्वला होते होते लड़की का ब्याह कर देना धर्म हो गया सामाजिक मजबूरी हो गई। यह केवल लड़की या उसके मां बाप का ही कर्तव्य नहीं-यह पूरी की पूरी जाति की बात है-कभी-कभी तो उस समस्त क्षेत्र के समस्त जनसमूह की बात। यह बदनामी का कारण बन जाता है जिसे न लड़की सह पाती है और न लड़की के मां-बाप।

शादी होनी चाहिए और खानदान की परम्परा और शान के अनुरूप होनी चाहिये। इस दृष्टि से व्यक्ति, परिवार और गांव परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। मांग मांग कर अच्छी चीजें जुटाने और शान शौकत के प्रदर्शन की प्रथा चल पड़ी। सब लोग जानते हैं कि चीजें मांगी हुई हैं फिर भी उनके न होने को लोग बुरा मानते हैं। कम से कम इससे यह तो पता चल ही जाता है कि जिसके यहां हम ब्याह करने जा रहे हैं उसकी पहुंच की सीमा कितने बड़े बड़े लोगों तक है।

शादी तय करने प्रायः नाई, पंडित जाते हैं। जिनका विवाह होना है वे अबोध बच्चे न कुछ जानते हैं न कुछ समझते हैं और न उन्हें शादी के मामले में कुछ करने या बोलने का अधिकार है। शादी के बीच शादी के पहले अथवा शादी के बाद उसके बड़े बूढ़े उससे कुछ कहें उसे वही करना है क्यों कि विवाह एक धार्मिक और सामाजिक कर्तव्य है। उसमें व्यक्ति की अपनी मनमानी नहीं चलती। कोई भी समाज मनमानी नहीं होने देता और यदि होने देता है तो वह विघटित हो जाता है। जिस प्रकार जन्म से लेकर मृत्यु तक के सभी संस्कारों के अवसर पर वैसे ही विवाह संस्कार के अवसर पर भी व्यक्ति के ऊपर समाज का अगाध अखण्ड, एवं व्यापक अधिकार है। नवदम्पति खुलकर स्वच्छन्दतापूर्वक एक दूसरे से मिलने भी नहीं पाते थे। लिहाज और

पर्दे का इतना ध्यान था कि बहुत रात गये जब सब लोग सो जायें तब लड़का अपनी पत्नी के कमरे में जाता था और सवेरे लोगों के जग पड़ने की संभावना के पहले ही चुपचाप बाहर आकर अपनी चारपाई पर सो जाता था। वहां कमरे में जोर से बातचीत भी नहीं हो सकती थी। यहां व्यक्ति की स्वतन्त्रता परिवार और समाज के अंकुश से मर्यादित रहती है। इस सम्पूर्ण अर्द्ध शताब्दी में बाहर के कुछ लोगों के अलावा शेष समस्त हिन्दू समाज के लिये लड़की का ब्याह एक बहुत बड़ा हंगामा हो गया है। समय के परिवर्तन अंगरेजी राज्य-व्यवस्था से उत्पन्न संकुचित एवं लोभी मनोवृत्ति और अंगरेजी शिक्षा-व्यवस्था के कारण फैली हुई मूढ़ता आदि के कारण उचित वर की खोज एक बहुत बड़ी बात हो गई है।

दहेज—

ब्याह के योग्य लड़के का पता यदि मिल भी जाता है तो दहेज की समस्या आ खड़ी होती है। बहुत अधिक दहेज मांगा जाता है इतने टेढ़े मेढ़े ढंग से मांगा और लिया जाता है कि उसके तय होने में महीनों लग जाते हैं। लड़के का पिता अधिक से अधिक लेने का यत्न करता है लड़की का पिता चाहता है कि वह औरों से तो अधिक दे क्योंकि ऐसा न करने पर लड़का हाथ से निकल जायगा मगर इस सीमा के अन्दर जितना कम संभव हो सकता हो, उतना ही कम वह दे। ऐसा लगता है कि किसी खरीदी जाने वाली चीज का मोल भाव हो रहा है। कभी कभी लड़की के पिता को कर्ज लेना पड़ता है जमीन गिरवीं रखनी पड़ती है सम्पत्ति बेचनी पड़ती है तबाह और बरबाद हो जाना पड़ता है। अनमेल ब्याह होते हैं। योग्य को अयोग्य के मत्थे मढ़ दिया जाता है। पिता को अपनी पुत्री के लिये कुलीन वर चाहिये और कुलीन वर लड़की का उद्धार तभी कर सकता है जबकि लड़की का पिता पर्याप्त धन दे। कुलीन वर कम, पुत्री वाले पिता बहुत। मांग अधिक, माल कम। परिणाम यह होता है कि १४ वर्ष की लड़की ६४ वर्ष के वर को सौंप दी जाती है। दम्पति का जीवन विषमय हो जाता है। आत्महत्याएं होती हैं। वेदनारायण द्विवेदी का "कर्तव्याघात", प्रेमचन्द का निर्मला, आदि हजारों से भी अधिक उपन्यास और कहानियां विशेष रूप से हिन्दी और बंगला की इस प्रथा पर आघात करके भी इसका अभी भी उन्मूलन नहीं कर पाई। अब भी ऐसे लोग हैं जो कहते हैं कि साहब, हम देने का भी शौक है लेने का भी लेते हैं इसलिये कि देना पड़ेगा देते हैं इसलिये लगी हो। राजेन्द्र बाबू ने लिखा है

'यह प्रथा हजार कोशिश करने पर भी अभी तक जारी है। सभी जातीय सभाओं में प्रस्ताव पास होते हैं कि इसे उठा देना चाहिये पर घटने की जगह यह प्रथा बढ़ ही रही है।'[१]

वृद्ध विवाह और बहु विवाह—

दहेज के प्रसंग में वृद्ध विवाह का थोड़ा सा उल्लेख किया गया है। कुलीन वर की कमी और दहेज के अतिरिक्त इसका एक कारण पुत्र प्राप्ति की लालसा भी है। यदि पहली पत्नियों से कोई पुत्र न प्राप्त हो सका तो अपनी आयु का ध्यान न करके भी विवाह इसलिये कर लिया जायगा कि खानदान को रोशन करने वाला और पितरों को पानी देने वाला मिल सके। बात यह है कि हमारे यहां सामान्यतः पुत्र या सन्तान के अभाव का दोष पति को नहीं, पत्नियों को ही दिया जाता है। कोई दोष कोई खराबी कोई कमी दुलहिन में ही हो सकती है, दूल्हे में नहीं हो सकती। इसलिये एक के बाद एक कई ब्याह किये जा सकते हैं। वृद्धावस्था तक और स्वतः सन्तानोत्पत्ति की अक्षमता की अवस्था प्राप्त करने के बाद भी ब्याह होते रहते हैं। कभी कभी तो पहली पत्नी के देहान्त के पश्चात् इसलिये भी ब्याह कर लिया जाता है कि बच्चों की देखभाल करने वाला और रोटी खिलाने वाला कोई आ जाय। प्रायः इन विवाहों का परिणाम अच्छा नहीं होता। सौत के बच्चों को आवश्यक प्यार दुलार प्रायः नहीं ही मिल पाता। अनेक पत्नियां घर के जीवन और वातावरण को नरक कर देती हैं। प्रेमचन्द का 'निर्मला' नामक उपन्यास अधेड़ उम्र पर किये जाने वाले विवाह का परिणाम प्रस्तुत करता है। "कायाकल्प' में बहुपत्नियों का परिणाम चित्रित है। 'मृगनयनी' में मानसिंह के राजमहल के अन्दर बहु विवाह का परिणाम और सौत की मनोवृत्ति का चित्रण है। प्रेमचन्द की 'सौत' नामक कहानी भी सौत का मनोविज्ञान उपस्थित करती है। श्री नाथ सिंह के 'क्षमा' और भगवती प्रसाद वाजपेयी के 'मीठी चुटकी' और 'अनाथ पत्नी' नामक उपन्यास अनमेल विवाह का दृश्य उपस्थित करते हैं।

विवाह का स्थायित्व—

इस प्रकार हमारे यहां शादियां तय करके की जाती हैं। कुलीनता के अहंकार के कारण हमारे समाज के भीतर वर की उपयुक्तता की शर्तें और सीमाएं इतनी अधिक और जटिल हो गई हैं कि चुनाव क्षेत्र अत्यन्त संकरा हो गया है। प्रायः सब कुछ एक बंधे बंधाये, सुनिश्चित ढंग पर होता है। सच तो यह है कि विवाह

१ आत्मकथा, पृ० ६०।

की पूरी की पूरी प्रक्रिया निश्चित है वहा किसी व्यक्तिगत एव मौलिक परिवर्तन के लिये कोई भी गुजाइश नही। इस प्रकार एक स्थिर मनोवृत्ति, जिसमे साहस दुसाहस के लिये कोई सभावना नही बन जाती है। इस मनोवृत्ति का सा स पर यह प्रभाव पडा है कि हमारे साहित्य मे भी महत्वपूर्ण एव व्यापक रूप से प्रभावशाली, मौलिक एव सद्धान्तिक परिवर्तन इस परिवर्तनशील एव क्रांति-रात युग म अधिक नही हो पाये। परिवर्तन शली, माध्यम एव स्वरूप मात्र मे ही हुआ है। उसकी आत्मा अधिकतर पुरानी की पुरानी है।

परिवर्तन की प्रक्रिया—

व्यवस्था मे भी यह परिवर्तन बहुत धीरे धीरे हुआ है। पहले लडके-लडकिया अपनी शादी की बात आकस्मिक रूप से जानने लगी फिर छिप कर सुनने लगी फिर खुल कर सुनने लगी, फिर अपनी राय अपरोक्ष रूप से देने लगी, फिर भाभिया से कहने लगीं, फिर मा से शरमा शरमा कर कहने लगी फिर पिता से भी खुल कर कहने लगीं। पहले स्वीकृति ही प्रकट की जाती थी फिर विरोध मालूम हो जाने दिया जाने लगा फिर प्रकट किया जाने लगा और अब मा बाप की इच्छा के प्रतिकूल मनमानी भी की जाने लगी है। पहले शादी के अवसर पर तीनों चारो दिन बराबर जामा जोडा पहनाया जाता था फिर रस्मों के समय ही पहना जाने लगा अब उसका बिल्कुल हीतिरस्कार किया जाने लगा है। बाजार मे मिलने वाले श्रेष्ठतम कपडा के चमचमाते सूट के ऊपर यज्ञोपवीत के तीन धागो की आज भी अनिवार्यता प्रतीक सी प्रतीत होती है। सामान्यत फशन पर संस्कार अब भी विजयी है ठीक जसे ही जसे वर्तमान साहित्यिक विधाओं, रूपो और शलियों पर साहित्य की भारतीय आत्मा अब भी विजयी है।

प्रेम विवाह क्यो नही ?—

ताया जिनकिन ने लिखा है कि भारत मे प्रेम विवाह का तो कभी भी कोई प्रश्न ही नही उठता।[1] यही कारण है कि यहा विवाह मे चुनाव एव प्रतिद्वद्विता नहीं, और जब चुनाव एव प्रतिद्वद्विता नही तब कामोत्पादक पारस्परिक आकर्षणशक्ति न केवल अनावश्यक एव अनर्थकारी है वल्कि कभी-कभी अनाकर्षक भी हो जाती है। भारतीय बाला समार की सवश्रेष्ठ सुदरी है फीते की नाप और तराजू की तौल एव अटक मटक वाली कसौटी से नहीं वल्कि मोहकता और प्रभावोत्पादकता की कसौटी से। वह मोहक होती है कामोत्पादक नही। वहा

१ "इ डिया चेंजेज" पृ० २३।

पवित्र एवं विशुद्ध हृदयग्राही मान्य है। तभी तो कुजा म त्रिभुवन मोहन भी पलोग्त राधिका पायन ! किन्तु भारतीय संस्कृति और उसका शाश्वत प्रभाव कितना अधिक और आश्चर्यजनक है कि इस त्रिभुवन सुन्दरी मे कामाकर्षण एव कामोद्दीपकता अल्पतम होती है। हा, उस पर मोहित होकर हम उसके साम्य म अपने को भुला अवश्य बठते हैं। उसका सौंदर्य सहज एवं अतीन्द्रिय एव कौमार्य आकर्षण स सम्पन्न होता है। ध्यान रहे कि यह नहीं कहा जा रहा है कि वह अनाज नहीं खाती या उसके हाड मास नहीं है। प्रभाव की बात की जा रही है। भारतीय नारी केवल एक पुरुष को रिझाने के लिये सजती है। उसकी यह सजावट, यह आकर्षण, यह मादकता केवल उसके अपने पुरुष को छोड कर और किसी की न सम्पत्ति है और न दूसरा उसके सौन्दर्य का उपभोक्ता हो ही सकता है। यह बाजार प्रदर्शन की चीज भी नुमाइशी चीज भी नहीं है। इसका प्रभाव यह पड़ा है कि हिन्दी का नारी साहित्य वासनात्मक आकर्षण से प्राय रहित है उससे परे है। यह एक सांस्कृतिक मनोवृत्ति है जो आधुनिक हिन्दी म भी पूर्णत प्रतिबिम्बित है।

एक ही गोत्र मे और एक ही गांव मे विवाह वर्जित--

हिन्दी प्रदेश म शादियां गाव से बाहर के लड़के के साथ की जाती हैं। परिणामत दूर दूर के बहुतेरे गावो स सम्पर्क स्थापित होता है। विचारो का आदान प्रदान होता है। एक दूसरे की समस्याए एक दूसरे के सामने आती हैं। दूसरे को समझने और निबाहने की प्रवृत्ति बढती है। अपरिचित गावो, व्यक्तियो और परिवारो म प्रेम भाव बढता है। एक दूसरे से सर्वथा अपरिचित वर वधू एक क्षण के बाद एक दूसरे के जनम-जनम के सगी हो जाते हैं। दो विभिन्न व्यक्तियो दो विभिन्न रुचियो दो विभिन्न मनोवृत्तियो, दो विभिन्न स्वभावो म अभिन्नता स्थापित होती है। यह हर घर म होता है। अस्तु भारत का हर परिवार सह अस्तित्व का क्रिया क्षेत्र होता है। भारतीय निबाह करना जानता है। विरोधो मे सामंजस्य स्थापित कर लेना निबाहना भी हमारी एक सांस्कृतिक प्रवृत्ति ही हो गई है। लड़का अपनी जाति का हो तो वह कहीं भी हो उससे अपनी कन्या का विवाह-संबंध स्थापित किया जा सकता है। शादियो के ताने-बाने ने भारत को बुन कर एक कर दिया है। अन्तर्प्रान्तीय सद्भाव बढा है। सांस्कृतिक एकता पुष्ट हुई है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी विचारो के आदान प्रदान की स्वतंत्रता प्रेम की स्निग्धता विभिन्नताओं म एकता, विरोधो म सामंजस्य एवं सांस्कृतिक एकता का जो दर्शन मिलता है उसके पीछे यह पृष्ठभूमि यह वातावरण भी है। इसीलिये आधुनिक हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय साहित्य म भी किसी के प्रति तीव्रतम विरोध

घृणा, एवं असहनशीलता के भावों की अभिव्यक्ति नहीं मिलती। नयी पीढ़ी, प्रेम विवाह की ओर बढ़ रही है इस दृष्टि से साधारणतः विवाह में युवक लड़की देखने तक ही जा सका है और वह भी साथ साथियों, माताओं एवं बहनों के द्वारा। यह नई पीढ़ी मां बाप एवं अभिभावकों को कष्ट भी नहीं पहुंचाना चाहती। सम-झौते की वृत्ति की आखिरी सीमा तक पहुंच कर भी वह नहीं छोड़ना चाहती। यह नई पीढ़ी रूढ़ि और सुधार के बीच कभी कभी बुरी तरह से पिस जाती है। निराशा, पत्नी तलाक कभी कभी विद्रोह आजीवन कौमार्य, निरुत्साह आत्महत्या, आदि नई पीढ़ी के परिणाम रूप में हैं। इन्हीं में से कुछ आगे बढ़ कर साहित्यिक भी बनते हैं और उनमें कुछ सफल भी हो जाते हैं। नाम देना अनिष्टता है किन्तु उनके साहित्य में अतृप्ति का स्वर अपने देश और जाति को उत्थान की ओर ले जाने वाले आवेश और आह्वान के अभाव विराम की उच्चतम चोटि तक पहुंच पाने पौरुष एवं वास्तविक माधुर्य के अभाव, आदि के पीछे इसका भी बड़ा हाथ है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में उच्चतम कोटि के लौकिक प्रेम साहित्य के अभाव का एक कारण यह भी है। उपर्युक्त मनोवृत्तियां नकली अध्यात्मवाद, बनावटी रहस्यवाद, अश्लील चित्रण एवं हास्यास्पद विरह व्यंजना की दुर्गन्ध छोड़ कर निकलती हैं।

सम्मिलित परिवार—

उपर्युक्त विवाह-व्यवस्था के अन्दर उपर्युक्त मनोवृत्ति की नारी एवं प्रवृत्ति वाले पुरुष से हिन्दू समाज में परिवार की सृष्टि होती है। हिन्दू संयुक्त परिवार को मान्यता देता है। जहां नौकरी मिले वहीं जाकर और जब तक नौकरी वहां रहने दे तब वहीं रहकर परिवार बसाने, भिन्न भिन्न व्यवसाय के कारण, भिन्न भिन्न स्थानों में बसने आदि की जीवन-पद्धति के कारण आज हिन्दू संयुक्त परिवार प्रथा व्यावहारिक रूप से विघटित होने लगी है किन्तु रागात्मक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वह आज भी संयुक्त है। क्षणिक आवेश में आकर घर बांट कर दो चूल्हे बना लेने वालों में भी रागात्मकता एकता पाई गई है लड़ कर सिर तोड़ देने वाले और मुकद्दमों में धन को तबाह बरबाद कर लेने वाले भी मौके पर एक हो जाते हैं। सास बहू में झगड़ा होता है भाई भाई में मनमुटाव हो जाता है, चाचा भतीजे एक दूसरे के शत्रु हो जाते हैं किन्तु कहते हुए यह भी सुना गया है कि लड़ते हैं तो अपने में ही तो लड़ते हैं। लड़ते हैं तो मिलते भी तो हैं। मुहावरा है खून पानी से गाढ़ा होता है। कहावत है जिस काठ का बोकला (छाल) है उसी में लगेगा। प्रेमचन्द की बड़े घर की बेटी अथवा होरी और धनिया का झुनिया को आश्रय देना भारतीय संस्कृति की इस महान् मनोवृत्ति का प्रमाण

है । विदेशियों की समझ में यह बात नहीं आती। विकास विद्यालय, रांची का जर्मन प्रिंसिपल डा० ओटो वुल्फ समझाने पर भी यह बात न समझ सका कि बहन की शादी करवाने के लिये भाई अपनी शादी और अपने सुख भोग को क्यों स्थगित रखें, भाई की मृत्यु हो जाय तो उसके क्रिया कर्म में सम्मिलित होने के लिये पंडित जी सैकड़ों रुपयों का खर्च क्यों करे! वह समझ ही नहीं पाता था कि परिवार में अपनी पत्नी और अपने बच्चों के अतिरिक्त और किसी की भी गणना कैसे हो सकती है!! शिक्षित हिन्दुओं का आधे से भी अधिक भाग अब भी संयुक्त परिवारों में रहता है। जो किसी कारण संयुक्त परिवार में नहीं भी हैं वे भी उसके अनुकूल हैं। इससे हिन्दू समाज की सामाजिक सुरक्षा हुई है। सामाजिक एवं वैयक्तिक विघटन नहीं होने पाया। दो पीढ़ियों का पारस्परिक अन्तर, रुचि-स्वभाव विचार रहन सहन वेश भूषा, आदि का अन्तर भी उनको तोड़ नहीं पाया। ऐसी व्यवस्था में पले हुए साहित्यिक ने, प्रगतिशील विचार धारा और साहित्य के बावजूद भी आधुनिक हिन्दी साहित्य में मर्यादा भंजन का साहस नहीं किया। यशपाल, पहाड़ी, अज्ञेय ,इलाचन्द्र आदि अपवाद हैं और इनका समाज पर अथवा साहित्यिक प्रवृत्तियों पर इतना प्रभाव कभी नहीं पड़ा कि वे एक परम्परा चला सकें। ऐसा समाज तलाक को कभी भी मान्यता नहीं दे सकता। वह हमारी सांस्कृतिक परम्परा के प्रतिकूल है। इसलिये आधुनिक हिन्दी साहित्य में तलाक और उससे उत्पन्न होने वाली स्थितियों का चित्रण प्रायः नहीं मिलता।

वेश्या—

हमारे इस आलोच्य काल के भी सामाजिक जीवन में अपने लिये एक अनिवार्य किन्तु अवांछित स्थान बनाये रखने वाला तत्व है वेश्या वृत्ति। मानव समाज की यह एक अत्यन्त प्राचीन बुराई है। प्रागैतिहासिक काल में भी इसका अस्तित्व पाया जाता है। कुछ लोग तो इसे अत्यन्त अनिवार्य एवं आवश्यक समझते हैं। उनका कहना है कि यदि घर में शौचालय, मूत्रालय एवं गन्दी नाली के अस्तित्व का औचित्य है तो समाज में वेश्यावर्ग के अस्तित्व का भी औचित्य है। यह अत्यधिक कामी व्यक्तियों के लिये वासना-पूर्ति का वयानिक अथवा सामाजिक माध्यम प्रस्तुत करके समाज और परिवार को अनेक अवांछित एवं अशोभनीय दुर्घटनाओं से बचाये रखता है। युक्ति-संगत होते हुए भी यह एक कुतर्क है बौद्धिक क्षमताओं का दुरुपयोग है तथा मानवता की दृष्टि से शर्म की बात है। हमारे समाज में वेश्या-वर्ग की दो प्रमुख प्रवृत्तियां हैं—(१) संगीत और नृत्यकला को व्यावसायिक रूप से अपना

कर उन्हें नष्ट न होने से बचाये रखना, और (२) शरीर बच कर धन सम्पत्ति कमाना। वस्तुतः वेश्यावृत्ति की वास्तविक परिभाषा ही यह है कि धन-सम्पत्ति के लिये उस नारी का जो किसी कि पत्नी नहीं है पर-पुरुष की काम वासना को अपने शरीर के अंगों से खुराक देना। इसका सबसे बड़ा परिणाम होता है नारीत्व का अपमान। ऐसी नारी शाम हया को सदा सर्वदा के लिये तिलांजलि दे बठती है। वृद्धा होने पर ये अपने ही जैसे किसी अन्य नारी शरीर को खोज कर अपनी ही तरह का करके उसकी अभिभाविका बन बठती हैं। परम्परा चल पड़ती है। इनके आदमी देहातों में असन्तुष्ट लड़कियों सम्यघरों की लालची एवं चटोरी बहू-बेटियों और मेलों में भूली भटकी बालाओं की खोज में घूमा करते हैं और पा जाने पर उन्हें इनके अधिकार-क्षेत्र में डाल देते हैं, पतनोन्मुखी जमींदारी और जागीरदारी प्रथा के 'तीनों' के यहां इनको कभी-कभी विलासपूर्ण प्रश्रय मिल जाता है। गृहस्वामिनियां व्यावहारिक रूप से परित्यक्ताएं हो जाती हैं, शरीर-व्यवसायिकाएं राज करने लगती हैं। इनका सामाजिक उपयोग केवल इतना ही है कि ये खुशी के मौकों पर आकर संगीतकला और नृत्यकला की अपेक्षा यौवन के प्रदर्शन, नाज-नखरों एवं कुरुचिपूर्ण हास-परिहास से दैनिक जीवन की नीरसता समाप्त कर देती हैं। हीन और तुच्छ मनोवृत्ति एवं कलाकृतिक दृष्टा अपरिष्कृत रुचि वालों का इनसे भार रात भर मनोरंजन हुआ करता है और ये खूब कमाती या प्राप्त करती हैं। इनसे मजाक कर सकना हर पुरुष अपना अधिकार समझता है और तब तक ये उसके अधिकार की रक्षा अपने तन और अपनी कमाओं से करती रहती हैं जब तक इन्हें उचित फीस मिलती रहती हैं। इस युग में संगीत नृत्य तथा वेश्यावृत्ति को एक दूसरे का इतना पर्याय या एक दूसरे से इतना अभिन्न समझ लिया गया था कि जब समाज में संगीत और नृत्यकला के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया जाने लगा तो बहुत बार यह सुनने को मिला नचा-गवाकर हम अपनी लड़कियों से 'पेशा' नहीं करवाना है।" समय और, समझदारी ने अब इस धारणा को बदल दिया है। कई आर्यसमाजी सुधारकों ने शादी ब्याह के अवसरों पर नमकू बनने का खतरा उठाकर भी रंग में भंग करने का दोषारोपण सह कर भी वेश्या के नृत्य के बीच इसका विरोध किया है। जब तक समाज में कुछ के पास इतनी सम्पत्ति, इतना अधिकार, और इतनी फुरसत है कि अपने खाली समय के मनोरंजन के लिए वे पर्याप्त धन दे सकें, और कुछ के पास इतनी विपन्नता है कि ठीक से जीवन बिताने के लिए उन्हें अपने नारीत्व की स्वाभाविक वृत्तियों को बेचने के लिए मजबूर हो जाना पड़े जब तक समय ग्राहक है

आवश्यकता है और किनको विदेश जाना है—उन सभी लोगों का जो पाश्चात्य से प्रभावित होते हुए भी ये आकृति अनिवार्य है। पुरुष बाजार बन कर ... का परिधान धारदार का प्रोत्साहन होता है इसलिए हमारी आधुनिक घर युग आज में कन्याकृति महिलायें अभिसार की वेशभूषा धारण करती थी। ये कन्याएँ आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी चित्रित हुई हैं। हिन्दी भाषा में प्रथम सम्भवतः सामाजिक उपन्यास सदानन्द भारत पर किस्सा उपस्थित करता है। कन्याकृति पर लिखा गया स्वतन्त्र उपन्यास मिला था। इसका मूल उसमें जान पड़ता है जिसका हिन्दी में अनुवाद हो चुका है। अमृतलाल नागर का सुहाग के नूपुर भी इसी प्रकार का उपन्यास है। प्रसंगवशात् कन्याकृति के चित्र कथा साहित्य में पर्याप्त रूप में मिलते हैं। प्रायः न ... चित्रित किया गया—चतुरसेन की 'वैशाली की नगरवधू' अत्यन्त उत्कृष्ट का उदाहरण है। साहित्य में ... ने इन कन्याओं को सहानुभूतिपूर्ण संवेदना से देखा है। इसमें जीवन और उनके मनोविकारों का मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। दिखाया गया है कि इनमें नारीत्व का पूर्णतया लोप नहीं हो जाता है। ये पतित होने पर भी एक निष्ठा वाली होने का प्रयत्न करती हैं। अपनी पुत्रियों को गृहस्थी बनाने की लालसा रखती हैं। ये अवसर मिलने पर सुधर सकती हैं। इनके सुधार का बाधक अनुदार शील एवं अप्रगतिशील समाज है। यह परम्परा और पर्यावरण की पृष्ठभूमि में देखने पर ये विचार अव्यावहारिक युक्ति विहीन तथा यथार्थ से दूर से लगते हैं। कन्याओं की सम्भावना को कोई भी अस्वीकार नहीं करता।

मादक-द्रव्य

प्राचीन काल से ही अपने समाज में—और सम्भवतः सभी समाज में प्रचलित कुरीतियों में मादक वस्तुओं के सेवन का भी एक प्रमुख स्थान है। गांजा, भांग, धतूरा, बीड़ी, सिगरेट, शराब आदि का प्रयोग अपने समाज में देवताओं से लेकर गरीबों तक के द्वारा होता है। हमारे शंकर जी को भांग धतूरे का शौकीन दिखाया गया है। सम्भवतः इसीलिए वाराणसी भांग छानने वालों का एक प्रमुख केन्द्र है। बूटी छानकर 'मस्त मौला' कहे जाने वाले यहां कम नहीं हैं। लम्बी पतली चिलम पर चरस सुलगा कर पतली साफी नीचे से लपेट कर उसे दोनों हाथों में एक खास अन्दाज से पकड़ कर "जय शंकर कांटा लगे न कंकर ..." आदि का उच्चारण करके चिलम के ऊपर आठ-आठ इंच ऊंची आग की लपटें उठाने और मुंह से कमरा भर धुआं निकालने वाले साधू महात्मा हिन्दी प्रदेश में जगह जगह मिल जायेंगे। शायद सुर प्रिय होने के कारण शराब हमारे यहां 'सुरा' कहलाई है। आर्यसमाजी विद्वानों और

महात्माओं की आस्थाओं के प्रति श्रद्धा से मस्तक झुकाते हुए भी मैं यह कहना चाहूँगा और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी[1] भगवत शरण उपाध्याय, राहुल सांकृत्यायन आदि द्वारा लिखित उक्तियों के आधार पर कहना चाहूँगा कि आर्य भी किसी मादक तरल द्रव्य का पान करते थे और उस सोम राजा कहते थे। उसका क्रय विक्रय होता था। उसको अपने यहाँ लाने का प्रयत्न किया जाता था। जहाँ राजा का वहाँ आमोद प्रमोद न हो जहाँ कनक लता हो वहाँ मादकता और कामिनी न हो यह असम्भव है। मानस विलास और अस्थायी उत्तेजना के अतिरिक्त इससे और कुछ लाभ होना हो ऐसा कोई प्रमाण नहीं। इसी प्रकार कद भर की मानसिक गुदगुदी के लिए ही तो चर्चिल स्टेलिन और नेहरू से लेकर भगरे बुधई मर्कई और निरहू तक तम्बाकू पीते हैं। कोई सफेद कागज में लिपटी हुई तम्बाकू पीता है कोई उसके धुएँ को नलिका द्वारा पान करता है और कोई सूखे हुए पत्ते में लपेटकर उसका धुँआ निगलना उगलना है। पीते प्राय सभी हैं। पंडित जी पीते नहीं तो उसमें चूना मिला कर उसे मज कर दांत और ओठों के बीच रख कर उससे अपने मुख विवर को सुवासित करते हैं। पान तो तम्बाकू के बिना कोई मजा ही नहीं देता।। बड़े लोग छाने में मँगवाकर पीते हैं। ये छाने लोग इनके वाहक हो सकते हैं ग्राहक हो सकते हैं निरीक्षक हो सकते हैं किन्तु उपभोक्ता नहीं। इस अधिकार अपहरण का विरोध छोटे बच्चे अकेले में करते हैं और छिप कर सविनय अवज्ञा आन्दोलन करते रहते हैं। ऐसा करते हुए वे बढ़ते रहते हैं। बड़ी उम्र के हो जाने पर उन्हें बड़ों का समर्थन भी प्राप्त हो जाता है यद्यपि लिहाज के मारे वे प्राय उनके सामने नहीं पीते। मैंने एक पचास वर्ष के प्रिंसिपल साहब के आने पर अपनी सिगरेट छिपाने की ऐसी कोशिश करते हुए देखा है जैसे हम छोटे बच्चे किया करते थे, किन्तु वह पुरानी बात हो गई है। अब तो पच्चीस तीस का अन्तर भी कोई महत्व नहीं रखता क्योंकि पच्चीस तीस के 'दिव्य' व्यक्ति अट्ठावन के गुरुदेव, डाक्टर प्रोफेसर आचार्य रामकुमार वर्मा सिगरेट केस से सिगरेटें निकाल कर न केवल अखण्ड पान ही करते हैं बल्कि विदा होते समय दक्षिणा-स्वरूप चार छः साथ भी ले जाने का साहस रखते हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य के कई निर्माता शराब और सिगरेट के प्रेमी रहे हैं। पान-तम्बाकू और भांग का बना रस तो बनारस का डेमोक्रेटिक रस या साम्यवादी रस रहा है। फिर हिन्दी साहित्यक ही उससे क्यों वंचित रहता। यह एक उक्ति प्रचलित हो गई है कि जब तक मुँह से छल्लेदार धुआँ नहीं छूटता तब तक कलाकार

१ कछुआ धर्म शीर्षक लेख जो निबंध नवनीत में संकलित है

की कल्पना गतिशील नहीं होती। अब यह बात दूसरी है कि कोई पीकर भी चुप रहता है कविता बना है और कोई बिना पिये ही सारे प्रदेश में पीने वालों का सा रंग मचा देता है। मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधु समझता गाने वाले बच्चन ने लिखा है, 'मेरी 'मधुशाला' निकल गई थी और उसने मेरे विषय में एक विचित्र प्रकार का कौतूहल उत्पन्न कर दिया था। कौन है यह आदमी ? क्या इसके पास बड़ी दौलत है ? क्या यह दिन रात नशे में पड़ा रहता है ? क्या यह जो लिखता है वह सब उसका अनुभूत सत्य है ? क्या यह मधुशाला में रहता है, मधुशालाओं में फिरा एक आधुनिक उमरखय्याम की तरह। शायद कुछ इसी प्रकार की जिज्ञासा थी जिसने नव ८० जो को लाकर मेरे मकान के सामने खड़ा कर दिया "[1]। उस समय रामवृक्ष बेनीपुरी ने यह कहा था कि बच्चन बिहार में आएगा तो मैं उसे गोली मार दूंगा ! मगर कोई क्या करे ? बच्चन की मजा-कृत भी तो पीने वालों की सी ही थी ! और उस समय यह आधुनिक उमर खयाम ' दस पन्द्रह रुपये महीने की तनख्वाह का स्कूल पढ़ाता था और सम्पादकों द्वारा दिये गये धोखे खाता था !!! मोहनलाल महतो वियोगी बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भगवती चरण वर्मा आदि में यह हालावाद किसी न किसी रूप में उपस्थित अवश्य है। यह प्रतीक रूप में भी है और अभिव्यक्ति रूप में भी। आशोक्ति के रूप में बच्चन की 'मिट्टी का तन मस्ती का मन क्षण भर जीवन मेरा परिचय' बड़ी ही प्यारी कविता है शराबी के ही मनोविज्ञान को साहित्यिक रूप देते हुए अमर कलाकार प्रेमचन्द ने 'कफन' प्रसाद ने मधुआ', और भगवती चरण वर्मा ने चित्रलेखा की सृष्टि की है।

भिखारी—

रेलवे स्टेशनों के बाहर प्लेटफार्मों पर रेल के डिब्बों में, बस स्टेशनों के पास मन्दिरों और मस्जिदों के पास धर्मशालाओं के पास मुसाफिरखानों में, मेलों और उत्सवों के समय पवित्र नदियों आदि के किनारे भूखे से भी भूखा साधारण स्थिति का मनुष्य रोटी खाने बैठ जाय तो उसे आधुनिक रन्तिदेव बनने पर विवश कर देने वालों, या यदि वह ऐसा होने को तयार न हो तो, उसे कंजूस राक्षस की उपाधि देकर उसे नरक में जाने का आशीर्वाद देने वालों की एक बड़ी संख्या ने भारतवर्ष को आधुनिक सभ्य संसार में एक अनोखा देश बना दिया है। गरीब और मजबूर प्राणी प्रत्येक देश में होते हैं किन्तु ऐसा देश संसार भर में सम्भवत अकेला भारतवर्ष ही है जहां लगभग पांच लाख प्राणी पूरी आजादी के साथ सड़कों पर

१ 'नये पुराने झरोखे' पृष्ठ ८०

घूमते हैं और दूसरों की कमाई का कुछ भाग माग माग कर ही अपना जीवन बिताते हैं। एक मात्र भारतवर्ष की ही जन संख्या विज्ञप्ति में भिक्षावृत्ति को व्यवसाय की कोटि में सम्मिलित किया गया है। भारत में ही सभ्य जनता अपने को तनिक भी अपमानित अनुभव किये बिना इस वृत्ति का खुल आम चलते रहने दे सकती है। भारत के भिखारी भीख मागने में अपमानित सो अनुभव नहीं ही करते, प्राय वे कहते हैं 'हम भीख मागते हैं तो क्या बुरा करते हैं ? किसी की जेब नहीं काटते सभ्य या असभ्य ढग से किसी का लूटते नहीं चोरी नहीं करते, डाका नहीं डालते। मागते हैं जो दे देता है ले लेते हैं नहीं देता तो अपनी राह जाता है। हम देने वाले का भी। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि आजाद हैं किसी की नौकरी नहीं करते–किसी के गुलाम नहीं।' इस विचार-रत्न की अभिव्यक्ति आधुनिक हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य में भी हुई है। बच्चे भी भीख मागते हैं औरतें भी, पागल भी भीख मागते हैं, समझदार साधु सन्यासी भी, अन्धे भी भीख मागते हैं। लूले-लगडे भी, परिवार वाले भिखारी भी हैं एकाकी भी, सगठित भिखारी भी होते हैं, स्वतन्त्र छिट पुट भी, बीमार भिखारी भी हैं, हट्टे-कट्टे भी, बदमाश भिखारी भी हैं शरीफ भी। कोई हाथ फलाकर भीख मागता है कोई घाव दिखाकर कोई भगवान की मूर्तिया दिखाकर भीख मागता है कोई बीलो काटो पर लेट कर, कोई गा-बजाकर मागता है, कोई पेट पर हाथ मारकर अथवा नटो-जैसी कलाबाजी दिखाकर, कोई नवजात शिशु को दिखा कर भीख मागता है कोई विवाह योग्य कन्या आगे करके। खेती अथवा व्यवसाय-विहीन आजीविका-रहित प्राणी, कार्य करने में असमर्थ तथा सहायक विहीन प्राणी पागल तथा समाज-बहिष्कृत प्राणी भूखों मरने-वाली परित्यक्ताएं, भूले भटके शिशु जान बूझकर जिनका अंग भंग कर दिया गया है और जिन्हें मालिक भिखारियों द्वारा अमानुषिक यतनाए दी जाती हैं सुस्त, आलसी, काम-चोर और परम्परा से भीख मांगने के अभ्यासी जीव भिक्षावृत्ति अपना लिया करते हैं। इधर दान देने के अभ्यासी भारतीयों को भीख देने से "पुण्य प्राप्त करने का, भगवान की दया-कृपा प्राप्त करने का, लौकिक उन्नति-सुख सम्पत्ति तथा स्वर्ग प्राप्त करने का विश्वास है। देने वाले देना चाहते हैं, लेने वाले मौजूद हैं – और भिक्षावृत्ति शान से चल रही है। १९२१ की जनगणना के अनुसार इस देश में ४,८७ ६०७ भिखारी थे, जिनमें ३४४२६६ मर्द थे और १, ४३,६४१ औरतें। ये भिखारी साहित्य का विषय बने हैं और इन भिखारियों का चय कर दिया है प्रेमचन्द के "रंगभूमि के सूरदास ने। काश, कि सभी भिखारी "सूरदास, हो सकते !

बेकारी—

भारत एक पिछड़ा हुआ देश हो गया है। इसमें विकास का अनन्त क्षेत्र बताया है। जिस देश में विकास की इतनी अधिक सम्भावनायें हों वहाँ भी बेकारी या बेरोजगारी की समस्या हो यह बात तत्वतः जितना आश्चर्यजनक है उतनी ही भारत के लिये यथार्थ भी। १८७१ में ७१ प्रतिशत लोग बेकार थे १९११ में ७६ प्रतिशत १९२१ में १०३ प्रतिशत और १९३१ में ??? प्रतिशत। १९?१ से १९५१ तक न जाने कितनों की संख्या ४० से ६० प्रतिशत तक आ गई है। यह औद्योगिक नगरों में ही या पढ़े लिखे लोगों में ही बेकारी न हो; वरन् कृषि प्रधान ग्रामीण क्षेत्रों में भी बेकारी है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी देश में बेकारी बराबर बढ़ती जा रही है। यह हमारा सांस्कृतिक दोष नहीं है। प्राचीन अर्थ व्यवस्था ऐसी नहीं थी कि उसमें इतने लोग बेकार रहें। यह युग अथवा परिस्थिति अथवा राज्यविशेष की नीति की देन है। फिर भी आज यह हमारे समाज की समस्या बन गई है। इसके कारण भूख लोगों के अव्यवस्थित भावनाओं तथा असन्तुष्ट विचारों का निरोध नहीं होता। विद्रोह तथा विघटनकारी शक्तियों तथा लोगों में असन्तुष्टता की वृद्धि होती है। चोरी डकैती व्यभिचार झूठ सिफारिश घूस इत्यादि आदि की वृद्धि होती है। नकली आरहत की भावुकता बढ़ती है। इन की वास्तविक शक्ति का ह्रास होता है। जीवन विकृत हो उठता है। ये लोग उत्तेजनापूर्ण घटिया किस्म के अश्लील साहित्य की सृष्टि करते या करवाते हैं। उच्च कोटि के साहित्य की रचना और उसके प्रचार में बाधक होते हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य के बहुत ऊँचा न उठ पाने का एक छोटा सा कारण यह भी है।

फैशन शान—

जब जीवन ठोस और सुगठित नहीं रह पाता तब उसमें दिखावा और फैशन बढ़ जाता है। हम ऐसे मनोवृत्ति वालों के पास जब पैसे कुछ अधिक हो जाते हैं तो उनका प्रदर्शन करने में अपनी शान समझने लगते हैं। नई अर्थ व्यवस्था ने तथा औद्योगिक क्रान्ति ने जब जीवन का स्तर बदला तब 'स्टैंडर्ड आफ लिविंग' अर्थात् जीने के स्तर का प्रश्न उठा। नारा यह लगा कि हम सिर्फ जीना ही नहीं है शान से जीना है। जहाँ कभी नारा था 'सादा जीवन उच्च विचार' का। अब वस्तुयें उपभोग एवं आवश्यकता मात्र के लिये ही नहीं, बल्कि इस कोटि की और इसलिये भी हैं कि उन्हें देखकर लोग यह समझ जायँ और यह मान लें कि ओहो भाई ये बड़े आदमी हैं।' अंगरेजों का हम पर राजनीतिक प्रभुत्व

स्थापित हो ही गया था। परिणाम में उनकी अनुकूलता प्राप्ति के लिये और अपनों पर रौब गाँठने के लिए हमने उनका अनुकरण प्रारम्भ कर दिया। उनके यहां के पतले, सस्ते और भड़कीले वस्त्र और वस्तुएं हमें आकृष्ट करने लगी। उन्हें स्वीकार करने में पहले हमने यह अवश्य देख लिया कि वेद शास्त्र इसके विरुद्ध तो कुछ नहीं कहते। जब मालूम हो गया कि नहीं कहते, तो हमने निःसंकोच भाव से खुल कर उन्हें अपनाना शुरू कर दिया। हम भूल गये कि धर्म ही सब कुछ नहीं, सब कुछ संस्कृति है। हम यह सोचना भूल गये कि यह हमारी संस्कृति और आवश्यकता की बात है या नहीं। पतलून पहनना, टाई लगाना, हैट पहनना, सिगरेट पीना, मेज पर खाना, छुरी काटे से खाना, अंगरेजी लिखना, अंगरेजी बोलना, सोफासेट सजाना, आदि इन सबके बारे में वेद शास्त्र ने मना नहीं किया है और भारतवासियों ने इन्हें डटकर अपना लिया। परिणामतः हमारे धर्म के कर्मकाण्ड तो रह गये परन्तु सांस्कृतिक जीवन—व्यापन की दृष्टि से हमारा सांस्कृतिक मूलोच्छेद हो गया। मूल से विच्छिन्न होकर हम हल्के पड़ गये ठोस नहीं रह गये। हम भूल गये कि विद्या की प्रवृत्ति सतोगुणी है और उसका रंग श्वेत है। इसका परिणाम यह हुआ कि विद्या मन्दिरों में कामोत्तेजक प्रकार की रंग-बिरंगी भड़कीली पोशाकें दिखाई देती हैं—विद्या-दान वालों की भी और दान वालों की भी। हमारी सांस्कृतिक नेस्तनाबूद होने की आशा दी है, हम सोचते ही नहीं, किन्तु सांस्कृतिक खोखलेपन के अभाव की स्थिति में मान ही नहीं सकते हैं—आज प्रत्यक्ष इस रूप में सज संवर कर उभर कर सिर उठाता हुआ दिखाई पड़ता है कि एक दृष्टान्त के भटकाव का वचन याद आ जाता है, कि लगता है कि इसलिये नारद, पाराशर, विश्वामित्र आदि आज के विद्यालयों में नहीं दिखाई पड़ते कि, कहीं उन्हें फिर से न बन्दर बनना पड़ जाय, कहीं फिर से किसी सती की लाश न ढोनी पड़ जाय। बेचारों को यह नहीं मालूम कि अब समय बदल गया है। आज वह बन्दरपन ही नव यौवन है, 'सती की लाश' ही सजीव प्रगतिशीलता, वहुप्रभ और समृद्धि की सूचना देती है तथा ऐसे विश्वामित्रों और मेनकाओं अवांछित अस्तित्व एवं आगमन को रोकने के बहुत से उपाय निकाल लिये हैं।। शकुन्तलाओं की भरमार न हो जाय।! आज की पार्टियों, आज के सिविल लाइनों आज के सिनेमा हालों, आदि को देखकर सचमुच यह सोचना पड़ जाता है कि भारत की गरीबी की बात झूठी तो नहीं है। वास्तविकता यह है कि पाउडर, लवेंडर क्रीम की बोतल, साड़ियां, ब्लाउज, पतलून और कोट या पाउडेनपर तथा घड़ियां, शकुन्तलाओं के अथवा चीनी की प्लेटें और चाय की प्यालियां आदि जितनी कि तुम्हें डेढ

सेर की फूल की थालियां, भारी परात, भारी घड़े, भारी लोटे, कीमती गिलास चांदी सोने के भारी गहने कहीं न मिलेंगे! दूध महंगा है और चाय चीनी दूध प्याला तस्तरी नाश्ता सस्ता है! कितना खोखलापन हमारे अन्दर भर गया है कि मोजे, चप्पलें और जूते तो कीमती हैं, मगर पैर निकृष्ट हो चले हैं! जब सोचने को बड़ी बातें और करने को अधिक और बड़ा काम नहीं रहता तब कुछ बड़े अफसरों की गृह देवियां यह बताने में अपने समय का सदुपयोग करती हैं कि उनके जेठ क्या हैं, ससुर क्या थे चचिया ससुर क्या हैं, उनके पास कितने ट्रंक साड़ियां हैं, और एक बार मोटा कपड़ा पहनने पर बोझ के मारे कितने दिन उन्हें बुखार आ गया, और उधर, उनके साहब क्लबों में चिड़िया उड़ाने पत्ते फेंकने बांटने, शराब पीने और सिगरेटें फूकने में चौरासी लाख योनियों के बाद पाया जा सकने वाला मानव जीवन सार्थक किया करते हैं! इस तरह के लोग विशेषतः देवियां अपने हाथ से अपना भी काम करना अपने पद और अपनी प्रतिष्ठा अपमान समझती हैं! प्रोफेसर की बीबी अपने हाथ से काम करें और मोटे सादे कपड़े पहने! गजब!! दो सौ चार सौ की मासिक आय वालों की यह मनोवृत्ति नतिकता, गम्भीरता और ठोसपन के अभाव के अतिरिक्त और क्या है!!! लोग आज सारहीन दिखावटी चीजों को इतना महत्वपूर्ण या आवश्यक समझने लगे हैं कि उनका विचार है कि लोग उसे देखते और उस पर विचार करते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि आज किसे फुरसत है कि देखे और विचारे कि आपने क्या और क्यों पहना है! एक निगाह देखते हैं एक दो वाक्य में बात करते हैं, फिर बात आई गई हो जाती है। लोग कदर आपके पद और आपकी प्रतिभा की करते हैं, आपके कपड़ों की नहीं! कुछ बददिमागों की बात दूसरी है। फैशन और नयेपन की यह घातक प्रवृत्ति साहित्य में चित्रण का विषय तो बनती ही है, इस वातावरण में पले हुए तरुण कलाकारों के अन्दर से ठोस साधना, गम्भीरतम चिन्तन, व्यापक दृष्टिकोण, सांस्कृतिक अभिरुचि, आदि का अभाव करके उनमें सस्ती छिछली लोकप्रियता के पीछे दौड़ने और दूसरों पर रोब लेने की इच्छा की वृद्धि कर देती है। महावीर प्रसाद द्विवेदी मैथलीशरण गुप्त, 'हरिऔध', श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द, प्रसाद, 'निराला', धीरेन्द्र वर्मा, आदि की गहराई और ठोसपन नई पीढ़ी में नहीं दिखाई पड़ती क्योंकि तब परतन्त्र होकर भी हम विवेकानन्द, दयानन्द, तिलक, गांधी, आदि की बात यथाशक्ति समझते और मानते थे और अपनी संस्कृति का आदर करते थे और आज आजाद होकर भी हम न उन महापुरुषों की बातें मानते हैं और

न हम अपनी संस्कृति की ही परवाह रह गई है। आज का फैशनेबुल अभिनव साहित्यकार फैशनेबुल 'कुण्ठा', फैशनेबुल 'घुटन' फैशनेबुल 'जलन', और फैशनेबुल बुद्धिवाद के सहारे एक फैशनेबुल स्वप्न—काल्पनिक सुख समृद्धि वाले समाज की सृष्टि में लगा है। भगवान ही रक्षा करे !! और, जब रहन सहन, खान पान, वेश भूषा, अर्थ व्यवस्था और राजकाज में अनुकरण फैशन दिखावे की वृत्ति आ गई तथा मौलिकता अथवा विशुद्ध भारतीयता का अभाव हो गया तो किसी एक क्षेत्र में मौलिकता की कल्पना भी ही कम जा सकती है। यही कारण है कि यद्यपि आधुनिक युग में दो दो नितान्त मौलिक विश्व महायुद्ध हुए हैं और आज के समाज की समानरूपेण शक्तिशाली नवीन और प्राचीन प्रवृत्तियों और मान्यताओं की टकराहटें त्रेता अथवा द्वापर युग के अन्त की टकराहटों से किसी भी प्रकार कम नहीं, फिर भी आज किसी नितान्त मौलिक महाकाव्य की रचना नहीं हो सकी। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्य तो दूर की बात रहे तुलसी का मानस भी हम अभी नहीं लिख पाया !! मौलिकता के इसी अभाव के सभी प्रकार की इसी फैशनपरस्ती के कारण आधुनिक हिन्दी काव्य पर्याप्त मौलिक और तत्व प्रभावशाली नहीं हो पाया। मेरा विचार है कि आधुनिक युग में जन्म लेकर भी आधुनिक भारत के व्यास और वाल्मीकि कोट पतलून टाई कॉलर न पहनेंगे, सिगरेट पाइप न पियेंगे बटन होल में फूल की कली न लगाएंगे सोफासेट पर आराम न करेंगे, मेज कुर्सी पर छुरी काटे से चीनी की प्लेटें न खनखनाएंगे। काश काश कि गांधी और विनोबा कवि हुए होते !!

मनोरंजन—

जिस प्रकार जीवन एवं रहन सहन सम्बन्धी हमारी अन्य धारणाएं अपने सांस्कृतिक परिवेश से विच्छिन्न होकर सागर में फेंकी गई पेड़ की टहनी की तरह पूर्वी और पश्चिमी लहरों के घात प्रतिघात के कारण निर्मूल सी होकर इधर उधर बहती उतराती हैं उसी प्रकार जीवन की मनोरंजन संबंधी हमारी धारणाएं और उसके स्वरूप भी हैं। अधिक परिश्रम के कारण शरीर के विभिन्न अनुपरमाणु रत के कण एवं मस्तिष्क के विभिन्न अवयव एवं तन्तु क्रियात्मक शक्ति के व्यय के कारण शक्ति हीनता का बोझिल होने का तनाव एवं खिंचाव का अनुभव करने लगते हैं। उन्हें स्वाभाविक एवं स्वस्थ स्थिति में लाने के लिये पहले के कार्य को स्थगित करने कुछ पौष्टिक तत्वों से उन्हें सयुक्त करने, रुचिकर गंभीर उद्देश्य एवं लक्ष्य से रखने वाले हल्के फुल्के कार्यों को दबाव विहीन ढंग से स्वतन्त्रतापूर्वक

करने की आवश्यकता होती है। बहुत देर तक निष्क्रिय बैठे रहने से भी शरीर अपनी क्रियाशीलता एवं स्वास्थ्य को खोता है। इसके लिए भी कुछ होना चाहिये। ऐसे अवसरों के लिये भारतीय संस्कृति की जो व्यवस्थाएँ थीं उनमें जिस बात का, सबसे अधिक ध्यान रखा जाता था वह थी शारीरिक, नैतिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक किसी भी प्रकार की कुछ भी हानि न होने देने की। एक की हानि पर दूसरे का लाभ हमारी संस्कृति ने कभी भी प्रतिपादित नहीं किया। आगे बढ़ कर इस बात का भी ध्यान रखा जाने लगा कि वह परिस्थितियों के अनुकूल हो, सात्विक प्रकृति की हो और मनुष्य की व्यापक उन्नति में सहायक हो। कालान्तर में इस दृष्टिकोण में शिथिलता आने लगी। विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क से मनोरंजन आदि की विभिन्न धाराएँ और उनके अनेक स्वरूप एवं प्रकार हुए। स्वास्थ्य के लिये देशी और विदेशी व्यायाम भी होते रहे और उनकी जगह पर केवल विदेशी औषधियों पर भी भरोसा किया जाने लगा। हमारे नाच-गान-नाटक आदि का सम्बन्ध भगवान से भी हट गया था और हमारे मनोविकारों से भी। धन की अधिकता के लिए खाली बैठे रहकर हम अपने मन और मस्तिष्क रुचि और पसन्द को [illegible] तामसिकता के रंग में रंगने भी लगे। हम स्वास्थ्य के लिए नहीं स्वाद के लिए खाने लगे। सन्तुलित भोजन का कोई भी ध्यान नहीं रह गया। मनोरंजन सम्बन्धी हमारी धारणा भी विचित्र हो गई। उसमें धन और प्रतियोगिता की भावनाएँ सम्मिलित हो गईं और उसने व्यवसाय का रूप धारण कर लिया। कुछ का रूप बेहद खर्चवाला हो गया। कुछ को हम मनोरंजन का सभ्य साधन समझने लगे और कुछ को असभ्य कहते। कुछ मनोरंजन घर के भीतर आराम से गद्दे तकिये या कुर्सी का सहारा लेकर होने लगा और कुछ बाहर मैदानों में। वे हृदय के विषय बन रह गये। नियम कायदों से जकड़ गये। कुछ तो कमाई करने के साधन भी बन गये हैं।

कुछ से चरित्र और स्वास्थ्य बनता था बन सकता है। और कुछ केवल फालतू समय (जो हमारे पास कम नहीं है।) को व्यतीत करवा देने के साधन मात्र रह गये। मनोरंजन के कुछ साधनों को क्रियात्मक रूप देने के लिये लाखों-करोड़ों का व्यय, अखिल भारतवर्षीय आयोजनाओं, और राजकीय संगठनों की आवश्यकताएँ पड़ती हैं। इनमें से कुछ साहित्यिक हैं और कुछ व्यावसायिक। कुछ निर्माण करते हैं कुछ विनाश। योगासन, कबड्डी, गुल्ली डंडा, नाटक कम्पनियाँ, भजन मंडलियाँ

जनाइ नृत्य गान तथा रामलीला ह कफु के गाने शास्त्रीय संगीत, वेश्या ताश शतरंज ब्रिज पचास चौड कौडी जुआ टेनिस व मिंटन, क्रिकेट, हॉकी, फुटबाल, वालीबाल टबुल टेनिस, सिनमा रेडियो आदि हमारे व्यायाम और मनोरंजन के प्रकार है। इनमें से कुछ खेल तो राष्ट्रीय सम्मान एवं विश्व सम्मान दिलाने वाले हो गए है। प्रसाद जी कुश्ती लड़ते थे और उनका शरीर कसरती था। रामकुमार वर्मा जी ने बचपन में कई कुश्तियाँ मारी थी। उनका सुगठित शरीर उनके व्यायाम प्रेम का साक्षी है। वे आज भी प्रातःकाल व्यायाम और आसन करते हैं। उत्तम प्रदेश, व्यायाम केसरी दारा उप्रकाश आत्रेय का कहना है कि निराला कुश्ती के सारे दाव पेंच जानते थे। प्रेमचंद की एक कहानी का विषय है उनके बचपन के एक साथी के साथ कुश्ती डंड का खेल। प्रसाद निराला रामकुमार वर्मा, महादेवी, आदि अनेक गीतकार शास्त्रीय संगीत से परिचित हैं। वैसे भी संगीत भारतीय जीवन का एक अनिवार्य तत्व है—सांस्कृतिक तत्व है। बच्चन ने लिखा है सुप्रसिद्ध संगीतकार बड़े गुलाम अली ने एक बार कहा था कि गाने को तबियत बनाना ही गाना है हमारे देश का तो सारा जीवन ही गीतमय है। कभी कभी सोचता हू कि हमारे ऋषि मुनियों विचारकों दार्शनिकों विद्वानों संतों ने जीवन की कौन ऐसी व्याख्या जन जन के हृदय में बिठा दी कि समस्त जाति गीतमय हो गई। पर्वो त्यौहारो, मेलो उत्सवो की बात नहीं करता, ऐसे समय गान स्वाभाविक है पर कठिन मेहनत का काम करते हुए भी लोगों को गाते देखकर मैं भाव विभोर हो गया हूँ। पति या पुत्र की मृत्यु पर देहातों में औरतें जिस ढंग से रोती हैं उसमें भी एक लय एक प्रकार की संगीतात्मकता होती है। इसलिये हमारा काव्य गीत संगीतमय है—गद्य में भी संगीत है। प्रसाद ने देवसेना में संगीत के इसी व्यापक रूप की प्रतिष्ठा कराई है। इस सार्वजनिक प्रवृत्ति के प्रतिकूल कुछ यथार्थवादी, बौद्धिकतावादी, तथा नई कविता के कलापूर्ण गौरव स्तम्भ कवितों से संगीत को निकालने की पिपिहिरी बजाये हैं यद्यपि तुक लय आदि से उनकी कृतियाँ भी पूर्णतः रहित नहीं हैं।"[1] भारतेन्दु जी शतरंज के निष्णात खिलाड़ी थे और प्रेमचन्द की एक सुप्रसिद्ध कहानी है 'शतरंज के खिलाड़ी'। प्रसाद के नाटक पारसी रंगमंच पर अभिनीत होने वाले असांस्कृतिक नाटकों की प्रतिक्रिया स्वरूप थे और उनकी नाट्यकला का रूप उन से अप्रत्यक्ष रूप से थोड़ा-बहुत प्रभावित भी है। भारतेन्दु अभिनय कला के ममज्ञ, और रंगमंच की कला के ज्ञाता थे। वे स्वयं अभिनेता भी थे। यही स्थिति रामकुमार वर्मा की भी है। पाश्चात्य खेल जैसे क्रिकेट

१ 'नये पुराने झरोखे', पृ १२५।

हाकी, आदि अभी हमारी संस्कृति के अंग नहीं हो पाये हैं और इसलिए अभी हमारे साहित्य का उनसे कोई प्रत्यक्ष संबंध स्थापित नहीं हो पाया है। चलचित्र हमारी रुचि, हमारे जीवन और हमारे मनोविज्ञान को बुरी तरह से आक्रांत करता हुआ भी अभी हमारे जीवन का शुभ सांस्कृतिक तत्व नहीं हो पाया है और इसीलिए साहित्य का विषय नहीं हो सका। फिर भी, सुबह के मेले" और 'आखिरी दाव' नामक दो सशक्त उपन्यासों और अनेक कहानियों का संबंध चलचित्र जगत से है। मनोरंजन के साधनों में से जिस तत्व ने हिन्दी साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित किया है वह है रेडियो। एकांकी नाटकों की भरमार का एक प्रमुख कारण रेडियो है। इसी कारण अनेक प्रकार के रेडियो नाटक लिखे जाने लगे हैं जिनका वर्गीकरण रेडियो नाटक ध्वनिनाट्य, ध्वनिरूपक, आदि हिन्दी में पहली बार रामकुमार वर्मा ने किया है रंगमंच के अभाव तथा सुयोग्य दर्शकों की कमी ने नाटकों को दृश्य काव्य से पाठ्यकाव्य बना दिया और अब रेडियो ने उन्हें श्रव्यकाव्य बना लिया है। हिन्दी साहित्य को रेडियो की यह सबसे बड़ी देन है।

प्रेस—

आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य को सबसे अधिक प्रभावित करने वाली सामाजिक वस्तु है प्रेस। समाचार पत्रों ने हिन्दी कविता को राज दरबारों से निकाल कर जनता के साथ खड़ा कर दिया। प्रेस की सबसे बड़ी देन यही है कि उसने हिन्दी का दरबारीपन समाप्त कर दिया। प्रजातन्त्रवाद और मानवतावादी दृष्टिकोण ने इसके लिए मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि तैयार की और प्रेस ने साधन उपस्थित कर दिया। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, 'वस्तुतः साहित्य में आधुनिकता का वाहन प्रेस है और उसके प्रचार के सहायक हैं याता यात के समुन्नत साधन। वस्तुतः प्रेस ने साहित्य को प्रजातांत्रिक रूप दिया।'[1] बम्बई में प्रकाशित साहित्य चौबीस घंटे के अन्दर सारे भारत में पहुंच सकता है। इस सुविधा ने हिन्दी साहित्य को स्थानीयता एवं प्रादेशिकता की सीमाओं से मुक्त करके अन्तर्प्रांतीयता का स्वरूप प्रदान कर दिया है। इससे भाषा की एकरूपता में थोड़ी-बहुत शिथिलता अवश्य आ गई है किन्तु यह कोई बड़ी बात नहीं है। उचित समय पर भारतीय प्रतिभा उसके अबाधित तत्वों के लिए निदान ढूंढ़ लेगी। प्रेस ने अधिकाधिक संख्या में पुस्तकों का प्रकाशन सम्भावित करके लेखकों के पाठक-वर्ग का विस्तार करके उनकी यशोवृद्धि का साधन उपस्थित कर दिया है। मासिक तथा साप्ताहिक पत्रिकाओं के प्रकाशन ने

1 हिन्दी साहित्य पृ ३६१।

साहित्य के लघु रूप को अधिकाधिक प्रोत्साहन दिया है। पाठक की रुचि का ध्यान पत्रिका के अधिकाधिक विक्रय का साधन है। अतएव सम्पादक वह छापेगा जिसे पाठक अधिकाधिक खरीदे और इसीलिये साहित्यिक वही लिखेगा सम्पादक जिसे निःशंक रूप से छाप सके। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य पाठकों का-लोकमत का-अनुगामी हो गया। उस पाठकों की रुचि और साहित्य के सांस्कृतिक महदुद्देश्य के बीच समन्वय बिन्दु निकालना पड़ा। जो ऐसा न कर सका उसे क्षेत्र से हट जाना पड़ा। स्थिति ठीक वैसी ही है जैसी कवि-सम्मेलनों की। विविधता की मांग ने साहित्य की अनेक विधाओं के अपनाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया और नवीनता की मांग ने विविध प्रान्तों और देशों के साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता प्रतीत कराई। हिन्दी साहित्य की अत्यन्त लोकप्रिय विधा, "कहानी" के वास्तविक अर्थों में प्रारम्भ का श्रेय प्रेम की कृपा—"सरस्वती" के प्रकाशन-को ही है।

अन्ध विश्वास —

दर्शन में बुद्धि एक जड़ तत्व है। चेतन-जगत में, अध्यात्मिक क्षेत्र में उसकी कोई विशेष उपयोगिता नहीं मानी गई है। इसका एक मात्र उपयोग है सार्थकता है—अपनी निःसारता, निरुपयोगिता या निरर्थकता की अनुभूति करा देना। इतना करने के पश्चात् उसे साधक से इसी प्रकार वियुक्त हो उठना होता है जैसे सर्पराज की पुरानी केंचुल। इसका तात्पर्य यह न समझ लेना चाहिये कि वह लौकिक क्षेत्र व्यवहारिक जगत में भी निरुपयोगी है। उसकी निरर्थकता की अनुभूति किये बिना ही—लौकिक क्षेत्र एवं व्यावहारिक जगत में भी उसको छोड़ देने वाले मूर्ख हो जाते हैं। बुद्धि को प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना या छोड़ने का ढोंग रचना जाहिलियत है, बुद्धि से अपरिचित होना मूर्खता है और बुद्धि का स्वतः अपने को निरुपयोगी सिद्ध करके ऋतुओं की भांति इन्द्र धनुष की भांति स्वतः सहज स्वाभाविक रूप से साधक के मार्ग से लुप्त हो जाना आध्यात्मिक क्षेत्र की एक सुन्दर परिस्थिति है। शिक्षा के अव्यावहारिक खर्चीलि, प्रायः नगरों में ही सीमित और असांस्कृतिक होने के कारण भारतीय जनता के अधिकांश भाग ने उससे अपना संबंध तोड़ लिया। इस प्रकार लिखना, पढ़ना, और हिसाब लगाना उनके लिये नहीं रह गया। व्यवहार कुशल होने पर भी वे अशिक्षित रह गये। मस्तिष्क को जागरुक और सक्रिय रखने के लिये आवश्यक तत्वों को भीतर आने देने वाली खिड़कियां बन्द हो गई। नौकरी दिलाने वाली तथा पाश्चात्य रूप धारण करके चलने वाली शिक्षा में इतनी क्षमता नहीं रह गई कि वह शिक्षितों को अपने आध्यात्मिक एवं

धार्मिक जीवन के प्रति जागरूक कर सकती या उस विषय में कुछ बता सकता। अपने धार्मिक व्रत यों एवं अनुष्ठान, को जानने के लिये जिस भाषा को जानने की आवश्यकता होती है उसे जानने वाला मूर्ख और सरकारी नौकरी के अनुपयुक्त समझा जाता था। अस्तु उसे पढ़ने का घाटा मोल लेने को हम तैयार न हुए। हम अशिक्षित भारतीयों ने बुद्धि का साथ छोड़ दिया तो मूर्ख रह गये। शिक्षा की धार्मिक-शून्यता ने हम धर्म के मामले में एक विशेष वर्ग पर ही अवलंबित होने को विवश कर दिया। मुहावरा चल पड़ा कि पढ़ लिख कर कोट पतलून पहनने लग जाना और अंगरेजी बोल सकना और बात है और अपना धर्म-करम जानना और बात। इस मजबूरी ने हमें बिना सोच-समझे विश्वास करना सिखा दिया। धर्म के अन्दर बुद्धि को साक्ष्य होने देना नास्तिकता है। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः'। हम अनुकरणवादी हो गये। उस पर हम ज़रा सशय सन्देह कर नहीं सकते क्योंकि 'संशयात्मा विनश्यति'। और फिर विश्व-ब्रह्माण्ड इतना अपरिमित हम इतनी अल्प और सीमित शक्ति वाले! किस-किस को जानेंगे? किस-किस पर विचार करेंगे? किस-किस से लड़ेंगे? सौ-सौ सालों के भी हिंदू ने मान लेना सीख लिया। विश्वास करना सीख लिया। लेंगा नंगे करेगा तो उसका क्या जायगा? कुछ नहीं। शरीफ आदमी जरूर उलझन में पड़ जायगा। इसलिए हिंदू ने सबसे प्रार्थना करके सबको शांत करना अच्छा समझा 'ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथ्वी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि। ॐ शान्ति शान्ति शान्ति।' जब सब कुछ शांत तब जो कुछ करता है वह पंडित जी के कथनानुसार ही तो करता है। लोगों ने इस बात का बात पर सोचना-विचारना बेकार का काम समझा। "विश्वासो फलदायक" यह पढ़ पढ़ कर सब बैठने लगे। बुद्धि जिसके विषय में कुछ भी न कह सके उसे मानना विश्वास है और बुद्धि जिसके विरुद्ध निर्णय दे दे उसे भी मानना अंधविश्वास कहलाता है। पढ़े-बेपढ़े सब अंधविश्वासी हो गये। भारतीय जिसे संसार भर का उच्च अमानवीय अति मानवीय और अलौकिक में पहचान में उस कोई भी देरी नहीं लगती। भारतीयों जिसके उत्पत्ति और प्रेम की प्रशंसा करता है उसमें [illegible] और पतित कामों का भी प्रदर्शन और पराजित होते हुए [illegible] विचार नहीं आती। चेतन है जितने जीव प्राणि-प्रधान [illegible] सिद्धों को भी मानना अविद्या पर आधार (पंडा-दादा) पंथा

जादू-टोना ओझा जी की झाड-फूक जीवों की बलि, "अमुआना" (देवी या देवता की छाया से गृहीत व्यक्ति का सिर या हाथ हिलाते हुए अनाप बातों को बताना), 'मानता' मानना लडकी की ससुराल का एक दाना अन्न भी न खाना अथवा एक बूंद पानी भी न पीना आदि अनेक बातें हमारी उपर्युक्त प्रवृत्तियों की द्योतक हैं। प्राय ऐसा होता है कि उत्तर प्रदेश, बिहार, आदि प्रान्तों के गम दिल नवयुवक जब उत्तर पूर्व बंगाल, असम, और उवसीम क्षेत्रों की रूपवती और स्वस्थ तरुणियों के असाधारण आकर्षण और निर्बाध एवं निर्वेध प्रेम के वशीभूत हो जाने के परिणाम-स्वरूप अपने जन्मस्थान एवं अपने जन्म प्रान्त नहीं लौटते तब बड़े विश्वास पूर्वक लोग कहा करते हैं कि कमच्छा की जादूगरनियों ने उन्हें भेड़ा बना लिया है। वे रात में पुरुष और दिन में भेड़ा बनाकर रक्खे जाते हैं। लोग इसका अर्थ रूपकात्मक नहीं अभिधात्मक ही लेते हैं[1] राहुल सांकृत्यायन ने इस शताब्दी के प्रारम्भ में प्रचलित भूत प्रेत-सबंधी और अंगरेजों के देवी प्रताप-संबंधी अंधविश्वास का मनोरंजक उल्लेख किया है।[2] उनके एक सम्बन्धी रात में अकेले आ रहे थे। एक भूत ने उनका पीछा किया। 'मील भर चला गया और अब भी वह व्यक्ति साथ ही चल रहा था। मैंने पूछा तो जवाब मिला 'आओ इधर से न चलो' ... जानते हो, पक्की सडक सरकार बहादुर की सड़क है। सरकार का बड़ा अकबाल है। उस पर आकर किसी भूत प्रेत को घात करने की हिम्मत नहीं हो सकती मील आध मील और पीछा करके वह यह कहता हुआ चला गया 'अच्छा, जा, बच के निकल गया।[2] विश्वास है कि भूतों का उच्चारण सानुनासिक होता है और उनकी एड़ी आगे की ओर और पंजा पीछे की ओर होता है।[1] टोना लगवान और पन्ने से लड़कों का मृत्यु हो जाने का भी अंधविश्वास कहीं-कहीं था। उपर्युक्त पुस्तक में राहुल जी ने एक और मनोरंजक अंधविश्वास का उल्लेख किया है। 'एलोरा और अजन्ता की गुहा मूर्तियों के बारे में उनका कहना था—रामजी बनवास को जायेंगे-यह ख्याल कर विश्वकर्मा ने पहाड़ काट कर ये महल बनाये कि इनमें देवता लोग वास करेंगे और राम जी को वनवास में कष्ट न होगा किन्तु महल बना कर जब तक विश्वकर्मा ब्रह्मा को खबर देने गये तब तक राक्षसों ने आकर उन महलों में डेरा डाल दिया। लौटकर विश्वकर्मा ने देखा। उन्हें बहुत क्रोध आया और शाप दिया जाओ, तुम सब पत्थर हो जाओ। नानी की परम्परा के अनुसार अजंता एलोरा की गुहा मूर्तियां वही पथराए राक्षस हैं ... नाचने वाले वैसे ही नाचते रहे ...सोने वाले वैसे ही सोये-बैठे रह। आज भी देखने से मालूम होता है—अभी उठ कर बोल देंगे।[3]

१ मेरी जीवन यात्रा, पृ १६।
२ वही, पृ १६।
३ वही पृ २४ २५।

अन्धविश्वास किसी स्वस्थ प्रवृत्ति का सूचक नहीं होता—बुरा होता है किन्तु हमारे देश की जनता व त्रास जिसके पढ़े बेपढ़े दोनो वर्ग धर्म-संस्कृति की जानकारी के विचार से एक समान मूक और बच्चे हैं जिसको परिस्थितियों ने उसे बुद्धि विकास का कोई भी अवसर नही प्राप्त होने दिया अपने धर्म और अपने सांस्कृतिक तत्वो, विभूतियो एवं परम्पराओं को पूर्णत नष्ट न होने देने के लिये अन्धविश्वास के अतिरिक्त और कोई भी चारा रह नही गया था। मैं नही जानता कि अन्य देशों की पश्चिमी शिक्षित जनता की भी बुद्धि कितनी सक्रिय रहती है, और मैं यह भी नहीं जानता कि अन्य देशों में अवांछित प्रवृत्तियो ने कभी कोई शुभ काम किया है या नही, किन्तु जिनकी जड़ सांस्कृतिक गहराइयों में नही हैं उन पढ़े लिखे बुद्धिवादी नवयुवको के बौद्धिक उत्पात की अपेक्षा बेपढ़े लिखे लोगो के ऐसे अन्धविश्वास को मैं अच्छा समझता हूँ जिसने हमारी संस्कृति को लुप्त होने से बचा लिया। बचा उन्होंने लिया, परिष्कार, पुनरुद्धार और उपयोग अब हम कर रहे हैं। अन्धविश्वास आपत्ति-कालीन परिस्थितियों की कल्याणमयी प्रवृत्ति का रूप धारण कर ले गया-यह एक अनोखा सांस्कृतिक वचित्र्य है। आधुनिक हिंदी-साहित्य में अन्धविश्वासों का कमाल नही मिलता किंतु विश्वासों का सद स्वरूप अवश्य मिलता है। हमारे नाटककारो ('कर्तव्य, आदि के रचयिता सेठ गोविन्द दास, आदि) कवियो (हरिऔध आदि) ने हमारी कुछ सांस्कृतिक कथाओं के पीछे की घटनाओ की जो बौद्धिक व्याख्या प्रस्तुत की है उसके और राहुल जी की नानी की उपयुक्त व्याख्या के पीछे ज्ञात या अज्ञात रूप से एक प्रवृत्ति साम्य है। वह, जो ऐतिहासिक नहीं है, नई व्याख्याओं के लिये ही या उसी के कारण या उसी के आधार पर हमारे साहित्य का विषय बन जाता है और तब हमे डा० रामकुमार वर्मा लिखित पृथ्वीराज की आंखें, शिवाजी आदि सरीखी कृतियां मिलती हैं। बुद्धहीनो का अन्धविश्वास भी परिवर्तित होकर हमारे समझदार साहित्यिकों का सद्विश्वास बन गया है। विश्वास की इसी प्रवृत्ति ने मथिलीशरण गुप्त के राम और बुद्ध की ऐतिहासिकता एवं मानवीयता से उनके ईश्वरत्व को बाधित नहीं होने दिया। हमने अन्धविश्वासो की आत्मा ले ली है कंकाल छोड़ दिया है। इसके लिये हम आर्यसमाज और कांग्रेस के आन्दोलनो दयानन्द और गांधी की चेतनाओं तथा अपने प्राचीन गौरवमय स्वरूप को प्राप्त करने के लिये चलाये गये सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रवृत्ति के ऋणि हैं। यह उसी के परिणामस्वरूप हुआ है।

धार्मिक सहिष्णुता—

सांस्कृतिक परम्पराओं ने धर्म जाति एवं सम्प्रदाय के वैमनस्य को, वभिन्य को भी स्वस्थ सामाजिक सबंधों के विकसित होने में बहुत अधिक बाधक नहीं सिद्ध

होने दिया। ऐतिहासिक एव सामाजिक परिस्थितियो एव प्रवृत्तियों के कुचक के कारण सबसे अधिक विरोध हिन्दू और मुसलमान म हो सकता था और कुछ सीमा तक हुआ भी क्योंकि स्वार्थी बुद्धिवादियो न विरोध को व्यय ही भडका कर अपना उल्लू सीधा किया है किन्तु प्रभावशाली होते हुए भी इनकी सख्या कम और प्रवृत्ति एव प्रभाव सामयिक है वस्तुत शिक्षित अथवा सुघरे हुए विचार वाले भलेमानुस भाइयो ने विरोधी तत्वों के डक को निकालकर फेंका है और स्वस्थ सामाजिक सबधो का विकास कर लिया है जिसका बडा ही प्यारा रूप अविपाक्त क्षेत्रों मे दिखाई पडता है। हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे की जातिगत भावनाओ का आदर करते हुए भी एक दूसरे का खिलाते पिलाते रहे हैं। राजेन्द्र बाबू ने लिखा है, 'ऐसे असख्य ग्राम हैं जहा हिन्दू और मुसलमान साथ साथ रहते हैं (उनमें) सच्ची मैत्री और पडोसीपन का भाव रहता है और सब लोग आपस में गाव के रिश्ते के अनुसार एक दूसरे को भाई, चाचा, बाबा आदि कहकर पुकारते है। अनेक नाम ऐसे होते हैं जो दोनो के यहा सम भाव से रखे जाते हैं गावों नगरो और तालाबो आदि के नामो म भी यही बात है ...छोटे लोग बडे लोगो के यहा विशेष अवसरो पर विशेष कार्य करते हैं और अपनी अपनी हैसियत के अनुसार लोग उन्हें विशेष पुरस्कार भी दिया करते है इनमें हिन्दू मुसलमान भेद नही किया जाता है मुसलमान नाई हिन्दुओं के बाल बनाते हैं हिन्दू पत्नियों के सुहाग भूपण, चूडियों का व्यवसाय शत प्रतिशत रूप से मुसलमान चूडिहारो के ही हाथो में है नेहरु और जिना की शेरवानी और चूडीदार पायजामे तथा कुघइया" और सकुरवा" की वेशभूषा मे कोई विशेष अन्तर नही होता चूडी, साडी, कुरता, सलवार हिन्दू और मुसलमान महिलाए एक समान शौक से पहनती हैं इस सुन्दर तान बान के अन्दर हिन्दू और मुसलमान नर-नारियों ने जाने-अनजान हमारे सामाजिक जीवन को जिस भव्य और स्निग्ध पट से बुना है वह सराहनीय है।[1] यह धार्मिक विद्वेष पर सामाजिक शक्तियो का विजय है, यह सास्कृतिक अखडता की विघटन कारी तत्वो पर जीत है, घृणा और अविवेक पर प्रेम और विवेक का प्रभुत्व है। इन प्रवृत्तियो का भाषा और साहित्य पर असाधारण रूप से प्रभाव पडा है। इसी न दोनो की सामान्य भाषा हिन्दी-को जन्म दिया है जिसका एक रूप उर्दू है। सामान्य रूप से प्रयुक्त व्यापक शब्द समूह को 'फिराक' उर्दू की और हम हिन्दी की चीज मानते है जबकि उनकी उर्दू में हिन्दी के लिये कोई—

१ "खडित भारत", पृ ७८।

भी स्थान नही और हमारी हिन्दी म उर्दू का रूप भी सम्मलित हैं। उर्दू साहित्य म हिन्दू समाज भी चित्रित है और हिन्दी साहित्य म मुसलमान समाज भी। उर्दू की सेवा हिन्दुओ ने भी की है और हिन्दी की, मुसलमानों ने भी। साम्प्रदायिक द्वेष से भर आधुनिक युग के वातावरण मे भी ऐसा हुआ है। हमारे वैष्णव महाकवि गुप्त ने भी "काबा कर्बला" की रचना की है।

समाज सुधार परिवर्तन—

अस्तु हम आलोच्य काल के अपने समाज म हम जो सबसे बडी चीज देखते हैं वह है अपन समाज को ग्रस्त करने के लिय तत्पर विदेशी प्रभाव, और अपने समाज को नष्ट होने से—व्यक्तित्व विहीन होने से बचाने के लिये हमारे अपने सास्कृतिक प्रयत्न जिनका एक अग था समाज-सुधार और अपनी प्राचीन मान्यताओ का महत्व मूल्याकन एव यथासम्भव उनकी पुनर्प्रतिष्ठा। हमारे आधुनिक युग के साहित्य में ये प्रवृत्तिया स्पष्ट हैं। भारतेन्दु का युग इस समाज-सुधार के प्रयत्नो का युग अपनी दुर्गति का अनुभव करने वाला युग था। भारत दुर्दशा" आदि ग्रन्थो की रचना इसी पृष्ठभूमि म हुई थी। आगे चल कर द्विवेदी युग मे मथिलीशरण गुप्त ने भी घोषित किया हम कौन थे क्या हो गए हैं और क्या होग अभी—आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याए सभी।[1] ये दोनो प्रवृत्तिया आज तक हमारे समाज म चली आ रही हैं अर्थात् हमारे ऊपर विदेशी प्रभाव भी पड रहा है और हम अपने सास्कृतिक पुनरुत्थान के लिये प्रयत्नशील भी हैं। इसीलिय हमारे यहा 'अज्ञेय' भी हैं और रामकुमार वर्मा भी। महादेवी वर्मा ने लिखा है, "अग्रेजो की पराधीनता के विरोध म जागृत राष्ट्रीय चेतना तथा सामाजिक रूढिग्रस्तता के विद्रोह म उत्पन्न सुधार-आन्दोलनो ने हिंदी और मराठी दोनो के गद्य को प्रगतिशील विकास दिया है"[2] हुआ यह है कि ईसाइयो ने जब हमारी सामाजिक दुर्बलताओं पर वाक्प्रहार प्रारम्भ किया तब उनके मुकाबले के लिये शक्ति-सचय करने की दृष्टि से हमारा ध्यान सामाजिक सुधारो की ओर गया जिसने हमारे मूल उद्देश्य अर्थात् अपने समाज को गौरव के प्राचीन शिखर तक पहुचाने के प्रयत्नो म सहायता दी। स्वामी दयानन्द के 'सत्यार्थप्रकाश" का पूर्वार्द्ध हम अपने धर्म, अपनी शिक्षा व्यवस्था, अपने जीवन, अपनी आश्रम-व्यवस्था और विभिन्न आश्रमो के हमारे अपने कर्तव्य, अपनी राज्य व्यवस्था आदि का बोध कराता है। हमारा अहित करने वाले विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की अनर्गल बातो का विरोध एव उनका खडन तो सत्यार्थप्रकाश' के

१ 'भारत भारती'।

२ शृंखला पृ ६३।

उत्तरार्द्ध मे हुआ है। यह हमारी सामाजिक एव सास्कृतिक गति का प्रतीक है। हमने विरोध के लिये विरोध नही किया, हमने उनका विरोध इसलिय किया कि वे हमारे सत्य-श्रय की प्राप्ति म बाधक थे। इसीलिये हमने अपन समज की कुरीतियों एव दोषो से भी यत्रुता ठानी। कांग्रेस के भीतर के नेताओं मे राजनीतिक सघष चला तो जनता मे सामाजिक सघप। स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय जो सामाजिक जागृति दे गये थे वह जनता के भीतर पहुचने लगी थी। जनता इन महा-पुरुषो के सामाजिक विचारो को समझने मे लगी हुई थी। जो वग शिक्षित हो चला था वह इन्हे अपेक्षाकृत अधिक समझने लगा और इसीलिये यह युग मध्यवग की सामाजिक क्रान्ति का उठना हुआ काल हो गया। १९१७ ई० के महायुद्ध तक ये सामाजिक आन्दोलन प्रत्यक्ष बडे ही जोरो पर थे। इस समाज सुधार के मुख्य अ ग थ दहेज, विदश गमन छूतछात, आदि। पाठशालाओ धमशालाओ, अखाडों अन्नसत्रो, देवालयो, आदि का निर्माण भी सामाजिक दृष्टि से होने लगा। न जाने कितने धार्मिक विवाद हुए, न जाने कितनी सामाजिक सस्थाएं बनी। आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज के बौद्धिक दृष्टिकोणो ने पुराने समाज को हिला दिया। आर्यसमाज की हु कार ने सारे हिन्दू समाज को चौंका दिया। पुराने और पौराणिक लोग भी सोचने और समझने लगे कि कही कुछ न कुछ खराबी जरूर है। धार्मिक कट्टरताएं उपहासास्पद लगने लगी। बुद्धिवादी दृष्टिकोण और धार्मिक सहिष्णुता की प्रवृत्ति बनी। जो बातें पहले अनगल लगती थी उनकी बुद्धिवादी व्याख्याएं प्रस्तुत की गई। द्विवेदी युग के अन्त तक समाज सुधार की यह प्रवृत्ति गहराई तक पहुच गई थी। प्रेमचन्द म आर्यसमाजी प्रवृत्ति थी, मथिलीशरण गुप्त और 'हरिऔध' म सुधारो मुखी परम्पराप्रियता। क्रांति का युग अभी नही आया था। वह १९३५ के बाद आने वाला था। इस युग मे समाज की एक एक दोषमयी प्रवृत्ति क सुधार का इस प्रकार प्रयत्न किया गया जसे कोई बिगडे बच्चे को सभालने की चेष्टा कर रहा हो, और आज यह बात अब कहने की नही रह गई है कि परिष्कार और सुधार की हलचलो स तरगित होने वाले उत्थानोमुखी सामाजिक वातावरण की पृष्ठभूमि म ही आचार्य द्विवेदी ने अपन युग म साहित्यको की रचनाओ की अशुद्धिया ऐसे ठीक की थी मानो वे हाईस्कूल के कमजोर विद्यार्थी की कापी की गल्तिया ठीक कर रहे हों। इसी कार्य ने समय से पहले उनकी आखो की ज्योति को क्षीण कर दिया था। उस समय की पत्रिकाओं के लेखो और सम्पादकीय टिप्पणियो को देखने स यह बात पूणरूपेण स्पष्ट हो जाती है। उत्थान नवीनता के प्रति उन्मुख रहने और नवीन परिस्थिति के अनुकूल अपने को बदलने सुधारने से भी। होता है और अपनी प्राचीन महानता को याद करने से भी। इसीलिये इस युग का कवि इतिहास, पुराण, और वतमान समाज से ऐसे विषयो को लेकर प्रबधो, लेखो और मुक्तको में

रचनाएं करता था जिनसे समाज पुनरुज्जीवित हो, इस काम के लिये साहित्यकार को स्वभावतः ही उपदेशक वृत्ति ग्रहण करना पड़ी। इसी से इस युग के काव्य में नव्य काव्य का 'कान्त' भाव नहीं प्रकट हुआ। इसके विपरीत काव्य में रूखापन उपदेश, सुधार, शिक्षा, आदि ही अधिक रही, काव्य तत्व कम। इन दिनों आर्यसमाज रूपी सूर्य का मध्याह्न काल था और वह भारत के अतीत गौरव का खाका खींच कर लोगों के सम्मुख ला रहा था। ध्यान रहे कि हिन्दू समाज में परिवर्तन मध्य वर्ग में ही हो पाया। निम्नतम और उच्चतम वर्ग इससे बहुत कम प्रभावित हुआ। बड़े लोग अंगरेजियत के गुलाम होने के नाते इसकी हंसी उड़ाते थे (जैसा कि आजभी उड़ाते हैं) और समाज सुधार जब तक जीवन का अनिवार्य अंग न हो जाय और विश्लेषण का रूप छोड़ न दे तब तक छोटे लोगों की समझ के बाहर की बात रहता है। निम्नवर्ग और उच्च निम्नवर्ग अपनी क्रियाशीलताएं और रूढ़ियां परम्पराओं से ही मर्यादित रखता है ताकि उसकी अपनी संस्कृति से उसका संबंध विच्छेद न हो जाय, उसके राम और 'कृष्ण' खो न जाय। अस्तु हमारा आधुनिक साहित्य भी साहित्य की प्राचीन और नवीन परम्पराओं का अद्भुत सम्मिश्रण हो गया है। उच्च निम्नवर्ग तो कवित्त सवयों और रीतिकालीन प्रवृत्तियों एवं काव्य के आचार्यों को ही क्रमशः 'कवित्त' और उसका विषय मानता है। रत्नाकर, रसाल' रामप्रसाद त्रिपाठी, 'द्विजश्याम' आदि की तो बात ही छोड़िए, प्रसाद और गुप्त भी उसको बिल्कुल छोड़ नहीं पाये। राहुल पन्त, निराला' भगवतीचरण वर्मा, 'बच्चन' दिनकर, यशपाल 'अंचल', आदि ने परिवर्तन पूर्णतः स्वीकार कर लिया।

क्रांति—

इसके पश्चात युग बदल गया। गांधी ने सुधारों को जीवन में क्रियात्मक एवं व्यापक रूप से ढाल दिया और मार्क्स ने नवीन क्रांति का बिगुल बजा दिया। समाज सुधारों पर अब अधिक जोर नहीं दिया जा सकता था क्योंकि एक ओर तो कांग्रेस एवं गांधी के कार्यक्रमों में समाविष्ट हो गए थे और दूसरी ओर गांधी के सत्याग्रह आंदोलनों की आंधियों ने उन्हें बवंडर के पीछे छिपा भी दिया था। इस युग में समाज के मन पर जो नये प्रभाव पड़ने प्रारम्भ हो गये थे द्विवेदीयुगीन भाषा शैली उनकी अभिव्यक्ति करने में असमर्थ रही। एक-एक व्यापक सामाजिक क्रांति का-सुधारों का नहीं-युग आ गया था। सामान्य स्थिति, परिस्थिति, और वातावरण के लोग भी सामाजिक क्रांति करने का साहस दिखाने लगे। जो बातें पहले अकल्पित थी तथा समाज में जमीन-आसमान एक कर देने वाली प्रतिक्रिया उत्पन्न करने की क्षमता रखती थीं इस युग में उन्हें मामूली आदमी भी बे-हिचक और बे-डर होकर

सकता था। लागो मे यह प्रेरणा और साहस आश्चर्यजनक रूप से भर गया था। बच्चन' कहते हैं, 'एक साधारण पर कट्टर सनातन धर्मी घर म पल कर यह बगावत मुझ में कहा से आई यह आज भी मेरे रिश्तेदारों मे अचरज की बात समझी जाती है। गुरु अवाणी मैं आयसमाजी बन कर मैंने कुल मे पूजे जाने वाले-देवी-देवता माता-भवानी से छुट्टी ली। एक जाति से निकले हुए सज्जन के घर कच्चा खाना खा कर स्वय पगत मे बठ कर खाने का अधिकार खोया और अन्त मे जात-पात-धम ने बाहर विवाह करके शायद सदा के लिये मैंने अपने परम्परागत समाज से अपना सम्बन्ध तोड लिया।'[१] मुझे इसमे कोई अचरज की बात नही दिखाई देती। मुझे तो ऐसा लगता है कि यही भगवान का आदेश था। स्वामी रामकृष्ण, विवेकानन्द दयानन्द, गाधी तिलक, नहरू के रूप मे जो सनातन शक्ति, जो ऐश्वयवान(भग-वान) भारत म अवतीर्ण हुआ वह उसी का सकेत था। समस्त जाति की जाति ही इस युग म ऐसी रही। दयानन्द और आर्यसमाज न पहले सुधारवादी मनोवृत्ति पदा की और बौद्धिक चितन न लोगो के अन्दर क्राति का मन्त्र फूक दिया। सस्कृति की भागीरथी के वेग को रोक ही कौन सकता है? क्राति के इसी आलोक ने जीवन के प्रत्येक पल का, विषय को, एक नये रूप मे उपस्थित किया। जो पहले सामान्य था वह अब साहित्य का विषय बन गया। और, क्या विचित्र साम्य है कि जसा आश्चर्य पुराने लोगो को नय सामाजिक क्रातिकारियो की प्रवृत्ति पर होता था उससे किसी भी भाति कम आश्चर्य पुरान कवियो को पत-प्रसाद-निराला-महादेवी वर्मा-रामकुमार वर्मा जसे कवियों पर नही होता था। दोनो को असाधारण विरोध-बहिष्कार का सामना करना पडा और दोनो ही अ त म शीर्षस्थ हुए। एक को प्रेरणा पुनरुत्थान की भावना न दी दूसरे को क्रातिमय जीवन के स्वरूप ■ और दोनों को प्रेरणा दी व्यापक सास्कृतिक पुनरुत्थान की-प्रवृत्ति ने। द्विवेदीयुगीन कविता दनिक जीवन मे अपने आने वाले विषयो को लेकर लिखी गई थी जिनमे अति परिचय के कारण आत्मपरता का अभाव होता है। अब कविता एक आर तो अतिशय भावुकता,कल्पना की रगीनियों आदि की ओर बढगईऔर दूसरी ओर पूजीवादी समाज म गरीब और एकाकी,क अ तर के हाहाकारो की ओर छायावादी रचनाए हुई। गरीब किसान और मजदूर की स्थिति का भी साहित्य पर प्रभाव पडा और पीडावादी या हालावादी कविताए भी लिखी गई। युग क्राति का आगया और 'नवीन' गान लगा- कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए, पन्त कोकिल से पावक कण बरसाने को प्राथना करने लगा। निम्नवग एव शोषित वर्ग के व्यक्तियो

१- 'नये पुराने झरोखे', पृ० १६६।

के प्रति सहानुभूति पैदा हुई और निराला का 'कुकुरमुत्ता' की रचना हुई जो प्रतीक काव्य था और 'बच्चन' के शब्दों में प्रगतिवाद की प्रथम पक्ति उपन्यास और अबतक हिन्दी का सबसे प्रखर व्यंग्य काव्य है'।[१]

मार्क्स—

विदेशी प्रभावों में सबसे बड़ा प्रभाव मार्क्स की चल-धमना का था। मजदूरवर्ग सक्रिय हो उठा। उसके प्रति हम उसी प्रकार सहानुभूतिशील हो उठे जैसे कभी भगवान के प्रति निष्ठावान थे। इस वर्ग ने मानव की बलासम्बन्धी पुरानी दृष्टि बदल दी। साहित्य में व्यापक मानव की प्रतिष्ठा हो गई। सूक्ष्मता की प्रवृत्ति घट गई। साहित्यकार विराट जन-जीवन का आराधक हो गया। दृष्टि अधिक उदार एवं संवेदनशील हुई। नाम-लता पर मर मिटने का युग गया। मजदूर के बहते हुए पसीने की बूँदों में भी सौन्दर्य दिखाई पड़ा। विरह के तापाधिक्य का चित्रण कम हुआ, दूध के लिये तरसने वाले बच्चे और मां-बहनों की उघरती हुई लज्जा आदि साहित्य का विषय बना। कवि यथार्थवादी भी हो गया। साहित्य में प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का युग आया। कथा-साहित्य की प्रधानता हुई। मन के क्षयीरोमांस की जगह स्वस्थ प्रेम की कामना बढ़ी। सीता भी शरीर-श्रम और गृह-धाम-रत दिखाई जाने लगी। साहित्य से 'अहो' का एकाधिपत्य समाप्त हो गया। काव्य को नये प्रतीक एवं नये उपमान मिले। साहित्य की पुरानी कसौटी खाम हो गई। कवि-सम्मेलनों का भी शुद्ध साहित्यिक रूप समाप्त हो गया। प्रायः जनता ताली पीट कर अपना हर्ष प्रकट करती है। कवि-सम्मेलनों में अब गंभीर साहित्यिक रचनाओं को सुनाने की कोई भी संभावनाएँ नहीं रह गई। हल्की-फुल्की और मनोरंजन कर सकने वाली रचनाओं की प्रतीक्षा की जाती हैं उन्हें बार बार सुना जाता है, और हास्य रस के बिना तो कवि-सम्मेलन की कल्पना की ही नहीं जा सकती। रामकुमार वर्मा ने लिखा है, 'कवि-सम्मेलन आज मनोरंजन और विनोद के ऐसे साधन हो गए हैं कि साधारण जनता के मन में भी उनके लिए श्रद्धा का भाव नहीं रह गया है ... इन कवि-सम्मेलनों में ऐसे ही व्यक्तियों का जमाव होता है जो कविता के नाम से परिहास विनोद और अश्लीलता की सीमा तक पहुंची बातें कह सकते हैं।"[२]

ग्रामोत्थान—

आज हमारा देश मुख्यतः दो वर्गों में बँटा है—देहाती और नगर-निवासी

१— 'नये पुराने झरोखे' पृ० ५२

२— विचार-दर्शन', पृ० १६८।

नौकरशाही शिक्षा एवं पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने इन दोनों वर्गों में पर्याप्त भेद पैदा कर दिया है। दोनों की विचारधारा, रहन-सहन, वेश-भूषा, बोलचाल, रंग-ढंग, रीति-रिवाज, खान-पान आदि में आश्चर्यजनक विभिन्नताएँ हैं। एक पर विदेशी रंग जरा ज्यादा गहरा हो गया है और दूसरे पर स्वदेशी एवं सांस्कृतिक रंग कुछ अधिक पक्का। प्रेमचन्द के 'गोदान' में इन दोनों वर्गों के इस अंतर को खूब स्पष्ट कर दिया गया है—इतना कि यह चित्रण प्रतीक बन गया है। एक ओर भौतिक सम्पन्नता है और नैतिक मूल्यों के प्रति अनास्था और, दूसरी ओर आर्थिक विपन्नता है किन्तु मानव और नैतिकता के प्रति अधिकाधिक चिपके रहने की प्रवृत्ति अपने सांस्कृतिक उत्थान के कार्यक्रमों में हमारे एक प्रमुख कार्य रहा है। इन गांवों का उत्थान और इस दृष्टि से किया गया इनका अध्ययन। साहित्य में भी यह प्रवृत्ति परिलक्षित है। अपनी प्राचीन संस्कृति के उत्थान एवं गावों के प्रति सहानुभूति की भावनाओं के कारण हमने लोकगीत और लोककथाओं का संग्रह और अध्ययन भी प्रारम्भ कर दिया है। प्रगतिशील आंदोलन ने भी इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया है। यह अध्ययन हमें अपने देश की व्यापक संस्कृति का समझने में सहायक होता है। इसने आधुनिक हिन्दी को कई विचार, कई भाव और कई लय दिये हैं। इस क्षेत्र में बड़ा स्तुत्य कार्य रामनरेश त्रिपाठी ने किया है। बाद में देवेन्द्र सत्यार्थी ने तो अपना सारा जीवन ही इसी काम में लगा दिया। अब तो इस पर खोजें भी प्रारम्भ हो गई हैं। विभिन्न अवसरों, पर्वों, त्यौहारों, ऋतुओं तथा रीति-रिवाजों के सबंध में हजारों-लाखों पद एवं कहानियां हमारे देश के देहातों में भरी पड़ी हैं।

इस प्रकार हमारे समाज की सांस्कृतिक वृत्तियों ने साहित्य को असाधारणरूप से प्रभावित किया है। भेद ज्यों-ज्यों मिटता जायगा दृष्टिकोण ज्यों-ज्यों प्रशस्त होता जायगा, स्वरूप ज्यों-ज्यों मजुलतर होता जायगा साहित्य त्यों-त्यों महत्तर होता जायगा।

लौकिक दृष्टिकोण और भारतीय परम्परा—

उपर्युक्त विवेचन पर यदि हम व्यापक रूप से विचार करें तो हमको प्रतीत होगा कि इस युग में हमारे समाज का सागर-मथन प्रारंभ हो गया था। हमारे समाज की कुछ अपनी वृत्तियां थीं जिनका सम्पर्क कुछ विदेशी-समाज की वृत्तियों से हुआ जिसके परिणामस्वरूप एक नवीन परिस्थिति पैदा हो गई जिसके दोषों का निराकरण हमारे लिये इस कारण अनिवार्य था कि हमारे अन्दर सांस्कृतिक पुनरुत्थान और उसके द्वारा अपने और अपने समाज की उन्नति की बलवती इच्छा पैदा हो गई थी।

स्वार्थपरक दृष्टिकोण से प्रेरित आर्थिक क्रांति एवं शिक्षा-व्यवस्था ने न केवल हमें इसी योग्य नहीं रखा कि हम अपने को ठीक से समझ ही न सकें बल्कि हमारी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को गलत ढंग से उपस्थित भी किया। पंढरी नाथ प्रभु ने लिखा है 'सामान्यतः यह धारणा बना ली गई है, और प्रायः जोर देकर यह बात कही जाती है कि प्राचीन काल के हिंदुओं ने सांसारिक वृत्तियों की शाश्वत प्रकृति संबंधी अमूर्त आध्यात्मिक समस्याओं के चिंतन-मनन में अपने को इतना खो दिया था कि सामाजिक संगठन जैसी अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक और सामाजिक समस्याओं के संबंध में उन्होंने कोई भी गंभीर चिंतन करने का कष्ट नहीं उठाया। फिर भी आधुनिक युगों में विगत युगों की हिंदू विधाओं के संबंध में होने वाली विद्वत्तापूर्ण योरोपीय, अमरीकी और भारतीय खोजों और अध्ययनों के प्रकाश में अब यह प्रायः स्वीकार किया जाने लगा है कि हिंदुओं ने विशुद्ध आध्यात्मिक-चिंतन के साथ-साथ गणित ज्योतिष, खगोल इंजीनियरिंग रसायन औषधि व्याकरण, राजनीति, तर्क काव्यशास्त्र और छन्द विधान, आदि के क्षेत्रों में भी पर्याप्त रूप से सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक चिंतन किया है।' [1] महर्षि वात्स्यायन ने कामशास्त्र संबंधी जो व्यापक एवं पूर्ण चिंतन-विवेचन प्रस्तुत किया है वह प्रचारित धारणा की भ्रामकता पूर्णतः स्पष्ट कर देती है। हमारे समाज का स्वरूप सामाजिकता-प्रधान था। हमारा समाज समूहभावना पर आधारित था। यहां व्यक्ति के कर्मों पर सामाजिक एवं सांस्कृतिक बंधन था। उसकी स्वतंत्रता मर्यादित थी और उसकी स्वच्छंदता बाधित। यहां सोचने की पूर्ण स्वतंत्रता थी किंतु करने पर अनिवार्य सामाजिक बंधन क्योंकि हमारे समाज के निर्माता यह जानते थे कि कर्मों के घोड़े को यदि उसकी मनमौजी स्वच्छंदता दे दी जायगी तो वह जीवन और समाज के रथ को विघटन के गर्त में ले जा पटकेगा। फिर भी यहां के नियमों में लचीलापन था। हिंदुओं ने वर्तमान जीवन को एक सुव्यवस्थित शृंखला की एक कड़ी, माला, का एक मनका मानकर इसे एक उदात्त स्वरूप प्रदान किया है और एक उच्चतर उद्देश्य से अनुप्राणित करके अर्थगर्भित कर लिया है। इसीलिये सांस्कृतिक दृष्टि से हमारा जीवन भोग मात्र नहीं रह गया। यह बात दूसरी संस्कृति वालों की समझ में आसानी से नहीं आ पाती और इसीलिये उनके जीवन की प्रकृति हमारे जीवन की प्रकृति से भिन्न है। अमरिका और भारत ही नहीं हिंदू और मुसलमान के जीवन में भी यह अन्तर थोड़ा-बहुत दिखाई पड जाता है। जीवन को एक अलौकिक महत्व देने के लिये ही हिंदुओं ने आत्मा को अमरत्व का और शरीर

१—हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृ० १६।

को परिवर्तनशील साधन का स्वरूप दे दिया है। इसीलिये यह अनंत कर्म–चक्र निरुद्देश्य मात्र नहीं रहने पाया। कर्मनेत्र के द्वारा पड़ने वाले स्थायी प्रभावों और संस्कारों का भी इसीलिये असाधारण महत्व होगया है। कर्म को धर्म–प्रेरित और संस्कृति से मर्यादित करके उसकी उच्छृंखलता का इंक काटकर उसे शाश्वत मुक्ति का साधन बना दिया गया है। हमारी सामाजिकता का कार्यक्रम इसी महद् उद्देश्य से प्रेरित होता है। यह बात प्राचीन काल में थी और यही बात आज भी भारत के व्यापक जनसमूह में अज्ञात भाव से विद्यमान है। आधुनिक युग की क्रांतियों के भयानक उत्थान–पतन आज के पढ़े–लिखे, बुद्धिवादी शंकालु और द्विविधाग्रस्त वर्ग के भी सामाजिक जीवन से इसे पूर्णतः बहिष्कृत नहीं कर पाये। ऐसा लगता है कि जैसे इसी का नाम भारतीयता है और वह इस देश की मिट्टी और जलवायु के अणु–अणु में व्याप्त है। यही कारण है कि आधुनिक राजनीतिक और आर्थिक क्रांतियों ने भी भारत के समाज के ऊपरी धरातल को ही गोड़ा–जोता है–मिट्टी की प्रकृति वे पूर्णतः नहीं बदल सकीं। अधिकांशतः सामाजिक धारणाएँ और उनका उद्देश्य वैसा का वैसा ही है। इस तत्व को ध्यान में रख कर जब हम आधुनिक हिन्दी साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तब हमें यह दिखाई पड़ता है कि नाटक, निबन्ध कहानी, उपन्यास, आदि सभी प्यालों के अन्दर जो दूध भरा हुआ है उसके कण–कण में व्यापक रूप से इसी नवनीत के कण निहित हैं। प्यालों की शक्ल–स्वरूप–बदल जाने से कोई फरक नहीं पड़ा है, रंग–विशेष मिला देने से तात्विक रूप से कोई अन्तर नहीं उपस्थित होने पाया है दो–चार कंकड़ सांस्कृतिक अमृत को विष में नहीं परिवर्तित कर सकते। इस दृष्टि को पूरी तरह समझ लेने पर ही हम समाज–सुधारों की प्रकृति और उसके परिणाम का वास्तविक मूल्यांकन कर सकते हैं।

सांस्कृतिक विघटन—

हुआ यह कि पाश्चात्य राजनीति, अर्थनीति और शिक्षानीति ने हमारे सांस्कृतिक सन्तुलन को बिगाड़ दिया। विश्व की मानवीय प्रगति ने जीवन को मध्य युग से आधुनिक युग में ला दिया था। भारत में यह परिवर्तन यदि स्वाभाविक ढंग से होता तो अपनी सांस्कृतिक विशिष्टताओं को अक्षत एवं अक्षुण्ण रखते हुए भी हम मध्ययुगीन से नवीन हो जाते। हमारा विकास होता। अनुपयोगी एवं पिछड़ी प्रवृत्तियां वैसे ही स्वाभाविक ढंग से झड़ जातीं जैसे बसन्त की भूमिका में शुष्क पत्तियां, और हमारा कुछ बिगड़ता न। परन्तु ऐसा हुआ नहीं। आधुनिकता हम पर लादी गई, वह हमारा स्वाभाविक विकास नहीं बन सकी। आधुनिकता का वही स्वरूप हम तक आने दिया गया जो

हमारे अँगरेज प्रभुओं की दृष्टि में उनके लिये आवश्यक था। हम आधे तीतर आधे बटेर हो गए। हमारे पंडित जी जब एक ओर अँगरेजी भाषा में साम्यवाद का बौद्धिक समर्थन करते हुए उससे भारत का उद्धार करवाते हैं और दूसरी ओर प्राधान्य-पद पाने के लिये हनुमान जी को बीस आने का लड्डू चढ़ाते हैं तब मुझे यही याद हो आता है। आधुनिक युग में हमारे समाज के दोषयुक्त हो जाने का मूल कारण यह था। इसका परिणाम यह हुआ कि न हम अपने रह गये और न विराने हो पाये। कुछ लोगों ने अँगरेज बनने और हमें अँगरेज बनाने की बड़ी कोशिश की किन्तु यह संभव नहीं था। अब भी कुछ लोग ऐसा कर रहे हैं। संभवतः वे यह नहीं समझना चाहते कि पाश्चात्य संस्कृति और विचारधारा के संबंध में उनकी जानकारी केवल बौद्धिक स्तर पर ही है। पाश्चात्य समाज के जिन विशिष्ट वर्ग वालों की संस्कृति के सम्पर्क में वे आ सके हैं उन्हीं के आधार पर उनकी धारणा बनी है। उनकी धारणा न तो सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के सूक्ष्म और गहन अध्ययन से परिपुष्ट हो पाई है और न उसका कोई गंभीर मनोवैज्ञानिक आधार है। उनकी धारणा उनकी छिछली और सतही दृष्टि का परिणाम है। इस प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि हमारा सामाजिक जीवन कुछ अस्वस्थ हो गया। उसमें विषमताएँ, ग्रंथियाँ और उलझनें पैदा हो गईं। हमारा सनातनी समाज नव युग उत्पन्न नये दृष्टिकोण नई आवश्यकताओं नई समस्याओं तथा कुछ प्राचीन बातों की असामयिकता के पक्ष को नहीं समझ पाया। ये लोग मानते कुछ हैं और करते कुछ हैं। डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' और उनके जैसे अनेक लोगों के जीवन की इस विषमता की यही व्याख्या हो सकती है। उसी विशेष सामयिक परिस्थिति के कारण एक वर्ग असमर्थताओं और बन्धनों में जकड़ गया और दूसरी ओर भोग-विलास अनाचार अत्याचार और भ्रष्टाचार बढ़ गया। रजनी पामदत्त ने लिखा है 'भारत में एक ओर शोषक हैं, दूसरी ओर शोषित। एक ओर सम्पन्नता है, दूसरी ओर भयानक विपन्नता इन्हीं के अस्तित्व से हमारी समस्या का स्वरूप बनता है। दोनों कार्य-कारण की तरह एक दूसरे से संबद्ध हैं।"[1] इस प्रकार हमारी (यह) मूल समस्या भी सामाजिक है। दिनकर ने अपनी एक कविता में लिखा है कि आज महल के लिये झोपड़ी का बलिदान होता है तथा विद्युत-प्रकाश दीपक की लौ को आठ-आठ आँसू रुला रहा है। राजेन्द्रप्रसाद ने लिखा है 'जो प्रतिदिन लाखों का कागजी नोट बनाता है वह शायद एक रुपया रोजाना पाता होगा। कैसी विचित्र लीला है? कैसा आज का संसार है।'[2]

१- इण्डिया टुडे पृ० ७।
२-'आत्म-कथा' पृ० ६८३।

सुधार के प्रयत्न—

इन अशोभनीय परिस्थितियों के निराकरण के लिये भारत में सामाजिक सुधारों की आवश्यकता पड़ी जिसे व्यापक सांस्कृतिक पुनरुत्थान रूपी भागीरथी की एक सहायक नदी माना जा सकता है। समस्त सामाजिक सुधार आंदोलनों की प्रकृति का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करने के पश्चात् भी मैं यह बात नहीं समझ पाया कि अंगरेजों की दी हुई आधुनिक चेतना और बौद्धिक दृष्टिकोण ने हिन्दी प्रदेश के अन्दर किस प्रकार हमारे अपने सुधार की इच्छा जगा दी। हिन्दी प्रदेश का सर्व प्रथम सुधार आंदोलन आर्य समाज ने चलाया और यह सभी जानते हैं कि उसका लक्ष्य था वैदिक जीवन की पुनरवधारणा। भारतवर्ष के प्राचीन ऋषियों के आदर्शों के अनुसार ही आर्यसमाज ने अपना सामाजिक आदर्श बनाया था जो हमारे आलोच्यकाल में व्यापक रूप से क्रियान्वित होने लगा। परमपिता परमेश्वर के संबंध के नाते समस्त मानव – जगत को अपना भाई मानना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' समस्त मानव समाज से मैत्री नारी और पुरुष के अधिकारों की समानता, न्यायोचित और ईमानदारी का व्यवहार आगे बढ़ने के लिये सबको समान अवसर की प्राप्ति कराना प्रेम उदारता जाति पांति छुआ छूत, रूढ़ि अंधविश्वास, अनमेल विवाह, आदि आर्यसमाज के सामाजिक कार्यक्रम थे। रेवरेंड सी एफ ऐन्ड्रूज ने लिखा है कि समस्त सुधारवादी स्वदेशी आंदोलनों में आज आर्यसमाज सब से अधिक सशक्त है।[1] उसका ही कार्यक्रम है और उसके ही प्रयत्न हैं कि आज समस्त हिन्दी प्रदेश परिवर्तित सा हो गया है। द्विवेदी युग के हिन्दी साहित्य पर आर्यसमाज की इस प्रवृत्ति का विशेष प्रभाव पड़ा है। नाथूराम शर्मा शंकर आदि अनेक कवि तथा 'आर्यमित्र' आदि अनेक साप्ताहिकों आदि ने हिन्दी का भंडार पर्याप्त रूप से भरा है। तिलक इन सामाजिक सुधारों के विरुद्ध थे। भारतीय संस्कृति और प्रत्येक भारतीय परम्परा में उनका विश्वास तर्क और युक्ति की सीमा का पार कर गया था। गांधी जी ने इन सुधारों को राजनीति से जोड़ दिया। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने लिखा है 'गांधी जी ने इनमें धर्म के माध्यम को ऐसे कौशल से संयुक्त किया कि धर्म, समाज और राजनीति का एकीकरण हो गया। यह विश्व के मानव-जीवन के लिये इस युग में नयी ही नूतनतम वस्तु थी। उसका सबसे भारी प्रभाव किसानों, अछूतों, मजदूरों और स्त्रियों पर पड़ा। इन चारों ने ही भारतीय जीवन में समान अधिकार प्राप्त किया।[2] इन सामाजिक सुधारों के परिणामस्वरूप सामाजिक भेद में कमी और द्विजों के विशेषाधिकार समाप्त हो गये, समाज में व्यक्तिगत स्वाधीनता की प्रवृत्ति बढ़ी

१ 'दि इंडियन रेनेसां' पृ १०२।
२ 'हिन्दी साहित्य का परिचय', पृ १ ५१५६।

और मानवीय समानता का सिद्धात पूर्णरूप से स्वीकृत हो गया। जी एस गुरि का कथन है कि धीरे धीरे किन्तु निश्चित रूप से जीवन के अनेक पक्षो म एक क बा एक करके मानवतावाद का महत्व स्वीकार किया गया है। [1] इसके प्रभाव क चित्रित करते हुए नद दुलारे वाजपेयी ने लिखा है, 'साकेत' मे प्रथम बार मानव क उत्कर्ष अपनी चरम सीमा पर-ईश्वर के समक्ष ला कर रखा गया है जो मध्ययुग किसी प्रकार सभव न था। 'साकेत' इसी कारण हिन्दी की प्रथम मानवतावादी रचना कही जा सकती है। राम और सीता के स्थान पर भरत और उर्मिल के जीवन सूत्रो से कथा – तन्तु का निर्माण साहित्यिक इतिहास म, एक प्रवतन और विचारो की दुनिया म एक अभिनव क्रांति। [2] कहना न होगा कि आधुनि हिन्दी साहित्य की इस "क्रांति' और इस 'प्रवतन" का एक प्रधान कारण आधुनि भारतीय समाज की सास्कृतिकता - प्रधान सुधारोन्मुखी प्रवृत्तिया हैं।

---

१ 'कल्चर एँड सासायटी', पृ ४६।
२ 'आधुनिक साहित्य', पृ ४३ ४४।

कलात्मक पृष्ठभूमि

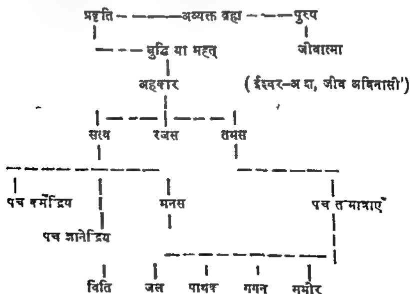
अभिव्यक्ति की इच्छा

साहित्यकार की प्रबलतम इच्छा यह होती है कि किसी व्यक्ति वस्तु दृश्य या भाव के परिप्रेक्ष्य में उसके अन्तर में जो अनुभूति हुई या उसके अन्तर की जो असाधारण अवस्था हुई वह उसे दूसरों को ज्ञात कर सके और उनको भी उस अनुभूति या अवस्था का व्यक्त भी कर दे और वह अपनी अभिव्यक्ति को अपने अन्तर की अनुभूति के अधिकाधिक अनुरूप भी कर सके। अभिव्यक्ति को अनुभूति-तादात्म्य इतनी सहज और इसलिये इतनी सुन्दर होनी चाहिये कि जैसी उसके समय में कलाकार जैसी ही अनुभूति उत्पन्न हो जाय। अनुभूति की तीव्रता के क्षणों में कलाकार का जो व्यक्तित्व रहता है वह उस तीव्रता के निकल जाने के उपरान्त छायामात्र रह जाता है। ये एक ही व्यक्ति के दो रूप हैं। दूसरा रूप जब पहले वाले रूप की अनुभूति की अभिव्यक्ति का स्वरूप देखता है तो उसे कभी-कभी आश्चर्य होने लगता है अरे वाह! क्या सचमुच इसे मैंने ही बनाया है! कारण यह है कि दोनों का दो स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं यदि शेक्सपियर मर्चेण्ट आफ वेनिस वाली पोर्शिया पर आसक्त हो जाय, यदि कालिदास 'शकुन्तला' पर न्यौछावर हो जाय यदि प्रसाद देवसेना के प्रेमी बन जाय, यदि ब्रह्मा की अपनी ही पुत्री सरस्वती उनकी पत्नी के रूप में प्रतिष्ठित हो। तात्पर्य यह है कि कलाकार भी अपनी कृति के सम्पर्क में आता है और उसकी सम्प्रेषणीयता से अभिभूत होता है। एक प्रश्न यह उठता है कि कलाकार अभिव्यक्ति क्यों करना चाहता है और उसे दूसरों तक क्यों पहुँचाना चाहता है। बात यह है कि अभिव्यक्ति की इच्छा आत्मा की ही नहीं, परमात्मा की भी प्रकृति है, स्वभाव है यदि ऐसी बात न होती तो परम ब्रह्म या केवल ब्रह्म में सारी सृष्टि उसी प्रकार बीज रूप में पड़ी रहती जैसी सृष्टि के पूर्व पड़ी रहती है। यह समस्त बाह्य दृश्य जगत उसी अव्यक्त की अभिव्यक्ति ही तो है। जो प्रकृति है, जो स्वभाव है, उसका कोई कारण नहीं दिया जा सकता। यही कारण है कि इस अभिव्यक्ति को उस पुरुष की प्रकृति मात्र कहकर मायामय की लीला मात्र कह कर यह बता दिया गया कि लीला का प्रयोजन केवल लीला ही है इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। उस अद्भुत कलाकार के अन्तर की अभिव्यक्ति की इच्छा के सम्बन्ध में जो कुछ सही है वह मानव-कलाकारों की भी अभिव्यक्ति की इच्छा के विषय में सही है। अभि-

व्यक्ति के लिये य भी विकल हो उठते हैं। इसके बिना ये भी नहीं रह पाते। यह उनकी प्रकृति है। अब प्रश्न उठता है सम्प्रेषणीयता का। यह भी कलाकार को अभिप्रेत होती है। कलाकार अपनी अनुभूति दूसरों तक इसलिये नहीं पहुचाना चाहता कि लोग उसको महान् समझें बडा समझें या असाधारण समझें। इसका वास्तविक कारण यह प्रतीत होता है कि अपनी अनुभूति को दूसरों तक पहुचाने के रूप में वह स्वय दूसरों तक पहुच जाता है। यौं कत्ता से ऊपर उठकर चेतना के रूप में आत्मा के रूप म, अनुभूतियों की समष्टि के रूप म भावो के अनन्त कोष के रूप मे उसका जो अस्तित्व है (और जो वास्तविक दृष्टि से देखने पर एकमात्र सही रूप है) उसका विस्तार हो जाता है। सीमित को असीम, लघु को विशाल, एव सान्त को अनन्त रूप प्राप्त होने पर जसी-कुछ अनुभूति जसी तृप्ति प्राप्त हो सकती है सम्प्रेषणीयता से कलाकार को वही मिल जाती है। व्यापक हो जाने का सतोष मिलता है। यह आत्मस्वरूप की प्राप्ति का भी एक रूप है।

बाह्यजगत और अन्त प्रकृति—

बाह्य का दर्शन अन्तर को अभिभूत करता है। प्रश्न उठता है कि क्यो अभिभूत करता है। वास्तविकता यह है कि अन्तजगत और बाह्यजगत मूलत भिन्न नहीं हैं। दोनो एक ही मूल स्रोत से निकले हैं एक ही उद्गम से नि सृत दो प्रवाह हैं दो धाराएँ हैं। मौलिक दृष्टि से इनम कोई तात्विक अन्तर नही है।



इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति से निर्मित शरीर में न केवल जीवात्मा ही रहती है बल्कि हमारी बुद्धि, हमारा अहं हमारी ज्ञानेन्द्रियां, हमारी कर्मेन्द्रियां और हमारा मनस आदि भी रहता है। जीवात्मा के अतिरिक्त शेष सब प्रकृति के विषय हैं। इन्हीं से जगत बनता है जिससे एक अंग के रूप में हमारी अपनी अंतर की सृष्टि भी है। तात्पर्य यह है कि हमारी अनुभूति के माध्यम—उपकरणों—का सम्बन्ध भी उसी से है जिससे बाह्य प्रकृति का सम्बन्ध है। साथ ही हमारी आत्मा उसी का एक अंश है जिसका व्यक्त रूप बाह्य जगत है। बाह्य प्रकृति के विभिन्न रूप, उसकी विभिन्न छवियां उसी एक परम ब्रह्म या परम सत्य की विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं। सब-कुछ परम कृष्ण का रास है, परम ब्रह्म की लीला है, उसकी शक्तिरूपा महामाया का नर्तन है एक पूर्ण ही के दो अंग एक दूसरे के प्रति अपनेपन का अनुभव कर सकते हैं। अस्तु इस रास, इस लीला इस नर्तन में मन को मोहने वाली अनेक भंगिमाएँ हैं आनन्द रूप परम सत्य की कोई भी कला कोई भी छवि आकर्षण से रहित नहीं है और इसीलिये अद्वितीय सौंदर्य से युक्त है। यही सौंदर्य का रहस्य है। इसीलिये सौन्दर्य के अंश रूप में जो तत्व कलाकार के अन्दर है वह सौन्दर्य के पूर्ण रूप ब्रह्म के अंश रूप प्रकृति-सौन्दर्य से अभिभूत होकर तादात्म्य अनुभव कर सकता है। बाह्य दर्शन अन्तर को इस कारण अभिभूत करता है।

सौंदर्य—

यहाँ संक्षेप में सौन्दर्य पर भी विचार कर लेना चाहिये यद्यपि सुन्दर और असुन्दर की अनुभूति सब को होती है किंतु सौन्दर्य की सवमान्य परिभाषा अभी तक कोई न दे सका। जेफ्रे एलीसन और बर्न आदि साहचर्यवाद पर विश्वास करते हैं। उनका विचार है कि प्रथा उपयोगिता, हानि की सम्भावना का अभाव तथा मनुष्य के अपने स्वभाव और संस्कार आदि की कसौटियों पर जो निर्दोष प्रमाणित होकर खरा उतरे वही सौन्दर्य है। प्लेटो प्लाटिनस टालस्टाय, रस्किन, बर्क, काट हेगेल आदि सौन्दर्य का सम्बन्ध ईश्वर से मानते हैं। जो मंगलमय है वही सुन्दर है। बामगार्टन आदि मन और बाह्य के सामंजस्य में सौन्दर्य की सम्भावना स्वीकार करते हैं। क्रोचे सौन्दर्य को मानस तत्व मानता है। उसका विचार है कि हमारी कल्पना से निर्मित तथा हमारी आवश्यकतानुसार परिवर्तित संशोधित एवं परिवर्द्धित होने पर हमारे मन में जो रूप अंकित होता है वही सौन्दर्य का आलम्बन है। मार्क्स के अनुयायी इस सौन्दर्य को व्यक्ति के मन में मानते हुए उसे सामाजिक तत्वों के परिणामस्वरूप उद्भूत मानते हैं। इनके अनुसार सौन्दर्य हमारे आर्थिक

जीवन का ही प्रतिबिम्ब है। फ्रायड के अनुसार सौन्दर्य की उत्पत्ति का आधार यौन-व्यापार या यौन-भावना है। इस प्रकार अनेक विचारकों और चिंतकों ने सौंदर्य को परिभाषा में बांधने का प्रयत्न किया है किन्तु गेटे ने ठीक कहा है कि सौंदर्य व्याख्या का विषय नहीं, वह एक ऐसी छाया है जो व्यक्ति की चेतना के ऊपर उमड़ती-घुमड़ती मँडराती और तिरती रहती तथा जगमग करती रहती है, उस छाया को कोई पकड़ नहीं पाया है ज्योति या सुंदर आभा बंध कर नहीं रह सकती सौन्दर्य की रूपरेखा परिभाषा की पकड़ के बाहर है। भारतवर्ष में सौन्दर्य सम्बन्धी विचार वैदिक काल से प्रारम्भ होता है। वे सौंदर्य को विभिन्न संज्ञाओं से अभिहित करते थे। उपनिषद् रूप, रस, प्रकाश और आनन्द के मिल कर एकाकार होने पर सौन्दर्य देखते हैं। मधुसूदन सरस्वती के अनुसार परमात्मा ही सौन्दर्य का सार-सर्वस्व है। भारवि रम्यता को निरपेक्ष मानते हैं। माघ सौन्दर्य को नितनवीन मानते हैं रूप गोस्वामी आचित्र, सुश्लिष्टता, आदि को सौंदर्य मानते हैं। क्षेमेन्द्र के अनुसार चमत्कार का सम्बन्ध लावण्य से और लावण्य का सम्बन्ध सुन्दर से है। पंडितराज जगन्नाथ सौन्दर्य का सम्बन्ध भावों से मानते हैं। अलंकारिक लोग चारुता में सौंदर्य देखते हैं। वक्रिम श्री सौन्दर्य के क्षेत्र में स्वीकार किया गया है। कुन्तक सौंदर्य को विषयीगत मानते हैं 'कमनीयता' 'लालित्य', और 'अलंकार' भी सौंदर्य का वाचक है। कालिदास नित्य उपकरणों से निर्मित सौन्दर्य को पवित्र नित्य और अपरिवर्तनीय मानते हैं। वे सौन्दर्य की सिद्धि के लिये वस्तु तथा व्यक्ति के सामंजस्य को आवश्यक मानते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अन्तःसत्ता की तदाकार परिणति को ही सौन्दर्य की अनुभूति मानते हैं। तुलसीदास जी सौंदर्य के सम्बन्ध में कहते हैं —

जनु विरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रकट देखाई। अर्थात् सौन्दर्य निपुणता' में है मुन्दरता की उत्पत्ति वे इस प्रकार मानते हैं —

जौं छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूप मय कच्छपु सोई॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥

यहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुख मूल।

बिहारी नित नवीनता में सौन्दर्य मानते हैं और मतिराम कहते हैं —

ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निखरै-सी निकाई। रीतिकाल की सौंदर्य-संबंधी-धारणा निम्नलिखित पंक्तियों से पूर्णरूपेण स्पष्ट है —

समै समै सुंदर सबै रूप-कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होय॥

या

रूप रिझावनहार वे, ये नयना रिझवार

"प्रसाद" 'समरसता" में सौन्दर्य देखते हैं और पन्त ने उसी 'सत्य' एवं 'शिव' को ही लोचनों के अनुपम लावण्य के रूप में स्वीकार किया है। जो लोग वस्तु में सौन्दर्य मानते हैं वे 'सम्मात्रा' (सिमेट्री), सुव्यवस्था (आर्डर) विविधता (वेराइटी) एकरूपता (यूनिफार्मिटी) औचित्य (प्रोप्राइटी), जटिलता (इन्ट्रीकेसी), संगति (हारमनी) प्रमाणबद्धता या आनुगुण्य (प्रोपोरशन), संयम (माडरेशन), व्यंजना संजेशन) स्पष्टता (सिम्पिलिसिटी) मसृणता (स्मूथनेस) तथा वर्णप्रतीति (कलरिंग), आदि को प्रमुख स्थान देते हैं।[1] सौन्दर्य का सम्बन्ध रमणीयता से भी माना गया है और इस दृष्टि से देखने पर 'यद्यो यद्यो यत्नवतामुपैति' वही सुन्दर है।

वास्तविकता तो यह है कि सौन्दर्य न केवल द्रष्टा में है और न केवल दृश्य में। वह वस्तु में भी है और वस्तु को देखने वाले व्यक्ति में भी। दर्शक के मन में सौन्दर्य भाव या संस्कार के रूप में है और वस्तु के अन्दर उसकी निर्मिति-कुशलता या प्रत्यक्ष निर्माण किये गये स्वरूप के रूप में है। सौन्दर्य-सम्बन्धी संस्कारों का उदय किसी भी व्यक्ति के अन्दर धीरे-धीरे होता है। अपने समाज विशेष की धारणाओं और परम्पराओं से परिचित होने पर और चेतन के प्रखर एवं प्रबुद्ध होने के साथ-साथ अनुभवों के प्राप्त होने पर सौन्दर्य सम्बन्धी एक धारणा बनती है। ऐसे प्रबुद्ध चेतना और संस्कारों वाले हम जब 'सौन्दर्य के भिन्न-भिन्न उपादानों रूप रस, गन्ध, स्पर्श, आदि का प्रत्यक्ष करते हैं तो हमारा हृदय चंचल हो उठता है और रचनाशील चित्त भी क्रियाशील हो जाता है। वह उपचेतन के विभिन्न सक्रिय अनुभवों को एकत्र करता है। इन विभिन्न रूपात्मक अनुभवों को जब उद्दीपन हमारे उपचेतन से व्यक्त करने लगते हैं तो यह ज्ञान गत, और अधिक तीव्र होकर हममें एक प्रकार की पीड़ा या अनुभूति जगाते हैं।[2] यह अनुभव प्रत्येक को होता है क्योंकि प्रत्येक के उपचेतन में सौन्दर्य की यह अस्फुट मूर्ति अन्तस्थ रहती है। यही उसका सौन्दर्य-सम्बन्धी मानदण्ड है।

यह अचेतन सौन्दर्य-धारणा बड़ी ही महत्त्वपूर्ण होती है। दर्शक जब किसी कलाकृति को देखता है तब यही धारणा काम करती है। जब सामने की कलाकृति

१—'सौन्दर्य तत्व' पृ० ६ मूल लेखक-सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त अनुवादक-आनन्द प्रकाश दीक्षित।

२—वही पृ० ७३।

उसके अन्तर की उपयुक्त धारणा के अनुरूप होती है तब वह कहता है कि यह सुन्दर है। कलाकार जब किसी कृति का निर्माण करता है तब भी यही धारणा या उसके अन्तर का यही चित्र महत्वपूर्ण कार्य करता है। कलाकार के अन्तर के चित्र से उसकी निर्मित होने वाली कृति की अनुरूपता ज्यों-ज्यों मुखरित होती है, उभरती है त्यों-त्यों वह उसे सुन्दर समझता चलता है। एक ही सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में-एक ही समाज में-रहने वाले कलाकार और दर्शक-दोनों के अन्तर्चित्रों में समानता का पाया जाना आश्चर्यजनक नहीं और इसीलिये कलाकार द्वारा निर्मित सुन्दर कृति दर्शक को भी सुन्दर लगती है। मनुष्य मात्र की चेतना में मौलिक दृष्टि से एकता पाई जाती है और इसलिये उनकी रुचियों एवं सौंदर्य-सम्बन्धी धारणाओं में कुछ न कुछ साम्य पाया जा सकता है। यही कारण है कि अमेरिका, रूस और इंगलैंड की कलाकृतियाँ भारत में और भारत की उन देशों में पसंद की जाती हैं-सुन्दर मानी जाती हैं। अस्तु अन्तर के चित्र से बाह्य की पूर्ण अनुरूपता ही सौंदर्य है। यही आत्मरूप की प्राप्ति है निष्कर्ष निकला कि कलाकार अभिव्यक्ति चाहता है। किसकी ? अपने अन्तर में स्थित सौन्दर्यानुभूति या अस्फुट सौंदर्य-मूर्ति की।

कला—

कलाकार अभिव्यक्ति का कार्य कला के माध्यम से करता है। सुरेन्द्र बारलिंगे का यह कथन, "कला सौन्दर्य की भाषा है पूर्णतः सत्य है। वासुदेव शरण अग्रवाल ने भी कला को साधन मानते हुए कहा है, "कला श्री या सौन्दर्य को प्रत्यक्ष करने का साधन है। अवनीन्द्र नाथ ठाकुर तो और किसी रूप में कला का अस्तित्व ही स्वीकार करने को तैयार नहीं क्योंकि उनके विचार में शिवत्व की उपलब्धि के लिये सत्य की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति-परंपरा के बिना कला असम्भव है। अस्तु कला के दो कार्य हुए। पहला और सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य है निर्माण। इस दृष्टि से हम कला को वह रचना-प्रक्रिया कह सकते हैं जिसका समापन एक ऐसी अद्भुत कृति के रूप में होता है जो कलाकार के अन्तर में स्थित सौन्दर्य मूर्ति के अनुरूप होती है और पूर्णता की सभी कसौटियों पर कसी, जाने से निर्दोष ठहरती है।"

यह कलाकृति अपनी पूर्णता एवं निर्दोषिता से सहृदय के मनोभावों को छू कर सौंदर्य-सम्बन्धी उसके सोये हुए संस्कारों को जगा कर उसकी सूक्ष्म-सौंदर्य-पिपासा को शान्त एवं तृप्त करती है। उसकी चेतना की जड़ता या मूर्च्छा को हटाती है। यह कला का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है। इस रूप में कलाकृतियाँ या कलाकार समाज की रुचि को परिष्कृत करते हैं। कला सामाजिक के लिये सौन्दर्य--

बोध का साधन या माध्यम है। सभी कलाओं की सृष्टि सौंदर्य बोध में ही होती है। सौन्दर्य-बोध क्या है सुन्दर और असुन्दर की पहचान ही सौंदर्य-बोध है। विवेक के क्षेत्रों में यह सौंदर्य बोध उपलब्ध सामग्री से सौंदर्य का सकलन करता है, और भावनेत्र में अनिवचनीय आनन्द की अनुभूति कराता है। जब सौंदर्य-बोध होता है तब मानो सुखमय आलोक की एक झलक मिल जाती है और रस की बूंद बरसने लगती है। तात्पर्य यह हुआ कि "कम्+लाति' के अनुसार कला 'क' अर्थात् आनन्द सुख एवं सौंदर्य को लाने वाली है और 'कड+लाति" के अनुसार वह 'कड' अर्थात् प्रसन्न करने वाली है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि कला का एकमात्र लक्ष्य उसकी एकमात्र उपयोगिता सौंदर्य-बोध है।

कला और साहित्य—

साहित्य में जो शैलियां अपनाई जाती हैं वे कला-विशिष्ट दृष्टि से तथ्य-निरूपण करती हैं। तात्पर्य यह है कि तथ्य को और भी अधिक हृदयग्राही, सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनाने के लिये कथन की एक विशेष दृष्टि अपनाई जाती है। प्रसंग, घटना या तथ्य तो वही होता है जो सबके लिये है। कलाकार जब उसे देखता और उसका निरूपण करता है तब उस पर कलाकार की अपनी विशिष्ट सौंदर्य-दृष्टि का रंग भी चढ़ जाता है। ताजमहल, आगरे का किला एतमादुद्दौला का मकबरा, सीकरी के खंडहर या लाल किले के उजड़े हुए भवन को लाखों और करोड़ों व्यक्तियों ने देखा है किन्तु महाराज कुमार रघुबीर सिंह के अन्दर का सहृदय कलाकार जब इनको देखता है तब निरूपण की शैली कला की अभिरामता से अलङ्कृत हो उठती है।

कलाकार के लिये प्रत्येक वस्तु में सौंदर्य निहित रहता है। उसके लिये झरनों में संगीत है शून्य में चित्र है पत्थरों में वाणी है एवं खंडहरों में कथाएं बोलती रहती हैं। यह ठीक है कि सीकरी के उन पत्थरों में प्राणों का स्पन्दन नहीं है लाल किले के भवन चेतना-विहीन इमारतें हैं और आगरे के किले के महलों में अब न नूरजहां की गति और वाणी है और न मुमताज की प्रेमउद्दीप्त किलकारियां तथा काम-वलित उष्ण एवं रंगीन सांसें। इन स्थानों पर अब न वह वैभव है और न विलास-लीला। विज्ञान कहता है, और यही तथ्य है कि पत्थरों के न तो वाणी होती है और न स्मरण-शक्ति में उनके अन्तर वेदना है न संवेदना। काल का यह कठोर सत्य है कि वही घटना फिर नहीं घटित हो सकती। फिर भी कलाकार के अन्तर का राग जब इनमें मिल जाता है तो विधिना का विधान पलट जाता है। असहनी होने लगती है। कलाकार राग-शून्य दृष्टि से देख ही नहीं

सकता। राग के स्पन्दन से ही कला सक्रिय होती है। अस्तु इन सबमे अन्तर्निहित सौन्दर्य कलाकार के रागात्मक दृष्टिकोण को पाकर ही अभिव्यक्त होता है। यहां कलाकार अपने को उनसे अभिन्न कर लेता है। तादात्म्य स्थापित हो जाता है। जब ऐसा हो जाता है तब पत्थर कहानियां सुनाने लगते हैं सूने महलों के अन्दर बीती हुई घटनाओं से प्रभावित हृदय का स्पन्दन जागरूक एवं सक्रिय हो उठता है जिन कोठरियों में हास-रुदन, मान-मनौती नृत्य-गान की ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है भयावनी-अंधेरी कोठरियां रत्नजटित कला-कलित क्वणित-ध्वनित सुरभित-मुखरित क्रीडा-कक्षो में परिवर्तित होकर नूर और ताज की छीया का सलोनापन आभासित कराने लगती हैं दृश्यावलियां काल की सीमाओं एवं बंधनो का अतिक्रमण करके पुनः दृष्टिगत होने लगती हैं। कलाकार तो उनके सौंदर्य-बोध से सजीव हो ही उठता है, पाठक भी उस सौन्दर्य-बोध का भागी हो उठता है। पाठक का भी राग ध्वनित हो उठता है। कलाकार के अमृत-राग से बिछुड़ कर सब फिर के फिर पत्थर हो जाते हैं।

इस प्रकार समस्त कलाएं सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से उत्पन्न होती हैं। नादात्मक सौन्दर्य-बोध के लिये संगीत, रेखात्मक सौंदर्य-बोध के लिये चित्र आकारात्मक सौन्दर्य-बोध के लिये स्थापत्य गत्यात्मक सौन्दर्य-बोध के लिये नृत्य रूपात्मक सौन्दर्य-बोध के लिये मूर्ति और वाणी के सौंदर्य-बोध के लिये काव्य कला का आविर्भाव हुआ है। इन सब कलाओं का लक्ष्य एक है, सौन्दर्य बोध, उद्देश्य एक है, रसानुभूति या आनन्दानुभूति। लक्ष्य एवं उद्देश्य की इसी एकता के परिणाम स्वरूप ये सभी कलाएं परस्पर एक दूसरे से घनिष्ट रूप से सबंधित हैं और एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं। यद्यपि कोई भी कला साहित्य का विषय बन सकती है किन्तु साहित्य का संबंध विशेष रूप से केवल तीन कलाओं से है—काव्य-कला संगीत कला और चित्रकला।

काव्य-कला—

बीसवीं शताब्दी के आते-आते भारतीय मानस में नई कल्पनाएं नई छवियां, नई आशाएं नई महत्वाकांक्षाएं एवं नई उमंगें उद्दाम रूप से तरंगित होने लगी थी। जीवन आमूलतः परिवर्तित हो गया था और इस परिवर्तन से उत्पन्न नवीनतम परिस्थितियों की जो आवश्यकताएं थीं, मार्गों की एवं उनके जो स्वाभाविक परिणाम थे उन्होंने, काव्यकला के रूप में भी असाधारण परिवर्तन कर दिये। स्वरूप-निर्माण लक्ष्य का मुखापेक्षी होता ही है?

भारतेन्दु से पूर्व की परम्पराओं का अर्थात् रीतिकालीन परम्पराओं का कवि

इसलिये कविता लिखता था कि उसका आश्रयदाता प्रसन्न रहे जिससे कवि की प्राप्त सुविधा, सुख और सम्मान पर कभी भी आंच न आने पाये। वह भक्ति और नीति को भी विस्मृत नहीं करता था क्योंकि भक्तिपरक कविता के अभाव में भगवान की कृपा की प्राप्ति पर प्रश्नवाचक चिन्ह लग सकता था और नीतिपरक कविता के अभाव में 'सामान्य' जन उससे विमुख हो सकता था। इन दोनों प्रकार की कविताओं से कवि को लोकप्रियता मिलती थी। काव्य की शिक्षा देने के लिये और प्राय पाण्डित्य प्रदर्शन के लिये (दंगल में अन्य कवियों को पछाड़ने के लिये) ये आचार्य कवि प्राय काव्य शास्त्र का ग्रंथ लिखते थे जिसके भीतर के उदाहरण प्राय इनके अपने होते थे। दरबार का वातावरण और रीतिशास्त्र का अनुकरण इन दो प्रमुख तत्वों से उक्त परम्परा की कविताएं लिखी जाती थीं। जमींदारों, ताल्लुकों एवं रियासतों वाले महाराजाओं के यहां इस तरह की काव्य रचना करने वाले कवि १९५० ई० तक तथा उसके बाद भी बराबर बने रहे। इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'रत्नाकर' हैं।

बीसवीं शताब्दी में कवियों का लक्ष्य दूसरा हो गया था। राज्य बदला। राजाओं, महाराजाओं और सम्राटों की महानता मिट गई। सभी लोग जान गये कि उनकी शक्ति और क्षमता की सीमाएं क्या हैं और वस्तुतः इस समय उनकी वास्तविक स्थिति क्या है। तात्पर्य यह है कि वे हजार-पांच सौ व्यक्तियों को नौकरी दे सकते हैं या उन्हें नौकरी से निकाल सकते हैं अथवा हजार पांच सौ या दस बीस हजार रुपये या सौ-दो सौ बीघा जमीन दे सकते हैं या चाहें तो न दें। यह सब-कुछ वैसे ही है जैसे हम घर की महरी, दूकान के नौकर, या विभाग के चपरासी रख सकते हैं या निकाल सकते हैं कुछ दे सकते हैं या वंचित रख सकते हैं। अंतर केवल संख्या का है बस, बाकी उनका 'तेज' मिट गया। अंग्रेजों के द्वारा उनका साधारणीकरण हो गया। अब राजाओं के प्रति अत्युक्ति पूर्ण स्तुतिगान, भगवान के रीतिकालीन लीला-वर्णन अथवा नायक-नायिका-वर्णन की जगह राजनीतिक पराधीनता से मुक्ति, धर्म का नवीन एवं समाजोपयोगी रूप समाज के दोषों का निराकरण राष्ट्रीयता, सर्वतोमुखी क्रांति और सुधार, तथा उन्नति आदि कवियों की कामना हो गई। इनमें से अधिकांश बातें तो विचार क्षेत्र से ऊपर उठकर भाव क्षेत्र में सबधित हो गई थीं। कवियों का इनसे तादात्म्य हो गया था। इनकी प्राप्ति की कामना ने दीवानगी का रूप धारण कर लिया था। दरबारी संस्कृति और कला तथा पूँजीवादी एवं जनवादी संस्कृति और कला में बहुत अंतर होता है। जागरण का ही बात ले लीजिए। दरबारी कवि बिहारी मिर्जा राजा जयसिंह को जगाना चाहेगा तो उसकी कला का रूप इस प्रकार होगा —

'नहिं पराग नहिं मधुररस नहिं विकास यहि काल,
अली कली ही तें बँध्यो आगे कौन हवाल।''[1]

इस स्वर का कारण यह है कि -(१) राजा साहब काव्यशास्त्र की परम्पराओं और काव्यकला को भलीभांति जानते थे, (२) वे काव्य के मर्म एवं उसके प्रभाव से भलीभांति परिचित थे (३) व भोग विलास में मग्न थे, (४) उनकी समस्या व्यक्तिगत थी, (५) उन्हें अपनी ही निद्रा से जागना था अर्थात् उनकी आंखों को किसी ने बलपूर्वक नहीं बन्द कर दिया था, (६) उनका शत्रु उनके ही अन्दर था, और(७)क्योंकि कवि दरबारी था इसलिये इससे अधिक खुले रूप में वह कुछ कह भी नहीं सकता था। इसका ध्यान न रखने पर कदाचित मर्यादा भंग हो जाती।

इसके विपरीत जब कवि 'दिनकर' ने देश भारत के सभी निवासियों को जगाना चाहा तो उसकी काव्य-कला का रूप यह हो गया—

गरजते शेर आये, सामने फिर भेड़िये आये
नखों को तेज, दांतों को बहुत तीखा किये आये
मगर, परवाह क्या ? हो आ खड़ा तू तान कर उसको
छिपी जो हड्डियों में आग-सी तलवार है साथी।[2]

या

आंसू भरे दृगों में चिनगारियां सजा दे
मेरे श्मशान में आ शृंगी जरा बजा दे
फिर एक तीर सीनों के आर-पार कर दे
हिम-शीत प्राण में फिर अंगार स्वच्छ भर दे,
आमर्ष को जगाने वाली शिखा नई दे
अनुभूतियां हृदय में दाता अनलमयी दे
विष का सदा लहू में संचार मांगता हूं
बेचैन जिन्दगी का मैं प्यार मांगता हूं

अथवा

अगर हो शानदार,
जानदार है यदि अश्व वेगवान,
बाहुओं में बहता है

१—'सामधेनी'' पृ० ६२।
२—वही, पृ० ५७।

दाभिया का गूढ यदि
हृदय मे जागती है वीर यदि
माता क्षत्राणी की दिव्य मूर्ति
स्फूर्ति यदि अग-अग का है उष्मा रही,
आ रही है याद यदि अपनी मरजाद की

आओ वीर स्वागत है

धन-जन-देवालय
देव-देश-द्विज-दारा-पशु
इधन हैं हो रहे तृष्णा की भट्टी म
हद है अब हो चुकी। १

कला के रूप के इस परिवर्तन के कारण य है -(१) य पक्तिया जन-
के लिये हैं जो काव्यशास्त्र की बारीकियो से परिचित नही (२) जन-
साफ और सीधे ढग स कही गई बात समझता है (३) जन-साधारण भाव
प्रभावित होता है (४) जन-साधारण ओज स तरगित होता है दुलार से
होना है (५) यहा न व्यक्तिगत स्वाथ है न व्यक्तिगत समस्या। सारे राष्ट्र
की समस्या है। सारे राष्ट्र का मानस बदलना है, (६) यहा शत्रु भीत
बाहर है (७) यहा शत्रु ने शक्ति और साधन से वचित कर रखा है (
शक्ति भीतर है जिसे प्रबुद्ध करना है और (६) यहा लक्ष्य है नये
अवतारणा। राष्ट्रोत्थान। परिणाम यह हुआ कि इस युग की काव्य-कला
प्रास का य-कला से भिन्न हो गई। जिस प्रकार सस्कृति के अन्य क्षेत्रो म
हुआ उसका आधार कुछ पुरातन था कुछ नवीन-प्राचीन म से कुछ लिय
कुछ को बदला गया, कुछ को छोडा गया और नवीन से भी कुछ
गया, कुछ बदला गया, कुछ लिया गया-उसी प्रकार काव्यकला के क्षेत्र मे
कुछ हुआ उसका आधार कुछ पुरातन था तथा कुछ नवीन।

भाषा--

का य-कला के क्षेत्र मे सबसे बडा परिवतन भाषा के क्षेत्र मे हुआ।
भाषा की दृष्टि से बीसवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध खडी बोली हिन्दी का युग है।
मे खडी बोली क शब्दो, कारक चिन्हो एव क्रियाओ का अमीर खुसरो एव

१- निराला 'महाराज शिवाजी का पत्र' 'परिमल

के समय से लेकर आज तक बराबर होता चला आया है। इस दृष्टि से कृष्णदेव प्रसाद गौड़ द्वारा लिखित 'साहित्य प्रवाह' नामक पुस्तक के कुछ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। भारतेन्दु-युग में तो खड़ी बोली में बहुत कविताएँ लिखीं गईं। अब यह बात दूसरी है कि उनकी गणना सत् साहित्य के अन्दर नहीं हुई क्योंकि ऐसी रचनाएँ प्रायः लावनी ख्याल, आदि के रूप में हैं कवित्त-सवयों-पदावलियों, आदि के रूप में नहीं। १८८८-८७ ई० से खड़ी बोली बनाम ब्रजभाषा वाला आंदोलन चला जिसके अन्तिम निर्णय को कुछ लोग आज तक भी गले के नीचे नहीं उतार पाये हैं। भारतेन्दु युग में खड़ी बोली में कविताएँ लिखी अवश्य गईं किन्तु उन कविताओं में काव्य कला की छवियाँ और छटाएँ नहीं मूर्त हो सकीं। इस पूरे काल में खड़ी बोली को साहित्यिक कविताओं के उपयुक्त नहीं समझा गया। इन कवियों के सामने-काव्य-सौन्दर्य की कसौटी मध्ययुगीन एवं रीतिकालीन आलंकारिकता ही रही। मन में काव्य-सौंदर्य की यही मूर्ति रमी रही। 'रत्नाकर' ने 'बिहारी सतसई' का सफल सम्पादन किया था। उन्होंने बिहारी के दोहों का भाषा-गत अर्थ गत एवं रीति रस सौन्दर्य का गंभीरतम अध्ययन किया था और उसे आत्मसात् कर लिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके अपने काव्य में वे ही सारी विशेषताएँ-कुछ वैसा ही सौन्दर्य-आ गया। अनुभावों के मनोवैज्ञानिक चित्र रीतिकालीन शैली एवं ब्रजभाषा का सौन्दर्य पाकर कलात्मक दृष्टि से आज के काव्य-जगत की शोभा और निधि हो गये —

> भेजे मन भावन के ऊधव के आवन की
> सुधि ब्रजगावनि में पावन जब लगीं
> कहैं "रत्नाकर" गुवालिन की झौरि-झौरि
> दौरि दौरि नंद पौरि आवन तब लगी
> उझकि-उझकि पद कंजनि के पंजनि पै
> पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छ्वै लगी।
> हमको लिख्यो है कहा हमको लिख्यो है कहा
> हमको लिख्यो है कहा कहन सबै लगीं"[1]

इस युग के कवियों को ब्रजभाषा का अभ्यास इतना था कि खड़ी बोली की रचना करते समय ब्रजभाषा के शब्द अनायास ही आ जाते थे। श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', आदि कवियों की कविताएँ ऐसी ही होती थीं। इन कवियों की खड़ी बोली की कविताओं की अपेक्षा ब्रजभाषा की कविताएँ अधिक सरस एवं हृदयग्राहिणी होती थीं। खड़ी बोली की काव्योपयुक्तता के विकास की दृष्टि से

१ "उद्धव-शतक", पृ २६।

श्रीधर पाठक की अनुदित कृति 'एकान्तवासी योगी' का महत्व बहुत अधिक है। सबसे बडी बात यह हुई कि अब खडी बोली मे मधुर भावो की अभिव्यक्ति की क्षमता और सभावना पर विश्वास किया जाने लगा। खडी बोली के एक स्थिर रूप का भी निश्चय इस काव्य से हो गया –

साधारण अति रहन सहन, मृदु बोल हृदय हरन वाला
मधुर मधुर मुस्कयान मनोहर, मनुज वश का उजियाला
सभ्य सुजन सत्कर्म परायण सौम्य सुशील सुजान
शुद्ध चरित्र, उदार प्रकृति शुभ विद्या-बुद्धि निधान [1]

विकास की दूसरी स्थिति मे इस बात का प्रयत्न किया गया कि खडी बोली मे ब्रजभाषा के प्रयोग न रहे क्योकि इससे खडी बोली हिन्दी की भाषा विशुद्धता पर आघात पहुचता है। इस दृष्टिकोण से लिखी गई कविताओ की भाषा के उदाहरण के रूप मे रामचन्द्र शुक्ल के प्रकृति वर्णन वाले कवित्तो की भाषा उपस्थित की जा सकती है –

भूरी हरी घास आस पास फूली सरसो है
पीली पीली बिन्दियो का चारो ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे एक
रग मिला चला गया पीत पारावार।

धुधले दिगन्त मे विलीन हरिदाभ रेखा
किसी दूर देश की–सी झलक दिखाती है।
जहा स्वर्ग–भूतल का अन्तर मिलन है,
चिर पथिक के पथ की अवधि मिल जाती है।

सूखती तलैया के चारो ओर चिकनी हुई
लाल–लाल काइयो का भूमि पार करत।
गहरे पडे गोपद के चिह्नों से अकित जो,
श्वेत बक जहा हरी दूब मे बिचरते। [2]

रूप नारायण पाडेय बद्रीनाथ भट्ट मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, आदि अनेक कवियों की भाषा इसी प्रकार की खडी बोली है। महावीर प्रसाद द्विवेदी

१ आधुनिक हिन्दी कविता सिद्धान्त और समीक्षा पृ ११३।
२ रामचन्द्र शुक्ल हृदय का मधुर भार

न जिस व्याकरण-सम्मत शुद्ध परिष्कृत एव परिमार्जित हिन्दी का समर्थन किया था उसके उदाहरण उपयुक्त कवियो की रचनाओ में भरे पडे हैं।

अनेक कवि ऐसे भी हुए जिन्होंने व्रजभाषा काव्य का अनुकरण करते हुए उसकी आलकारिकता को खडी बोली म लाने का प्रयत्न किया और इस प्रकार खडी बोली हिन्दी म उस प्रकार का माधुर्य एव लालित्य लाना चाहा जो व्रजभाषा के कवित्त-सवयो मे है। नाथूराम शर्मा शकर के खडी बोली के कवित्त इसी प्रकार के हैं –

काजल के कूट पर दीपशिखा सोती है कि श्याम घन मडल म दामिनी की धारा है
यामिनी के अचल म कलाधर की कोर है कि राहु के कबध पै कराल केतु तारा है
शकर कसौटी पर कचन की लीक है कि तेज ने तिमिर के हिये मे तीर मारा है
काली पाटियो के बीच मोहिनी की माग है कि ढाल पर खाडा कामदेव का दुधारा है

इस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त राम नरेश त्रिपाठी गया प्रसाद शुक्ल सनेही अयोध्या सिंह उपाध्याय बाल मुकुद गुप्त राम चरित उपाध्याय लोचन प्रसाद पाडेय, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि के प्रयत्नो के परिणामस्वरूप खडी बोली शुद्ध, व्याकरण-सम्मत परिष्कृत एव परिमार्जित भी हो गई और उसम शब्दालकारो तथा अर्थालकारो की सुयोजना के परिणामस्वरूप लालित्य एव कलात्मकता के दर्शन भी होने लगे।

इसके पश्चात् अभिव्यक्ति के सौंदर्य की ओर ध्यान गया। कवित्त सवये म अलकारो को इधर उधर छिटका देना एक बात है और जो-कुछ कहा जाय वह अत्यन्त सुन्दर ढग से कहा जाय--यह दूसरी बात है। 'वह बहुत अधिक रो रही थी' कहने की अपेक्षा 'उसकी आखो ने सावन-भादों बरस रहे थे' यह कहना अधिक कुशल कलापूर्ण और मार्मिक अभिव्यक्ति है। द्विवेदी युग के समाप्त होते-होते खडी बोली मे इतनी क्षमता आ गई थी कि उसमें कुशलतम और ललित एव कलापूर्ण अभिव्यक्ति की जा सके। रीतिकालीन अभिव्यक्तियों का सबध बाह्य वर्णन से अधिक था। नय युग में नाथ विषयों और नवीन भावों की व्यजना करनी थी। कुशलता प्रयत्न-साध्य होती है। इसीलिये अभिव्यक्तियो के स्वरूप में विभिन्नता अनिवार्य थी। द्विवेदी-युगीन कवि खडी बोली को वर्णन-कुशल बना चुके थे। अब आवश्यकता अभिव्यजन-सामर्थ्य और कथन-सौंदर्य की क्षमता की थी। 'बच्चन' का निम्नलिखित कथन।

शून्य मुखरित हो गया जय हो प्रणय की
पर नहीं परितृप्त है तृष्णा हृदय की

पा चुका स्वर किन्तु गायन खोजता हूँ
मैं प्रतिध्वनि सुन चुका ध्वनि खोजता हूँ[1]

द्विवेदी युग के बाद की खड़ी बोली की आवश्यकता पर भी प्रकाश डालना है। खड़ी बोली के प्रति हमारा जो लगाव था उसका कारण खड़ी बोली का सूनापन समाप्त हो गया किन्तु कवि इससे तृप्त न हुए। अब खड़ी बोली के स्वर को गीत में बदलना था। ब्रजभाषा के भाषा-सौन्दर्य की प्रतिध्वनि खड़ी बोली में बहुत हो चुकी अब उसकी अपनी ध्वनि और व्यंजना उसमें आनी थी। यह प्रयत्न छायावादी कवियों ने अत्यंत सफलतापूर्वक किया। 'प्रसाद' जी ने 'ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति'[2] को छायावाद की विशेषता माना और इन विशेषताओं से खड़ी बोली में कमनीयता का समावेश किया। इस युग के प्राय सभी उत्कृष्ट कवियों ने अपनी काव्य-पुस्तकों की भूमिकाओं एवं स्वतन्त्र रूप से लिखे गये निबन्धों में अपनी इन मान्यताओं एवं विचारों का उल्लेख किया है जिनके कारण उनकी काव्याभिव्यक्तियाँ इतनी कलापूर्ण हो सकीं। 'पल्लव' की भूमिका, 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' प्रबन्ध-प्रतिमा, 'प्रबन्ध पद्म', आदि इसी प्रकार की कृतियाँ हैं। इन कवियों की ललित अभिव्यक्तियों में वक्रता, ध्वनि लाक्षणिकता, तथा उपमा रूपक आदि अलंकारों का योग विशेष रूप से रहा है —

'विस्तृत नभ का कोई कोना मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही, उमड़ी कल थी, मिट आज चली
मैं नीर-भरी दुख की बदली[3]

वे कुछ दिन कितने सुंदर थे
जब सावन-घन सघन बरसते, इन नयनों की छाया भर थे[4]

अभिव्यक्ति की यह कुशलता अन्ततोगत्वा काव्य की कमनीयता की ओर अग्रसर हुई। अभिव्यक्ति की सुंदरता काव्य-कला का बाह्य-पक्ष है। इसके

---

१ मिलन यामिनी' का एक गीत।

२– काव्य और कला तथा अन्य निबंध ' का छायावाद-सम्बन्धी लेख।

३–महादेवी 'यामा''

४– प्रसाद '–'लहर''

अनुरूप सुन्दर विषय-वस्तु भी होनी चाहिये। विषय-वस्तु की सुदरता या लालित्य सदैव मुखरित या व्यक्ति नही हो पाती। गीत काव्य या गद्यकाव्य मे यह बात विशेष रूप से पाई जाती है। जिस काव्य मे अभिव्यक्ति और अभिव्यक्तव्य कथन और कथ्य-दोनो की कमनीयता सतुलित रूप म बराबर रहती है वही काव्य श्रेष्ठतम होता है। चाहिये यह कि कवि की अपनी अनुभूति उसके अपने भाव और विचार असाधारण रूप से सुन्दर हो। उद्भावनाए और कल्पनाए उन्हें एक व्यवस्थित रूप या आकार प्रदान करें। तत्पश्चात् ललित भाषा म कला पूर्ण ढग से उनकी सुदर अभिव्यक्ति हो। 'निराला" का ध्यान इस ओर विशेष रूप से गया। कथन की कुशलता की ओर से वे उदासीन रहे हो एसी बात नही है किन्तु उनका ध्यान इस ओर विशेष रूप से गया कि जो बात वह कहने जा रहे हैं वह भी कमनीय हो। 'राम की शक्ति पूजा" 'महाराज शिवाजी का पत्र' बादल राग', 'विधवा", 'सरोज स्मृति', आदि अनेक कविताओ मे जो कुछ कहा गया है वह भी सुन्दर है जिस ढग से कहा गया है वह भी सुदर है और जिस भाषा म कहा गया है वह भी सुन्दर है। प्रतीक और रूपक के सहारे अनुभूतियो एव भावों के सौदर्य की अभिव्यक्ति की जाती है। रहस्यवाद स्वत एक सुन्दरतम कथ्य है अनुभूति है। छायावादी शैली म उसकी अभिव्यजना काव्य को उत्कृष्टतम श्रेणी प्रदान करती है। इसीलिये पन्त प्रसाद' निराला, महादेवी वर्मा और रामकुमार वर्मा, आदि कवियो की रचनाएँ कथ्य का सौदर्य भी व्यजित करती हैं

खोज ही चिर प्राप्ति का वर
साधना ही सिद्धि सुदर,
रुदन मे सुख की कथा है,
विरह मिलने की प्रथा है
शलभ जल कर दीप बन जाता निशा के शेष में
आसुओ मे देश म ।[१]

'साधना ही सिद्धि सुदर' में अनुप्रास् अलकार है। व्याकरण सम्मत, शुद्ध एव अलकृत भाषा है। लाक्षणिकता है व्यजना है। अभिव्यक्ति का स्वरूप इतना सुन्दर है कि अभिव्यजना नीति सबधी सूक्ति का रूप धारण कर सकती है। जो बात कही गई है वह यह कि परिणाम या फल को सुन्दर मानना अच्छी बात नही है क्योकि इससे फल म आसक्ति पदा हो जायगी। फल प्राप्ति अपने वश की बात

१-महादेवी वर्मा, "दीपशिखा'

नही। इसलिये यदि मनोवाञ्छित फल न मिला तो दुःख होगा। दूसरी बात यह कि ऐसी स्थिति मे साधना की एकनिष्ठता भग हो जायगी। ध्यान रहे कि यही निष्काम कर्मयोग है जिसकी महिमा का प्रतिपादन "गीताकार" का भी लक्ष्य है। अस्तु इसमे कोई सन्देह नही रह जाता कि यह एक सुदर कथ्य है। एक दूसरी कविता देखिये—

प्रिय तुम्हारा स्वर बनू मैं
दो उरो के मिलन म मिट जाय वह अन्तर बनू मैं
करुण जीवन जबकि हिम की विकल घुलती धार सा हो
या कि सिसकी से उठे दो आसुओ के भार सा हो
सिक्त उनसे हो उठे उस धूलि का कण भर बनू मैं [1]

खडी बोली की सूक्ष्म सौन्दर्य सुकुमारता और सगीतात्मकता से परिपूर्ण करने वाले कवि की यह अभिव्यक्ति उपमाओ प्रतीको और भाषा की कलात्मकता का सस्पर्श पाकर जितनी मार्मिक एव ललित हो गई है उसमे कम सुदरता कवि की कामना म नही है साधक का साध्य रूप से इतना अभिन्नत्व प्राप्त कर लेना तथा अपने अस्तित्व को इतना करुणापूर्ण बना लेना सभी दृष्टियो से एक सुदर कामना है। अस्तु इन स्थितियो को पार करते करते खडी बोली काव्य की मजुल कलाओ से कलित भाषा हो गई।

रस—

शास्त्रो ने रस को बहुत ही महत्वपूर्ण माना है। रस काव्य का प्राण और सर्वोत्कृष्ट फल माना गया है। आनन्द का ही दूसरा नाम रस है। अलौकिक चमत्कार है अर्थात् इस लोक मे जो अप्राप्य है वह चमत्कार। कलाकार द्वारा सप्रेषित अनुभूति उपलब्ध करके हमारी जो भाव दशा हो जाती है उसस हम जो कुछ प्राप्त होता है वही रस है। भाव दशा लोक की चीज नही है और इसलिये भाव-दशा स प्राप्त रस लोक के परे की चीज हुई-अलौकिक। यह अवस्था प्राप्त करके हमारे चित्त का विस्तार हो जाता है। अस्तु, रस की प्रतीति मानस म ही सभव है। हमारे मानस म "वासना" अचेतन रूप म विद्यमान रहती है। आलबन और उद्दीपन तथा उनकी पारस्परिक चेष्टाओं एव सचारी भावो, आदि के वर्णन से हमारे मानस की वे सुप्त वासनाएँ उद्बुद्ध हो उठती हैं। जग कर वे सहृदय के मानस को अनुभूति की जिस तन्मयी अवस्था म पहुचा देती है उसम मग्न होकर वह अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त करता है। यही रसानुभूति है। इस प्रकार "विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति" होती है। आधुनिक शैली म कहें तो रस एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। रस का मूल है भाव और भावों का सबध मन से है। किसी

[1] रामकुमार वर्मा 'आकाश गगा'।

बाहरी चीज को हम देखते हैं (आलबन)। उसका हमारे मन पर प्रभाव पडता है (भाव)। मूल प्रभाव के साथ साथ कुछ अन्य ऐसे भाव भी उठते हैं जिनका अस्तित्व मूल भाव की तरह बहुत दर तक न होकर कुछ काल तक के लिये होता है। ये मूल भाव को पुष्ट ही करते हैं (व्यभिचारी या सचारी)। इन सबका शरीर के अगों पर भी प्रभाव पडता है (शारीरिक अनुभाव)। इन सबके सफल चित्रण से कलाकार स्वय पुन तो मग्न हो ही उठता है, उस चित्रण को पढने वाले के मन की भी भाव मग्न दशा हो जाती है। शास्त्रकारो ने मनके मूल भावो को प्रधानत नौ भागो म विभाजित किया हैं —शृङ्गार रौद्र, वीर भयानक अद्भुत, करुण हास्य वीभत्स, शात। कुछ आचार्य भक्ति और वात्सल्य को भी मूल भाव म नते हैं। विचारको ने इनके अपने अपने आलबन उद्दीपन अनुभाव, सचारी भाव, आदि का भी उल्लेख किया है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि रस की अनुभूति एक अन्तर्दशा किन्तु आलबन, उद्दीपन, और अनुभाव का सबध प्राय बाह्य तत्वो से है। रस की कविताएँ दो ढग से लिखी जा सकती हैं। पहला ढग है अनुभव के आधार पर लिखना। ऐसी कविता लिखते समय रस सबधी शास्त्रीय मान्यताओ को याद नही रखना पडता। ध्यान केवल अनुभूति की सच्चाई का रखना पडता है। रस उसी से ध्वनित हो उठता है। दूसरा ढग यह है कि अमुक रस के लिये शास्त्र ग्रथ में जिस जिस का होना आवश्यक बतलाया गया है कविता म उन सब का अवश्य लिखा जाय। शास्त्र और परम्परा के इस अनुकरण पर चल कर कविता रीतियो मुखी हो उठती है और इसलिये उसका सब कुछ प्राय स्थूल और फीका हो जाता है। अनुकरण करते हुए भी सजीवता केवल कुशल एव सिद्ध कवि ही ला पाते हैं। रीतिकालीन कविताओ की रसानुभूति अधिकतर ऐसी ही होती थी। आधुनिक हिन्दी साहित्य को रस सबधी कविताओ की ऐसी ही पृष्ठभूमि मिली थी किन्तु क्राति एव परिवतन के इस युग मे आधुनिक हिन्दी काव्य क्षेत्र मे रसात्मकता की उपयुक्त शास्त्रीय अर्थात् रीतिकालीन धारणा बिल्कुल बदल गई। पहले लिखते ही समय ज्ञात या अज्ञात चेतन या अचेतन रूप से यह देख लिया जाता था कि लिखित कविता म रस के सभी अवयव ठीक से उपस्थित हैं या नहीं। अब प्राचीन के समर्थक आचार्य महोदय रस शास्त्र की व्यापकता-सिद्ध करने के लिये किसी आधुनिक कविता मे इन अवयवो को ढूँढ निकालते हैं—यह बात और है—किन्तु लिखने वाला लिखते समय इनकी उपस्थिति के प्रति सावधान नही रहता। यह अतर दृष्टिकोण का है और बहुत बड़ा अन्तर है। इसने रस-साहित्य म क्राति उपस्थित करदी है।

रसमयी कविता पर सबसे बड़ा आघात बौद्धिक दृष्टिकोण ने किया। इस युग मे कविता विशुद्ध रसानुभूति एव आनन्द की अनुभूति के लिये बहुत कम लिखी

गई। जब किसी विचार की अभिव्यक्ति की जाती है तब रसानुभूति का कोई प्रश्न ही नही उठता है। अस्तु

— हा मानव !
देह तुम्हारे ही है, रे नव !
तन की चिन्ता म घुल निशदिन
देह मात्र रह गये—क्या तिन !
प्राणि प्रवर
हो गये निछावर
अचिर धूलि पर ! !
निद्रा, भय, मथुनाहार
— ये पशु लिप्साएँ चार—
हुई तुम्हे सवस्व सार ?
धिक मथुन आहार यन्त्र ¹

जसी विचार प्रधान कविताओं मे रस की सभावना भी नही हो सकती। सच्ची बात तो यह है कि यह युग ही रसानुभूति का नही था। क्रान्ति और रस तत्व—दोनो दो पृथक दृष्टिकोण हैं। कवियो पर आर्यसमाज का जो प्रभाव पडा था वह भी रस का सहयोगी नही था। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता न भी रस-परिपाक म बाधा उपस्थित की। उपदेश म भी रसात्मकता नहीं हो सकती। निमम साम्राज्य वाद के क्रूर-तम बूटों के नीचे भारतीयता की दुगति हो रही थी। आवश्यकता थी कुछ एसा करने की जिससे हम स्वतत्र हो सकते। सोये हुए देशवासिओ को जगाना था। समाज-सुधार, धम-सुधार आदि की आवश्यकता थी। सस्कृति का पुनरुत्थान चाहिये था। एसे में रीतिकाल की रस परम्परा निरथक थी। जिनकी कविताओ के विषय रीतिकालीन ही रहे उनकी बात और है जसे —

जा दिन सो निरखी छवि रावरी बावरी बीथिन म विहरयो कर।
पीर लिये हिय धीर किये मुसकानि प ननन नीर भरयो करै।
प्रान मोह न मोहन हेतु जियावति जीव उदास भरयो कर।
नेहवती सो सनेह सती लौ उजास कर तउ आपु जरयो कर ²।

द्विवेदी युग म रस की दृष्टि से दो कवियो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जिनम से प्रथम हैं मथिलीशरण गुप्त। खण्डकाव्यो और महाकाव्यो मे जहा उन्हे

---

१ 'पत चीटी शीषक कविता।
२ 'मथिलीशरण गुप्त 'साकेत।

अवसर मिल सका है उन्होंने रस निष्पत्ति का सफल प्रयत्न किया है। 'भारतभारती' साकेत', यशोधरा" आदि म ऐसे स्थल मिलते हैं जो काव्यशास्त्र की दृष्टि से रस-मग्न कर सकने का सामर्थ्य रखते हैं —

मैं निज अलिन्द मे खडी थी सखि एक रात
रिमझिम बूँदें पडती थी घटा छाई थी।
गमक रही थीं केतकी की गंध चारो ओर,
झिल्ली झनकार यही मेरे मन भाई थी।
करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपुरों से,
चचला थी चमकी, घनाली घहराई थी।
चौंक देखा मैंने चुप कोने मे खडे थे प्रिय,
माई मुख लज्जा उसी छाती मे छिपाई थी[1]

यहा रस के सभी अवयव हैं। आलबन (उर्मिला), उद्दीपन (ऋतु चित्र) अनुभाव (छाती म मुख छिपाना, आदि), सचारी (लाज, स्मृति) आदि से पुष्ट होकर शृङ्गार ध्वनित होता है। इस क्षेत्र मे दूसरा उल्लेखनीय नाम अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का है। खडी बोली मे रस-व्यजना की कुशलता उनमें आश्चर्यजनक रूप स मिलती है। रस निष्पत्ति की दृष्टि से साकेत की अपेक्षा 'प्रिय प्रवास' अधिक सफल है। रस कलश" वाला हृदय कही भी रस-शून्य हो भी तो कस !

पट हटा सुत क मुख कज की विकलता जब थीं अवलोकती
विवश सी जब थी फिर देखती सरसता मृदुता, सुकुमारता
तदुपरान्त नृपाधम नीति की अति भयकरता जब सोचती
निपतिता तब होकर भूमि मे करुण क्रदन वे करती रही[2]

जहा तक छायावादी कविता और रस-निष्पत्ति का प्रश्न है कुछ विचार करना आवश्यक हो जाता है। इस सबध म विशेष रूप से याद रखने वाली बात यह है कि छायावादी कवि अपने अन्तर की अनुभूतियो और छवियो का वर्णन करते समय रस-सिद्धान्त को बिल्कुल ही ध्यान म नहीं रख सकता था। उसका काव्याभ्यास भी रीतिकालीन पद्धति पर नही होता था। उसकी कविता म आश्रय, आलबन, उद्दीपन, अनुभाव, व्यभिचारी, आदि आ गये तो ठीक नहीं

१ रामप्रसाद त्रिपाठी 'नूतन ब्रजभाषा काव्य मजरी', पृ १३३।
२—'हरिऔध' 'प्रिय प्रवास'

आये तो वह अपनी रचना को असफल या अपूर्ण मानने के लिये तैयार नहीं। इसलिये छायावादी कविता में रस के सभी अवयव संयोगवश भले ही मिल जायें किंतु वे छायावादी रसानुभूति के लिये अनिवार्यत उल्लिखित तत्व नहीं। छायावाद को परम्परामूलक रसवादी दृष्टि से देखना ही उचित है।

छायावादी कविताओं में ऐसे स्थल बहुत अधिक हैं जो पाठक को रसमग्न कर देते हैं। इन कवियों के चमत्कार रसवादियों के अलंकारों की अपेक्षा भावों को कहीं अधिक सुन्दर और बोधगम्य बनाने के लिये हैं। प्रतीकों और अलंकारों के बिना रहस्यवादी अनुभूति सम्प्रेषणीय हो ही नहीं सकती। छायावादी कवि सूक्ष्म सौंदर्य एवं रहस्यानुभूतियों की व्यंजना करते थे। इसलिये इनकी रसानुभूति और रस-व्यंजना रीतिकालीन रसानुभूति और रस-व्यंजना से अनिवार्यत विभिन्न होती थी। अस्तु यदि रस की असंलक्ष्यक्रमध्वनि सभी मानते हैं जब विभाव अनुभाव आदि शब्दों से कह दिये जायं तो छायावादी कवियों में रस-परिपक्वता की स्थिति अत्यन्त नगण्य ठहरेगी। किन्तु यदि दृष्टिकोण को बदल कर थोड़ा-सा उदार बना लिया जाय और यह भी मान लिया जाय कि सुन्दर वस्तु की उपस्थिति मात्र या सुन्दर अलंकार मात्र भी मन को रसमय कर देते हैं तो छायावादी काव्य में रस लहराता हुआ मिलेगा। वह रस लौकिक भी होगा अलौकिक भी वर्णित भी होगा ध्वनित भी, लक्ष्य भी होगा असंलक्ष्य भी तथा परम्परा के ढंग पर भी होगा और परम्परा से मुक्त भी।

मनु निरखने लगे ज्यों-ज्यों यामिनी का रूप
वह अनन्त प्रगाढ़ छाया फैलती अपरूप
बरसता था मदिर कण-कण स्वच्छ सतत अनंत
मिलन का संगीत होने लगा था श्रीमंत
छूटती चिनगारियां उत्तेजना उद्भ्रान्त
धधकती ज्वाला मधुर था वक्ष विकल अशान्त
वातचक्र समान कुछ था बांधता आवेश
धैर्य का कुछ भी न मनु के हृदय में था शेष।

यह मनु के अंतर की उद्दीप्त शृंगार-भावना का वर्णन है जो रस ध्वनित करने में समर्थ है। इसी प्रकार—

तड़ित-सा सुमुखि! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार उर चीर

गूढ़ गर्जन कर जब गभीर
मुझे करता है अधिक अधीर
जुगुनुओं से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान ।[१]

उपयुक्त पंक्तियों में उद्दीपन प्राणों को अधीर करके विप्रलम्भ ध्वनित करता है। 'पुलक-पुलक उर, सिहर-सिहर तन आज नयन आते क्यों भर-भर' [२] में अनुभाव से भाव ध्वनित होता है।

शशि के दर्पण में देख-देख मैंने सुलझाये तिमिर-केश
गूँथे चुन तारक-पारिजात अवगुंठन कर किरणें अशेष
क्या आज रिझा पाया उसको मेरा अभिनव शृंगार नहीं। [३]

आध्यात्मिक शृंगार-सम्बन्धी उपयुक्त पंक्तियों में व्यंजना की चमक है। 'निराला' की "जुही की कली" का संयोग-शृंगार केवल यही कहने से निष्प्रभ नहीं हो सकता कि उसके आलंबन और आश्रय मानव-योनि के नहीं। हाँ शास्त्रीय दृष्टिकोण से देखने पर यह रस दोष का कारण है। शास्त्रीय दृष्टि से अपरिपक्व होते हुए भी यह रस अनेक परिष्कृत कवि एवं परिपक्व भावनाओं वाले सहृदयों को रस-सिक्त करता आ रहा है।

कल कैसी थी शरद चांदनी प्राणों में शशि भूल रहा था
मेरा मिलन लता-कुंजों के फूल-फूल में फूल रहा था
आज साँझ के पहले पल में रात सिमट आई है काली
ऐसे ही तो मेरे प्रिय हैं जो भरे हो सके न आली। [४]

उपयुक्त पंक्तियों में स्मृति के क्षण मूर्त हो उठे हैं और उन्हें देखकर अन्तर में जो भावना जगती है वह वियोग शृंगार की है। यह आध्यात्मिक अनुभूति है अर्थात् यह विशुद्ध वियोग-भावना-केवल वियोग-भावना-है। यह समस्त ऐन्द्रियता से परे होकर केवल अनुभूति मात्र हो गई है इससे किसी वियोगिनी के रोने-पीटने का भावचित्र तो नहीं उभरता और इसलिये उस दृश्य की कल्पना करके मन की जो अवस्था हो सकती है वह तो नहीं होगी किंतु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इससे

१-पन्त 'आँसू' से
२-महादेवी वर्मा "नीरजा"
३-महादेवी वर्मा 'यामा'
४-रामकुमार वर्मा 'आकाश गंगा'

वियोग– यथा ध्वनित होती है और हृदय उससे प्रभावित होकर तज्जन्य अनुभूति म निमग्न होता है।

गुण-रीति-वृत्ति

जस शरीर म अगो का सगठन होता है वस ही काव्य म शब्दो और अर्थों का सगठन होता है। जिस प्रकार शरीर के अगो को देख कर हम शरीर क गुणो (सुकुमारता, आदि) का पता पा लेते हैं वसे ही शब्दों की रचना विशिष्टता के द्वारा हम काव्य की विशेषता जान सकते हैं। अमुक भाव की व्यजना के लिये हम किस प्रकार के शब्दो का उपयोग करना चाहिये, इस विचार के द्वारा ही रीति का रूप विधान बनता है। ऐसा भी हो सकता है कि कोई एक शब्द किसी विशेष विषय या भाव की मर्यादा के अनुकूल न हो तो उसका प्रयोग वांछित प्रभाव न पडने दगा। ''मलक्ये आलम कौशल्या' म 'मलक्ये आलम'' विशेषण कौशल्या की मर्यादा और सस्कार के अनुरूप नही है—भले ही 'वृत्ति' की दृष्टि से इसका तक एक अक्षर ठीक है। इसके विपरीत, यदि एकाध अक्षर 'वृत्ति' की प्रकृति के प्रतिकूल भी हो किन्तु यदि पूरी कविता में 'वृत्ति का ध्यान रखा गया है तो काव्य की विशेषता की अनुभूति में कोई विशेष अन्तर नहीं पडेगा। 'माझी, साहस है? खे लोगे? जजरतरी भरी पथिकों स झड मे क्या खोलोगे?[1]' म 'झड' का झ और ड' वृत्ति का प्रकृति क प्रतिकूल है किन्तु चूकि पूरी कविता म इतना खटकने वाला शब्द यही एक है इसलिये कुछ ही वर्णों के पश्चात् इसका प्रतिकूल प्रभाव नष्ट हो जाता है। भावो के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग होना चाहिये। यह बात ध्यान म रखने पर मधुर भावो की अभिव्यक्ति के लिये मधुर वर्णों वाले शब्दो की आवश्यकता होती है और कठोर भावो की अभिव्यक्ति के लिये परुष वर्णों वाले शब्दो की। यही विचार रीति है। आचाय मम्मट इसी को वृत्ति कहते हैं। तात्पय यह है कि उपयुक्त शब्दो का चुनाव और उसकी योजना ही वृत्ति है। रस-व्यजना के लिय इसकी विशेष उपयोगिता है। वृत्तिया तीन हैं। उपनागरिका वृत्ति म, ट ठ ड ढ को छोड कर माधुर्य गुणव्यजक तथा सानुस्वार वर्णों की योजना होती है। वदर्भी रीति इसी को कहते हैं। शृगार हास्य तथा करुण मे इसका प्रयोग होता है —

--- --- --- घम से
फिर भी जहा हैं आप इच्छा रहते हुए

1—जय शकर प्रसाद स्कन्दगुप्त'।

भाग नहीं पानी! यदि पानी तो कभी यहाँ
बैठ रहती मैं! छान डालती धरित्री को,
सिंहनी-सी काननों में, योगिनी-सी शैलों में,
शफरी-सी जल में विहंगिनी-सी व्योम में
जाती तभी और उन्हें खोज कर लाती मैं!
मेरा सुधा-सिन्धु मेरे सामने ही आज तो
लहरा रहा है किन्तु पार पर मैं पड़ी
प्यासी मरती हूँ हाय! इतना अभाग्य भी
भव में किसी का हुआ?[1]

जिन वर्णों से ओज गुण की व्यंजना होती है उनमें निर्मित रचना परुष वृत्ति की होती है। इसमें ट, ठ ड ढ, द्वित्व तथा संयुक्त वर्ण अधिक होते हैं। यह वीर रौद्र और भयानक रसों की व्यंजना में अधिक सहायक होती है ऐसी रचना गौड़ी रीति की होती है —

आज का तीक्ष्ण-शर-विधृत क्षिप्र-कर-वेग प्रखर
शतशेल सम्वरणशील, नील नभ गर्जित स्वर
राघव-लाघव रावण-वारण-गत युग्म प्रहर
उद्धत-लंकापति मर्दित-कपि दल-बल-विस्तर,
अनिमेष राम-विश्वजित् दिव्य शर भंग भाव—
विद्धांग-बद्ध-को दण्ड मुष्टि खर-रुधिर स्राव,
रावण प्रहार दुर्वार विकल-वानर-दल-बल—
मूर्च्छित सुग्रीवांगद-भीषण-गवाक्ष-गय-नल—
वारित-सौमित्रि भल्लपति-अगणित-मल्ल रोध
गर्जित प्रलयाब्धि-क्षुब्ध-हनुमत-केवल-प्रबोध
उद्गीरित-वह्नि भीम-पर्वत-कपि-चतु प्रहर —[2]

चीन ने जब स्वतंत्र भारत पर सन् १९६२ ई० में आक्रमण किया था तब रामकुमार वर्मा ने अमृतध्वनि छन्द में 'भारत की ललकार' शीर्षक जो उद्बोधनात्मक गीत लिखा था वह वीर रस, ओज गुण परुषावृत्ति एवं गौड़ी रीति की आश्चर्यजनक रूप से सफल रचना है —

अमृतध्वनि के घोष से गूँजा हिमालय शृंग,

---

१ मैथिलीशरण गुप्त "यशोधरा
२ 'निराला' "राम की शक्तिपूजा'

भारत ने सनिक बढ़े कुद्ध ध्वनित उमङ्ग ॥
कुद्ध ध्वनित उमङ्ग प्रसित, विलगण लक्षण,
युद्ध धरणि समृद्ध भरणि वृहद्ध ६२ प्रण।
पददलित अहम्मसित, खलच्चीनी हनि
जगमगरजि उतगगमनि ध्वनित अमृतध्वनि ।१

चीनी चकित दखकर भारत ऐक्य अखड । उन्मीलित हरनेत्र त्रय भगगरव प्रचड । भगगरव प्रचडडमरु निनादध्वनिख क्रुद्धद्धरिहरि, युद्धद्धरि घन मडित ताडव । नवधकन्ना रिपु रक्तवकन भरि घुम्मत वक्ति । मुडड्डरि करि, खडडडरि वित चीनी चकित ॥

बहुरि जग्गा अग सा, भग्गा बग्गा खिन्न ।
पचशील को लीलकर जगगगति कर भिन्न ॥
जगग्गति कर भिन्नर नर पशु मिथ्यक कथयति ।
मडडडति रण, दाडड ति खल दड ड डति गति ॥
पद्म प्रबल बल प्रतिक्षण सक्ष प्रण लग्गा ।
युद्धधूधरिकर कुद्धधर नर बहुरि जग्गा ॥ ३ ॥
विक्रम की तलवार फिर उठ सीमा पर्यन्त ।
धावक्कक्कित चीनचित चितितत्तित सत्त्व अ त ।
चितितत्तित सत्त्व अ ततत्तम धडु क्कठवकपित
धावधुत हो अ सक्खुलि भ्रम्मा भककित ॥
चककित हो रक्तक्कणमय पवक्कित क्रम ।
पु जजजित गुरु गु जिज्जित हो भारत विक्रम[1] ॥ ४ ॥

कोमला वृत्ति वहा होती है जहा वे वर्णन हो जो ओज और माधुर्य गुण के व्य जक होते हैं । शब्द एसे सरल और सुबोध होते हैं कि सुनते ही तात्पर्य का बोध हो जाता है । यह पाचाली रीति कहलाती है । इसम शृ गार, शान्त और अद्भुत रस की व्यजना बड ही प्रभावपूर्ण ढङ्ग से होती है । अनूप शर्मा का प्रेम-पान-सम्बन्धी रस का निम्नलिखित कवित्त इस वृत्ति का सुन्दर उदाहरण है —

दान सम्मान अनगात झुक जात हुए मस्त लोचना का सोह लाके पी गया हूँ मैं ।
हाला क भी हाला उड जायेंग न थोडी पी है सारा खुम का खुम उठा क पी गया हूँ मैं ।
दग कम-तु तमा कि कु चित सरोलिया को आई जो लहर सहरा के पी गया हूँ मैं ।

---

१ डा० रामकुमार वर्मा की विशेष कृपा के कारण प्राप्त उनकी हस्तलिखित प्रति स उद्धृत कविता ।

तेरे ही वियोग म विदग्ध अति आतुर हो अब अकुला व घबरा के पी गया हूँ मैं[1]

बच्चन" का निम्नलिखित पद भी इस दृष्टि से द्रष्टव्य है —

सुदर और असुदर जग मे मैंने क्या न सराहा
इतनी ममतामय दुनियाँ मे मैं केवल अनचाहा
देखूँ अब किसकी रुकती है आ मुझ पर अभिलाषा
तुम रस लो मेरा मान अमर हो जाये
तुम गा दो मेरा गान अमर हो जाये।[2]

अलकार—

द्विवेदी युग मे खडी बोली की शुद्धता एव व्याकरण,मम्मतता पर अधिक जोर दिया गया था। साथ ही रीतिकालीन आलकारिकता की प्रतिक्रिया भी इस युग मे थी। फिर भी, चूकि द्विवेदी जी क मतानुसार जो बात असाधारण और निराले ढङ्ग से शब्दो द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुनने वाले पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पडे उसी का नाम कविता है[3] इसलिये इस असाधारण' और निराले ढङ्ग से बात कहने के प्रयत्न म द्विवेदी युग के कवियो म भी अलकार प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से आ ही गये। ये अलकार कभी शब्दालकार होते थे और कभी अर्थालकार। मैथिलीशरण गुप्त और 'हरिऔध, आदि के काव्य इसके प्रमाण हैं। आचाय रामचन्द्र शुक्ल भी अलकार क विरोधी नही थे। उनका विचार था 'अलकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप मे हो चाहे वाक्य वक्रता के रूप म चाहे वर्ण विन्यास क रूप म, लाये जाते हैं वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष-साधन के लिय ही।[4] जय शकर 'प्रसाद' न भी अलकारो का महत्व भाव सौन्दर्य की वृद्धि म स्वीकार किया है।[5] सुमित्रानन्दन पत न भी उनको भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार[6] माना है छायावाद का प्रत्येक कवि अलकारो का सम्बन्ध सौन्दय-बोध से ही मानता था। बहुत पहले केशव ने लिखा था —

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन, सरस, सुवृत्त
भूषण बिनु न बिराजई कविता, बनिता, मित्त[7]

लगभग ३२६ वर्षों के बाद सुमित्रानन्दन पन्त ने लिखा —

तुम वहन कर सको जन-जन म मेरे विचार
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलकार[8]

---

१ 'रसवती', 'अनूप शर्मा विशेषाक, पृ० ८१–८२
२ "सतरगिनी"
३ महावीर प्रसाद द्विवेदी 'रसज्ञ रजन"। ४ रामचन्द्र शुक्ल 'चिन्तामणि", भाग१
५ "प्रसाद' 'काव्य और कला तथा अन्य निबध'। ६ पन्त "पल्लव", "प्रवेश'
७ केशवदास 'कवि प्रिया' ८ पन्त "ग्राम्या"

स्पष्ट है कि दोनों दृष्टिकोणों में असाधारण अन्तर है। इसका कारण यही है कि रुचियां बदल गई हैं। बहुत दिन नहीं हुए—और देहातों में तो अधिकांशतः आज भी—छागल, बिछुए, महावर, कड़े-छड़े पायल झांझन, पैंजनी, करधनी अंगूठी, सोने की चूड़ियां रंगीन शीशे की वैचित्र्यपूर्ण चूड़ियां लाख की लाल सुनहरी नक्काशीदार चूड़ियां, छन्नी, पछेला, सोने के बड़े टड्डियां बाजूबन्द हार कण्ठा गुलूबन्द हंसुली नथ नथुनी नाक की कील, झुमके कर्ण-फूल या झुमका झुमके, गाली कान के फूल, टीका आदि मांग मोर और भारी भारी वजन के आभूषण नारी की अभिलाषा और शृङ्गार माने जाते थे। रेशम के पाट गोटे गोखरू और पांच पांच हजार रुपयों के लहंगे ओढ़नियां, गोटा मढ़नी मिस्सी, आदि सौभाग्यवती की शोभा थे। पुरुष तक अलङ्कृत होते थे। अब यह सब बदल गया। १६५० ई० में यदि कोई बात छोड़ दी जाय तो हाथ में एक एक दो दो चूड़ियां कान में टाप्स या इयररिंग, माथे पर एक बिन्दी, हाथ में एक अंगूठी, सफेद या शालीनता व्यञ्जक रंग की साड़ी, पैर में चप्पल यह सामान्य वेश भूषा है। शादी ब्याह के अवसरों पर दो चार गहनों की और वृद्धि हो जाती है तथा रङ्ग में कुछ और अधिक तेजी बढ़ जाती है। बस! अब वाणी में गरिमा है व्यक्तित्व में शान का गाम्भीर्य है वेश भूषा में सादगी की महिमा है और निरलङ्कारिता की सुभव्यता है। प्रभाव व्यक्तित्व का पड़ता है, आकर्षण रूप का होता है। अङ्गज और स्वभावज अलंकार तथा हाव भाव-हेला एवं व्यञ्जनाएं तथा भंगिमाएं मोहती हैं। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के साहित्य में सजावट की यही स्थिति रही है। वह इसलिये महत्वपूर्ण नहीं कि रीति पुष्ट है रीति की दृष्टि से बिल्कुल निर्दोष है एक एक कविता में पाव पाव भाव छन्द के सहारे भर दिये गये हैं पूरे पद में एक ही का अनुप्रास भरा है, और उपमाओं और रूपकों की झड़ी लगी है। आधुनिक कविता इसलिये महत्वपूर्ण है कि उसमें सुन्दर भावों की व्यञ्जना है वह कुछ अच्छे विचारों की अभिव्यक्ति करती है तथा वह मन और आत्मा को सत्य, शिव और सुन्दर की ओर ले जाने वाले तत्वों से स्वतः भव्य और महिमामयी हो गयी है। उसने अलंकारों से दुश्मनी नहीं साधी है किन्तु उनको अपने सर पर इतना लाद भी नहीं लिया है कि पद बोझिल होकर सीधे पड़ने न पायें और आनन की स्वाभाविक शोभा घटाटोप में तिरोहित हो जाय। आज के कवि ने अलंकारों को उनके वास्तविक स्थान और महत्व पर समासीन कर दिया है। इस युग का कोई भी कवि ऐसा नहीं है जिसकी कविता में अलंकार न मिलें। छायावाद ने पुराने अलंकारों के अतिरिक्त विशेषण विपर्यय ध्वन्यर्थ व्यञ्जन मानवीकरण आदि अंग्रेजी अलंकारों को भी अपनाया है। इनके प्रयोग बाहुल्य ने भी कविता का बाह्य रूप बदला है। 'कामायनी' में शब्दालंकारों की अपेक्षा गुण भाव सादृश्यमूलक अलंकारों की

प्रधानता है। उपमा और रूपक आधुनिक काव्य में इस तरह पाये जाते हैं, जैसे आधुनिक समाज में दफ्तर के साफ-सुथरे लोग। महादेवी वर्मा में रूपक और समासोक्ति की प्रधानता है। इस अलंकार में "समान कार्य, समान लिंग, एवं समान विशेषण, आदि के द्वारा किसी प्रस्तुत वर्णन से अप्रस्तुत का ज्ञान होता है"।[१] महादेवी की एक समासोक्ति देखिए —

जन्म से मृदु कंज-उर में नित्य पाकर प्यार-लालन
अनिल से चल पंख पर फिर उड़ गया जब गंध-उन्मन
बन गया तब सर अपरिचित
हो गई कलिका बिरानी
निठुर वह मेरी कहानी[२]

यह सभी जानते हैं कि ब्याह हो जाने पर भारतीय बाला का सम्बन्ध उसके मायके से छूट जाता है किंतु समासोक्ति ने इसी भाव को और अधिक मार्मिक बना दिया है। 'प्रसाद' की रूपक-माला देखिए —

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा, निश्वास मलय के झोंके
मुख चन्द्र चाँदनी जल से मैं उठता था मुँह धो के[३]

इसी प्रकार "निराला" की एक मालोपमा देखिए —

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीपशिखा-सी शान्त भाव में लीन
वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति रेखा-सी
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन[४]

उदाहरणों की अधिक आवश्यकता नहीं। छायावादी कविता में उपर्युक्त दृष्टि-कोण से अलंकारों का प्रयोग किया गया है और बहुत अधिक किया गया है।

छन्द—

प्राचीन की आधार शिला पर नवीन का निर्माण, परम्परा से प्राप्त तत्वों की नवीन संयोजना में नवीन की सर्जना, बहुत-कुछ पुरानी सम्पत्ति और थोड़ी-बहुत नवीन उद्भावना से मनोरम-विलक्षण-अभिनव की सृष्टि यदि बीसवीं शताब्दी के

१—नवल जी 'नालन्दा विशाल शब्द सागर'।
२—महादेवी वर्मा 'यामा'
३—प्रसाद "आँसू"
४—निराला 'परिमल'

पूर्वार्द्ध के भारत की एकमात्र सांस्कृतिक आकांक्षा, ऐतिहासिक प्रवृत्ति एवं प्रभाव शाली प्रेरणा रही है तो यह अत्यंत सजग और सफल रूप से आधुनिक हिंदी साहित्य के छन्द-क्षेत्र में क्रियाशील दिखलाई पड़ती है। नव-निर्माण की प्रक्रिया इस क्षेत्र में इस विलक्षण रूप से गतिशील हुई कि लोग चमत्कृत होकर छन्द और छन्द शास्त्र को भूलने से लगे। छन्दशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता तिरस्कृत होने लगी। सफलता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि अभिव्यंजना के सफल प्रभाव ने अभिव्यंजना के उपकरणों के महत्त्व को विस्मृत-सा कर दिया। वस्तुतः स्थिति यह थी कि विचारक और कलाकार दोनों उपकरणों की उपयुक्तता के विषय में असाधारण रूप से सतर्क रहे और युगानुकूल परिवर्तन प्रेरित एवं सक्रिय करते रहे।

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इस युग में छंद-संबंधी धारणाओं और मान्यताओं में परिवर्तन हो गया। भावों के परिवर्तन के साथ-साथ छंदों में परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। काव्य के उद्देश्य और विषय के बदलने के साथ-साथ छंदों का बदल जाना आवश्यक इसलिये हो जाता है कि वस्तुतः छंद विशेष की भावाभिव्यंजन-सम्बन्धी शक्ति एवं सामर्थ्य की सीमा निश्चित होती है। एक छंद या कुछेक छन्द सभी प्रकार के भावों, अनुभूतियों एवं भाव-चित्रों की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। बलात् यदि हम ऐसा करना भी चाहें तो अभिव्यक्ति के सौन्दर्य और प्रभाव में हानि हो जायगी। उदाहरणार्थ —

नृत्य करो, नृत्य करो
शिशिर-समीर
मत्त, अधीर
प्रलय कर नृत्य करो
मृत्यु से न व्यर्थ डरो
जीर्ण-शीर्ण विश्व-पर्ण
हैं विकीर्ण हैं विवर्ण
काल-भीत रक्त-पीत
अभयंकर नृत्य करो
प्रगति-क्षिप्र चरण धरो।[१]

इस पद की छोटी-छोटी पंक्तियाँ मानों नृत्य के चरण हैं, छोटे-छोटे शब्द मानो लघु-लघु ताल हैं और 'ण' की ध्वनि की पुनरावृत्ति मानों नूपुर की रणन

१ पन्त की एक कविता ('ज्योति-विहग' से शान्तिप्रिय द्विवेदी से उद्धृत)

है। कुछ छोटे एव कुछ बडे पदो को नृत्य की गति एव चक्कर कहा जा सकता है। विभिन्न वर्ण और छन्द भाव-भगिमा-जसे लगत हैं। निश्चित है कि यह व्यजना कवित्त या सवय से नही हो सकती। इन छन्दो की गति एव उसका प्रवाह नृत्य का गति एव प्रवाह जसा नही। भावो का निर्झर-प्रवाह दोहो और चौपाइयो मे कस अभिव्यजित हो सकता है? नई भाव-छवियां नये छद की माग करन लगी। कवि के सम्मुख एक नया काम आ गया।

नये युग न छन्द की परिभाषा ही बदल दी। पहले यह माना जाता था कि "जिस पद-रचना में मात्रा या वर्ण यति-गति क नियमो का अनुसरण होता है और अन्त मे अन्त्यानुप्रास होता है वह छद है।"[१] नये युग के क्रांति-कारी विचारक महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का विश्वास है कि छद कविता क लिय आवश्यक तत्व नहीं है, बिना छद के कविता हो सकती है।[२] यह नया दृष्टिकोण था। इसन छन्दो की परम्परागत रूढिवादी मान्यताओ की कारा को तोडन का साहस किया, प्रेरणा दी। यह इसलिये आवश्यक था क्योकि उस परिभाषा ने कवि और कविता को पराधीन बनाकर उसकी आत्मा के सौन्दर्य को नष्ट कर दिया था। कारा तोडन का अथ स्थान-परित्याग ही नही हुआ करता। कारागृह क ही स्थान पर प्रेक्षा गृह बनाया जा सकता है। इसलिये आगे चल कर द्विवेदी जी न कविता मे छद रहे तो अच्छा है क्योकि "छद की लय भाव के उपयुक्त एक वायु मडल बना देती है।[३] कारा से मुक्ति और लय की पकड ही नये युग मे छदक्रान्ति की विचार भूमि बनी। द्विवेदी युग क सभी कवियो न परम्परा से प्राप्त छन्दो में अपनी कविताएं लिखीं। इतना अवश्य है कि उनमे स किसी ने दोहा-चौपाई-कवित्त-सवया की चहारदीवारी मे ही अपने को बद नही कर लिया। पुनरुत्थान का युग था जो प्राचीन सम्पत्ति का विरोधी नही, उसकी गुलामी का विरोधी था। इसीलिये इस युग में मथिलीशरण गुप्त हरिऔध, गोपालशरण सिंह शकर, आदि ने पिंगल का ध्यान बराबर रक्खा। आजादी की भावना आई तो छन्दो के वास्तविक महत्व पर विचार किया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है "छद के बधन क परित्याग म हम तो अनुभूत नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पडता है। हा नय छन्दो क विधान को हम अच्छा समझते हैं।[४] शुक्ल जी भावानुसार छदों के चयन और

१ जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' 'छन्द प्रभाकर'।

२ महावीर प्रसाद द्विवेदी 'रसज्ञ रजन'

३ वही वही

४ रामचन्द्र शुक्ल, "काव्य म रहस्यवाद"

प्रयोग को अच्छा मानते हैं। इसी प्रकार लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु' ने लिखा है, "लय और छन्द के सारे तारतम्य पर विचार कर यदि उनका प्रयोग किया जाय तो उससे काव्य की आयु और शक्ति बढ़ती है।"[1]

इसके पश्चात् छन्द के विषय मे क्रान्तिकारी रूप मे चिन्तन करने वाले और निष्कर्षों के अनुसार क्रान्तिकारी प्रयोग करने वाले कवियों का युग आता है। ये क्रान्तिद्रष्टा है 'प्रसाद', पन्त और निराला। 'प्रसाद' ने कविता का छन्द से आवश्यक सम्बन्ध स्वीकार किया है। जिस लय को कविता के लिये अत्यन्त आवश्यक माना गया है उसी का ध्यान न रखने हुए जसे 'प्रसाद' की देवसेना कहती है, विश्व के प्रत्येक कम्प मे एक तान है ... प्रत्येक परमाणु के मिलन मे एक सम है, प्रत्येक हरी पत्ती के हिलने मे एक लय है[2] तात्पर्य यह है कि विश्व-व्यापक राग के साथ व्यक्ति का राग सन्तुलन ही छन्द है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है, 'अर्थमयी भाषा और संगीत के मिलन से छन्द की सृष्टि होती है।'[3] अब यह माना जाने लगा कि प्राण, कान और कण्ठ के संस्कार छन्द के लिए आवश्यक हैं। अन्तर के संगीत को ये नवीन कवि अपने मानस मे किसी लय विशेष मे गुनगुनाते हैं। अन्तर के संगीत और लय का तादात्म्य ही छन्द की निर्माण भूमि है। दोनो की अनुरूपता ही छन्द को जननी बन जाती है। परम्परा का अनुगमन करने वालों का ढङ्ग यह था कि पहले पिंगल खोलो फिर भाव के अनुरूप छन्द खोजो, तत्पश्चात् गणों या मात्राओं का नियम जानकर उनके अनुसार रचना करो। छन्द तैयार है। पन्त ने सोचा कि अनुभूति की लय क्यों जाय। यदि भाव की माग हो तो एक पंक्ति बडी कर दी जाय और दूसरी छोटी। एक-दो मात्रा या एक-दो शब्द कम या अधिक कर देने से यदि भाव-भंगिमा अभिव्यंजित हो सकती हो तो कर दी जाय। छन्दशास्त्र इस विषय मे क्या कहता है इसे सोचने की कोई आवश्यकता नहीं। कारण यह है कि छन्द उसी का नाम है जो भाव वहन कर सके। यदि भावों को प्रभावशाली बनाना है तो उसके अनुरूप छन्द की संयोजना हम तभी कर सकेंगे जब हमे यह ज्ञात हो कि किस तरह के उच्चारण या कर्ण-कथन से क्या प्रभाव पडता है। प्रत्येक अक्षर, वर्ण, तथा शब्द का अपना अपना विशेष भाव चित्र या ध्वनि चित्र होता है। यह अनुभूति को व्यक्त अथवा प्रबुद्ध करने मे सहायक होता है। इसलिये जहा इस बात को ध्यान मे रखकर वर्ण-योजना या शब्द-योजना की जायगी वहा छन्द आप से आप बन जायगा

---

१ लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त'

२ प्रसाद स्कन्दगुप्त पृ० ४६।

३ हजारीप्रसाद द्विवेदी "साहित्य का मर्म"।

रचना चाहे गद्य में हो, चाहे पद्य में। तात्पर्य यह है कि अनुभूति को बाँधने के लिए छन्द की सृष्टि होती है। छन्दों के सोपान पर ही चरण रखकर अनुभूति अवतरित होती है "कविता, मूर्ति, चित्र, नृत्य, गान-सभी मज्जन के मूल आनन्द के छन्द को अपने अपने छन्दों में पकड़ना चाहते हैं।[1] यही कारण है कि छन्द की प्रधानता देना पद्य मात्र में उसकी विभुता को नष्ट कर देना है। उसके क्षेत्र को संकुचित कर देना है। यों छन्द का कविता से बड़ा ही घनिष्ट संबंध है 'कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है कविता हमारे प्राणों का संगीत है छन्द हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं हमारे साधारण वार्तालाप में भाषा-संगीत को जो यथेष्ठ क्षेत्र नहीं प्राप्त होता उसी की पूर्ति के लिये काव्य में छन्दों का प्रादुर्भाव है।[2] छन्दों के क्षेत्र के महानतम क्रान्तिकारी 'निराला' ने भी वृत्तों को अपनाया है 'मैंने पढ़ने और गाने-दोनों के मुक्त रूप निर्मित किये हैं पहला वर्ण वृत्त में है और दूसरा मात्रा वृत्त में।'[3] 'निराला' वृत्तों या छन्दों के शत्रु नहीं। हाँ इनको छन्दों की गुलामी से चिढ़ है और जब वे कहते हैं 'मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना'[4] तब उनके सामने छन्द का व्यापक सूक्ष्म या वास्तविक रूप नहीं छन्दों की मध्ययुगीन दासता का ही रूप था क्योंकि व मुक्त छन्द की विषम गति में भी एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य पाते हैं। वसे इन सभी कवियों को छन्दशास्त्र का पूरा ज्ञान था। पन्त ने लिखा है कि पीयूष वर्षण रूपमाला सखी, प्लवंगम और हरिगीतिका में करुण रस की अभिव्यंजना सफलतापूर्वक हो सकती है। वे उत्साह और वेग के लिए रोला और अरिल्ल वर्णन के लिए रूपमाला माधुर्य और नृत्य के लिए राधिका तथा बाल भाव और वात्सल्य के लिए चौपाई को उपयुक्त मानते हैं।[5] शास्त्रीय दृश्य इससे थोड़ी-सी भिन्न है। जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' मालिनी द्रुतविलम्बित मन्दाक्रान्ता, और पुष्पिताग्रा को करुण के उपयुक्त मानते हैं।[6] कुछ भी हो किन्तु इसमें यह तो स्पष्ट ही

---

१ नन्दलाल वसु 'सम्मेलन पत्रिका' का 'कला अंक'

२ पंत 'पल्लव' का प्रवेश

३ निराला 'प्रबन्ध प्रतिमा'

४ वही "परिमल"

५ "पल्लव" प्रवेश

६ "छन्द प्रभाकर"

है कि आधुनिक कवि भाव और छन्द की प्रकृति पर बड़ी गम्भीरता-पूर्वक विचार कर चुके हैं। पन्त लिखते हैं राधिका छन्द में ऐसा जान पड़ता है, जैसे इसकी क्रीडा प्रियता अपने ही पदों में गत बजा रही हो। जैसे परियों की टोली परस्पर हाथ पकड़, चंचल नूपुर नृत्य करती हुई, लहरों की तरह अंग भंगिमा में उठती झुकती कोमल कण्ठस्वरों में गा रही हो। इस छन्द में जितनी ही अधिक लघु मात्राएं रहेंगी इसके चरणों में उतनी ही मधुरता तथा नृत्य रहेगा'।[1] इस कथन से स्पष्ट है कि कवि ने छन्दों की सूक्ष्म से भी सूक्ष्म प्रकृति पर कितना गम्भीर चिन्तन मनन और विचार किया है। नियम और परम्परा पर इतना अधिकार कर लेने के बाद ही यह सामर्थ्य मिल पाती है कि कोई उनकी शृंखला से मुक्त होकर अपने लिये नया विधान निश्चित कर सके। 'लीक छोड़ तीनै चलै सायर सिंह सपूत' के पीछे शक्ति और सामर्थ्य की महा भावना है। यही कारण है कि 'निराला' और पन्त ने छन्दों के क्षेत्र में इतनी स्वच्छन्दता ग्रहण की और फिर भी उनके प्रयोग प्रिय हुए। पन्त की इसी साधना के परिणाम स्वरूप—

खुल गये छन्द के बन्ध, प्रास के रजत पाश
अब गीत मुक्त औ' युगवाणी बहती अयास[2]

निष्कर्ष यह निकला कि छन्दों का विरोध इसलिये किया गया कि (अ) उनके कारण रचना में अनावश्यक कृत्रिमता आ जाती थी (आ) शब्द का तोड़ना मरोड़ना पड़ता था, (इ) नया युग मुक्ति की माग कर रहा था, (ई) कविता का लक्ष्य बदल गया था, (उ) वर्ण या मात्रा की जगह एकमात्र लय की ओर ध्यान जाने लगा था और (ऊ) रचना प्रक्रिया में सरलता की माग थी। फिर भी छन्दों को जिस रूप में स्वीकार किया गया वह इसलिये स्वीकार किया गया कि (अ) छन्द संबधी धारणाएँ और मान्यताएँ बदल गई थी (आ) छन्द की नवीन व्याख्या प्रस्तुत हो गई थी (इ) स्वाधीनता के साथ प्रयुक्त छन्द अभिव्यक्ति में एक असाधारण सौन्दर्य भर देते थे, (ई) इस सौन्दर्य में नाद और गति का समावेश होता था (उ) पद्य प्रियता मानव की सहजात प्रकृति है और (ऊ) छन्द के रूप में संक्षिप्ततम अभिव्यक्ति हो सकती है जो कला का प्राण है।

आधुनिक युग में छन्द संबधी तीन विशेष प्रयोग हुए हैं। पहला, पिंगल शास्त्र द्वारा अनुमोदित छन्दों में नवीनता भावनाओं की अभिव्यक्ति। रामचन्द्र शुक्ल ने कवित्त में प्रकृति चित्रण प्रस्तुत किया। गोपाल शरण सिंह मैथिली शरण गुप्त, "शंकर" 'पूर्ण' रूपनारायण पांडेय जगदम्बा प्रसाद "हितैषी", अनूप शर्मा तथा हरिऔध'

---

१ 'पल्लव' प्रवेश
२ पन्त युगवाणी

आदि के नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। 'दिनकर' ने कवित्त में युद्ध की समस्याओं की अभिव्यंजना की। खड़ी बोली की प्रकृति वर्ण वृत्तों के अनुकूल नहीं है। यही कारण है कि 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' के संस्कृत वृत्त अधिक न चल सके। ये प्रयोग भी सफल हुए और पुराने छन्द नये-जैसे लगने लगे।

प्रयोग का दूसरा रूप यह था कि मात्रिक छन्दों के अन्दर विभिन्न चरणों में विभिन्न मात्राएँ रखी गईं और चरणों की संख्या भी आवश्यकतानुसार घटा या बढ़ा दी गई। भावों की अभिव्यक्ति को ध्यान में रख कर पंक्तियाँ छोटी-बड़ी और मात्राएँ कम या अधिक की जाने लगीं। लय का ध्यान विशेष रूप से रखा जाने लगा। चरणों की संख्या अनिश्चित हो गई। भावों की लय या विचारों की इकाई का ध्यान में रख कर यति-गति की कल्पना की जाने लगी। अनुकान्त का प्रयोग स्वच्छन्दता के साथ होने लगा। पन्त की रचनाएँ प्रयोग की इस दूसरी अवस्था की विभिन्न प्रवृत्तियों की सफल उदाहरण हैं।

तीसरा प्रयोग मुक्त छन्द का हुआ। 'निराला' इस क्षेत्र के लिए ब्रह्मा विष्णु और शंकर की तरह रहे। उन्होंने लिखा, "नियम कोई नहीं। केवल प्रवाह कवित्त छन्द का-सा जान पड़ता है—मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है।"[1] पंत ने लिखा—"यह छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान पतन, आवर्तन विवर्तन के अनुरूप संकुचित-प्रसारित होता, सरल-तरल, ह्रस्व-दीर्घ, गति बदलता रहता है।"[2] कवित्त छन्द की लय और मुक्त छन्द का पारस्परिक-संबंध स्पष्ट करते हुए पुत्तूलाल शुक्ल ने लिखा है कि मुक्त छन्द की लय प्रायः कवित्त की होती है और भाव की आवश्यकतानुसार किसी-किसी चरण में वर्णों की संख्या कम या अधिक कर दी जाती है। कहीं-कहीं घनाक्षरी पर शुद्ध रूप से आधारित मुक्त छन्द हैं। इनमें से कोई अन्त्यानुप्रासयुक्त है और कोई अन्त्यानुप्रासमुक्त। कुछ मुक्त छन्द घनाक्षरी के आधार पर लिखे तो गये हैं परन्तु उनके अक्षर मात्रिक रूप धारण कर लेते हैं। इस सम्बन्ध में व्यापक विवेचन पुत्तूलाल शुक्ल की पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना' के पृष्ठ ४०३ से पृष्ठ ४७० के बीच देखा जा सकता है।

निष्कर्ष उपस्थित करते हुए उपर्युक्त विद्वान ने लिखा है 'हिन्दी साहित्य के लिये यह गर्व और गौरव का विषय है कि आधुनिक छन्द प्रयोग अत्यन्त सम्पन्न एवं विविधतापूर्ण है। इस युग में ही आकर हिन्दी ने अपने को सचमुच वैदिक साहित्य की उत्तराधिकारिणी सिद्ध किया गया है क्योंकि वैदिक युग के बाद और वर्तमान

---

१ निराला परिमल

२ पंत पल्लव 'प्रवेश'

युग के पहले कभी भी छन्दों का इतना विविध प्रयोग नहीं हुआ ... आधुनिक हिंदी युग के समान किसी भी पूर्व युग में या प्रांतीय भाषाओं में इतना विविध और विस्तृत मात्रिक प्रयोग नहीं हुआ है।"

अस्तु रस छंद वृत्ति, अलंकार, और भाषा के क्षेत्र में होने वाले क्रांतिकारी प्रयोगों के परिणामस्वरूप बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की हिंदी काव्य कला अपने को युगानुरूप परिवर्तित कर लिया और साहित्य के अनेक अङ्गों को प्रभावित किया। इस काव्य कला से कलित खड़ी बोली हिन्दी ने गद्य के क्षेत्र में गद्यकाव्य विधा को समृद्ध किया। रायकृष्ण दास (साधना आदि) वियोगी हरि ('अन्तर्नाद' 'भावना' आदि), चतुरसेन शास्त्री ('अन्तस्तल'), माखनलाल चतुर्वेदी ('साहित्य देवता'), रामकुमार वर्मा ('हिमहास'), दिनेशनन्दिनी ('शबनम') आदि इस क्षेत्र के समय कलाकार हैं। इस प्रकार का आलंकारिक गद्य चण्डी प्रसाद हृदयेश और 'प्रसाद' की रचनाओं में बहुत मिलता है। 'स्कन्दगुप्त' नाटक का मातृगुप्त प्रायः कविता में गद्य बोलता है। छन्द की लयात्मकता और मधुर गति से सम्पन्न गद्य भी हिन्दी में मिलता है। उपन्यासों और कहानियों में रसपूर्ण प्रकृति चित्रण रूप चित्रण मिलता है। प्रेमचन्द के उपन्यास 'गोदान' तक में होली के वातावरण का चित्रण रसमय हो गया है। उपमा रूपक आदि अलंकारों से अलंकृत गद्य इस युग में लिखा गया है। महादेवी वर्मा के रेखाचित्र और रघुवीर सिंह की स्मृतियां एसे गद्य के उदाहरण हैं। आवश्यकतानुसार हिन्दी गद्य ने ओज, माधुर्य और प्रसाद गुणों से अपने को संयुक्त करके शक्ति-संपन्न बना लिया है। स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी का राणा प्रताप पर लिखा गया निबंध ओजपूर्ण गद्य का सुन्दर उदाहरण है। इस युग साहित्य में काकु वक्रोक्ति अन्योक्ति ध्वनि और व्यञ्जना के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। इस उदाहरण स्वतन्त्र निबन्धों में भी मिलते हैं (माधव मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि के निबन्ध जिनके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत सन्दर्भ में उपस्थित किया जा सकता है) और नाटक, एकांकी तथा कथा-साहित्य के बीच-बीच में भी। रामचन्द्र शुक्ल ने रस, स्मृतियों की भूमि में उक्त गुणों के गद्य का प्रयोग ... की ओर प्रचुर संकेत किया। प्रसाद के गद्य में भी यह गुण है —

> स्कन्द—बन्धुवर्म ! तुम बातें ... जानते हो ... रक्षा होगी।
>
> बन्धुवर्मा—मेरा ... उस मालव के लिए मैं ... गया था और ... का सिर ऊँचा रहे उसी गुप्तकुल के ... अपराध का ... किया है।

---

१ 'प्रसाद' स्कन्दगुप्त नाटक पृ० ७८

इस प्रकार काव्यकला सम्बन्धी क्रान्तिकारी धारणाओं और उनके सफल प्रयोगों ने न केवल काव्य साहित्य को ही समृद्ध किया है अपितु समस्त हिन्दी साहित्य को सौन्दर्य, लालित्य, रमणीयता एवं कलात्मकता प्रदान की है।

संगीत–कला

संक्षिप्त इतिहास—

महत्व की दृष्टि से ललित कलाओं में काव्य के बाद संगीतकला का ही स्थान माना गया है क्योंकि काव्य कला के पश्चात् संगीत कला ही सबसे अधिक अमूर्त या सूक्ष्म रूप वाली है और इसलिये अपने अस्तित्व के लिये मूर्त एवं भौतिक वस्तुओं पर अन्य कलाओं की अपेक्षा कम आधारित है जिसके कारण, इसमें स्थायित्व और व्यापकता औरों की अपेक्षा अधिक है। भारतवर्ष में संगीत की परम्परा बहुत ही पुरानी और अत्यन्त गौरवमयी रही है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसके आदि की खोज एक ऐसी समस्या है जिसका हल कर सकना सम्भव नहीं प्रतीत होता। ऐसा माना जाता है कि संगीत कला के आविष्कार शंकर महादेव हैं।[1] इन्हीं शंकर जी को राग रागिनियों का भी पिता माना जाता है। वीणा-वादन के अद्वितीय आचार्य महामुनि नारद ने मनुष्य जाति को संगीत की शिक्षा दी। आचार्य भरत ने संगीत कला पहले-पहल अप्सराओं को सिखाई थी। प्राचीन भारत की गंधर्व जाति का प्रत्येक व्यक्ति संगीत कला में निपुण होता था। किन्नर जाति के लोग वादन कला में और अप्सराएँ नृत्य-कला में निष्णात् होती थीं। इस प्रकार भारतीय संगीत कला का इतिहास प्राक् वैदिक युग से प्रारंभ होता है। सामवेद का आधार ही संगीत है उपनिषदों और पुराणों तथा रामायण और महाभारत के अध्ययन से भी उनके कालों की संगीत प्रियता पर प्रकाश पड़ता है। संगीतप्रिय भारत ने अपने आराध्य देवों को भी संगीत का अनुरागी एवं संगीतज्ञ बना रखा है हमारे शंकर भगवान के हाथ में यदि त्रिशूल है तो दूसरे में डमरू भी है। शंकर का ताण्डव सृष्टि का प्रथम नृत्य है। लास्य का संबंध जगमाता पार्वती से है। भगवती सरस्वती का तो पर्यायवाची ही वीणापाणि है। हमारे भगवान कृष्ण के हाथ की शोभा मुरली ही तो है। उनकी मुरली से यदि सृष्टि का कण-कण सर्वाणित रणित हो उठता था तो उनके अन्दर नृत्य की इतनी कुशलता भी थी कि वे कालिय नाग के फण पर नृत्य करके उसे अपने वश में कर लें। इन्द्र के दरबार में संगीत-नृत्य, आदि का वातावरण सबको अनुरंजित-मोहित करता रहता था। आचार्य भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' के २८ वें २९ वें और ३० वें

1 इंडियन इनहेरिटेंस' भाग २, पृ ३।

अध्यायो मे संगीत की समुचित चर्चा की है। राजाओं मे उदयन का वीणावादन विलक्षण रूप से पशु पक्षी मानव एवं देवी देवताओ तक को मुग्ध कर सकने का सामर्थ्य रखता था। दिग्विजयी सम्राट समुद्रगुप्त पराक्रमाँक वीणा-वादन में इतने कुशल थे कि ये उसके बल से अपराधी को विमोहित करके उससे सत्य भाषण तक करवा सकते थे।[१] दत्तिल, मतंग और नारद के ग्रंथ हिन्दू युग की संगीत कला की उपलब्धियो पर प्रकाश डालते है। बारहवी शताब्दी तक हमारे यहा विभिन्न राग रागिनिया प्रचलित हो चुकी थी उस युग के सुप्रसिद्ध साहित्यकार जयदेव का "गीतगोविन्द" साहित्य संगीत का आश्चर्यजनक समन्वय उपस्थित करता है। इसमे लिखे गये पदो को निर्देशित राग रागिनियो मे गान का विधान स्वयं गीतकार ने ही किया है। तेरहवी शताब्दी मे शाङ्गदेव एव उनकी पुस्तक संगीत रत्नाकर का नाम आदर का विषय रहा है। चौदहवी शताब्दी मे उत्तर और दक्षिण भारत मे संगीत-कुशल कलाकार अपनी प्रतिभा से सबको चकित करते रहे। अमीर खुसरो का नाम संगीत कला से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। दक्षिण का गोपाल नायक भी अपनी कला मे असाधारण था। भक्तजनो के हाथो का भूषण है 'करताल'। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा तथा अष्टछाप के कवियो के पद संगीत का सहारा पाकर ही मनोवांछित प्रभाव डालने मे समर्थ हो सकते है। भक्त का संगीत असाधारण होता है क्योकि भक्ति स्वयं एक राग है। स्व० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर का कथन है कि मैंने अनेक भाषाओ के रागो की परीक्षा की पर मुझे रागो की सब आवश्यकताओ के अनुकूल केवल सूरदास के पद मिले।'[२] तुलसीदास की रचनाओं की संगीत-क्षमता का अनुमान इस घटना से भलीभाँति किया जा सकता है 'मैंने उनका पाठ एक बार सुना। प्रसंग था उत्तर काड आरभ। वैसे तो उन्होने इस प्रसंग का पहिला दोहा 'रहा एक दिन अवधि कर अति आरत पुर लोग जहँ तहँ सोचहि नारि नर कृश तनु राम वियोग' व्याख्यान के समय भिन्न भिन्न रागो पर आधा घण्टे तक गाया था।'[३] मानसिंह तोमर ने भयानक संघर्षों से भरे युग में भी अपनी गूजरी रानी मृगनयनी की सहायता से संगीत कला का विशेष समृद्ध किया। गूजरी टोडी, मंगल गूजरी आदि राग इसी युग मे आविष्कृत हुए। वर्तमान ध्रुपद शैली के जन्मदाता ये ही मानसिंह थे। वृन्दावन के प्रख्यात भक्त संगीताचार्य स्वामी हरिदास बैजू बावरा और अकबरी दरबार के अमर गायक तानसेन इसी

१ रामकुमार वर्मा के समुद्रगुप्त पराक्रमाँक संबंधी एकाकी नाटक के आधार पर।
२ 'कला-साहित्य-शास्त्र' पृ १५८।
३ वही पृ १६५।

युग की विभूतियाँ हैं। जहाँगीर के काल में पंडित सोमनाथ कृत 'राग विबोध' और दामोदर मिश्र द्वारा लिखी गई 'संगीत दर्पण' नामक पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके बाद संगीत-कला से मौलिकता प्रायः निकल गई। शाहजहाँ का युग कलाओं की मौलिकता का युग नहीं था और औरंगजेब तो इन्हें इतने गहरे गड़वा देने का इच्छुक था कि फिर ये उभर और उबर हो न सकें। तत्पश्चात् कोठों के अभाव और कामनाप्रधान उत्तेजनाओं की पूर्ति का युग आया। दरबारों में रंगील शाहों को रिझाने के लिये सारंगिया, सितार, तबले, आदि खूब गमके, कोकिल-कंठ खूब आलापे और नूपुरों की ध्वनियों ने खूब बखान किया किन्तु उनमें मौलिकता एवं नवीनता का कोई आकर्षण नहीं रह गया। संगीत ने दरबारी ठाठ स्वीकार कर लिया, वाद्य आश्रयदाताओं के मानस विलास की गत पर बजे, नृत्य धन और अधिकार के चरण में चक्कर खाने लगा। गति अधोमुखी हो गई। आकर्षण गाने में नहीं, गाने वाली में समा कर उभरा। संगीत एक पेशा हो गया, संगीत गायें अपना मूल-व्यक्तित्व छोड़ कर धनी के मालिक का हर तरह से मनोरंजन करने का पेशा करने लगीं। बावरे भक्तों का युग गया। अब समझदार भक्त जन मूर्तियों के सामने नाचने, गाने और बजाने के साथ-साथ मूर्तियों के पीछे भी नाचने और बजाने लगे। दरबार यहाँ भी था, मगर भगवान के नाम पर उनकी मूर्तियों का था। यहाँ भक्तराज, (भक्त और राज) की सम्मिलित परम्परा चली। सामान्य जन समूह सरल लय का सहारा लेकर भजन, प्रबन्ध, और लोकगीतों के जीवन रस में मस्त हो गया। सन्त जोगी भिखारी या एकतारा टुन टुनाने लगे। गंगापुत्रियों के करतालों की धुनि गृहस्थों के द्वार पर 'हरगंगा' लहराने लगी। जोगी बाबा एक तार रेत रेत कर भरथरी की गाथा गाने लगे। संगीत भीख मांगने का सहायक तत्व हो गया। शास्त्रीय संगीत "घराना" में बँध गया। कलाओं ने शास्त्रीयता का सामान्य ज्ञान उस्तादों से सीखना बिल्कुल बन्द नहीं किया। तभी तभी यूरोपीय संस्कृति की आंधी आ गई। जिसकी प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप भारत भर में सांस्कृतिक पुनरुद्धार की भावना फली। इस पुनरुद्धार के एक अंग के रूप में संगीत के भी पुनरुद्धार का प्रयत्न हुआ। रवीन्द्र नाथ टैगोर ने अपने गीतों के लिये एक नये ढंग का संगीत आविष्कृत किया जिसमें लय की ही प्रधानता है। इसे "रवीन्द्र संगीत" कहते हैं। १९१६ ई० में "अखिल भारतीय संगीत परिषद् की स्थापना हुई। बंगाल और महाराष्ट्र संगीत के पुनरुद्धार के विशेष क्षेत्र रहे। देश भर में अनेक संगीत विद्यालय खुले। इस पुनरुद्धार कार्य में विष्णु नारायण भातखंडे का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त विष्णु दिगम्बर पलुस्कर, नारायण राव व्यास, विनायक नारायण पटवर्धन, ओंकारनाथ ठाकुर अलाउद्दीन

खाँ, उस्ताद फयाज खाँ बड़े गुलाम अली, आदि ने मिल कर संगीत के सभी अंगों के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया है और शास्त्रीय संगीत को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया है। इसके परिणामस्वरूप सम्भ्रांत घरों के लड़कों लड़कियों के लिये म्युजिक मास्टर रक्खे जाने लगे। नये युग में फिल्म संगीत ने जनता की संगीत प्रियता या संगीत की अभिरुचि को एक विशिष्ट दिशा प्रदान की है। इसके पहले भजन गजल, दादरा लावनी ठुमरी, या ऐसे ही ढंग के लोक गीत जनता में प्रचलित थे। टाकीज के प्रचलन के साथ साथ संगीत भी सिनेमाघरों में सुन ई पड़ने लगा और कुछ ही दिनों के अन्दर सबके दिल दिमाग पर छा गया। भरत व्यास नरेन्द्र शर्मा नीरज आदि अनेक अच्छे कवि रजत मुद्राओं के आकर्षण मे खिंच कर रजत पट पर जा विराजे। इधर देश को संस्कृत कर स्वर आदि साधन के जो प्रयत्न हुए हैं फिर भी गाने उन्हीं के एक रूप हैं उस गान में स्वर से अधिक शब्द और लय का महत्व है। लय ग्राह्य होने के कारण ही वह विशेष लोकप्रिय हुआ।[१] वह इतना लोकप्रिय हुआ कि सिनेमा गीतों की धुनों पर भगवान के भजन और कीर्तन के पद भी रच डाले गये और दो दो तीन-तीन साल के बच्चों से लेकर प्रौढ़ा तक बड़े बालों से ले कर ग्रामोफोन रिकार्ड और रेडियो तक, नौकरी वालों से लेकर संगीत सम्मेलनों के कलाकारों तक महतरों और भंगियों से लेकर मिस स्कालरों और प्रोफेसरों तक बाबा से लेकर नाती तक, नादी से लेकर नातिन तक और शौचालयों या धर्मों से लेकर कार्यालयों तक ये परिव्याप्त हैं। भाषा और लय की सरलता का इस लोकप्रियता में बहुत बड़ा हाथ है। आर्केस्ट्राओं में भारतीय और यूरोपीय वाद्य-यन्त्रों का सम्मिलित स्वर रहता है। "जाज" और "राक एण्ड रोल" का अनुकरण किया जाता है। इस संगीत की आत्मा न भारतीय है न पाश्चात्य। पश्चिमी तर्ज लोकप्रिय भाव लोकधुनि, आदि इन गीतों के आधार हैं। यहाँ स्वर में आरोह अवरोह की अपेक्षा शब्द और लय तथा लय की प्रधानता है। आज के युग में भारतीय और पाश्चात्य संगीत तिल-तण्डुल की तरह हा मिल रहे हैं। नीर क्षीर जैसा समन्वय, जैसा कि अकबर के समय में भारतीय और फारसी संगीत पद्धतियों का हुआ था अभी नहीं हो पाया।

भारतीय संगीत की विशेषताएँ और विभिन्न तत्व—

हमारा आधुनिक संगीत रीतिकाल की परम्परा में है। रीतिकालीन संगीत वर्तमान संगीत पद्धति से कुछ भिन्न है। फिर भी भारतीय संगीत की कुछ धर्मी विशेषताएँ हैं जो विकास की इन सभी स्थितियों में बराबर पाई जाती रही हैं। भारत में संगीत का प्राण स्वर या नाद माना गया है शब्द नहीं। शब्द के लिये माया

१ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास प्रथम भाग, पृ ६६२।

विशेष की आवश्यकता पड़ती है स्वर इस बंधन से मुक्त है और इसलिए सार्वभौम है। यही कारण है कि भारतीय संगीत की अपील सार्वकालिक और सार्वभौम मानी गई है। भारतीय संगीतकार इसीलिए रागों को स्वरों से बांधता है इसका परिणाम यह हुआ है कि संगीत-कला का न आदि है न अंत। भारतीय मनीषा ने नाद का महत्व इतना अधिक कल्पित किया है कि नाद के आधीन सारे जगत को माना है (नादाधीन मत जगत)। सुन्दरतम नाद-विधान ही संगीत है। नाद वर्णों का अव्यक्त मूल रूप है। आत्मा से प्रेरित-अग्नि के द्वारा प्रेरित-प्राण ऊपर चढ़ कर नाभि में अति सूक्ष्म गल देश में पुष्ट शीर्ष में अपुष्ट तथा मुख में कृत्रिम नाद उत्पन्न करता है। नाद तीन प्रकार के हैं — प्राणिभव अप्राणिभव उभयसंभव। इनके उदाहरण क्रमशः मुख की ध्वनि वीणा की ध्वनि, और बांसुरी की ध्वनि है। नाद से ही स्वर गीत राग आदि संभव हुए हैं। नाद ब्रह्म रूप है सारा जगत नादात्मक है। नाद दो प्रकार का होता है आहत और अनाहत। हम लोग आहत नाद ही सुन पाते हैं। अनाहत नाद केवल योगियों के लिये है। नाद से ही 'संभव लय' भारतीय संगीत का मूलाधार है। देशी संगीत या लोक गीत को छोड़ कर शेष समस्त भारतीय संगीत मार्गशास्त्रीय है। मार्ग नाद के विधान को कहते हैं। इस विधान के अनुसार स्वर और उच्चारण की विशुद्धता पर विशेष बल दिया जाता है। स्वरों के विशेष प्रकार, क्रम तथा निश्चित योजना में बना हुआ गीत का ढांचा ही राग है। भरत के अनुसार मूल राग ६ है — भैरव, कौशिक हिंडोल मेघ दीपक सुराग। कुछ आचार्य कौशिक के स्थान पर श्री और सुराग के स्थान पर मालकोश को मानते हैं। प्रत्येक राग की पाच पाच या छ छ रागिनियां मानी गई हैं। इन राग-रागनियों के अनेक पुत्र और उसी हिसाब से पुत्र-वधुएं मानी गई हैं। दिन और रात आठ भागों में बंटे हुए हैं। प्रत्येक भाग में गाने के उपयुक्त राग रागिनियां नियत कर दी गई हैं। भारत में संगीत के सात अङ्ग माने गये हैं — राग स्वर ताल वाद्य, नृत्य भाव और अर्थ। स्वर सात माने गये हैं — षडज ऋषभ गांधार, मध्यम, पंचम धैवत और निषाद। प्रत्येक स्वर की ध्वनि किसी पशु या पक्षी की ध्वनि के समान कल्पित की गई है और इस प्रकार ये स्वर क्रमशः मयूर पपीहा बकरा सारस कोकिल अश्व और गज के स्वरों के समान मान लिये गये हैं भारतीय संगीत स्वर-भंगी पर विशेष बल देता है। वह भाव या विचार की अभिव्यक्ति मात्र से अनुशासित नहीं होता। सङ्कीर्तन तो भाव चित्र या भाव दशा या मनोस्थिति विशेष अभिव्यंजित करता है। उदाहरण के लिए यदि 'कन्हैया' का उच्चारण आरोह लाकर काफी जोर से (पंचम या उसमें भी आगे वाले स्वर के अनुसार) करें तो यह व्यंजित होगा कि 'कन्हैया' कहीं दूर है और भक्त मिलने को व्याकुल है अनुरोधपूर्ण स्वर के साथ धीरे से करें तो यह व्यंजित होगा कि "कन्हैया" कहीं निकट ही है। भारत के प्राचीन विचारकों

ने राग, स्वर, लय, ताल, सभी कुछ प्राय निश्चित कर दिये हैं। गमक (एक स्वर से दूसरे स्वर पर जाने का प्रकार) श्रुति (सप्तक के बाइस भागों में से एक), और मूर्च्छना (सातों स्वरों के आरोह अवरोह का क्रम) भारतीय संगीत में अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय संगीत में सात स्वरों का समूह 'ग्राम' कहलाता है। नृत्य और संगीत दोनों में उसकी क्रिया और काल का परिमाण, जिसकी सूचना किसी भी वस्तु पर हाथ मार मार कर दी जाती है 'ताल' है। 'मीड' वह कला है जिसके द्वारा गायन में एक स्वर से दूसरे स्वर पर जाते समय बीच का अंश इतनी सुन्दरता से साथ कहा जाता है। कि दोनों के मध्य का सम्बन्ध टूटने नहीं पाता और यह नहीं जान पड़ता कि गाने वाला एक स्वर से कूद कर दूसरे स्वर पर चला गया है। 'सम' उस जगह है जहां विभिन्न 'परनों' में घूम फिर कर राग विश्राम ग्रहण करता है और गायक का सिर स्पष्ट रूप से हिल उठता है। भिन्न भिन्न बोलों या खण्डों का अन्त "परन' कहलाता है। वह जिसमें अन्त की मात्रा खाली छूट जाती है 'खाली' कहलाता है। 'भरी' में मात्रा सम पर ही पूरी होती हैं। इसी प्रकार भारतीय सङ्गीत शास्त्र में असंख्य उल्लेखनीय बातें हैं परन्तु उन्हें लिखने के लिये यहां उपयुक्त अवसर नहीं है।

'संगीत दर्पण' में कहा गया है 'गीत वाद्य नर्तन च त्रयं संगीतमुच्यते'। 'संगीत रत्नाकार' ने भी लगभग इसी शब्दावली में कहा है, 'गीत वाद्य तथा नृत्य त्रय संगीतमुच्यते'। इस दृष्टि से देखने पर नृत्य कला भी इसी के अन्दर आती है। इन सब का एक दूसरे से इतना अधिक घनिष्ट सबन्ध है कि एक का निष्णात दूसरे का मर्म बहुत अच्छी तरह जान सकता है। आवश्यकता विशेष को छोड़ कर इन सबका शास्त्र या मूलभूत सिद्धान्त सामान्यत एक ही है। जैसे संगीत में 'मात्राएं' होती हैं वैसे ही नृत्य में भी दोनों में ताल विद्यमान हैं। अन्तर इतना है कि एक में उसके अनुसार कंठ सक्रिय होता है दूसरे में हाथ और तीसरे में पैर। एक से कंठ ध्वनि निकलती है, दूसरे से वाद्य-यन्त्र ध्वनि, और तीसरे से नूपुर ध्वनि। नृत्य में मुद्राओं का स्थान विशेषरूप से महत्वपूर्ण माना गया है। भारत में नृत्य धार्मिक अभिव्यक्ति के लिए अधिक मान्य हुए हैं। कमर आँख वक्ष या नितम्ब मटका कर उछलना-कूदना नाच भले ही हो नृत्य नहीं है। गायन की ही तरह नर्तन और वादन को भी शोचनीय दुर्दिन औरङ्गजेब के बाद के युगों में देखने पड़े और उन्नीसवीं या बीसवीं शताब्दियों के सांस्कृतिक पुनरुत्थान की पृष्ठभूमि में इनके भी दिन फिरे।

साहित्य और सङ्गीत

साहित्य और सङ्गीत का बड़ा सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे से कई प्रकार से

सम्बधित हैं। अनुभूति से प्रेरित भावो की अभिव्यक्ति एव सप्रेषणीयता दोनो का लक्ष्य है। साहित्य और सङ्गीत दोना कलाकार क अन्त करण के प्रतिबिम्ब हैं। यदि सङ्गीत से जङ्गली पशु तक प्रभावित होते देखे गय हैं तो अकबर के दरबार के कवि की वाणी राणा प्रताप म वह ओज भर सकती है कि उनको पुन आत्मसम्मान की उपलब्धि हो जाय। भारतीय युद्ध क्षेत्र मे शङ्खध्वनि, मारूबाजो का सङ्गीत और चारणो की कविताए सनिको को बराबर उत्तेजित करती रहती थी। नृत्य का सम्बन्ध भी भावाभिव्यक्ति स है। सङ्गीत साहित्य को नाद सौन्दर्य देता है और साहित्य सङ्गीत का अथगर्भित करके वाणी का रूप प्रदान करता है। साहित्य म नृत्य और सङ्गीत का शब्दचित्र भी मिलता है और उसका आन्तरिक रूप भी। भारतीय सङ्गीत के पिता शकर माने गये हैं और नवीन राग की सृष्टि के लिए बजू बावरा कहता है, 'भगवान शकर की दया से मैं करूँगा।'[1] इसी पुस्तक के ४२ वें प्रसङ्ग मे बजू बावरा के अदभुत गायन और उसके प्रभाव का शब्दचित्र उपस्थित किया गया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी गायन और वादन एव उनके प्रभाव के सुन्दर शब्दचित्र "बाण भट्ट की आत्मकथा" म प्रस्तुत किये हैं।[2] १६६४ ई० मे प्रकाशित अपने दूसरे उपन्यास 'चारुचन्द्र लेख' म नाटी के नृत्य और गायन के जितने सुन्दर शब्दचित्र मिलते हैं उतने सुन्दर अन्यत्र दुलभ हैं। "पन्त' की 'युगवाणी' म "नृत्य करो, नृत्य करो' 'क्षमा मे नीम', और 'ग्राम्या' म 'ग्रामयुवती' तथा धोबियो, चमारो और कहारों के नृत्य-सम्बन्धी कविताए सुन्दर और सजीव नृत्य चित्र उपस्थित करती हैं। रामकुमार वर्मा द्वारा व्यजित नृत्य चित्र देखिये —

"चन्द्र गिरता सूर्य उठता नृत्य मुद्राए करो की
विनय मैंने की कि सिखला दो मुझे ध्वनि अवसरा की
मुख विहसता किंकिणी म
दुख सिसकता नूपुरों म
दृष्टि म है सृष्टि गति म नियति है म वतरा की[3]

सङ्गीत और नृत्य की शब्दावली से सुअलङ्कृत आपका दूसरा पद इस प्रकार है —

"कविता के नूपुर तुम्हारे "पद' म सजे,
'ध्वनि" सुन—सुनके दिशाए धन्य हो गई

१ 'वृन्दावनलाल वर्मा "मृगनयनी', पृ० ३२७।
२ "बाण भट्ट का आत्मकथा पृ० १८७ और १८८
३ आकाश गगा', पृ० १८

'रागमयी 'ध्वनि' मठ में थी 'समन्वया'
काव्य-परिभाषा धन्य होके अन्य हो गई।
सांसों का 'प्रवाह'' था, हृदय मनु "ताल" था
प्रेम मूर्च्छा 'मूर्च्छना'' थी, "मींड' कष्ट-काल था,
वेदना के "तान"—"स्वर गूंजते अनन्त थे
मन के त्रिभंग रूप, नाचा मन्मास था।[1]

काव्यशास्त्र और सङ्गीतशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावलियों ने उपर्युक्त पदों को मोहक लालित्य प्रदान कर रखा है। 'यशोधरा' का निम्नलिखित पद सङ्गीत शास्त्र की शास्त्रीय शब्दावली का अर्थ ज्ञान बिना ठीक से नहीं समझा जा सकता और न उसके चमत्कार का अनुभव किया जा सकता है —

"मैंने उमङ्ग अर्थ यह रूपक रचा विशाल
किन्तु भरी खाली गई उलट गया यह ताल

"यशोधरा" का निम्नलिखित गीत भी ऐसा ही है—

रुदन का हँसना ही तो गान
गा गा कर रोती है मेरी हृत्तन्त्री की तान
मींड मसक है कसक हमारी, और गमक है हूक
चातक की हत-हृदय-हति जो सो कोइल की कूक
राग हैं सब मूर्च्छित आह्वान

जो "विहाग' का अर्थ और उसके गाये जाने का समय नहीं जानता वह निम्नलिखित पद का अर्थ और उसका सौन्दर्य कैसे समझ सकेगा—

तू अब भी सोई है आली आंखो मे भरे विहाग री ![2]

नाट्य-गीत तथा सङ्गीत

काव्य-साहित्य पर सङ्गीत का महत्वपूर्ण प्रभाव नाट्य गीतों की रचना के रूप में पड़ा है। बुद्धिवादी बनने वाले कुछ नाटककारों को छोड़ कर शेष सभी एकांकी नाटककार तक अपने नाटकों में गीतों का समावेश करते हैं। सामान्य गीत काव्य-कला इनमें भी मिलती है। इनमें सङ्गीतात्मकता होती है। कलाकार के मानस में जो सुन्दर छवि, जो भंगिमा अङ्कित है, वही इन गीतों में भी चित्रित या ध्वनित की जाती है। कवि के अन्तर का राग ही यहां भी मूर्त रूप पाता है। उसकी व्यक्ति गत अनुभूतियां ही यहां भी अभिव्यक्त होती हैं और रस सिक्त करने में समर्थ होती

१ आकाश गंगा, पृ० ६०।
२ प्रसाद' बीती विभावरी जाग री' का एक चरण

हैं। महादेवी वर्मा ने कहा है, "सगीत के पखो पर चलने वाले हृदयवाद की छाया मे गीत विविध रूपी-हो उठे। स्वानुभूत सुख-दु खा के भाव गीत, लौकिक मिलन-विरह आशा निराशा पर आश्रित जीवन गीत, सौन्दर्य को सजीवता देने वाले चित्र गीत सबकी उपस्थित" इन गीतों मे हाती है[1]। सगीत की लय, नारद, स्वर, आदि यहा मिलते हैं। "प्रसाद' के नाटको के गीत इसके सवश्रेष्ठ उदाहरण हैं। "प्रसाद" के 'चन्द्रगुप्त' नाटक के गीतो की सगीत-स्वरलिपि ■ गीताचार्य लक्ष्मणदास ने उप स्थित करके उनकी सगीतोपयुक्तता सिद्ध कर दी है। "तुम कनक किरण के अन्त राल म लुक छिप कर चलते हो क्या" वाले गीत की स्वरलिपि खम्माच तीन ताल में है। आधुनिक युग के कवियो के अनेक गीत सगीताचार्यों द्वारा आकाश-वाणी से प्रसारित किये जाते हैं। इनमे महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, 'प्रसाद', 'बच्चन' आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सगीत मार्तण्ड ओंकारनाथ ठाकुर ने ५ जुलाई, १६६१ ई० को १०॥बजे दिन मे महादेवी वर्मा के सुप्रसिद्ध गीत "मैं नीर भरी दुख की बदली" का एक पद प्रधान-गीत के टुकडे के रूप म १०-१५ मिनटो तक मगल गूजरी मे बिलबित ख्याल म गाया था। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी के अनेक गीत सगीत की दृष्टि से सूर-तुलसी की ही पद-परम्परा में हैं। युग के अनुकूल हो जाने वाला अन्तर अवश्य है।

छन्द चयन और सगीत—

छन्द और सगीत का भी सबध बहुत ही घनिष्ट है। बात यह है कि छन्दो में भी मात्रा की गणना होती है और सगीत मे भी। सगीत की लय, मात्रा और ताल का विधान छन्दो म भी पाया जाता है। मात्रिक छन्दो मे मात्राओ की गणना होती है और वर्णिक छदो में लघु गुरु की गणना। ये दोनो ही छन्दा को वह शक्ति या सामर्थ्य देते हैं जिससे उन्हें सगीतात्मक लय प्रवाह प्राप्त हो जाता है। मुक्त छन्द में भी सगीत की लय होती है। पन्त ने लिखा है कि जो स्थान "ताल" मे सम का है वही छन्द में तुक का।[1] इस दृष्टि से तुकान्त छन्द और अधिक सगीतात्मक हो जाते हैं। वस्तुत छन्दात्मक निबधना का आधार सगीतशास्त्र ही है। हिन्दी का मात्रिक क्रम इस प्रकार है कि वह सगीत के विभिन्न तालो और रागो मे बैठ जाता है। पुत्तूलाल शुक्ल ने लिखा है, "यहा पर यह स्पष्ट करना अभीष्ट है कि छन्द की और सगीत की ताल का सीधा सबध है छन्द शास्त्र और ताल का गणित माग एक सा ही है"[२]। अपने इस निष्कर्ष की पुष्टि के लिये उन्होंने राधिका छन्द

१ "पल्लव' का "प्रवेश'

२ आधुनिक हिंदीकाव्य मे छन्द-योजना" पृ ४६१

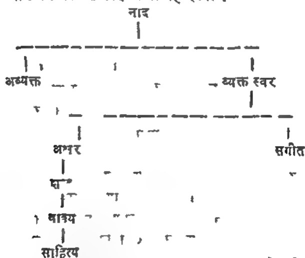
या भैरव ताल से चौपाई छन्द का गजभरा तान में गवय तानलिपि प्रस्तुत किया है।[1] "फल फूलों से हैं लदी डालियाँ मेरी"[2] राधिका छन्द में है और 'हम मारुत के मधुर झकोर'[3] चौपाई में। तात्पर्य यह है कि पहला भैरव ताल में गाया जा सकता है और दूसरा गजभरा में। इसी प्रकार मुसलमान गुप्त ने 'आँसुओं के देश में'[4] "सृष्टि के आरम्भ में मैंने उषा के गाल चूमे"[5], आदि अनेक आधुनिक कवियों के गीतों की संगीत की स्वरलिपि प्रस्तुत की है।

संगीत की आत्मा या आंतरिक संगीत—

संगीत जो निरन्तर काव्य का साहित्य के ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है उसे पूर्णतः हृदयंगम करने के पूर्व इसी स्थान पर हम संगीत की आत्मा की कुछ और गहराई में जाना पड़ेगा। सृष्टि के पूर्व की प्रकृति की साम्यावस्था जब पुरुष की इच्छा के कारण क्षुब्ध होती है तब उसमें एक गति उत्पन्न होती है। सृष्टि के मूल में यह गति बराबर रहती है। सृजन के क्षणों में इसकी अनुभूति की जा सकती है। प्रकृति के अणु अणु और परमाणु परमाणु में यह गति, यह स्पन्दन, यह लय अब भी वर्तमान है। यही नादि स्पन्दन है। यही जीवन ज्योति है। यही चेतना शक्ति है। यही इन सबका आदि स्थान है। यही अचेतन का स्फोट है। यही नाद है। यह आहत भी है और अनाहत भी। यही नाद या स्वर या लय जो बाह्य प्रकृति के अणु परमाणु में निहित है—व्यक्ति के अंतर में भी है। यह नाद अपने मूल स्वरूप में सृजना का स्रोत होने के कारण, अनिर्वचनीय आनन्द रूप है। अपनी सीमाओं एवं अक्षमताओं के कारण हम उसके अखंड आनन्द से प्रायः ही वंचित रहते हैं—उसे विस्मृत किये रहते हैं—किन्तु तन्मयी अवस्था में—अचेतन में सूक्ष्म या अव्यक्त रूप में उसका स्वाद मौजूद तो रहता ही है। यह व्यक्ति के अंतर की लय, बाह्य प्रकृति की लय से मौलिक रूप में भिन्न नहीं। लय के मूल रूप की अनुभूति कराने में दोनों एक दूसरे की सहायक हैं। समस्त कलाएँ इसी लय की इसी गति की, बाह्य और अंतर की इसी एकरूपता की अनुभूति कराने के लिये हैं। संगीत और काव्य के विभिन्न बाह्य उपकरण व्यक्त नाद व्यक्त लय, व्यक्त स्वर को अव्यक्त से संगति बिठाने के लिये हैं। समस्त बाह्य विधान इसी लय की अनुरूपता साधने के लिये हैं क्योंकि

1 आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना, पृ ५००।
2 मैथिली शरण गुप्त 'साकेत'
3 पन्त 'पल्लविनी'।
4 महादेवी वर्मा 'दीपशिखा'
5 बच्चन 'सोपान'।

वस्तुत व्यक्त नाद व्यक्त स्वर-व्यक्त ध्वनि उसी अव्यक्त की बाहरी झलक मात्र है। तात्पर्य यह कि अनुभूतियों के अन्तर की लय के—अनुरूप अनुभूति उत्पन्न कर सकने की—रूप निर्मित कर सकने की लय को सन्तुलनपूर्ण विस्तार में बंधी स्वरों की आरोह अवरोह सम्बन्धी कला का नाम ही संगीत है। अनुभूति या आंतरिक लय में अनुरूप अनुभूति उत्पन्न करने की शब्द-अर्थ में बंधी कला काव्यकला है। काव्य कला के विभिन्न उपकरण इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये हैं। साहित्य का माध्यम है अक्षर या वर्ण। अक्षरों की एक अपनी अपनी ध्वनि होती है। शब्दों का एक अपना अपना भावचित्र होता है। इन्हीं अक्षरों से निर्मित शब्दों से साहित्य की रचना होती है अक्षरों के अन्तर में स्वर निहित है। और इन्हीं स्वरों से संगीत बनता है। काव्य शब्दों और अर्थों का सहारा लेकर चलता है। संगीत स्वर का मुखापेक्षी तो है किन्तु शब्द और अर्थ की उसे कोई चिन्ता नहीं होती।



अब यदि अक्षरों की ध्वनि-योजना संगीत के स्वरों की ध्वनि-योजना के अनुरूप ही जाय तब यह माना जायगा कि इन अक्षरों से निर्मित शब्दों वाली पदावली संगीतमयी है। अस्तु, आंतरिक संगीत है व्यक्त स्वर-ध्वनि की अन्तर्ध्वनि से अनुरूपता संगीत के रूपतत्व बाहरी तत्व हुए। काव्य में संगीत की यही आत्मा मिलती है। काव्य में जब संगीतात्मकता आती है तो उसमें अक्षरों की ऐसी योजना होती है कि उनमें उत्पन्न ध्वनि-समष्टि वही अनुभूति पैदा करे जो संगीत की स्वर-योजना से उत्पन्न हो सकती है।

इस प्रकार काव्य के अन्दर ध्वनि और नाद के प्रयोग में संगीत की आत्मा मिलती है। काव्यशास्त्र की शब्दावली में इसे वृत्ति कहते हैं। इसमें ध्यान रखना

से ओज, माधुर्य अथवा प्रसाद गुण-व्यंजक रीति की सृष्टि होती है। गीतकाव्य में यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है। 'निराला' के 'बादल राग', "राम की शक्ति पूजा", "सन्ध्या सुन्दरी", "तुम और मैं", आदि कविताओं में इसका बराबर ध्यान रक्खा गया है जिसने उनके काव्य में संगीत का सूक्ष्म तत्व भर दिया है।

"झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर !
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !
झर झर झर निर्झर गिरि-सर में,
घर मरु तरु-मर्मर, सागर में
सरित तड़ित गति चकित पवन में[1]

इसी प्रकार 'निराला' के 'सखि बसन्त आया" गीत में बसन्त संगीत के रूप के कारण ध्वनित होता है। पन्त की शत-सहस्र कविताओं में अनुभूतियाँ वर्णों की ध्वनि-अनुरूपता से ही ध्वनित होती हैं—

'अहे ! वासुकि सहस्र फन !
लक्ष-अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर
शत शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर !

'प्रसाद" ने तो संगीत के इस सूक्ष्म स्वरूप की अनुभूति ही कर ली है। उनकी संगीत प्रिय देवसेना[2] मानो उसी अनुभूति की साक्षात् प्रतिमूर्ति है—

"रुद्र का शृंगीनाद भैरवी का ताण्डव नृत्य, और शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव संगीत की सृष्टि होती है। ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरंतर संगीत है[3] ... सर्वात्मा के स्वर में, आत्म समर्पण के प्रत्येक ताल में, अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्मृत हो जाना एक मनोहर संगीत है'[4]—। 'प्रसाद" जी के गीतों और कविताओं की ध्वनि-समष्टि अनुभूतियों की अनुरूपता लिए हुए होती है। सभी सफल कवियों में और साहित्य की सभी विधाओं में आंतरिक संगीत विद्यमान है।

वस्तुस्थिति के चित्रण में भी इस तत्व का बराबर ध्यान रक्खा गया है।

१ निराला' 'परिमल'।
२ स्कन्दगुप्त नाटक की एक पात्री।
३ वही, पृ० ४२
४ वही, पृ० ६६

वस्तु-चित्रण में भाव मनोदशाएँ, बाह्य परिस्थितियाँ, बाह्य हृदय एव भौतिक वस्तुएँ, आदि सभी आती हैं। "प्रसाद" ने शरीर और उसके गुण का एक ध्वनि चित्र यों दिया है —

अवयव की दृढ मास पेशियाँ ऊर्जस्वित था वीर्य अपार
स्फीत शिराएँ स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें सचार[1]

सबल व्यक्ति की बाहें कहीं-कहीं पत्थर-सी कड़ी होती हैं। उनमें कहीं कहीं कोमलता भी होती है। "अ", 'व', "म" 'व', "मां" की ध्वनियां कोमलता और "ट्ट", "ढ", आदि कठोरता की अभिव्यक्ति करती है। स्फीत" शब्द में पाई जाने वाली ध्वनि फूली-फूली, उभरी-उभरी नसों को व्यजित करती है। इसके विपरीत, "मुस्कान" शब्द का प्रयोग करके कोमल-मधुर-ममस्पर्शिनी छवि कोमल-मधुर वर्णों द्वारा इस प्रकार व्यजित की गई है —

और उस मुख पर वह मुस्कान !
रक्त-किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम[2]

सुन्दरी सती-साध्वी, तेज-प्रदीप्त किन्तु असहाय पत्नी का स्पर्श पाकर एक कायर क्लीव विलासी राजा किस प्रकार घबड़ा उठता है —

'ओह ! तुम्हारा यह घातक स्पर्श बहुत ही उत्तेजनापूर्ण है ! मैं,—नहीं ! तुम मेरी रानी ? नहीं, नहीं ! जाओ तुमको जाना पड़ेगा ! तुम उपहार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूँ। इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति हो ?[3]

उपर्युक्त उद्धरण में विलासी राजा की कामुकता, कायर की कायरता, नपुसक की नपुसकता, एव निर्वीर्यता, राजपद का दम्भ और दुर्बल हृदय तथा कमजोर इच्छा-शक्ति वाले की युक्तियुक्तता की प्रवचना आदि सभी व्यजित हैं। ध्यान रहे कि निर्वीर्य राजा के द्वारा कहे गये इतने शब्दों में तेज-ओज व्यजक ध्वनि वाला एक शब्द भी नहीं है। युद्ध के अनुरूप पदावली का सगीत देखिए —

हर एकलिंग हर एकलिंग, वाला हर हर अम्बर अनन्त,
हिल गया अचल, भर गया-तुरत हर-हर-निनाद से-दिग्दिगत
घनघोर घटा के बीच चमक, तड-तड नभ पर तडिता तड़की

१ "प्रसाद" 'कामायनी'
२ "ध्रुवस्वामिनी", पृ० २६।
३ "ध्रुवस्वामिनी", पृ० २६

झन क्षन असि की झनकार इधर कायर दल की छाती धड़की
गज गिरा, मरा पिलवान गिरा, हय कट कर गिरा, निशान गिरा
कोई लड़ता उत्तान गिरा, कोई लड़ कर बलवान गिरा[1]

वात्सल्य भाव से तरल-गद्‌गद् नारी की मनोस्थिति व्यक्ति करते समय शब्दावली कितनी मंजुल हो उठती है कि उसमें न कोई कर्णकटु वर्ण, न कठोर वर्ग न संधि न समास न आलंकारिकता, और फिर भी एक मनोरम संगीत !

स्त्री की कई स्थितियाँ है। वह बेटी है, बहन है, स्त्री है। परन्तु जो प्रेम उसमें मा बन कर उत्पन्न होता है उसकी उपमा इस नश्वर संसार में न मिलेगा। मुझे माता-पिता से प्रेम था पति पर श्रद्धा। उनको देखने के लिये मैं कभी-कभी अधीर हो उठती थी। परन्तु उस अधीरता की इस नई अधीरता के साथ कोई तुलना न थी जो अपने बच्चे का मुख चूमते समय, उसकी आखो पर हाथ फेरते समय, उसे हृदय से लगाते समय मेरे नारी हृदय मे उत्पन्न हो जाती थी।[2]

मानसिक अन्यवस्था के अनुभाव के चित्रण मे प्रयुक्त वर्ण-संगीत का रूप कुछ इस प्रकार का ही होता है —

' सीटी फिर बजी।

सत्य के हाथ-पैर कांपने लगे टांगें लड़खड़ा-सी गईं, उसे जान पड़ा मानो अभी संसार अंधेरा हो जायगा, पृथ्वी स्थानाच्युत हो जायगी। उसने सहारे के लिये हाथ आगे बढ़ाया। हाथ कुछ थाम नहीं सका। मुट्ठी भर उड़ती हुई हवा की अंगुलियों में से फिसल जाने देकर खाली हो रह गया तब सत्य ने समझ लिया कि यह गिरेगा, गिर कर ही रहेगा। उसने आंखें बन्द कर ली।"[3]

अस्तु हिन्दी साहित्य में केवल हम भाषा के आंतरिक संगीत, या वर्णों की ध्वनि-संगीत का चमत्कार पाते हैं। संगीत का अर्थ कंठ और वाद्य संगीत या राग रागिनियों तक ही सीमित रखना संगीत के स्थूल रूप तक ही रह जाना है। इस दृष्टि से न आधुनिक गीत ही लिखे गये हैं और न गद्य में उस के किसी प्रकार संभावना कल्पित हो की जा सकती है किन्तु यदि संगीत की आत्मा लय है और उसका व्यक्त रूप ध्वनि की सुन्दर योजना में प्रतिबिम्बित है तो वह आधुनिक साहित्य में चारों ओर गूंज रहा है।

१ श्यामनारायण पाडेय हल्दीघाटी'
२ गुलशन अंधेरी दुनिया कहानी।
३ 'अज्ञेय' 'पूर्णिमा की सांझ' कहानी।

चित्र-कला

संक्षिप्त इतिहास आदियुग

सभी कलाओं की मौलिक और शानदार परम्पराओं की भांति चित्र-कला की भी एक मौलिक और बड़ी शानदार परम्परा भारत में रही है क्योंकि जब चेतना ही कलामयी है तब उससे उद्भूत सभी क्रियाएं और उनसे प्रभावित जीवन के सभी पक्ष कलापूर्ण होंगे। कला के जन्म के विषय में असित कुमार-हालदार का कहना है, "कला का जन्म कब हुआ उत्तर में कह सकते हैं कि इतिहास काल के पूर्व गुफा-निवासी आदि मानव ने अपने एकान्त कन्दरा में प्रथम बार जब रेखा खींची उसी समय कला का जन्म हुआ। प्राचीन अथवा प्रस्तर युग के मानव की ही चित्रकारी क्रमशः प्रतिलेख संकेत प्रतीक आदि के रूप में विकसित हुई और धीरे-धीरे उसने चित्रलिपि का रूप ग्रहण कर लिया।"[१] उनके इस कथन की पुष्टि भारत में प्राप्त प्रागैतिहासिक युग के कन्दरा-चित्रों से हो जाती है। यह तथ्य की बात है, किन्तु भाव-जगत के सत्य की बात यह है कि भारतीय कल्पना चित्र-कला का आदि गुरु और पिता सृष्टिकर्ता ब्रह्मा को या स्वर्गलोक के असाधारण शिल्पी विश्वकर्मा को मानती है। बाणासुर के युग तक आते-आते यह कला इतनी परिपक्व, प्रौढ़ और उच्चकोटि की हो गई थी कि जब उसकी पुत्री उषा ने स्वप्न में देखे हुए तब तक के अपरिचित किन्तु स्वप्न-काल से ही अपने हृदय के प्रियतम का वर्णन अपनी सखी चित्रलेखा को सुनाया तब चित्रलेखा ने उस राजकुमार का जिसे तब तक उसने भी कभी नहीं देखा या सुना था ऐसा चित्र खींच दिया कि राजकुमारी को अपने स्वप्न लोक के प्रियतम के दर्शन हो गये। भारत में आदि युग या प्रागैतिहासिक युग की चित्रकला के नमूने निम्नलिखित स्थानों में पाये जाते हैं :—

सिंहनपुर (रायगढ़ रियासत)	मनुष्य, पशु अस्त्र तथा शिकार के चित्र
होशंगाबाद के पास	
लिखुनिया कोहबर तथा बलदरिया गांव (मिर्जापुर)	
विजयगढ़ की गुफाएं	
हड़प्पा-मोहिन जोदड़ो	
घटशिला तथा विन्ध्यपर्वत श्रेणी के भिन्न भिन्न भाग	

ये चित्र रामरज गेरू या हिरौंजी आदि से बनाये जाते थे। मोहिनजोदड़ो के एक चित्र के विषय में असित कुमार हालदार का कथन है, "वह आकार जो बारह सिंघे की पंक्ति अथवा अन्य भिन्न प्रकार के पुरुषों की ओर संकेत करते हैं यह दर्शाते

१ असितकुमार हालदार ललित कला की धारा, पृ० ११।

हैं कि उस सुदूर युग में भी ऐसे चतुर कलाकार विद्यमान थे जिन्हें रंग, रेखा तथा सुरुचिपूर्णता-संगीत का यथार्थ ज्ञान था। यह आकार रूपों में ऐसे सुनिश्चित हैं कि वे आधुनिक समय के कला-आलोचक की कठोर से कठोर परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकते हैं।"[1]

बौद्ध युग—

इसके पश्चात् बौद्ध चित्रकला का युग आता है। बौद्ध भिक्षुओं के साथ यह भारतीय चित्रकला जावा और लंका, तिब्बत, गांधार आदि देशों तक पहुँच गई थी। बौद्ध चित्रकला वस्तुतः भित्ति चित्रकला है। ये चित्र गुफाओं में बनाए गये थे। ये गुफाएँ बौद्ध श्रमणों के वर्षा निवास, उपासना, उपदेश सभा, आदि के लिये खुदवाई जाती थीं। इनमें से निम्नलिखित बहुत प्रसिद्ध हैं —

नाम	निकटवर्ती प्रदेश	निर्माण काल
अजन्ता	हैदराबाद (दक्षिण)	ई० पू० प्रथम शताब्दी से ९ वीं शताब्दी तक निर्मित
बाघ	ग्वालियर	८ वीं शताब्दी
सिगरिया	लंका	४७८–४९७ ई०
कोलाबा, दमोले, कन्हेरी	कोलाबा	१ से ११ वीं शताब्दी
सित्तन्नवासल	पदुकोटा	७ वीं शताब्दी
बादामी	बम्बई	६ वीं शताब्दी

सित्तनवासल के चित्र जैन कला से सम्बन्धित हैं। शेष का सम्बन्ध गौतम बुद्ध से है। इन चित्रों का सम्बन्ध राजदरबार, धर्म, सांसारिकता, स्त्री, पुरुष, पशु पक्षी, गंधर्व और अप्सरा आदि से है। इनमें से अजन्ता के चित्रों ने विशेषों में भारत का मस्तक ऊँचा किया है। संक्षेप में कहें तो उनकी विशेषताएँ हैं सयोजन अर्थात् समुचित महत्व, काल्पनिक दृश्य, रेखांकन, संतुलन, रसचित्र और विभिन्न मुद्राएँ। इन चित्रों की रेखाएँ अटूट, प्रवाहमयी शक्ति और सौन्दर्य से पूर्ण हैं। उनमें लचक है कोमलता है और भावगम्यता है। इनमें अलंकारपूर्ण डिजाइनों की भरमार है। इन चित्रों के अन्दर सौन्दर्य भावना पूर्णतः विकसित है। इन चित्रों के रूप में कलाकारों ने पृथ्वी पर स्वर्ग उतार दिया है। इन चित्रों में गोलाई घनत्व उभार आदि सब-कुछ है। सुन्दर से असुन्दर तक और कोमल से भयंकर तक प्रायः सभी-कुछ यहाँ है। इनमें मुद्राओं से विनय, याचना, आशा, निराशा, भय, आदि की

[1] 'भारतीय चित्रकला' पृ० ९–१०

अभिव्यजना हुई है। यह भारतीय चित्रकला का स्वर्णयुग था।

मध्ययुग और मुगल-राजपूत कला—

इसके पश्चात् मध्ययुग (८००—१६०० ई०) आता है। इन युगों मे एलोरा की गुफाओं के, बौद्ध और जन धर्मों की पुस्तको के, और कोचीन के भित्ति चित्र आते हैं। यहा की कला अजन्ता की कला से हीन है। रेखाएँ सजीवता, गति, और सामर्थ्य से रहित हैं। चित्रो म जडता है मुद्राएँ गति हीन और भाव शून्य हैं। उनम रुढिबद्धता हैं। ये शृंगार की दृष्टि से अच्छे हैं।

इसके पश्चात् मुगल-कला और राजपूत-कला का युग आता है। मुगल कला प्रधानत मुस्लिम कला है। अकबर के युग म यह जनमी और औरङ्गजेब के युग मे इसका पतन हो गया। यह कला दरबारी थी। इस्लाम म अन्य कलाओ के साथ साथ चित्रकला का भी निषेध है, किन्तु यह धर्मादेश पर मानवीय प्रकृति की स्वाभाविक माग की विजय है कि इस्लामी देशों म भी कला का उदय हुआ और वह वहा पर्याप्त रूप से विकसित भी हुई। कलाओ का कोई भी क्षेत्र ऐसा नही जिसमें मुसलमान कलाकारों का भी पर्याप्त योग-दान न हुआ हो। मुगल कला भारतीय और ईरानी चित्रकला के सुन्दरतम मिश्रण का परिणाम थी। फारस के शीराजी और बिहजाद के शिष्य मीर सैयद अली ने 'मीर हमजा' का जो चित्राकन किया वह मुगल-कला की प्रथम महत्त्वपूर्ण कृति है। 'आईने अकबरी' मे सम्राट अकबर की चित्रशाला का उल्लेख है। उसके दरबार मे हिन्दू और मुसलमान कलाकारो की कुल सख्या ४० थी। इस कला मे धार्मिक अध्यात्मिक एव अनुभूति प्रधान चित्रो का अभाव था। डिजाइन और पैटन की प्रधानता के आग मूल चित्र प्राय उपेक्षित रह जाते थे। दरबार, आखेट, युद्ध ऐतिहासिक घटनाएँ, वृक्ष, फल, फूल, पशु, पक्षी, पत्तिया आदि की प्रधानता थी। इस शैली म व्यक्ति के स्वाभाविक चित्रण असाधारण कुशलता के साथ हुए थे। चित्रण मे गति का अभाव है। मानव चित्र प्राय अनुपात की दृष्टि से बहुत अधिक छोटे होते थे। एक आख वाली आकृतिया अधिक बनाई जाती थी। छाया प्रकाश के भी सिद्धान्ता का पालन होता था। वाटर कलर (जल चित्रो) का भी प्रचलन था।

राजपूत कला तीन भागो मे विभाजित की गई है —

(१) राजस्थानी—जयपुर बूदी मारवाड, बुन्देलखड और काठियावाड

(२) पहाडी—जम्मू काश्मीर, कागडा, गढ़वाल

(३) सिख—पजाब

इन कलाओ की प्रेरणा धार्मिक होती थी। राग और ऋतु से सबध रखने वाले चित्र

विशेष महत्व के हैं। नीलाओ महात्माओ और महापुरुषो के भी चित्र मिलते हैं।

आधुनिक युग—

इसके पश्चात् भारतीय चित्रकला का आधुनिक युग आता है। १८ वी शताब्दी तक भारत की चित्रकला की भिन्न पद्धतियां प्रचलित रही। जब ह्रासोन्मुखी मुगल साम्राज्यवादी भारत का सम्पर्क नवीन तत्र नागरिक और स्फूर्ति से सम्पन्न यूरोप से हुआ तो जसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र म हुआ वस कला के क्षेत्र म भी हुआ। भारत के कलाकारो न यूरोप के तल चित्रो का अनुकरण प्रारम्भ कर दिया। पटना और अवध म इस 'वर्णसंकर शैली' के सूक्ष्म आकार वाले चित्र, जिनके विषय होते थे राजा नवाब उनके दरबारी और अनुचर आदि बनाये जाने लगे। इन चित्रों मे प्रकाश और छाया का प्रयोग किया जाता था। १८६८ ई० तक एक ओर यूरोप का अन्धानुकरण होता रहा और दूसरी ओर भारत की अपनी चित्र-परम्पराएं उपेक्षित होकर भी किसी न किसी रूप में जीवित रही। इस युग के आसपास-बल्कि बीसवी शताब्दी के प्रारंभ तक-स्थिति यही रही। यह पराधीनता का काला युग था। यूरोप के कलाकार और भारत के यूरोपीय अधिकारी भारत की (साहित्य, धर्म दर्शन, आदि की भांति) चित्रकला की उपेक्षा करते रहे और उसकी तीखी समालोचनाएं करते रहे। 'उस समय के यूरोपीय समालोचको ने जिनको भारतीय कला से थोडी भी सहानुभूति थी उसकी उन्नति का कारण सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् यूनानी प्रभाव बताया। उनका विचार था कि यूनानी प्रभाव के कारण ही भारत म कलाकारो को अन्त प्रेरणा मिली और इस देश म सिकन्दर के आने से पहले भारत मे किसी स्वतन्त्र कला परम्परा के अस्तित्व म उनका विश्वास नहीं था'।[२] तत्पश्चात् सांस्कृतिक पुनरुद्धार का युग आया। आधुनिक भारतीय चित्रकला वस्तुत सांस्कृतिक पुनर्जागरण की देन है। इन दिनो देश म ट्रावनकोर (त्रिवांकुर) के राजा रविवर्मा के चित्र असाधारण रूप से लोकप्रिय थे। लौकिक रुचि के अनुसार पौराणिक विषय जिनका संबंध धार्मिक चेतना से भी था तल चित्रों मे अंकित किये जाते थे। मुखाकृतियां अच्छी होती थी। आकृतियो पर कुछ महाराष्ट्रीय छाप होती थी। रंग योजना बहुत आकर्षक होती थी किन्तु उनकी कला म समुचित सामंजस्य का अभाव था। उस समय कलकत्ता के गवर्नमेंट स्कूल आफ आर्ट स में तथा ऐसे ही एकाध और विद्यालयो म विद्यार्थियो को तथाकथित शिक्षा

१ असित कुमार हालदार 'भारतीय चित्रकला', पृ० २४।

१ असित कुमार हालदार भारतीय चित्रकला' पृ० २४।

२ वही वही पृ २५

प्राप्त करते थे। उन्हीं दिनों कलकत्ता स्कूल आफ आर्ट्स के अध्यक्ष ई० वी० हैवेल और उनके सहयोगी अवनीन्द्र नाथ ठाकुर तथा आनन्दकुमार स्वामी ने राष्ट्रीय शैली की स्थापना की। पाश्चात्य चित्रकला के अंधभक्तों को यह अच्छा नहीं लगा जनता की रुचि इधर से हटाने के लिये प्रचार भी किया गया किन्तु आस्था से उद्भूत प्रबल शिथिल नहीं पड़े। अवनीन्द्र नाथ ठाकुर ने कलकत्ता के गवनमेंट स्कूल आफ आर्टस के कुछ छात्रों को लेकर अपना काम आगे बढ़ाया। १९०७ ई० में लार्ड किचनर की अध्यक्षता में 'इण्डियन सोसायटी आफ ओरियंटल आर्टस" की स्थापना गगनेन्द्रनाथ ठाकुर ने की। इस सोसायटी ने प्रति वर्ष प्रदर्शनियों की आयोजन कर-कर के विद्यालय के चित्रों को लोकप्रिय बनाया। इसी प्रकार लंदन में 'इंडिया सोसायटी' नामक संस्था स्थापित की गई। बंगाल के गवनर लार्ड जेटलैंड ने भी इस पुनरुद्धार कार्य में सहायता दी विदेशों में भी भारतीय चित्रों की प्रदर्शनियाँ की गईं। भारतीय कला पर अनेक लेख लिखे गये। पटना के एक खानदानी चित्रकार लाला ईश्वरी प्रसाद ने प्राचीन कला का मर्म समझाया। प्राचीन भित्ति चित्रों की प्रतिलिपियाँ तैयार कराके प्रदर्शित की गईं। इन प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप भारतीय चित्रकला का महत्व फिर से स्वीकार किया जाने लगा। उपर्युक्त महानुभावों के अतिरिक्त नन्दलाल वसु सुरेन्द्रनाथ गांगुली असित कुमार हालदार वेंकटप्पा, मुकुल चन्द्र, पर्सी ब्राउन, क्लाउट स्काट, जोकानर, थामटन, मुलर आदि के भी नाम उल्लेखनीय हैं इस प्रकार बंगाल शैली की स्थापना हुई बम्बई शैली में यूरोपीय और भारतीय कला के समन्वय का प्रयास है। सामयिक दृश्यों के अंकन में कनु रामकुमार आदि प्रसिद्ध हैं। अवनी सेन और कंवल कृष्ण दृश्यांकन में विशेष रूप से सफल हैं। मुगीर स्वास्तगीर में लय का स्वच्छन्द विचरण है। ७० वर्ष की आयु में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी तूलिका उठाई और एक नई शैली का आविष्कार किया। आज की चित्रकला पर अजंटा पश्चिम और कुछ राजनीतिक परिस्थितियों एवं नवीन चेतना का प्रभाव है।

आधुनिक चित्रकला

आधुनिक चित्रकला में मनोस्थितियों एवं मनोभावों का चित्रण होता है, रूप या घटना का नहीं। रंगों का मौलिक प्रभाव घोकर नष्ट कर दिया जाता है। यही टम्परा शैली है। घनवाद के अनुसार प्रकृति के रूप और अनुकरण से इन्कार किया जाता है। घनवादी चित्रकार वास्तविकता से बाहर की कुछ ऐसी चीज लाना चाहता है जो अब तक न लाई गई हो। रंग भाव उभारने के लिये होते हैं। सिद्धान्त यह है कि रंगों का मन पर प्रभाव पड़ता है। लाल रंग शक्ति और मन की तरङ्ग का, सुख

लाल तेजी और जोश का, पीला रंग ज्योति और ज्ञान का, हरा रंग शीतलता और स्फूर्ति का, नारंगी रंग जीवन तथा शक्ति के संचार का, और बैगनी रंग रहस्यमयता, आदि का भाव अपने प्रभाव डाल कर उत्पन्न करता है। हरे नील और बैगनी रङ्ग ठंडे और लाल नारंगी तथा पीले रंग गर्म माने गये हैं। रेखाओं का भी आधुनिक चित्रकला में बड़ा महत्व है। हल्की और अस्पष्ट रेखा दूरी गहरी और स्पष्ट रेखा निकटता गहरी रेखा शक्ति और दृढ़ता, अधिक गहरी आत्मविश्वास क्षीण रेखा सन्देह और दुर्बलता, पड़ी रेखाएँ सांसारिकता, ऊपर की ओर उठती हुई सीधी और खड़ी रेखा एकाग्रता आदि भाव पैदा करती हैं। तात्पर्य यह है कि विभिन्न प्रकार का रेखाओं और रंगों को देख कर सामान्यतः जो प्रभाव मन पर पड़ सकता है वह उपरिलिखित है। इनको ध्यान में रखकर भी चित्र बनाये जाते हैं। नवीन चित्र कला का धर्म से सम्बन्ध-विच्छेद-सा हो गया है। यहां सौन्दर्य की परख यथार्थवादी भूमिका पर की जाती है। अब चित्रकला का विषय, धर्म, पुराण, इतिहास या आभिजात्य वर्ग के व्यक्तियों और उनकी जीवन घटनाओं तक ही नहीं सीमित है। अब हर एक व्यक्ति या वस्तु चित्रकला का विषय है। आज चित्रकला व्यापक और उदात्त हो गई है। प्रजातन्त्र के युग का प्रभाव इस प्रवृत्ति पर स्पष्ट है। आज का कलाकार पूर्ण स्वच्छन्दता चाहता है। शृंखलाएँ माला या हार, सुन्दरता, स्पष्टता भाव, रूप रंग आदि सारी मान्यताओं को वह अब बड़ी आकुलता से छोड़ता जा रहा है। यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के युग का प्रभाव है। यूरोप की नवीनतम प्रवृत्तियों (घनवाद अति यथार्थवाद, भविष्यवाद आदि) का प्रयोग नवीनतम चित्रकला में होता है कलाकार का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी हो गया है। नवीनतम प्रणाली के चित्रों में चित्रित व्यक्ति या वस्तु का भाव या रूप नहीं देखा जाता देखा यह जाता है कि चित्र बनाते समय कलाकार की अपनी मनोस्थिति क्या थी। इस प्रकार आधुनिक चित्रकला में कला के माध्यम से विषय-वस्तु का नहीं, विषय-वस्तु के द्वारा कलाकार का अध्ययन किया जाता है। बीसवीं शताब्दी के भारत में प्राचीन साहित्य द्वारा वर्णित देवी-देवताओं के भी चित्र बने जो वस्तुतः प्रतीकों से भरे थे, जैसे, लक्ष्मी दुर्गा सरस्वती, आदि)। ऐसे चित्र भी बने जिनकी प्रवृत्ति वर्णनात्मक थी अर्थात् जिसमें एक-एक वस्तु चित्रित कर दी जाती है। आदर्शवादी चित्रों में कल्पना की अधिकता होती हैं एवं निश्चित रूप रंग, आकार रेखा भाव, आदि हों पाये जाते हैं। यथार्थवादी चित्रों में जो वस्तु जैसी होती है वैसी ही चित्रित कर दी जाती है मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित चित्रों में दीन दुखी दलित पीड़ित, मानव का चित्रण होता है। प्रभाववादी या इम्प्रेशनिस्ट चित्र प्रकृति की विशुद्धतम अनुकृति होते हैं। फोटोग्राफी की तरह ये चित्र एकमात्र अनुकरण हैं। इनमें प्रकाश और छाया

का वैज्ञानिक ढंग से प्रयोग होता है। घनवादी या क्यूबिज्म वाली प्रवृत्ति के अनुसार अंगों को सिलेंडर या बेलन के आकार का बनाया जाता है। इस बात का भी प्रयत्न किया जाता है कि वस्तु-विषय के आगे और पीछे का भाग एक साथ दिखाई पड़े। दूरी और निकटता का भाव भी लाने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार कोण पद्धति के भी चित्र बने और चित्रों में त्रि-परिणाम सम्बन्धित आकार (थ्री डाइमेंशनल) दिखाये जाने का प्रयत्न हुआ। सुररियलिज्म या अतियथार्थवाद के अनुसार आकृति अवचेतन-चित्त की कल्पनाओं पर आधारित होती है। स्वप्नचित्रों की पृष्ठभूमि में फ्रायड की स्वप्न-व्याख्याएँ हैं। ऐब्स्ट्रेक्ट आर्ट या सूक्ष्मकला तो एकमात्र जटिलताओं से ही भरी है। इसमें कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। डाडाइज्म ने रूढ़ियों का सभी तरह से बहिष्कार कर दिया। फाविज्म इसके बिल्कुल उल्टे हैं। इसने एक मात्र रूढ़ि को ही आधार बनाया है। यह वास्तविक चित्रण को कला मानता ही नहीं। महायुद्ध-जनित दुर्दशा ने तो कलाकारों के अहं और उनकी कलाचेतना को विशृंखल एवं लक्ष्यहीन कर दिया है। सहनशक्ति का अभाव है। संयम को तिलांजलि दे दी गई है। आस्था एवं विश्वास मुमूर्षु हैं। मौलिकता और साधना के अभाव में नवीनता अनुकरण की बैसाखी ले कर चल रही है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अभाव के कारण लक्ष्य अस्पष्ट हो गया है। कुछ को छोड़कर कोई भी इस स्थिति से सन्तुष्ट नहीं है। 'अब हम देखते हैं कि हमारे कुछ आधुनिक कलाकार आदि विक्टोरियन युग के कलाकारों के समान अब फिर भारत की पुरातन कला को ठुकराने लगे हैं और एक नई शैली के निर्माण का यश प्राप्त करने के चक्कर में उन्होंने जान बूझ कर वर्तमान यूरोप के सुररियलिस्ट और डाडा-शैली का अनुकरण करना प्रारम्भ कर दिया है।"[१] फिर भी चिन्ता की कोई बात नहीं। यह जल्दी ही समाप्त हो जाने वाली स्थिति है क्योंकि जिस देश की अपनी गौरवमय परम्पराएँ हैं वह कहीं भटक जाय यह संभव नहीं। हेर फेर कर वह फिर अपने सही रास्ते पर आ जाता है। जो लोग परम्पराओं में विश्वास रखते हैं वे इन पर विश्वास न रखने वालों के लिये, जो उस सीमा को लांघना चाहते हैं सदा ब्रेक का काम करते हैं।[२] उपर्युक्त प्रवृत्तियों में और हिन्दी का प्रयोगवादी एवं 'नई कविता' वाली प्रवृत्तियों में इतना साम्य है कि एक के लिये कही गई बात दूसरे के लिये लग सकती है क्योंकि दोनों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एक ही है।

---

१ असित कुमार हालदार - "भारतीय चित्रकला", पृ० ५२-५३।

२ वही 'ललित कला की धारा', पृ० ५६।

साहित्य और चित्रकला

चित्रकला और साहित्य का सम्बन्ध भी बहुत निकट का है। चित्रकला के माध्यम से साहित्य को और साहित्य के माध्यम से चित्रकला को समझने में बड़ी आसानी होती है। इन सहायताओं से वास्तविक उद्देश्य बड़ी सरलतापूर्वक पकड़ में आ जाता है। कारण यह है कि लक्ष्य एक ही होता है—द्रष्टा-सृष्टा के अन्तर में उठे हुए भावों को दर्शक, श्रोता या पाठक के भी मन में उठा देना। यह इसलिये होता है कि अनुभूति के भोग का आस्वाद अभिव्यंजना का उत्कृष्टतम अभिलाषी भी होता है और उसके बिना भोक्ता स्वयं वंचन रहता है। अपनी अनुभूति बाँट कर व्यक्ति, जन आत्मदान करके आत्मविस्तार का सन्तोष पाता है। अस्तु, चित्रकार चित्र खींच कर चित्र के रूप में अपने भाव और अनुभूति उभार कर जिस प्रकार, भाव-सम्प्रेषण की सफल आशा से प्रसन्न हो उठता है उसी प्रकार साहित्यकार अपने द्वारा रचित साहित्य से प्रसन्न होता है। समय एवं सुयोग्य दर्शक एवं श्रोता दोनों प्रकार की रचनाओं से एक समान प्रभावित होते हैं। इस प्रकार दोनों कलाओं का लक्ष्य, अभिप्राय, प्रेरणा-स्रोत परिणाम तथा उनसे प्राप्ति लगभग एक-सी होती है। इसका एक कारण यह भी है कि दोनों कलाओं के कलाकारों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एक ही होती है और इसलिए उनकी अभिरुचि तथा माग में कोई मौलिक अन्तर नहीं पड़ने पाता। उनकी सौन्दर्य-चेतना की कसौटी लगभग एक सी होती है। उदाहरणार्थ, "प्रसाद" पन्त—'निराला' तथा नन्दलाल—असितकुमार—सुधीर खास्तगीर, दोनों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एक है। दोनों के अन्दर नवीन युग की भारतीय चेतना है। परिणामतः दोनों की कलाकृतियों में मौलिक एकता पाई जा सकती है। अन्तर केवल यह होता है कि पहले—कलाकार अक्षरों में लिखेंगे और दूसरे—कलाकार रेखाओं से उभारेंगे। हृदय में दोनों के एक ही प्रकार की प्रकृति के मूल भाव उठेंगे। इस प्रकार दोनों कलाओं की अन्तरात्मा में कोई विशेष मौलिक अन्तर नहीं प्रतीत होता। साहित्य में जिसका वर्णन होता है चित्र में उसी की आकृति बनाई जाती है। एक सुन्दर चित्र और एक सुन्दर कविता—दोनों मन पर समान प्रभाव डालती है। अन्तर केवल प्रक्रिया में है। एक सोचता है कि कौन—कौन से शब्द लायें कि हम जो चाहते हैं वह अभिव्यक्त हो जाय, और दूसरा सोचता है कि किस—किस प्रकार से रेखाएं घुमाई जायें कि हम जैसा चाहते हैं वैसी आकृति खिंच जाय और उससे अभिप्रेत व्यंजित हो जाए। कविता बोलती है और कथन के द्वारा स्वरूप कल्पित या निर्मित किया जाता है चित्र स्वरूप उपस्थित करता है और रेखाओं की गतिविधि के अध्ययन से कथन कल्पित या अनुमानित किया जाता है। कहा भी जाता है कि 'ऐसी सुन्दर शब्द-योजना थी कि आँखों के सामने तस्वीर नाच उठी' या 'ऐसी सुन्दर तस्वीर थी कि

)

लगता था कि अभी कुछ कह उठेगी।' बात यह है कि रेखाओं के घुमाव-फिराव में अभिव्यक्ति की क्षमता होती है और शब्दों में रेखाओं की प्रवृत्ति तथा शक्ति रहती है। प्रत्येक शब्द अपनी ध्वनि-विचित्रता के द्वारा एक प्रकार का अनोखा चित्र बनाता रहता है। शब्दों की इसी प्रकृति के द्वारा शब्दचित्र और रेखाचित्र खींचे जाते हैं। पंत ने लिखा है, "कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों, जिनका भाव-सङ्गीत विद्युद्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके।"[1] 'प्रसाद' ने भी कहा है, "कवित्व वर्णमय चित्र है।"[2] इस प्रकार चित्रकला और साहित्य परस्पर सम्बन्धित है। साहित्यिक पुस्तकों में चित्र रहते हैं और शब्द अपनी समस्त शक्तियों के बावजूद भी जो पूरी तरह स्पष्ट नहीं कर पाते, अनुभूति का विषय नहीं बना पाते, वह उन चित्रों से हो जाता है। आँखों से देख लेने का जो आनन्द होता है वह पढ़ने मात्र से नहीं मिल सकता। श्रवण दर्शन का स्थान कभी भी नहीं ले सकता।

आधुनिक हिन्दी साहित्य और चित्र

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में राजा रविवर्मा के चित्रों की धूम सारे भारतवर्ष में थी। १६०६ ई० में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने "कविता-कलाप" नामक काव्य-संग्रह प्रकाशित कराया था। इसमें स्वयं उनकी तथा "पूर्ण", "शङ्कर", मैथिलीशरण गुप्त, आदि छः कवियों की बड़ी-बड़ी कविताएँ थीं। ये कविताएँ राजा रविवर्मा के चित्रों की कथावस्तु पर ही आधारित थीं। "गङ्गावतरण" नामक चित्र में, जो 'रत्नाकर' की "गङ्गावतरण" कविता पुस्तक के बीच में है, एक ओर त्रिशूल है, दूसरी ओर नन्दी, बाघम्बर धारण किये हुए, कमर पर दोनों हाथ रखे, दोनों पैर धरती पर दृढ़तापूर्वक जमाए, वदन ऊपर उठाये, जटा-जूट पूरी तरह चारों ओर फैलाये, अभय भाव से ऊपर देखते हुए शङ्कर-महादेव खड़े हैं तथा ऊपर आकाश से गङ्गा उतर रही है। इस चित्र के अनुरूप "रत्नाकर" की कविता इस प्रकार है—

> सिव सुजान यह जानि तानि भौंहनि मन माखे
> बाढ़ी अग-उमग-भग पर उर अभिलाखे।
> भय सँभारि सनद्ध भग के रंग रगाये,
> अति दृढ़ दीरघ शृंग दखि तापर चलि आये
> बाघम्बर को कलित कच्छ कटि तट सौं नांध्यो,

१ पन्त 'पल्लव', 'प्रवेश'

२ 'स्कन्दगुप्त' पृ० २०

सेसनाग को नागबंध तापर कसि बाध्यो,
व्याल–माल सो भाल–बाल–चदहि दृढ कीहो
जटा–जाल को झाल–व्यूह गहवरि करि लीहो
मुण्डमाल जग्योपवीत कटि–तट अटकाए
गाडि सूल, शृ गी डमरू तापर लटकाए
बर बाहनि करि फेरि चापि चटकाइ आगुरिनि,
वच्छस्थल उमगाइ ग्रीव उचकाइ चापभिनि।
तमकि ताकि भुजदड चड फरकत चित्त चोपे
महि दबाइ दुहु पाइ कछुक अतर सौं रोप
जुगल कन्ध बल–सन्ध हुमकि हुमसाइ उचाए
दाउ भुजदड उदड तोलि ताने तमकाए
कर जमाइ करिहाइ नन नभ ओर लगाए
गङ्गागम की बाट लगे जोहन हर ठाए।[1]

उपयु क्त कविता निश्चित रूप से उक्त चित्र का सजीव चित्र उपस्थित करती है। भाव–व्यजना के साथ अनुभावो का चित्रण मूल चित्र की कमी को पूरा करने म समथ है। उनकी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'उद्धव शतक" म भी तीन–चार चित्र हैं। यद्यपि य चित्र बहुत उच्चकोटि के और कलात्मक तो नही हैं, फिर भी सम्बधित कवितो का भाव इनसे कुछ–कुछ नेत्रों के सम्मुख मूत्त रूप म आ ही जाता है। मुख पृष्ठ का चित्र काफी अच्छा है और निम्नलिखित भाव को मूत्त रूप प्रदान करता है —

धारत धरा प न उदार अति आदर सौं, सारत बँहालिनि जो आसु अधिकाई है
एक बार राजे नवनीत जसुदा को दियो, एक कर बशी बर राधिका पठाई है[2]

इसक विपरीत रामकुमार वर्मा की "आकाश गङ्गा" क १२ चित्र अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक और उच्चकोटि के हैं। उनम भावाभिव्यजन का विपुल सामर्थ्य है। इसका कारण यह है कि कवि–चित्रकार जगदीश गुप्त कवि रामकुमार वर्मा के भावो का मम ग्रहण करके इन चित्रों का निर्माण किया है।

कलाकारों की कल्पना देश, काल और अभिव्यक्ति के माध्यमो की सीमाओं को पार कर जाती है और यही कारण है कि दो विभिन्न युगो और देशो के कलाकारों में भी भाव–साम्य की प्रतीति होने लगती है। पन्तजी समालोचना एव को

१ 'रत्नाकर' "गङ्गावतरण
२ "रत्नाकर "उद्धव शतक'

दूसरे के अनुकरणस्वरूप सिद्ध करने लगती है। यह बात वास्तविकता के विपरीत है। अस्तु, रोदा की प्रतिमाओं और 'निराला" जी के कुछ गीतों में इसी प्रकार का भाव-साम्य मिलता है। इस सम्बन्ध में कहा गया है, "विराट अपार्थिव को रूपमय पार्थिवता द्वारा अभिव्यक्त करने में उसने वही दिशा अपनाई थी जो 'निराला" जी की चिन्ताधारा में है। इसीलिये उनके शिल्प और 'निराला" जी के गीतों में आश्चर्य-जनक समता पाई जाती है।'[1] इसी अंक में "बादल-राग", "जुही की कली", स्मृति चुम्बन", "राम की शक्तिपूजा', "वृत्ति ,-"शेफाली', 'तुम जायगे चले', "सन्तप्त", "तोड़ती पत्थर', आदि कविताओं के कुछ अंश और उनसे भाव-साम्य प्रमाणित करने वाले बारह चित्रों का अध्ययन उपस्थित किया गया है।-

इस दिशा में सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रयत्न श्रीमती महादेवी वर्मा का रहा है। हिन्दी को महादेवी जी के रूप में एक ऐसा व्यक्तित्व मिला है जिस में कवि और चित्रकार दोनों ही का समावेश है। अपने चित्रों के सम्बन्ध में महादेवी जी का कथन है, 'इसी से मेरा चित्र गीत को एक मूर्त पीठिका मात्र दे सकता है, उसकी सम्पूर्णता बांध लेने की क्षमता नहीं रखता।'[2] ऐसा कदाचित् इसलिये है कि महादेवी जी का कवि-रूप ही अपेक्षाकृत अधिक सफल है। उनके चित्र उनके काव्य की भावभूमि को व्यक्त करने में निश्चित रूप से सफल हैं। कोई-कोई चित्र कविता की किसी एक पंक्ति के भाव के ही आधार पर बना लिये गये-से लगते हैं। "दीपशिखा' में चित्रों के ऊपर के झीने कागज पर छापी गई पंक्तियों का उन चित्रों से विशेष सम्बन्ध है।

साहित्य में चित्रात्मकता प्रकृति-चित्रण

चित्रकला जब साहित्य के रूप के अन्दर प्रवेश करती है तब वह चित्रात्मकता का रूप धारण कर लेती है। यह ठीक वैसे काव्य या साहित्य के अन्दर आकर संगीत संगीतात्मकता का रूप धारण कर लेता है। यह चित्रात्मकता उस समय विशेष रूप से सक्रिय एवं मुखर हो उठती है जब साहित्यकार प्रकृति का चित्रण करने बैठता है। साहित्यकार प्रकृति का चित्र कई रूपों में उभारता है। कभी-कभी तो ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है कि लगता है, हम प्रत्यक्ष-दर्शन कर रहे हैं —

दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला
तरुशिखा पर थी अब राजती कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा
विपिन-बीच विहंगम वृन्द का कल निनाद विवर्धित था हुआ
ध्वनिमयी विविधा विहगावली उड़ रही नभ-मंडल-मध्य थी।[3]

१ "सङ्गम' साप्ताहिक पृ० २१, २३ जनवरी, १९५० ई०
२ महादेवी वर्मा "दीपशिखा" पृ० २२
३ "हरिऔध': 'प्रिय प्रवास"

इस प्रकार, एक-एक वस्तु के भावपूर्ण वर्णनों के सम्मिलित प्रभाव के परिणामस्वरूप सायंकाल का चित्र उभरता है।

दूसरे प्रकार का प्रकृति-चित्र इस प्रकार से खींचा जाता है कि वह दृश्य विशेष का चित्र तो उभारे ही दे साथ ही, व्यक्ति के मन में उस प्रकार के भाव उद्दीप्त भी कर दे जिनका उस दृश्य की उपस्थिति में उठना नितान्त स्वाभाविक हो। अस्तु, कवि देखता है —

'अम्बर-अंतर गल धरती का मन चल आज भिगोता
प्यार पपीहे का पुलकित स्वर दिशि-दिशि मुखरित होता
और प्रकृति-पल्लव-अवगुंठन फिर-फिर पवन उठाता',

ऐसा देखकर कवि के मन में इस दृश्य के अनुकूल भाव उठते हैं और वह अपनी प्रियतमा से कह उठता है —

यह मदमाती की रात नहीं सोने की
सखि यह रागों की रात नहीं सोने की[1]

प्रकृति का एक प्रकार का चित्र ऐसा भी होता है जो आने वाले किसी भाव विशेष के अनुरूप होकर उसकी पृष्ठभूमि स्वरूप होता है।

है अमानिशा, उगलता गगन घन अंधकार,
खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन-चार,
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल,
भूधर ज्यों ध्यान-मग्न, केवल जलती मशाल।

ऐसे भयानक वातावरण में किसी का भी दिल दहल सकता है। राम आज दिन के युद्ध में हतश्री हो चुके हैं। सामने इस तरह का डराने वाला दृश्य है। ऐसे में जो होना चाहिये वही होता है—

स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर-फिर संशय
रह-रह उठता जग जीवन में रावण-जय भय[2]

अलंकारों के रूप में किया गया प्रकृति का वर्णन भी सुन्दर और आह्लाद पूर्ण चित्र उभारता है —

तारकमय नव वेणी बंधन, शीस फूल कर शशि का नूतन,
रश्मि वलय सित घन अवगुंठन

---

१ 'बच्चन' "सोपान", पृ २८७।
२ 'निराला' "राम की शक्तिपूजा' कविता

मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी ।[१]

भावुक कलाकार को प्रकृति कभी-कभी ठीक मानव-जैसी भी लग सकती है। उसका दृश्य विशेष मानव या मानवी की एक मुद्रा विशेष लग सकता है —

नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद-हासिनि
मृदु कर-तल पर शशि मुख धर, नीरव, अनिमिष, एकाकिनि ![२]

इसी प्रकार प्रकृति कभी चेतन बन कर, कभी प्रतीक बन कर और कभी उपदेश देती हुई-सी प्रतीत होती है। तात्पर्य यह कि प्रकृति के सभी रूपों के प्रभूत चित्र आधुनिक हिन्दी साहित्य में मिलते हैं।

रूप-चित्रण—

चित्रात्मकता का दूसरा रूप साहित्य में तब दिखाई पड़ता है जब साहित्यकार रूप का चित्र खींचने बैठता है। एक सुन्दरी का वर्णनात्मक रूप चित्र देखिए —

तनसी अपनी उँगलियां तोड़ते हुए बोली। उसकी लम्बी पतली गोरी उँगलियों की ओर देखकर हरीश ने उसके शेष शरीर की ओर देखा। उसका बहुत महीन और मुलायम बालों से भरा सिर जिसमें तेल की चिकनाई नहीं, केशों की स्वाभाविक कोमलता स्वयं प्रकट हो रही थी। जूड़े पर मटर के लाल फूलों का लगा हुआ पत्ता पतला पतला मुख, लम्बी गर्दन, महीन साड़ी में से झलकती उसके शरीर की आकृति, उसका तनिक उभरा हुआ वक्ष पतली कमर और फिर कुछ दूर बह कर नीचे गिरती जल की धारा की तरह घुटनों से नीचे गिरती पिंडलियां, अन्त में सैंडिल में मढ़े उसके कोमल श्वेत पांव। पांवों के चारों ओर साड़ी का घेरा पराग को घेरे रहने वाली फूल की पंखुरियों की तरह फैला हुआ था। पीले हाथी के दांतों की तरह चिकनी और कोमल बाहें उसकी गोद में आ कर टिकी हुई थीं। एक अस्पष्ट-सी सुगंध उसके शरीर से आ रही थी। तनसी फूल की कली की भांति थी पूरी खिल कर फल नहीं गई थी।[३]

उपयुक्त चित्र विवरणात्मक है। भावात्मक रूप चित्र देखिए —

'चपला स्नान कर आवे, चन्द्रिका-पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा, आलोक मधुर थी ऐसी।'[४]

---

१ 'महादेवी वर्मा 'यामा'
२ पन्त 'पल्लविनी'
३ यशपाल 'दादा कामरेड'
४ 'प्रसाद 'आंसू'।

भाव-चित्रण—

गुणो के उल्लेख-द्वारा निर्मित अंतर की एक अवस्था–भूख का चित्र देखिए —

"भूख नहीं दुबल, निबल है,
भूख सबल है,
भूख प्रबल है,
भूख अटल है,
भूख कालिका है, काली है
या काली सवभूतेपु
क्षुधारूपेण सस्थिता,
नमस्तस्य, नमस्तस्य,
नमस्तस्य, नमो नम
भूख भवानी, भयावनी है
अगणित पद, मुख, कर, वाली है
बड़े विशाल उदर वाली है
भूख धरा पर जब चलती है
वह डगमग डगमग हिलती है
वह अन्याय चबा जाती है[1]

इसी प्रकार आशा-निराशा, आह्लाद आदि के भी चित्र खींचे जाते हैं।

दृश्य-चित्रण—

कलाकार के घट्ट दृश्यो के चित्र भी सफलतापूवक खींचते हैं। निम्नलिखित वर्णन को देख कर ऐसा लगता है कि जसे ठीक हमारे सामने यह दृश्य उपस्थित हो और हम उसे देख रहे हों—

शाखामृग शाखियों पै शाखामृगियो के संग
कुछ सुनते-से कान ऊँचे किये बठे हैं,
अमित अभीति से अमग ग्रीव शावकों को
समुद्र विहग कोटरों में लिये बैठे हैं
हरिणी हरिण के विलोचनो मे राजती है
दखिए हरिण हरिणी के हिये बैठे हैं
कुमुद गणो के कोष मध्य चचरीक चारु
मधु पिये जैठे हैं कपाट दिये बठे हैं ॥[2]

१ बच्चन 'सोपान', पृ २११—२१२।
२ 'रसवन्ती' (अनूपशर्मा विशेषाङ्क), पृ १६०—१६१।

इसी प्रकार युद्ध के दृश्य, प्रेम के दृश्य, कलह के दृश्य, लड़ाई के दृश्य, तथा जीवन के ऐसे ही अनेक दृश्य चित्रित किये जाते हैं। विलास का एक चित्र देखिए —

"उस स्वगंगा मे, उस नहर-इ-बहिश्त मे, खेल करती थी उस स्वर्ग लोक की अनुपम सुन्दरियाँ। उन श्वेत पत्थरो पर अपनी सुगंधि फैलाता हुआ वह जल अठखेलियाँ करता, कल-कल ध्वनि मे चिर संगीत सुनाता चला जाता था, और वे अप्सराएँ अपने श्वेतागो पर रंग-बिरंगे वस्त्र लपेटे नूपुर पहने अपने ही ध्यानमे मस्त झुन-झुन की आवाज करती हुई जलक्रीडा करती थीं अनेकानेक प्रकार के स्नेहपूर्ण चिराग... रंग बिरंगे सुगंधित जलो के फव्वारे... उस मस्ताने सुगंधि पूर्ण वातावरण मे सुमधुर सङ्गीत की ताल पर ... उस हम्माम मे जलक्रीडा सौन्दर्य बिखरा पड़ता था, सुख छलकता था, उल्लास की बाढ़ आ जाती थी, मस्ती का एकच्छत्र शासन होता था और मादकता का उलगनतन निर्जीव पत्थर भी सजीव होकर स्वर्ग के देवताओं के साथ होली खेलने का साहस कर बैठते थे — मदिरा ढलती थी ... सुरा, सुन्दरी और संगीत के साथ ही साथ जब सौरभ, सौन्दर्य और स्वर्गीय सुख भी बिखर-बिखर कर बढ़ते जाते थे।"[1]

क्रिया-कलाप-चित्रण

इसी प्रकार मार्मिक ढङ्ग से क्रिया-कलाप का भी चित्राकन किया जाता है। एक अत्यन्त मार्मिक क्रिया-कलाप-चित्र या गति-चित्र यहा कुछ ही शब्दो मे उपस्थित है —

"कुमुद शांत गति से ढालू चट्टान के छोर तक पहुंच गई। अपने विशाल नेत्रो की पलकों को उसने ऊपर उठाया। उँगली में पहनी हुई अँगूठी पर किरणें फिसल पडी। दोनो हाथ जोड कर उसने धीमे स्वर मे गाया —

मलिनिया फुलवा ल्याओ नन्दन वन के।
बिन-बिन फुलवा लगाई बडी आस
उड गए फुलवा रह गई बास

उधर तान समाप्त हुई, उधर उस अथाह जल-राशि मे पैंजनी का छम्म से शब्द हुआ धार ने अपने वक्ष को खोल दिया और तान-समेत उस कोमल कण्ठ को सावधानी से अपने कोष में ले लिया।

ठीक इसी समय अली मर्दान भी आ गया। घुटना नवा कर उसने कुमुद के वस्त्र को पकडना चाहा, परन्तु बेतवा की लहर ने मानो उसे फटकार दिया। मुट्ठी बाधे खड़ा रह गया।'[2]

---

१ रघुवीर सिंह 'शेष स्मृतियां", पृ १११—११६

२ वृन्दावन लाल वर्मा "विराटा की पद्मिनी"

भवन-निर्माण-कला और मूर्तिकला

इन कलाओ म भी भारतवर्ष संसार को चकित करने म समर्थ और पराया के मन मे ईर्ष्या और द्वेष उत्पन्न करने की योग्यता से पूर्ण विपुल सामग्री और इति हास रखता है। इस्लाम और उसके अनुयायी मूर्तियों के विरोधी कहे गये हैं किन्तु यह भारत की मूर्तिकला का जादू था कि युद्धप्रिय तथा रुण्ड-मुण्ड-रक्त-स्नान का अनन्य लोलुप महमूद गजनी भी कह उठता है, "उन मन्दिरों को मैंने भी देखा था, बुतो को भी। कुछ भी हो, मंदिर थे खूबसूरत पत्थर को जान देने के फन मे हिन्दुओ ने जिस कमाल को हासिल किया है, ताज्जुब होता है— पहाड़ों, पक्षी फूल-पत्तियों कोयल की कूक और पक्षियो की लोच-लचक को मचल-मचल कर उतार दिया हो अरे! यह तो कुफ्र है। लेकिन कुफ्र अगर दिल को चैन दे तो क्या बुरा ?"[1]

हमारे देश म प्रागैतिहासिक काल म हाथी के दांत, अस्थि, ताम्र, कांस्य और मिट्टी, आदि की मूर्तियां बनती थी। पहल-पहले हाथी, घोड़े, और वृषभ बनाये गये थे। हड़प्पा और मोहिनजोदड़ो की खुदाइयो म साधना-सम्बन्धी मूर्तिया भी मिलती हैं। वैदिक काल मे देवमूर्तियां बनती थी। शिशुनाग और नन्दकाल म आदमी के कद इतनी ऊंची मूर्तिया बनने लगी थी। राजाओ के साथ-साथ सामान्य नर-नारियो की भी मूर्तिया बनी। इसी समय की जन-मूर्तिया भी मिलती हैं। मौर्य-काल म जन तीर्थङ्करो की मूर्तिया शिला-स्तम्भ और लाटो के ऊपर के 'परगट्ट' भी बनते थे। चार सिंह वाला सारनाथ का परगट्टा बहुत प्रसिद्ध है। शुंगकाल मे सांची और भरहुत के जगत्प्रसिद्ध स्तूप बने। इनके तोरणो पर बुद्ध की जीवनी से सम्बन्धित चित्र और विविध प्राणियो एव वस्तुओ के आश्चर्य-जनक रूप से सुन्दर चित्र खुदे हैं। उड़ीसा के उदयगिरि और खण्डगिरि की मूर्तिया भी इसी युग की है। कुषाण और शालिवाहन काल म गांधार शैली और मथुरा शैली की मूर्तियो की बहुलता थी। गुप्त काल मूर्तिकला का भास्वरयुग है। सारनाथ की बुद्धमूर्ति, मथुरा की खडी हुई बुद्ध मूर्ति सुल्तानगंज (भागलपुर) की तांबे की खडी हुई बुद्धमूर्ति, भेलसा की भगवान वाराह की मूर्ति काशी की गोवर्धनधारी कृष्ण की मूर्ति, सूर्य-कार्तिकेय-आदि की मूर्तिया इस युग के गौरव की आधारशिलाएं हैं। पूर्व मध्यकाल म घटनाओ के बडे बडे दृश्य भी मूर्तिमान किये जाते थे। वेलूर (एलोरा) म पहाड़ काट कर मन्दिर और मूर्तियो का निर्माण किया गया। इनम ब्राह्मण, बौद्ध और जनधर्मों के मन्दिर थे। एलीफंटा की गुफाओ म भी मन्दिर और मूर्तिया हैं। मामल्लापुरम् (कांची) के 'रथ"

[1] वृन्दावन लाल वर्मा 'मृगनयनी', पृ ७८-७९।

अर्थात् मन्दिर भी प्रसिद्ध हैं। उत्तर मध्यकाल में अलकृत शैली के अनुगमन की प्रधानता हो गई। भुवनेश्वर, कोणार्क पुरी, खजुराहो और परमारो के बनवाये हुए मन्दिर (उदाहरणार्थ ग्वालियर का सास-बहू मंदिर जिसमें नियरशैली और छाजनशैली की कला स्पष्ट है) इसी युग की विभूतियां हैं। कला की दृष्टि से गुजरात के सोमनाथ मन्दिर का महत्व असाधारण हैं। अवलोकितेश्वर की मूर्तियों में मौलिकता विशेष रूप से द्रष्टव्य है। प्राय नग्न मूर्तियां भी बनाई जाती थीं। ऐसी मूर्तियां भी हैं जो ऐहिकतापरक हैं। १५ वी शताब्दी के चित्तौड़ के विजय स्तम्भ में असाधारण प्रजावट है। मनुष्य मास, और ऋतुओं की भी मूर्तियां बनाई गई हैं। १६ वी शताब्दी का गोविन्ददेव का मन्दिर अपनी सजावट के लिये ही प्रसिद्ध है। पूरे का पूरा मन्दिर ज्यामितिक आकार का है। गति और सस्कृति के निदर्शन की दृष्टि से दक्षिण की नटराज की मूर्ति असाधारण महत्व की है। वैभव विलास अलकरण और इस्लाम की विचारधारा वाले मुगल काल में भी भारत की स्थापत्यकला शान के साथ गतिशील रही। इस युग के बने भवनों में वैभव और विलास बरसता है। ईरानी और भारतीय या राजपूत या हिन्दू कला का मिश्रण इन भवनों की निर्माण-योजना में द्रष्टव्य है। आगरे के किले का जहांगीरी महल इसका उदाहरण है। फतेहपुर सीकरी की इमारतों में भव्यता विशालता दृढता, कल्पना और कला-कारीगरी भरी हुई है। आगरे का एतमादुद्दौला अलकरण का और ताजमहल भव्यता कला की बारीकियों निर्माण-कुशलता सयोजना और सगति भाव-विभोरता के साथ साथ नारीत्व-कला (फेमिनिन आर्ट) का अद्वितीय उदाहरण है। आधुनिक युग के भवनों में सादगी विशेष रूप से पाई जाती है। सबसे बडी उल्लेखनीय बात है कि असली राजाओं-महाराजाओं तथा उनके अपने युग के साथ-साथ दुर्ग और राजमहल के निर्माण की बात स्वप्न हो गई है। राजस्थान के राजपूत रियासतों के अन्दर बनवाये गये भवनों में अब भी राजपूत कला का अवशेष देखा जा सकता है। अब महल नहीं, घरौंदे बनते हैं। उनमे न अलकरण है न विशालता न सुदृढता (मानो महाकाव्य के स्थान पर मुक्तक और गीत आ गये हों)। राजधानियों में जो भवन बने वे इगलैंड में बने हुए भवनों की नकल हैं। कुछ इमारतें बाहर और भीतर एक समान भव्य लगती हैं। नई दिल्ली के दफ्तर या कौंसिल भवन अधिकतर इटालियन शैली पर हैं और ऊँची ऊँची दीवारों वाली जेलों की तरह लगते हैं। इनमें लालित्य और कल्पना का अभाव है। अँगरेज इन्जीनियर उसके राजभक्त नमकख्वार और अँगरेजियत, अँगरेजी राज, तथा अँगरेजों की भक्ति का सुन्दर नमूना जिस पी० डब्लू० डी० में जगह-जगह मिलता है उसके द्वारा निर्मित भवनों की कला पर ग्रेट ब्रिटेन की भवन-निर्माण-कला

भवन–निर्माण–कला और मूर्तिकला

इन कलाओं मे भी भारतवर्ष संसार को चकित करने में समर्थ और परायों के मन में ईर्ष्या और द्वेष उत्पन्न करने की योग्यता से पूर्ण विपुल सामग्री और इतिहास रखता है। इस्लाम और उसके अनुयायी मूर्तियों के विरोधी कहे गये हैं किन्तु यह भारत की मूर्तिकला का जादू था कि युद्धप्रिय तथा रुण्ड–मुण्ड–रक्त–स्नान का अनन्य लोलुप महमूद बबर्रा भी कह उठता है 'उन मन्दिरों को मैंने भी देखा था, बुतों को भी। कुछ भी हो मन्दिर ये खूबसूरत पत्थर को जान देने के फन में हिन्दुओं ने जिस कमाल को हासिल किया है ताज्जुब होता है— पहाड़ों, पेड़ों फूल–पत्तियों कोयल की कूकों और परियों की लोच–लचक को मचल–मचल कर उतार दिया हो अरे! यह तो कुफ्र है। लेकिन कुफ्र अगर दिल को चैन दे तो क्या बुरा ? १

हमारे देश मे प्रागैतिहासिक काल में हाथी के दांत, अस्थि, ताम्र, कांस्य और मिट्टी आदि की मूर्तियां बनती थीं। पहले–पहले हाथी, घोड़े और टट्टू बनाये गये थे। हड़प्पा और मोहिनजोदड़ो की खुदाइयों में साधना–सम्बन्धी मूर्तियां भी मिलती हैं। वैदिक काल मे देवमूर्तियां बननी थीं। शिशुनाग और नन्दकाल मे आदमी के कद, इतनी ऊंची मूर्तियां बनने लगी थी। राजाओं के साथ–साथ सामान्य नर–नारियों की भी मूर्तियां बनीं। इसी समय की जन–मूर्तियां भी मिलती हैं। मौर्य–काल में जन तीर्थङ्कारों की मूर्तियां शिला–स्तम्भ और लाटों के ऊपर के "परगट्टे" भी बनते थे। चार सिंह वाला सारनाथ का परगट्टा" बहुत प्रसिद्ध है। शुंगकाल मे सांची और भरहुत के जगत्प्रसिद्ध स्तूप बने। इनके तोरणों पर बुद्ध की जीवनी से सम्बन्धित चित्र और विविध प्राणियों एवं वस्तुओं के आश्चर्य–जनक रूप से सुन्दर चित्र खुदे हैं। उड़ीसा के उदयगिरि और खण्डगिरि की मूर्तियां भी इसी युग की हैं। कुषाण और शालिवाहन काल में गान्धार शैली और मथुरा शैली की मूर्तियों की बहुलता थी। गुप्त काल मूर्तिकला का भी स्वर्णयुग है। सारनाथ की बुद्धमूर्ति मथुरा की खड़ी हुई बुद्ध मूर्ति सुल्तानगंज (भागलपुर) की तांबे की खड़ी हुई बुद्धमूर्ति, भेलसा की भगवान् वाराह की मूर्ति काशी की गोवर्धनधारी कृष्ण की मूर्ति, सूर्य–कार्तिकेय–आदि की मूर्तियां इस युग के गौरव की आधारशिलाएं हैं। पूर्व मध्यकाल मे घटनाओं के बड़े बड़े दृश्य भी मूर्तिमान किये जाते थे। वेरूर (एलोरा) मे पहाड़ काट कर मन्दिर और मूर्तियों का निर्माण किया गया। इनमें ब्राह्मण, बौद्ध और जनधर्मों–के–मन्दिर हैं। एलोफेंटा की गुफाओं में भी मन्दिर और मूर्तियां हैं। मामल्लापुरम् (कांची) के "रथ'

१ वृन्दावन लाल वर्मा मृगनयनी, पृ ७८–७८।

अर्थात् मन्दिर भी प्रसिद्ध हैं। उत्तर मध्यकाल मे अलङ्कृत शैली के अनुगमन की प्रधानता हो गई। भुवनेश्वर, कोणार्क, पुरी, खजुराहो और परमारो के बनवाये हुए मन्दिर (उदाहरणार्थ,ग्वालियर का सास-बहू मंदिर, जिसमें शिखरशैली और छाजनशैली की कला स्पष्ट है) इसी युग की विभूतियां हैं। कला की दृष्टि से गुजरात मे सोमनाथ मन्दिर का महत्व असाधारण है। अवलोकितेश्वर की मूतियों म मौलिकता विशेष रूप स द्रष्टव्य है। प्राय नग्न मूर्तिया भी बनाई जाती थीं। एसी मूर्तियां भी हैं जो एहिकतापरक हैं। १५ वी शताब्दी के चित्तौड के "विजय स्तम्भ" म असाधारण सजावट है। नक्षत्र, मास, और ऋतुओ की भी मूर्तिया बनाई गई हैं। १६ वी शताब्दी का गोविन्ददेव का मन्दिर अपनी सजावट के लिये ही प्रसिद्ध है। पूरे का पूरा मन्दिर ज्यामितिक आकार का है। गति और सस्कृति के निर्देशन की दृष्टि से दक्षिण की नटराज की मूर्ति असाधारण महत्व की है। वैभव, विलास, अलकरण और इस्लाम की विचारधारा वाले मुगल काल में भी भारत की स्थापत्यकला शान के साथ गतिशील रही। इस युग के बने भवनो मे वैभव और विलास बरसता है। ईरानी और भारतीय या राजपूत या हिन्दू कला का मिश्रण इन भवनो की निमाण-योजना मे द्रष्टव्य है। आगरे के किले का जहांगीरी महल इसका उदाहरण है। फतेहपुर सीकरी की इमारतो मे भव्यता विशालता, दृढता, कल्पना, और कला-कारीगरी भरी हुई है। आगरे का एतमादुद्दौला अलकरण का और ताजमहल भव्यता, कला की बारीकियो, निमाण-कुशलता सयोजना और सगति, भाव-विभोरता के साथ साथ नारीत्व-कला (फेमिनिन आर्ट) का अद्वितीय उदाहरण है। आधुनिक युग के भवनों म सादगी विशेष रूप स पाई जाती है। सबसे बडी उल्लेखनीय बात है कि असली राजाओं-महाराजाओ तथा उनके अपने युग के साथ-साथ दुग और राजमहल के निर्माण की बात स्वप्न हो गई है। राजस्थान के राजपूत रियासतो के अदर बनवाये गये भवनो मे अब भी राजपूत कला का अवशेष देखा जा सकता है। अब महल नहीं घरौंदे बनते हैं। उनम न अलकरण है न विशालता, न सुदृढता (मानो महाकाव्य के स्थान पर मुक्तक और गीत आ गये हो)। राजधानियो म जो भवन बने वे इगलैंड मे बने हुए भवनो की नकल हैं। कुछ इमारतें बाहर और भीतर एक समान भव्य लगती हैं। नई दिल्ली के दफ्तर या कौंसिल भवन अधिकतर इटैलियन शैली पर हैं और ऊँची ऊँची दीवारो वाली जेलो की तरह लगते हैं। इनम लालित्य और कल्पना का अभाव है। अंगरेज इंजीनियर, उसके राजभक्त कर्मचारी और अंगरेजियत, अंगरेजी राज, तथा अंगरेजों की भक्ति का सुन्दर नमूना जिस पी० डब्लू० डी० मे जगह-जगह मिलता है उसके द्वारा निर्मित भवनों की कला पर ग्रेट ब्रिटेन की भवन-निर्माण-कला

की छाप अनिवार्य और आवश्यक है। सुदृढता के स्थान पर प्रत्येक तीन-चार वर्षों के बाद की पुनर्निर्माण-जनित नवीनता अधिक रुचिकर हुई है। दिल्ली का बिड़ला मन्दिर भारतीय कला के अनुकरण पर है। आगरे का निर्माणशील राधास्वामी मंदिर जब बन जायगा (यद्यपि वह लगभग ५० वर्षों से बन रहा है) तब भव्यता और कला त्मकता के सुन्दरतम उदाहरण-स्वरूप होगा-ऐसा अनुमान है। स्थापत्य कला की दृष्टि से आगरा सचमुच बड़ा-ही भाग्यशाली है। आधुनिक काल की मूर्तिकला में भी एकनिष्ठ आत्मोद्धारोन्मुखी धार्मिक दृष्टिकोण का बिलकुल अभाव है। अब तो धार्मिक मूर्तियां व्यवसायार्थ ही बनाई जाती हैं। मूर्तियां चित्र-जैसी लगती हैं। शास्त्रीय मान्यताओं की कोई भी परवाह नहीं की जाती। राजकीय कला स्कूल आज की मूर्ति कला के केन्द्र हैं। इधर कुछ सालों से सजावट की मूर्तियां बनने लगी हैं। पत्थर में प्रतिकृतियां पर्याप्त संख्या में इधर बनी हैं। प्रतिकृतियों का निर्माण धातु में भी हुआ है। यूरोपीय मूर्तिकला के नए प्रयोगों ने हमारे देश के कलाकारों को भी आकृष्ट किया है।'[१] आधुनिक स्थापत्य कला उपयोगी चाहे जितनी हो, अधिकतर न तो विशेष आकर्षक है, न दर्शनीय और न कलापूर्ण। अब भी लोग पुरानी इमारतों और मूर्तियों को ही देखने दूर दूर से आते हैं और दूर दूर तक जाते हैं।

आधुनिक साहित्य पर इनका प्रभाव—

आधुनिक हिन्दी साहित्य पर इन दोनों कलाओं का अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ा है। तात्पर्य यह है कि ये साहित्य का विषय बनी हैं। इन्होंने कलाकारों की कल्पना को प्रबुद्ध और सक्रिय किया है तथा उन्हें प्रेरणा दी है। जगदीश चन्द्र माथुर ने 'कोणार्क' शीर्षक एक उच्चकोटि के कलापूर्ण नाटक की रचना की जिसमें कोणार्क के सूर्य-मंदिर की कला-विशेषताओं का उल्लेख भी है और स्तुति भी —

'यह मन्दिर नहीं, सारे जीवन की गति का रूपक है। हमने जो मूर्तियां इसके स्तम्भों, इसकी उपपीठ और अधिस्थान में अंकित की हैं उन्हें ध्यान से देखो। देखते हो उनमें मनुष्य के सारे कर्म, उसकी सारी वासनाएँ, मनोरंजन और मुद्राएँ चित्रित हैं।[२]

— --

पत्थर! यहाँ निकट से देखने पर तो प्रतीत होता है मानो तुमने किसी

१ "हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ ६३४।

जौहरी के गढ़े अलंकारों को पाषाण बना दिया हो। और, दूर से इस विमान और जगमोहन के शिखर हिमाचल की चोटियों को स्पर्द्धा करते जान पड़ते हैं।" १

'हमने पत्थर में जान डाल दी है, उसे गति दे दी है। (
भूल रहा है कि वह धरती का पदार्थ है उसके पैर धरती पर नहीं टिकते। पत्थर का यह मन्दिर आज कल्पना के स्पर्श से हवा की तरह गतिमान, किरण की तरह स्पर्शहीन, सुगन्ध की तरह सर्वव्यापी होरहा है। लेकिन लेकिन धरती उसे जकड़े हुए हैं ईर्ष्या से।" २

"मृगनयनी" उपन्यास के ४४ वें और ४५ वें प्रसंग तो मानो स्थापत्य कला के मर्म को समझाने के लिये ही लिखे गये हैं। इसी उपन्यास के ६० वें प्रसंग में 'नटराज" की मूर्ति की चित्रणपूर्ण व्याख्या है।

निष्कर्ष -

सांस्कृतिक पुनरुद्धार और यूरोपीय संस्कृति के सम्पर्क ने भारतीय चेतना को जो नवीन दृष्टि एवं नई प्यास दी उसके अनुरूप कलापूर्ण हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में निर्मित हुआ। नवीन-चेतना से उद्भूत सौंदर्य बोध के लिए साहित्य के प्राचीन कला-रूपों में नवीन परिवर्तन किया गया और नये-नये कलापूर्ण माध्यमों एवं नई-नई कला-कलित साहित्यिक विधाओं को स्वीकार किया गया। नये और पुराने को मिला कर नये ललित रूप भी खड़े किये गये। काव्य और नाटकों में चित्रात्मक एवं संगीतात्मक परिवेश उपस्थित कर तथ्य को हृदयंगम कराने का प्रयास दृष्टिगत हुआ। काव्य-कला ने गद्य में भी रसात्मकता का सृजन किया और गद्य के माध्यम से भावात्मक सौंदर्य भी अभिव्यंजित किया गया। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सभी कलाओं ने मिलकर हिन्दी साहित्य को कलापूर्ण दृष्टि एवं विषय से सम्पन्न किया और विशेष लालित्य प्रदान किया है।

---

१ कोणार्क, पृष्ठ ४४।
२ 'वही', पृष्ठ २१।

अध्याय ८

धार्मिक एव दार्शनिक पृष्ठभूमि

भारत और धर्म – अनुकरण और आस्था—स्थायी आस्था और विश्वास पर जोर—आपद्धर्म—मठ-मन्दिर—साधु वैरागी—शक्तिपूजा और वध—पूजापाठ एव स्थूल दृष्टि—धरम-करम-भाव भगती—इस्लाम और भारत—दर्शन—ईश्वर—जीव—कल्याणमार्ग—प्रायश्चित और 'परसाद'—कर्म—आवागमन और स्वर्ग-नर्क—भगवद्दर्शन और उसका फल। वरदान—धर्म का वास्तविक रूप—धर्म के दो रूप—हिन्दू धर्म—दो संस्कृतियों का गलत दृष्टिकोण लेकर मिलना—हिन्दू धर्म और ईसाई—हिन्दुत्व का पुनर्जागरण—नवशिक्षित व्यक्ति तथा पुनर्जागरण की प्रतिक्रियाएँ—समन्वय वृत्ति तथा अपने तत्वों की नयी व्याख्याएँ—हिन्दुत्व का नया रूप—धर्म सुधार—बुद्धि पर शासन का अंकुश—नैतिक जीवन की आधार-भूमि—हिन्दुत्व का वास्तविक मूल्यांकन और उसके प्रति गौरव का भाव—तत्वों की युगानुकूल व्याख्या—आर्यसमाज का प्रभाव—ब्रह्मविद्या समाज—ईसाई धर्म का योग—बौद्ध धर्म—ज्ञान की देन—इस्लाम का योग—अरविन्द का योग—वेदान्त—प्राचीन पर आस्था—वैदिक धर्म – उपनिषद—गीता—जैन धर्म—बौद्ध धर्म-दर्शन—हिन्दुत्व की रूपरेखा पूर्ण—न्यायदर्शन—वैशेषिक दर्शन सांख्यदर्शन – योग दर्शन—पूर्व मीमांसा दर्शन—उत्तर मीमांसा दर्शन—अद्वैतवाद—विशिष्टाद्वैतवाद—शैव दर्शन—वैष्णव दर्शन अर्थात् भागवत धर्म—रहस्यानुभूति—पाश्चात्य दर्शन ज्ञान मीमांसा—बुद्धिवाद समन्वयवाद—प्रतीतिवाद—रोमांटिक भावना या मानवतावाद—ज्ञान का स्वरूप—बुद्धिवाद—प्रकृतिवाद—भौतिकतावाद—सृष्टि सृष्टिवाद—विकासवाद (सृजनात्मक)—यान्त्रिक विकासवाद—जीव विकास द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—उपयोगितावाद—अध्यात्मवाद और चैतन्यवाद—अस्तित्ववाद—हमने सबका अध्ययन किया—वर्तमान हिन्दू धर्म—स्वतन्त्र भारत का योग—सह-अस्तित्व—जनता की कमजोरी और उसका दुरुपयोग—पीछे देखा गया—हिन्दुत्व की कायापलट—सुधारवाद और रूढ़िवाद—तीन प्रकार के धार्मिक व्यक्ति—हम पर गलत प्रभाव—प्रगतिशील हिन्दुत्व और उसका प्रभाव—आधुनिक हिन्दी साहित्य की पृष्ठ-भूमि के रूप में।

धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि

भारत और धर्म

जहां विश्व की अनेक प्राचीन सभ्यताएं और संस्कृतियां अपना अस्तित्व एवं व्यक्तित्व खो बैठी हैं वहां विश्व की प्राचीनतम सभ्यता और संस्कृति वाला भारत सृष्टि के आदि-तत्व के सगुण रूप की तरह आज भी चिर किशोर-सा संसार के रङ्ग मंच पर सृष्टि की नवल स्फूर्ति, नवल प्राण नवल प्रेरणा, नवल शक्ति एवं नवल विचारों के नवीन आलोक-सा अपनी भूमिका कुशलता और सफलता के साथ अभिनीत कर रहा है। यह एक स्फूर्ति और प्रेरणाप्रद तत्व है और है विदेशियों तथा कुछ भारतीयों की भी उत्सुकता-प्रेरित खोज का लक्ष्य। सचमुच प्रश्न उठता है कि वह कौन-सा तत्व है जो भारत को आज भी तेजोमय किये है। और, संभवतः इसी जिज्ञासा के समाधानार्थ सजग सक्रिय, प्रोज्ज्वल एवं चेतन कल्पना में भारतीय मनीषा का एक अमर एवं गम्भीर कथन उभरता है—'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।' तात्पर्य यह कि नष्ट किये जाने पर अथवा यों कहिए कि परित्याग किये जाने पर धर्म नाश कर देता है किन्तु यदि धर्म की रक्षा की जाय अर्थात् उसका पालन किया जाय तो वह रक्षा करता है। जब यह एक सत्य है कि युगों की चट्टानों पर अपने पद-चिह्न छोड़ता हुआ भारत अक्षय शक्ति और अप्रतिहत गति से काल के अनन्त पथ पर बढ़ता चला जा रहा है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि उसमें कोई ऐसा विशेष तत्व अवश्य है जो उसे धारण किए हुए है और जिसे वह धारण किये हुए है, जिसे वह सुरक्षित किये हुए है और जो उसे सुरक्षित किये हुए है। जो रक्षित करता है या धारण करता है उसी को हमारा शास्त्र, हमारा वाङ्मय, धर्म कहता है—'धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः, यत् स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।'[1]

अनुकरण और आस्था

सचमुच धर्म और दर्शन में स्थित हमारा भारतीय समाज ऊँची स्थिति से गिराये जाने पर भी, कष्टों की अग्नि में तपाये जाने पर भी, साम्राज्यवाद एवं धर्मान्धता के अहङ्कार के सामने बन्धनग्रस्त स्थिति में डाल दिये जाने पर भी और अधिकारों की रस्सी से परतन्त्रता की स्थिति में जकड़े जाकर भी उसी प्रकार रक्षित ही नहीं, सुरक्षित भी है जैसे भगवान में स्थित प्रह्लाद पर्वत से गिराये जाने पर भी, हाथी के सामने डाल दिये जाने पर भी, और खम्भे में बांध दिये जाने पर भी सुरक्षित रहा। वास्तविकता यह है कि भारतीय समाज ने यथाशक्ति और यथा सम्भव अच्छे से अच्छे

---

१ 'महाभारत', कर्ण, ६९।५८।

ढङ्ग से धर्म को धारण करने का प्रयत्न किया है। राजपूतों ने क्षत्रि-धर्म निबाहा है, कायस्थों ने सतनी-धर्म निबाहा है, बनियों ने तुला-धर्म निबाहा है, वीरों ने लड़ कर-असि-बल से-धर्म की रक्षा करने का प्रयत्न किया है, सन्यासियों ने घूम-घूम कर उपदेश दे-दे कर धर्म की रक्षा की है, पण्डितों ने और पुरोहितों ने कर्मकाण्ड के द्वारा धर्म को अधिकाधिक सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है, विचारकों ने सोच विचार करके चिन्तन-मनन करके, धर्मव्याख्या करने का प्रयत्न किया है, महात्माओं ने आत्म-प्रगति मार्ग पर चल कर धर्म का रूप स्पष्ट किया है, मूर्खों ने अनुकरण करके रूढ़ियों का पालन करके और अन्धविश्वासों के द्वारा धर्म को नष्ट होने से रोक लिया है, समय व्यक्तियों ने चमत्कारी रूप में धर्म को साथ रखा और कमजोरों ने अपनी समस्त कमजोरियों के बावजूद भी धर्म के क्रियात्मक रूप को निबाहा। चोर व्यभिचारी, लालची अहङ्कारी आदि सब को समाज में प्रचलित परम्परा के अनुसार धर्म का अपनी पूरी ईमानदारी के साथ पालन करते हुए देख कर यह माना जा सकता है कि आस्था अभी गई नहीं है। आत्मबल और असाधारण आत्मशक्ति से सम्पन्न महात्मा सभी देशों में एक ढङ्ग से धर्म निबाहते होंगे, इसी प्रकार सभी देशों के विचारकों और क्रान्तिकारियों की भी धर्म-गति मूलतः एक-सी होती होगी, किन्तु बुद्धि की सक्रियता एवं चिन्तन की गतिशीलता तथा विचारों की मौलिकता से वंचित मूक भारतीय जनसमूह ने अपनी असंख्य कमजोरियों के बावजूद भी रूढ़ि-पालन और अन्धविश्वास के द्वारा जिस प्रकार अपने धर्म और दर्शन की परम्पराओं को अपने धर्म-संकुल जीवन में सक्रिय रखा है और जिस प्रकार अपने सांस्कृतिक वातावरण को अपनी कट्टरता के द्वारा अक्षुण्ण एवं सुरक्षित रखा है वैसे ही अन्य देशों की मूक जनता ने भी किया होगा इसमें सन्देह है। धर्मभीरुता, आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म ईश्वर, संसार की क्षणभंगुरता संसार में माया की प्रधानता दान पूजा पाठ परलोक के अस्तित्व, आदि अपने व्यवहारिक रूप में अन्धविश्वास या विश्वास सम्वलित होकर भारतीय जीवन को आज भी प्रेरणा दे रहे हैं। नवीनता का झूठा आवरण डाल कर अपने को भुठलाने वाले कुछ नकलची और भारतीयत की दृष्टि से असांस्कृतिक और झूठे मिथ्यावादियों की बात दूसरी है। यह विशाल भारतीय जनसमूह धर्म और संस्कृति से ही प्रेरणा प्राप्त कर रहा है यह विशाल भारत अपनी संस्कृति और परम्परा का नवीन कठोर, एवं वास्तविक प्रवृत्तियों से समन्वय करने का जिस ढङ्ग से प्रयत्न करता आ रहा है वह सचमुच स्तुत्य है। चारों तरफ बिजली के बल्ब चमका कर लक्ष्मी जी के सामने घी का दीपक जलाना पाश्चात्य शिक्षालयों का भी श्री-गणेश हवन-पूजा आदि के द्वारा करवाना, धूप न जला कर अगरबत्तियाँ जलाना सात भाँवरों से पड़ जाने के बाद ही विवाह को पूर्ण मानना मिल या

फक्टरी के उद्घाटन पर "हनुमान जी का 'परसाद बाटना" आदि असख्य बातें सिद्ध करती हैं कि यद्यपि बाह्य रूप बदला जा रहा है किन्तु भारतीय जनता का अन्तर और विश्वास अब भी भारतीयता में रँगा है।

स्थायी आस्था और विश्वास पर जोर—

और फिर भारतीय संस्कृति ने बाह्य के परिवर्तन पर प्रतिबन्ध लगाया ही कब है! पतलून पहना जाय या धोती, अँगरखा पहने या कमीज चद्दर ओढ़े या शाल, साफा बाँधे या फेल्ट हैट लगाएँ, चप्पल पहनें या पोला, साड़ी पहनें या शलवार, एक चोटी कीजिए या दो—इससे तो हमको कभी कोई परेशानी होती ही नहीं। यह विभ परिवर्तनशील है रुचि की बात है। आज एक चीज अच्छी लगती है, उमर ढलने पर कल वही बेकार लगने लग सकती है। भारतीय धर्म और दर्शन आपकी रुचि पर उतना बल नहीं देना चाहता जितना आपके विश्वास और धारणा पर। और, जिस पर भारतीय धर्म और दर्शन जोर देता है, वह बीसवीं सदी के इस पूर्वार्द्ध में भी सन्तोषजनक रूप से वही भारतीय, रहा है। यह अच्छी बात थी। इसीलिये हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य ने भी आवरण भले ही पाश्चात्य स्वीकार कर लिया हो, क्योंकि हमारे जीवन का बाह्य रूप बहुत कुछ पाश्चात्य रंग ढंग का हो गया है, किन्तु उसकी आत्मा उसका विश्वास उसकी धारणाएँ निश्चित रूप से अधिकांशतः भारतीय ही रही हैं। उस दिन दर्शन शास्त्र के एक पण्डप्रवण से मैंने कहा—'मैं बीसवीं शताब्दी में हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना चाहता हूँ। और इसलिये कान्ट, हीगेल, आदि के दर्शन का भी अध्ययन करना चाहता हूँ। आप ।' मेरी बात पूरी होने के पहले ही वह अँगरेजी में बड़ी ऐंठ और शान तथा उच्चतर स्वर से बोले— नानसेन्स दि इन्फ्लुएन्स आफ कान्ट ऐंड हीगेल आन हिन्दी लिटरेचर ह्वाट इन्फ्लुएन्स यू पीपुल डोन्ट नो ईवन द स्पेलिंग आफ दीज ग्रेट फिलासफर्स।" 'फिराक साहब ने मुझसे कहा— 'इ ". लिश का हिंदी पर इन्फ्लुएन्स तुम जानते हो कितना पड़ा है कुल्ल इतना जितना कि कोई किसी बच्चे से शेक्सपियर की बातें करे और बच्चा महज इतना समझ सके कि शेक्सपियर अँगरेजी का एक बड़ा पोएट था! दैट्स आल!" बड़े लोग डाँट देते हैं, मैं चुप हो जाता हूँ, किन्तु इस तरह की डाँट खाने पर मैं हिन्दी के प्रति और भी विनत एवं श्रद्धामय हो उठता हूँ। हिन्दी जनता और हिन्दी-साहित्य ने इस तरह अपने को अभारतीयता से बचा रखा है, यह कम गौरव और अभिमान की बात नहीं है। सांस्कृतिक दृष्टि से इसका असाधारण महत्व होना चाहिए। पाश्चात्य धर्म और दर्शन भारत के लिये अभी कुछ ही लोगों की बुद्धि और विवेचन मात्र विषय बना है। वह हमारा जीवन नहीं बन सका।

हमारा सरकार नही बन सका। वह भारतीय जीवन का अतरङ्ग नही बन सका है और इसीलिए वह हिन्दी का भी अतरङ्ग नही बन सका।

आपद्धर्म

पिछली दो-तीन शताब्दियो म भारत की जो धार्मिक अवस्था थी उसे मैं शोभनीय और तात्विक दृष्टि स वाछित, नहीं सिद्ध कर रहा हूँ। मैं केवल यह कह रहा हूँ कि भारतीय इतिहास और सस्कृति के इस आपत्ति काल म, अन्धकार युग मे जबकि साधारण जीवन इस दुरवस्था मे डाल दिया गया था कि "भूखे भजन न होय गोपाला-ले लेव आपन कठी माला" की उक्ति चरितार्थ हो चली थी और पढ़े-लिखो की मनोवृत्ति ऐसी कर दी गई थी कि वे शरीर से भारतवासी मगर मन और बुद्धि स अगरेज बन जाय-भारतीय जन-मानस ने जिस ढङ्ग और जिस उपाय से अपनी आत्मा विश्वास और धारणा को अ-भारतीय होने से बचाए रखा वह निश्चित रूप से सराहनीय है। यह हमारा आपद्धर्म था और निश्चित है कि आपद्धर्म तात्विक दृष्टि से वास्तविक एव वाछित धर्म नही हुआ करता। उसमे सुधार की आवश्यकता एव अपेक्षा होती है। यह हमारी ही जीवनी-शक्ति की उदात्तता थी और उसका दुर्दमनीय आवेग था कि एक ओर आपत्ति-काल म नष्ट-मिट-खप जाने से अपने को बचाये रखने के लिये अपने धर्म और दर्शन को अपने व्यवहारिक जीवन म सुरक्षित रखने के लिए हमने एक विधि अपनाई और वह आपत्तिकालीन विधि जब हमारे धर्म और दर्शन को उनकी सजीवनी शक्ति-प्राणशक्ति-से वन्चित करके कपाल मात्र करने लगी तब हमारे कुछ धर्मसुधारको ने अपने गम्भीर चिन्तन और मनन के बाद उनको सम झने की नई-पुरानी दृष्टि देकर उनम पुन प्राण-प्रतिष्ठा कर दी उसे पुनर्जीवित प्रदान किया एव उसका पुनरुत्थान किया। बीसवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध वस्तुत इन दोनो प्रवृत्तियो से समन्वित था।

मठ-मन्दिर

सबस अधिक दुरवस्था इस युग मे हमारे मठो और मन्दिरो की हो गई थी। मठों के महन्त और मन्दिरो क बडे पुजारी जो किसी विलासी और पतित-जमीदार अथवा सेठ का-सा जीवन बिताते थे। इनसे लगी हुई सारी जमीन अथवा इनकी सारी सम्पत्ति प्राय व्यक्तिगत सम्पत्ति का रूप धारण कर लती थी। पूजा के रुपयो म महन्त का भाग बहुत अधिक होता था। इन मठो की शाखाएँ भी होती थी। उत्तराधिकारी बनाने के लिए लोग अपने भाई-भतीजो को ही प्राय चेला बना लिया करते थे। शाखा-मठ के महन्त के मरने पर उसके उत्तराधिकारी का चुनाव करना, उसे महन्ती की चादर देना, तथा उनसे धन की वसूली करना प्रधान मठ के ही महन्त

का विशेषाधिकार था। दीक्षा का ढग अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार इनका अपना अपना होता था। एक बात अवश्य सबमें पाई जाती थी। उत्तराधिकारी मे धार्मिक एव आध्यात्मिक योग्यता कुछ हो या न हो, किंतु व्यावहारिक और कानूनी दाव खेल सकने की क्षमता अवश्य होनी चाहिये। कमकाड वह जनता अवश्य हो-छिपे-छिपे मानता भले ही न हो। इन लोगों को अच्छे से अच्छा खाना, कपडा, सवारी, नौकर भोग-विलास की समस्त सामग्रिया सुलभ थी। नारी के प्रति इनका आकर्षण-मोह असाधारण होता था, ये नीच से नीच उपाय से नारी की प्राप्ति करने को उद्यत रहते थे। इनकी रखेलिनें जमीदारो की रखेलिनो की तरह समाज कुख्यात हुआ करती थी। इनके यहा वेश्याओं के नृत्य सवथा उचित माने जाते थे। साधुओं में पढने लिखने का अभाव था और उसके लिये प्रोत्साहन भी नहीं दिया जाता था। 'जो वतन मल सके, ठाकुर दे मदें दिखाना बना सके हजारों छोटे-मोटे शालीग्रामो को 'नहला' कर उन पर थाडा चदन और एक एक तुलसी का पत्ता डाल सके... मूर्तिया के समय समय पर नये कपडे बदल सके, आरती दिखला सके तथा सवेरे झाल-ढोलक लेकर बे-सुरताल के भजन गा सके-बनिया भगतो के साथ रामायण के गायन के नाम पर खूब गला फाड सके हुजूरिया (साधु-खिदमतगार) भंडारी (भडार के सामान का लेने-देने वाला) ......शरीर से कुछ काम कर देना दोनों शाम खा लेना और समय बचे तो कुछ गला फाड लेना या गप्पें उडाना बस यही साधुओ की दिन चर्या ... ..."[१]। राहुल जी ने साधु-निवास को "बौद्धिक अनशन"[२] कहा है। इनमे एक उक्ति प्रचलित है 'पढब लिखब बामन के काम भज बरागी सीताराम'। किसी सम्प्रदाय मे विधिवत् दीक्षित हुए बिना भी लोग साधू-बरागी बन जाते हैं।। इनकी साम्प्रदायिक सेना है 'खडिया पल्टन"। एक सम्प्रदाय अपने को दूसरे सम्प्रदाय से श्रेष्ठतर समझता है। इसका प्रदर्शन किसी पर्व पर पहले स्नान करने के अधिकार के रूप मे होता है। इसके लिये कभी-कभी इन्हें लडाई भी करनी पडती थी—सशस्त्र साधारण युद्ध। इनके अखाडे बने। दल सगठित हुए। इनका दल बडी धूमधाम से घूमने के लिए निकला करता था। हजारों की जमात चलती थी। बरसात के दिनो मे ये एक जगह रहते थे। उसके बाद फिर चलना प्रारम्भ हो जाता था। जहा ठहरना होता था वहाँ एकाध दिन पहले सूचना पहुच जाती थी। सारे गृहस्थ इनके ठहरने का खर्च उठाते थे। चाहे जितनी कठिनाई क्यों न हो, उन्हें यह करना पडता था। बचने का कोई चारा भी नहीं था। ये नामके तो साधू होते थे किन्तु इनके दल को देखकर लगता था कि समुद्रगुप्त पराक्रमार्क

---

१ राहुल सांकृत्यायन-कृत "मेरी जीवन यात्रा', पृ १६१।

२ वही, पृ १६२।

की दिग्विजय वाहिनी जा रही है। पुजारी मठाधीशों के लिये रुपये-पैसे के मामले में विश्वासघात करना वैसी ही साधारण बात है जैसे सामान्य व्यवसाय में। किसी भूले-भटके लड़के को पकड़ कर, किसी बड़े घर के लड़के को बहका कर, या कभी कभी महाराज के आशीर्वाद से उत्पन्न लड़के को माग कर उसे उत्तराधिकारी बनाने की प्रवृत्ति या फिर सामान्य "साधू" बनाने की प्रवृत्ति आज तक प्रचलित है सभी मठ और मन्दिर धनी और धन के आश्रित रह कर उनके आदर और उनकी प्रभासा के केन्द्र हो गये। इन मठों और मन्दिरों के पुजारी जी या बाबा जी के साथ प्राय रानी या सेठानी की प्रेम-कथाएँ जुड़ी हुई मिलती हैं। सबल का कोई कुछ बिगाड़ नहीं पाता, यत्र सब खुल आम होता है। जब खाने को तर माल मिले तो उससे कुछ न कुछ अनुचित हाल तो होगा ही। ये स्थान स्वाभाविक-अस्वाभाविक-दोनों प्रकार के व्यभिचार के अड्डे हो गये। किसी बड़े मठ या मन्दिर के साथ अवध साधु-सन्तानों तथा साधु-सेविकाओं की एक बड़ी सख्या का होना प्राय अनिवार्य हो गया है। तीर्थ, मठ और मन्दिर ढोंग, व्यभिचार, लूट, पाप और अनाचार के अड्डे हो गए हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि साधू हो जाने पर भोजन और वस्त्र की चिन्ता नहीं रह जाती ये पूर्णरूपेण परोपजीवी होते हैं और मानो अधिकारपूर्वक मागते हैं। ये साधू-सन्यासी बिना टिकट यात्रा करना अपना अधिकार समझते हैं। तीर्थ स्थान—जैसे-अयोध्या, काशी मथुरा आदि-ऐसे मठो मन्दिरो से भरे हैं। मथुरा और अयोध्या के मन्दिरो में सावन के महीने में जो झूला सजता है जिस ढग से देवता सजाये जाते हैं, रोशनी-सुगन्धि सजावट की जिस ढग से प्रतिस्पर्धा होती है और उसका जो परिणाम होता है तथा जिस प्रचुरता से नाच-गाना होता है उसके फलस्वरूप जनता की आखें और कान खूब तृप्त हो उठते हैं। दर्शकों में सजावट की चर्चा विशेष रूप से होती है। वहा यह कभी याद नहीं आने पाता कि राम ने रावण को मारा है, या कृष्ण ने कस और उनके अनुचर राक्षसों का बचपन में ही वध किया है वहां राम और कृष्ण का भोगी-विलासी रूप ही अधिक उभरता है। सामन्तवाद और ईश्वरवाद का यह विचित्र समन्वय है। सखी मत का प्रभाव इतने व्यापक रूप से इन पर पड़ा है कि तुलसी के राम-चरित-मानस का समझदारी से अध्ययन करने वाले व्यक्ति के मानस के राम और उनके भक्त तथा राम के जन्म-स्थान अयोध्या के मन्दिरो के राम और उनके भक्त जनों के वास्तविक भावचित्रों में कोई सगति ही नहीं बैठने पाती। बड़ा अटपटा-सा लगता है। राम या कृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं। सभी भक्त नारियां हैं। सदा मिलन की भावना है। वियोग की कल्पना मात्र भी नहीं हो सकती। वेश भूषा-नकल नारी की—भीतर सखी भाव बोलचाल परिवेश देखने-सुनने में जनानापन—पूजा—अर्चा में राजा—रानियों के

भोग की सारी आयोजना का विधान–भक्तों का स्त्रीलिंगी रहस्य नाम– राम के साथ एक सेज पर सोने तक का नाट्य होता है। राहुल सांकृत्यायन ने "मेरी जीवन यात्रा" में इन्हें "दाढ़ी वाली महिला" की संज्ञा दी है।

साधु–बैरागी

बैरागियों का एक दूसरा ही रूप है। बीच में बड़े–बड़े लक्कड़ों की धूनी–किनारे–किनारे आसन पर बाबा लोग–शिर पर लम्बी–लम्बी जटाएं–देह में अखण्ड भभूत–माला–चिमटा–लंगोटी, नहीं तो पूर्णतः दिगम्बर–गाजे की चिलम–साफी–मस्त बेफिकर–कल की चिंता से मुक्त–ब्रह्मज्ञान, वेदांत, आदि की भी चर्चा का अभाव! मनोरंजक बात तो यह है कि इन्हें जनता की अशेष श्रद्धा प्राप्त है। लक्ष्मी के स्वनाम धन्य वाहन–उल्लू–बनिया–महाजन नासमझ भोली–भाली जनता, सीधे–सादे श्रद्धा-प्राण गाव के लोग, अन्धविश्वास की प्रधान आश्रयदाता मूर्खमतिया, और उनके सुयोग्य जड़–बुद्धि पति देवता, रियासतों के राजा–रानी और उनके अधमगति कर्मचारी तथा उनके प्रभाव क्षेत्र में पड़ने वाली जनता के अन्दर की साधु–वैरागी, मन्दिर-पुजारी, आदि के प्रति होने वाली श्रद्धा को देख कर बरबस यह उक्ति निकल पड़ती है 'राम ते अधिक राम कर दासा"। पढ़े–लिखे साहित्यिकों के द्वारा भी सरल-चित्त ईमानदार–भले मानुस–सज्जन–नीति और निष्ठा के आग्रही–आडंबरशून्य किन्तु अधिकार–रहित व्यक्तियों की उपेक्षा और धन तथा अधिकार–सम्पन्न पाखंडियों, धार्मिक ढोंगियों और आडम्बरप्रिय किन्तु अन्य सभी प्रकार से अधम व्यक्तियों का आदर देख कर मन तड़प उठता है। लेकिन हो क्या, वह दृष्टिकोण बनाने का प्रयत्न ही नहीं संभव हो पाता जिसके द्वारा नैतिकता और सात्विकता का आदर संभव हो सके और ढोंगी को ढोंगी कह सकने का सामर्थ्य आ सके। इसी मूढ़ता और भूलता ने साधुओं वैरागियों के प्रति असीम श्रद्धा को संभव कर दिया। मनोविकारों से प्रेरित होकर इन लोगों का गृहस्थों की अपेक्षा कहीं अधिक अधम एवं गर्हित गति से नाचते रहना इनके तिलक, रामनामी अंचले, जटा–जूट, भभूत, एवं कर्मकाण्ड की चमक दमक में छिप जाता है। जनता "धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह, धीर्विद्या सत्यमक्रोधो" के प्रति श्रद्धावती न रह कर वेश–भूषा और चमत्कारों से प्रभावित होने लगी। वह आडम्बरों और पाखंडों को भगवद्विभूति समझ कर सिर झुकाने लगी। तांत्रिक पद्धति से संभव चमत्कारों में उसे भगवत रूप का साक्षात्कार होने लगा। एक नीति–कथा है कि एक की नाक कट गई और वह चिल्लाने लगा कि उसे ईश्वर दिखाई देने लगा है, और कहने लगा कि जिसे ईश्वर देखना हो वह अपनी नाक कटा ले। नककटों के इसी प्रकार के सम्प्रदाय में रमे हुए किन्तु विचारशीलता

का प्रदर्शन करने वाले कुछ व्यक्ति इन जोगियों के चमत्कारों की कहानियों को इस ढङ्ग से बार-बार दुहराते रहते हैं कि सामान्य जनता वाला व्यक्ति प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता। कभी-कभी तो अक्खड़ साधुओं की मार और उनकी गाली, आदि को आशीर्वाद और सौभाग्य के रूप तक में माना जाता है। खाने-पीने में उनका संयम, विधि-निषेध, किसी एक के ही यहाँ परशाद पाना, अपने साथ को भी अपने से दूर रखना, एकान्तवास पसन्द करना, आदि इनकी कुछ अन्य विशिष्टताएँ हैं।

शक्ति-पूजा और वध

जनता में शक्ति-पूजा का भी प्रचार है। कार्य-सिद्धि या प्राप्ति के लिए 'बकरा' चढ़ाने को मानता लोग मानते हैं। ऐसे लोगों को बकरा न चढ़ा पाने पर बड़ी बेचैनी होती है। ऐसी 'बलि' उचित है या नहीं—इस बात पर समाज में द्वन्द्व बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक से प्रारम्भ हो गया था। सामान्य गृहस्थ जनता मांस-मछली खाने को बहुत बुरा या अनैतिक कार्य नहीं मानती। हाँ, कण्ठी बाँध कर भगत बन जाने वाले का मांस खाना किसी भी दशा में उचित नहीं माना जाता। स्वतः ब्राह्मण-वर्ग की मांस भक्षण सम्बन्धी धारणाओं में स्थान-स्थान के अनुसार अन्तर है। उदाहरणार्थ गोंडा जिले के ब्राह्मण के लिये मांस खाने की कल्पना मात्र असम्भव है और देवरिया जिले में ब्राह्मण पण्डित को मांस और मछली खाते हुए देखा गया है। ऐसी स्थिति में मांस भक्षण का विरोध धार्मिकता के स्तर पर सम्भव है भी नहीं। उसका विरोध एकमात्र नैतिकता या मानवीय करुणा की दृष्टि से किया जा सकता है। राहुल सांकृत्यायन ने अयोध्या के अन्दर रानोपाली नामक स्थान में होने वाले ऐसे संघर्ष मारपीट का उल्लेख किया है।[1] कलकत्ता के काली देवी के मन्दिर में होने वाले भैंसे की बलि के विरुद्ध रामचन्द्र 'वीर' ने बहुत बड़ा अनशन किया था। बलि के नाम पर होने वाले इस रक्तपात से अहिंसा प्राण महात्मा गांधी भी छटपटा उठे थे और उन्होंने लिखा है, 'हमारा खयाल यह है कि वहाँ जो नगाड़े वगैरा बजते रहते हैं उनके कोलाहल में बकरों को चाहे जैसे भी मारो उन्हें कोई पीड़ा नहीं होती।'[2] गांधी जी ने वहाँ के भक्तों का इस सम्बन्ध में यह कथन उद्धृत किया है 'जीव हत्या को रोकना हमारा काम नहीं है। हम तो यहाँ बैठ कर भगवद् भक्ति करते हैं।'[3] मनोविकारों के बादलों में अहिंसा की धारणा का भास्कर अस्त हो गया। पूजा से विवेक निकल गया। हिंसा का अर्थ तलवार या ऐसे ही किसी हथियार से शरीर को काट-डालना मात्र समझा जाने लगा। अहिंसा के नैतिक पक्ष

१ मेरी जीवन यात्रा

के पङ्ख मव गये। गाधी जी ने लिखा है ।"मैं तो यह कहूँगा कि गाय की पूजा करने वाले भी हम हैं और उसका वध करने वाले भी हमीं हैं। गायों को हम इतना कम चराते हैं और बलो पर इतना अधिक वजन लादते हैं कि उनकी हड्डी ही हड्डी देखने म आती है। लकडी मे भी चोमनी लगा लेते हैं और जब बल नही चलता तब उनके बदन मे चुभो देते हैं।"[1] इस प्रकार गोवध-आन्दोलन विवेकमयी अहिंसा के नतिक स्तर से नही धर्मान्धता के मूढता एव विवेकान्धता के स्तर से होता है।

पूजा-पाठ एव स्थूल दृष्टि

हमारे सभी पव और त्यौहार आस्तिकता और धार्मिकता के रग मे रग गये, विवेक और नतिकता की उनकी खाल खुच गई। दीवाली म शाम को लक्ष्मी जी की पूजा होगी अर्थात् उनके सामने आरती घुमाई जायगी, उन पर फूल फेंका जायगा और पानी छिडका जायगा, लक्ष्मी की मिट्टी की मूर्ति के अधर-स्थल पर चीनी की मिठाई चिपका दी जायगी और घण्टी टुनटुना दी जायगी और रात मे जुआ खेल कर घर की वास्तविक लक्ष्मी को भी घर से निकाल दिया जायगा। कारण यह है कि हम यह समझते हैं कि लक्ष्मी का एक शरीर है जो यद्यपि हमे दिखाई नहीं देता किन्तु वह उसी शरीर से आती है और घर का दरवाजा बन्द देख कर लौट जाती है। धन तेरस को हम धन का त्यौहार मनाते हैं और अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक दाम पर बर्तन खरीद कर धन को लुटाते हैं। यम द्वितीया को कायस्थ कलम की पूजा करता है अर्थात् उस पर चन्दन आदि छिड़कता है किन्तु क्या अविवेक है कि उस दिन कलम से कुछ लिखा नही जा सकता। मूर्खतापूर्ण पूजा का इससे अच्छा उदाहरण और कहा मिलेगा! हम राम-नवमी और कृष्ण-जन्माष्टमी को प्रतीक नही मानते, उसका स्वरूप उपलक्षणात्मक नहीं है बल्कि अभिधात्मक है। हम मानते हैं कि उस दिन को १२ बजे रात को कृष्ण जी फिर पैदा हो गये। इन सब की अन्यथा व्याख्या तो सुधारवादी मस्तिष्क की बात है। अन्धविश्वास की बडी विचित्र स्थिति है। हमने धन्वन्तरि त्रयोदशी को "धन-तेरस" बना लिया और "बर-तन" लाभ को बर्तन-खरीदने में बदल लिया। पुराणों में लिखा है कि समुद्र से लक्ष्मी निकली थी। हमने उसका अभिधात्मक अर्थ लिया जसे दही मथा जाता है वैसे मेरु-मथानी से समुद्र मथा गया और उसमे से पालथी मारे एक सजीव सप्राण नारी बाहर निकली। भाग्य वाद का सहारा लेकर यह अन्धविश्वास यहा तक बढा कि एक सज्जन समुद्र के किनारे जा बठते हैं और पूछने पर कहते हैं यहा समुद्र के किनारे पडा हूँ— न जाने किस वक्त लक्ष्मी की लहर चली आवे।"[2] अभी कल तक पाव रोटी को

१ प्रार्थना प्रवचन भाग १, पृ २६१—२६२।

लोग विस्तानी भोजन समझते थे और बीसवीं शताब्दी के इस द्वितीयार्द्ध में भी ऐसे लोगों के सुम्पन सहज सुलभ हैं जो किसी के घर की तामचीनी की कटोरियों और तश्तरियों को देख कर यह अमृतोपदेश अवश्य देंगे कि इतने विचारशील होकर भी तुम मुसलमानी बरतन में खाना खाते हो। 'हिंदू पानी", 'मुस्लिम पानी' का साइन बोर्ड भले ही हट गया हो व्यवहार में वह अब भी है। खान-पान में छूत-छात की भावना का धार्मिक रूप ननद को भाभी के हाथ का भी भोजन एक विशेष मेंग बार के बिना नहीं करने देता। चमार की गिरवी रक्खी हुई चीज़ में भी छूत माना जाता था। धार्मिकता का एक बड़ा मनोरंजक रूप अयोध्या में सरयू के किनारे या तीर्थों में दिखाई पड़ता है जहां एक धोती मात्र पहने नंगे बदन थोड़ी-सी ज़मीन गीली करके उस पर पंडित जी दाल-बाटी बनाते हुए दिखाई पड़ जाया करते हैं। बहुत दिनों तक लोगों का यह विश्वास रहा कि चूंकि नल में चमड़ा लगा होता है इसलिये उसका पानी पीने से धर्म चला जाता है? बन्दरों को हनुमान जी की सेना समझ कर उन्हें चना खिलाने और उन्हें मारने वालों को घृणा की दृष्टि से देखने वाला चीटियों के झुंड पर चीनी-आटा छिड़कने वालों और धरम-करम करके 'पुन्न" कमाने वालों की आज भी कमी नहीं है। आस्तिक अंधविश्वास ने पीपल के पेड़ को 'बरम बाबा' और हर टीले को 'भुइयां बाबा' में बदल दिया है। राहुल सांकृत्यायन ने अपने यज्ञोपवीत संस्कार की विधि का उल्लेख इस प्रकार किया है, 'भगवती के नावदान में नया जनेऊ डुबाया गया और मेरे गले में डाल दिया गया। बस जनेऊ की विधि समाप्त।'[1] ब्राह्मण घरों में आज भी यज्ञोपवीत संस्कार के अवसर पर मंडप बनाया जाता है, कलश सजाया जाता है आम की लकड़ी के नये पाढ़े और लिखने के लिये तख्ती तैयार कराई जाती है पंडित आते हैं देर तक देवताओं की पूजा होती है मन्त्रोच्चारण होता है, लड़के को धोती-लंगोटी पहनाई जाती है कंधे पर मृग-चर्म और हाथ में पलाश का दंड देकर उसे पढ़ने के लिए काशी भेजा जाता है अर्थात् मंडप के अन्दर चारों तरफ घुमा दिया जाता है साथ ही वह भिक्षा मांगता है तो एक तरफ बैठी हुई औरतों का हुजूम और दूसरी ओर मर्दों का झुंड पात्र में पैसे आदि डालता है थोड़ी ही मिनटों में उसी मंडप के एक कोने में उसे यह कह कर लौटा लिया अर्थात् खड़ा कर लिया जाता है कि लौट चलो तुम्हारा ब्याह कर देंगे। इस प्रकार 'ब्रह्मचारी जी' घंटे-आधे घंटे के अन्दर काशी से सब कुछ पढ़ कर लौट आते हैं। चूंकि द्विज है-यह उनका दूसरा जन्म रहा है अतः खूब दान और ठाठ से इस अवसर पर दावतें चलती हैं। "ब्रह्मचारी जी" उस दिन कोट-पतलून-टाई-बूट पहनकर ताज मेंनन हुए नज़र आते हैं।।।

१ 'मेरी जीवन यात्रा', पृ ~३।

धरम करम भाव भक्ती—

साधारण धर्म-प्राण व्यक्ति – ब्राह्मण—'हनुमान-चालीसा', "हनुमान वाटुक" और "रामायण' का भक्त होता है। यही उसकी प्रस्थानत्रयी है। हिन्दी-देश की सामान्य जनता शक्ति, शैव, और वैष्णव पूजा का जीवन मे समन्वय कर लेती है। इसकी भी पूजा, उसकी भी पूजा—सब की पूजा। यहा शिवरात्रि पर "शंकर" की पूजा, संकट के अवसर पर शक्ति की पूजा, और राम-नवमी और कृष्ण-जन्माष्टमी पर विष्णु के इन अवतारों की पूजा हिंदुओ के घर मे घर होती है। सब देवता हैं, सभी पूज्य हैं। सन्ध्या—उपासना ब्राह्मणो की चीज समझी जाती है। "विश्वास फलदायक" तथा 'माना तो देव नही तो पत्थर" मानने वाली जाति ने पितरो के प्रति व्यावहारिक रूप मे प्रदर्शित की जाने वाली श्रद्धा को "सराध" मे बदल लिया और मान लिया कि "आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरं, सर्व-देवनमस्कारः केशवम् प्रति गच्छति।" उसने बिना तर्क के यह भी मान लिया कि जैसे हाड़-मास के मानव शरीर को प्यास लगती है वैसे ही भस्मीभूत शरीर वाले पितरो को भी प्यास लगती है और जैसे एक गिलास पानी पी लेने से हमारी प्यास बुझ सकती है वैसे ही क्वार के पितपख मे एक जगह बैठकर मत्राहूत जल-दान करने से न जाने कहा कहा और न जाने किस-किस योनि मे होने वाले पितर गण तृप्त हो जाते हैं। हमने मान लिया और हमने यह भी मान लिया कि पैसा जिसका लगेगा, आयोजन जिसकी ओर से की जायगी कथा का पुण्य उसी को मिलेगा भले ही वह कथा उसके निवास स्थान से कितनी ही दूर क्यो न हो रही हो और सुनने वाले का कान किसी दूसरे ही व्यक्ति का क्यो न हो। कालेजो और विश्वविद्यालयो मे 'अटेंडेंस बाई प्राक्सी' प्रचलित है यद्यपि 'अनरिकग्नाइज्ड" है किन्तु धर्म विधान मे हमारी जनता ने 'पुण्यार्जन बाई प्राक्सी' भी संभव कर दिया है। राहुल सांकृत्यायन ने ऐसे धार्मिक अंधविश्वास का एक बड़ा मनोरंजक उदाहरण प्रस्तुत किया है—'मेरी चचेरी मौसी जब पानी-बर्तन के कामों मे बहुत व्यस्त रहतीं तो वह अपनी मुंदरी रख जातीं। मा औरों के साथ उसे भी कहानी सुनाती। उपस्थित सखिया कान से उसे सुनती और मौसी की अनुपस्थिति मे उनकी मुंदरी सारी कहानी सुन लेती जिसे मौसी अंगुली मे पहन कर सुनने की भागिनी बन जातीं।'[१] साधारणत हिन्दू-समाज पुण्य के अवसरों पर, इच्छापूर्ति के अवसरो पर पूर्णिमा अथवा अमावस्या के अवसरों पर सत्यनारायण जी की कथा सुना करता है। पंडित जी बड़े प्रेम से यह कथा सुनाते हैं। रोचक बात तो यह है कि सत्य-नारायण व्रत की इस कथा में कथा सुनने के सुफल से संबंध रखने वाली और न

१ मेरी जीवन यात्रा', पृ ४।

सुनने के परिणामस्वरूप आने वाली विपत्तियों से सम्बन्ध रखने वाली कहानियाँ कथाएँ तो कई हैं किन्तु वह मूलकथा–सत्यनारायण बाबा की अपनी कथा–कौन सी है जिसके सुनने या न सुनने के परिणामस्वरूप ये कहानियाँ बनीं–कहीं नहीं है। सत्य नारायण जी की पूजा की विधि तो है किन्तु उनकी कथा कहीं नहीं है। कितनी बड़ी विडम्बना है कि इतनी सामान्य–सी बात–इतनी बड़ी प्रवंचना–पूरी की पूरी जाति की समझ में नहीं आ सकी और यदि आई भी तो उसकी प्रतिक्रिया न दिखाई पड़ी और बारिस्टर तथा प्रोफेसर से लेकर मूढ़ किसान–मजदूर सब के घरों में यह कथा चलती है। गङ्गा–स्नान से पाप कटना है दान–पात्र–कुपात्र का विचार किये बिना–देने से पुण्य–प्राप्ति होती है तीर्थ यात्राएँ (भले ही वे तीर्थ स्वतः पापों भिखमंगों और व्यभिचारियों के भ्रष्टाचार के गढ़ हों) और परिक्रमाएँ तथा मन्दिरों में मूर्तियों के दर्शन हमारे पापों का निवारण करके पुण्य–लाभ कराते हैं मरने की श्राद्ध–क्रिया, आदि और जीवन की विभिन्न स्थितियों पर शास्त्र विहित संस्कार हम धर्मनिष्ठ सिद्ध करते हैं (भले ही हम उच्चरित मन्त्रों का एक अक्षर भी न समझते हों और हमारे [illegible] द्वारा उच्चारण भी वह करता हो जिसका उच्चारण भाषा–विज्ञान की दृष्टि से नितान्त अशुद्ध हो) न खाना ही हमारा उपवास है और प्रति दिन वाला भोजन न करके [illegible] अधिक पौष्टिक तत्वों से परिपूर्ण भोजन डट कर करते रहना ही हमारा व्रत है। [illegible] द्वारा निर्दिष्ट कर्मकाण्ड हमारे धरम–करम है और इन कर्मकाण्डों का उल्लंघन करने वाला अधरम समझा जाता है। छुआछूत और ढोंग–ढकोसला तथा पाखंड और आडम्बर में तथा धर्म–कर्म में अभिन्नता स्थापित हो गई। इनके [illegible] में हम [illegible] हो गए और [illegible] है और यह [illegible] है कि विभिन्न धार्मिक [illegible] नहीं कर पाते वह [illegible] सीमाओं और विवशताओं के कारण किन्तु वे जो–कुछ करते थे [illegible] उनकी धार्मिक ईमानदारी पर कोई भी सन्देह नहीं किया जा सकता। वे वस्तुतः मानते थे कि ऐसा करने से लाभ होता है। ऐसा नहीं कि वे [illegible] थे कि [illegible] करते रहे हों। उनका पक्का विश्वास था कि गङ्गा जी में डुबकी लगाने से पाप कट जाते हैं। मूर्ति को भोग लगाने से भगवान प्रसन्न होते हैं। सत्यनारायण बाबा की कथा सुनने से पुण्य मिलता है। आस्था का अभाव शुद्ध [illegible] लोकमान्यों [illegible] के बाद ढोंग–ढकोसला हुआ है यद्यपि इस अभाव [illegible] नहीं। यह अभाव ऐसा सम्भव नहीं [illegible] विवेकानन्द का था। [illegible] है। [illegible] ऐसी है जिनका [illegible] मिलता है। [illegible] अधिक [illegible]।

इस्लाम-ईसाइयत और भारत

उपर्युक्त हिन्दू धर्म के साथ-साथ हिन्दी-प्रदेश मे इस्लाम भी इधर पाच-छः शताब्दियो से पर्याप्त फल गया था किन्तु इतने शताब्दियो तक साथ-साथ रहने पर भी और अनेक हिन्दुओ के इस्लाम स्वीकार कर लेने पर भी हिन्दू और मुसलमान धार्मिक दृष्टि से एक दूसरे से प्राय अपरिचित ही रह गये। इसके ऐतिहासिक कारण हैं। महमूद गजनवी का मूर्तियों और मंदिरो को तोड़ना और उनका अपमान करना, औरङ्गजेब का इतनी कट्टरता के साथ हिन्दुओ से व्यवहार करना, आदि इतना भयानक हो गया कि हिंदुओ का हृदय मुसलमानो और इस्लाम की ओर से मामा मत फट गया। हिन्दुत्व की जड बहुत गहराई मे थी और उसकी महानता तथा प्रभावशीलता असाधारण थी। इस्लाम का नवीन तेजोमय रूप विकराल था। उसकी तूती स्पेन से अफगानिस्तान तक बोल चुकी थी। राजपूतो की तलवारो के पानी ने जौहर ने अफगानों और अफगाना वालो की तलवारो के पानी से डट कर मुकाबला किया। नयपन और कूटनीति ने उन्हें जिता दिया, अपनी ही कमजोरियो के कारण हम हारते गये किन्तु न तो जीतने वालो ने जीत पर निश्चिन्तता की सास ली और न हारने वालो ने अन्तरतम से पराजय स्वीकार किया। राजपूत इसलिये कभी नही हारा कि वह वीरता म किसी से कम था? उसकी हार का कारण युद्ध म भी सहज विश्वास एवं शराफत का होना तथा कूटनीति और सामूहिक दृष्टि का अभाव था। इसलिय राजपूतो का आत्मसम्मान नहीं मरने पाई। राणा सागा राणाप्रताप हेमू सिक्ख, शिवाजी मरहठे आदि इसके प्रमाण हैं। केवल कूटनीति और राजाधिकार से या बल-प्रयोग से हिन्दू-जाति कभी भी नही मिटाई जा सकती अस्तु जीत का गर्व उधर से न गया अपराजेयता पर से विश्वास इधर का न हटा। भारत म इस्लाम की धाक उस आसानी से नहीं जमी जसे यूरोप मे जमी थी। कोई किसी को बचा नही पाया। दोनो एक दूसरे के एतिहासिक सिर-दर्द बनकर रह गय। दोनो अपने-वास्तविक स्वरूप का भूल गये और इसलिय ये दोनो एक दूसरे से मिल नही पाय। कितने भयानक आश्चर्य की बात है कि तेरह शताब्दियों तक के परिचय के बावजूद भी इस्लाम का अनुयायी आज ब्राह्मण को बरहमन ही कहता है। वह अंगरेजी के कठिनतम शब्दो के उच्चारण कर लेता है किन्तु 'हिमालय' को "हिमाला' ही कहता है। यह स्वाभाविकता पर कट्टरता की विजय थी। बीसवी शती के आगमन के समय हिन्दू-मुसलमान उस तराजू के दो पलडे हो गये थे जिसके सम-बिन्दु पर अंगरेज का हाथ था जिसका समतोल-सूत्र अंगरेजो की मुट्ठी म था। अंगरेजी साम्राज्यवाद ने इस्लाम और उसके अनुयायियों को हिन्दुत्व और उसके अनुयायियो-के-बराबर की स्थिति मे उतार कर बठा दिया। मुसलमान यह नहीं भूला कि कल ही उसने हिन्दुओ

पर शासन किया था और अगर मौका मिलता तो आने वाले कल या फिर उन पर शासन करेगा। इधर हिन्दू उनके अत्याचारों को नहीं भूला था। तब नये विद्वेष ने जन्म लिया लेकिन यह विद्वेष राजाओं और उनके स्वार्थी अनुयायियों तक ही सीमित रह गया। धार्मिकता के व्यावहारिक दृष्टिकोण से सामान्य जनता की प्रवृत्तियाँ एक सी हो गई थी। प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति का स्वरूप विभिन्न था। कर्मकाण्डों पर धर्म के मूल तत्व से अधिक विश्वास मुसलमान जनता की भी प्रवृत्ति थी। इसी प्रकार, अंधविश्वास उनमें भी था। मरे टाइटस ने लिखा है 'सामान्य जनता संतों में श्रद्धा स्वीकार करने की—इच्छा-पूर्ति करने की और चमत्कार उत्पन्न करने की उनकी शक्ति और क्षमता में विश्वास करती है और अपने इस विश्वास को सही उपयोगी, और व्यावहारिक मानती है।'[१] शायद यह हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा का ही प्रभाव है कि मुसलमान भाई भी पीरों, दरगाहों और कब्रों की पूजा अपने हिन्दू भाइयों की ही तरह करते हैं। कूँकि साहित्य की रचना पढ़े-लिखे लोग करते हैं और पढ़े-लिखे लोग जन-प्रवृत्तियों से उतने परिचालित नहीं होते जितने अध्ययन से प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों से इसलिये साहित्य की रचना के क्षेत्र में ऐतिहासिक कारणों से उत्पन्न पारस्परिक अविश्वास एवं अज्ञानता का ही अधिक प्रभाव पड़ा और वह भी इस रूप में कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में मुसलमान साहित्यिकों का योग प्रायः नगण्य-सा रहा है। यही स्थिति ईसाई धर्म की भी रही और उस धर्म के तत्वों का भी हमारे साहित्य पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। सच्ची बात तो यह है कि अपने सांस्कृतिक परिवेश में ईसाई धर्म इतना पाश्चात्य रहा कि उसे हम सच्ची दृष्टि से भारतीय धर्म कभी मान ही नहीं पाये और भारतीयता के रङ्ग में पूरी तरह से रँगा हुआ हिन्दी साहित्य उससे बिलकुल ही प्रभावित नहीं हुआ।

दर्शन

इस अध्ययन-काल में जो स्थिति हमारे धर्म की थी लगभग वही ही स्थिति हमारे दर्शन की भी थी। हमारे यहाँ धर्म और दर्शन भिन्न-भिन्न तत्व नहीं, पूर्ण रूप से अभिन्न तत्व हैं। हमने दर्शन के क्षेत्र को केवल चिन्तन, मनन और अनुमान का ही क्षेत्र कभी नहीं माना। भौतिक क्षेत्र की सीमाओं से अपने को मुक्त करके सुविशुद्ध प्रज्ञा के द्वारा चिन्तन-मनन और मन्थन करके जो पाया वह हमारा दर्शन बना और व्यावहारिक क्षेत्र में उसकी अवतारणा के लिये जो करणीय-जैसे कब-हुआ वही हमारा धर्म बना। अतएव भारत में एक का पतन और दूसरे का उत्थान संभव ही

१ "इस्लाम, इन इण्डिया एँड पाकिस्तान", पृ १७४।

नही था। और तब, बीसवी शताब्दी की भूमिका मे जो गति धर्म की हुई वही दर्शन की भी हुई। परिस्थितियो ने जैसे धर्म को जीवन के कर्म क्षेत्र से अलग कर दिया वैसे ही दर्शन को भी अलग कर दिया, किन्तु सास्कृतिक दृष्टि से जिस सुरक्षात्मक दृष्टिकोण से हमने धर्म को जितना और जहा तक अपनाये रक्खा उतना ही और वही तक दर्शन को भी नहीं छोडा। व्यावहारिक दृष्टि से धर्म भी समन्वयात्मक रहा और दर्शन भी। कुछ अद्वैतवाद, कुछ विशिष्टद्वैतवाद, कुछ आस्तिक, कुछ नास्तिक, कुछ मीमासा कुछ पाशुपत कुछ शाक्ति, कुछ शैव, कुछ गीता, कुछ उपनिषत् आदि दर्शनों की बातें आ कर यहा मिल गई। इस प्रकार एक ऐसी खिचडी बन गई जो हिंदी-समाज के व्यावहारिक जीवन के लिय पूर्णरूपेण सुपाच्य एव लाभप्रद हो गई।

ईश्वर, जीव, प्रकृति आदि,—

हिन्दू समाज मानता है कि ईश्वर एक है। वह सव समर्थ है। वह सव व्यापक, सच्चिदानन्द अनन्त सर्वनियन्ता सर्वान्तर्यामी, नित्य निर्विकार सवकर्मफलदाता अविनाशी गुणातीत और जगत की उत्पत्ति स्थिति सहार का कारण है। समस्त विरोधी वृत्तियो का वह सन्धि-स्थल है। समस्त वृत्तिया वहा पहुँच कर या उससे सबधित होकर अपनी-अपनी विशिष्टताएँ खो बैठती हैं। वह दीनदयालु दीनबन्धु कृपासागर और पापियों का उद्धार करने वाला है। वस तो वह निर्गुण है किन्तु चू कि वह सब-कुछ कर सकता है, इसलिये 'परित्राणाय साधुना विनाशाय च दुष्कृता धर्मसस्थापनार्थाय' युग युग मे अवतार लेता है। लीला करने की भावना से प्रेरित होकर वह सृष्टि की रचना करता है।

जीव ईश्वर का ही एक अ श है और अ श-रूप मे ईश्वर की समस्त विशेषताएँ उसमे वर्तमान हैं। भगवान की दो मायाएँ हैं—विद्या माया और अविद्या माया। इस अविद्या माया के वश होकर जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर काम, क्रोध, मोह लोभ, ममता, अहकार, आदि मे फँस जाता है और जन्म मरण के कष्ट उठाया करता है। वह असमर्थ हो जाता है और भाति भाति के कष्ट उठाया करता है ज्ञान मार्ग-अथवा मुक्तिमार्ग के द्वारा जीव भगवान का दर्शन प्राप्त कर सकता है और मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। ये तीनो गुण हैं सत्, रजस और तमस। माया से आवद्ध जीव प्रकृति का दास हो जाता है वह रूढिवादी हो जाता है और आख मूँद कर विश्वास करने लग जाता है।

कल्याण-मार्ग—

कहने के लिए तो हम वेदो पर विश्वास करते हैं किन्तु चू कि कलियुग मे वेदों का लोप हो गया है इसलिए हमारा विश्वास है कि भगवान का नाम रटने से ही हमारा

कल्याण हो सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से ब्राह्मण वाक्य और बाबा-वाक्य ही प्रमाण हो गया है। तात्विक दृष्टि से जगत माया है किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह सत्य और तथ्य है यहां रहने-और अच्छे ढंग से रहने के लिए उचित अनुचित सब-कुछ किया जा सकता है। पाप किये जाना और उसके फल से बचने के लिए कुछ पुण्य-काय जसे मगल का वरत, दान पुन्न, देवता की 'पूजा , पवित्र नदियों मे डुबकी लगाना कर्मकाडों का पालन, आदि-किये जाना हमारी वृत्ति हो गई है । मरने के बाद सांसारिक जीव के गन्तव्य पर पहुंचने के पहले उसे एक नदी पार करनी पड़ती है जिसका नाम है बेतरणी। उसे पार करने के लिए पूंछ का सहारा पाने को गाय का दान मरन के समय लोगों से कराया जाता है। नहीं तो जीव उसी म डूबा उतराया करता है। डूबता है तो जलचर कष्ट देते है, उतराता है तो खूंखार पशी !

प्रायश्चित और 'परसाद'—

जीव की मुक्ति का एक मार्ग और भी प्रचलित है। उत्साह और सक्रियता स पाप किये जाओ और मन्दिर म भगवान के सामने रोये जओ – हे भगवान्! हम बडे पापी हैं! आप ही हमारा उद्धार करो! हम बडे अधम हैं! हमे आप ही का सहारा है! भगवान एक पुलिस अफसर या प्रशासनिक अफसर की तरह है और जीव एक धनवान भिखारी की तरह! जो करता है वह करता ही जायगा और चिरौरी विनती करके अपने अपराध क्षमा कराता रहेगा। मरने के बाद जीव को भगवान की कचहरी म जाना पडता है। चित्रगुप्त भगवान की कोर्ट के पेशकार साहब हैं और यम भगवान जज साहब। ये भगवान जी चापलूसी पसद करने वाले – घूमखोर बड़े आदमियों जैसे हैं। हनुमान जी भैरों जी आदि देवता – देवी भी बडे लालची हैं। ये ढोंग आन के लड्डू या बकरे आदि को लालच मे अपने मौकापरस्त भगतो की आवश्यकता-पूर्ति कर दिया करते हैं।

धर्म—

धर्म सबधी हमारी दार्शनिक धारणा यह हो गई कि जीवन म धन सम्पत्ति, मान-मर्यादा बटोर कर बड़ा आदमी बन जाने के लिये जो भी ठीक समझो करो। इस तरह करो गोया अमर हो। उचित अनुचित धोखा धड़ी बेईमानी क्रूरता व्यभिचार आदि-सब कर मरते हो। हां साथ-साथ दान पुन जरूर करते चलो। मन्दिर बनवाओ धरम शाला बनवाओ पुजारी जी के जीवन निर्वाह की व्यवस्था किये रहो वामन देवता को सीधा देते रहो बस भगवान भला करेंगे? धाय धारण सबध अनिवार्य नहीं रह गया वह बडी आसानी स निवार्य हो गया। धम सिद्धान्त का अर्थ भाग्यवाद हो गया। अच्छा हुआ भाग्य से बुरा हुआ भाग्य स ६ साल की बच्ची के ६० वर्षीय और

राज–रोग के आश्रय–स्थान पति देवता मर गये, भाग्य से फेल हो गये, भाग्य से, मुकदमा हार गये, भाग्य से, गरीब हैं, भाग्य से, अमीर हैं, भाग्य से जो कुछ हो रहा है, भाग्य से जो–कुछ नहीं हो रहा है भाग्य से जो–कुछ नहीं हो सकता भाग्य से, जो–कुछ हो जायगा भाग्य से, भाग्य-तकदीर–एक विचित्र दार्शनिक सग्रहालय है जहा से ही सब–कुछ निकलता है। "करम" माने "कर्म" नहीं मत्थे की खाल के भीतर ब्रह्मा के द्वारा अदृश्य रूप से लिखित कुछ पंक्तिया हैं।

आवागमन और स्वर्ग–नर्क

हम आवागमन की बात मानते हैं। हम यह भी मानते हैं कि पिछले जनम मे जो–कुछ किया है वही इस जनम म भोगते हैं। साथ ही साथ, हम यह भी मानते हैं कि दो ऐसी जगह भी हैं–कहा हैं यह पता नही, शायद आसमान मे कहीं हैं–जिनमे से किसी एक जगह भगवान के राज्य की न्याय–व्यवस्था के निर्णय के अनुसार जीव को जाना पडता है और सूक्ष्म शरीर धारण करके–जो अंगूठे के बराबर होता है–अपने-अपने कर्मों के फल को भुगतना या भोगना पडता है। इन दोनो जगहो म से एक को स्वर्ग कहते हैं और दूसरे को नरक। चोरी करने वाले, व्यभिचार करने वाले आदि को क्या दण्ड मिलता है, इसकी तस्वीरें बाजारों में चार–चार या छः छः आनो म मिलती हैं। नरक ब्रिटिश साम्राज्य के किसी भयानक जेल की तरह है जिसके जेलर साहब का नाम है यमराज जी और स्वर्ग किसी समृद्ध–विलासी राजा की सुदर राजधानी की तरह है जिसके राजा साहब का नाम है इन्द्रदेव।

भगवत्–दर्शन और उसका फल–वरदान

भगवान का दर्शन हो सकता है किन्तु वह बडे भाग्य से ही होता है। उसका फल है अच्छे भोग के वर–दान की प्राप्ति। भक्त लोग अनन्त भक्ति का वरदान मागते हैं। मोक्ष की बात कभी–कभी सामने आ जरूर जाती है किन्तु सुन्दर भोग अथवा लोकोत्तर आनन्दमयी चिर अनुभूति को छोड कर निःस्वाद मोक्ष माग कौन और माग भी तो क्यो? नैतिकता और सयम की दृष्टि से हमारे जीवन–दर्शन की स्थिति बडी ही दयनीय हो गई। धर्म की आड में समस्त राजसिक और तामसिक क्रियाओ का अंधाधुंध प्रचलन हो गया। काम क्रोध, मोह माया–ममता, मद, मत्सर, अहकार, ईर्ष्या द्वेष क्षोभ, स्पर्द्धा ढोंग, ढकोसले आदि का धार्मिकों के समाज मे बेरोक टोक व्यवहार होने लगा। भक्तजन अपने महात्माओ के ऐसे कार्यो को देख कर भी इस प्रकार न देखने लगे मानों इनको देखना और इन पर विचार करना पाप है। कर्मकाण्ड में से नैतिकता का विचार निकल गया। विचार–विनिमय के लिये कोई सभावना ही नहीं रह गई। उपासना का सम्बन्ध भाव–विहीन कर्मकाण्ड से हो गया।

और ज्ञान से उसका सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। दर्शन कहानी-प्रधान हो गया और वे कहानियाँ प्रायः पुराणों से ली गई। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि इस युग में हमारा जीवन-दर्शन पतनोन्मुखी, भावशून्य, एवं भावनाशून्य भक्ति-दर्शन हो गया।

धर्म का वास्तविक रूप

हिन्दू-धर्म और दर्शन का वास्तविक रूप यह नहीं था क्योंकि यह रूप किसी महान् साहित्य की न तो प्रेरणा बन सकता है और न विषय। ऊपर कहा जा चुका है कि जो व्यक्ति को और समाज को धारण कर सके वही धर्म है अर्थात् जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को और समाज के कल्याणकारी स्वरूप को विघटित होने से बचाए रख सके एवं उनको स्वस्थ एवं स्वाभाविक रूप से गतिशील रख सके वही धर्म है। धर्म की उपर्युक्त परिभाषा 'धर्म' शब्द के लक्षण एवं अर्थ में ही निहित है। "धर्म" शब्द व्याकरण के अनुसार 'धृञ् धारणे' धातु के आगे 'मन्' प्रत्यय लगाने से बनता है। इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकार से हो सकती है —

१ ध्रियते लोक अनेन इति धर्मः—जिससे लोक धारण किया जाय वह धर्म है।

२ धरति धारयति वा लोकम् इति धर्मः—लोक को धारण करे वह धर्म है।

३ ध्रियते यः स धर्मः — जो दूसरों से धारण किया जाय वह धर्म है।

अमरकोष-कार के अनुसार 'धर्म' शब्द के अनेक अर्थ हैं यथा—सुकृत या पुण्य, वेदविहित विधि-सामान्य, यमराज, न्याय, स्वभाव, आचार, सोमरस को पीने वाला। निरुक्त में 'धर्म' शब्द का अर्थ 'नियम' बताया गया है। महर्षि कणाद ने कहा है कि जिससे इस लोक में उन्नति और परलोक में कल्याण या मोक्ष की प्राप्ति हो वह धर्म है। मनु के अनुसार समस्त वेद अर्थात् ऋक्, यजु, साम और अथर्व वेद धर्म के मूल हैं। गीता भी वेद में कहे हुए तत्वों को ही धर्म मानती है। क्रिया या कर्म द्वारा सिद्ध होकर जो कल्याण करे वही धर्म है। हमारे धर्म की उत्पत्ति सत्य से, वृद्धि दया और दान से, निवास क्षमा में, और नाश क्रोध से होता है। मनु के अनुसार वेद, धर्मशास्त्र, सदाचार और आत्मा का प्रियता धर्म का लक्षण है। देश-काल और व्यक्ति के लिये, व्यक्ति और समाज के लिये, सामान्य और विशेष परिस्थितियों में स्वाभाविक स्थिति और आपत्तिकालीन स्थिति में धर्म का स्वरूप बदला करता है परन्तु उसकी वृत्ति और लक्ष्य एक ही रहता है। धर्म के स्व

रूप को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है, "धर्म भारतीय विचारों और जीवन का आधार और युगों-युगों से उसकी सभ्यता का मार्ग-प्रदर्शक रहा है। अपने इतिहास के विभिन्न आवर्तनों और परिवर्तनों के बीच वह इस सिद्धान्त को अविचलित रूप से ग्रहण किये रहा। आत्मा की मुक्ति और स्वतन्त्रता उसके जीवन का पुरुषार्थ रहा है, मानव की दिव्यता और जीवन की मूलभूत एकता, उसका शाश्वत संदेश।"[1] गांधी जी के अनुसार धर्म वह तत्व है जो मानव के स्वभाव को बदल सकता है, जो मनुष्य को आन्तरिक सत्य से बांधे रहता है और जो उसे सदैव शुद्ध करता रहता है। सच्ची बात तो यह है कि धर्मचिर परिवर्तनशील मानवीय प्रकृति का अपरिवर्तनीय एवं शाश्वत धर्म है। राधाकृष्णन ने धर्म के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है, "धर्म शास्त्रार्थों विद्वत्निष्कर्षों अथवा संस्कारों के सम्पादन, एवं कर्मकाण्डों का नाम नहीं है। वह एक प्रकार का जीवन है। वह एक विशेष अनुभूति है। वह सत्य की प्रकृति का दर्शन है अथवा सत्य की अनुभूति भावातिरेक का रोमांच नहीं है या आत्मपरक सद्भावना नहीं है बल्कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व का अनुभव है। मूल सत्य से सम्बन्धित पूर्णतम अखंड व्यक्तित्व है। वह आत्मा का विशिष्ट दृष्टिकोण है ।[2] धर्म के शाब्दिक व्याकरण-सम्बन्धी, तथा मनु और कणाद आदि के द्वारा किये गए अर्थ, और धर्मप्रवण महात्माओं द्वारा उपस्थित किये गए स्वरूप तथा दार्शनिकों द्वारा की गई व्याख्या में कोई भी मौलिक अन्तर नहीं है। बातें एक ही हैं केवल कहने का ढंग दूसरा है। उसके स्वरूप को और अधिक बोधगम्य बनाते हुए स्वामी शिवानन्द ने लिखा है 'जो आत्मा को ईश्वर में पुनरावद्ध कर देता है वह धर्म है। मानव सदैव अपने पशुवत् अस्तित्व में सन्तुष्ट नहीं हो पाता। पशुओं की तरह जीवन बिताते रहने से उसको आन्तरिक तृप्ति नहीं होती। वह आध्यात्मिक सन्तोष आश्वासन और शांति चाहता है। ऐसे मानव की गहनतम आन्तरिक इच्छा-माग-की पूर्ति एवं तृप्ति धर्म से ही सम्भव है।"[3] वे यह भी कहते हैं 'धर्म किसी व्यक्ति के जीवन और उसके मानस पर सजीव प्रभाव डालता है। वह मस्तिष्क को आध्यात्मिक भोजन देता है। वह मानव को दिव्य बना देता है। वह दैवी जीवन है वह हृदय को पिघला कर उसे विशुद्ध कर के उसको परिवर्तित कर देता है। विश्वास धर्म की नींव है। आत्मानुभूति उसकी वाह्य रूपरेखा है। पवित्रता, सत्यनिष्ठा विशुद्धता और अहिंसा उसकी दीवारें हैं। नीर-क्षीर-विवेक, अपरिग्रह निर्मलता एवं प्रसन्नता, आत्म-संयम, चित्त

१ 'दि कल्चुरल हेरिटेज आफ इण्डिया", भाग, ४, भूमिका ७ वा पृष्ठ।

२ 'हिन्दू व्यू आफ लाइफ' पृ १२

३ 'वर्ल्ड पार्लियामेंट आफ रिलीजन्स', कममोरेशन वाल्यूम, पृ १०६।

की एकाग्रता और आकांक्षा उनकी ईंट हैं। प्रेम उसका सीमेंट है।"[1] एक ओर धर्म का यह रूप है, और दूसरी ओर अन्धकार के परिणामस्वरूप उत्पन्न-काजल की कोठरी से निकले हुए-हिन्दू धर्म का वह व्यावहारिक रूप जिसे हम पिछले कुछ पृष्ठों में देख चुके हैं। दोनों में बड़ा अन्तर है। यदि हम कुछ और गहराई से देखें तो धर्म की इस व्याख्या के अनुसार अपने प्रचलित हिन्दू धर्म का एक भी तत्व सम्भवतः न मिल सकेगा। और हिन्दू धर्म ही क्यों, ईसाई, इस्लाम पारसी, बौद्ध, जैन, आदि कोई भी धर्म अपने वर्तमान व्यावहारिक रूप में धर्म की इस कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता। इसका कारण है।

धर्म के रूप

बात यह है कि धर्म के दो रूप होते हैं-एक उसका प्राण अथवा मूल तत्व, और दूसरा, उसकी वाह्य रूपरेखा। धर्म का पहला रूप शाश्वत एवं सनातन होता है। उसका दूसरा रूप समय, स्थान एवं परिस्थिति सापेक्ष होता है। सान गुरू जी ने लिखा है धर्म में दो भाग होते हैं एक शाश्वत तत्वों का भाग और एक अशाश्वत तत्वों का भाग धर्म का धर्म रूप नहीं बदलता लेकिन नियम रूप-भाग-बदलता रहता है।"[2] धर्म के इन्हीं दोनों रूपों को ध्यान में रख कर अरविन्द ने लिखा था, 'धर्म मानव समाज का एक अत्यन्त महान् सांस्कृतिक प्रभाव है और इसने मानव जीवन के लिए शुरू से ही सबल प्रेरणा प्रदान की है इनकी विभिन्नताएँ स्पष्ट हैं और ये विभिन्नताएँ अपने-अपने जन्म-स्थान की भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्थितियों से सम्बन्ध रखती प्रतीत होती हैं यदि हम धर्मों के केन्द्रीय अनुभवों को विचारें उन अनुभवों को जिनसे उन का जन्म हुआ है तथा जिन्हें वे चरितार्थ करना चाहते हैं तो उनमें अपूर्व सहानुभूति और साम्य पाते हैं।'[3] गांधी जी ने भी कहा है, 'आप इतना समझ लें कि सभी मजहब अच्छे हैं।'[4]

हिन्दू-धर्म और दर्शन—

ध्यान रखने की बात यह है कि हिन्दू-धर्म का वह रूप विकृत नहीं हुआ। विकृत हुआ धर्म का वह भाग जो स्थान, समय और परिस्थिति-सापेक्ष है, और इस विकृति का भी स्वरूप यह है कि सहस्राब्दियों पूर्व निर्धारित हमारे कर्मकाण्ड वस के

---

१ वही, पृ ७३।

२ 'भारतीय संस्कृति', पृ ४२

३ अदिति, अरविन्द विशेषांक, अगस्त, १९५१, प १३२

४ 'प्रार्थना प्रवचन' पृ ६३

वैसे ही रह गये। वे परिवर्तनों के साथ-साथ परिवर्तित अथवा संशोधित नहीं हो पाये जिसका परिणाम यह हुआ कि परिवर्तित व्यावहारिक जीवन से उनकी संगति न बैठ सकी। उनके भीतर की सजीवता, स्फूर्ति, प्राणवान तत्व निकल गया। यही स्थिति अन्य धर्मों के साथ भी है। यदि हिन्दू-धर्म का सर्वस्व या प्रधान तत्व यही पक्ष होता तो हिंदुत्व कब का मिट गया होता, किन्तु यह तत्व हिंदुत्व का प्रमुख तत्व है ही नहीं यह प्रमुख उन लोगों के लिए है जिनके मस्तिष्क और चेतना के सभी दरवाजे और खिड़कियां बन्द हैं अर्थात् जो चेतना पाकर भी जड़ हैं। हिन्दी के साहित्यिक जड़ नहीं हैं और इसीलिये हिन्दी के आधुनिक साहित्य के निर्माताओं ने धर्म के इस भाग को साहित्य का विषय कभी नहीं बनाया—साहित्येतर स्थलों और अवसरों पर वे भले ही इसी को अपनाते रहे हों। हिंदू धर्म में प्रमुखता है उसके शाश्वत भाग की और उस भाग में न मालूम कितनी अनन्त संजीवनी शक्ति भरी हुई है।[1] वह मानव-आत्मा की शाश्वत वृत्तियों-प्रवृत्तियों पर आधारित है। वह व्यापक तत्वों से सम्बंधित है। वह मानव की सर्वव्यापक एवं सार्वकालिक प्रकृति की असली माँग की पूर्ति के लिए है। इसलिये राधाकृष्णन ने लिखा है, 'हिन्दुओं के धर्म को धर्म शास्त्र न कह कर जीवन-योजना कहना ही अधिक उपयुक्त होगा ।

संपूर्ण प्रयत्न का उद्देश्य मनुष्य की आध्यात्मिक पूर्णता है ।'[2] हमारा यह धर्म संस्थाओं और संस्कारों के जाल से लोगों के चरित्र एवं उनकी नैतिक भावनाओं को विकसित करने के लिए है। यह शाश्वत मानव द्वारा अनुमोदित आचार-शास्त्र है। जिस देश का धर्म इतना महान है, और साथ ही साथ बौद्धिक दृष्टि से जो देश कभी भी किसी से पीछे नहीं रहा उस देश का दर्शन भी वैसा नहीं हो सकता जैसा हमने पिछले पृष्ठों में देखा है क्योंकि वह भी एक आपत्तिकालीन दर्शन था। कारण यह है कि दर्शन धर्म का युक्तिवादी एवं बौद्धिक पक्ष है और धर्म दर्शन का व्यावहारिक स्वरूप है। हमारा दर्शन संसार में अनोखा है और हमारी दार्शनिक उपलब्धियां विश्व की अनिवार्य एवं गौरवमयी विभूतियां हैं। उन्हें खो कर संसार दरिद्र हो जायगा। वह संसार का प्रेरणा-स्रोत है। उसी ने भारत का मस्तक ऊँचा उठाया है।

दो संस्कृतियों का गलत दृष्टि लेकर मिलना—

अठारहवीं शताब्दी में विश्व-इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना हुई यूरोपीय शक्तियों का भारतीय शक्तियों से सम्पर्क। वे "सोने की चिड़िया" की खोज में भारत आये। उनका उस भारत से सम्पर्क स्थापित हुआ जिसके बारे में

---

1 भारत की अन्तरात्मा, पृ ३३।
2 वही, पृ ३१।

वे न मालूम कितनी रहस्यमयी बात और आश्चर्यजनक कथाएँ सुनते रहे। वे भारत में तो आये किन्तु भारत को समझने की अन्तर्दृष्टि लेकर नहीं आये। एक और दुर्भाग्य था। शान्त और उदार भारत उनके आने के कई शताब्दियों पहले से अन्ध विश्वासी, स्वार्थी, युद्धप्रिय और कट्टर, तथा स्व धर्म विस्मृत जाति के घनिष्ठतम सम्पर्क में आ चुका था। विरोधी प्रवृत्ति वाली जातियों के मिलने से जो आलोडन हुआ उसने कुछ नामसमझ किन्तु प्रभावशाली व्यक्तियों के कारण दोनों जातियों को समन्वित सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित स्थिति तक नहीं आने दिया और दोनों जातियाँ पतनोन्मुखी हो चली। मिलन यदि सम्मिलन में बदल सका होता तो यूरोपवासियों के आने के बाद का इतिहास कुछ और ही होता। किन्तु वह नहीं होना था, नहीं हुआ। यूरोपवासी भारत को समझने की अन्तर्दृष्टि लेकर आये नहीं थे और हमारी स्थिति ऐसी थी नहीं कि हम कुछ समझा सकते। परिणामतः उन्होंने मिथ्या दृष्टि से हमें समझना प्रारम्भ किया और समझे यह कि भारत यद्यपि सोने की चिड़िया है किन्तु जो-कुछ भारतीय है वह सब निकृष्ट है। धर्म, दर्शन साहित्य जीवन और समाज-सब तुच्छ हैं। वेद गडरियों के गीत हैं, धर्म रूढ़ियों-अन्धविश्वासों-अनतिकताओं से भरी कपोल-कल्पित क्रियाओं और कहानियों का बंडल है सारा का सारा साहित्य अँगरेजी पुस्तकालय के एक खाने से भी निकृष्ट है जीवन-स्तर निम्नतम है और लोग असभ्य हैं। परिणाम यह हुआ कि हमें सभ्य बनाने का उत्तरदायित्व उनके कन्धों पर भगवान ने अपने-आप डाल दिया और संसार से हमारा हम पापियों का उद्धार कराने का ठेका खुदा के बेटे के अनुयायियों ने ले लिया, और कितना 'उद्धार' किया इसका साक्षी-प्रमाण-गोआ, डामन डियू का इतिहास है। "सम्भवामि युग-युग' का नारा करने वाले को सम्भव' होने की आवश्यकता पड़ गई 'सृजाम्यहम्' को 'मुदित होने का उपयुक्त अवसर दिखाई पड़ने लगा। अवतार हुए—रामकृष्ण परमहंस विवेकानन्द रामतीर्थ दयानन्द, गाँधी आदि के रूप में। परमहंस ने प्राचीन ऋषियों-मुनियों की जीवन कथाओं पर विश्वास पैदा करा दिया, विवेकानन्द ने धर्म दर्शन को तात्कालिक जीवन से संयोजित कर दिया राम तीर्थ ने भारत माता को एक धार्मिक अस्तित्व एवं व्यक्तित्व प्रदान किया दयानन्द ने आर्य धर्म की पुनिपुणता तथा उसमें निहित शक्ति और क्षमता का दिग्दर्शन कराया और विरोधियों की अनर्गल बातों व अनाचार को रोक दिया, और गाँधी ने व्यावहारिक जीवन-राजनीति समाज आदि—में उनकी सम्भावनाओं और उपदेशिकाओं को प्रस्तुत करके दिखा दिया। इन अलौकिक शक्तियों ने कायापलट कर दी। डा० एस० शर्मा ने सन् १८८५ ई० (कांग्रेस के स्थापना काल वर्ष) से सन् १९२० ई० (मार्क्सवाद जनतन्त्र की स्थापना काल वर्ष) के बीच के समय को हिन्दुत्व

के आधुनिक महान् पुनर्जागरण का युग माना है।[१] हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य इसी कायापलट इसी पुनर्जागरण, इसी पुनरुत्थान, प्राचीन आत्मगौरव की प्राप्ति के इन्हीं प्रयासों, इसी मथन से निसृत नवनीत की साहित्य अभिव्यक्ति है—झांकी है।

हिन्दू-धर्म और ईसाई—

हुआ यह कि जब ईसाइयत शासकों का धर्म हो गई तब हम भारतवासी चौंक पड़े। इसके पहले हिन्दुओं का धीरज कभी विचलित नहीं हुआ। धर्म परिवर्तन अधिकतर उन्होंने ही किया जो हिन्दुत्व में अनाहत थे अथवा उससे त्रस्त थे। उच्च वर्गीय लोगों को—समझदार लोगों को—हिन्दुत्व ही प्यारा है। ईसाई धर्मप्रचारक हमारे धर्म में बुराइयाँ ही बुराइयां देखने लगे और अपनी पुस्तकों में वही सब लिखने लगे। हम भी सोचने लगे कि क्या सचमुच यही बात है। विचारशील लोगों ने हिन्दुत्व का पर्यवेक्षण प्रारम्भ किया। हमें अपनी बुराइयां दिखाई पड़ी तो साथ ही साथ अपनी महानता से भी हम परिचित हो गये। यहीं से पुनर्जागरण प्रारम्भ हो गया। हमने देखा कि अंगरेजी शिक्षा पाये हुए नवयुवक अपने धर्म और अपनी संस्कृति से घृणा करने लगे हैं। हमारी समझदार जनता ने इनका तिरस्कार और बहिष्कार प्रारम्भ कर दिया। ये छिछले लोग चरित्रहीन निकले और चूंकि आज भी भारत की एक प्रमुख सांस्कृतिक विशेषता यह है कि वह सब कुछ अपराध क्षमा कर सकता है किन्तु चरित्रहीनता को कभी भी क्षमा नहीं कर सकता अतएव उनसे, उनकी संस्कृति और उनके धर्म से अरुचि प्रारम्भ हो गई। ईसाइयों की सबसे बड़ी भूल यही थी कि सांस्कृतिक दृष्टि से वे भारतीय कभी भी नहीं हो पाये और इसी लिये वे भारत के अपने कभी भी नहीं हो सके। इन ईसाइयों ने हमारे धर्म और हमारी संस्कृति की कम हानि नहीं की। आक्रमणकारी मुसलमानों ने यदि मन्दिर तोड़े थे बलात् धर्मपरिवर्तन कराया था, और देवताओं की मूर्तियों को तोड़ा था तो इन्होंने भी हमारे धार्मिक साहित्य, हमारे धर्म, और हमारे देवताओं का अपमान किया। धर्म-परिवर्तन इन्होंने भी कम नहीं कराया। यही कारण है कि ये भी हमसे दूर हो गये—हमारे साहित्य से भी दूर हो गये। रहन सहन में मुसलमान भाई तो हमसे मिल-जुल गये थे लेकिन यह नवीन आक्रमण चूंकि धार्मिक कम, सांस्कृतिक अधिक था, अतः ये हमारे पास किसी भी रूप में न आ सके। ताजिए में लाखों हिन्दू भाग लेते हैं किन्तु क्रिसमस और ईस्टर में शायद एक भी हिन्दू भाग नहीं लेता।

---

१ "हिन्दूज्म थ्रू दि एजेज", पृ ३।

हिंदुत्व का पुनर्जागरण—

राधाकृष्णन ने ठीक ही लिखा है कि हिंदू धार्मिक पुनर्जागरण का कुछ कारण तो पाश्चात्य खोजों का परिणाम है, कुछ पाश्चात्य-शासन के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया है और कुछ ईसाई धर्म प्रचारकों के धर्म-प्रचार के विरुद्ध होने वाला विद्रोह है[1]। यह विद्रोह करने वाला वही था जो न तो प्राचीनता में पूरी तरह—अंध ढंग से—चिपका था और न आधुनिकता में रंग में रंग कर प्राचीन को बिल्कुल भुला ही बैठा था। वह प्राचीनता से भी प्रभावित था और आधुनिकता से भी। आधुनिकता से प्रभावित मस्तिष्क की तृप्ति नये तत्वों नई व्याख्याओं नये निष्कर्षों, और नये रूपों से होती है। हिंदू धर्म का अब हम इस रूप में रखना था कि वह इन मांगों की पूर्ति कर सके। आज के युग ने पुराने धर्मों और दर्शनों को इस बात की चुनौती दे रखी है कि वे अपनी उपादेयता और उपयुक्तता को एक बार फिर प्रमाणित करें नहीं तो नवीन परिस्थितियों की मांग और युक्तिवाद के हथौड़े से वे चूर चूर हो जायंगे। उन्नतिशील सभी धर्मों के नेता इस चुनौती का जवाब सोचने में संलग्न हैं। इस दृष्टिकोण से देखने पर विश्व का प्राचीनधर्म-स्थान हिंदुत्व एक नई आन बान से उभरता हुआ दिखाई पड़ रहा है। शीतलनलाल आत्रेय ने जे० बी० प्रैट का का यह कथन उद्धृत किया है कि आधुनिक विज्ञान की भूमिका में भी जो धर्म पुनर्जीवित होता हुआ दिखाई दे रहा है वह हिंदू धर्म ही है।[2]

नव शिक्षित व्यक्ति तथा पुनर्जागरण की प्रक्रियाएं

सबसे पहले यह दृष्टि उन्हें मिली जो नई शिक्षा पाये हुए थे और जिनके सम्बन्ध दूर-दूर तक थे और जिनके ज्ञान की सीमा व्यापक थी। पश्चिम की संस्कृति भारत में घुस आई और उसके साथ साथ वे कारण भी आये जिनसे नवीन आशाएं, आकांक्षाएं, और उत्सुकताएं पैदा हुईं। हिंदुओं ने अध्ययन किया और अपने को एक ऐसे संसार में पाया जिसमें राष्ट्रीयता प्रजातन्त्र, समानता और प्रत्येक व्यक्ति की महत्ता की भावना सामान्य रूप से प्रचलित थी। ये हिंदू नवीन शिक्षा व्यापार और यात्राओं के लिए उत्सुक हुए। वे विभिन्न वर्गों में घुले-मिले, विभिन्न जातियों के साथ बैठ कर खाया-पिया और समुद्र यात्राएं कीं यद्यपि जाति-बहिष्कार का डर बराबर उनके साथ रहा। नई आवश्यकताओं और आकांक्षाओं ने उनके व्यक्तित्व को विभिन्नता दी—स्वतन्त्र एवं मुक्त व्यक्तित्व आत्मविश्वासी व्यक्तित्व, क्रियाशील व्यक्तित्व। सारी १९ वीं शताब्दी में सामान्य जनता की स्थिति पूर्ववत् रही। यद्यपि परम्परा से चले आते हुए ढांचे वैसे ही रहे किन्तु कुछ उन साहसी व्यक्तियों के

---

१ ईस्ट एंड वेस्ट पृ० १०८

२ पापूलरहिंदूइज्मऐटए ग्लान्स की भूमिका।

मस्तिष्क में नये विचारों को जगह मिली जो ऐसे परिवर्तनों की राय देते रहते ,ये जिन्हें सुनकर पुराने विचारों और मान्यताओं के विश्वासी व्यक्ति चौंक पड़ा करें। नवीन सामाजिक मान्यताओं की स्वीकृति तथा व्यक्ति की स्वाधीनता और समानता के विचारों ने १९वीं शताब्दी में भविष्य के महान आन्दोलनों की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। इस प्रकार जन साधारण का उत्थान हुआ और उसने अपने को उस विशाल समाज के एक महत्वपूर्ण भाग के रूप में देखा जिसके सदस्य न केवल अपने असंतोष को ही व्यक्त करते थे अपितु आगे बढ़ कर न्याय की माँग करते थे। राष्ट्रवाद की विकासशील चेतना के कारण समाज का नवीन प्रकार से मूल्यांकन हुआ। इस मूल्यांकन का आधार जात-पात नहीं था बल्कि उससे आगे बढ़ कर सम्पूर्ण समाज को उसने ध्यान में रखा। १९वीं शताब्दी के सुधारकों ने सम्पन्न व्यक्तियों की आदर-भावना का ध्यान रखते हुए मानवतावादी दृष्टिकोण को सामने रख कर बातें कीं। वे बड़े लोगों को नाराज नहीं करना चाहते थे। उनको सफलता सीमित रूप में ही मिली। बीसवीं शताब्दी के नेताओं ने और अधिक खुल कर तथा यथार्थवादी दृष्टिकोण से बातें कीं। गांधी जी ने कहा कि अछूतों की सामाजिक स्थिति और उनकी आजीविका का स्वरूप सवर्ण हिंदुओं को ही बेहतर करना होगा। इन अछूतों को वे सुविधाएँ देनी होंगी कि वे अपना विकास आप कर सकें। यदि ऐसा नहीं होगा तो हिंदू धर्म नहीं बचाया जा सकेगा। जनसमूह की आर्थिक स्थिति सुधारने, गरीबी मिटाने, किसानों-मजदूरों के विभिन्न संगठन, आदि ने राष्ट्रीय आन्दोलन को गति दी तथा जमींदारों और पूँजीपतियों के विरुद्ध मोर्चा भी तैयार किया। समाज ने शिक्षा को तब तक मान्यता नहीं दी जब तक कि स्वयं उन्होंने ही आगे बढ़ कर अहिंसात्मक आंदोलनों में भाग लेकर अपने व्यक्तिगत और सामाजिक उत्थान के लिये प्रयत्न नहीं किये। सबसे महत्वपूर्ण बात थी जन-कल्याण की भावना और उसे नैतिक दृष्टि से उच्चतम काम घोषित करना। भारत की राजनीतिक एकता के कारण जन-कल्याण की इस भावना और कार्यक्रम को देश-व्यापी स्वरूप दिया जा सका। यह समस्त देश की जनता के हितार्थ परिचालित होने लगा। पाश्चात्य और भारतीय संस्कृतियों के संघर्ष ने भारतीय जीवन और विचारों के ठोस और सजीव मौलिक तत्वों की खोज की प्रेरणा दी।[1] बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह बात निश्चित रूप से दिखलाई पड़ रही थी कि हिंदू समाज में सांस्कृतिक आत्मचेतना पूर्णरूपेण जागरूक हो गई है।[2] भगिनी निवेदिता का यह कहना कि आज हिंदुत्व आक्रमण-

१ रोलेण्ड डब्ल्यू० स्काट कृत 'सोशल एथिक्स इन माडर्न हिंदूइज्म', पृ० ८ के आधार पर

२ 'दि कलचुरल हेरिटेज आफ इंडिया' भा० ४, पृ० ७२५।

शील हो रहा है यही सिद्ध करता है। इसका तात्पर्य यह नहीं था कि हिंदुत्व अन्य धर्म वालों का धर्म परिवर्तन करा के उन्हें बलपूर्वक हिन्दू धर्म स्वीकार कराना चाहता है बल्कि इसका तात्पर्य यह था कि वह सबसे यह कहता है कि सब लोग अपने-अपने धर्म के मूल स्वरूप को पहचान कर उसी में स्थित रहें। आज हिन्दू अपने धर्म और दर्शन के किसी भी स्वरूप के लिये शर्मिन्दा नहीं है। आज यूरोप के सम्मुख हिन्दू-धर्म और दर्शन की गौरव के साथ व्याख्या की जाती है। इस व्याख्याता के रूप में यदि एक ओर रोमा रोलां के शब्दों में हिन्दू धर्म के नेपोलियन, वेदान्त-केसरी विवेकानन्द हैं तो दूसरी ओर भारत के आधुनिक जनक राधाकृष्णन महात्माओं विद्वानों, और पुरातत्ववेत्ताओं ने भारत के प्राचीन और मध्ययुगीन गौरव को पुस्तकों, फाइलों और मिट्टियों से खोज-खोद कर सामने ला कर रख दिया।

समन्वय वृत्ति तथा अपने तत्वों की नई व्याख्याएं—

१ यदि धर्म के पुनरुत्थान के लिये एक बार भारत माता के एक सपूत, स्वामी शंकराचार्य ने उसमें उसके विरोधी, बौद्ध धर्म के सभी तत्वों मूल्यों को अपने में समाहित कर लिया था। तात्पर्य यह है कि हिंदुत्व पुनरुत्थान का मर्म जानता है। नवोत्थान की आधुनिक कला में भी प्रकारान्तर से यही प्रक्रिया द्रष्टव्य है। इस युग में हिन्दूधर्म ने अनेक आधुनिक पाश्चात्यकोमू को अपने अन्दर मिला लिया है और अक्सर लोग यह कहते हुए दिखाई पड़ते हैं–यह भी हमारे यहां था यह भी हमारे यहां था हमारे पास हवाई जहाज भी थे, हमारे यहां गणतन्त्र भी था, आदि आदि। ऐसा हम गलत कहते हों-यह बात नहीं है। झूठ के पांव नहीं होते और झूठ बोल कर हम ढोंगी भले ही सिद्ध हो जाते किन्तु हमारा पुनरुत्थान कभी भी नहीं हो सकता था जब अम्बा, अम्बालिका में उदयशंकर भट्ट आज की नारी भावना की प्रतिशोधात्मक वृत्ति दिखाते हैं या जब यशपाल अपनी 'दिव्या' में तथा राहुल अपने 'जय यौधेय' आदि में और वृन्दावन लाल वर्मा अपनी 'मृगनयनी' में आधुनिक युग की प्रवृत्तियां चित्रित करते हैं तब उसकी पृष्ठभूमि में हिंदुत्व के पुनरुत्थान की यही प्रवृत्ति काम करती हुई दिखाई पड़ती है। ऐसा करने की प्रक्रिया में हिंदुत्व पुनः सजीव, सप्राण सक्रिय सक्षम, सपूत एवं सशक्त हो गया। रोलेण्ड डब्लू० स्काट ने लिखा है, 'पाश्चात्य संस्कृति की बाढ़ रोकने और उसका मुकाबला करने के लिये आविष्कृत विभिन्न तत्वों के परिणाम के रूप में ही प्राचीन भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान, नवीन चेतना एवं उसके विभिन्न आन्दोलनों को देखा जा सकता है।'[१] धार्मिक और दार्शनिक आन्दो

१ सोशल एथिक्स इन माडर्न हिंदूइज्म पृ० १६।

लना का विशेष रूप से यही लक्ष्य रहा है। पाश्चात्य संस्कृति के दोषों की आलोचना यथार्थवादी दृष्टिकोण से की गई और उसकी वास्तविक योग्यता का मूल्यांकन किया गया। साथ ही साथ, प्राचीन भारत की विशेषताओं और उसके आध्यात्मिक मूल्यों की आदर्श झांकियां प्रस्तुत की गईं। प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय जीवन और दृष्टिकोण की त्रुटियों एवं असफलताओं के कारणों की ओर से आंखें फेर ली गईं। संघर्ष स्थिति में—जीवन और मरण के संकट की घड़ियों में—कमजोरी के गीत गाये भी नहीं जाते। वे संस्कृति के पराजय की नहीं—मरण की घड़ियां थीं। भारत राष्ट्र अफ्रीका महाद्वीप के रूप में और भारतीय, नीग्रो के रूप में परिवर्तित किये जाने वाले थे। देश को उप महाद्वीप की ऊंची स्थिति तक उठा कर अब महाद्वीपत्व के गर्त में फेंका जाने वाला ही था कि हम जग गये। हमें हर तरह से अक्षम किया जा रहा था। और इतना किया जा चुका था कि उसकी विरासत में गुलाम मनोवृत्तियां से-आजाद होने के पच्चीस वर्ष बाद तक भी हम मुक्त नहीं हो पाये हैं। ऐसी स्थिति में सर्व प्रथम लक्ष्य हुआ राष्ट्र की भलाई का—बंधन मुक्ति का।

हिन्दुत्व का नया रूप—

राष्ट्र हित के विचारों ने ही अनेक सामाजिक सुधार आन्दोलनों को भी प्रेरणा दी थी क्योंकि आधुनिक राष्ट्र के विकास की भावना से उत्पन्न परिस्थितियों के ही कारण धर्म ने सामाजिक चेतना के अनेक मूल्यों को अपने अन्दर आत्मसात किया था। राधाकृष्णन, आदि भारतीय विचारकों ने इस आवश्यकता की पूर्ति की और आगे बढ़ कर सबल स्वरों में यह घोषित किया कि हिन्दू धर्म इस आक्रमण को झेल लेने में पूर्णतः समर्थ है। उन्होंने यह भी दिखाया कि आज राष्ट्रीय और सामाजिक विकास और उन्नति के लिये जिन गुणों की आवश्यकता है वह हिन्दुत्व के अन्दर उत्कृष्ट रूप में मौजूद है। सामाजिक अवनति के कारणों के कीचड़ से जिस हिन्दुत्व को निकाल लिया गया था वह हिंदू धर्म व्यक्ति और समाज के उत्थान की शक्ति प्रेरणा प्रोत्साहनप्रद साधन स्रोत बन गया। राधा कृष्णन ने कहा कि धर्म आध्यात्मिक अनुभवों और विचारों का सूक्ष्मतम संकलन है जिसका आधार न तो रूढ़ियां और कर्मकाण्ड हैं और और न शास्त्र प्रामाणिकता। अरविन्द ने भी धर्म के नैतिकता-आध्यात्मिकता प्रधान स्वरूप को ही मान्यता दी न कि रूढ़ियों और कर्मकाण्डवाले स्वरूप को। गांधी जी ने जब सत्य और अहिंसा को अपना धर्म कहा तब वह अविभाज्य रूप से नैतिकता से सम्बद्ध हो गया। गीता की अनेक व्याख्याओं ने भी यही सिद्ध किया कि आधुनिक नैतिकता और पवित्र आचार शास्त्र से पृथक धर्म का कोई भी अस्तित्व नहीं इस प्रकार धर्म दर्शन को समाज से नियोजित करके संसार मुक्ति तथा संसार-सापेक्षता के महत्व के बीच की खाई को पाटने की कोशिश की गई। गीता का निष्काम कर्मयोग इस

प्रयत्न में काफी हद तक सहायक सिद्ध हुआ। इस प्रकार समाज सम्बन्धी धार्मिक धारणाओं में परिवर्तन हुआ। अब 'करम' को हम "भाग्य" न मान कर "काम" या 'क्रिया' तथा उसकी समष्टि मानने लगे। अब हमारी धार्मिक पवित्रता कपड़ा उतार कर खाने, नहा कर खाना बनाने, अथवा कोयले से खिंची लक्ष्मण-रेखा की वन्दिनी नहीं रह गई बल्कि वह मानसिक क्षेत्र का तत्व बन गई। अब हम विश्व जनीन नैतिकता की बातें सोचने लगे और इस चिंतन का आधार बना उपनिषदों का "तत् त्वम् असि" तत्व। सारे संसार को उसी की अभिव्यक्ति के रूप में देखने पर कृत्रिम भेद-भाव की दीवाल ढहने लगीं और समस्त विश्व को नैतिक एकता विश्व मानवता का स्वर उभरा। सामाजिक आर्थिक राजनीतिक दृष्टिकोणों की महत्ता और आवश्यकता ने एक नये उदार और व्यापक धार्मिक दृष्टिकोण की सृष्टि की और इस दृष्टिकोण को एक नया नैतिक आधार मिला। जीवन के आध्यात्मिक पक्ष और लक्ष्य को भौतिक एवं सांसारिक पक्ष और लक्ष्य से मिला दिया गया। पहले धर्म की उपेक्षा की गई। फिर प्राचीन भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण तत्वों को अपनाया गया। धर्म को जीवन के अनेक व्यावहारिक क्षेत्रों से कुछ दूर रखा गया जैसे, व्यवसाय का धर्म से कोई भी सम्बन्ध नहीं रह गया। परिणामतः धर्म ने हमारे स्थूल और भौतिक जीवन और विकास में पग-पग पर बाधा डालना या हस्तक्षेप करना बन्द कर दिया। वैसे भी, धर्म व्यवसाय आदि क्षेत्रों से तत्वतः निकल ही गया था। वहाँ यह रह गया था केवल प्रदर्शनार्थ। अब इसको इस रूप में वहाँ से बिलकुल हटा कर इसके सूक्ष्म और तात्विक रूप का यथासम्भव अधिकाधिक आदर करना प्रारम्भ कर दिया गया। रूढ़ियाँ अपना महत्व और अपनी प्रतिष्ठा खो ही रही थीं। कुछ ही दशाब्दियों के परिश्रम के परिणामस्वरूप शताब्दियों एवं सहस्राब्दियों पुराना धर्म आधुनिक युग और समाज के अनुरूप हो गया। ये नेता जिसे हिन्दू धर्म का मूल तत्व समझते थे उसे अक्षुण्ण रखना चाहते थे। ये बीसवीं शताब्दी के लिये किसी नये धर्म की खोज नहीं करना चाहते थे। ये शुद्ध हिन्दू ही रहना चाहते थे। आलोचना भी होती थी कि हिन्दू धर्म की अनेक आधुनिक प्रथाएँ और रूढ़ियाँ रीतियाँ उसके अपने मूल रूप से दूर हटी हुई हैं। उन्होंने उसकी पौराणिकता की या तो उपेक्षा की या आलोचना ताकि वे अपने मूल स्रोत तक पहुँच सकें और मूल रूप के अधिकाधिक निकट तक पहुँच जायं। उनकी इन आलोचनाओं में पर्याप्त सत्य और बल था। परिणाम यह हुआ कि ये रूढ़ियाँ और प्रथाएं अपने विकृत रूपों में आधुनिक हिन्दी साहित्य से भी बहिष्कृत हो गईं। इन नवीन नेताओं ने आराधना के नवीन रूपों का समर्थन किया जो अपेक्षाकृत अधिक सरस और नैतिकता के अधिकाधिक निकट थे तथा लोग जिन्हें अधिक से अधिक समझ सकते थे। संस्कृत का आदर कम

नहीं हुआ परन्तु प्रादेशिक भाषाओं को अधिकाधिक अपनाया गया। धर्म के एकमात्र ठेकेदारों का इन्द्रासन हिल गया। पूजा-पाठ के लिये हम एकमात्र ब्राह्मणों पर ही आधारित नहीं रह गये। स्वामी दयानन्द की "संस्कार-विधि" के सहारे हम स्वयं संस्कार सम्पन्न करने लगे। मुंशी सदासुख लाल 'नियाज' के वंशज श्री व्रजबासी लाल गौड़ सत्यनारायण जी की कथा उसके हिन्दी अनुवाद के सहारे पूरे विधि विधान के साथ कर लेते हैं-बिना 'पंडित जी' के ही। आधुनिक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में भी इन 'पंडित जी महाराजों' की अवतारणा 'गुरुणमस्वभावश' हुई न कि इसलिये कि उनके पिता जी और माता जी का जन्म ब्राह्मण कुलों में हुआ था और वे भी ब्राह्मण कुल में जनमे हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'मुद्राराक्षस' के चाणक्य 'प्रसाद' के चन्द्रगुप्त के चाणक्य, और रामकुमार वर्मा के चाणक्य का इस दृष्टि से सूक्ष्म विश्लेषण हमारे भावनाओं एवं धारणाओं के विकास की या पुनरुत्थान की मोड़ों का सूचक सिद्ध हो सकता है।

धर्म सुधार

धर्म-सुधारकों का आदर बढ़ा। वे ऋषि, महर्षि, महात्मा एवं स्वामी के विशेषणों से विभूषित किये गये। रूढ़ि-गत एवं परम्परा-गत नैतिकता की जगह वैयक्तिक नैतिकता का उदय हुआ। प्रत्यक्षत दोनों एक दूसरे के विरोधी सिद्ध हुए। विजय वैयक्तिक नैतिकता को मिली। जाति-बहिष्कार और हुक्का-पानी के बन्द किये जाने की धर्मक्रिया निष्प्रभ हो गई। परम्परा का पूर्णत सम्बन्ध-विच्छेद नहीं किया गया और न इस प्रकार के किसी समाज-विशेष का ही उदय हुआ। अपनी अपनी विशेष मनोवृत्ति और धारणा के अनुसार व्यक्तियों ने अपनी-अपनी नैतिकता का स्वरूप निर्धारित किया। रूढ़िया और प्रथाओं के विरुद्ध होने वाले संघर्ष में व्यक्ति ने तर्क, बुद्धि तथा विश्लेषण के अस्त्रों का यथाशक्ति सहारा लिया। आशंकाएँ की गईं और बौद्धिक स्तर पर उनका समाधान मांगा गया। शास्त्रों की व्याख्या करने की मूलभूत समस्या के हल के लिये बड़ी सतर्कता के साथ बौद्धिक स्तर पर विचार विवेचन और विश्लेषण किया गया। धार्मिक जगत में सार्वजनिक व्याख्यानों की बड़ी चहल-पहल हुई। आर्यसमाजियों सनातन-धर्मावलम्बियों, ईसाइयों और मुसलमानों के परस्पर शास्त्रार्थ-मुबाहिसे-हुआ करते थे। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र के छपे हुए व्याख्यान बड़े ही प्रिय हो रहे थे। आर्यसमाजी हिन्दुओं के बीच प्रिय भी थे और अप्रिय भी अप्रिय इसलिये थे कि वे परम्परा-गत हिन्दू धर्म के स्वरूप की तीव्र आलोचना करते थे, प्रिय इसलिए थे कि वे ईसाइयों और मुसलमानों-जैसे हिन्दुत्व-विरोधियों को मुँह तोड़ उत्तर देते थे-ईट का जवाब पत्थर से। आर्य समाज आक्रमणशील हिन्दू धर्म की तोप था। मानसिक शान्ति को लक्ष्य रूप में स्वरूप किया गया।

बुद्धि पर शास्त्र का अंकुश—

बुद्धि के असीमित और निरंकुश उपयोग के खतरे से हम परिचित थे और इसलिए उसमें सावधान रहे। उसके ऊपर हम आत्मा का शास्त्र का—अंकुश स्वीकार किए रहे। फिराक साहब इतना सही कहते हैं— 'तुम्हारे माडर्न हिंदी लिट्रेचर का कोई भी वर्थ ह्वाइल इंटेलेक्चुवल बेसिस है ही नहीं—इट्स एप्रोच इज नाट इंटेलेक्चुवल। लेकिन जब इसके बाद गरजते हैं— यह मूर्खों का, गधों का, सेकेण्ड क्लास का लिट्रेचर है—उनका लिखा लिट्रेचर है जो हिन्दी के एलावा और कोई भी सब्जेक्ट लेकर गुड डिवीजन में एम० ए० नहीं कर सकते और इसके बाद तुलसीदास, गुप्त, पन्त और निराला', आदि के लिए जब वे भयानक गालियां बकते हैं तब उनकी नीयत पर सन्देह होने लगता है। यदि हमारे साहित्य का आधार पाश्चात्य दर्शन या पाश्चात्य बुद्धिवाद नहीं है तो वह तिरस्करणीय नहीं है—कान्टेम्प्ट की चीज नहीं है। इस बात के प्रति अनिष्टता न बरतते हुये भी मैं अपने साहित्य की इस प्रवृत्ति पर गौरव किन्तु ही कर सर ऊँचा कर लेता हूँ। हम अच्छे हैं या बुरे हैं जो-कुछ हैं—स्व-निर्मित तो हैं—अपने घर में तो हैं। दूसरे की पर धर्म की उतारी हुई खाल तो नहीं ओढ़ी या नहीं ओढ़ रखी है। इन्सान के विकास की दृष्टि से ऐसे लोग इंगलैंड अमरीका और रूस को सबसे अच्छा तथा इस्लाम को ही उसके बाद का समझते हैं। हिन्दुत्व को वे बोगस समझते हैं!! अस्तु आधुनिक हिन्दी साहित्य में बौद्धिकता या बुद्धिवाद की प्रधानता नहीं है। इधर हाल में अज्ञेय-वादियों ने अथवा यथार्थ-वादियों ने कुछ ऐसा स्वांग जरूर भरा है किन्तु उनका व्यापक दृष्टि से न कोई अस्तित्व है और न महत्व तथा न प्रचार ही। उसमें अनुभूत्यात्मक ईमानदारी का अभाव है। वह न जन-साहित्य है न महत्-जन-साहित्य है। आधुनिक हिन्दी साहित्य का जो गौरव और महत्व है वह इसकी इस प्रवृत्ति के कारण नहीं क्योंकि इसके पीछे हमारी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि नहीं है। आधुनिक हिन्दी साहित्य पर जो हम गर्व कर सकते हैं वह इसी कारण कि न तो वह विशुद्ध रूप में बुद्धि प्रधान है और न हिन्दुत्व-विहीन। स्वतन्त्रता, समानता और न्याय का नवीनतम स्वरूप और उनकी सब नयी धारणाएँ हम पश्चिम से मिल ही रही थीं। सबल, सशक्त और उन्नति शील होने की उत्तेजक भावना जनसाधारण में आ गई।

नैतिक जीवन की आधारभूमि

वेदान्त ने नैतिक जीवन के लिए विशद आधारभूमि तैयार की। 'तत् त्वम् असि' तू वही है, और मैं वही हूँ इसलिए पड़ोसी को हानि पहुँचाना अपने को हानि पहुँचाना है—या उसकी सहायता अपनी ही सहायता है' —

}

चिन्तन की—नवीन नैतिक चिंतन की—यह प्रक्रिया हो गई। जीवन के धार्मिक या आत्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये नैतिकता अनिवार्य समझी गई। सभी धर्म सुधारकों के विचारों के अनुसार नैतिकता विहीन धार्मिकता को आडम्बर समझा गया। स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि मैं उस ईश्वर या धर्म मे विश्वास नहीं करता जो एक विधवा के आंसू नहीं पोंछ सकता या जो एक अनाथ के मुख मे रोटी के दो कौर नहीं दे सकता। गाधी जी ने लिखा कि वे उस ईश्वर के अतिरिक्त जो करोड़ों मूक प्राणियों के अन्तर मे पाया जाता है और किसी ईश्वर को नहीं मानते '[1] वैयक्तिक धर्म बुद्धिवाद के अनुकूल एवं युक्तियुक्त नैतिकता, और सामाजिक क्रियाकलापों को, इन तीनों को, अविच्छिन्न रूप से परस्पर सम्बन्धित पाया गया। सुशिक्षित सपन्न और प्रभु वर्ग के लोगों ने भी दीन-दलित वर्गों और जातियों की भलाई के लिये इनकी ओर से कार्य करने प्रारंभ कर दिये। सारे समाज के कल्याण की बातें सोची जाने लगीं। धर्म और दर्शन की वाह्य असमताओं ने हम पर-रोका था, जब वह सक्रिय प्रगतिशील हुआ तो हम भी उर्ध्वमुखी हो उठे। आधुनिक हिन्दी साहित्य इसी पृष्ठभूमि मे लिखा गया है। इसी मानसिक स्थिति वाले कलाकारों की कृतियों से वह प्रोज्ज्वल है।

हिंदुत्व का वास्तविक मूल्यांकन और उसके प्रति गौरव का भाव—

इस मनोस्थिति का परिणाम यह हुआ कि हमारे देखने और समझने का ढंग बदल गया। एक समय था जब अपने को हिंदू कहने में लोगों को शर्म मालूम होती थी किन्तु इस पुनरुत्थान के परिणाम स्वरूप एक दिन वह आ गया है जब भारत के एक सन्यासी ने विश्व-धर्मावलम्बियों के सम्मुख अमान्यता प्राप्त धर्म के प्रतिनिधि के रूप में शान से यह घोषित की थी, 'मुझको ऐसे धर्मावलम्बी होने का गौरव है जिसने ससार को 'सहिष्णुता' तथा "सब धर्मों को सम्मान प्रदान" करने की शिक्षा दी है। '[2] सबसे बड़ी बात यह हुई कि इन महापुरुषों से हमें अपने धर्म को समझने की वास्तविक दृष्टि मिली। विवेकानन्द ने लिखा है कट्टरपंथियों की विचार शक्ति का सर्वनाश हो जाता है।'[3] इस कट्टरता को हटा देने से हमें धर्म उस रूप में नहीं दिखाई पड़ा जिस रूप में वह विभिन्न धर्मावलम्बियों को आपस मे लड़ाता है।

१ 'हरिजन', ११ मार्च, १९३९ ई०।

२ जनवरी, १९६१, की "सरस्वती" मे प्रकाशित, विवेकानन्द का शिकागो के धर्म-ससद का भाषण।

३ "भक्तियोग" पृ ११, १२।

धर्म का रूप एव उसकी परिभाषा ही बदल गई। वह अपने पुराने और वास्तविक रूप म हमारे सामने आ गया।[1] राधाकृष्णन ने लिखा 'धर्म यह प्रयत्न करता है कि मनुष्य को उस के देवत्व का ज्ञान करादे केवल कोरा बौद्धिक ज्ञान देकर नहीं, किन्तु उससे तादात्मय की अनुभूति कराकर। इस अनुभूति के लिये किसी विशिष्ट मार्ग का निर्देश नहीं किया जा सकता।'[1] यह दृष्टि पाकर हमने महात्मा गांधी के शब्दों म पाया कि 'नाम से सब धर्म अलग अलग हैं मगर सबकी जड एक है।'[2] इस व्यापक या तात्विक दृष्टि से जब हमने अपने धर्म को देखा तो पाया, 'हिन्दू धर्म एक महासागर है जैसे सागर म सब नदिया मिल जाती हैं वैसे हिंदू धर्म म सब धर्म समा जाते हैं।'[3] पडित जवाहर लाल नेहरू ने लिखा, हिंदू धर्म सत्य की अथक खोज है-हिंदू धर्म सत्य को मानने वाला धर्म है। सत्य ही ईश्वर है। हम इस बात से परिचित हैं कि ईश्वर से इन्कार किया गया है। हमने सत्य से कभी इन्कार नहीं किया है।[4] हमने तर्कप्रेम को हिन्दू धर्म की विशेषता पाया। तर्क की कसौटी पर कसने से हमे पता लगा कि भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न धर्मों के अनुयायी बनें-यह नितांत स्वाभाविक है क्योंकि व्यक्तिगत धर्म अपने अपने स्वभाव और अपनी अपनी रुचि के अनुसार विनिर्मित होता है। राधाकृष्णन ने समझाया कि 'हिन्दू धर्म तथ दर्शनमानता है कि समय-समय पर आने वाले सृष्टि एव प्रलय के चक्र उस एक ही विश्व-हृदय के स्फुरण तथा सकोचन के प्रतीक हैं जो सदा ही निष्क्रिय तथा सदा ही सक्रिय रहता है।'[5] इस प्रकार हमको विश्वास हो गया कि एक ही मूल आत्मा इन नाना रूपों मे अभिव्यक्त हो रही है। श्रुति ने भी घोषणा की थी— एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। बहुलता मे एकता का पाना ही उपनिषदो का भी लक्ष्य था। हमारी धार्मिक पुनर्जागृति हमे अपने मूल आत्म स्वरूप के निकट ले गई। उन्होंने अन्यत्र लिखा है " हिंदू धर्म ने एक ऐसे धार्मिक वातावरण का विकास किया है जिसमे एक ओर सर्वोच्च दार्शनिक ज्ञान पाया जाता है और दूसरी ओर प्रतीकोपासना का वह विधान जिसको केन्द्र मानकर महान् कलापूर्ण सौन्दर्य की सृष्टि की गई है। उसमे भिन्न भिन्न सास्कृतिक विकास एव

---

१ "भारत की अन्तरात्मा", पृ ६।

२ प्रार्थना प्रवचन भाग २ पृ १६८।

३ वही पृ १६८।

४ "हिन्दुस्तान की कहानी, प २७।

५ भारत की आन्तरात्मा", पृ ६।

धार्मिक न न से युक्त मनुष्यों की सभी श्रेणियों के लिये स्थान है।" [1] इस पृष्ठ-भूमि मे निर्मित हिन्दू का हृदय ही न तो किसी धर्म विशेष से द्वेष रख सकता है और न ऐसी चेतना से सम्पन्न कलाकारो द्वारा निर्मित आधुनिक हिन्दी साहित्य ही। स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है कि वेदान्त का सबसे उदात्त तत्व यह है कि हम एक ही लक्ष्य पर भिन्न मार्गो से पहुच सकते हैं। [2] रामकृष्ण परमहंस ने तो विभिन्न धर्म-साधनाओ को अपनाकर इस तत्वको प्रत्यक्ष ही करलिया था। इसीलियेतो वैष्णव प्राण मैथिलीशरण गुप्त 'काबा और कर्बला' लिख लेते हैं। जिस हिन्दू का अपने धर्म का कुछ भी ज्ञान है वह उन सब को श्रद्धा और भक्ति करता है जो लोक-कल्याण मे लगे हैं। इसीलिये हिंदू धर्म धर्म शब्द के सामान्यत प्रचलित अर्थ के अनुसार धर्म नही है। इसमे कोई ऐसा एक मत या पन्थ ("क्रीड") भी नही है जो हर हिन्दू अपनाए हो। कुरान या बाइबिल की तरह कोई भी ऐसी एक पुस्तक नही है जिसे सभी सिर झुकाते है। बस कुछ चिर सत्य एव शाश्वत सिद्धान्त ऐसे हैं जिन्हे प्राय हिन्दू समान रूप से मानते हैं जसे हिन्दू धर्म मे सबके लिये स्थान वेदों की श्रुति, आत्मा सत्य जन्मान्तरवाद पुनर्जन्म कर्मवाद, घर बदलने के रूप मे मृत्यु अहेतुकी भक्ति अपरोक्षानुभूति अद्वैततत्व हिन्दू धर्म तथा विज्ञान का सामञ्जस्य प्रतीकोपासना मूर्तिपूजा, विभिन्नता मे एकता, सगुणभक्ति जीवन को एक परिवर्तनशील विराम के रूप म मानना व्यक्त जगत को सप्राण सादृश्य एव एक की ही अभिव्यक्ति मानना आदि। रामकृष्ण परमहंस ने सभी धर्मो को समान रूप से महत्वपूर्ण माना और कहा कि सारे रूप उस एक बहुरूपिये के ही हैं। जगत की जिस विशेषता ने हिंदू दार्शनिकों को सत्य के अनुसधान की ओर प्रवृत्त किया है इसकी अनित्यता, और अनुसन्धान के द्वारा जो हमे मिला वह यह है कि जिसे हम अपने से बाहर कही और छिपा हुआ समझते थे वह हमारे निकट से भी निकट है, प्राणो का भी प्राण है और वह हमीं मे समाया हुआ है। आराधना की सुविधा मात्र के लिये हमने उस भगवान की मूर्ति बनानी सीखी। वस्तुत मूल रूप में मूर्तिपूजा हमारी अपनी खोज नही है। उसे, पंडित जवाहरलाल नेहरूके मतानुसार हमने यूनान से सीखा। [3] हमने जीवन की पहेली का अपने ढग से उत्तर भी पा लिया था जिसे विवेकानन्द ने इन शब्दो के माध्यम से अभिव्यजित किया है, "जीवन क्षणस्थायी है चाहे तुम गली मे काम करने वाले मजदूर हो, चाहे लाखो जनो के ऊपर राज्य करने वाले चक्रवर्ती सम्राट हो, चाहे तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छे से अच्छा हो चाहे बुरे से बुरा हो। हिन्दू कहता है कि जीवन की इस पहेली का केवल एक उत्तर है परमात्मा और धर्म। यदि

१ 'भारत की अन्तरात्मा, पृ १४।
२ कर्मयोग, पृ १२८
३ 'हिंदुस्तान की कहानी", १४६

य साथ हो, तो जीवन सुखदायी, रहने योग्य, तथा सार्थक होजाता है, नहीं तो जीवन व्यर्थ का एक बोझ है।[1] हमने अपने धर्म के विविध तत्वों की खोज बीन भी की। उदाहरणत 'अहिंसा' तत्व है। इसका ऐतिहासिक अध्ययन करने पर हम पता चला कि बौद्धधर्म के विशेष प्रभाव के ही कारण भारत को बलिदान, मांस और मादक वस्तुओं के सेवन से धार्मिक एव नैतिक अरुचि होने लगी। गांधी जी ने अहिंसा को, जिसे परम्परा हत्या न करना ही समझती थी, 'बहादुरी की पराकाष्ठा आखिरी सीमा[2] माना। पहले हम मार सकने को बहादुरी समझते थे। अब अर्थ बदल गया। कृषि व्यवसाय के एक सरसे के औजार चरखे को अहिंसा का प्रतीक माना गया।[3] दृष्टिकोण ऐसा बदला कि एक अदार्शनिक औजार दार्शनिक तत्व अहिंसा का प्रतीक बन गया। गणेश प्रतीक सिद्ध हुए गणतन्त्रवादी सरकार के प्रेसीडेंट के। क्रियात्मक रूप में धार्मिक स्थानों जैसे मठ, मन्दिर, गुरुद्वारा, आदि के महन्तों के पतन को रोकने का, सुधारने का, प्रयत्न किया।

तत्वों की युगानुकूल व्याख्या—

हमने धर्म की पारिभाषिक शब्दावलियों की युगानुकूल व्याख्या भी प्रस्तुत की। विवेकानन्द ने लिखा है 'जिस व्यक्ति की आत्मा से दूसरे की आत्मा को शक्ति मिलती उसे 'गुरु' कहते हैं और जिसकी आत्मा में शक्ति सचरित होती है उसे शिष्य'।[4] महात्मा गांधी ने भङ्गी का दूसरा ही अर्थ निकाला और कहा कि असली भङ्गी को भीतर सफाई करनी होती है।[5] ब्राह्मणत्व का अर्थ लगाया गया मानव शक्ति के उच्चतम विकास का प्रतीक और हिन्दुत्व का लक्ष्य बताया गया प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्मण बनाना। विवेकानन्द ने लिखा कि हमें समझना होगा कि ये देवता पहले केवल शक्तिशाली पुरुष मात्र थे[6] और ये देवता भी विशेष-विशेष भाव के द्योतक होने के कारण भाव की उन्नति के साथ-साथ उन्नत होते हैं। परिणाम यह हुआ कि वयं रक्षाम नामक उपन्यास में चतुरसेन शास्त्री ने राम और रावण का एक नये ही रूप में अध्ययन प्रस्तुत किया है और इस माध्यम से भारत के प्राचीनतम इतिहास पर एक नई दृष्टि डाली। 'गौ माने चार पैर और सींग-पूँछ वाला जन

१ भक्ति और वेदान्त, पृ २४
२ 'प्रार्थना प्रवचन, भाग २, पृ २०२
३ वही पृ २००
४ भक्तियोग, पृ० ३२।
५ प्रार्थना प्रवचन भाग १, पृ० २०
६ "ज्ञानयोग, पृ० १०२ और १०५।

वर ही नहो रह गया उसका एक अन्य अर्थ हुआ "इन्द्रिय", और गोपाल कृष्ण इन्द्रियजित–इन्द्रियों की समुचित रूप से देख रेख निग्रह करने वाले योगीराज कृष्ण हो गये। इसी गाय का दूसरा अर्थ हुआ समस्त निरीह मानवजाति और गांधी जी ने गोरक्षक हिन्दुओं का कर्तव्य बताया समस्त मूक जीवों की रक्षा।[1] इसी प्रकार गांधी ने ब्रह्मचर्य का अर्थ नारी से दूर रहना–भागना–न लगा कर काम दृष्टि का अभाव लगाया। १८ वर्ष की मनु गांधी के साथ एक ही शय्या पर सोने का गांधी जी का प्रयोग इसी दिशा में था।[2] इसी विचार की साहित्यिक अभिव्यंजना हमको भगवती चरण वर्मा के 'चित्रलेखा' में चित्रलेखा और कुमारगिरि के प्रसंग में मिलती है।[3] आहार–सम्बन्धी छूनाछान हिन्दुओं में बहुत बढ़ गया था। उस पर विचार करके स्वामी विवेकानन्द ने शंकराचार्य का मत उद्धृत करते हुए लिखा, "शंकराचार्य कहते हैं कि 'आहार' शब्द का अर्थ है इन्द्रिय द्वार से मन में जो विचार एकत्रित होते हैं उनके निर्मल होने से सत्व निर्मल होंगे, इसके पहले नहीं ... वर्तमान काल में हम लोग शंकराचार्य के उपदेश को भूल कर केवल 'खाद्य' अर्थ लेते हैं।"[4] इन नई व्याख्याओं की दृष्टि से 'मानव सेवा संघ' वृन्दावन के सुप्रसिद्ध सूर सन्त स्वामी शरणानन्द द्वारा प्रकाशित 'सन्त समागम" नामक पुस्तक तथा महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध स्वनामधन्य साने गुरु जी द्वारा लिखित 'भारतीय संस्कृति" नामक पुस्तक बड़ी ही महत्वपूर्ण है। इस नई दृष्टि से दूसरों द्वारा हम पर लगाये गये लाछनों का खोखलापन भी दिखाई पड़ गया। प्रायः यह कहा जाता है कि हिंदू धर्म ने दलितों के मानसिक एवं चारित्रिक विकास के लिये कुछ नहीं किया। यह कहने वालों की अज्ञता का ही द्योतक है क्योंकि आर्यों ने यहा के मूल निवासियों को भी अपना अङ्ग बना लिया था और उनकी अनुचित आदतों को छुड़ाने और उन्हें श्रेष्ठतर जीवन बिताने की प्रेरणा देने के लिये बहुत–कुछ किया था। ससार के अनेक धर्म और दर्शन पुनर्जनम को नहीं मानते लेकिन हिंदू मानता है। धार्मिक पुनर्जागरण ने इसका कारण भी समझा दिया। हमको बताया गया कि हिंदू दर्शन के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व किसी दिव्य उद्देश्य का परिणाम है। जब जब तक उस दिव्य उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती तब तक उसका अस्तित्व बना रहता है। उद्देश्य इतना आलौकिक है कि

१ 'दि लास्ट फेज' भाग २, पृ० १२८

२ "लास्ट फेज", भाग १

३ चित्रलेखा, ४ और १७ वा अध्याय।

४ "वेदान्त धर्म" पृ० १६२।

साधारणत सौ–पचास साल म सामान्य मानव उसकी पूर्ति कर नहीं पाता और उसकी पूर्ति के लिए आवश्यक काय जिसके द्वारा किया जा सकता है कर्मेन्द्रिय निर्मित वह शरीर पचास–पचहत्तर साल से अधिक सुगठित रह नहीं पाता–या तो बेकार हो जाता है या विघटित। अब या तो उद्देश्य की पूर्ति न हो या मानव क अस्तित्व की अवधि बढ़े। पहल को सभव होने नहीं दिया जा सकता इसलिये दूसरे की ही सभावना निकाली गई। अस्तु एक जनम को लम्बी यात्रा के बीच पड़न वाले 'क स्टेशन एव सरायमात्र, के रूप म देखा गया। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं था जिसने एक मनुष्य–एक आत्मा–के अस्तित्व को बढ़ाया जा सकता। परिणामत आत्मा अमर हो गई–अविनश्वर एक जीवन एक कर्मावधि मात्र हो गया, मृत्यु एक विराम हो गयी–" दरअसल ! एक–एक जीवन मे हम अपने व्यक्तित्व का विकास कर करके अपन को इस प्रकार योग्य से योग्यतर बनाते रहते हैं कि अततोगत्वा उस प्रिय उद्देश्य की पूर्ति हो जाय। अरविन्द क यह कथन बडा ही सारगर्भित है, पुनजन्म मानो व्यक्तित्व के उत्तरोत्तर विकास का एक साधन है"– पुनजन्म पूव कर्मों के अनुसार नहीं हो सकता बल्कि अन्तरात्मा के अनुभव की माग के अनुसार होना चाहिए"– एक व्यक्ति इस जीवन मे जसे कर्म करता रहा है वही उसकी रुचि–प्रवृत्ति–को निर्धारित करें। "– ।[1] धर्म, दशन और नतिकता का सापेक्षिक महत्व उनकी उपयोगिता और महत्व के स्वतन्त्र एव तुलनात्मक अध्ययन क द्वारा प्रस्तुत किया गया। राधाकृष्णन ने लिखा हिन्दू दार्शनिकों ने सदा ही यह प्रयत्न किया है कि निर्मल चरित्र का अभ्यास एव सत्यप्रेम धार्मिक भक्ति से दब न जाय। सच्ची धार्मिक भक्ति तो उस विवेकजात नम्रता को कहते हैं जो सब–कुछ ईश्वर के सहारे छोड़ देने पर उत्पन्न होती है। ज्ञान सूचक इस भावना के फलस्वरूप भक्त मानव सेवा म जीवन उत्सर्ग कर देता है।[2] भगवदभक्ति का एक नया स्वरूप–आत्म–सामने आया। अभी तक पूजा एक चीज थी भक्ति एक दूसरी, ज्ञान एक बात थी, ज्ञानी का जीवन एक दूसरी। इसी कारण ज्ञाता और ज्ञेय दो विभिन्न तत्व हो गये थे। अरविन्द ने कहा, ज्ञाता और ज्ञेय की पृथक्ता म जो ज्ञान उपलब्ध होता है वह ज्ञान का वास्तविक रूप नहीं है[3] और रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा, 'हम तो ऐसा दिखाई पड़ता है कि जो ज्ञान–क्षेत्र म ज्ञाता और ज्ञेय है वही भाव–क्षेत्र म आश्रय

---

१ अदिति अगस्त १९५१ ई० अरविन्द विशेषांक
२ भारत की अन्तरात्मा पृ० १६
३ अदिति अगस्त १९५१ 'अरविन्द विशेषांक।

और आलम्बन है। ज्ञान की जिस चरम सीमा पर जाकर ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं भाव की उसी सीमा पर जाकर आश्रय और आलम्बन भी एक हो जाते हैं।"[1] तो, भक्त और भगवान भी एक हो गये। यह है ज्ञान की नवीन व्याख्या का साहित्यिकों पर और उनके द्वारा की गई साहित्यिक विवेचनाओं पर प्रभाव।

आर्यसमाज का प्रभाव—

आधुनिक युग में हिंदू धर्म को सबसे अधिक आर्यसमाज ने प्रभावित किया है। आर्यसमाज ने यह प्रभाव हिंदू धर्म का सुधारक बनकर डाला है उसका शत्रु या विरोधी बनकर नहीं। उन्नीसवीं शती और बीसवीं शती की पूर्वार्द्ध के हिंदू-जागरण में आर्यसमाज का प्रधान हाथ रहा है। सर हेनरी काटन ने इसे 'हिंदू विचारों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा आकर्षक अध्याय'[2] कहा है। अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' तथा अनेक शास्त्रार्थों में स्वामी जी ने हिंदू धर्म तथा अन्य धर्मों की जो आलोचनाएँ की वे सचमुच बड़ी तीखी थीं किन्तु थीं अनिवार्य। उनके बिना हिंदुत्व का बुद्धिसम्मत रूप और इस्लाम तथा ईसाइयत की कमजोरियाँ सामने आ ही नहीं सकती थीं। उनकी आलोचनाओं का कोई भी जवाब न दे सका। इस आलोचना वाले प्रसङ्ग से हटने पर स्वामी जी विश्व-मानवता के नेता के रूप में दिखाई पड़ते हैं। 'मनुष्यपन' मनुष्यधर्म उनके अपने जीवन का हैं। स्वामी जी ने हिंदुत्व पर से पौराणिकता की पर्तें उधेड़ दीं। इस प्रकार उसका असली रूप सामने आ गया। स्वामी जी की महानता शङ्कराचार्य जैसी थी। शंकराचार्य के बाद से भारत में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ जो स्वामी जी से बड़ा संस्कृतज्ञ उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे अधिक तेजस्वी वक्ता, तथा कुरीतियों पर टूट पड़ने में उनसे अधिक निर्भीक रहा हो। उनके सम्बन्ध में यह विचार मद में फैलाया गया था। वास्तविकता तो यह है कि स्वामी जी और उनके आर्यसमाज को उस समय के लोग ठीक से समझ नहीं पाये। इस्लाम या ईसाइयत से उनका कोई भी विरोध न था। उनका उद्देश्य तो वैदिक धर्म का समर्थन और प्रचार मात्र था। यह बात छिपी नहीं है कि इस वैदिक धर्म पर ईसाइयों और मुसलमानों ने आक्रमण किया था। उस आक्रमण के घातक प्रभाव से वैदिक धर्म को आर्यसमाज ने बचा लिया। इस सुरक्षा-कार्य के रूप में ही स्वामी जी की आलोचनाएँ थीं। हमको बचाने वाली तलवार का एकाध वार यदि हमारे आक्रमणकारी पर भी पड़ गया तो इसका दोष सुरक्षा के लिये उठी हुई तलवार का नहीं, मारने के लिये उठी हुई तलवार का ही है। शिव शङ्कर मिश्र का कहना है 'इस समाज की स्थापना से

---

१ गोस्वामी तुलसीदास का 'तुलसी की भावुकता' नामक निबन्ध

२ 'न्यू इण्डिया', पृ० ८।

लोगों में धर्म-बुद्धि और विचार-शक्ति जागरित हुई है। आधुनिक शिक्षा प्राप्त लोगों की वेद पर से आस्था उठ गई थी परन्तु अब वह वेद को मानने और स्वधर्म का पालने लगे हैं। लोगों का परधर्मी होना बन्द हो चला है और धर्मभ्रष्ट लोगों का शुद्धि संस्कार कर उन्हें अपनाने का प्रयत्न होने लगा है।'[1] शान्तिप्रिय द्विवेदी ने लिखा है "उसने एक बौद्धिक सिपाही का रूप धारण किया। उसने हिन्दुत्व के भीतर एक फौजी संस्कृति को आमन्त्रित किया। स्वभावतः उसमें मनोहरता-मधुरता नहीं थी, हिन्दुत्व था, कवित्व नहीं। उसका मुख्य उद्देश्य था विदेशी सभ्यता के प्रति विजयी होना उसे शुद्ध कर अपने में मिला लेना।"[2] आर्यसमाज के मुख्य कार्य ये थे — शुद्धि संगठन रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का नाश वैदिक धर्म का पुनरुत्थान, और नई शिक्षा पद्धति। स्वामी दयानन्द का व्याख्यान सुन कर केशव चन्द्र सेन ने उनसे यह अनुरोध किया था कि यदि आप हिन्दी में भाषण दें तो आपकी बात अधिक से अधिक लोग समझ सकेंगे। स्वामी जी ने बात मान ली। स्वामी जी को हिन्दुओं का सुधार करके वैदिक धर्म का प्रचार करना था। वैदिक धर्म की सारी बातें संस्कृत में थीं और हिन्दू लोग हिन्दी अधिक समझते थे। शब्द-भंडार लिपि की एकता, व्याकरण वाक्यनिर्माण, आदि की दृष्टि से संस्कृत का हिन्दी से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि हिन्दी में निरन्तर पर संस्कृत की सभी बातें अपने मूल रूप के अधिकाधिक समीप रहती हुई भी अभिव्यञ्जित हो सकती थीं। तथा कथित उर्दू और अंगरेजी इस दृष्टि से नितान्त अयोग्य और अक्षम भाषाएँ थीं इसीलिये स्वामी जी और उनके आर्यसमाज ने हिन्दी अपना ली। शिक्षा के सम्बन्ध में आर्यसमाज में दो दल थे — कालेज पार्टी और गुरुकुल पार्टी। दोनों पार्टियों के लोगों ने हिन्दी साहित्य की सेवा की। डी० ए० वी० कालेज ... हिन्दी के माध्यम से भारतवर्ष में पहली बार इस कोटी की संस्था थी गुरुकुल कांगड़ी। कांग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलनों के प्रारम्भ होने के बहुत पहले से ही हिन्दी उत्तर मध्यम और पूर्वी भारत में जन चेतना का माध्यम और प्रतीक बन चुकी थी। आर्यसमाजों के दैनिक कार्य प्रचार-कार्य उनके द्वारा प्रकाशित साहित्य प्रचार के लिए प्रकाशित पत्र-पत्रिकाएँ, सामाजिक अधिवेशनों और धार्मिक समारोहों आदि-सबका माध्यम हिन्दी था। आर्यसमाजों बनने के लिए करोड़ों व्यक्तियों ने हिन्दी सीखी। संस्कृत और हिन्दी के सान्निध्य से वैदिक और पौराणिक साहित्य का हिन्दी में अनुवाद हुआ। स्वामीजी के ग्रन्थ में हिन्दी को अनेक ... और ... प्रकार किया ... 'आर्यसमाज अभिनन्दन ग्रन्थ' में

---

१ [illegible] पृ० ३६२।

२ [illegible] पृ० १८१।

अभिनदन ग्रथ म प्रकाश वीर शास्त्री ने ठीक ही लिखा है कि पजाब-जसे इस्लामियत के प्रभाव क्षेत्र म, जहा सध्या और हवन के मत्र भी आरम मे आय-जन उदू म ही लिख कर याद करते थे वहा आजकी नई पीढी आय शिक्षण-सस्थाओ के इस हिंदी प्रधान वातावरण के कारण उदू से दूर चली गई है । डरबन, फीजी, आदि, विदेशो म भी आय समाज ही हिंदी को पहले ले गया था । फीजी, म वहा के आयसमाज न हिंदी कवि-सम्मेलन का आयोजन किया था पदम सिंह शर्मा, अयच द्र विद्यालकार, सत्यकेतु विद्यालकार, गगाप्रसाद उपाध्याय च द्रावती लखनपाल, धीरेन्द्र बाबू राम सक्सेना, नाथू राम शमा शकर आदि आयसमाजी विचारो के समयको के रूप मे ही हैं । इस सबध मे अभी इतना ही पर्याप्त है ।

ब्रह्मविद्या समाज –

आयसमाज के सस्थापक की असाधारण विद्वत्ता और अकाट्यतर्कों ने तथा स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ के प्रत्यक्ष उदाहरणों ने प्राचीन हिंदू धर्म की श्रेष्ठता स्थापित कर दी और ससार के सभी देशो ने उसे मुक्त कठ से स्वीकार करलिया । ससार के लोगो का ध्यान ब्रह्मविद्या की खोज और उस क्षेत्र के अनुसधानो की ओर पहले ही जा चुका था । ससार के किसीभी देश का ब्रह्मविद्या जिज्ञासु हिंदू धम के तत्वो की उपेक्षा करके चल नही सकता । अस्तु १८७५ ई० मे हलेना पेट्रोवना ब्लेवास्की और मिस्टर कोलोन आलकाट ने 'थियासोफिकल सोसाइटी' स्थापित की जिसका उद्देश्य था उन अगोचर नियमो का अनुसधान और प्रचार जिनके अधीन यह सृष्टि सचालित हो री है । आगे चल कर उच्च नतिकतापूर्ण पवित्र जीवन बिताना तथा आधिभौतिकता की वृद्धि का विरोध भी उद्देश्य हुआ । धार्मिक कट्टरता का विरोध पूर्वी दर्शों के धमज्ञान के तत्वो का पश्चिम म प्रचार धार्मिक भिन्नता से मनुष्य भिन्न नही हो जाते' इस विचार का अथान् विश्वम नवता की धार्मिक भूमिका का प्रचार, आदि बातें ही इस ब्रह्मविद्या समाजमे थीं । १८७६ ई मे इसके दोनों स्थापक बम्बई चलेआये और ईसाइयो के धमप्रचारको को रोकने शिक्षा म परिवतन करने तथा सस्कृत के पठन पाठन पर जोर देने लगे । इनकी श्रीमती एनी बेसेन्ट ४६ वष की आयु मे भारत आई और आते ही सास्कृतिक आन्दोलन मे कूद पडी । उनका खान-पान, वेश भूषा, आदि शुद्ध भारतीय था । वे असाधारण वक्ता थी । बीसवीं शताब्दी के प्रथम कुछ वर्षो के अन्दर व हिंदूत्व के इतिहासमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व इस अग्रेज महिला का था । उन्होने हिंदुत्व और भारतवर्ष को एक ही माना था । उनका कहना था कि भारत वर्ष को हिंदुत्व और अलग कर देना वैसा ही होगा जैसा किसी पेड को उसकी धरती से उखाड फेंकना । हिंदू धम के एक अ ग की उनकी

व्याख्याओ से लोगो की आख खुलजाती थी। उन्होनेतो रूढियो, रीतियो और रिवाजो तक का समर्थन किया था। 'हिंदू मनस एण्ड कस्टम्स '-जसी जहरीली और रागमी उद्देश्य से लिखित पुस्तको के प्रभाव स बचने के लिये जिस इजेक्शन की आवश्यकता थी वह श्रीमती बेसेन्ट की प्रतिभा से निर्मित हुआ। इस ब्रह्मविद्या समाज के लोग दिव्य शक्तिका अस्तित्व मानते थे और उनका विचार था कि मानव भगवानके विधान को कार्यान्वित करने का एक साधन है। उसे निश्चित कर लेना चाहिए कि वह पृथ्वी पर भगवान का प्रतिनिधि बन कर रहे। मानवता क लिये आत्मबलिदान के उच्चतम आदर्शो की पुनर्स्थापना और सारी मानवजाति म एक मूलभूत एकता का दर्शन करने में इसका विश्वास था। यह समाज चाहता था कि मनुष्य अपने श्रेष्ठतम मनोभावो का विकास करे उसे मानव-जाति के दुखो क प्रति सहानुभूति हो और वह समस्त मानव-जाति की सेवा के लिये अपने को उत्सर्ग कर दे। तात्विक और दार्शनिक दृष्टि से थियासोफी हिन्दुत्व क अधिकाधिक समीप है। हिन्दू-धर्म के श्रेष्ठतम और मान्य ग्रंथो के अनुवाद प्रकाशित करा कर इसने हिन्दुत्व के पुनरुद्धार के लिये ठोस काम किया है। हिन्दू दार्शनिक सिद्धान्तो और पाश्चात्य सामाजिकता का अदभुत और युगानुकूल समन्वय इस समाज ने प्रस्तुत किया है। डी० एस० शर्मा का कथन है कि बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो म अब हजारो नर-नारी भारत की महानता और हिन्दुत्व के गौरव पर श्रीमती एनी बेसेन्ट के व्याख्यान सुनते थ तो व या तो भाव-विगलित होकर साश्रु हो उठते थे या भावधारा मे बह जाते थे डूब जाते थे।[1] सर वलन्टाइन चिरोल कहते हैं कि जब श्रीमती बेसेन्ट-जसी असाधारण योरोपीय महिला यह कहती हैं कि पश्चिम के दर्शन नीति देवता, आदि की अपेक्षा भारतीयो के देवता धर्म दर्शन, आदि कहीं अधिक श्रेष्ठतर हैं तो क्या आश्चय कि भारतीय पाश्चात्य सभ्यता की ओर से मुँह फेर लें।[2] श्रीमती बेसेन्ट तो हिंदुत्व के जागरण से अखिल विश्व का भी कल्याण मानती थी। इन्होने अखड हिंदुत्व पर आस्था, विश्वास जमाया। इन्होंने ससार को भारत का सात्विक रूप समझाया। थियासोफी धर्म नही, धर्मो का आश्रय है। मुसलमान अच्छा मुसलमान हो हिन्दू अच्छा हिन्दू हो और ईसाई अच्छा ईसाई हो-यही ब्रह्मविद्या समाज चाहता था उसका लक्ष्य यह समझना था कि यदि ये तीनों अच्छे हो गये तो भारत के लिये हितकर होगा। उस समय भारत म ये तीनों धर्म बुरी तरह से टकरा रहे थ। इनकी एकता पर जोर देने वाले इस समाज न उन्हें मिला कर त्रिमूर्ति बना दिया। इसके परिणाम

---

१ हिन्दूज य दि एनेज', पृ० ११=

२ इंडियन अनरेस्ट पृ० २८।

स्वरूप कट्टर और ढ़ोंगी लोगो की सख्या घट गई। इस प्रकार इस समाज ने भारत के एक रोटरी आन्दोलन समाज मे बडा ही स्वस्थ वातावरण विनिर्मित कर दिया।

यही अवस्था राटरी आन्दोलन की रही जिसका जन्म २३ फरवरी, १८०५ ई० को शिकागो मे हुआ था। इसके जन्मदाता थे पाल हैरिस। इनका लक्ष्य, प्रेरक-वाक्य हैं —'सदा अपने स्वार्थ से बडी है' और 'जो अच्छी से अच्छी सेवा करता है उसको अधिक से अधिक लाभ मिलता है"। इनके सदस्य एक दूसरे के अधिकाधिक काम आते हैं और परस्पर प्रेम-भाव पदा करते हैं। इनके कार्य स्वार्थ-प्रेरित नही होते। स्पष्ट है कि यह विचारधारा हिन्दी साहित्यकों की अपनी मनोवृत्ति और विचारधारा के अधिक अनुरूप है। यह हमारी सामान्य मानसिक पृष्ठभूमि के अनुरूप हैं। यह हमारी आकांक्षाओं—भारतीय गौरव की पुनर्प्राप्ति—एवं तत्सम्बन्धी वातावरण के प्रतिकूल नही है। इसने सामान्यत प्रवहमान भावधारा की गतिवृद्धि ही की है।

दुर्भाग्य से इन दोनो आन्दोलनो का कार्यक्षेत्र और प्रभाव कुछ उच्च वर्ग के लोगो तक ही सीमित रह गया। हिन्दी साहित्य की विषयवस्तु के रूप में जो वर्ग था वह प्राय इन आन्दोलनो के सिद्धान्तो पर ही जीवन बिता रहा था यद्यपि वह इस 'ब्रह्मविद्यासमाज' अथवा "रोटरी" से परिचित न था। निर्माताओ में से अनेक इससे परिचित थे। परिणाम यह हुआ कि आधुनिक हिन्दी साहित्य पढने पर मन मे—भावक्षेत्र मे—जो वातावरण निर्मित होता है वह लगभग वही है जैसा यह 'ब्रह्मविद्यासमाज' एवं 'रोटरी' सगठन बनाना चाहता है। तात्त्विक दृष्टि से दोनो एक-से हैं—साहित्यक हिन्दुत्व प्रधान—क्योंकि वही भारत है—वही वस्तुत हमारा वास्तविक रूप है जिसकी अभिव्यजना आधुनिक हिन्दी ने की।

ईसाई धर्म का योग -

सातवी शताब्दी तक भारत मे पर्याप्त ईसाई आ चुके थे। १४९८ म वास्को डिगामा के भारत आने पर ईसाई धर्म का काफी प्रचार किया गया। १६ वी शताब्दी मे उदारचेता अकबर ने इन्हे धर्म-प्रचार की पर्याप्त स्वतन्त्रता दे दी थी। १७९३ मे विलियम केर भारत म आया। यह पहला पादरी था जो पश्चिम की मिशनरी सोसा इटी से भेजा गया था। १८१८ म उसने सेरामपुर मे कालेज खोला। बाइबिल के अनुवाद, प्राइमरी शिक्षा पत्रकारिता धर्म-प्रचार, आदि उसके कार्य थे।। बीसवी शताब्दी म फास वेस्टकाट और सी एफ ऐंड्रूज के कार्य भी इस दृष्टि से सराहनीय रहे। १९१० म भारत का चर्च इगलैण्ड के चर्च से स्वाधीन हो गया। १८५४ ई० तक नेशनल क्रिश्चियन कौंसिल के तत्वाधान मे ४६ कालेज ४४८ हाई स्कूल, ५५३ मिडिल स्कूल और १०३ टीचर्स ट्रेनिंग कालेज खोले जा चुके थे। इन ईसाइयों

ने शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में पर्याप्त महत्वपूर्ण कार्य किये। साथ ही साथ, इन्होंने धर्म प्रचार का भी कार्य किया। पहले ये पाश्चात्य देशों की ही सभ्यता-संस्कृति को सब-कुछ मानते थे। राष्ट्रीय आन्दोलनों के फलस्वरूप इनके दृष्टिकोण का भी भारतीयकरण हो गया। भारत में जन्म ले कर भारत के अन्न, जल और वायु से जीवन बिताकर अन्ततोगत्वा भारत की ही मिट्टी में मिल जाने वालों को भारतीय संस्कृति और भारत राष्ट्र का हो कर रहना चाहिए-यह बात इन मतों की भी समझ में आ गई। युग की भावधारा-युग धर्म के प्रतिकूल ये अपना धर्म बना नहीं सकते थे और इन्होंने भी भारत के वास्तविक रूप-उसकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि को पहचानना प्रारम्भ कर दिया है। अब यह देख कर बहुत ही प्रसन्नता होती है कि उदार आलोचना बढ़ते हुए प्रवृत्ति-विज्ञान अध्यात्म शास्त्र धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन धार्मिक चेतना के मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा रहस्यानुभूतियों के घनिष्ठतम एवं प्रगाढ़तम परिचय के फलस्वरूप ईसाई-पण्डित ईसाई धर्म के पुनर्निर्माण में लग गये हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि ईसाइयों में हिन्दुत्व के अधिकाधिक निकट आती जा रही है। अस्तु अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार मानवतावादी दृष्टिकोण से की गई सेवाएँ, समाजसुधार व्यक्तिगत गुणों-योग्यताओं और मान्यताओं का आदर देने वाले दृष्टिकोण का प्रचार, और भारतीय समाज के बुद्धिजीवियों की आशाएँ-आकांक्षाएँ विचार दृष्टिकोण आदि को आधुनिकता की ओर प्रेरित करना आदि ईसाइयों की महत्वपूर्ण देन हैं। इन्होंने आधुनिक हिंदी साहित्य के लिये कोई विशेष सांस्कृतिक दृष्टिकोण तो नहीं उभारा हां उसकी बौद्धिकता को अधिक सक्रिय अवश्य कर दिया है। लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय और रामचन्द्र गुप्त आदि सभी विद्वान् इस विचार को मानते हैं कि आधुनिक हिन्दी गद्य के प्रादुर्भाव और प्रचार में इन ईसाइयों का महत्वपूर्ण भाग रहा है। पांडेय बेचन शर्मा उग्र का 'महात्मा ईसा' प्रेमचन्द्र के रंगभूमि की सोफिया जान आदि फादर कामिल बुल्के का 'रामकथा का विकास' आदि सम्भव न होते यदि भारत में ईसाई न होते।

बौद्धधर्म की देन—

बौद्ध धर्म भारत के ही एक सपूत की देन है। अनेक शताब्दियों तक भारत वासियों की चेतना को अपने रंग में पूरी तरह से रंग लेने के बाद कालांतर में वह भारत से विलुप्त हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी में पुनर्जागरण की करवटें बदल कर जब हम अपने को सम्भालने लगे तथा अपने पूर्व गौरवमय स्वरूप को प्राप्त करने के उद्देश्य से हमने अपनी प्राचीन महानता की खोजें प्रारम्भ की तब स्वाभाविक रूप से हमारा ध्यान बौद्धधर्म की ओर भी गया। पुरातत्व विभाग ने जब कपिल वस्तु

लुम्बिनी, सारनाथ श्रावस्ती, और कुशीनगर को भूमि के भीतर से निकाल कर हमारे सामने रख दिया और रख दिया और राइस डेविस, आदि विद्वानों की व्याख्याओं ने बौद्धधर्म की तात्विक विवेचना हमारे सामने उपस्थित कर दी, एवं लका बर्मा, चीन, जापान, आदि के बौद्ध धर्मावलम्बियों ने बौद्ध तीर्थ यात्राएं प्रारम्भ करदी तब महाबोधि सोसाइटी के प्रयत्नों से हमने बौद्धधर्म का अध्ययन-अन्वेषण प्रारम्भ किया। नवीन चेतना ने धर्म के शाश्वत तत्वों को अशाश्वत तथ्यों एवं कर्मकाण्डों से पृथक करना सीख ही लिया था। परिणामत बौद्धधर्म के शाश्वत तत्वों ने सारे ससार को आकृष्ट कर लिया। बुद्ध ने निश्चय कर लिया था कि दार्शनिक गवेषणा व्यर्थ है। उन्होंने देखा कि आचरण क्षेत्र में कर्मकाण्ड की संस्कार पद्धति ने नैतिक कर्तव्यपालन का स्थान ले लिया है। धार्मिक क्षेत्रों में भी असभ्यता के युगों के अन्धविश्वास फिर सिर उठा रहे हैं और स्वार्थ परायण पुरुष अपने हित साधन में उनका उपयोग कर रहे हैं। बुद्ध ने बताया कि बिना पुजारियों की मध्यस्थता अथवा ईश्वर चर्चा के भी हम मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। लोक कल्याण-साधन अथवा शुद्धआचरण से मोक्ष मिलता है अनिश्चित फल देने का वादा करने वाले दुराग्रही को मानने अथवा क्षुद्र देवताओं की तोष शान्ति के उद्देश्य से की गई रहस्यपूर्ण क्रियाओं के सम्पादन से नहीं। इसी प्रकार हमने नई ज्योति एवं दृष्टि से जैन धर्म-दर्शन का भी अध्ययन किया। इन दोनों धर्म दर्शनों की अनेक बातें हिन्दू धर्म दर्शन में व्यावहारिक रूपसे आही गई थीं। विरोध विगलित हो चुका था। अतएव मैथिलीशरण गुप्त ने बुद्ध को रामचन्द्र जी के ही वंश का बता कर कहा, 'हे राम! तुम्हारा वश-जात, सिद्धार्थ '[१]। जैसे वैष्णव-भक्त भगवान से 'भुक्ति-मुक्ति' न माग कर 'भक्ति' मांगता है वैसे ही गुप्त जी ने "अमिताभ" से भक्ति ही मांगी।[२] शाश्वत मूल्यों की खोज और मान्यता ही के कारण 'यशोधरा" में बौद्ध तत्व और वैष्णव-तत्व नीर क्षीर की भांति मिलकर एक हो गये हैं। अपनी कल्पना को बौद्ध युग में से जाकर हिन्दी कवियों ने अनेक कविताएं, कहानीकारों और उपन्यासकारों ने अनेक उच्चकोटि के उपन्यास और कहानियां, और नाटककारों ने अनेक उच्चकोटि के नाटक लिखे हैं। 'यशोधरा" 'वैशाली की नगर वधू", एवं अम्बपाली से सबधित अनेक सफल कृतियोंसे हिन्दी इसयुग में समृद्ध हुई है।

इस्लाम का योग—

सम्भवत बौद्धों और ईसाइयों से भी अधिक भारतीय जीवन और इतिहास को प्रभावित करने वाला धर्म इस्लाम है। मौलाना अबू मुहम्मद इमामुद्दीन ने लिखा

---

१ 'यशोधरा"

२ वही

है कि इस्लाम एक स्वतन्त्र नाम है इसका अर्थ है ईश्वरको मान लेना, ईश्वर के समक्ष शीश झुका देना अपने को सर्वथा ईश्वर के समर्पण म दे देना और उसकी सम्पूर्ण आज्ञाओं को स्वीकार कर लेना।[१] राहुल सांकृत्यायन ने इस्लाम का शाब्दिक अर्थ शान्ति अथवा शान्ति की क्रिया माना है।[२] इस्लाम के तीन आधारभूत विश्वास हैं – (१) ईश्वरके अस्तित्व और उसके गुणों मे विश्वास (२) रसूल अर्थात् ईश्वरके दूतोम विश्वास और (३) कयामत और रोजे प्रलय और यम के दिन में विश्वास। कुरान शरीफ इस्लाम की पवित्रतम धर्म-पुस्तक है। मुहम्मद साहब अन्तिम पगम्बर है। पगम्बर वह है जो ईश्वर या खुदा का पयाम लाने वाला आदमी हो। इस्लामी धर्मशास्त्र कहता है 'ऐ मोहम्मद! तुम केवल (कुमार्ग के परिणाम से) सचेत करने वाले हो और इसी प्रकार हर जाति म पथ-प्रदर्शक हो चुके हैं[३] राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है कि कुरान प्राचीन शास्त्रो का समर्थक है[४] और ईश्वर को कुरान म सृष्टि का कर्ता धर्ता हर्ता माना है[५] ईश्वर बडा दयालु है वह अपराधी को क्षमा कर देता है[६] वह सत्य है न्यायकारी है काफिरो पर भी प्यार रखता है, माता पिता स्त्री पुत्रादि रहित है।[७] कितने ही लोग इस्लाम में भी ईश्वर को साकार मानते है क्योकि "अर्श (सिंहासन) जल पर है से पुराणो के जलशायी ईश्वर का स्मरण आता है।[८] कुरान में यह सिद्धान्त भी भलीभांति प्रतिपादित है कि ईश्वर अद्वितीय सर्वज्ञ सर्वव्यापक अनुपम और अतिशय समीप है। जिस प्रकार पुराणो म परमेश्वर के बाद अनेक देवता भिन्न भिन्न काम करने वाले माने जाते हैं उसी प्रकार इस्लाम ने फरिश्तो को माना है। सर्वशक्तिमान होने से उसने ईश्वर ने बिना उपादान कारण के ही जगत बना डाला। इस्लाम म पुर्नजन्म नही माना गया है। वहा प्रलय या कयामत के दिन प्रत्येक जीव अपने पुराने शरीर के साथ जी उठता। उसी दिन उसके शुभ या अशुभ कर्मों का पारितोषिक या दण्ड भी सुनाया जायगा। इस्लामके अनुसार भी जगत के भोक्ता की असमानता ईश्वरेच्छा है। यद्यपि इस्लाम म

१ 'इस्लाम का परिचय पृ ६
२ इस्लाम की रूपरेखा पृ ८१
३ इस्लाम का परिचय प ११
४ इस्लाम की रूपरेखा, पृ ८०
५, वही प ५६
६ वही पृ ५६
७ वही
८ वही

भी माना गया है कि "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" किन्तु तौबा (प्रायश्चित) से और प्रेरित की सिफारिश से पाप का क्षम्य हो सकना भी संभव माना गया है। जन्नत (स्वर्ग) दोजख (नरक) हूर (अप्सरा) बाग (नन्दन) शराब साम), जन्नत में सुख-भोग और दोजख में विपत्ति की आग बिल्कुल वैसे ही हैं जैसे पुराणों में कहीं-कहीं स्वर्ग-नरक का उपभोग अनन्त काल तक के लिये है और कहीं-कहीं सावधि। स्वर्ग-नरक के बीच की दीवाल को एराफ कहते हैं। मृत्यु का भी भगवान के हाथ आधान माना गया है। राहुल जी के अनुसार इस्लाम के कुछ सम्प्रदायों के लोग पुनर्जन्म भी मानते हैं। कुरान की प्रार्थनाएं स्पष्ट करती हैं कि इस्लाम कितना विनयशील शान्ति-प्रिय समर्पणशील आस्तिक और निष्ठा एवं आस्थामय है। कुरान की 'पनाह' 'अऊजु' बिल्लाहि मिनश्शैत्वानिर्रजीम' का अर्थ है-'शरण लेता हूं मैं अल्लाह की पापात्मा शैतान से बचने के लिये। 'फातिहा' का अर्थ है 'पहले ही पहल नाम लेता हूं अल्लाह का जो निहायत रहम वाला मेहरबान है। हर तरह की स्तुति भगवान के ही योग्य है। वह सारे विश्व का पालने-पोसने वाला और उद्धारक परम कृपालु परम दयालु है। चुकौती के दिन का वही मालिक है। हम तुम्हारी ही आराधना करते हैं और तुम्हारी ही मदद मांगते हैं। ले चलो हमको सीधी राह-उन लोगों की राह जिन पर तेरी कृपा-प्रसाद उतरा है। उनके रास्ते नहीं जिन पर तुम्हारी अप्रसन्नता हुई है या जो मार्ग भूल हैं। तथास्तु। यह है बिस्मिल्लाहि रहमानिर्रहीम। अल्हम्दुलिल्लाहिरब्बिल आलमीन आमीन तक के पदों का भाव। शब्द बदले हैं, भाव एक ही है। नाम बदले हैं नाम वाला एक ही है। धार्मिक दृष्टि से हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्म में जो अन्तर है वह नगण्य है। हिन्दुओं और मुसलमानों-दोनों में ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों है। हिन्दुओं की ही भांति इस्लाम में भी नैतिकता का आदर्श काफी ऊंचा है। आचरण की शुद्धता दान, अतिथि सेवा अव्यभिचार शराब का त्याग क्षमा अविरोध आदि महत्त्वपूर्ण बातें एक-सी हैं। इस्लाम का धर्मग्रन्थ कहता है कि ईश्वर उस जीव के खून और मांस से सन्तुष्ट नहीं होता जिसकी तुम कुर्बानी करते हो वरन् वह तुम्हारी धर्मनिष्ठा से सन्तुष्ट होता है। मुहम्मद का व्यक्तित्व में आना इस बात का प्रतीक है कि ससीम और असीम का संयोग होना संभव है।[1] भगवानदास ने सभी धर्मों की मौलिक एकता प्रतिपादित करते हुए मसीह और रसूल में अवतार की छाया देखी है और 'अल्लाहो बि कुल्ल शयीन् मुहीत' में 'ब्रह्म सर्वमावृत्य तिष्ठति' का भाव देखा है।[1] भारत में आकर इस्लाम ने पहले अपने को विशुद्ध रखना चाहा और चाहा कि भारत का प्रत्येक व्यक्ति इस्लाम स्वीकार कर ले। मरे टी० टाइटस ने लिखा है कि हिन्दू तथा हिन्दुत्व के प्रति

१ 'समन्वय", पृ २६८।

इस्लाम का दृष्टिकोण सदैव ही असहनशीलता का रहा है।[1] इस्लाम ने हिन्दुओं को अहलुलकिताब भी नहीं माना। तात्पर्य यह हुआ कि हिन्दू या तो इस्लाम स्वीकार करें या मृत्यु। यथार्थ के तकाज ने मजबूर कर दिया वर्ना हम 'धिम्मी" भी नहीं बन सकते थे अर्थात् जजिया खिराज देकर भी और इस्लामी शासन स्वीकार करके भी छुट्टी नहीं पा सकते थे। विजेता इस्लाम हिन्दुओं और बौद्धों के देश का इस्लामीकरण किये बिना अपने को सफल मानने के लिये कभी भी नहीं तयार हो सका। भारत में इस्लाम की कहानी सद्धान्तिक कट्टरता और भारतीय प्रकृति के सहाकिल्पो के संघर्ष की कहानी है। दोनों एक दूसरे से लड़ते भी हैं और दोनों एक दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। दोनों के सुन्दरतम पक्ष भी हैं और कुरूपतम पक्ष भी। अस्तु अपने अथक प्रयत्नों के पश्चात् भी भारत में आया हुआ इस्लाम अपने उद्देश्यों में सफल न हो सका। एक मात्र भारत ही वह अपवाद है जहां इस्लाम भारत को अपनी इस्लामी दुनिया में न मिला सका।[2] इसका परिणाम यह हुआ कि धर्म की विशुद्धता बनाये रखने के लिये पार्थक्य की नीति अपनाई गई। पार्थक्य की नीति के प्रोत्साहन का एक कारण और है। योरप में ईसाइयों और मुसलमानों के बीच दीर्घ काल तक धर्म युद्ध हुआ था जिसके परिणामस्वरूप ईसाई अंगरेज भी इस्लाम के विरुद्ध थे। मौलाना अबमुहम्मद इमामुद्दीन ने लिखा है — जब योरप से अंगरेजी साम्राज्य भारत आया तो वह अपने दूसरे अस्त्र-शस्त्र के साथ वह प्रचार भी लेता आया जो इस्लाम और मुसलमानों के विरुद्ध सदियों से योरप में फैला हुआ था। मुसलमानों की वजह से हिन्दुस्तान में भी इस्लाम के विरुद्ध घृणा और द्वेष मौजूद ही था। इसलिये योरप से आये हुए इस्लामी-विरोधी प्रचार का खूब स्वागत और इस्तकबाल हुआ।[3] कुछ भी हो सामान्य जनता की प्रवृत्ति राजनीतिज्ञों की प्रवृत्ति से भिन्न हुआ करती है और हमारे अलोच्य काल तक आते-आते भारत का सामान्य हिंदू और मुसलमान एक ढंग का जीवन बिताने लगा था। धार्मिक पूजा पाठ और वेश भूषा नाम धाम रीति रिवाज आदि के क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति ने सबको पूर्ण स्वतन्त्रता देना सीखा ही था। भारतीय मुसलमानों को भी वह स्वतन्त्रता सहज स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो गई। बाकी व्यवहार मेल मिलाप खून-पसीना सबका एक ही रहा था। धार्मिक और सांस्कृतिक विद्वेष नाम की कोई चीज रह ही नहीं गई थी। वैवाहिक संबंध संत पूजा सहनशीलता निरन्तर

---

१ 'इस्लाम इन इंडिया ऐंड पाकिस्तान' पृ १६

२ 'दि कल्चुरल हेरिटेज आफ इंडिया", भाग ४ पृ ५७६।

३ इस्लाम का परिचय', पृ ११७।

सम्पन्न, देवता और शास्त्र मन्त्र घो हिंदू-उदारता राधाकृष्ण की पूजा, सामाजिकता, सत मत की उदारता, आदि के कारण हिंदू मुसलमान से प्रभावित हुए और मुसलमान हिंदू से, यद्यपि दोनों का अपना-अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व और दृष्टिकोण अब भी अक्षत है। सारे भारतवर्ष में न तो कोई हिंदू गाव है और न कोई मुसलमान गाव राजेंद्र बाबू ने बड़े विस्तार के साथ यह दिखाया है कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किसी प्रकार हिंदू और मुसलमान दोनों एक दूसरे से प्रभावित हुए हैं[1] हिंदुत्व और इस्लाम में जो अंतर था उसके कारण न तो हिंदू मुसलमान से द्वेष करता था और न मुसलमान हिंदू से बल्कि दोनों आपस में एक दूसरे की मान्यताओं का आदर करके उनके सपन्न होने में परस्पर एक दूसरे की सहायता करते थे। मुसलमान हिंदू दोस्त को जब खाने पर बुलाता था तब हिंदू घर से ब्राह्मण द्वारा भोजन बनवाकर पवित्र स्थान पर खिला कर उसके 'धरम' की रक्षा करना अपनी दोस्ती का एक अंग-कर्तव्य-समझता था। गांधी जी ने लिखा है "उस (अजमेरके) दरगाहमें हिंदूभी जाते हैं और हिंदू जाकर मानता भी करते हैं। इसी तरहसे मुसलमान भी करते हैं। इसी तरह से मुसलमान भी जाते हैं। और तो सब एक बन गये हैं, ऐसा चलता है। धर्म से नहीं कर्म से।[2] तो, हमारा महात्मा भी यही कहता था और काव्यात्मा का भी यही कथन था "हौं तो मुगलानी हिंदुआनीह्वै रहूँगी मैं।" उदार हिंदुत्व के सपर्क में आकर भारत का कट्टर इस्लाम भी थोड़ा बहुत उदार हो चला है। राधा कृष्णन ने लिखा है इस्लाम का भारतीय स्वरूप हिंदू विश्वासों और कर्मकाण्डों के रूप पर ढला हुआ है सुन्नियों की अपेक्षा शिया हिंदुत्व के अधिक समीप हैं[3] जनता, कवि महात्मा, एव सन्त आदि के द्वारा दोनों का सास्कृतिक सम्मिलन प्रारम्भ हो गया था। यदि यह सफल हो जाता तो जैसे पारसी, सिक्ख, शाकल्य द्वीपीय शक सेना आदि हिंदू अर्थात् भारतीय हैं वैसे ही मुसलमान भी होते। वे हम में मिल भी गये होते और अपनी स्वतंत्र पहचान (आइडेंटिटी) भी रखते। किन्तु अंग्रेजों ने इसमें अपना लाभ न देखा। पढ़े लिखों के एक वर्ग को ऐसा इंजेक्शन दे दिया कि वे अपनी विचारधारा में एक-दूसरे के खून के प्यासे हो गए। एक दूसरे के शत्रु होकर वे भारत माता के शत्रु हो गये। यह इंजेक्शन कुछ ऐतिहासिक प्रवृत्तियों और भूलों का साथ पाकर इतना प्रभावशाली होगया कि आजादी भी उसके जहरीले प्रभाव को पूरी तरह नहीं मिटा पाई है। यह धर्मान्धता, यह अंधविश्वास, मूर्खता यह सकुचित दृष्टि एव अदूरदर्शिता इस महाद्वीप के इतिहास में अभी कौन-

१ 'खण्डित भारत'

२ 'प्रार्थना प्रवचन' भा २, पृ. १६१।

३ 'इस्ट एँड वेस्ट' पृ ३३।

से गुल खिलायेगी, इसे भविष्य ही जान सकेगा। दुश्मन उतना भयानक नहीं होता जितना विद्वेषी भाई। द्वेष की प्यास विदेशी दुश्मनों से मिल कर अपने भाई के रक्त बहाने से भी शायद नहीं बुझती। वह बुझती है उग्र रक्त स्वार्थ त्याग, से ऊपर उठने और समझदारी आने से मगर ये अंगरेजी पढ़े महात्मा गांधी की चिता की आग की चिनगारी भड़काते रहते हैं और भारत की प्रणम्य तपोभूमि को श्मशान सा देखने के शौकीन लगते हैं। प्रसन्नता और आशा की किरण केवल यही से आती है कि संत, महात्मा समझदार लोग और सामान्य जनता अब भी गत मन की परम्पराओं को ही अपनाये हैं। इतने हत्या-काण्डों के बावजूद भी मुसलमानों में हिन्दू त जियेदारों की संख्या कम नहीं होती। आवश्यकता केवल इस बात की है और वह यह है कि कोई प्रभावशाली एव विश्वास प्राप्त मुसलमान धर्मनेता मुसलमान भाइयों को यह समझा दे कि धर्म परिवर्तन का अर्थ यह नहीं होता कि इतिहास और आदर्श बदल गये, कि धर्म बदल गये कि धर्म परिवर्तन से बाप का नाम नहीं बदल जाता। उस पैतृक परम्परा और नव स्वीकृत धर्म में सामञ्जस्य स्थापित करना है। उसे अशिक्षित, कट्टरपंथी कुटिल राजनीतिज्ञ एवं अनुदार मुल्ला वाले धर्म से इस्लाम को निकाल कर या बदल कर एक व्यापक अध्यात्म की आधार शिला के सहारे इस्लाम की सत्यतम उच्चतम एवं उत्कृष्टतम व्याख्या करनी है। स्वयं भारत की आत्मा इस्लाम को अपनी कतिपय कट्टरताओं को ढीला करने की ओर प्रेरित कर रही है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पढ़े लिखों के एक वर्ग में यह साम्प्रदायिक विद्वेष था जिससे जहां एक ओर भारत की हानि हुई वहां दूसरी ओर खड़ी बोली हिन्दी की भी हानि हुई। खड़ी बोली के रसखान घनानन्द और जायसी का गला जन्म होने के पहले ही घोट दिया गया। उर्दू के रूप में एक स्नेहशीला प्रेममयी बड़ी बहन को पाकर खड़ी बोली की कविता कितनी सप्राण सशक्त और सुन्दर हुई होती इसे कौन कह सकता है। फिर भी, इस इस्लाम ने हिन्दी को कुछ बड़े ही सुन्दर और प्यारे शब्द दिये हैं जैसे 'इन्सान' 'आसमान' 'जिन्दगी' 'जवानी' 'मुहब्बत' 'दुनिया' 'दिल' आदि। शृंगार प्रधान साहित्यिकों की अभिव्यक्तियों में जो एक नया चटपटापन नई मस्ती, नई तड़प दिखाई पड़ती है उसका बहुत बड़ा श्रेय सूफी प्रेम को है। सूफी धर्म की मृत्यु-काम्यता महादेवी वर्मा में देखी जा सकती है। छायावाद में रोने धोने की जो अधिकता है उसका भी स्रोत दिनकर, ने इस्लामी प्रेम की अभिव्यक्ति में ही पाया है।[1] उन्होंने लिखा है कि ये कवि (विशेषतः महादेवी) इसलिए नहीं रोते थे कि असहयोग आन्दोलन असफल हो गया था या प्रथम महायुद्ध जनित निराशा इन्हें घेरे थी असल में छायावादकालीन वेदनाप्रियता एक तो रोमा

१ संस्कृति के चार अध्याय पृ १६१

टिक मुद्रा का परिणाम थी। दूसरे, उनके मूल म बहुत दूर पर, सूफियो की वेदना प्रियता काम कर रही थी ,,[१] । अनु, इस्लाम से हिन्दी को इस्लाम धर्म और संस्कृतिसबधी साहित्य (पडित सुन्दर लाल, राहुल सांकृत्यायन, आदि द्वारा लिखित) गुप्त जी का "काबा-करबला, इस्लामी इतिहास-सम्बन्धी कुछ नाटक तथा हिन्दू-मुस्लिम एकय सम्बन्धी कुछ अच्छा साहित्य मिला है।

अरविन्द का योग--

इस युग म अध्ययनशील और विचारशील भारतीयो और कुछ विदेशियो को भी धर्म, दर्शन, और योग की एक नई व्याख्या एव विचारधारा ने बहुत आकृष्ट किया। यह विचारधारा अपन युग के सुप्रसिद्ध एव अत्यन्त भयानक क्रान्तिकारी तथा बाद के योगी अरविन्द न प्रस्तुत की थी। उनका कहना है कि सृष्टि की मूल सत्ता वह ब्रह्म है जो समस्त विश्व के अन्दर चेतना के रूप म निहित है। स्थूल जड-सत्ता, फिर प्राण, फिर मन, आदि --इस प्रकार के क्रमश विकास के रूप मे वही चेतना अपने आपको अभिव्यक्त कर रही है। योगीराज का कथन है कि ब्रह्म तो सत्य है किन्तु यह जगत मिथ्या नही है। यही तो ब्रह्म का अभिव्यक्त रूप है। उनका कहना है कि मनुष्य का व्यक्तित्व ऐसा नही है जैसे लहर। जिस तरह लहर समुद्र म जाकर लीन होती है उसी तरह ब्रह्म के अन्दर मनुष्य का व्यक्तित्व लीन नहीं हो सकता। सबसे पहल तो व्यक्ति को अपने अहकार का त्याग करना पडेगा। अहकार से मुक्त यह आत्मा ब्रह्म के माध्यम से जगत के साथ और जगत के सभी प्राणियो के साथ आतरिक एकता का अनुभव करते हुए एक अपूर्व निजी भाव का अनुभव कर सकती है। व्यक्ति और विश्व के अभिन्न सबध का यह बडा अनोखा दृष्टिकोण है। आध्यात्मिक सत्ता न तो निर्गुण है अर्थात् न तो विशेषताओ से रहित है और न शून्य चेतना है। वह एक परिपूर्ण चेतना है। उसके अन्दर सभी गुण और सभी विशेषताएँ हैं। सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात जो, युगानुकूल भी है उन्होने यह कही है कि व्यक्ति के लिए यह सम्भव नही है कि वह सबको छोडकर व्यक्तिगत रूप म अकेले-अकेले मुक्ति प्राप्त कर सके। व्यक्ति सारे विश्व का एक अग है। अग अपने को अगी से सर्वथा अलग नही कर सकता। उसकी अपनी उन्नति सबकी उन्नति का एक कारण बन जायगी और सबकी उन्नति मे व्यक्ति का भी हित है। सत्ता की आदि समस्या मूलत समस्वरता (हार्मनी) या सामंजस्य या सतुलन की है। दर्शन का मूल स्रोत और एकमात्र आधार है अनुभव। अनुभव को

१ 'संस्कृति के चार अध्याय' पृ ३६६।

अयक भाव मे बांधना होगा। उसे सीमाओ से ऊपर रखना होगा। सवव्यापक सत्ता अद्वत है। हमको अपनी इन भावनाओं के लिये भी उसी का आधार बनाना होता है। वह नितान्त परम है अविनाश है, और अगम्य है। मनुष्य अपनी प्रकृति और स्वभाव के नाते एक निकटतर सत्ता को ही ग्रहण कर पाता है। इसको उसने ईश्वर कह दिया है। यह ईश्वर भी पूर्ण सच्चिदानन्द सत्ता है। यही सत्ता जगत को भी रचती है। वह शुद्ध सत् ही जगत म अभिव्यक्त हो रहा है। इसी नाते हम इस पूरे ससार म कहीं भी ऐसे दो तत्व नहीं मिलते जो एक-दूसरे से सवथा भिन्न या एक दूसरे के सवथा प्रतिकूल या विपरीत गुणों वाले हों। अस्तु मानव चेतना पशु चेतना वनस्पति की प्रतिक्रिया और प्रत्यन्त निष्प्राण जड पदाथ म एक क्रम है एक अटूट सिलसिला है। सुख दुख की अनुभूतियां हमारे उथले मानस तत्व की अभ्यास जनित प्रतिक्रियाएँ हैं। इन प्रतिक्रियाओ से परे होने पर हमको उन्हीं स्पर्शों से एक रस आनन्द भी मिल सकता है जिनसे हम छिछली या हल्की मनो वृत्ति मे दुख या सुख का अनुभव करते हैं। अरविन्द ने लिखा है 'वस्तुओं की आत्मा है अनन्त अविभाज्य सत्ता इस सत्ता की मूलभूत प्रकृति या धर्म है आत्म सचेतन सत्ता की अनन्त अक्षय शक्ति, और फिर उस आत्म सचेतनता की मूलभूत प्रकृति या उसका स्वविषयक ज्ञान है सत्ता का अनन्त अविच्छेद्य आनन्द।[१] व्यष्टि समष्टि और परात्पर तत्व—तीनों ब्रह्म की ही स्थितियां हैं। हम यह नहीं सोचना चाहिये कि ये तीनों स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं। सत्ता अन्ततोगत्वा एक सुसबद्ध और सगठित तत्व है। असीम देश एव अनन्त काल वाला यह जगत या विश्व उसी सत्ता का सावभौम रूप है। व्यष्टि उसका अनिवार्य अग है। इस प्रकार अनेकत्व और एकत्व का समाधान होता है। मानव इसी जगत मे, इसी पृथ्वी तल पर ही दिव्य जीवन प्राप्त कर सकता है। सत्ता का क्रमिक स्तर है जड प्राण मन अन्तरात्मा, अतिमन, आनन्द चित् और सत्। यह विकास का एक क्रम है। इस रूप म इस क्रम से चेतना निरतर वृद्धि प्राप्त करती रहती है। इस विकासक्रम का आधार है एक व्यापक अवचेतना। यह विकासक्रम ब्रह्म की ऐक्य-पूर्ण चेतना की ओर बढ रहा है। वतमान काल मे सामान्यत हमारा सबसे अधिक विकास जिस स्तर तक हो पाया है वह है मन वाला स्तर। अन्तरात्मा का स्तर मन के ऊपर है और इस लिये निश्चित रूप से मन के स्तर से भिन्न है। व्यावहारिक रूप म मन सत्व प्रकृति की ओर अभिमुख होता है। अन्तरात्मा का स्वभाव है जगत के आत्मतत्व भगवान को खोजना। अन्तरात्मा गत्यात्मक है और आत्मा शुद्धसत्तात्मक। ये ब्रह्म के

---

१ दि लाइफ डिवाइन, पृ १२१।

ही दो पग हैं। अन्तरात्मा से अतिमन तक के विकास का मार्ग काफी लम्बा है। मन का समूल रूपान्तर करना होगा। चेतना को ऐसा बनाना होगा कि वह सत्य को धारण कर सके उसे अनेकता मे एकता का अनुभव करने के योग्य बनाना होगा। इस प्रकार अध्यात्ममय होने से अमरत्व का अनुभव प्राप्त किया जा सकता है। मानव इस विकासका अग्रदूत है। योग की सचेतन क्रिया द्वारा वह और अधिक तेजी से विकास कर सकता है। मानव में ऊर्ध्वमुखी और अधोमुखी दोनो प्रकार की गतियां एक साथ काम करती रहती हैं। योग और चिन्तन द्वारा उस तत्वों का प्रत्यक्षीकरण करना होगा। सात अनन्त की एक अवस्था है। अनन्त अवस्था की प्राप्ति ही "दिव्य जीवन है।" इस 'दिव्य-जीवन' की प्राप्ति अति-मानस से ही सम्भव होगी। 'अति मानस और दिव्य जीवन नामक लेख मे अरविन्द का कथन है, "अति-मानस अपने मूल रूप म सत्य चेतना है'[२] उसकी गति सीधी होती है और वह सीधे अपने लक्ष्य तक जा सकती है, अतएव एक अतिमानसिक सत्य चेतना का अभिव्यक्त होना वह प्रधान सत्य है जो दिव्य जीवन को यहा सम्भव बनाएगा। इससे मानव मन का मौलिक रूपान्तरण हो जायगा। मन प्राण, शरीर-सभी दिव्य जीवन के अंग बन जाएंगे।

हरिदास जी चौधरी ने लिखा है, "उनके योग का उद्देश्य है प्राच्यके आध्यात्मिक आदर्श के द्वारा पाश्चात्य की कर्मप्रेरणा को उदबुद्ध करना और पाश्चात्य के कर्मस्रोत के अन्दर प्राच्य के देव-जन्म के स्वप्न को मूर्त विकसित करना प्रकृति के पीछे जो विश्वात्मा विराजमान है उनके साथ अभिन्नता स्थापित कर अनन्त शक्ति से शक्तिमान होना है मनुष्य के अन्दर जो सुप्त देवता विद्यमान है उनको जाग्रत कर मनुष्य का रूपान्तर साधित करना होगा पृथ्वी की अन्तर्निहित विराट चेतना को उदबुद्ध कर यहीं पर स्वर्गराज्य को स्थापित करना होगा श्री अरविन्द का विश्वास है कि मनुष्य के बाद भगवान की अतिमानस शक्ति (सुप्रामटल पावर) का अवतरण होने से अतिमानव (सुपरमन) का जन्म होगा। मनुष्य की सचेतन प्रचेष्टा और साधना के द्वारा ही यह नवीन जन्म या अभिव्यक्ति सिद्ध होगी।"[३] योगीराज अरविन्द के इस चिन्तन और योग ने विचार-जगत म एक नई क्रांति पैदा कर दी। पृथ्वी पर स्वर्ग को अवतारणा युक्तियुक्त हो गई। यह विचार और साधना का यह स्वरूप भारतीय संस्कृति के अनुरूप था जिससे हमें अपने प्राचीन रूप और गौरव की पुनर्प्राप्ति

१ 'अदिति', फरवरी, १९४९।
२ "वही वही, १९५०।
३ "अदिति', १९५४ की पांचवी पुस्तिका।

की आशा हुई। हिन्दी के लेखकों ने आगे बढ़ कर इस विचार का अध्ययन किया। पन्त पाडेचेरी के आश्रम में कुछ दिन रहे। विद्यावती 'कोकिल' जैसे वहीं की हो गई हैं। इस विचारधारा का आधुनिक हिंदी साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। अरविंद की कृतियों के हिन्दी अनुवाद हुए। गम्भीरता और उच्चकोटि का आस्तिकवादी साहित्य मिला। *गीता-उपनिषद की नवीन मौलिक व्याख्याएँ प्राप्त हुई।* मानव को ऊँचा उठाने वाला साहित्य रचा गया। भगवान के चौबीसों अवतारों को पन्त ने विकास क्रम के, उत्तरोत्तर वृद्धि के रूप में सोचा। संस्कृतनिष्ठ गद्य की एक नई शैली मिली। उच्चकोटि के विचार मिले। कविताएं, कहानियां, नाटक, एकांकी, आदि लिखे गये। आरसीप्रसाद सिंह, शान्ति एम० ए०, पंत, 'कोकिल', आदि पर इस विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

वेदांत—

बीसवीं शताब्दी के प्रथम कुछ वर्षों के अन्दर स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ ने विदेश में भी और अपने देश में भी समझदार व्यक्तियों की चेतना के कण-कण को वेदान्त की शंखध्वनि से आलोड़ित-विलोड़ित कर दिया। उन्होंने भारतीयों से अपने अन्तर को टटोलने तथा अपने वास्तविक स्वरूप और गौरव को फिर से पह-चानने के लिये कहा। वे वेदांत का सहारा लेकर भारत को एक आध्यात्मिक सत्ता के रूप में प्रतिष्ठापित करना चाहते थे। प्रश्न उठता है यह सब सम्भव कर देने की शक्ति रखने वाला यह वेदान्त है क्या? 'वेद नामक ग्रंथ दो भागों में बँटे हैं—कर्मकांड और ज्ञानकांड। दूसरा भाग ज्ञानकांड हम लोगों के धर्म का आध्यात्मिक अंश है। इसका नाम वेदान्त अथवा वेद का अंतिम भाग अथवा वेद का चरम लक्ष्य है।'[1] इस वेदान्त के तीन प्रस्थान हैं—उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और गीता। उपनिषद ऋषियों के अनुभव हैं। उपनिषदों के निष्कर्षों का युक्तिसंगत व्याख्या के प्रयत्नों का स्वरूप ब्रह्मसूत्र में है और गीता वह योगशास्त्र है जिसके माध्यम से हम वास्तविक धार्मिक जीवन पा सकते हैं। 'वेदान्त' शब्द से केवल अद्वैतवाद का ही अर्थ नहीं निकालना चाहिए। श्री हरि कृष्ण दास गोयन्दका ने व्यास जी के सिद्धान्तों में चौतीस मुख्य बातें इस प्रकार बताई हैं।

(१) यह प्रत्यक्ष उपलब्ध होने वाला जो *जड़-चेतनात्मक जगत है इसका उपादान* और निमित्त कारण ब्रह्म ही है (१—१—२ जन्माद्यस्य यतः)।

(२) सर्वशक्तिमान परब्रह्म परमेश्वर की जो परा (चेतन जीव-समुदाय) और अपरा

---

१ विवेकानन्द कृत 'वेदान्त' पृ० ३।

(परिवर्तनशील जड वर्ग) नामक दो प्रकृतियाँ हैं वे उसी की अपनी शक्तियां हैं इस लिये उससे अभिन्न हैं (३–२–२८ प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ।) वह इन शक्तियों का आश्रय है अतः इनसे भी भिन्न है। परब्रह्म जीव और जड वर्ग से सर्वथा विलक्षण और उत्तम है (३–२–३१– परमतः सेतूमानसबन्धभेदव्यपदेशेभ्य)।

(३) वह परब्रह्म परमेश्वर अपनी उपर्युक्त दोनों प्रकृतियों को ले कर ही सृष्टिकाल में जगत की रचना करता है और प्रलयकाल में इन दोनों प्रकृतियों को अपने में विलीन कर लेता है।

(४) परब्रह्म परमात्मा शब्द, स्पर्श आदि से रहित, निर्विशिष्ट, निर्गुण एवं निराकार भी है तथा अनन्त कल्याणमय गुण-समुदाय से युक्त सगुण एवं साकार भी है। इस प्रकार एक ही परमात्मा का यह उभयविध स्वरूप स्वाभाविक तथा परम सत्य है औपाधिक नहीं है (३–२–११–२६)।

(५) जीव-समुदाय उस परब्रह्म की परा प्रकृति का समूह है, इसलिए उसी का अंश है (२–३–४३)। इसी दृष्टि से वह अभिन्न भी है। तथापि परमेश्वर जीव के कर्म फलों की व्यवस्था करने वाला (२–४–१६) सबका नियन्ता और स्वामी है।

(६) जीव नित्य है (२ ४–१६)। उसका जन्मना और मरना शरीर के सम्बन्ध से औपचारिक है (३–२–६)।

(७) जीव का एक शरीर से दूसरे शरीर में और लोकान्तर में भी जाना-आना शरीर के सम्बन्ध से ही है। ब्रह्मलोक में भी वह सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध से ही जाता है (४–२–६)।

(८) परब्रह्म परमेश्वर के परमधाम में पहुंचने पर ज्ञानी का किसी प्रकार के प्राकृत शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता वह अपने दिव्य स्वरूप से सम्पन्न होता है (४–४–१)। वह उसकी सब प्रकार के बन्धनों से मुक्तावस्था है (४–४–२)।

(९) कार्यब्रह्म के लोक में जाने वाले जीव को वहां के भोगों का उपभोग सङ्कल्प मात्र से भी होता है और उसके सङ्कल्पानुसार प्राप्त हुए शरीर के द्वारा भी (४–४–८, ४–४–१२)।

(१०) देवयान मार्ग से जाने वाले विद्वानों में से कोई तो परब्रह्म के परमधाम में जा कर मुक्ति-लाभ कर लेते हैं (४–४–४) और कोई चैतन्य-मात्र स्वरूप से अलग भी रह सकते हैं (४–४–७)।

(११) कार्यब्रह्म के लोक में जाने वाले उस लोक के स्वामी के साथ प्रलय-काल के समय सायुज्यमुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं (४–३–१०)।

(१२) उत्तरायण मार्ग से ब्रह्मलोक में जाने वालों के लिये रात्रिकाल या दक्षिणायन काल में मृत्यु होना बाधक नहीं है (४—२—१६—२०)।

(१३) जीव का कर्त्तापन शरीर और इंद्रियों के सम्बन्ध से औपचारिक है (२—३—३३—४०)।

(१४) जीव के कर्त्तापन में परमात्मा ही कारण है (२—३—४१)।

(१५) जीवात्मा विभु है, उसका एकदेशित्व शरीर के सम्बन्ध से ही है वास्तव में नहीं है (२—३—२६)।

(१६) जिन ज्ञानी महापुरुषों के मन में किसी प्रकार की कामना नहीं रहती जो सर्वथा निष्काम और आप्तकाम हैं, उनको यहीं ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। उनका ब्रह्मलोक में जाना नहीं होता।

(१७) ज्ञानी महापुरुष लोक-संग्रह के लिये सभी प्रकार के विहित कर्मों का अनुष्ठान कर सकता है (४—१—१६—१७)।

(१८) ब्रह्मज्ञान सभी आश्रमों में हो सकता है। सभी आश्रमों में ब्रह्मविद्या का अधिकार है (३—४—४६)।

(१९) ब्रह्मलोक में जाने वाले का पुनरागमन नहीं होता (४—४—२२)।

(२०) ज्ञानी के पूर्वकृत संचित पुण्य-पाप का नाश हो जाता है। नये कर्मों से उसका सम्बन्ध नहीं होता (४-१-१३-१४)। प्रारब्ध कर्म का उपभोग द्वारा नाश हो जाता है। तदनन्तर वर्तमान शरीर नष्ट हो जाता है और वह ब्रह्मलोक को या वहीं परमात्मा को प्राप्त हो जाता है (४-१-१८)।

(२१) ब्रह्मविद्या के साधक को यज्ञादि आश्रम कर्म भी निष्काम भाव से करने चाहिये (३—४—२६) शम-दम आदि साधन अवश्य कर्त्तव्य हैं (३—४—२७)।

(२२) ब्रह्मविद्या कर्मों का अङ्ग नहीं है (३—४—२—२५)

(२३) परमात्मा की प्राप्ति का हेतु ब्रह्मज्ञान ही है (३—४—४७ और १)।

(२४) यह जगत प्रलय काल में भी अप्रकट रूप से वर्तमान रहता है (२—१—१६)।[1]

यही उपर्युक्त वेदान्त भारतीय संस्कृति की आधारशिला भारत की अमर महानता का रहस्य एवं उसका सर्वस्व है। जीवन दुखपूर्ण है, जगत दुखपूर्ण है यह बात कोई भी व्यक्ति जिसने जगत को अच्छी तरह जान लिया है अस्वीकार नहीं कर सकता। तब समस्या संसार को दुःख-रहित करने की नहीं रह जाती समस्या रह जाती है इस सर्वग्राही दुःख की चुभन पीड़ा को निष्प्रभ करने की। वेदान्त ने इसी

१ 'वेदान्त दर्शन' के 'निवेदन', का पृ ७, ८ और ९।

दृष्टिकोण को अपनाया। वेदान्त इससे भागा नही पराङ मुख नहीं हुआ, उसने देखने और अनुभव करने की धारा-दिशा-बदल दी। वेदान्त की इसी बात को विवेकानन्द ने इस रूप मे उपस्थित किया है, " सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन करके जीवन की विपत्तियों और दु खो को हटा सकते हैं। कुछ इच्छा मत करो।"[१] वेदान्त मे वैराग्य का अर्थ है जगत का ब्रह्मभाव। वेदान्त शिक्षा देता है कि जगत को ब्रह्मस्वरूप देखो। इसी वेदान्त को रामकृष्ण परमहस ने अपने जीवन मे प्रत्यक्ष कर लिया था। उन्ही का शिष्यत्व स्वामी विवेकानन्द ने ग्रहण करके सारे ससार को वेदान्त के सूर्य से चमत्कृत कर दिया था, मनुष्यमात्र को समझने की एक नई दृष्टि दी थी, एव दलित-पतित मानव जाति के उद्धार का एक दृष्टिकोण दिया था। जगत ब्रह्ममय है तो दुखी मानव भी ब्रह्म का ही रूप है। उसकी सेवा ब्रह्म की सेवा है। जब एक ब्रह्म ही सत्य है और सब मिथ्या है तब धन-सम्पत्ति, सब आध्यात्मिक दृष्टि से मिथ्या है और तब अच्छे काम-मानवता के उद्धार- के लिये इस मिथ्या के त्याग मे ननुनच क्या-मोह क्यों ? आत्मा अमर है। हम शरीर नहीं, आत्मा हैं। जब ऐसा है तब इस शरीर के जाने-छूटने का मोह व्यर्थ है। सबसे बडा भय मृत्यु का होता है। वेदान्त ने उसके डक को ही निकाल दिया। अब मानव निर्भय हो गया। ये सारी बातें जाति का उत्थान करने वाली थीं और ये सारी बातें वेदान्त से निकलती हैं।

विवेकानन्द ने यही किया और आत्मोद्धार के लिये सघर्ष-रत भारत को एक बहुत बडा सहारा दिया-बल दिया। स्वामी विवेकानन्द जी ने वेदान्त को सघर्ष की मरुभूमि के बाहर देखने की कभी व्यर्थ-चेष्टा न की। उन्होंने मानव-जीवन को वेदान्त की पृष्ठभूमि मे सही ढग से समझा और इस तरह समझाने का प्रयत्न किया कि मानव लघुता से ऊपर उठकर अपने महान लक्ष्य की एक झाकी पा जाय। उन्होंने कहा, एक वेगवती नदी समुद्र की ओर जा रही है। छोटे-छोटे कागज के टुकडे, तिनके, आदि इसमे बह रहे हैं, वे इधर-- उधर जाने की चेष्टा कर सकते हैं किन्तु अन्त मे उन्हे अवश्य ही समुद्र मे आना पडेगा। इसी प्रकार तुम और मैं तो क्या, समस्त प्रकृति ही क्षुद्र-क्षुद्र कागज के टुकडो की भाति उस अनन्त पूर्णता के सागर ईश्वर की ओर अग्रसर हो रही है। हम भी इधर-उधर जाने की चेष्टा कर सकते हैं, परन्तु अन्त मे हम भी उस जीवन और आनन्द के अनन्त समुद्र मे पहुचेंगे।'[२]

विवेकानन्द का निम्नलिखित कथन सेवा और वेदान्त के उनके समन्वय को

---

१ 'ज्ञानयोग पृ २३४

२ 'ज्ञानयोग' पृ २२८

श्रेष्ठतम रूप में उपस्थित करता है, "वर्तमान समय के लिये स्वामी रामकृष्ण का यह सन्देश है–सिद्धान्त, प्राचीन अंधविचार मत–मतान्तर गिर्जे मन्दिर–किसी की भी चिन्ता न करो। मनुष्य–जीवन का सार जो आत्मज्ञान है उसके समय उनका कुछ भी महत्त्व नहीं। मनुष्य में जितना ही आत्मज्ञान बढ़ेगा उतना ही संसार का वह अधिक उपकार करेगा। उसी का संचय करो, पहिले उसे प्राप्त करो और किसी धर्म में दोष न निकालो, क्योंकि सभी धर्म और मतों में कुछ न कुछ अच्छाई अवश्य होती है। अपने जीवन के आचरण से यह बता दो कि धर्म का अर्थ शब्द–समूह नहीं, न केवल नाम, न सम्प्रदाय है धर्म का अर्थ सच्चा आत्मज्ञान है। जिन्होंने इसे प्राप्त किया है वे ही धर्म के रहस्य को समझ सकते हैं। जिन्हें आत्मज्ञान मिल चुका है वही दूसरे को भी दे सकते हैं तथा मनुष्य–जाति के सच्चे शिक्षक हो सकते हैं। प्रकाश की वे ही सच्ची शक्तियाँ हैं — आत्मज्ञानी बनो और सत्य का स्वयं अनुभव करो। अपने भाइयों के लिये त्याग करो। उनके लिए प्रेम की लम्बी–चौड़ी बातें करना छोड़ जो कहते हो उसे कर दिखाना सीखो। त्याग और आत्मज्ञान की अनुभूति का समय आ गया है। संसार के धर्मों की सत्यता तभी दिखाई देगी। तुम्हें ज्ञात होगा कि किसी से द्वेष करने की आवश्यकता नहीं और तभी तुम मनुष्य–जाति की सच्ची सेवा कर सकोगे।'[1]

यही प्रवृत्ति ये ही विचार स्वामी रामतीर्थ के भी थे। उन्होंने संसार को राममय देखना और अपने को राम में डुबा देना ही सच्चा ज्ञान और सच्ची उपासना समझा। उन्होंने कहा मन को ब्रह्म के पास बिठाना उपासना है अथवा उपासना उस अवस्था का नाम है जहाँ रोम–रोम में राम रच जाय मन अमृत में भीग जाय।[2] इसके लिये उदाहरणस्वरूप उन्होंने पत्थर का जल में डूब कर शीतल होने, कपड़े की गुड़िया के अन्दर–बाहर जल में निचुड़ने लग जाने और मिश्री की डली के गङ्गा–जल ही जाने की बातें कहीं। इनके उपदेशों के विषय थे, तुम क्या हो आनन्द का इतिहास और घर पाप का निदान कारण और उपचार प्रकाश आत्मविकास, प्रश्नों का प्रकाश यथार्थ और वास्तविक तात्त्विक प्रेम के द्वारा ईश्वर का अनुभव व्यावहारिक वेदान्त और भारत। उनके उपदेशों का सार इस प्रकार है —
(१) मनुष्य का देवत्व (२) संसार उसकी सहकारिता करने को बाध्य है जो सम्पूर्ण संसार को अपनी एकता समझता है (३) शरीर को सतत् श्रम में और मन को प्रेम

---

1 धर्म और दर्शन पृ ४३।

२ श्री स्वामी रामतीर्थ पृ ४०।

तथा शान्ति म रखने का ही अर्थ है यहीं अर्थात् इसी जीवनम पप और दु खसे मुक्ति (४) सबसे अभिन्नता के व्यावहारिक अनुभव से हमें समलोल निश्चिन्तता का जीवन प्राप्त होता है और (५) सकल ससार के पवित्र धर्मग्रथों को हमे उसी भाव से ग्रहण करना चाहिये जसे हम रसायन–विद्या का अध्ययन करते हैं और स्वय अपने अनुभव को अन्तिम प्रमाण मानना चाहिये। अमेरिका मे दिये गये उनके व्याख्यानो का यह सार-सकलन एक अमेरिकावासी ने उपस्थित किया था।

रामकृष्ण परमहस स्वामी विवेकानन्द स्वामी रामतीर्थ आदिके इन उपदेशों का एक सबसे बडा परिणाम जहा उस समय यह निकला कि हम अपने प्राचीन धर्म-ग्रन्थ आदि की ओर मुडे क्योंकि इन्होंने उन सब पर हमारी आस्था अधिक कर दी थी वहा दूसरी ओर एक दूसरा परिणाम यह भी निकला कि हम सभी भारत पर न्योछावर होने को तयार हो गये। यह एक अनोखी बात है किन्तु फिर भी अस्वाभाविक नहीं। बात यह है कि इनके परिणामस्वरूप हम अपने देश के प्राचीन धर्म और दर्शन की महानता और भारत के धर्मगुरु होने के कारण असाधारणरूप से गौरवान्वित अनुभव करने लगे किन्तु प्रत्यक्ष जीवन म देखा कि हमारी अधोगति असाधारण रूप से धार्मिक है और अनुभव किया कि इसका कारण है विदेशी सस्कृति और अग्रेजी शासन को हटाना हमने अपना–अपने सबका–सवप्रथम कर्तव्य मान लिया। इस अनुभूति को और अधिक तीव्र बनाने वाली एक दूसरी अनुभूति भी हमें हुई। वह अनुभूति यह थी कि भारत एक भूमि भाग नही, एक आध्यात्मिक सत्ता है। उसका एक-एक कण पवित्र है। मा की तरह वह केवल हमारे शरीर का ही पालन-पोषण नहीं करती बल्कि अनत सत्ता की तरह हमारी आत्मा को आध्यात्मिक प्रवृत्तियो से सपन्न भी करती है। सच्ची माता तो वही है। ' सब खल्विद ब्रह्म की पृष्ठभूमि म इस अनुभूति की जागृति नितान्त स्वाभाविक थी। वस्तु असाधारण, भावुकता एव सच्ची आध्यात्मिकता मे डूबे हुए रामतीर्थ कह उठे "त्याग और कुर्बानी से ही इस देश को स्वतत्रता प्राप्त होगी। राम का सिर जायगा फिर पूरन का और तत्पश्चात् सहस्रो दूसरे व्यक्तियो का तब कहीं जाकर देश स्वतत्र हो सकेगा। भारतवष भारत-म ता स्वतन्त्र होनी चाहिए गुलामी ! अरे दासपन ! अरी कमजोरी ! अब समय आ गया बाधो बिस्तर उठाओ लत्ता-पत्ता, छोडो मुक्त पुरुषो के देश को ! सोने वालो बादल भी तुम्हारे शोक म रो रहे हैं, बह जाओ गगा म, डूब मरो समुद्र मे, गल जाओ हिमालय में ! राम का यह शरीर न गिरेगा जब तक भारत बहाल न हो लेगा। यह शरीर नाश भी होजायगा, तो भी इसकी हड्डिया दधीचि की हड्डियो के समान इन्द्र का वज्र बन कर वृत्र के राक्षस को, चकनाचूर कर ही देंगी। यह शरीर मर भी जायगा तो भी इसका ब्रह्म बाण नही चूक सकता मैं सदह

अपने को सियार समझा था, वेदान्त का दर्पण दिखाकर उसमें सचमुच शेर होने का आत्मविश्वास उत्पन्न कर दिया। यद्यपि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही इनका देहान्त हो गया था किन्तु इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से सारा देश प्रभावित हुआ स्वामी विवेकानन्द ने हिंदू धर्म के कर्मकाण्ड वाले पक्ष को तिरस्कृत करके ज्ञानकाण्ड का (वेदान्त का) उपदेश देकर हिंदुत्व का जो रूप प्रतिष्ठित किया आधुनिक हिन्दी काव्य उसी की मंजुलतम झाँकी है। पंत, 'प्रसाद निराला' राम शर्मा आदि की तो बात ही क्या स्वयं 'दिनकर' तक अपने काव्य में विवेकानन्द को वंदना कर अपने को उनका ऋणी मानते हैं।

प्राचीन पर आस्था—

यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते हम समझदार भारतवासी समझ गये थे कि (१) हमारा वर्तमान जीवन इस कोटि का नहीं है कि वह उच्चकोटि के साहित्य का विषय बन सके, (२) हमारी शिक्षा हमारे जीवन से सम्बन्धित नहीं है अर्थात् वह हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन में किसी काम की नहीं, वह केवल नौकरी पाने की संभावना मात्र उपस्थित कर सकती है, (३) वह शिक्षा सिद्धान्तों की बात करती है और (४) इस शिक्षा का हमारी संस्कृति से कोई भी संबंध नहीं है और इसलिये इससे हमारे अपने साहित्य-निर्माण में कोई विशेष सहायता नहीं मिल सकती। ऊपर कही हुई दूसरी और चौथी बात हमें इस तथ्य का रहस्य बताती है कि क्यों टगोर, भारतेन्दु प्रसाद, पंत, निराला', मैथिलीशरण गुप्त रामचन्द्र शुक्ल महावीर प्रसाद द्विवेदी, आदि स्वनामधन्य साहित्यकार उच्च-शिक्षा न प्राप्त करके भी अपने-अपने क्षेत्र के अद्वितीय कारयित्री प्रतिभा वाले सिद्ध हुए और क्यों इन महापुरुषों को अपने आप घर पर भारतीय साहित्य का अध्ययन करना पड़ा। ऊपर कही हुई तीसरी बात ने हमको सिद्धान्त प्रिय बना दिया और पहली बात ने हमारे साहित्य और साहित्यकार को प्रत्यक्ष जीवन से पराङमुख करके चिन्तन और मनन-प्रधान बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि हमने पीछे मुड़कर अपने पुराने धर्म और दर्शन का अध्ययन और मनन करना तथा उसमें प्रेरणा लेकर साहित्य लिखना प्रारम्भ कर दिया क्योंकि हम इन पर अधिक विश्वास हो गया था। देवी-देवताओं की जो समझ में आने वाली बौद्धिक व्याख्या की गई उससे हमारा यह विश्वास दृढ़ हो गया अपनी मूढ़ता एवं अज्ञानता के कारण हम यह समझ भले ही न पाएँ किन्तु प्राचीन पौराणिक कथाओं के भीतर महामूल्य-सत्य छिपा है। कोई बात अनर्गल नहीं है। हमारे देवी-देवता या तो महान मानव थे या व रूपक हैं जो किसी तत्व या तथ्य की

वरुण आदि सब घूम रहे हैं
किसके शासन में अम्लान ?
किसका था भ्रूभङ्ग प्रलय-सा
जिसमें ये सब विकल रहे ?
अरे ! प्रकृति के शक्ति-चिह्न ये
फिर भी कितने निबल रहे ?
— — —
किसका करते थे सधान ?
—
किसके रस से सिंचे हुए ?

सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहां ?
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका वह अस्तित्व कहां ?
—
हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
— —
हे विराट, हे विश्व देव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान ?[1]

तथा —

कस्मै देवाय हविषा विधेम[2] की पुनरावृत्तियों वाले श्लोक

या

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि,
अर्वाग देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा
को वेद यत् आबभूव ।[3]

ऋग्वेद की इन जिज्ञासाओं का रूप भी यही है —रात में सूर्य कहां रहता

---

१ 'कामायनी', आशा सर्ग,
२, 'ऋग्वेद' १०–१२१–१ एवं उसके बाद के कुछ श्लोक ।
३ वही १०–१२९–६ ।

है ? दिन मे तारे कहा चले जाते हैं ? सूर्य गिर क्यो नही पडता ? दिन-रात मे पहले कौन था ? वायु कहा से आता है और कहा चला जाता है ? आदि ?

उपनिषद् –

वेदो के पश्चात् हमारा ध्यान उपनिषदों की ओर गया। विषय की दृष्टि से वेदो के तीन भाग हैं —कर्म, उपासना और ज्ञान। कर्म संहिता एव ब्राह्मण भाग मे है, उपासना संहिता एव आरण्यक मे, और ज्ञान उपनिषद मे। विद्या दो प्रकार की हैं—परा और अपरा। चारों वेद, छहो वेदाग अपरा विद्या हैं और अक्षर ब्रह्म का ज्ञान परा विद्या है परा विद्या ही ब्रह्म विद्या है। अपरा कर्मप्रधान है परा मोक्षदायिनी। अपरा के द्वारा परा विद्या का मोक्ष फल पाया जाता है। अनित्य, अशुचि दुख और अनात्मा मे क्रमश नित्य शुचि, सुख और आत्मबुद्धि अविद्या है। जिससे ब्रह्म को बोध हो वह विद्या है। ब्रह्म विद्या का न होना ही अविद्या है। मूलतत्त्व प्रकृति से ही जगत का अस्तित्व है। यह प्रकृति ब्रह्म की उपादान-भूत माया है। उपनिषदो ने आत्मा को अजन्मा नित्य शाश्वत, जन्म-मृत्यु से रहित और अविकारी माना है। उपनिषद ब्रह्म को सर्वव्यापी, नित्य, अनन्त शुद्ध, चैतन्य, सबकी आत्मा, सत्य अनादि, ध्रुव और अद्वितीय मानते हैं। वह सब आत्मा है। वही सब मे है। वह विज्ञानमय और आनन्दमय है। उसे विवेक द्वारा ही जाना जा सकता है। वह मन, बुद्धि और इन्द्रिय से परे है। उसके साक्षात् के लिये जितेन्द्रिय, शात चित्त निरीह सहिष्णु और आत्मनिष्ठ होने की आवश्यकता है। उसे जाना जा सकता है। ब्रह्म के दो रूप हैं—पर और अपर। परब्रह्म निरुपाधि निःसीम, परात्पर और निर्गुण है। अपर ब्रह्म उपाधियुक्त ससीम अन्तस्थ और सगुण है। परब्रह्म सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है और अपर ब्रह्म नित्य, सर्वव्यापी जगत्स्रष्टा तथा कर्मों का अधिष्ठाता है। वही पालक और सहारक भी है। परब्रह्म सत्य ज्ञान, अनन्त अद्वैत, अमृत और सनातन है और अपर ब्रह्म जगत का कारण, पाप-पुण्य के फलो का दाता, प्रकाशक, अनन्त, अक्षर, सनातन तथा सर्वज्ञ है। उपनिषद् वैयक्तिक आत्मा को जीव और आत्मा को परम आत्मा मानते हैं। जीव के साथ कर्म फल और अनुभूतिया जुडी रहती हैं किन्तु आत्मा अज अनादि, निडर और कर्म बन्धन से मुक्त रहता है। जीव का लक्ष्य होता है आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना और अद्वैत की प्राप्ति। ससार में ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नही। उपनिषद जीव की चार अवस्थाएँ बताते हैं—जागृत स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। इन अवस्थाओं के जीव को क्रमश "ससार", 'तैजस, "प्राज्ञ' और "आत्मा" कहते हैं। उपनिषदों ने पाच कोश माने हैं जो जीव के सूक्ष्मातिसूक्ष्म शरीर हैं। ये हैं अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। ये क्रमश सूक्ष्म से सूक्ष्मतर

होते जाते हैं। आत्मा आनन्दमय और कोश में रहता है। जगत ब्रह्म का ही दूसरा रूप है। वह उसका निमित्त और उपादान कारण है। उपनिषद ज्ञान पाकर जाव बंधन से छूट जाता है। वेदान्त दर्शन के मूल आधार उपनिषद ही हैं। तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदों के ऋषियों की अपेक्षा उपनिषदों के ऋषि अधिक अन्तर्मुखी दृष्टि वाले थे। वे संसार के भोगों और ऐश्वर्यों के प्रति अधिक उदासीन हैं। वे संसार के क्षणिक महत्व वाले पदार्थों के आकर्षण से ऊपर उठ गये थे। उन्होंने सृष्टि के रहस्य को वाणी दी है। उन्होंने कहा है कि यह आत्मा प्रवचन, बुद्धि अथवा उपदेश सुनने से नहीं प्राप्त हो सकता। वे तर्क से भी आत्मज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं मानते। आचार्य के सिखाने पर ही उसका बोध संभव है। इस प्रकार उपनिषदों में गुरु और भगवत्कृपा का महत्व स्वीकार किया गया है। उपनिषदों ने जगत का सत् होना स्वीकार किया है। ब्रह्म के वर्णन में उपनिषद् कभी कभी रहस्य पूर्ण भाषा का व्यवहार करते हैं। रामानुज और शंकर दोनों के सिद्धान्तों को उपनिषदों से ही प्रेरणा मिली है। अस्तु ये उपनिषद वैराग्य और संन्यास के अधिक समीप हैं। ये कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, पांच तत्वों, महत्तत्व, आदि पर विश्वास करते हैं। कर्मफल पर और पुनर्जन्म पर भी इनका विश्वास है। यहां मूर्तिपूजा नहीं है। यज्ञ की जगह ज्ञान है। इनके अनुसार जीव संकल्प करने और कार्य करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र है। ये बंधन का कारण तत्वज्ञान का अभाव मानते हैं। इनके अनुसार वासनाओं के छूटने से ब्रह्म-प्राप्ति सम्भव है। तत्वज्ञान के लिये विवेक और वैराग्य आवश्यक है। इस प्रकार ये उपनिषद ब्रह्म विद्या हैं। उपनिषदों के विषय में शंकराचार्य का यह मत था 'जिससे मुमुक्षुओं की संसार-बीज-भूत अविद्या नष्ट होती है, जो विद्या उन्हें ब्रह्म-प्राप्ति करा देती है और जिससे दुखों का सर्वथा शिथिलीकरण हो जाता है वही अध्यात्मविद्या उपनिषद् है।'[१] इनसे हिन्दू संस्कृति के अनेक दार्शनिक सिद्धान्त निकले हैं। इस युग में आर्य समाज के प्रयत्नों द्वारा और अन्य विद्वानों एवं जिज्ञासुओं के ज्ञान-पिपासा के परिणामस्वरूप उपनिषदों के अनेक हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुए और हिन्दी के साहित्यकारों ने भी उनका अध्ययन किया जिसका परिणाम किसी न किसी रूप में उनके द्वारा प्रणीत साहित्य पर अवश्य पड़ा।

गीता—

इसी सांस्कृतिक पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि में हमने गीता का भी अध्ययन किया उपनिषदों और वेदों की अपेक्षा गीता इस युग में भारतवर्ष में तथा संसार के अन्दर

१ 'कल्याण' हिन्दू संस्कृति अङ्क, पृ. २८६।

भी अधिक लोकप्रिय रही है और उसने समधन्नार लोगों के मानस को अधिक प्रभावित किया है। इसकी एक झांकी हमें गीता प्रेस गोरखपुर से निकलने वाले 'कल्याण के "गीना त,नाव" विशेषांक में उल्लिखित देश-विदेश तथा प्रायशः सभी धर्मों और विचारों के विद्वानों और मनर्गों की उक्तियों एवं विचारों को देखने से मिलती है। शंकराचार्य, सन्त ज्ञानेश्वर की व्याख्याओं के प्रचार, गीता प्रेस से प्रकाशित सटीक "गीता" के अनेक संस्करणों तथा 'गीतातत्वाक' के अतिरिक्त अंग्रेजी में श्रीमती एनी बसेंट का टीका, अंग्रेजी में ही राधाकृष्णन की गीता-व्याख्या और कन्हैया लाल मुंशी की गीता की व्याख्या मराठी में लोकमान्य तिलक का 'गीता-रहस्य' और आचार्य विनोबा भावे का 'गीता प्रवचन', अरविन्द की "एसेज आन गीता", आदि ने गीता की लोकप्रियता स्थापित कर दी। देवराज और तिवारी ने लिखा है "आज हिंदू जाति की जागृति के युग में यदि जनता में गीता के प्रति श्रद्धा और सम्मान बढ़े तो आश्चर्य ही क्या है।[1]

गीता के अनुसार ब्रह्म अथवा पुरुषोत्तम तत्व श्रीकृष्ण को ही माना गया है। वेदान्त के अद्वैत को गीता ने यह स्वरूप दिया है। उसके दो भाव हैं:- एक, अपर भाव और दूसरा, परभाव अपर भाव का ब्रह्म माया से युक्त है। वह सृष्टि का रचयिता है। उसी को हम विश्वात्मा कहते हैं। परभाव वाला ब्रह्म अव्यय है, अनन्त है और अनित्य है। परभाव से ब्रह्म लीलामय स्वरूप वाला है और अक्षर भाव से वह निर्गुण रूप है। वही पुरुषोत्तम तत्व श्रीकृष्ण-प्रकृति-त्रय गुणों के अभाव के कारण निर्गुण हो जाता है और लीलामय होने के कारण सगुण हो जाता है। इस प्रकार गीता निर्गुण और सगुण दोनों को स्वीकार करती है फिर भी उसने सगुण को श्रेष्ठ माना है। उस सगुण ब्रह्म की दो प्रकृतियां हैं—परा और अपरा। जीव रूप चैतन्य स्वरूप प्रकृति परा है और पृथ्वी, जल वायु तेज, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार अर्थात् मायावाली प्रकृति अपरा है। इस प्रकार गीता ने त्रिगुणात्मिका माया को ब्रह्म की अभिन्न शक्ति माना है। प्रकृति और पुरुष दोनों को उसने मूल तत्व अर्थात् ब्रह्म अथवा पुरुषोत्तम का प्रकाश या उसकी अभिव्यक्ति माना है। गीता ने प्रकृति या महद् ब्रह्म या माया को तीन गुणों से युक्त माना है—सत् रजस् और तमस। गीता ने इन तीनों की बड़ी विशद एवं व्यापक व्याख्या की है। मानसिक, भौतिक एवं व्यावहारिक जीवन की अनेकानेक प्रवृत्तियों का विश्लेषण एवं विभाजन गीताकार ने इन्हीं तीनों के आधार पर किया है। गीता के अनुसार प्रकृति ही सबकुछ

१ "भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास", पृ ११७।

करती है। मूल अहंकार या प्रमाद के कारण हम यह समझ बैठते हैं कि करने वाले हम हैं। गीता ने अक्षर यानी भगवान को इन सबके ऊपर माना हैं। गीता ने जीव को ब्रह्म की परा प्रकृति माना है। वह ब्रह्म का सनातन अंश है। वह प्रकृति से उत्पन्न गुणों का भोक्ता माना गया है। ब्रह्म ही को गीता ने जगत का निमित्त और उपादान-दोनों कारण माना है। यह ब्रह्म की ही एक अभिव्यक्ति है—उसी का एक रूप। उसी आनन्द-सिंधु पुरुषोत्तम में निवास करने को ही गीता ने मोक्ष माना है।

इस सृष्टि में जीव का प्रधान लक्ष्य है ब्रह्म का बोध। यह दो प्रकार से हो सकता है —ज्ञाननिष्ठा के द्वारा और योगनिष्ठा के द्वारा। अपने समस्त कार्यों, इच्छाओं और अपने आपको अभिमान से शून्य करके ब्रह्म में मिला देना ज्ञाननिष्ठा है। दृश्यमान जगत के प्रति अनासक्ति का दृष्टिकोण और अनिच्छा की भावना पैदा करके और कर्मों के प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति धारण करके मन वचन और कर्म से प्रभु के आधीन होना योगनिष्ठा है। हम कोई भी निष्ठा अपनायें वैराग्य और अनासक्ति इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये अनिवार्य हैं। मन और इन्द्रियों का निग्रह होना चाहिए। मोक्ष की इच्छा रखने वाले की प्रकृति सतोगुणी होनी चाहिये। उसमें निर्भयता शुद्धता स्वाध्याय प्रेम, मान-अपमान से ऊपर उठ जाने की क्षमता, क्रोध का अभाव ऋजुता सत्य-प्रियता और उदारता, आदि गुणों का होना नितान्त अनिवार्य है। उसके अन्दर समत्व भाव का उदय हो जाना चाहिये। प्रियवस्तु के भी परित्याग की क्षमता का होना आवश्यक है। कष्ट मोह और मृत्यु को भी लक्ष्य प्राप्ति के लिये हँसते-हँसते झेल जाने वाला ही इस पथ पर बढ़ सकता है। इस तरह कर्म करने से चित्त की शुद्धि होती है। मानव को पाप-पुण्य की भावना से ऊपर उठ जाने का प्रयत्न करना है। गीता कहती है कि स्वयं परात्पर कृष्ण ही सभी कर्मों के अधिष्ठाता हैं। जब वास्तविकता यह है तब जीव को कर्तृत्व के अहं का परित्याग कर देना चाहिये। ऐसा करने का परिणाम यह होगा कि मानव कर्म तो करेगा किन्तु उसमें फल में आसक्त न होगा। फल में आसक्ति का अभाव फल तो देगा किन्तु अनिष्ट से मुक्त कर देगा। पाप कर्म तो नहीं ही होंगे हम पुण्य के लोभ या अहंकार से भी मुक्त हो जायगे। गीता कहती है कि हमें प्रतिक्षण प्रतिपल उसको याद करते रहना चाहिए। यही अनासक्ति है निष्काम कर्मयोग है। यही ज्ञानभक्ति युक्त कर्मयोग है। गीता ज्ञान मार्ग की बड़ी प्रशंसा करती है किन्तु भक्ति को श्रेष्ठतर मानती है। योग को गीता ने बड़े ही महत्व की बात बताई है। वह हठयोग की क्रिया का पूर्णरूपेण तिरस्कार नहीं करती किन्तु उसका अपने मत के अनुसार काम करने में

कुशलता और समत्व भावना ही वास्तविक योग है। यह एक विचित्र बात है कि जिस गीता के कारण महाभारत हुआ, जिसने अर्जुन को चुनौती दी—"क्षुद्र हृदय दौर्बल्य त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप' जिसने खुलकर कहा— युद्धस्व विगत-ज्वर", वह गीता हिंसा या जीवहिंसा का समर्थन कहीं नहीं करती। गीता कर्त्तव्य की ओर अग्रसर करती है। गीता कर्त्ता को सर्वांगीण दृष्टि देता है। वह कहती है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना कार्य करे उसे मुक्ति मिल जायगी। गीता कर्मकाण्ड और पुरोहितवाद के विरुद्ध है। यही स्वस्थ सामाजिक एवं वैयक्तिक दृष्टिकोण है। यही पारिवारिक जीवन की भित्ति है। यही बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की युग की माग थी। यही भारत की आवश्यकता थी।

गीता की मूल समस्या कर्त्तव्याकर्त्तव्य की समस्या है। यह हरयुग में और हर व्यक्ति के जीवन में पैदा होती है। बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यह समस्या इस प्रकार थी —राज्य भक्ति या राष्ट्रभक्ति, बूढ़ी मा या भारत मा अपने परिवार का दुःख या सम्पूर्ण भारत का दुःख पिता के प्रति कर्त्तव्य-पालन हो या सम्पूर्ण राष्ट्र आजादी के लिये मरें या जीवन के सुख के लिये जिएँ, आदि। गीता इस दृष्टि से एक अनोखी पुस्तक है कि उसने मानव-हृदय में शाश्वत रूप से उठने वाले ऐसे प्रश्नों का मानव की शाश्वत प्रवृत्तियों का सम्यक् विश्लेषण करके जो उत्तर दिया है उसकी उपयोगिता और सच्चाई को आज तक कोई चुनौती नहीं दे सका। न मालूम कितनी विलक्षण प्रतिभा गीताकार के पास थी कि उसके द्वारा उपस्थित उत्तर समाधान या हल सबसे आज तक सभी युगों के सभी प्रकार के, सभी स्तरों के एवं सभी देशों के मनुष्यों के लिये उपयोगी सिद्ध हुआ है। सभी परिस्थितियों में गीता का ज्ञान मनुष्य की आत्मा का सर्वोत्तम पाथेय सिद्ध हुआ है। गीता के समान ऐसी कोई दूसरी पुस्तक संसार के साहित्य में आज तक नहीं निकली। गीता सचमुच अद्वितीय है। गीता ने मोक्ष का द्वार केवल सन्यासियों के ही लिये नहीं, गृहस्थों के लिये भी खोल दिया। 'दिनकर' ने ठीक लिखा है[1] कि गीता गृहस्थों की उपनिषद् है। ज्ञान-कर्मयुक्त भगवत शरणागति की सिद्धि गीता का सार है। कोई आश्चर्य नहीं कि फांसी पर चढ़ने के तैयार कर्मवीर क्रान्तिकारियों के हाथ में गीता रहती थी। गीता में सबकुछ है। उसमें उससे पूर्व के सभी दर्शनों और विचारधाराओं का समन्वय है और फिर भी उसने कुछ ऐसा दिया है जो न उसके पहले किसी ने दिया था और न उसके बाद दिया है। उसके प्रणेता एवं उसकी प्रतिभा के विषय में जो कुछ भी कहा जाय, कम है।

---

१ 'संस्कृति के चार अध्याय', पृ १५८

जैन-दर्शन —

ऊपर कहा जा चुका है कि गीता ने हिंसा का समर्थन कहीं नहीं किया है। आगे चलकर बौद्धधर्म और जैनधर्म ने अहिंसा का पूर्णरूप से प्रतिष्ठा कर दी। वेदों ने यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कर्म माना था और आगे चलकर कहा गया "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति"। जैन और बौद्ध धर्म ने वेदों को ही मानने से इन्कार कर दिया और वे नास्तिक कहलाये। देवराज और तिवारी ने कहा है, "जहां जैन-दर्शन में हम आस्तिक विचारकों के केवल व्यावहारिक मन्तव्यों का विरोध पाते हैं वहां बौद्ध-दर्शन में आर्यों के व्यावहारिक और तात्विक दोनों प्रकार के विचारों का रूपान्तर हो गया है।"

जैनधर्म न तो ईश्वर को मानता है न वेद को। यह सृष्टि को मानता है और जीव को मानता है। उसके अनुसार सृष्टि अनादि है। उसका निर्माण प्राकृतिक तत्वों के निश्चित नियमों के अनुसार होता है। इसमें ईश्वर का कोई हाथ नहीं, उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं। यह सृष्टि वस्तुतः सत्य है। जैनधर्म के अनुसार संसार द्रव्यों से निर्मित है। जिनमें गुण और पर्याय दोनों हों वह द्रव्य है। गुण स्वरूप धर्म को कहते हैं और पर्याय आगन्तुक धर्म को। स्वरूपधर्म सर्वदा विद्यमान रहता है और आगन्तुक धर्म बदलता रहता है। अतएव संसार बदलने वाला तथा न बदलने वाले तत्वों से बना है। इसलिये संसार की समस्त वस्तुओं में स्थिरता और विनाश नित्यता और अनित्यता-दोनों की सत्ता विद्यमान है। जैनधर्म के अनुसार यह सृष्टि छः तत्वों से बनी है — जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। चेतनद्रव्य को जीव कहते हैं। इसमें ज्ञान और शारीरिक मानसिक तथा इन्द्रियजन्य शक्ति रहती है। जीव में शुद्ध ज्ञान अर्थात् निर्विकल्प ज्ञान भी रहता है और दर्शन ज्ञान अर्थात् सविकल्प ज्ञान भी रहता है। इनके कारण उसका शुद्ध रूप ढँक जाता है। भावना से बना हुआ प्राण ही पुद्गल है और जिस जीव में यह पुद्गल भी रहता है वह

के समान स्वय प्रकाशित होने वाला और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करने वाला होता है। प्रत्येक जीव मे अनंत ज्ञान होता है। कर्मों के आवरण के कारण उसका यह रूप ढँक जाता है। शरीर, इन्द्रिया, मनस ये सब आवरण ही हैं जो कर्मों से बनते हैं, जनधर्म ने ४ कषाय माने हैं-क्रोध, मान, माया, लोभ। सदाचार से सयम प्राप्त करके इन पर विजय प्राप्त की जा सकती है। तभी कर्मों का नाश होगा-और वही स्थिति मोक्ष की होती है। हिंसा, झूठ चोरी, क्रोध और वासना पापकर्म हैं अहिंसा सत्य अस्तेय, अक्रोध, अपरिग्रह पुण्य कर्म हैं। सदाचार का आधार दया है। प्रत्येक जनी के लिये बारह प्रकार की 'भावना या 'अनुपेक्षा' के पालन की सलाह है। क्षणभगुरता, असहायता, दु खो से छुटकारा पाने का यत्न, एकाकीपन का अनुभव सासारिक वस्तुओ से सम्बन्ध का अभाव शरीर की अपवित्रता, नये सत्कर्म उत्पन्न करने का चिन्तन कर्मों म आत्मा को न बँधने देना कर्मों के बधन को क्षीण करने के के उपाय पर विचार, तत्वचिन्तन तथा सम्यक चरित्र सम्यक दर्शन दुर्लभ है किन्तु उसी से सुख मिल सकता है-ये ही बारह भावना' हैं। विषय वासनाओ के परित्याग और अहिंसा को जनधर्म ने बहुत ही आवश्यक माना है। सयम का अभ्यास करते-करते निर्जरा अवस्था की प्राप्ति हो सकती है जो वस्तुत 'मोक्ष' है। कारण यह है कि बधन का हेतु आस्रव या इच्छा है। इसका अभाव ही वासनाओ का अभाव है जिससे कर्म शरीर छूटता है। जनधर्म मानता है कि स्थूल शरीर के अन्दर सूक्ष्म कर्म शरीर है जो मरने के बाद भी जीव के साथ जाता है। यही पुनर्जन्म का कारण है। हम यह कर्म शरीर छोड़ सकते हैं। इधर कर्मक संस्कार क्षण-क्षण पड़ते रहते हैं तो, चित्तनिरोध द्वारा-ध्यान की समाधि द्वारा हम इससे मुक्ति पा सकते हैं। इसलिये जनधर्म मे अपरिमित कष्ट सहन को अच्छा माना गया है। वह मानता है कि शरीर आत्मा का शत्रु है। उसको असाधारण कष्ट देना चाहिये-यहा तक कि व खाना न खाकर मर जानका अच्छा समझते हैं। जैनधर्मने सम्यक दर्शन सम्यक ज्ञान और सम्यक् चरित्र को धर्म का त्रिरत्न' माना है। सम्यक दर्शन तीन मूढता और आठ अहकार छोड़ने को कहते हैं। ससार म प्रचलित मूढता, देवता सम्बन्धी मूढता और पाखण्डियों वाली मूढता के साथ-साथ अपनी बुद्धि, अपनी धार्मिकता अपने वंश अपनी जाति, अपने शरीर मनोबल अपनी चमत्कार-शक्ति, अपनी योग-तपस्या और अपने रूप-सौंदर्य का अहकार भी छोड़ देना चाहिये।

सृष्टि जिन ६ तत्वों से बनी है उनमें दूसरा है "पुद्गल"। तात्पर्य यह है कि उन छः तत्वों मे स केवल पुदगल ही ऐसा है जो मूर्त है-देखा जा सकता है। सृष्टि जिन परमाणुओ स बनी है उन्ही का योग पुद्गल का निर्माण करता है य परमाणु अनादि, अनत, नित्य और मूर्त हैं परमाणु पुजों को ही 'स्कध' कहते हैं

अर्थात् जिसके अंश न बनसकें। यह परमाणु अविभाज्य, अच्छेद्य, अदाह्य, और आग्राह्य है। पृथ्वी, तेज जल, आदि इनही स्कन्धोंके रूपान्तर हैं। जैन दर्शन मे शरीर से आत्मा को अलग एवं स्वतंत्र माना गया है। जानने के स्वरूप द्वारा ही इस आत्मा की प्रतीति होती है। महावीर स्वामी ने इसमें जो गुण बताये हैं वे प्रायः वही हैं जो आस्तिक दर्शन की 'आत्मा' में हैं।

धर्म वह तत्व है जिससे जीव और पुद्गल को गति मिलती है। इसके विपरीत सक्रिय द्रव्य को ठहराने वाला तत्व अधर्म है। आकाश वह तत्व है जिसमें सृष्टि ठहरी है और काल वह तत्व है जो सभी प्रकार के परिवर्तनों का आधार है।

जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं। पहला स्वभावेन अर्थात् वह रूप जो दूसरे की अपेक्षा न रखता हो और दूसरा विभावेन अर्थात् वह रूप दूसरी वस्तु की अपेक्षा रखता हो। इस धर्म में इन दोनों रूपों को सत्य माना गया है।

इस धर्म के अनुसार केवल ज्ञान ही श्रेष्ठतम ज्ञान है और वह आत्मा को तब प्राप्त होता है जब उसके कर्म बन्धन कट जाते हैं।

जैनधर्म का अनेकान्तवाद उसके सप्तभङ्गीनय हैं। इसके द्वारा किसी वस्तु के नानाविध धर्मों का निश्चय किया जाता है। ये सात भङ्ग या वाक्य हैं —१ शायद घट है, २ शायद घट नहीं है ३ शायद घट है भी और नहीं भी है ४ शायद घट वर्णनातीत है ५ शायद घट है भी और अवक्तव्य भी है ६ शायद घट नहीं है और अवक्तव्य भी है और ७ शायद घट है नहीं भी है और अवक्तव्य भी है। इसका मूल भाव यह है कि शायद का कोई भी वस्तु निरपेक्ष या एकान्त रूप से सत्य नहीं है।

जैनधर्म में ६ तत्व प्रमुख हैं —जीव अजीव, आस्रव अर्थात् आत्मा का कर्मों की ओर बहना बन्ध (आत्मा का कर्म में बँधना), संवर (आस्रव को रोकना), निर्जरा (कर्मोंनाश का उपाय करना) पाप, पुण्य और मोक्ष।

बौद्ध-दर्शन —

बौद्ध दर्शन ने जैनियों से एक कदम आगे बढ़कर उपनिषदों के आत्मवाद को भी अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार वेदों की अपौरुषेयता यज्ञवाद ईश्वरवाद और आत्मवाद सबका तिरस्कार हो गया। गौतम बुद्ध ने चार सत्य स्वीकार किये हैं—(१) दुःख आर्य सत्य है (२) दुःखसमुदय आर्य सत्य है अर्थात् यह कि मनुष्य के दुःख का कारण उसकी तृष्णा है (३) दुःखनिरोध आर्यसत्य है, और (४) दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद् आर्यसत्य है अर्थात् दुःख से छूटने के लिए निम्नलिखित आठ बातों का

पालन अनिवार्य है —सम्यक दृष्टि सम्यक संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक आजीव सम्यक् व्यायाम सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

गौतम बुद्ध अमूर्त दार्शनिक तत्वज्ञान–सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करना बेकार समझते थे। ईश्वर, ब्रह्म देवता, देवता की प्रार्थना आदि प्रश्नों को वे टाल जाते थे। इन्हें वे 'अव्याकृतानि' कहते थे। पाश्चात्य विद्वानों ने माना है कि निर्वाण विनाश की स्थिति है किन्तु राधाकृष्णन आदि भारतीय विद्वान उसे वह उज्ज्वल शान्ति मानते हैं जो कभी भङ्ग नहीं होती। बुद्ध ऐसे मोक्ष या निर्माण को मानते हैं। वे जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद को मानते हैं। हमारे शरीर के विनाश के साथ चित्त प्रवाह का विनाश नहीं होता। वह संस्कारों का बोझ लिये हुए एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। उनके अनुसार आत्मा शरीर के परिवर्तनों के साथ साथ परिवर्तित होता चलता है। वह विकारी है। वह मलिन भी होता रहता है और निर्मल भी होता रहता है। उनके अनुसार नाशवान आध्यात्मिक या मानसिक और आधिभौतिक अणुओं से शरीर बना है और आत्मा ? वह तो स्मृतियों और संस्कारों का संकलन मात्र है। इसीलिये दोनों परिवर्तनशील एवं विकारी हैं। वे अविद्या को संसार का कारण मानते थे। उनके विचार में दुःख का मूल काम या तृष्णा है। मोक्ष के लिये ध्यान और समाधि की आवश्यकता वे मानते थे। उन्होंने देवताओं को मनुष्यों के ही समान अपूर्ण और सीमित माना है। मन को अचंचल रखने का ध्यान ही समाधि है। प्रज्ञा या बुद्धिवाद को वे बहुत महत्वपूर्ण मानते थे। रूप वेदना संस्कार संज्ञा और विज्ञान जो संसार की श्रेष्ठ वस्तुएँ हैं वस्तुतः अनित्य हैं बुद्ध ने अविद्या और संस्कार (भूत जीवन) विज्ञान नामरूप षडायतन, स्पर्श वेदना तृष्णा उपादान और भव वर्तमान जीवन) तथा जाति और जरामरण को भवचक्र माना है। उनके अनुसार हिंसा, चोरी यौन–दुराचार, झूठ और नशा करना वर्जित है। इन्हें न करना ही पञ्चशील है।

गौतम का सारा धर्म–विचार यथार्थ पर आधारित है। वे ज्ञान की अपेक्षा धर्म को प्रधानता देते थे। उनका धर्म–विचार व्यवहारों की विवेचना से निकला है। उनके अन्दर निराशावाद है किन्तु पलायनवाद या अकर्मण्यतावाद नहीं। वे मनुष्य मात्र को समान मानते थे। इसीलिये उन्होंने जातिवाद की उपेक्षा की है। व्यष्टिमय विचारों में बहुजन हिताय को। पूसिन का मत उद्धृत करते हुए 'दिनकर' ने बौद्धधर्म को हिंदुत्व का बौद्धीकरण'[१] माना है। यह बात ठीक भी है क्योंकि बौद्धधर्म और

१ "संस्कृति के चार अध्याय, पृ १३४

अर्थात् जिसके अ ग न बनसकें । यह परमाणु अविभाज्य, अच्छेद्य, अदाह्य, और अग्राह्य है । पृथ्वी, तेज, जल, आदि इन्हीं स्कन्धोंके रूपान्तर हैं । जैन दर्शन में शरीर से आत्मा को अलग एवं स्वतन्त्र माना गया है । जानने के स्वरूप द्वारा ही इस आत्मा की प्रतीति होती है । महावीर स्वामी ने इसमें जो गुण बताये हैं वे प्राय वही हैं जो आस्तिक दर्शन की 'आत्मा' में हैं ।

धर्म वह तत्व है जिससे जीव और पुद्गल को गति मिलती है । इसके विपरीत गतिक्रिय द्रव्य को ठहराने वाला तत्व अधर्म है । आकाश वह तत्व है जिसमें सृष्टि ठहरी है और काल वह तत्व है जो सभी प्रकार के परिवर्तनों का आधार है ।

जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं । पहला स्वभावत अर्थात् वह रूप जो दूसरे की अपेक्षा न रखता हो और दूसरा विभावत अर्थात् वह रूप दूसरी वस्तु की अपेक्षा रखता हो । इस धर्म में इन दोनों रूपों को सत्य माना गया है ।

इस धर्म के अनुसार केवल ज्ञान ही श्रेष्ठतम ज्ञान है और वह आत्मा को तब प्राप्त होता है जब उसके कर्म बन्धन कट जाते हैं ।

जैनधर्म का अनेकान्तवाद उसके सप्तभङ्गीनय हैं। इसके द्वारा किसी वस्तु के नानाविध धर्मों का निश्चय किया जाता है । ये सात भङ्ग या वाक्य हैं — १ शायद घट है २ शायद घट नहीं है ३ शायद घट है भी और नहीं भी है ४ शायद घट वर्णनातीत है ५ शायद घट है भी और अवक्तव्य भी है ६ शायद घट नहीं है और अवक्तव्य भी है और ७ शायद घट है नहीं भी है और अवक्तव्य भी है । इसका मूल भाव यह है कि शायद का कोई भी वस्तु निरपेक्ष या एका रूप से सत्य नहीं है ।

जैनधर्म में ६ तत्व ज्ञेय हैं —जीव अजीव आस्रव अर्थात् आत्मा का कर्मों की ओर बहना बन्ध (आत्मा का कर्म में बंधना), संवर (आस्रव को रोकना), निर्जरा (कर्मक्षय का उपाय करना) पाप, पुण्य और मोक्ष ।

बौद्ध-दर्शन —

बौद्ध दर्शन ने जैनियों से एक कदम आगे बढ़कर उपनिषदों के आत्मवाद को भी अस्वीकार कर दिया । इस प्रकार वेदों की अपौरुषेयता यज्ञवाद ईश्वरवाद और आत्मवाद सबका निराकार हो गया । गौतम बुद्ध ने चार सत्य स्वीकार किये हैं– (१) दुःख आर्य सत्य है (२) दुःखसमुदय आर्य सत्य है अर्थात् यह कि मनुष्य के दुःख का कारण उसकी तृष्णा है (३) दुःखनिरोध आर्यसत्य है और (४) दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा आर्यसत्य है अर्थात् दुःख से छूटने के लिए निम्नलिखित आठ बातों का

सिद्धांत पर पहुंचा जा सके ।[1] न्याय–साहित्य के दो भाग हैं—पदार्थ मीमांसा और प्रमाणमीमांसा। पहले के प्रवर्तक हैं गौतम जिनके 'न्यायसूत्र' में प्रमाण, प्रमेय, संशय प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान–इन सोलह पदार्थों का विवेचन है। प्रमाण मीमांसा के प्रवर्तक गंगेश उपाध्याय थे, जिनके 'तत्वचिंतामणि" में प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और शब्द–इन चार प्रमाणों पर विचार किया गया है। पहला 'प्राचीन न्याय" और दूसरा 'नव्य न्याय" कहलाता है। प्राचीन न्याय का मुख्य लक्ष्य था मुक्ति की प्राप्ति किन्तु नव्य न्याय में एकमात्र तर्क ही प्रधान है। न्याय तर्कप्रधान दर्शन है। उसमें नितान्त वैज्ञानिक ढङ्ग पर विवेचन और विश्लेषण किया है। विवेचन–पद्धति सूक्ष्म दुर्गम और पारिभाषिक शब्दों से भरी है। ज्ञान के दो भेद हैं–प्रमा और अप्रमा। यथार्थ ज्ञान प्रमा (प्रमिति) है। वस्तु जैसी है वैसी न समझना अप्रमा है प्रमा या प्रमाण के जानने के लिये चेतन व्यक्ति की आवश्यकता है इसको ज्ञाता या प्रमाता कहते हैं। ज्ञान का आधार है विषय जिसे प्रमेय कहते हैं। प्रमाण कहते हैं देखने को। ये तीनों मिलकर ज्ञान के हेतु हैं। गौतम ने निःश्रेयस या मुक्ति के लिये अपने "न्यायसूत्र में १६ 'पदार्थों' अर्थात् उपायों (प्रमाण, प्रमेय हेत्वाभास आदि) का ज्ञान आवश्यक माना है। ज्ञान के चार साधन हैं प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और शब्द। आत्मा, देह इंद्रिय विषय मन बुद्धि प्रवृत्ति, दोष मृत्यु के बाद पुनर्जन्म, फल, दुःख और अपवर्ग (मोक्ष) इनका ज्ञान मोक्ष का कारण है। आत्मा के दो भेद हैं–जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा के गुण (लिंग) हैं इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख, दुःख और ज्ञान। शरीर–बन्धन से मुक्त होने पर ये लिंग छूट जाते हैं। न्याय में ईश्वर की सत्ता पर बड़ी गंभीरता से विचार किया गया है। उसे कर्मों का अधिष्ठाता माना गया है। यह दर्शन वेदों को प्रामाणिक मानता है। इस दर्शन में पदार्थों के स्थूल रूप और गुणों से उठकर उनके परमाणुरूप का विस्तार किया गया है।

वैशेषिक दर्शन—

न्याय के साथ ही वैशेषिक का भी नाम लिया जाता है। "वस्तु' के मूल में जो 'विशेष' सत्ता निहित है उसी को 'परमाणु" कहते हैं। 'परमाणु" को ही सर्वोपरि मान लेने के कारण इस दर्शन को वैशेषिक कहा गया जिसके प्रणेता हुए कणाद। वैशेषिक में पदार्थों की संख्या पहले छः मानी गई थी जो बाद में सात कर दी गई। ये पदार्थ हैं द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, और अभाव।

---

१ 'भारतीय दर्शन", पृ २०१

हिंदू धर्म में बहुत समानता है। 'दिनकर' ने बुद्धदेव को प्रचलित हिंदू धर्म का भंजक नहीं, सुधारक माना है और शायद दोनों धर्मों की असाधारण समानता ने शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध की संज्ञा दिलवा दी। कालान्तर में यही बौद्ध विचारधारा शून्यवाद, आदि जटिल दार्शनिक विवेचनाओं में उलझ कर अपने मूल स्वरूप को खो बैठी।

हिंदुत्व की रूपरेखा पूर्ण[1]

गुप्तकाल अर्थात् चौथी शताब्दी के आते-आते हिंदुत्व का पूरा विकास हो गया था। ८०० ई० के लगभग होने वाले गंभीर दार्शनिक जयन्त भट्ट ने स्पष्ट रूप से कहा है कि तब तक भारतवासियों में किसी नई वस्तु की कल्पना करने की शक्ति नहीं रह गई थी। इसका उल्लेख चन्द्र विद्यालंकार ने इतिहास प्रवेश में किया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि यह स्थिति सारे संसार की रही है। चौदहवीं शताब्दी के पूर्व तक के संसार ने वही सोचा जिस ओर सोचने की प्रेरणा उसे भारत के धर्म और दर्शन ने दी। और उस समय तक के भारत की मुख्य सम्पत्ति थी हिंदुत्व जिसका विकास उसने तब तक कर लिया था। निराकार की पृष्ठभूमि में या निराकार के साथ साथ साकार की उपासना, निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म की धारणाएँ, शून्य-सा सर्वव्यापी और व्यक्तित्व प्रधान ब्रह्म, ईश्वर और त्रिमूर्ति, दुर्गा और गणेश, भगवान के अवतार, वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास, निष्काम कर्म का महत्त्व, पुनर्जन्म, कार्य कारण-श्रृंखला के रूप में जन्म-मरण, कर्मफल का अवश्यमेव भोक्तव्य होना, वर्णाश्रम धर्म, वैष्णव, शैव, शाक्त उपासनाएँ, मन्दिर, मूर्ति, तीर्थ-श्राद्ध, ज्ञान-भक्ति कर्म-ये तीन रास्ते आदि सबका स्वरूप निश्चित हो गया था। इसके पश्चात् क्रांतियाँ हुईं अवश्य हैं किन्तु केवल दोषों के निराकरण मात्र के लिये वे कोई नवीन मौलिक उद्भावनाएं नहीं प्रस्तुत कर सकीं। धर्म की अन्य बातों और स्वरूपों का उल्लेख बाद में किया जायगा। अभी हम केवल दार्शनिक चिन्तनों पर ही दृष्टिपात कर रहे हैं। इस क्षेत्र में भी नवीन व्याख्याएँ ही हुए हैं। कोई नया सत्य या तत्व नहीं उपस्थित किया गया।

न्याय-दर्शन—

विकसित दर्शनों में सर्वप्रथम न्याय का नाम आता है। इसको प्राचीन काल में "आन्वीक्षकी" भी कहते थे। वाचस्पति गैरोला कहते हैं कि तर्क के द्वारा किसी विषय का अनुसंधान करना ही "आन्वीक्षकी" है। 'न्याय' शब्द का अर्थ है जिसके द्वारा किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि की जा सके या जिसके द्वारा किसी निश्चित

१ 'संस्कृति के चार अध्याय', पृ० १३४

गुण प्रधान होता है और किसी मे कोई। यह पुरुष शरीर, इन्द्रिय और मन से भिन्न हाता है। यह शुद्ध चतन्य, प्रकाशस्वरूप, कारणहीन, विवृत्तिहीन, निरय, व्यापक, क्रियाहीन, गुणहीन और गतिहीन हाता है। प्रकृति क सम्पर्क म आन पर यह पुरुष जीव कहलाता है। प्रकृति और पुरुष म एक दूसरे के विपरीत गुण होते हैं। प्रकृति से मुक्ति पाना ही जाव का मोक्ष है। मोक्ष पाने से पहले यह तरह-तरह की योनियो म चक्कर काटता रहता है। अपने पिछले जन्म के कर्मों के अनुसार ही जीव को अगले जन्म म योनि प्राप्त होती है। पुनज म लिंग शरीर का होता है। लिंग शरीर बुद्धि, अहकार मन, ज्ञानेन्द्रिया कर्मेन्द्रिया और तन्मात्राओं का अर्थात् १८ तत्वो का होता है। यह पुरुष चेतन होता है। निरपेक्ष द्रष्टा मात्र होता है। प्रकृति का सानिध्य ही उसे गतिशील बनाता है।

प्रकृति इसके बिल्कुल विपरीत होती है। वह एक है। जड है। जगत का मूल कारण है। वह गतिशील होती है वह त्रिगुणात्मिका है। उसके तीन गुण हैं सत् रज और तम। ये तीनो देश और काल की सीमा के परे होते हैं। सृष्टि क पूव प्रकृति के तीनो गुण साम्यावस्था म रहते हैं। यह साम्यावस्था ही सजातीय परिणाम है। इसका रूप वैसा ही होता है जैसा पानी का परिणाम बफ। पुरुष के सामीप्य १ प्रकृति की यह साम्यावस्था भग होती है। सृष्टि रचना विजातीय परिणाम है। सृष्टि का विकास पुरुष के मोक्ष-साधन के लिये होता है। सृष्टि-विकास का क्रम साख्य के अनुसार निम्नलिखित ढग से होता है —

सृष्टि
()

()
पुरुष
(१)
(न प्रकृति, न विकृति)

()
(१) प्रकृति (प्रकृति)
()

महत् तत्व या बुद्धि
(१) ()
अहकार
()

()
सात्विक अहकार
()

()
तामस अहकार
()

पंचमहाभूत काल दिक् आत्मा और मन ये नौ द्रव्य हैं। निगुण और निष्क्रिय द्रव्याश्रित पदार्थ गुण है जिस की संख्या २४ मानी गई है–रूप, रस गन्ध स्पर्श, शब्द संख्या परिमाण पृथक्त्व, संयोग, विभाग परत्व अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार बुद्धि प्रयत्न, सुख दुख, इच्छा, द्वेष, धर्म और अधर्म। इस दर्शन में कार्य और कारण–दोनों का अलग–अलग अस्तित्व माना गया है। यह "असत्कार्यवाद" या 'आरम्भवाद' है। इस दर्शनके अनुसार जितने भी द्रव्यवान पदार्थ हैं सब परमाणुओं से बने हैं। पृथ्वी जल तेज और वायु–ये चार भौतिक परमाणु हैं इनको महाभूत भी कहते हैं। इन्हीं से सृष्टि बनती है। परमाणु के दो स्वरूप हैं–परम अणु और परम महत्। परिमाण की अल्पतम पराकाष्ठा "परमाणु" है और सबसे ऊँची पराकाष्ठा परम महत् है। परम अणु ही त्रसरेणु कहलाते हैं। सात प्रकार का रूप छः प्रकार का रस दो प्रकार का गन्ध और दो प्रकार की बुद्धि मानी गई है। निश्चयात्मिका बुद्धि विद्या या प्रमा है और अनिश्चयात्मिका अविद्या। संशय विपर्यय और स्वप्न–ये तीन रूप है अविद्या के। इसी प्रकार तीन प्रकार के संस्कार और पाँच प्रकार के कर्म माने गये हैं। सृष्टि और प्रलय की भी विवेचना है। इसमें परमेश्वर की इच्छा प्रधान मानी गई है। न्याय और वैशेषिक में आंशिक विभिन्नता किन्तु पर्याप्त साम्य है।

सांख्य-दर्शन—

प्रोफेसर मक्समूलर के विचार में वेदान्त के बाद भारत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण दर्शन सांख्य ही है। इसके प्रवर्तक के रूप में कपिल का नाम प्रसिद्ध है। यह सिद्धान्त सत्कार्यवाद को मानता है। इसके अनुसार कार्य की सत्ता उसकी उत्पत्ति के पूर्व उसके कारण में विद्यमान रहती है। इसके आधार पर सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि यह समस्त संसार–रूप जो कार्य है वह मूल प्रकृति रूप कारण में अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है। सांख्य यह भी मानता है कि वस्तु में नहीं बल्कि वस्तु के स्वरूप में परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन को सांख्य ने परिणाम कहा है। प्रत्येक तत्व या वस्तु में रहने वाली शक्ति या उसका स्वरूप सांख्य के अनुसार उसका धर्म है। यह धर्म परिवर्तनशील है। अस्तु जगत का यह रूप धर परिवर्तनशील है। सम्पूर्ण सृष्टि का भी कोई न कोई धर्म होना चाहिये। यह धर्म, या कारण रूप या मूल तत्व सांख्य के अनुसार प्रकृति है। जगत के परम तत्व के रूप में सांख्य ने दो तत्व माने हैं–पहला है प्रकृति और दूसरा पुरुष। पुरुष अनेक हैं। उनमें से सबकी अपनी–अपनी भिन्न–भिन्न प्रकृति होती है। क्रिया में प्रकृति का कोई

द्वारा होता है। ये चित्तवृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं —प्रमाण, विपर्यय (मिथ्याज्ञान), विकल्प (जिसके ज्ञेय पदार्थ की सत्ता न हो), निद्रा (अभाव-प्रत्यय जिसका आलंबन हो) और स्मृति (अनुभूत विषय का ध्यान)।

चित्त वृत्ति के निरोध का साधन अधिकारी भेद के अनुसार बताया गया है। तीन प्रकार के अधिकारी होते हैं —उत्तम (केवल अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्तवृत्ति-निरोध) मध्यम (तप स्वाध्याय और भक्तियुक्त क्रिया से चित्तवृत्ति-निरोध और मन्द। इस तीसरे प्रकार के अधिकारी के लिये योग के आठ अङ्ग बताये गये हैं —यम नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि। अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर भक्ति नियम हैं। इनके अनुष्ठान से विविध शक्तियां और योगानुकूल भावनाएं प्राप्त होती हैं। प्रथम पांच बाह्य समाधि से सम्बंधित हैं और अंतिम तीन अंतरङ्ग समाधि से। इनसे पाप का विनाश, ज्ञान का उदय और विवेक की प्राप्ति होती है। स्थूल स्वरूप, (उपादान) सूक्ष्म (तन्मात्राएँ), अन्वय (प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति) अर्थ व (आत्मा का लीला विलास) ये पांच प्रत्येक वस्तु के पांच भूत हैं। ये बाह्य रूप हैं। योगी जब इन पर विजय पा लेता है तब भूत विजय की अवस्था आती है। इसके बाद अणिमा, लघिमा महिमा प्राप्ति (प्रत्यक्षानुभव) प्राकाम्य (इच्छाओं का शमन, वशित्व (सब का आत्मा से प्रकाशित होने का भान) ईशित्व (सबको स्वयं में नियोजित करना) और यत्र कामावसायित्व (मनोमिलाओं का सर्वथा अंत) आठ सिद्धियां मिलती हैं। ये परमात्मा की प्राप्ति में सहायक होती हैं। परमात्मा सृष्टि का निरपेक्ष द्रष्टा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान, क्लेश—कर्म—कर्मफल और आशय से विमुक्त होता है। भक्ति से उसका साक्षात्कार होता है।१

पूर्वमीमांसा दर्शन—

महर्षि जैमिनी द्वारा प्रवर्तित मीमांसा दर्शन का विषय है वैदिक विधि-निषेधों का आशय समझाना उनकी पारस्परिक संगति बैठाना और युक्तियों के द्वारा कर्मकाण्ड के मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना। धर्म के वास्तविक रूप पर अर्थात् वेदप्रतिपाद्य विधिवत् कर्म पर जो परमानन्द की प्राप्ति करा सकते हैं, वास्तविक प्रकाश डालने का प्रयत्न मीमांसा में किया गया है। मीमांसा के दो भाग हैं। पूर्वमीमांसा ब्राह्मण ग्रंथों पर आधारित है। इसको कर्ममीमांसा भी कहते हैं उत्तर मीमांसा उपनिषदों पर आधारित है। यही वेदान्त कहलाता है। पूर्व मीमांसा ही वस्तुतः मीमांसा है। मीमांसा वैदिक दर्शन है। यहां माना गया है कि वेद भगवान के निश्वास हैं। वे सदा नित्य और सत्य और

()   ()   ()   (शब्द स्पर्श रूप, रस गंध)
ज्ञानेन्द्रिय   कर्मेन्द्रिय   मनस   (५) तन्मात्राएं
(५)   (५)   (१)   ()

()   ()   ()   ()   ()
आकाश   वायु   अग्नि   जल   पृथ्वी   (पंचतत्व
()   (५)

देश   काल   पंचतत्व या पंचमहाभूत

इस तरह सृष्टि के ये २५ तत्व हुए। इन्हीं पचीसों तत्वों के तत्वज्ञान से जीव प्रकृति से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इन पचीसों को सांख्य ने चार भागों में बांटा है (१) प्रकृति (२) विकृति, (३) प्रकृति-विकृति, और (४) न प्रकृति, न विकृति। महत् अहंकार तन्मात्रा को मिला कर प्रकृति-विकृति माना गया है। प्रकृति-प्रकृति है। पुरुष न प्रकृति न विकृति है। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मनस विकृति हैं।

योग-दर्शन —

योग को सांख्य के ही तत्वों पर अवलम्बित माना गया है। यह सांख्य का पूरक है, उसका व्यावहारिक पक्ष है। जितने भी आस्तिक दर्शन हैं उन सब का लक्ष्य है भगवान में मिल जाना। यही योग है इसका उद्देश्य है योग-द्वारा पांचों प्रकार के क्लेशों और नाना प्रकार के बन्धनों से विमुक्त करके प्राणी को मोक्ष प्राप्त कराना। इन क्लेशों, कर्म कर्मफल और वासनाओं से दूर रहने वाला पुरुष विशेष ही योग का ईश्वर है। ओ३म् का जप करने से ईश्वर का प्रणिधान होता है। भक्ति ही ईश्वर प्रणिधान है। योग के तीन तत्व हैं-ईश्वर, जीव और प्रकृति। ईश्वर में सत् चित् और आनन्द जीव में सत् और चित् तथा प्रकृति में केवल सत् तत्व है। पतञ्जलि का योग हमें यह बताता है कि हम संसार तथा उसकी प्रत्येक वस्तु का इस ढंग से उपयोग करें कि-अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो और ईश्वर-प्राप्ति भी हो जाय। इसके लिए आवश्यक है कि पुरुष अपने चैतन्य स्वरूप में स्थित हो। यह अवस्था समाधि की होती है। समाधि दो प्रकार की होती है — निर्विषयक एकाग्रता अर्थात् सम्प्रज्ञात और सविषय समाधि (असम्प्रज्ञात) यह चित्तवृत्ति के निरोध

कता आ गई। धर्म के लिए वेदों के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं। धर्म का लक्षण है प्रेरणा। वेद जो कुछ करने की प्रेरणा देते हैं वही धर्म है। वेद क्रियात्मक हैं–करने की प्रेरणा देते हैं–कर्त्तव्य बताते हैं। यज्ञ-आदि करने वालों में एक अपूर्व शक्ति पैदा हो जाती है। मनुष्य के काम तीन प्रकार के होते हैं–काम्य, निषिद्ध और नित्य। नित्य कर्म सार्वभौम महाव्रत हैं। सुख, दुख इच्छा द्वेष प्रयत्न, धर्म, अधर्म आदि धर्मों से छूट जाना ही मुक्ति का स्वरूप है।

उत्तर-मीमांसा—

उत्तरमीमांसा वेदांत है जो बादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' पर आधारित है। इसका पीछे उल्लेख किया जा चुका है। इन ब्रह्मसूत्र पर अनेक आचार्यों ने भाष्य लिखकर अपने-अपने मत चलाए शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य लिखकर अद्वैत, भास्कराचार्य ने भास्कर भाष्य लिखकर भेदाभेद रामानुज ने श्री भाष्य लिखकर विशिष्टाद्वैत, मध्व ने पूर्णप्रज्ञ भाष्य लिखकर द्वैत निंबार्क ने वेदान्तपारिजात भाष्य लिखकर द्वैताद्वैत और वल्लभ ने अणुभाष्य लिखकर शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा की इनमें शङ्कर, रामानुज और वल्लभ बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। 'मैं चेतन हूँ और सब चेतन जीवों में मैं ही हू' अद्वैत इसी को प्रतिपादित करता है।

अद्वैतवाद—

इसके अनुसार माया ब्रह्म की शक्ति है। उससे संयुक्त होकर ब्रह्म सृष्टि रचता है। यह ब्रह्म ईश्वर है। यही सगुण हो जाता है। माया उन शक्तियों का सामूहिक रूप है जो जगत के समस्त कार्य-व्यापारों का कारण है। जगत ब्रह्म का विवर्त (अवास्तविक प्रतीति) और माया का परिणाम या रूपान्तर है। सृष्टि की रचना के लिये ईश्वर को माया का सहारा लेना पड़ता है। उसी के कारण एक ब्रह्म अनेक नामों एवं रूपों में आभासित होता है। ब्रह्म इस जगत का निमित्त और उपादान कारण है। माया और ब्रह्म दो नहीं हैं। माया ब्रह्म की इच्छा शक्ति है। ब्रह्म से उसकी सत्ता है। वह इस जगत का कारण है वह अनिर्वचनीय है। त्रिगुणात्मिक है। उसका आश्रय जीव है और विषय ब्रह्म। वह ज्ञानविरोधी है। वह सत्य को ढंक लेती है (आवरण) और असत्य की प्रतीति कराती है (विक्षेप)। इसके साधन हैं काम क्रोध लोभ आदि। इसके कारण भ्रान्ति पैदा होती है। विशुद्धसत्व-प्रधान प्रकृति माया है और मलिनसत्वप्रधान प्रकृति अविद्या है। माया से ढंका ब्रह्म ईश्वर है, अविद्या से ढंका ब्रह्म जीव। जैसे हमारे नाखून या केश उगते हैं वैसे ही अक्षर ब्रह्म से जगत पैदा होता है। इसका प्रयोजन लीलामात्र है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शंकर

सत्य है। अपौरुषेय निष्कलुष, निर्दोष अभ्रांतिमूलक, अनादि और स्वत प्रमाण है। कर्मकाण्ड के वाक्यार्थ-निर्णय के लिये ही पूर्वमीमासा दर्शन है। वेदो को स्वत प्रमाणसिद्ध करने के उद्देश्य से ही मीमासा ने बडे विस्तर के साथ ज्ञान की प्रकृति, सत्य और मिथ्या की प्रकृतिया और उसकी कसौटिया प्रमाण तथा अन्य आवश्यक समस्याओ पर विचार किया है। ज्ञान दो प्रकार का होता है — प्रमा (अज्ञात पदार्थ की सत्यता का निश्चय हो जाना) और अप्रमा (वस्तु का अभाव परन्तु उसके ज्ञान की प्रतीति)। प्रमाण को ज्ञान की कसौटी माना गया है। मीमासा ने प्रमाण के निम्नलिखित भेद माने हैं — प्रत्यक्ष (इन्द्रिय और अर्थ का साक्षात् सम्बन्ध) अनुमान (सादृश्य) शब्द (वेद) अर्थापत्ति (किसी श्रुत या दृष्ट विषय की सिद्ध जिस अर्थ के बिना न हो वह अर्थापत्ति है) और अनुपलब्धि (वस्तु के अभाव का ज्ञान)। मीमासक शब्द को नित्य मानते हैं और शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध को भी नित्य मानते हैं। वर्ण से पद और पद से अर्थ सिद्ध होता है। शब्दार्थ मूलत जातिवाचक होता है। वाक्य न तो अखड है और न वाक्य-वाक्यार्थ में कार्य-कारण सम्बन्ध है और न अंतिम पद ही वाक्यार्थ का वाचक है शब्द में विकार नहीं होता। वेद स्वत प्रमाण है। ज्ञान की प्रामाणिकता उस ज्ञान की उत्पादक सामग्री मे ही रहती है, कहीं बाहर से नहीं आती। ज्ञान के उत्पन्न होते ही उसके प्रामाण्य का ज्ञानभी स्वत हो जाता है। भ्रांति और ज्ञान ये दोनो परस्पर विरोधी हैं। मीमासा मे जगत् और जगत् के कारणभूत पदार्थो की सत्ताको स्वीकार किया गया है। शबरस्वामी ने द्रव्य, गुण कर्म और अवयव, की सत्ता मानी गई है और प्रभाकर ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य समवाय संख्या, शक्ति और सादृश्य इन ८ पदार्थो की सत्ता मानी है। मीमासा मानती है कि हमारी इन्द्रियों द्वारा जिस रूप में जगत को प्रत्यक्ष किया जाता है वह उसी रूप में सत्य है। आत्मा और परमाणु नित्य हैं सृष्टि रचना के मूल में प्रधान कारण है कर्मो का संचय। शरीर मे आत्मा अपने पूर्व-संचित कर्मों का फल भोक्ता है। यह भोग ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के द्वारा होता है। सभी बाह्य पदार्थ आत्मा के भोगके विषय हैं। ससार के सभी कार्यरूप पदार्थों के मूल में एक अदृष्ट शक्ति मौजूद रहती है। जगत जगत के विषय, परमाणु और आत्मा नित्य है। जीव के नष्ट हो जाने पर उसके द्वार किये गये कर्म आत्मा में संचित हो जाते हैं। उन्हीं के साथ आत्मा का पुनर्जन्म होता है। यह आत्मा शरीर, इन्द्रियां और बुद्धि, इन सबसे भिन्न है। आत्मा मे परिवर्तन होता है। आत्मा अनेक हैं। देवता बहुत से हैं। उन्हीं के लिए यज्ञ किए जाते हैं। सृष्टि और प्रलय की भावना को ठुकरा दिया गया है। पहले के मीमांसक ईश्वर के बारे उदासी प्रकट करते हैं। बाद में उनमें भी आस्ति

बनाना, और वेद-प्रतिपादित कर्मों का करना अत्यन्त आवश्यक है। विवेक, वैराग्य, शम, दम सहनशीलता वा तितिक्षा कर्मों को भगवान में लगाना ब्रह्म में तत्पर होना तथा गुरु सेवा शास्त्र एवं गुरुवाक्य में विश्वास और मोक्ष की इच्छा मुक्ति के बहिरङ्ग साधन हैं। श्रवण मनन, ब्रह्म-विषयक विश्वास और समाधि अन्तरङ्ग साधन हैं। यमादि भी बाहरी साधन हैं। शंकर ने तीन सत्ताएँ मानी हैं—तात्विक या पारमार्थिक, प्रातिभासिक और व्यावहारिक।

विशिष्टाद्वैतवाद—

शंकराचार्य की उपर्युक्त ब्रह्म-व्याख्या कुछ इने-गिने विचारकों की चीज रह गई। रामानुजाचार्य ने उसको इस योग्य बना दिया कि वह सब की समझ में आ जाय। रामानुज के विचार से ब्रह्म वह है जिसमें वे अन्य पदार्थ भी हैं जिनका विस्तार ब्रह्म ने ही किया है। चेतन आत्मा और जड़ प्रकृति दोनों में बराबर विद्यमान न होता हुआ भी ब्रह्म उन दोनों से विशिष्ट है। ब्रह्म जगत में व्याप्त भी है और उससे परे भी है। वह अपनी इच्छा से इस उद्देश्य युक्त सृष्टि को उत्पन्न करता है। ईश्वर आत्मा और प्रकृति ये तीनों पदार्थ उसी ब्रह्म में हैं। जैसे आत्मा, शरीर से संबंधित है वैसे ही ब्रह्म को मानना समझना चाहिये। जैसे मिट्टी में घड़ा, सुवर्ण में आभूषण और कपास में कपड़ा है वैसे ही ब्रह्म में जगत है। बल्कि जगत से ही परमेश्वर का अनुमान होता है। सृष्टि के उत्पन्न होने पर जड़ जगत और चेतन आत्मा में परिणाम उत्पन्न होते हैं किन्तु ब्रह्म के ब्रह्मत्व में कोई परिणाम या विकार नहीं पैदा होता। अतः जगत जगत के पदार्थ और अद्वैत ब्रह्म तीनों सत्य हैं। ब्रह्म सगुण भी है और निर्गुण भी। माया का जड़त्व और जीव का अद्वैत्व ब्रह्म है नहीं। ज्ञान ब्रह्म का सबसे अधिक व्याप्त गुण है। वही निष्कर्ष है। आनन्दयुक्त है। रामानुज के मत से ज्ञान का जाने बिना ब्रह्म को नहीं जाना जा सकता। वे उपासनाप्रधान ज्ञान को स्वीकार करते हैं। ज्ञान का उद्देश्य है मुक्ति। इसके लिए आवश्यक है कि हम वेद शास्त्र गुरु और ईश्वर में सत्य बुद्धि बनाये रखें। उपासक का भाव ईश्वर के प्रति ऐसा अटूट होना चाहिये जैसे तेल की धारा। प्रकृति सत्य होते हुए भी अचित् विकारहीन और जड़ है। प्रकृति के सतोगुणप्रधान रूप से ज्ञान एवं आनन्द की उत्पत्ति हुई सत् रज और तम मिश्रित रूप ही अविद्या या माया है जिससे पाँच विषय, पाँच इन्द्रियाँ पाँच भूत, पाँच प्राण, प्रकृति महत्, अहंकार और मन पैदा हुए और उसका अचित् रूप ही कालस्वरूप है जिसके आधीन प्रलयावस्था है। भगवान की इच्छा से मूल प्रकृति तेज जल और पृथ्वी में बँटी। इनसे सत् रज और तम गुण पैदा हुए और इन तीनों से जगत्। मन, बुद्धि, चित् और अहंकार से अंत

करण बना इस अन्तःकरण में आत्मा के रूप परमात्मा आया। अजित कर्मों का भोग और आगे के कर्मों का अर्जन प्रारम्भ हुआ। पुण्यकर्मों के परिणामस्वरूप ही सद् की ओर प्रवृत्ति होती है। ईश्वर भक्ति करते-करते शरीर छूट जाय तो जीव की मुक्ति होती है। कर्मफल पुनर्जन्म और भवचक्र यहां भी स्वीकृत है। परमेश्वर जीवों का साक्षी होता है। सृष्टि से पहले लयावस्था में जीव समूह वासनामय (लील मय) होकर कारणभूत क्षीरसाही विष्णु भगवान के उदर में रहता है। सृष्टि के समय वह जीव समूह अपनी अपनी वासना तथा अपने अपने कर्मों के अनुसार करण कलेवर धारण कर प्रकट होता है और अपने-अपने कर्मार्जित लोक को चला जाता है।[1] लय की अवस्था में जगत परमात्मा में ही लय हो जाता है। इस प्रकार जगत का भी नाश नहीं होता। उसका लय (छिपना) मात्र होता है। वस्तुतः वह सत्य है। जगत और जीव मिथ्या नहीं, उनका अभिमान मिथ्या है। जीव का अविद्या ढंक लेना है और तब जीव अपने वास्तविक रूप को भूलकर दुःखादि का अनुभव करने लगता है। जीव माया और परमात्मा ये तीनों अपृथक अनादि और अनंत हैं। विशिष्टाद्वैत का ईश्वर व्यक्तित्वमय है। वैकुंठ में निवास है। अर्चा (देव-मूर्तियां) विभव (मत्स्यावतार आदि), व्यूह (वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) सूक्ष्म (पर ब्रह्म) और अन्तर्यामी रूप में भगवान रहते हैं। भगवान को जानने का उपाय है भक्तियोग अर्थात् प्रीतिपूर्वक ध्यान। कर्म सदैव करणीय है। संन्यास का समर्थन नहीं। शूद्रों के लिए प्रपत्ति या शरणागति का उपदेश है। वस्तुतः 'रामानुज का दर्शन जनता का दर्शन है। जनता के धार्मिक और नैतिक विश्वासों का जैसा समर्थन रामानुज ने किया वैसा किसी ने नहीं किया। मैक्समूलर ने परिहास में लिखा है कि रामानुज ने हिन्दुओं को उनकी आत्मायें वापस दे दीं ... जीवात्मा जगत् और ईश्वर तीनों की पारमार्थिक सत्ता है इस प्रकार हमारे व्यावहारिक जीवन और नैतिक प्रयत्नों का महत्व बढ़ जाता है। हमारे वस्तु बंधु असली वस्तु बंधु हैं। जिन्हें पाप कहा जाता है वे वास्तव में पाप हैं विशिष्टाद्वैतवाद दर्शन ने भक्ति प्रेम, बंधु आदि के लिये शंकर की अपेक्षा अधिक जगह निकाल ली यह भगवद्गीता के भी अधिक अनुकूल है इसीलिये आज भारत की अधिकांश जनता नाम या अनजाने रूप में रामानुज-अनुयायिनी है।[2]

---

१ बाबराम निम्बोष्ठ 'भारतीयदर्शन' पृ ४५५।

२ देवराज और तिवारी भारतीय "दर्शनशास्त्र का इतिहास" पृ ४४६-४५०—४५१

शैव दर्शन—

विष्णु तथा शिव दोनों ही देवताओं का उल्लेख ऋग्वेद मे मिलता है। रुद्र संहारक हैं तथा पशु और जनके पालक हैं। आगे चलकर रुद्ररूप में मंगल-भावना का भी समावेश हो गया। संहारक रुद्र प्रसन्न होने पर मंगलमय शिव हो गये। वायु, लिंग, कूर्म, शिव, आदि पुराणों तथा आगमों में शैवधर्म के सूत्र बिखरे पड़े हैं। ऐतिहासिक शैवधर्म की दो परम्पराओं का समन्वय है-एक है वैदिक या आर्य शैवपरम्परा और दूसरी है आर्यपूर्वशैवपरम्परा। शैव धर्म में मूलतः चार सम्प्रदाय हैं — शैव पाशुपत कालामुख और कापालिक। उत्तर मे काश्मीर-शैवमत और दक्षिण मे वीर शैव मतभी हैं सम्प्रदायका मूल आधार दो है वैदिकशैवमतकी परपरा,और आगम। इसमिद्धात के अनुसार शिवही परमतत्त्व हैं। वे अनादि, अनन्त और शुद्ध सच्चिदानन्द हैं। वे स्वतन्त्रसत्ता, विशुद्धि अनतप्रतिभा अनत ज्ञान सवपाशमुक्ति, अनतप्रेम, अनतशक्ति और अनत आनद वाले हैं शैव सिद्धान्त में तीन पदार्थ हैं-पति (शिव), पशु (जीव) और पाश (जीव के बंधन)। शिव परमेश्वर, अनत ऐश्वर्यवान सवज्ञ स्वतन्त्र नित्यमुक्त शक्तिरूप शरीर वाले हैं। सर्जन पालन संहार तिरोभाव, और अनुग्रह ये पाच काम शिव करते हैं। जिस समय शक्ति अपने समस्त काय समाप्त करके अपने स्वरूप मात्र मे स्थित हो जाती है तब शिव की लयावस्था होती है। उन्मेषप्राप्त शक्ति जब बिंदु को कार्योन्मुख करती है और कार्योत्पादन कर शिव के ज्ञान और क्रिया की समृद्धि करती है तब शिव की भोगावस्था होती है। पशु जीव को कहते हैं। जीव सीमित शक्ति वाला तथा अणु के आकार का होता है। वह नित्य, व्यापक कर्ता, तथा अनक है पाशमुक्ति शिवत्व प्राप्ति है। मुक्ति जीव शिव के अधीन होते हैं। जीव तीन प्रकार के होते हैं-विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। क्षीण कर्म जीव विज्ञानाकल है। आणवमल और कार्मणमल से युक्त प्रलयाकल होता है तीनों मलो से युक्त जीव सकल है जीवो के बन्धन का नाम पाश है। पाश चार प्रकार के हैं– जीव की स्वाभाविक ज्ञानक्रियाशक्ति का आच्छादन करने वाला पाश 'मल" है फलार्थी जीवों की निरतर क्रिया 'कर्म है, 'माया' में जीव उत्पन्न होते हैं, और रोधशक्ति साक्षात्N P निवर्शक्ति है। पाश-मुक्ति शिवकी कृपासे ही समव है। N P पाशुपतमत म भी पशु पति और पाश ही तीन पदार्थ माने हैं। कालामुख और कापालिक का साहित्य बहुत कम प्राप्त है। इनके सिद्धान्त, साधन आदि सभी गुप्त रखे गये हैं। वीर शैवमत दक्षिण मे बहुत प्रचलित है। इनके अनुयायियों को "लिंगायत' भी कहते हैं। देवराज और तिवारी ने लिखा है कि सिद्धान्त की दृष्टि से यह एक प्रकार का विशिष्टाद्वैतवाद है। शाक्तमत भी अत्यन्त रहस्यपूर्ण है और गुप्त रखा गया है।

यह मत शिव और शक्ति को परम तत्व मानता है। इन्हीं के एक दूसरे में प्रवेश से सृष्टि बनती है। काश्मीर शैवमत की एक धारा है स्पन्दशास्त्र जो अद्वैतवादी मत है। शिव की मूल शक्ति के स्त्रीतत्व अर्थात् नाद से त्रिविध मल की क्रिया प्रवर्तित होती है। ध्यान और योग से परमेश्वर का स्वरूप प्रस्फुटित करने से इन मलों का नाश होता है। दूसरी धारा है प्रत्यभिज्ञा शास्त्र। इसमें आत्मा चैतन्यस्वरूप, विमर्शरूपा पराशक्ति चित स्वतन्त्ररूपा विश्वोत्तीर्ण विश्वात्मा परमानन्दमय परमेश्वर, परमशिव शान्त सा शिव, प्रभु, अनंतशक्ति सम्पन्न आदि है। यह परमधाम परमतत्व परमव्योम परमामृत परमतेज परमज्योति आदि है। वे शाश्वत हैं सर्वोत्तम हैं व दयाधिदेव हैं तथा निर्माण एवं विनाश की शक्तियों से सम्पन्न हैं। इन्हें गिरीश पशुपति, ईशान महेश्वर आदि के रूप में माना जाता है। यह आत्मा अपनी इच्छा से ही शिव से लेकर धरणि पर्यन्त ३६ तत्वों में असंख्यता के साथ प्रस्फुटित होती है। यह सर्वथा स्वतन्त्र विश्व की निष्पत्ति एवं उसके प्रकाशन का कारण है। सृष्टि-रचना के सम्बन्ध में यह शाक्त से बहुत-कुछ मिलता है। परमात्मा की पाच शक्तियां विशेष रूप से विख्यात हैं-चित् (प्रकाशस्वरूप) आनन्द इच्छा ज्ञान और क्रिया। मलों से आवृत आत्मा जीव है। यहां भी पाश पशु और पति वाला सिद्धांत है मुक्ति के तीन उपाय हैं-शांभव (शिवोऽहं) की गुरुदीक्षा, शाक्त (ध्यान पूजा अर्चना) और आणव (शिव शक्ति केन्द्रीभूत-मन्त्र आदि के द्वारा सर्वज्ञ होने की ज्ञान प्राप्ति जडरूप का तिरोभाव चैतन्यभाव का दर्शन, और उसी में तल्लीनता। शांभव उपाय सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि शिव और उनके भक्त में वैयक्तिक प्रकृति का संबंध है। तपस और गुरुभक्ति से भी वे प्राप्त किये जा सकते हैं। इस दर्शन ने जागृत स्वप्न सुषुप्ति तुरीय और तुरीयातीत अवस्थाएं मानी हैं। सृष्टि चिति का आभास है। सत्य है। उसी की इच्छा से उत्पन्न है। वस्तुतः पूर्णतया अभेद है। सृष्टि का निर्माण माया-द्वारा होता है। माया परमेश्वर शिव की सृजन शक्ति है। वह स्वतन्त्र नहीं, उसी शिव पर आधारित है। शिव की इसी आनन्द रूपा शक्ति से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। सृष्टि के ३६ तत्व इस प्रकार हैं -शिव शक्ति सदाशिव ईश्वर शुद्धविद्या माया काल नियति कला, विद्या, राग, पुरुष प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां पांच तन्मात्राएं और पांच स्थूलभूत। शैवदर्शन में पाश का अर्थ "अपूर्णता" है। तन्त्र का कथन है कि शक्ति के बिना शिव प्राणहीन शरीर की भांति है क्योंकि बल के बिना बुद्धिमत्ता सक्रिय नहीं हो सकती। उसी स्थान पर यह भी कहा गया है कि शक्ति को धारण करने वाले शिव तथा स्वयं शक्ति में अनन्यता तथा तद्रूपता का सम्बन्ध है शक्ति को नारी सम [illegible] एक मूल [illegible] यह [illegible] अनेक दिव्य स्वरूपों का

१ दि कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया, भाग ४, पृ. २५०

मिथरण" है। भारतवर्ष में इस शक्ति की पूजा अनादि काल से चली आ रही है। शिव की दया और उसके ज्ञान का ही नाम शक्ति है। शच्चिदानन्द पिल्लई ने लिखा है कि शव का तात्पर्य है "आनन्द"—अतुलनीय आनन्द—वह जो शाश्वत आनन्दमय है।[1]

वैष्णव-दर्शन अर्थात् भागवत-दर्शन—

पांचरात्र संहिताओं में वैष्णव धर्म-दर्शन का पूर्ण विकास हुआ है। ये संहिताएं १०८ हैं। विष्णु पुराण और भागवत पुराण इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यामुनाचार्य, रामानुज निंबार्क मध्व विष्णुस्वामी, आदि इसके प्रमुख आचार्य हैं। राधाकृष्ण, सीताराम, दुर्गा, गणपति, स्कन्द, ब्रह्मा, सूर्य श्री लक्ष्मी गङ्गा यमुना शीतला यम वरुण कुबेर, अग्नि राहु केतु नाग, सर्प, आदि सबकी पूजा यहां होती है। ऋग्वेद के विष्णु में नारायण, परम ब्रह्म तथा वासुदेव को भी मिलाकर आज के विष्णु का स्वरूप विनिर्मित हुआ और गुप्तकाल में आते-आते इनके अवतारों की भी कल्पना हो गई। इसी युग में श्री या लक्ष्मी उनकी पत्नी भी मान ली गई। इनके अवतार होते हैं। अवतार की कल्पना असाधारण रूप से महत्वपूर्ण है। यदि ईश्वर ने मनुष्य के रूप में हमारे सामने आकर प्रत्यक्ष रूप में क्रियात्मक ढंग से यह न दिखाया होता कि सिद्धांतों को व्यवहार में कैसे लाया जाय और उससे पूर्णता किस प्रकार प्राप्त की जाय तो वेदान्त के उच्चतम सत्य भी सिद्धान्त मात्र रह जाते।[2] यह दर्शन प्रेम और सेवा पर बल देता है। वैष्णव धर्म की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है भक्ति। यहां प्रभु के सम्मुख उपासनामय आत्मसमर्पण मुक्ति का सरलतम किन्तु निश्चिततम साधन माना गया है। मुक्ति भक्ति और प्रपत्ति से प्राप्य है। श्रेष्ठतम जीव को ही इस दर्शन में लक्ष्मी कहा गया है। अक्षर ब्रह्म से ही चिनगारी की भांति जीव निकलते हैं। भागवत धर्म ईश्वर की प्रेम मूल भक्ति वाला धर्म है। प्रपत्ति भक्त का काम्य है। उसकी कृपा की प्राप्ति ही भक्त का लक्ष्य है। ईश्वर के प्रति तीव्रतम प्रेम (भारतेंदु की चन्द्रावली वाला) इसकी प्रकृति है। भक्ति की दृढ़ता के लिये ज्ञान की नींव आवश्यक है। यह भक्त के भगवान को खींच लाती है यहां ईश्वर और भक्त दोनों एक दूसरे की बाहों में समा जाने को बेचैन रहते हैं। ईश्वर का व्यक्तिगत रूप, अवतार, लीला सगुणत्व, लीला के लिये द्वैत-इसी मत की बातें हैं। विश्वप्रेम, रसमयता, विश्वमोहन रूपतत्व, आदि के भी कारण बीसवीं

---

१ "वर्ल्ड पार्लियामेंट आफ रिलीजन्स" का कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ १७३

२ 'दि कल्चुरल हेरिटेज आफ इंडिया", भाग ३ पृ २८५

दशाब्दी के पूर्वार्द्ध में धार्मिक पक्ष की ओर भी ध्यान दिया। डी० एस० शर्मा ने भक्ति आन्दोलन की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है—(१) प्रेम और दया वाले सर्वोत्तम ईश्वर पर विश्वास (२) प्रत्येक जीव को व्यक्तिगत सत्ता में आस्था रखते हुए भी यह विश्वास करना कि वह आध्यात्मिक है और परम-आत्मा का एक अंश है (३) भक्ति के द्वारा मुक्ति पर विश्वास (४) भक्ति को सर्वोपरि मानना (५) गुरु के प्रति अधिकाधिक आदर करना, (६) नाम की पवित्रता और नाम-जप के सिद्धान्त पर विश्वास (७) मन्त्र-दीक्षा और संस्कारों पर विश्वास (८) सन्यास के साम्प्रदायिक स्वरूप पर विश्वास (९) जाति-पाँति के नियमों में शिथिलता और (१०) भाषा-द्वारा धर्म-शिक्षा।[1] रामकृष्ण परमहंस के शब्दों में यह भागवत धर्म बुद्धि के नवनीत में सना हुआ प्रेम के मधु में पूर्णरूपेण डुबाया हुआ पुआ (मीठी रोटी) है।[2] हमारी सबसे महत्त्वपूर्ण विरासत है प्रार्थना। हमने अपने मन में ही यह स्वीकार किया है कि प्रार्थना आत्मा की अभिव्यक्ति हृदय की साधना और प्राणों की व्याख्या है। इसका एक रूप वेदों में तथा उसके भी पहले के जीवन में ढूँढा जा सकता है। भारत में इष्ट और अदृष्ट शक्तियों के लिए प्रार्थनाएँ हुई हैं। इसमें भक्त और उसके भगवान-आराधक और आराध्य के बीच के व्यक्तिगत सम्बन्ध की घनिष्ठता और रागात्मकता पर जोर दिया जाता है। वैदिक ऋषियों के गायत्री मन्त्र से लेकर निराला, पन्त, और रामकुमार वर्मा के गीतों तक की परम्परा एक है। इसके अनेक विस्तार और प्रकार हैं। ऐश्वर्यमय सगुण स्वरूप की भी प्रार्थना है और निर्गुण की भी देवताओं से लेकर त्योहारों तक न जाने कितने-कितने प्रकार की प्रार्थनाएँ होती रही हैं। यज्ञ के कर्मकाण्ड की अपेक्षा पूजा की सरलता अधिक व्यावहारिक और ग्राह्य हुई। पूजा में प्रार्थना का स्थान महत्त्वपूर्ण होता गया। भारतेन्दु से लेकर पन्त महादेवी रामकुमार वर्मा, आदि के प्रार्थना-गीत इसी दार्शनिक भाव-भूमि पर आधारित हैं। आधुनिक युग की प्रार्थनाओं में मूर्त की अपेक्षा अमूर्त तत्वों की प्रधानता हो गई है। सूक्ष्मता बढ़ गई है। 'आज मेरी गति तुम्हारी आरती बन जाय,'[3] तथा 'क्या पूजा क्या अर्चन रे'[4] के पीछे कबीर के 'साधो सहज समाधि भली' की पृष्ठभूमि है। रामकुमार वर्मा के अनेक प्रार्थना-गीत आत्मा और परमात्मा के तात्विक सम्बन्धों पर

---

१ हिन्दूइज्म थ्रू दि एजेज पृ ६१

२ 'दि कल्चुरल हेरिटेज आफ इंडिया भाग ३

३ रामकुमार वर्मा 'आकाश गंगा' से

४ महादेवी वर्मा "यामा से

1

पूर्णरूपेण आधारित हैं—जैसे "एक दीपक किरण कण हूं।"[1]

रहस्यानुभूति—

जब प्राणी की आध्यात्मिक चेतना जागृत हो जाती है तब वह ईश्वर के लिये छटपटाने लगता है। इस अवस्था मे पार्थक्य की तड़प से, जिसकी अनुभूति रहस्यवादी को इस स्थिति में होती है उस प्रकार की अभिव्यंजनाएं होती हैं जैसी नम्मलवार की 'गापीगोता' या श्री रामकृष्ण के वचनामृतों मे है। आध्यात्मिक क्षुधा की तृप्ति ब्रह्मानुभूति से ही संभव है। पार्थक्य की अवस्था मे आत्मा की समस्त अनुरंजनाएं एवं जीवन की अशेष ऊष्मा समाप्त हो जाती है इंद्रियां दवी आलोक के दर्शन के लिये बेचैन हो उठती हैं। उसके बिना जीवन एक बोझ हो जाता है। यह माग ज्यों-ज्यों तीव्रता होती जाती है त्यों-त्यों नींद आना आदि और शरीर से होने वाली अनेकानेक क्रियाओं का स्वाभाविक सम्पादन समाप्त हो जाता है। शरीर घुलने लगता है। धीरे-धीरे मानसिक ह्रास भी प्रारम्भ हो जाता है। आत्मा की यह भूख प्रेमास्पद को भी प्रभावित करता है। वह अपने स्वर्गिक एकाकीपन को और असीमित गौरव को तिरस्कृत करके आत्मा की ओर अभिमुख हो उठता है। मिलन की तीव्रतम उत्कण्ठा जागृत हो उठती है। मिलन होता है और होती है शाश्वत आनन्द की अनुभूति। यह लीला अनवरत है आदिकाल से होती चली आरही है। भारतीय धर्म और दर्शन तथा साधना की पृष्ठभूमि मे उपर्युक्त रहस्यात्मक अनुभूति नितान्त संभव है। हमारे यहां का चेतन और आनन्दमय किन्तु अनिर्वचनीय ब्रह्म ही रहस्यवादियों का साध्य है। उसको अभिव्यक्त करने का और उसकी प्राप्ति-मिलन की स्थिति की अनुभूतियों की अभिव्यंजना का असफल प्रयास आठवीं नवीं शताब्दियों के सिद्धों में मिलता है। भक्ति-आन्दोलन ने उस ब्रह्म को रागात्मकता से युक्त कर दिया। अद्वैत ने उसमें और हममे अभिन्नता स्थापित कर दी थी। आध्यात्मिक चेतना की जागृति पर अपूर्ण का पूर्ण के लिये बेचैन होना नितांत स्वाभाविक है। अपना अपने से मिलने के लिये बेचैन हो उठता है। यह जागृति जब हठयोग की साधना से होती है तब रहस्य साधनात्मक होता है। हृदयत्व की प्रधानता अर्थात् भावनात्मकता की तीव्रता भी व्यक्ति को उसकी अनुभूति की ओर उन्मुख कर सकती है। विरह की तीव्रता का स्वरूप सूफियों से मिला है। यह भावात्मक रहस्यवाद है। कवियों का रहस्यवाद प्रायः इसी प्रकार का होता है। इस पृष्ठभूमि मे आधुनिक युग के कवियों ने रहस्यवादी कविताएं लिखी। आधुनिक भारत चिन्तन प्रधान अधिक और कर्मप्रधान कम है। वह कर्म साधना की ओर कम उन्मुख हुआ है। इस युग में बुद्धितत्व अधिक मुखर और प्रखर

---

१ "आधुनिक कवि", भाग ३

हो उठा है। अतएव कबीर आदि से प्रेरणा लेकर जो स्वयं सिद्धा की परम्परा में आते हैं और जिस परम्परा में ही टगोर भी हैं बुद्धि से सोचकर और चिंतन करके आधुनिक हिन्दी साहित्य की रहस्यवादी कविताएँ लिखी गई। इसीलिये वे जिज्ञासा प्रधान अधिक हैं। कबीर के अधिक निकट होने के कारण रामकुमार वर्मा मे मिलन की स्थिति की अनुभूतियों की व्यंजना का प्रयास अधिक है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इन लोगों की अभिव्यक्त अनुभूतियों में कोई असाधारण नवीनता नहीं। नवीनता भाषा शैली और अभिव्यंजना के स्वरूप में है। आध्यात्मिक अनुभूतियों की यथार्थता के अभाव में जिज्ञासा के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के रहस्यवाद में जो कुछ है उसका अधिकांश लौकिक शृंगार अधिक प्रतीत होता है यद्यपि यह लौकिक शृंगार इतना महान है, इतना उदात्त है इतना अतीन्द्रिय और वासना से इतना परे है कि अलौकिक-सा लगने लगता है। कबीर के रहस्यवाद में भी रूपक के रूप में, सादृश्य के द्वारा अनुभूति को हृदयंगम कराने का प्रयास करता हुआ जो आया है वह भी लौकिक शृंगार ही है। यहां उनका रङ्ग कुछ अधिक चटकीला और आकर्षक हो गया है।

पाश्चात्य-दर्शन—

देवराज ने लिखा है 'वर्तमान काल में दार्शनिक चिंतन मुख्यतः योरप और कुछ हद तक अमरिका में ही होता रहा है'।[1] ऐसे योरप के निकटतम सम्पर्क में आकर भारतवासी उससे प्रभावित न होते, यह असम्भव था। उसी पृष्ठ पर योरोपीय दर्शन की सबसे स्पृहणीय विशेषता के रूप में चिंतन स्वतन्त्रय का उल्लेख किया गया है। भारतीय संस्कृति भी विचार-स्वातन्त्र्य एवं चिंतन-स्वातन्त्र्य का समर्थन करती है। योरोपीय दर्शन की इस विशेषता को, जो हमारी भी विशेषता है इस युग में हमने पूरी तरह से अपना लिया है।

ज्ञान-मीमांसा बुद्धिवाद—

दर्शन के मुख्य भाग दो हैं—ज्ञान मीमांसा और तत्वमीमांसा। तत्वमीमांसा में आत्मा जगत और ईश्वर पर विचार किया जाता और ज्ञानमीमांसा में ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञान के स्वरूप और ज्ञान की सीमा पर। ज्ञान की उत्पत्ति के सम्बन्ध में योरप में तीन विचारधाराएँ पाई जाती हैं—बुद्धिवाद प्रतीतिवाद और कांट का समन्वयवाद। डेकार्ट, स्पिनोज़ा और लाइबनीज नाम के दार्शनिक बुद्धि को ही प्रधानता देते थे। डेकार्ट, बुद्धिवाद का पिता कहा जा सकता है। वह दर्शन में गणित की प्रणाली का उपयोग करता है। बुद्धिवाद कहता है कि ज्ञान विवेक की उपज है।

---

१ पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास, पृ० ८

कुछ बुद्धिवादी यह भी कहते हैं कि ज्ञान कुछ आदि सिद्धान्तों की विवेकपूर्ण विवेचना का फल है। यह बुद्धि को सार्वभौम और नितान्त आवश्यक मानता है। कांट का भी यह सिद्धान्त है कि बुद्धि जिन सम्बन्धों की स्थापना करती है उन्हीं को हम बाह्य जगत का सार्वभौम धर्म कहते हैं। कांट का यह भी कहना है कि वैज्ञानिक लोग अपनी खोजों से प्रकृति के जिन नियमों का पता चलाते हैं वे वास्तव में मानव बुद्धि के नियम हैं। उससे बौद्धिक धारणाओं की आवश्यकता और प्रामाणिकता सिद्ध की है। पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी की योरोपीय पुनर्जागृति तथा बाद में होने वाली विज्ञान की उन्नति ने बुद्धि को धार्मिक ग्रंथों एवं धर्मगुरुओं के आतंक से मुक्त कर दिया। योरप ने बुद्धि की इस स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये सभी उपायों का सहारा लिया है। इसी का परिणाम है कि आज के योरप का प्रधान प्रवृत्ति हो गई है आध्यात्मिकता विहीन बौद्धिक उन्नति। योरोपीय दर्शन प्रधानतः बौद्धिक गवेषणा है।[1] अस्तु कुछ तो योरप की नकल करने और कुछ भारत को फिर से उन्नत करके योरप से भी श्रेष्ठ बनाने के लिये हमने बुद्धिवाद सिद्ध करने और यदि हो सके तो उससे लाभ उठाने के लिये हमने बुद्धिवाद को यथासम्भव अपना लिया। यहाँ तक अपना लिया कि कविता भी बुद्धिवाद के प्रभाव से बच न सकी। प्राचीन तथ्यों और तत्वों की नई व्याख्या बुद्धिवाद के ही सहारे हो सकी है।।

(२) समन्वयवाद—

ऊपर कांट का उल्लेख किया गया है वह बुद्धिवादी था तो किन्तु उसने बुद्धि को ही सबकुछ नहीं मान लिया। उसकी ज्ञान मीमांसा वस्तुतः बुद्धिवाद और प्रतीतिवाद का समन्वय उपस्थित करती है। उसने संवेदन का हेतु पदार्थों या वस्तुओं का अपने यथार्थ रूप में होना बताया है। इसीलिये वह व्यावहारिक जगत को ज्ञेय मानता है किन्तु उसने बुद्धि की एक सीमा निर्धारित कर दी है। उसने परमार्थ जगत को बुद्धि के लिये अज्ञेय मानकर अज्ञेयवाद को जन्म दिया उसका विचार है कि अपनी स्वाभाविक प्रकृति के अनुसार बुद्धि ईश्वर और आत्मा, आदि के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न तो कर देती है किन्तु इनके विषय में कुछ बता सकना बुद्धि के लिये असम्भव है। नैतिक जीवन में उसने ज्ञान की सीमा बाँध कर ईश्वर, आदि को मानना आवश्यक माना है।

(३) प्रतीतिवाद—

ज्ञान-मीमांसा का तीसरा सिद्धान्त है प्रतीतिवाद या अनुभववाद। इस मत को मानने वाले दार्शनिकों में लाक, बर्कले और ह्यूम का नाम आता है। लाक को अनुभववाद का पिता कहा जा सकता है। इसके मानने वाले लोग बुद्धि या विवेक

१. "अदिति", अरविंद विशेषांक पृ० १०७

हो उठा है। अतएव कबीर, आदि से प्रेरणा लेकर जो स्वयं सिद्धों की परम्परा में आते हैं और जिस परम्परा में ही दयार भी हैं बुद्धि में सोचकर और चिंतन करके आधुनिक हिन्दी साहित्य की रहस्यवादी कविताएं लिखी गई। इसीलिये वे जिज्ञासा प्रधान अधिक है। कबीर के अधिक निकट होने के कारण रामकुमार वर्मा में मिलन की स्थिति की अनुभूतियों की व्यंजना का प्रयास अधिक है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इन लोगों की अभिव्यक्त अनुभूतियों में कोई असाधारण नवीनता नहीं। नवीनता भाषा शैली और अभिव्यंजना के स्वरूप में है। आध्यात्मिक अनुभूतियों की यथार्थता के अभाव में जिज्ञासा के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के रहस्यवाद में जो कुछ है उसका अधिकांश लौकिक शृंगार अधिक प्रतीत होता है यद्यपि यह लौकिक शृंगार इतना महान है, इतना उन्नत है, इतना अतीन्द्रिय और वासना से इतना परे है कि अलौकिक-सा लगने लगता है। कबीर के रहस्यवाद में भी रूपक के रूप में, सादृश्य के द्वारा अनुभूति को हृदयगम कराने का प्रयास करता हुआ जो आया है वह भी लौकिक शृंगार ही है। यहां उसका रङ्ग कुछ अधिक चटकीला और आकर्षक हो गया है।

पाश्चात्य-दर्शन—

देवराज ने लिखा है, 'वर्तमान काल में दार्शनिक चिंतन मुख्यतः योरप और कुछ हद तक अमेरिका में ही होता रहा है'।[१] ऐसे योरप के निकटतम सम्पर्क में आकर भारतवासी उससे प्रभावित न होते, यह असंभव था। इसी पृष्ठ पर योरोपीय दर्शन की सबसे स्पृहणीय विशेषता के रूप में चिंतन स्वातंत्र्य का उल्लेख किया गया है। भारतीय संस्कृति भी विचार-स्वातंत्र्य एवं चिंतन-स्वातंत्र्य का समर्थन करती है। योरोपीय दर्शन की इस विशेषता को, जो हमारी भी विशेषता है इस युग में हमने पूरी तरह से अपना लिया है।

ज्ञान-मीमांसा बुद्धिवाद—

दर्शन के मुख्य भाग दो हैं—ज्ञान मीमांसा, और तत्वमीमांसा। तत्वमीमांसा में आत्मा जगत और ईश्वर पर विचार किया जाता और ज्ञानमीमांसा में ज्ञान की उत्पत्ति, ज्ञान के स्वरूप और ज्ञान की सीमा पर। ज्ञान की उत्पत्ति के सम्बन्ध में योरप में तीन विचारधाराएं पाई जाती हैं—बुद्धिवाद, प्रतीतिवाद और कांट का समन्वयवाद। देकार्ट स्पिनोज़ा और लाइबनीज नाम के दार्शनिक बुद्धि को ही प्रधानता देते थे। देकार्ट, बुद्धिवाद का पिता कहा जा सकता है। वह दर्शन में गणित की प्रणाली का उपयोग करता है। बुद्धिवाद कहता है कि ज्ञान विवेक की उपज है।—

१ पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास पृ० ८

कुछ बुद्धिवादी यह भी कहते हैं कि ज्ञान कुछ आदि सिद्धांतों की विवेकपूर्ण विवेचना का फल है। यह बुद्धि का सार्वभौम और नितांत आवश्यक मानता है। काट का भी यह सिद्धान्त है कि बुद्धि जिन सम्बन्धों की स्थापना करती है उन्हीं को हम बाह्य जगत का सार्वभौम धर्म कहते हैं। काट का यह भी कहना है कि वैज्ञानिक लोग अपनी खोजों से प्रकृति के जिन नियमों का पता चलाते हैं वे वास्तव में मानव बुद्धि के नियम हैं। उसमें बौद्धिक धारणाओं की आवश्यकता और प्रामाणिकता सिद्ध की है। पन्द्रहवीं–सोलहवीं शताब्दी की योरोपीय पुनर्जागृति तथा बाद में होने वाली विज्ञान की उन्नीति ने बुद्धि को धार्मिक ग्रंथों एवं धर्मगुरुओं के आतंक से मुक्त कर दिया। योरप ने बुद्धि की इस स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए सभी उपायों का सहारा लिया है। इसी का परिणाम है कि आज के योरप की प्रधान प्रवृत्ति हो गई है आध्यात्मिकता विहीन बौद्धिक उन्नति। योरोपीय दर्शन प्रधानतः बौद्धिक गवेषणा है।[1] अस्तु, कुछ तो योरप की नकल करने और कुछ भारत को फिर से उन्नत करके योरप में भी श्रेष्ठ बनाने के लिए हमने बुद्धिवाद सिद्ध करने और यदि हो सके तो उससे लाभ उठाने के लिये हमने बुद्धिवाद को यथासंभव अपना लिया। यहां तक अपना लिया कि कविता भी बुद्धिवाद के प्रभाव से बच न सकी। प्राचीन तथ्यों और तत्वों की नई व्याख्या बुद्धिवाद के ही सहारे हो सकी है।

(२) समन्वयवाद—

ऊपर काट का उल्लेख किया गया है वह बुद्धिवादी था तो किन्तु उसने बुद्धि को ही सबकुछ नहीं मान लिया। उसकी ज्ञान मीमांसा वस्तुतः बुद्धिवाद और प्रतीतिवाद का समन्वय उपस्थित करती है। उसके संवेदन के हेतु पदार्थों या वस्तुओं का अपने यथार्थ रूप में होना बताया है। इसीलिये वह व्यावहारिक जगत को ज्ञेय मानता है किन्तु उसने बुद्धि की एक सीमा निर्धारित कर दी है। उसने परमार्थ जगत को बुद्धि के लिये अज्ञेय मानकर अज्ञेयवाद को जन्म दिया उसका विचार है कि अपनी स्वाभाविक प्रकृति के अनुसार बुद्धि ईश्वर और आत्मा, आदि के सबंध में जिज्ञासा उत्पन्न तो कर देती है किन्तु इनके विषय में कुछ बता सकने में बुद्धि के लिये असमर्थ है। नैतिक जीवन में उसने ज्ञान की सीमा बांध कर ईश्वर, आदि को मानना आवश्यक माना है।

(३) प्रतीतिवाद—

ज्ञान-मीमांसा का तीसरा सिद्धांत है प्रतीतिवाद या अनुभववाद। इस मत को मानने वाले दार्शनिकों में लाक, बर्कले और ह्यूम का नाम आता है। लाक को अनुभववाद का पिता कहा जा सकता है। इसके मानने वाले लोग बुद्धि या विवेक

१ "अदिति", अरविन्द विशेषांक, पृ० १०७

को निष्क्रिय, सहज प्रत्यो से रहित, तथा गणित-सबधी एव वस्तु-सबधी विज्ञान मानते हैं। इनके अनुसार प्रत्यों की प्राप्ति हम इन्द्रियो से होती है। वस्तु ज्ञान एक मात्र अनुभव है।

रोमांटिक भावना या मानवतावाद—

१७ वीं—१८ वीं शताब्दी के पहले योरप म सपन्न और विपन्न व्यक्तियो के बीच बहुत बड़ी गहरी खाई थी। निधन बड़ी ही हेय दृष्टि से देखे जाते थे। धीरे धीरे यह धारणा बदली और निम्न वर्ग वालो की ओर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि डाली जाने लगी। इसीसे रोमान्टिक भावना का जन्म हुआ। १७ वीं शताब्दी के आसपास का युग फ्रास इंगलण्ड और जर्मनी के धार्मिक युद्धो विद्रोहो और क्रान्तियों का युग रहा है। लोग मार-काट हत्या हिंसा पशुता बल-प्रयोग की भयानकता, आदि से ऊब चुके थे। इसकी प्रतिक्रिया के रूप म रोमाटिक भावना और मानवतावादी विचारधारा का जन्म हुआ। अठारहवी शताब्दी के अन्तिम चरण में इंगलण्ड और फ्रास म जड़वाद का जोर बढ़ रहा था। आगस्ट काम्ट ने इस पृष्ठभूमि म वैज्ञानिक अन्वेषण-प्रणाली का आश्रय लेने का विचार प्रकट किया उसने कहा कि ज्ञान का ध्येय वस्तु जगत को शासित करने वाले नियमो की खोज है। उसने परलोक की चिन्ता छोड़कर मानवता के ऐहिक जीवन को सुधारने का कार्य बताया। उसके अनुसार पूजा उपासना या सेवा का वास्तविक विषय मानवता है। उसके समय तक यान्त्रिक आविष्कारो और उद्योग-धधो म बहुत प्रगति हो चुकी थी। औद्योगिक क्षेत्रों म पूजीपतियो द्वारा खरीद गये इन्सानों की जो मर्मान्तक दुर्गति एव पशुओं से भी गई बीती अवस्था होती है उसकी प्रतिक्रिया ने भी इस विशाल विपन्न, अभागे मानव-समुदाय की ओर विचारकों का ध्यान आकृष्ट किया। इनको सुखी करना एक पवित्र कार्य हो गया। इनसे विशाल मानवसमाज बनता है जिसकी प्रवृत्तियां अन्ततोगत्वा प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित करती हैं। मनुष्य अपने जीवन मे यह अनुभव करता है कि वह अपने से बहुत बड़ी किसी शक्ति पर निर्भर है। यह अनुभूति मनुष्य को शान्ति देती है। वह इस शक्ति की श्रद्धा, उपासना एव पूजा करता है। यह शक्ति न ईश्वर है न देवता यह शक्ति मानवता है। यही वह देवता है जिसकी उपासना हम करनी चाहिये। यही हमारे आवेगा का लक्ष्य होना चाहिये। हमे इसी की सेवा करनी चाहिये। यही हमे सुख दे सकता है। ईश्वर को कोई नही जानता इसे हम सभी जानते हैं विचार-क्षेत्र म यह नया विचार था और समझ म आने वाला विचार था। इसने योरप के ज्ञान विज्ञान को प्रभावित किया और भारत की विचार धारा को भी प्रभावित किया। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है "परन्तु

साहित्य मेत्र म मून चालक मनोवृत्ति मानवतावाद ही थी। इस मानवतावादी दृष्टि के पट से ही काव्य मे छायावाद का जन्म हुआ और उपन्यास और कहानियों के क्षेत्र मे सामाजिक राजनैतिक और आर्थिक शोषण से विद्रोह करने वाली स्वच्छन्दतावादी प्रेम-धारा का भी जन्म हुआ।' [१] यह विचारधारा हमने इसलिये भी अपनाई कि इस दृष्टिकोण को अपनाने मे भारत की विशाल ३५ करोड जनता की, जो अंग्रेजी शासन मे पिसकर पशुओं मे सो गया—बीता जीवन बिता रही थी उन्नति की आशा थी। 'सर्वे भवन्तु सुखिन' के भारतीय स्वप्न को सफल देखने की यह आशा रही है।

ज्ञान का स्वरूप—

ज्ञान के स्वरूप के विषय मे योरोपीय दर्शन तीन धारणाएँ उपस्थित करता है—(१) ज्ञान के विषय ज्ञातासे स्वतन्त्र हैं, (२) ज्ञाता के मन से बाहर कोई भी वस्तु नही, और (३) ज्ञाता के मन मे बाहर कुछ है तो पर हम उसे जान नही सकते। पहला प्रचलित वास्तववाद है दूसरा विज्ञानवाद या अध्यात्मवाद हैं और तीसरा, शोधित वास्तववाद।

बुद्धिवाद—

जर्मन दार्शनिक हीगल भयानक रूप स बुद्धिवादी है। वह अनुभव-निरपेक्ष बुद्धि को मान्यता देता था। उसकी धारणा है कि विश्व तत्व या ब्रह्म केवल बुद्धि द्वारा ही जाना जा सकता है। उसके अनुसार दार्शनिक चिन्तन का विषय बुद्धितत्व है। वह विश्व को व्यक्तिरूप या व्यक्तित्व मानता है। वह मानता है कि प्रकृति केवल वस्तुओं की व्यवस्था मात्र है। स्पेस या देश की दृष्टि से ये वस्तुएँ एक दूसरे मे पृथक् होती हैं। इस प्रकार वह प्रकृति को वास्तव मानता है। प्रकृति मे पुनरावृत्ति होती है। वह मानता है कि परिवर्तन की क्रिया सत्य है लेकिन उसके उपादान परमभाव या परम आत्मा के आविर्भाव है। परम है विशुद्ध अस्तित्व। परम को अपने विकासक्रम मे स्वातन्त्र्य की प्राप्ति क्रमश होती रहती है। हीगल धारणाओं का द्वन्द्वात्मक विकास मानता है। प्रत्येक विचार अपूर्ण या विरोध-ग्रस्त होता है जिसे मिटाने के लिये वह दूसरे विचार या दूसरे सिद्धान्त को जन्म देता है। हीगल के विचारों ने धर्म, दर्शन राजनीति कला आदि ज्ञान के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया। इसी हीगल ने आगे चलकर मार्क्सवाद को जन्म दिया।

प्रकृतिवाद—

तत्वमीमांसा ने पहले प्रकृतिवाद को जन्म दिया जिसके अनुसार संसार तथ्य

---

१ 'हिन्दी साहित्य', पृ ४३२।

हीन और प्रयोजनहीन है। संसार का एक बहुत बड़ा भाग य त्र है जो अपने नियमों से स्वतः परिचालित होता है। यह वाद मानता है कि प्राण तथा मन का विकास भी भौतिक पदार्थों से ही होता है।

भौतिकतावाद—

इससे जड़वाद या भौतिकवाद निकला। जनेन्द्र का कथन है 'भौतिकवाद ईश्वर की आवश्यकता में नहीं रहता। वह अनादि मूल को मान कर उस आधार पर समस्त सृष्टि और इतिहास की रचना का हृदयंगम करने की विधि सुगम करता है संक्षेप में भौतिकवाद चेतन और अविकल पर न टिक कर वस्तु और बिन्दु से आरम्भ करता है।'[1] भौतिकवाद के अनुसार सभी पदार्थों की उत्पत्ति जड़ से होती है। जड़ की विशेषता यह है कि वह जगह घेरता है उसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है उसमें वजन है, जब तक वह एक जगह है तब तक उस जगह पर दूसरा नहीं आ सकता, और वह एक स्थिति से दूसरी स्थिति में किसी बाहरी शक्ति के बिना नहीं जा सकता। यह परमाणुवाद पर विश्वास करता है और मानता है कि जड़ का सार तत्व उसकी शक्ति है। प्राण-सत्ता और चेतन-सत्ता इसी जड़ के परिणाम हैं। इस के अनुसार भौतिक जगत सम्पूर्ण रूप से सत्य है। जड़ वस्तु परमाणुओं से निर्मित है। परमाणु जब एक खास ढङ्ग से मिलते हैं तब भौतिक वस्तुएँ बनती हैं। परमाणुओं के एकत्रीभूत होने से ही चेतना का संचार होता है। हर घटना के पीछे भौतिक कारण होता है। यह जड़वाद कार्य-कारण-सिद्धांत पर विश्वास करता है। यह आत्मा, धर्म, ईश्वर, नैतिकता, इच्छा-स्वातंत्र्य, आदि कुछ नहीं मानता। काट ने भौतिक शास्त्र की प्रामाणिकता का समर्थन किया है। हाब्स, डार्विन, स्पेंसर आदि दार्शनिक भौतिकवादी ही हैं। भौतिक विज्ञान के तथ्यों और खोजों ने भी इसे प्रतिष्ठा प्रदान की। भारत के भी धर्म और ईश्वर के प्रचलित रूप की विकृति ने लोगों को उससे विमुख करके भौतिकवादी बना दिया। हिन्दी के नाटक, कहानी नई कविता उपन्यास आदि में यह भौतिकवाद अनेक रूप धारण करके और अनेक के साथ प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में अब उपस्थित रहने लगा है। अन्धविश्वास के साथ-साथ इसने विश्वास की भी जड़ खोद दी है। कुछ लोग भारत का कल्याण और अभ्युत्थान इसी में देखते हैं।

सृष्टि (१) सृष्टिवाद—

सृष्टि के सम्बन्ध में योरप में दो प्रमुख विचारधाराएं हैं। पहली विचारधारा सृष्टिवाद कहलाती है। इसके अनुसार विश्व का सृष्टिकर्ता ईश्वर है। जब उसमें

१ 'समय और हम'' पृ १२०

इच्छा उत्पन्न होती है तब तक यह विश्व सृष्ट होता है। ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता है। ईश्वर और जड़तत्व से यह जगत रचा जाता है।

(२) विकासवाद–सृजनात्मक–

दूसरी विचारधारा है विकासवाद की। इसके अनुसार प्राणियों का क्रमश विकास हुआ है। इस विकास के तीन प्रमुख स्तर होते हैं। सृष्टि के मूलतत्व सर्वप्रथम इधर–उधर बिखरे पड़े रहते हैं। जब सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है तब इन इधर–उधर बिखर तत्वो का एकीकरण होता है। दूसरी अवस्था में इन एकीकृत तत्वो का आवश्यकतानुसार विभेदीकरण होता है। इसके बाद उनका निर्धारण होता है। विकास की अवस्था में तत्व व्यवस्थित रूप मे रहते हैं और नाश की अवस्था मे अव्यवस्थित रूप मे। यह विकास प्रारम्भ मे सरल होता है किन्तु आगे चलकर इसकी प्रक्रिया बडी जटिल हो उठती है। कुछ विचारको का मत है कि सृष्टि का यह विकास उद्देश्यगर्भित या प्रयोजनपूर्ण होता है। उनके अनुसार जगत विचारपूर्वक बनाया गया है। एक बुद्धिमान विचारक जगत के नियमो का पथ–दर्शन कर रहा है। मानव के शरीर, उसके अङ्ग–प्रत्यग, पौधो के अस्तित्व एव उनके अङ्ग–प्रत्यग आदि–यहा तक कि निर्जीव पुदगल–मे भी प्रयोजन निहित है। यह प्रयोजनवादी विकासवाद या उद्देश्यपूर्ण विकासवाद कहलाता है। आगे चलकर बर्गसा ने सृजनात्मक विकास की कल्पना की। विकास सम्बन्धी घटनाओ पर विचार करने से बर्गसा इस निष्कर्ष पर पहुचा कि विकास का कारण न तो कार्य–कारण–नियम है और न कोई अन्तिम प्रयोजन। उसका लक्ष्य है प्राणशक्ति या जीवनशक्ति की सृजनशीलता। एलेक्जेंडर और मार्गन इस निष्कर्ष पर पहुचे कि विकास की विभिन्न स्थितियो मे नूतनताओ का जन्म होता है। पुराने तत्व नये तत्वो को जन्म देते हैं। ये पुराने गुण नय गुणों को जन्म देते हुए भी अपने (गुणो) को नष्ट नही होने देते। कुल मिलाकर गुणों की सख्या मे वृद्धि ही होती है। ध्यान रहे कि हमारी हिन्दी के अति आधुनिक कवि इसी नवीनता के पीछे पागल हैं तो, मगर उन्हें अपने से पुराने गुणियो या गुणो के प्रति कोई भी अनुराग नहीं। पुनरावृत्ति विकासवादी यह मानते हैं कि सृष्टि–क्रम मे कही कोई नवीनता नहीं होती। पहले की ही पुनरावृत्ति होती है।

यांत्रिक–विकासवाद–

विकासवाद का दूसरा पक्ष है यांत्रिकविकासवाद। इस मत वालों की धारणा है विकास आकस्मिक यन्त्रवत् सयोग के कारण होता है। स्वयंभू परमाणु गति के कारण आकस्मिक रूप मे एक दूसरे से मिलते हैं और फिर अपने आप एक दूसरे से

अलग हो जाते हैं। विश्व विकासवादी विकास को प्राकृतिक नियमों पर आधारित मानते हैं। यह जडवाद के अधिकाधिक अनुरूप है।

जीव विकास—

इसके पश्चात् हम जीव–विकास के सिद्धान्त पर आते हैं। इस वाद में डार्विन और लामार्क के सिद्धांत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस सिद्धांत के अनुसार जड से जीव और जीव से चेतन प्राणियों का विकास होता है। सभी का विकास जीवकोषों से होता है। सबसे पहले सृष्टिकर्ता ने कुछ जीवकोषों में प्राण फूंक दिया। उन्हीं से सारी सृष्टि बनी। एक जाति के जीव धीरे–धीरे बदलकर दूसरी जाति के जीवों में परिवर्तित हो जाते हैं। शरीर–रचना में होने वाले कुछ परिवर्तन उस जीव–योनि के वंशजों में संक्रांत हो जाते हैं। यह परिवर्तन उस जाति के सभी प्राणियों के लिये समान रूप से उपयोगी नहीं सिद्ध होता। इस भेद या परिवर्तन से कुछ को पुश्त–दर पुश्त लाभ पहुंचता है और कुछ का अस्तित्व मिट जाता है। सबल और उपयुक्त जीवित रहते हैं शेष नष्ट हो जाते हैं। अस्तित्व के लिये भी निरन्तर संघर्ष चलता रहता है जिसमें शक्तिशाली का अभ्युदय और शक्तिहीन का विनाश होता रहता है। प्रकृति अनुकूल प्राणियों को चुन लेती है और प्रतिकूल का नाश कर देती है। परिवर्तन के कारण उत्पन्न होने वाले जीव कभी–कभी पुराने जीव से अलग होकर नई और बलवान योनि की सृष्टि करते हैं।

लामार्क ने कहा कि प्रत्येक प्राणी पर उसके वातावरण का प्रभाव पड़ता है। वातावरण के साथ उसका क्रिया–प्रतिक्रिया का सम्बन्ध रहता है। भेद या परिवर्तन का मूल कारण यही है। वातावरण ही प्राणियों के अन्दर आवश्यकतानुसार अवयव विशेष का विकास करते हैं जो निरन्तर प्रयोग के कारण सबल अथवा अप्रयोग के कारण नष्टप्राय होते रहते हैं। वंशक्रम के अनुसार ये गुण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलते हैं।

इस विकासवाद के परिणामस्वरूप जडवादी और नास्तिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला। इसी रास्ते पर चलकर स्पेंसर ने यह सिद्धान्त निकाला कि जीव और उसके पर्यावरण या वातावरण में पारस्परिक सहयोग अनिवार्य होता है। आगे चलकर व्यक्ति का व्यक्तित्व वातावरण का खिलौना हो गया। हक्सले ने संघर्ष पर जोर दिया और नीत्शे ने कहा कि नैतिकता की सर्वश्रेष्ठ कसौटी है जीवित रहने की श्रेष्ठता। उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। साहित्यिक रूप धारण करके ये सारी विचार धाराएं कलात्मक ढंग से हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्त हो चुकी हैं और हो रही हैं। अपने एक व्याख्यान में पंत ने कहा था कि हिन्दू धर्म में कहे गये विभिन्न अवतार

ध्यान से देखने पर विकास की विभिन्न अवस्थाओं के प्रतीक मात्र लगते हैं — मछली, कछुआ, शूकर, नसिंह वामन, परशु राम, राम, बलराम, कृष्ण, बुद्ध कल्कि, आदि।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—

हीगल का प्रकृति-ज्ञान प्रकृति-जगत के क्रम-विकास की द्वन्द्वात्मक व्याख्या है। विरोध इसके मूल में है। यही विकास को गति देता है। हीगल का दर्शन मानवता के सारे अनुभवों को समष्टि का रूप देने के प्रयास हैं। हीगल अध्यात्मवादी था। हीगल से ही प्रेरणा लेकर किन्तु उनके अध्यात्मवाद का पूर्णत तिरस्कार करके मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रस्तुत किया। मार्क्स जडवादी हुआ। मार्क्सकृत इतिहास की व्याख्या मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन की—उसकी राजनीति अर्थनीति इच्छाओं और अभिलाषाओं की—व्याख्या है। मनुष्य का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। यह सिद्धान्त हर प्रकार का अलौकिक शक्तियों को, आत्मा परमात्मा सबको बाह्य, भौतिक दृश्य जगत को ही सत्य मानता है। यह प्रकृति को समस्त जगत का मूल मानता है। हीगल के सिद्धान्त को लेकर उसने ही इस जगत और सामाजिक प्रगति पर मार्क्स ने लागू कर दिया। उसमें डार्विन के विकासवाद और हीगल के द्वन्द्वात्मक प्रगतिवाद का सम्मिश्रण है। भौतिक विश्लेषण, परीक्षण की कसौटी पर ठीक उतरना, प्रयोग द्वारा प्रमाणित और प्रदर्शित हो सकना स्वीकार्य होने की कसौटी बनी। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की तीन कसौटी है वाद, प्रतिवाद और समन्वयवाद। वह मानता है कि जगत परिवर्तनशील है। पूर्ण या पवित्र या चिरंतन कुछ नहीं है। सामाजिक सम्बन्ध राजनीतिक सम्बन्ध, सदाचार, धर्म और आध्यात्मिक चेतना के तदनुकूल रूप अपने समय के इतिहास से स्वतन्त्र नहीं होते। प्रत्येक वस्तु गतिशील है प्रत्येक वस्तु प्रक्रिया में है। उसी वस्तु में हो वस्तु का विरोध भी वर्तमान रहता है। वह अपने अस्तित्व का परिचय निरंतर देता रहता है। दोनों का द्वन्द्व ही जीवन है। द्वन्द्व की समाप्ति जीवन की समाप्ति है। प्रकृति में नष्ट करने वाली शक्तियां अंधी क्रूर और संहारक होती हैं जब तक कि हम उनके रहस्य का ज्ञान प्राप्त करके उन पर अधिकार न प्राप्त कर लें। धर्म मनुष्य के मन में उन बाहरी शक्तियों का कपोल कल्पित विस्मयजन्य प्रतिबिम्ब मात्र है जो दैनिक जीवन का नियन्त्रण करती हैं। इस प्रतिबिम्ब में पार्थिव शक्तियां अलौकिक शक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं। परस्पर विरोधी वस्तुओं में जो धनात्मक और ऋणात्मक संघर्ष होता है वही द्वन्द्वात्मक प्रगति का कारण होता है। इस प्रकार यह दर्शन अनीश्वरवादी, अनास्थावादी हिंसाप्रधान, और जडवादी है, फिर भी जनप्रिय शब्दों में 'मार्क्स के ऐतिहासिक विकासवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिक

वाद में मेरे लिये कोई चौंकने या आपत्ति करने की बात नहीं। इतिहास और काल गति को समझने का यह सत्-युद्ध प्रयास है।"[1] गांधी और विनोबा तथा इनके प्रेरणा स्रोत अजर अमर भारतीय संस्कृति की शक्ति और उसके प्रभाव के कारण यह मार्क्सवाद भारत को पूर्णतः अपने रंग में तो नहीं रंग सका पर इसकी व्याख्याओं ने हमारे दृष्टिकोण को थोड़ा-बहुत यहां वहां परिवर्तित अवश्य किया है। इसका उल्लेख किया भी जा चुका है और आगे भी किया जायेगा।

उपयोगितावाद—

जान स्टुअर्ट मिल के उपयोगितावाद ने भी हम पर अपने रङ्ग के छींटे डाले हैं। उपयोगितावाद का यह आदर्श नहीं है कि कर्ता को ही सबसे अधिक आनंद मिले। उपयोगितावाद का आदर्श तो यह है कि सबको मिला कर सबसे अधिक आनन्द मिले। मिल के अनुसार अधिक से अधिक मनुष्यों का अधिक से अधिक सुख अथवा सामाजिक सुख जीवन का आदर्श है। मिल व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का पक्षपाती था। वह केवल निश्चित तीव्र और दीर्घकाल-व्यापी ही सुख को मनुष्य का ध्येय नहीं मानता था। वह उच्चकोटि के सुख को ध्येय रूप में रखना चाहता था। उपयोगितावाद आशावादी है। अपनी ध्येय-प्राप्ति के लिये सर्वसाधारण को भी उच्च आचरण के महत्व से दीपित देखना चाहता था। उपयोगितावाद का मतलब आनन्द-प्राप्ति तथा दुःख से बचना है। उपयोगितावाद में अन्य बातों के साथ-साथ सुख और सौन्दर्य की भावना भी सम्मिलित है। इसीलिये यह उस आत्मत्याग की प्रशंसा करता है जो मनुष्य-जाति के या जाति-विशेष के सुख या सुख के कुछ साधनों को बढ़ाता है। ये बातें सत्यं शिवं और सुंदरं के अन्दर आ जाती हैं और अपने वर्तमान रूप में यह सूत्र योरप से आने पर भी भारतीय संस्कृति की अनुरूपता के कारण आधुनिक हिंदी साहित्य के बहुत बड़े भाग का आदर्श वाक्य बन गया है।

अध्यात्मवाद और चैतन्यवाद—

घोर वैज्ञानिकता के विरुद्ध योरप में प्रतिक्रिया हुई। लोगों की रुचि फिर अध्यात्मवाद और चैतन्यवाद की ओर उन्मुख हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध में यह प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई थी। लाटजे, हार्टमान, और ब्रेडले, बासांके, क्रोचे और जेण्टायल इसी प्रवृत्ति के दार्शनिक हुए। लाटजे बुद्धि पर संदेह करना संभव नहीं मानता। वह बुद्धि में विश्वास करता है। वह श्रद्धा को भी आवश्यक मानता है। वह विश्व-तत्व को चेतन मानता है। वह तत्व पदार्थ का लक्षण आत्मचेतना

१ प्रथम और हम पृ ७५

और सचेतन–व्यक्ति–भाव मानता है। हाटमान मानता है कि अचेतन कृतिशक्ति सवत्र बुद्धि द्वारा सचालित मालूम होती है। ग्रीन ज्ञान या अनुभव के अस्तित्व के लिये चेतन तत्व की आवश्यकता का अनुभव करता है। ब्रेडले इगलड का सवश्रेष्ठ अध्यात्मवादी विचारक है वह मानता है कि मूल तत्व एक है और वह सामजस्य पूर्ण है। वह अनुभव रूप है। उसकी कल्पना व्यक्तिभाव की होनी चाहिए। परम ब्रह्म गति और परिवतन शून्य है। तत्वपदार्थ कभी भी अपना विरोध नहीं करता। बोसाके मानता है कि विश्व–तन्त्र अपने को चिंतन–प्रक्रिया में अभिव्यक्त करता है। मानवंश के उच्चकोटि के अनुभवो मे विश्व की समष्टिरूपता या व्यक्तिभाव प्रकाशित या फलित है। क्रोचे का दशन नव्य अध्यात्मवाद है। वह मानता है कि विषय अनुभव का ही एक पहलू है और अनुभव मानसिक होता है। विषय अनुभवकर्ता से भिन्न नहीं है। चतन्य आप ही अनुभव मानसिक होता है। विषय अनुभवकर्ता से भिन्न नहीं है। चतन्य आप ही जगत की सृष्टि करता है। उसने चेतना की (१) ज्ञानात्मक क्रिया (२) धारणा (३) व्यावहारिक क्रिया और नैतिक क्रिया एव ऐतिहासिक क्रिया को माना है। उसके शिष्य जेण्टायल ने इन चार प्रकार की क्रियाओ का विरोध करके चेतना को एक रूप माना।

अस्तित्ववाद —

अति आधुनिक विचारधाराओ म तकमूलक भाववाद और अस्तित्ववाद आत हैं। तकमूलक भाववाद मानता है कि अतीन्द्रिय पदार्थों जसे ईश्वर, आत्मा, आदि के विषय मे तक करना उचित नहीं है। यह वाद मानता है कि हमारे सारे ज्ञान का आधार इन्द्रियों से उत्पन्न अनुभव है। अतीन्द्रिय पदार्थों के सम्बध म कही गई अनुभव–सम्बधी बात निरथक और मिथ्या होती है। इसके अनुसार दशन का काय है वाक्य की समीक्षा और विश्लेषण। यह मन भाषा अथवा प्रतीकों के प्रयोग का भी विश्लेषण करता है। यह अध्ययन तीन भागों म बटा है — प्रगमेटिक्स, (मनुष्यों के व्यवहार और उनके भाषा–प्रयास के सम्बधो का अध्ययन), सिमटिक्स (प्रतीकों और उनके द्वारा सकेतित तथ्यों के आपस के सम्बध का अध्ययन) और लाजिकल सिटेक्स (प्रतीकों के विभिन्न तत्वों के पारस्परिक सम्बधो का अध्ययन)।

अस्तित्ववाद का प्रवतक है कीरकेगाड। यह वाद व्यक्तिगत जीवन या अस्तित्व का दशन है। यह मत व्यक्ति की स्वतन्त्रता को आवश्यक मानता है। इसकी इच्छा है कि व्यक्ति को उसकी स्वतन्त्रता एव जिम्मेदारियो के प्रति जागरूक बनाया जाय। यह मत इस प्रकार के व्यक्ति को आदश मानता है। कीरकेगाड सत्य की प्रतीति आत्मा के भीतर मानता है। वह समष्टिवाद का विरोधी है। व्यक्ति अपने स्वतन्त्र निणयों के द्वारा ही सत्य का साक्षात्कार कर सकता है। नित्शे का मुख्य काम यह है कि

व्यक्ति का विश्व से इस प्रकार का सबंध हो कि वह अपने जीवन की विविध सम्भावनाओ का साक्षात्कार कर सके। हमारा जानना जीने के लिये होता है। हम यथार्थ से मागें न, बल्कि उसमे अपने को सबंधित करके निर्णय लेने का साहस कर सकें। हेडेगर नामक अस्तित्ववादी आत्मसत्ता या मानवसत्ता को मानता है। वह मानता है कि मानव जीवन की सम्भावनाए बदलती रहती हैं। स भावनाओं का चुनाव मनुष्य के रूप को बदल देता है। दुनिया मेरी आवश्यकताओं की पूर्ति का क्षेत्र है। साथ ही हम अन्य मनुष्यो से भी स बधित हैं। इसी स बध से सामान्य मनुष्यता का जन्म होता है ज्या पाल सात्र भी महत्वपूर्ण आदर्शवादी है। वह दो सत्ताएँ मानता है – (१) अपने मे और (२) अपने लिये। यह चेतना दूसरे को (अ) वस्तु मानकर, और (ब) अपनी ही तरह द्रष्टा ज्ञाता विषयी मानकर गतिशील होती है। सात्र ने स्वतंत्रता को मानव का असली रूप माना है। मनुष्य विश्व ब्रह्माण्ड का पूरक नही, स्वत एव स्वतंत्र है। मनुष्य का निर्माण उसकी अपनी स भावनाओ और इच्छाओ द्वारा होता है। हम स्वय अपनी प्रकृति के विधाता हैं। वसे मनुष्य का कोई निश्चित लक्ष्य नही है। वह जैसा चाहे बन जाय। न ईश्वर, न कुछ अच्छा न बुरा। मानव प्रकृति नाम की कोई भी चीज नही। हमारा अति आधुनिक साहित्य इन विचारधाराओ से बहुत कुछ तक प्रभावित है।

हमने सब का अध्ययन किया—

हम भारतीयो ने योरप और भारत के इन दर्शनो का अध्ययन किया और प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप मे इनसे प्रभावित हुए। एक दूसरे को एक दूसरे के समीप लाने के प्रयत्न मे लगे। टगोर ने कहा है "आधुनिक भारत के अच्छे भले व्यक्तियो ने अपने जीवन का यह लक्ष्य बना लिया है कि वे पूर्व और पश्चिम को एक दूसरे के समीप ले आएँ"। [1] यह आवश्यक भी था क्यों कि इसके बिना हमारे उत्थान का और कोई उपाय था भी नहीं। यह अवश्य है कि नवनीत अभी निकल नहीं पाया, उसे निकलना है।

वतमान हिन्दूधर्म—

मान गुरु जी ने लिखा है 'भारतीय धर्म बढता रहने वाला धर्म है। वह नवीन नवीन विचार ग्रहण करके आगे बढता रहेगा। वह नवीन नवीन क्षेत्रो मे घुसेगा। सारे ज्ञान को अपना कर समाज का निर्माण करेगा।[2] बदली हुई एव अवा

१ टुवडस यूनिवसल मन , पृ १३३।

२ 'भारतीय स स्कृति", पृ ३६।

छिन वृत्तियो वाली पृष्ठभूमि मे तथा नई यूरोपीय संस्कृति के संपर्क मे आकर भारतीय धर्म ने यही किया। लोग प्रायः कहा करते हैं कि हिंदू धर्म भी विचित्र धर्म है क्योंकि हिंदुओ की न कोई अपनी एक पोशाक, न कोई एक सर्वमान्य धर्म पुस्तक, आदि। वे ऐसी बात करके और विशेष रूप से भारतीय इस्लाम से उसकी तुलना करके उसे निकृष्ट अथवा निर्बल सिद्ध करके हिंदुओं मे उबाल लाना चाहते हैं। उनकी बातें सही हैं लेकिन जिसे वे हमारी कमजोरी समझते हैं, सौभाग्य से वही हमारी सबसे बडी विशेषता है। उसे छोडना हिंदुत्व को मिटा देना है। हिंदुत्व मे कट्टरता नही है, क्योंकि राधाकृष्णन के अनुसार,–'यह स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म एक प्रणाली है, परिणाम नहीं एक वर्द्धमान परम्परा है अटल दिव्य प्रकाशन नही। किसी ओर से भी आने वाले ज्ञान पर इनसे कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया, क्योंकि (इस) आत्मराज्य मे मेरे और तेरे का भेद नही हैं।'[1] उसकी प्रकृति है सभी धर्मों के लिये आदर और सद्भावना अपनी बौद्धिक चेतना और सत्य के प्रति अपनी अनुभूति को सतत जागरूक रखना सभी महान पुरुषो के प्रति सच्ची श्रद्धा धर्म की वास्तविक प्रकृति (छिपी हुई अग्निशिखा) का खोज, प्रगतिशीलता और रूप परिवर्तन की आवश्यकता और अनिवार्यता।

समस्त भारत का योग—

इसीलिये हिंदूधर्म किसी एक पुस्तक, किसी एक व्यक्ति किसी एक प्रदेश या किसी एक वेश या देश की ही चीज कभी नहीं रहा। यह अवश्य है कि इस पर पडी हुई छापो मे से किसी की छाप अधिक स्थायी है और किसी की कम। उदाहरणार्थ, भारतीय धर्म का जो संस्करण शंकराचार्य द्वारा उपस्थित किया गया है वह अब भी सर्वथा शक्तिहीन नहीं हुआ है। रामानुज तथा माधव, कबीर तथा नानक, आदि ने भी हिंदू धर्म पर अमिट छाप लगाई है। भारत के विभिन्न प्रान्तो और प्रदेशो ने भारतीय धर्म और दर्शन के उस स्वरूप को विकसित करने मे अपना-अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है जो आज भारतीय जीवन का मूलाधार हो रहा है। विभिन्न धर्मों के रूप मे जीवन के विभिन्न मौलिक काव्यधारा और विभिन्न दर्शनों के रूप मे विभिन्न मौलिक चिंतन विभिन्न प्रदेशो ने विकसित किये हैं। यह कुछ ठीक वैसे ही हैं जैसे हिन्दी। ब्रजभाषा भी हिन्दी है खडी बोली भी राजस्थानी भी बिहारी भी। जैसे हम यह नही कह सकते कि बस इतना ही और यही हिंदुत्व है वैसे ही हम भी नहीं कह सकते कि यही रूप हिन्दी है। बगाली का क्षेत्र है बगाल, पजाबी का भी अपना एक विशेष क्षेत्र है इसी प्रकार अन्य बोलियों और भाषाओ के भी अपने अपने

१ 'भारत की अन्तरात्मा' पृ० २८।

विशेष क्षेत्र हैं लेकिन हिंदी ! नाम के अनुसार हिंदी का अगर कोई भी क्षेत्र कहा जा सकता है तो वह है हिंद याने सम्पूर्ण हिंदुस्तान ! और यह सही भी है क्योंकि बिहार बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश महाराष्ट्र गुजरात, राजस्थान, पंजाब, आदि सभी ने हिन्दी का पोषण किया है। ठीक इसी प्रकार का हिंदू धर्म भी है जहां विभिन्न प्रदेशों के चिंतनों और कार्य-संघातों ने गंगा-यमुना की भांति मिलकर समन्वय संगम पर एकत्व और सुख-संताप की अलौकिक पवित्रता उपस्थित कर दी है। इसलिये —[1]

१ कश्मीर	शैव प्रिन्दर्शन	२ पंजाब	वेदों के प्राचीनतम
३ मिथिला	जनक-याज्ञवल्क्य	४ मध्यप्रदेश	(कर्मकाण्डी साहित्य,
५ मगध	महावीर और बुद्ध		(प्रारंभिक उपनिषद
६ बंगाल	चैतन्य, तन्त्रसाधना		(महाभारत रामायण
७ असम	(शंकरदेव का विशुद्ध		(कुछ पुराने पुराण
	(वैष्णववाद और तन्त्र	८ पर्वतप्रदेश	मध्ययुगीन सिद्ध
	(साधना।	९ नेपाल	बौद्ध और ब्राह्मणधर्मका
१० उड़ीसा	सूर्योपासना, सांबपुराण		समन्वय।
	चैतन्यकला के दर्शन ग्रंथ।		

११ द्रविड़ ब्रह्मसूत्रभाष्य आलवार शैवनायनार संहिता और आगम के अनेक लेखक।

१२ महाराष्ट्र—तुकाराम, नामदेव तिलक, विनोबा शिवा रामदास, ज्ञानेश्वर आदि।

१३ राजस्थान— विन्ध्य बिहार के कुछ भाग) असाधारण वीर्य प्राचीन धार्मिक विश्वास।

१४ गुजरात-काठियावाड़—प्रारम्भिक भागवत धर्म, जैन साहित्य दयानन्द गांधी।

१५ सिंध—सूफी विचारक

अभी इस सूची में न मालूम कितनी बातें और जोड़ी जा सकती हैं।

सह-अस्तित्व—

बात यह है कि भारतवर्ष ने धर्मों के सह-अस्तित्व अथवा दूध-पानी की तरह से मिल जाने की समस्या युगों-युगों से हल कर ली है। चूंकि भारतवर्ष के प्रत्येक युग प्रत्येक भूभाग एवं प्रदेश का अपना-अपना धर्म एवं दर्शन था जिनका संगम

१ 'कल्चुरल हेरिटेज आफ इंडिया' भाग ४

हिंदूधर्म है अत, हिंदुत्व की दृष्टि में भारत का कोई भी भाग ऐसा नहीं है जहां पूज्य नदियां न हो जहां पवित्र नगरियां न हो। इतिहास, संसार और पुस्तकें तो कुछ ही को जानती हैं, जैसे —काशी, प्रयाग, अयोध्या, मथुरा हरिद्वार, नासिक, बदरिकाश्रम ारनाथ, बुद्धगया, रामेश्वरम् पंढरपुर, गंगा, यमुना, सिंधु कृष्णा, नर्मदा, तासी ावेरी, आदि, किन्तु यहां तो मिट्टी का कण-कण एवं जल का एक-एक बिंदु वित्र है। जहां लीप पोतकर मिट्टी मात्र का ही ऊंचा चबूतरा बनाकर उस पर चार- ल और चावल के चार दाने रख दिये वही पूज्य हो गया। जिस पेड पर जल डाल ार सिंदूर लगा दिया जाय वहीं प्रणम्य है। यहां 'गंगा' का अर्थ पवित्रता से भिन्न है। हर नदी हर तालाब, हर पोखरा गंगा है। कहावत है—'मन चंगा ो कठौती में गंगा', और स्नानार्थी जब कुएं या नल का पानी लोटे में भरकर अपने ार पर डालता है तो हरगंगा" या हर हर गंगे कहता है। स्थानीयता को र्दाश्त करके या यों कहें कि भाषा अथवा भौगोलिकता को आवश्यक प्रधानता न देकर हिंदूमत धर्म को धार्मिकता में बदल रखा है। उसे अखिल भारतीय रूप दे रखा है। भारतीय को अच्छा धार्मिक एवं अच्छा आराधक होना चाहिए—चाहे जिस धर्म का हो चाहे जिस देवता का। प्राय लोग धर्म को गलत समझने गलत ढंग से विचारने और उसका गलत उपयोग करने लगे हैं। मोतीलाल नेहरू का यह कहना था, 'आज धर्म का उपयोग सबसे बड़ी विभाजक शक्ति के रूप में किया जाता है। हमारे दैनिक जीवन में उसका अर्थ है मूर्तिपूजा और धर्मान्धता, असहिष्णुता और मस्तिष्क की संकीर्णता, स्वार्थपरता और स्वस्थ समाज का निर्माण करने वाले गुणों का निषेध। राजनीति के साथ भी उसका सम्बन्ध किसी काम का नहीं।[1]

जनता की कमजोरी और उसका दुरुपयोग—

बात यह है कि अल्प बुद्धि वाली सामान्य जनता धर्म के बाह्य स्वरूप को ही जानती मानती है क्योंकि उसके तात्विक रूप को ग्रहण करने की क्षमता उसमें होती नहीं और इसीलिये उसको बाह्यरूप प्रधान धर्म से हटा सकना कठिन होता है। 'धर्म निरपेक्ष" अंग्रेजी सरकार यह व्यवस्था करना नहीं चाहती थी कि लोग धर्म के असली रूप को समझें। धर्म-भ्रष्ट हो जाने की आशंका से सामान्य जनता को धर्म के बाह्यस्वरूप से इतना चिपका दिया कि वह उस पर किसी तरह का आघात करने वालों को अपना घोर शत्रु समझने लगी। अंग्रेजी सरकार और उसके अस्तित्व से प्राणवान बने रहने वाले स्वार्थियों ने इस जन-मनोवृत्ति का लाभ उठाया। उसे बहलाकर एक दूसरे से लड़ाया और खुद राज्य और पद प्राप्त किया। जनता के पास

१ 'मोतीलाल नेहरू जन्मशताब्दी स्मृति ग्रंथ", पृ० ८२

धार्मिक आस्था मात्र बचने पाई। उसके अतिरिक्त धर्म की सारी असलियत उससे छिन गई।

पीछे देखा गया—

विचारकों ने देखा कि एक खतरा आ गया है। इसको तभी दूर किया जा सकता था जब प्राचीन भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण तत्वों और मूल्यों पर बराबर जोर दिया जाता रहे। अस्तु, हिंदू महापुरुषों और विचारकों ने अपने धर्म और संस्कृति के मौलिक स्रोतों और मूलभूत तत्वों को नहीं छोड़ा। वे छोड़ने लायक थे भी नहीं। इनके साथ ही साथ उन्होंने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के नवीनतम आदर्शों के अनिवार्य और महत्वपूर्ण प्रभावों को अस्वीकार भी नहीं किया।

हिंदुत्व की काया-पलट—

परिणामतः हिंदूधर्म की कायापलट हो गई। हिंदूधर्म के विभिन्न तत्वों की सूक्ष्मतम परीक्षा निरर्थक एवं अनुपयोगी तत्वों का तिरस्कार और उपयोगी तत्वों की नवयुग के अनुरूप व्याख्याएं प्रस्तुत की गईं। इनके परिणामस्वरूप हिंदूधर्म को सजीवनी शक्ति मिली। उसका रूप समाजोपयोगी होने लगा, उसका लक्ष्य जन-हित होने लगा। सामाजिकता की दृष्टि से अनुपयोगी तत्व निरर्थक एवं अस्वीकृत हो गए व्यक्तिगत धार्मिक जीवन और धार्मिक अनुभवों के जो तत्व शाश्वत और स्थायी महत्व के थे वे ही स्वीकृत एवं मान्य हुए। धर्म की वास्तविकता उन तत्वों में खोजी गई जो सामाजिक अन्याय असमानता आदि से कलंकित होने से बचे थे। अन्याय अनीति को जन्म देने वाली सामाजिक प्रथाओं और संस्थाओं से धर्म को अलग करने का प्रयत्न किया गया। परिणामतः धर्म संस्कृति और इतिहास का उज्ज्वलतम पक्ष उभरता चला गया। भारत-प्रेम की भावना से इस प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहन मिला। हिंदूधर्म में जो भी सुधार हुए उन सब की आवश्यकता का अनुभव राष्ट्रोत्थान की दृष्टि से ही हुआ था। मानवता की भलाई और जन कल्याण की भावना ने गति दी। हिंदी का यथार्थवादी और आदर्शवादी साहित्य इसी पृष्ठभूमि में लिखा गया। वास्तविकता यह है कि शास्त्रों के अनुमोदन की बात आजकल केवल कहने भर के लिए रह गई है। शास्त्रों की तनिक भी चिन्ता किये बिना आज का मानव वही करता है जिससे उसका हित हो, उसे सुख मिले या उसे आराम मिले।[1] रूढ़ियों और प्रथाओं पर आधारित नैतिकता से आलोचना प्रधान नैतिक विचार विनिमय और सन्तुलित क्रियाशीलता की ओर चला जाना ही नव दृष्टिकोण की विशेषता है। इसका परिणाम यह भी हुआ है कि आधुनिक हिंदी साहित्य में शास्त्रों का उल्लेख

१ इंडियन सोशल रिफार्मर के सम्पादक का १९१२ में कथन।

उतना नहीं हुआ जितना आलोचना-प्रधान नैतिक विचार और तदनुरूप जीवन यापन का प्रयास अभिव्यजित हुआ है। हिन्दू दृष्टिकोण चिन्तन की और विचार विनिमय की पूरी पूरी स्वतन्त्रता देता है किन्तु व्यवहार के क्षेत्र में शास्त्र, संस्कृति और परम्परा के विधि निषेधों का पालन अनिवार्य मानता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में —विशेषत कथा साहित्य मे भी हम यही पाते हैं कि चिंतन और अभिव्यक्ति नवीनतम एव क्रान्तिमयी है किन्तु ऋषियो, मुनियो, वेदो, शास्त्रों, आदि के प्रति आदर क साथ-साथ, व्यावहारिक जीवन म रूढ़िया और परम्पराएँ भी मान्य हैं अनुल्लघ्य हैं और अधिकतर सबको बाधे हुए हैं। इसीलिये समाज विघटित नहीं होने पाया है। तात्पर्य यह है कि हमारे सास्कृतिक जीवन और हमारी धार्मिक विचारधारा का अधिकाश तो कुछ भी नहीं बिगड़ा-किन्तु व्यक्तियो के सामाजिक सबधो और उनकी मनोवृत्तियो म शनै शनै परिवर्तन अवश्य होता गया। उदाहरण के रूप म हम यह मानने लगे कि अपने जीवन, अपने धर्म और अपनी परिस्थितियों के उत्तरदायी किसी न किसी रूप म हमीं हैं हमने राजा को ईश्वर मानना छोड़ दिया। हमने उनको अपनी ही तरह के हाड मास का मनुष्य मान लिया। समाज और व्यक्ति की दुरवस्था को बदलने का काम भाग्य और भगवान क ऊपर छोड़कर हाथ पर हाथ धरे बैठने मे जो मूर्खता है वह हम समझ गये। धार्मिक ढोग और ढकोसला अब हमारी श्रद्धा और पूजा पाने म असमर्थ हो गए। हम इनकी उपेक्षा करने इनकी आलोचना करने और इनके प्रभाव से अपने को मुक्त रखने का साहस पा गये। कहीं-कहीं अति भी हो गई।

सुधारवाद और रूढ़िवाद—

इस प्रकार दो विचारधाराएँ हमारे अन्दर पनपी। हममे से कुछ लोग सुधारवादी हो गये और कुछ लोग प्रगतिशील या क्रान्तिकारी। आबिद हुसैन ने लिखा है " दो विरोधी प्रवृत्तिया क्रियाशील रही हैं —(१) एक तो उदारतावादी आदोलन जिसने अपने आपको धर्म म समन्वयवाद, सामाजिक दृष्टिकोण मे आधुनिकतावाद और राजनीति म मध्यमवाद के रूप मे अभिव्यक्त किया और (२) रूढ़िवादी आदोलन। इसके दो विभिन्न रूप रहे। एक म तो वैदिक धर्म और सामाजिक जीवन मे लौट जाने का आग्रह था, दूसरे म वेदान्त दर्शन को धार्मिक जीवन का आधार बनाया गया जिसमे पौराणिक हिंदूधर्म समन्वित था। इसम हिंदू समाज का ढाचा बदलने का आग्रह तो था किन्तु उसकी आत्मा नहीं। टगोर, राधाकृष्णन और गाधी ने हिंदुत्व को इतना व्यापक बना दिया कि उसमे मानवता और उदार राष्ट्रीय दृष्टिकोण समाविष्ट हो गया।

धार्मिक व्यक्ति और हिन्दूधर्म—

हमारे धर्म के मानने वाले दो श्रेणियों में बट गये (१) गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए यथासंभव धर्माचरण करने वाले, और (२) भिक्षाटन, तीर्थाटन करने वाले तथा मठों, आदि में बैठकर पूजा पाठ करने वाले साधु एवं पुजारी, आदि। आजकल वैदिक कर्मकाण्ड नहीं चल पाता। उसकी जगह पर वैष्णव एवं पौराणिक कर्मकाण्ड चलते हैं। उपासना प्रायः विष्णु अथवा अवतारों की होती है क्यों कि वे भक्तवत्सल दयालु अहिंसावादी कल्याणकारी, अधम एवं अधर्मियों के नाशक धर्म संस्थापक, अवतारी पतित उद्धारक, स्रष्टा, प्रतिपालक संहारक, देवाधिदेव, अनादि अनंत, अविकारी सच्चिदानन्द, परमब्रह्म हैं। विष्णु स्वामी ने तो काया-कष्ट को निरर्थक मानकर एक मात्र नाम स्मरण को ही मोक्ष का साधन बताकर इसे सर्वसुलभ एवं सर्वप्रिय बना लिया था। इष्टदेव कहीं राम हैं कहीं कृष्ण, कहीं अकेले, कहीं युगलमूर्ति के रूप में। द्वेष किसी से नहीं। श्रद्धा तुलसी और शालिग्राम के लिये भी है। बंधन कोई भी नहीं। लोक व्यवहार और सुविधा के अनुसार जसे चाहें अराधना करें। मिलने पर पारस्परिक अभिवादन 'जै रामजी की' "जय सियाराम" 'राम राम', आदि के रूप में होता है। वृन्दावन में एक तांगे वाले को मैंने 'हटो राधे", 'बचो राधे', कह कर नारियों को रास्ते से हटाते हुए देखा सुना है। इस प्रकार एक परात्पर विश्वात्मा के अस्तित्व में हिंदुत्व को कभी भी आशंका नहीं हुई। वह संसार को सत्य तो नहीं मानता किन्तु उसकी प्रतीति को प्रबल एवं आकर्षक अवश्य मानता है। हिंदुत्व उस दिव्य सत्य के व्यक्ति स्वीकरण में आस्था रखता है और उसे आवश्यक मानता है। हिंदुत्व सम्पूर्ण सत्य और सापेक्षिक सत्य का अन्तर समझता है। हिंदू धर्म और हिंदू जाति असाधारण रूप से सहनशील है। हिन्दू सब का आदर करता है। हिन्दुत्व मायावाद कर्म सिद्धान्त और पुनर्जन्म को मानता है। वह विवाह को धार्मिक कर्त्तव्य और पति पत्नी को जन्म जन्मान्तर का साथी मानता है। हिन्दुत्व आज भी लोकतन्त्रात्मक है। उसमें सबके लिये जगह है। हम 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' को आज भी मानते हैं। भक्ति को सर्वोपरि मानते हैं। आपत्ति में भगवान की ओर देखते हैं। मन्दिर, मूर्ति, वेद शास्त्र पुराण स्मृति ज्ञान, भक्ति, माता पिता गुरु गुरुजन का आदर और उनके आज्ञापालन, शम, दम, निष्कामता तितिक्षा, योग, निवृत्ति मार्ग आध्यात्मिकता, आदि को हम अपने धर्म का महत्वपूर्ण अंग मानते हैं। उपनिषद् और दर्शन शास्त्र के ज्ञाता उच्च श्रेणी के थोड़े लोग ही हैं। सामान्य जनता में अंधविश्वास है। आधुनिक हिन्दू रीति रिवाजों में आज जो कुछ पाया है उसमें कुछ भाग वैदिक रीति

रवाजों का है कुछ योग साधना -पद्धति का है और कुछ वेदान्त दर्शन का है।[1] आधुनिक हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि में भी वैदिक, यौगिक और वेदान्त का धर्म वर्तमान है। धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है "जन साधारण धर्म अभी भी पौराणिक सनातन धर्म है, जिसके अन्तर्गत अनेक वैष्णव शैव और शाक्त सम्प्रदाय चल रहे हैं। गंगा जी का माहात्म्य, तीर्थ स्थानों का महत्व, गोरक्षा की भावना, श्राद्ध तथा धार्मिक व्रत उत्सवों का मनाना इसके मुख्य बाहरी लक्षण हैं। आस्तिकता की भावना पुनर्जन्म तथा कर्मफल में विश्वास और जन्मगत बिरादरी व्यवस्था इसके मौलिक सिद्धांत कहे जा सकते हैं।

धर्मग्रन्थों के रूप में गीता, उपनिषद, भागवत तथा तुलसीकृत रामायण का पाठ पढ़े-लिखों में होता है सर्वसाधारण में इनका स्थान सत्य नारायण की कथा और कीर्तन ने ले लिया है।'[2] अतुलचन्द्र चटर्जी ने भी रामायण और महाभारत को सामान्य हिन्दू जनता के धार्मिक आदर्शों का आधार माना है[3] तुलसीदास विशेष रूप से मान्य हैं। हमारे सारे धार्मिक अनुष्ठान पण्डित-पुरोहित ही कराते हैं। इनका एक शुभ परिणाम यह हुआ है कि हिन्दू धर्म और समाज विघटित होने से बच गया। उच्छृंखलता और मनमानी नहीं होने पाई। पूरे का पूरा साल हिन्दुत्व विधान के अनुसार व्रतों और त्योहारों से भरा है इनकी पृष्ठभूमि धार्मिक है। सबके पूजा सम्बन्धी कर्मकाण्ड हैं और विधान हैं। ये भी हमारी सांस्कृतिक चेतना के अङ्ग हैं। इन व्रतों और त्योहारों पर सभी ने कुछ न कुछ लिखा है। शायद ही कोई कवि हो जिसने बसन्त पर कुछ न लिखा हो। दीपावली अन्धकार और प्रकाश के अनन्त सौन्दर्य का प्रतीक बनकर कलाकारों की सृजनात्मक प्रतिभा को प्रेरणा देती है। होली यम द्वितीया, राखी, आदि ऐसे ही त्योहार हैं। इसी प्रकार मेले और तीर्थस्थान हैं। हम हिन्दुओं ने महान आत्माओं एवं महान साधनाओं से सम्बन्धित स्थानों को भी आदर दिया है। विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों ने अपने-अपने संस्थापकों उद्धारकों अथवा अपने-अपने सम्प्रदायों के प्रमुख व्यक्तियों से सम्बन्धित धामों को बार-बार देखने और प्रेरणा लेने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया। मूर्तिपूजा बढ़ी और मूर्तियों की प्रतिष्ठा के लिये मन्दिर बने। तीर्थ यात्राएँ होने लगीं। एतरेय ब्राह्मण और महाभारत से लेकर गांधी और विनोबा तक यात्राओं की परम्परा अखण्ड रही है। आद्य संन्यासियों से लेकर राहुल सांकृत्यायन तक ने यात्राओं का महत्व बताया और बढ़ाया

१ 'दि कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया' भाग ४ पृ ४४७-४४८

२ 'मध्यदेश-ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन' पृ० १८८

३ 'न्यू इण्डिया', पृ० २८

है। कुछ तीर्थ शिक्षा के महान केन्द्र भी हो गए हैं। अब तो आर्थिक राजनीतिक और साहित्यिक तीर्थ और भवन भी बन गए हैं। सतत जागरूक कलाकार की चेतना इस सांस्कृतिक प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं रख सकती। प्रेमचन्द की अनेक कहानियाँ, प्रसाद का 'कंकाल' नामक उपन्यास, शिव सिंह "सरोज" की "आनन्द भवन" शीर्षक कविता, सोहनलाल द्विवेदी का 'सेवाग्राम' कविता-संग्रह आदि अनेक सफल कृतियाँ इसी सांस्कृतिक मनोभूमि पर हैं। वृन्दावन का साहित्य में स्थान सूरदास के समय में था तो 'रत्नाकर' और गोपाल शरणसिंह के समय में भी है। सांस्कृतिक जागरण और राष्ट्रीयता के प्रेरणा स्रोत के रूप में 'दिनकर', आदि ने अनेक स्थानों को अपनी कविताओं का विषय बनाया है।

हम पर गलत प्रभाव ऊपर ही ऊपर पड़ा—

उपर्युक्त धर्मों और दर्शनों का हमारे ऊपर असाधारण रूप से प्रभाव पड़ा है। धार्मिकता हमारे जीवन और अस्तित्व की नस-नस में है। प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ने वाली बाहरी जीवन की कुछ बातों (और इस क्षेत्र की महत्वपूर्ण बातों) के कारण कभी-कभी यह भले ही जान पड़ता हो कि हमने धार्मिकता छोड़ दी है किन्तु वस्तुतः ऐसा कुछ है नहीं। धार्मिकता का यह परित्याग केवल कुछ ही समय और क्षेत्र के लिये और वह भी बौद्धिकता के स्तर पर होता है। सांस्कृतिक दृष्टि से तो हम आपादमस्तक धार्मिकता में रंगे हैं। धूर्जटीप्रसाद मुकर्जी ने लिखा है 'निर्णय यह निकलता है कि हम धार्मिक हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते किन्तु इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि हमारी संस्कृति पर धार्मिकता का चिप्पक-लेबिल-लगा है।"[१] यहाँ बनिये बेईमानी भी भगवान का नाम लेकर करते हैं, विपन्न एवं असमर्थों पर सपन्न और समर्थ लोगों के द्वारा होने वाले अन्याय और अत्याचार भी धर्म और भगवान का नाम लेकर ही किए जा सकते है, भगवान का नाम लिखकर परीक्षार्थी प्रश्नोत्तर लिखते हैं और बिना भगवान का नाम लिए वे "नकल" करने का भी साहस नहीं रखते। दूकानदारी का आरम्भ भगवान का नाम लेने और उनकी पूजा करने के बाद ही शुरू होता है। मैं राजनीति शास्त्र के एक ऐसे सज्जन विद्वान को जानता हूँ जिसने अपने निर्देशन में शोध कार्य करने वाले एक मेधावी छात्र का शोध प्रबन्ध साइत विचरवाकर विश्व विद्यालय में परीक्षणार्थ जमा करवाया था। भगवान की कृपा से ही परीक्षा में उत्तमोत्तम श्रेणी मिलती है, अच्छी-अच्छी नौकरियाँ मिल सकती हैं, लड़की के लिये अच्छा वर मिल सकता है, मुकदमे जीते जा सकते हैं, बीमारियाँ अच्छी की जा सकती हैं और क्रिकेट मैच जीता जा सकता है। मैंने इन्जी

---

१ माडर्न इंडियन कल्चर, पृ० ६

नियरों बरिस्टरो न्याय मूर्तियो एव विज्ञान के आचार्यों तक का अपने-अपने व्यव साया के अर्जित को एव सफलताओं को भगवान जी या हनुमान जी के 'परसाद' से अनुप्राणित, अनुप्रीति एव पुलकित करते हुए सुना है। धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है " अधिकाश नामो पर धार्मिकता की छाप (है) अपने देश पर धार्मिकता, विशेष तया पौराणिक और भक्ति-सम्प्रदायों की छाप इस बीसवी शताब्दी में भी कम नहीं हुई है ...रामप्रसाद त्रिपाठी का आर० पी० त्रिपाठी हो जाना तो केवल इतना ही जतलाता है कि त्रिपाठी जी ने धोती-चादर छोड़कर समय की आवश्यकता के अनुरूप कोट-पतलून पहिन लिया है।"[1] अस्तु, धार्मिकता हमारे कण-कण में रमी है। जितना धार्मिक सस्कार अनेक अन्य देशो के लोग जीवन भर साधन करके प्राप्त करते हैं उतना सस्कार यहा के अशिक्षित व्यक्ति को भी बहुधा पैतृक अधिकार के रूप में आपसे आप प्राप्त हो जाता है। आज के हिन्दू की यह बडी विचित्र स्थिति है कि उसका मस्तिष्क भी सक्रिय है और उसके पुराने धार्मिक एव दार्शनिक सस्कार भी सक्रिय। भगवान का नाम लेकर काय प्रारम्भ करेगा। फिर भगवान को भूलकर अजर-अमरवत् ईमानदारी-बेईमानी आदि सब उपाय लगाकर सफलता प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। सफल होना तो परसाद चढायेगा असफल होगा तो भाग्य को दोष देकर कुछ दिनों म सबकुछ भूल जायगा। मौत और असफलता को पराजित करने की कुजी हमारे हाथ से अभी गई नही है।

प्रगतिशील हिन्दुत्व और उसका प्रभाव—

आनल्ड ट्वायन्बी ने लिखा है 'मेरा विश्वास है कि पश्चिमी दृष्टिकोण-या आधुनिक दृष्टिकोण-बिना किसी विरोध के प्राचीन सभ्यताओं पर विजय प्राप्त करने जा रहा है। समवत भारत मे परम्परागत कट्टर हिन्दुत्व अन्तिम मोर्चा ले।"[2] आनल्ड साहब यहीं चूक गये। अन्तिम मोर्चा "परम्परागत कट्टर हिन्दुत्व" नहीं लेगा, प्रगतिशील उदार हिन्दुत्व लेगा। खुद तो जीतेगा मगर आधुनिक दृष्टिकोण को हारने न देगा। समन्वय होगा। जस चाद अधेरे मे चमकता है वसे हिन्दुत्व प्रलय की घड़ियों म निखरता एव प्रदीप्त होता है। राष्ट्रवाद की भूमिका मे हिन्दुत्व ने जिस सफाई और सफलता के साथ अपना रूप और प्रभाव बदला है वह दर्शनीय है। उसकी बन्दूक का रुख किसी ओर और होता है गोली कहीं और लगती है और पूरा हो जाता है अदृश्य लक्ष्य। स्वामी दयानन्द प्रचलित हिन्दू धर्म का सुधार करना चाहते थे उपदेश दिया उन्होंने वेदों की ओर लौटने का और आर्यसमाज-मन्दिरों से स्वतन्त्रता

१ विचारधारा",

२ दि एशिया मगजीन', २६ अप्रैल १९६२ वाला अक।

के प्रदीप्त प्रकाश को पान व लिये निकल सार्को नाम। मदेशा-बन्न करने वाल कण्ठों से उद्भूत वेद-मंत्रा की स्वर-लहरी शांति की अमरता का सबल पोष, बता-लिक का स्वर एवं सगो का वसवज निनाद बन गई। वह नहीं कहते कि स्वामी दयानन्द ने यह सपना देखा था या नहीं किन्तु विवेकानन्द का अधिक वाक्य ... वन राष्ट्रवादियों के त्याग-बलिदान-फांसी की ज्वाला नी लाल लपटों को अपने अन्दर जरूर छिपाये था। धम राष्ट्रीयता के अभियान-रथ की प्रेरणा बना। कारण-सूत्र सरल है। धर्म या दर्शन का लक्ष्य है आत्मकल्याण या आत्मस्वरूप की प्राप्ति और यह परतन्त्रता में सम्भव नहीं। इस दृष्टि से राजनीतिक परतन्त्रता सबसे अधिक भयानक है। इसीलिए कर्मयोगी महात्मा स्वतन्त्रता भी सत्ता का अभिभावक हो गया। इस प्रकार धम और राजनीति एक ही सूत्र के दो छोर बन जाते हैं। पराधीन भारत की दो बीमारियाँ बड़ी भयानक थीं —छुआछूत और फिरका परस्ती ये आज़ादी की प्राप्ति म बाधक थी। ध्यान से देखें तो दर्शन लिये धम मे भी कोई आन्तरिक स्थान नहीं हो सकता। मोतीलाल नेहरू का यह कथन इस दृष्टि से बड़ा ही महत्वपूर्ण है "एक सच्चा हिन्दू छुआछूत और फिरका-परस्ती को नहीं मानता।"[1] चूंकि धम और राजनीति दो पृथक तत्व नहीं हैं इसलिये दोनों का उदय एक ही मानस के अन्दर और साथ ही साथ हो सकता है। अरविन्द का यह कथन इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है 'मेरे तीन पागलपन हैं। पहला पागलपन यह है कि मेरा दृढविश्वास है कि भगवान ने जो गुण, जो प्रतिभा, जो उच्च शिक्षा और विद्या जो धन दिया है, वह सब भगवान का है। जो कुछ भरण-पोषण मे लगता है और जो नितान्त आवश्यक है उसी को अपने लिये खर्च करने का अधिकार है। उसके बाद जो-कुछ बाकी रह जाता है उसे भगवान को लौटा देना उचित है। यदि मैं सब-कुछ अपने लिये, सुख के लिये, विलास के लिये खर्च करूं तो मैं चोर कहलाऊंगा ... दूसरा पागलपन हाल म ही सवार हुआ है। पागलपन यह है कि चाहे जैसे हो, भगवान का साक्षात् दर्शन प्राप्त करना ही होगा ... तीसरा पागलपन यह है कि अन्य लोग स्वदेश को जड़ पदार्थ कुछ मैदान खेत वन पर्वत, नदी भर जानते हैं मैं स्वदेश को मां जानता हूं भक्ति करता हूं पूजा करता हूं ... मैं जानता हूं कि इस पतित जाति का उद्धार करने का बल मेरे अन्दर है ...'[2] इससे धम-दर्शन से प्रेरणा लेकर हमारे देशभक्त उपेक्षा की उपेक्षा कर सके, कठिनाइयों म भी मुस्करा सके आत्मविश्वासी और साहसी बन सकें अकेले म भी घबड़ाये नहीं, धोखेबाजों और दगाबाजों के कारण वे पस्त नहीं

१ मोतीलाल नेहरू जन्मशताब्दी स्मृति ग्रंथ, पृ २०३।

२ अदिति 'अरविन्द विशेषांक, १९५१ ई०

हुए, किसी से डरे नहीं बलिदानी—कष्ट-सहिष्णु—असीम विश्वासी, और अद्भुत—दृढचित्त वाले बन सके और उनकी साधना आत्म-समर्पण योग—रूप पा सकी। शचीन्द्रनाथ सान्याल ने लिखा है 'भारत की छाती पर जो यह महान आन्दोलन हो चुका और हो रहा है यह उन्हीं (भगवान) की इच्छा से हुआ और हो रहा है हम लोगों का यही विश्वास है।'[१]

आधुनिक हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में—

इस प्रकार के धर्म और दर्शन की पृष्ठभूमि में हमारी जनता का एक विशिष्ट मानस विनिर्मित हुआ और ऐसे विशिष्ट मानसवाली जनता के कुछ सच्चे प्रतिनिधियों ने आधुनिक हिन्दी साहित्य का निर्माण किया है।

इस प्रकार इस आधुनिक धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण के समन्वित स्वरूप की नींव पर हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य प्रणीत हुआ। इन साहित्यिकों में से अधिकांश असाधारण प्रतिभा से संपन्न नहीं थे न उनके पास बहुत सी सम्पत्ति या अतुल वैभव था, सुशिक्षित वर्ग ने उनका उत्साहवर्द्धन भी नहीं किया और न वे ऋषि मुनि थे। वे समाज के साधारण प्राणी थे। अधिकांश गरीब थे। फिर भी आतंकवादी क्रान्तिकारियों की भांति उन्होंने त्याग बलिदान किया। भाग्य परिस्थितियों की विरक्तियों और प्रतिकूलताओं को, अन्यायों और अत्याचारों की विषमताएं बर्दाश्त कीं। खून और पसीने से पत्नी और बच्चों की दलित आशाओं, उमंगों और इच्छाओं से आहों और कराहों से अपनी खीजों और कुण्ठाओं से एक गौरवपूर्ण साहित्य का प्रणयन किया। 'निराला' ने सब कुछ 'स्वाहा' कर दिया, पंत और महादेवी ने एकाकी जीवन बिताया प्रेमचन्द ने फाके किये, रामचन्द्र शुक्ल टूटे इक्के पर चढ़े श्यामसुन्दर दास बीमारियों में जूझे, महावीर प्रसाद द्विवेदी ने दो ढाई सौ की नौकरी छोड़कर तीस पर गुजारा किया और अन्त में आंख की ज्योति खो बैठे, 'बच्चन' ने झालरापाटन के महाराज का राजकवि होना छोड़कर सहगल की डांट फटकार और अनीतियां सहीं। जैसे भारत देश माता हो गया था बस हो हिन्दी भी माता हो गई। सेवा की लगन थी, निर्माण का उत्साह था। यदि प्रश्न किया जाय कि इन सब को ऐसा असाधारण मनोबल कहां से मिला तो इसका एक मात्र उत्तर होगा हमारे धर्म से, दर्शन से हमारे सांस्कृतिक साहित्य से। उसने इनको मनोबल भी दिया और लिखने के लिये विषय भी दिये और हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य भी आस्था, विश्वास और जीवन के महत्वपूर्ण मूल्यों का साहित्य हो गया। उसका आधार चतुर्दिक्‌व्याप्त विभिन्न वातावरण, तदनुरूप वम सनातन विश्वास

१ 'बंदीजीवन', भाग १, पृ १०।

नव आदर्शों के प्रति जागरुकता, मानवता का शाश्वत रूप और राष्ट्र प्रेम अधिक है। इनका मूल स्रोत है विभिन्न धर्मों और दर्शनों का समन्वित स्वरूप। गुलाबराय ने लिखा है,[1] "हमारे कवियों ने अधिकांश में भारतीय विचारधारा का आश्रय लिया है किन्तु वर्तमान भारत पूर्व और पश्चिम के विचारों का मिलन बिन्दु रहा है। योरोप के कुछ विचार तो भारतीय परम्परा से मेल खाते थे और उन्होंने उनको पुष्ट भी किया और कुछ स्वतन्त्र तेल और पानी की तरह अलग रहे। प्राचीन परम्पराओं में तो शांकरवेदान्त और वैष्णव भक्तिमूलक द्वैतता अथवा अद्वैतता का समन्वय रहा। वैष्णव सम्प्रदायों में वल्लभाचार्य और रामानुजाचार्य का प्रभाव अधिक रहा है। शैव आगम यद्यपि कम पढ़े गये तथापि काशी में उनका भी प्रभाव रहा। राष्ट्रीय भावना ने बौद्धधर्म को कुछ अधिक पोषण दिया। कुछ तो बौद्धधर्म का दुःखवाद तत्कालीन परिस्थितियों से उत्पन्न निराशावाद से अधिक मेल खाता था और बौद्धधर्म के नाते चीन, जापान और एशियाई देशों से हमारा घनिष्ट संबंध स्थापित हो जाने की सम्भावना हो जाती है। धार्मिक क्षेत्र में अद्वैतवाद की पुष्टि करने वालों में रामकृष्ण परमहंस अरविन्द घोष स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ मुख्य हैं। ब्रह्मसमाज ने भी उपनिषदों की अद्वैत विचारधारा को अग्रसर किया। स्वामी दयानन्द ने द्वैतवाद क्या त्रैतवाद का समर्थन किया। उन्होंने ईश्वर जीव और प्रकृति तीनों को स्वतन्त्र माना। इन देशी प्रभावों के अतिरिक्त हेगिल का आध्यात्मिक सर्वात्मवाद और मार्क्स का भौतिक द्वन्द्वात्मक तर्कवाद हमारे शिक्षित युवक मन को आकर्षित करता रहा है। शमशेर बहादुर सिंह का कथन है, अस्तु उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित धर्म संबंधी बहुत से नये दृष्टिकोण मैथिलीशरण जी के समय तक हिन्दू के संस्कार में घुलमिल गये थे। — हिंदुओं में चारों ओर 'वैदिक युग' और "आर्यसभ्यता' की गूंज सुनाई पड़ती थी। बहुत कुछ मनुस्मृति का सनातनी पक्ष भी लिये हुए एक प्रगतिशील समन्वय के रूप में 'भारतभारती' उसी की प्रतिध्वनि है।[2] कमलाकान्त पाठक ने 'मैथिली शरण—व्यक्ति और काव्य' में लिखा है, "गुप्त जी विशिष्टाद्वैतवादी हैं पर यह भी सत्य है कि उनके काव्य का वर्ण्य विषय जीवन की कर्मण्यता है, उत्थान चेष्टा है भक्ति और वैराग्य की निवृत्ति मूलक भावना नहीं।[3] तात्विक दृष्टि से वे उदार वैष्णव भक्त हैं। रामानुज का

१ 'अध्ययन और आस्वाद' पृ० २५६–२६०।

२ दो आब पृ० १८।

३ मैथिलीशरण—व्यक्ति और काव्य पृ० ७६।

विशिष्टाद्वैत उनमे हैं। वे जीव और ब्रह्म की स्थिति को कुछ अंशो मे निश्चय ही पृथक मानते हैं। राम ब्रह्म हैं, सीता माया। परमात्मा लीलाधाम है। भक्तवत्सल है। वे बंधनो मे ही मर्यादा देखते हैं। दासोऽहं ही सोऽहं है।

उन पर भारतीय चिंतन, रामकृष्ण और विवेकानन्द की सांस्कृतिक जागृति, और उनके मानवतावादी मूल्यो, धार्मिक और सांस्कृतिक एकता की भावना, तिलक की राष्ट्रीयता, मिल और स्पेंसर की लोकसत्ता और सामाजिक समता की भावनाएँ, अरविन्द घोष के अध्यात्मवादमूलक क्रान्ति पूर्ण राष्ट्रवाद, विज्ञानमयी सभ्यता के बुद्धिवाद मानवतावाद आदर्शों, नारी के प्रति प्राच्य उदात्त भाव काम्टे के उपयोगितावाद, टालस्टाय के मानवतावाद, वैष्णववाद की 'सर्वभूतहिते रता' की भावना, बुद्ध की करुणा–मैत्री और रामायण तथा महाभारत आदि का प्रभाव देखा जा सकता है। इसी प्रकार 'हरिऔध" म भारतीय धार्मिक विश्वासो और दार्शनिक मान्यताओं के सुदर स्वरूप मिलते हैं। ब्रह्म की एकता एव व्यापकता (अद्वैतवाद या अभेदवाद), ब्रह्म का विश्वरूप होना जीव को कर्मानुसार गति–प्राप्ति ससार की परिवर्तनशीलता, नैतिक व्यवस्था अज्ञान या अविद्या को बंधन का कारण समझना श्रेय के साधन के रूप मे निष्काम कर्म, लोकसेवा, सात्विक जीवन, उच्च विचार, आत्मोत्सर्ग, विश्व बंधुत्व, परोपकार निष्कामभक्ति, निःस्वार्थ सेवा, कर्त्तव्यपरायणता, आत्मसाक्षात्कार को या लोकहित को जीवन के चरम लक्ष्य के रूप म मानना आदि मिलता है। इस भावना के कारण राधा का प्रेम विश्वप्रेम म बदल जाता है इनमें से कुछ तो शुद्ध भारतीय दर्शन और चिन्तन की बातें हैं, जैसे जीव की कर्मानुसार गति, आदि और कुछ विदेशी होने पर भी अपनी धारणा के अनुरूप होने के कारण अपना ली गई हैं, जैसे लोकहित" आदि। रहस्यवाद म जो प्रवृत्तियां हैं उन सबके मूल रूप हम उपनिषदोंकी विचारधारा म प्राप्य हैं। प्रसाद और महादेवी म प्रणय–प्रधान–रहस्यवाद है। मैथिलीशरण गुप्त मे भक्तिपरक सगुण रहस्यवाद की झांकियां मिल जाती हैं। रामकुमार वर्मा म वेदान्त की पृष्ठभूमि पर ज्ञानमूलक रहस्यवाद मिलता है। निराला म शुद्ध दार्शनिक रहस्यवाद है। वे विशुद्ध अद्वैतवादी हैं। वे मायावाद की ओर अधिक झुके हैं। नन्द दुलारे वाजपेयी न लिखा है, "प्रसाद जी ने शैवागम मे हो इस सर्ववाद–मूलक आनन्दवाद का ग्रहण किया।[१] वे शैव अद्वैतवाद से प्रभावित हैं अर्थात् यह कि 'एव सत्ता पुरितानन्द रूप पूर्णो व्यापी वर्तते नास्ति किंचित्' (शिवसंहिता)। अस्तु प्रसाद का आनन्दवाद (शैव दर्शन से) समरसता (शैव दर्शन से), श्रद्धा (सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति का प्राण), इडा या कामपुत्री (वेद–भारतीय साहित्य से), भूमा

---

१ आधुनिक साहित्य पृ ६४

(उपनिषद् से), आदि भारतीय दर्शन की देन हैं। नाटकों में बौद्ध दर्शन और अन्य कविताओं में वेदान्त के तत्व हैं। गीता का 'श्रद्धावांल्लभते ज्ञान' कामायनी में चरितार्थ है। कामायनी' में परमाणु वाद या मार्क्सवाद, आदि के भी प्रभावों की छाया है। योग दर्शन तो है ही। पन्त जी ने अपने को अरविन्द के जीवन–दर्शन से प्रभावित भी माना है[1] और लिखा है, श्री अरविन्द के सम्पर्क से मेरा मानसिक क्षितिज व्यापक, गहन तथा सूक्ष्म बन सका ऐसा मेरा अनुभव है।[2] पन्त के ऊपर उपनिषद अद्वैतवाद, मार्क्सवाद विवेकानन्द, अरविन्द और गांधी का प्रभाव है। पन्त ने लिखा है "... अनेकानेक प्रकार की धार्मिक, नैतिक दार्शनिक, सामाजिक जिज्ञासाएँ प्रखर प्रश्नों का रूप धारण करके मेरे मन को तीक्ष्ण तीरों की तरह वेधा करती और अपने हृदय के अज्ञात घावों में मरहम लगाने के अभिप्राय से मैं अनेक प्रकार के ग्रंथों–उपनिषद गीता रामायण रामकृष्ण वचनामृत, विवेकानन्द रामतीर्थ पातंजलि योगवाशिष्ठ रस्किन, टालस्टाय, कार्लाइल थोरो इमरसन आदि अनेक विचारकों का गम्भीर ध्यानपूर्वक पारायण करने लगा।[3] मुझे स्मरण है जब दर्शन ग्रंथों, टालस्टाय की पापपुण्य की धारणाओं तथा शङ्कर भाष्य भर्तृहरि आदि के जीवन–निषेध भरे निर्मम प्रभावों से मेरा हृदय हिमशिलाखंड की तरह जमकर कठोर विषण्ण तथा रसशून्य हो गया था और मुझे अनिद्रा रोग रहने लगा था तब बाइबिल की सहज प्रेमसिक्त जीवन मधुर अन्तर्दृष्टि भरी सूक्तियों से मुझे बड़ी सान्त्वना तथा शान्ति मिलती थी।[4] ~किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद जो पश्चिमी आदर्शवादी विचारधारा को आघात लगा तथा रूसी क्रान्ति के फलस्वरूप जिस नवीन सामाजिक यथार्थ की धारणा की ओर धीरे–धीरे ध्यान आकर्षित होने लगा और साथ ही वैज्ञानिक युग ने हमारे मध्ययुगीन निषेधात्मक दृष्टिकोण के विरोध में जिस नवीन भावात्मक दर्शन (फिलासफी आफ पाजिटिविज्म, को जन्म दिया उस सब की सम्मिलित प्रतिक्रिया स्वरूप विश्व जीवन तथा मानव जीवन के प्रति मेरी आस्था तथा आशा बढ़ती गई[5] मेरे कवि–हृदय को नवयुग मंगल के लिये एक सर्वाङ्गपूर्ण रससिद्ध चैतन्य की खोज थी।[6] कहने को तो यह एक व्यक्ति की कहानी है किन्तु वस्तुतः यह सम्पूर्ण आधुनिक हिन्दी साहित्य की धार्मिक–दार्शनिक

१ 'उत्तरा, पृ १६
२ "साठ वर्ष—एक रेखांकन", पृष्ठ ३६
३ "साठ वर्ष–एक रेखांकन, प ३६
४ वही पृ ३६
५ वही पृ ४८—४८
६ वही प ५२

पृष्ठभूमि की महा झांकी प्रस्तुत करती है। पन्त जी सारे सौर मंडल को एक ही चित् शक्ति का प्रकाश और प्रसार मानते हैं। फिर भी कभी-कभी इनमे अद्वैतता की ओर झुकाव अधिक दिखाई पड़ता है। उनके अनुसार मूल सत्य शुद्ध चैतन्य है। वे स्थिर सत्ता और उसकी चेतनाशक्ति अर्थात् शिव और शक्ति को मानते हैं। वे अचल से गति का उदय मानते हैं। उनके अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि या परिवर्तन आत्माभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अरविन्द के समान वे भी मानते हैं कि पदार्थ से प्राण, प्राण से मन, मन से अति मन, और वहा से सच्चिदानन्द की प्राप्ति जगत के प्राण का आरोहण है और इसके विपरीत गति अवरोहण है।

उनके अन्दर मानव और प्रकृति का तादात्म्य भी मिलता है। माया सच्चिदानन्द की सृजनात्मिका शक्ति है। जग को वे अनित्य मानते हैं ("अनित्य जग" कविता)। "एकतारा" और 'नौका विहार' पर उपनिषदों के अध्ययन का प्रभाव देखा जा सकता है। 'एकोऽहं बहु स्याम' का सकेत है। उनमें कोरे अध्यात्मवाद का भी खंडन है और कोरे भौतिकवाद का भी। वहा अध्यात्मवाद और भूतवाद में गाधी और मार्क्स में समन्वय है। 'गुंजन' में आध्यात्मिकता का निखार और परिमार्जन है। 'पल्लव' में दार्शनिक स्थाने (भारतीय दार्शनिक धारणाओं संबधी) है। 'वीणा' में प्रकृति के प्रति और आत्मा के प्रति मोह है। महादेवी वर्मा ने स्वीकार किया है कि बचपन में ही भगवान बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनके दर्शन से उनका परिचय हो गया था। उनके दु:खवाद में वेदान्त अद्वैतवाद और सर्वात्मवाद एवं बौद्ध दर्शन का अद्भुत समन्वय है। इतने पर भी वह बौद्धिकस्तर पर ही है। निराला की दार्शनिक चिंतन पद्धति पर विवेकानन्द का प्रभाव है। वे शंकर के अद्वैतवाद के समर्थक होकर भी व्यावहारिक दृष्टि से जगत का मिथ्यात्व नहीं स्वीकार करते। प्रसाद में भारतीय दर्शन का स्वर अधिक मुखरित है। रामकुमार वर्मा के काव्य का भारतीय स्वरूप उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार देखा जा सकता है "आलिंगन की उष्णता और चुम्बन की मादकता भरे रीति कालीन साहित्य की रंगशाला में मेरा काव्य तपस्वी की भांति बैठा रहा — अपने अन्तःकरण का सहज वस्त्र धारणकर मेरा काव्य ज्योति का आह्वान ही करता रहा

मैं जब कभी आत्मविश्लेषण करने बैठता हूं तो यही ज्ञात होता है कि सम्भवत इसी पवित्र अनुभूति में मेरे काव्य में रहस्यवाद की प्रेरणाएं जाग उठी होंगी लेकिन अपने पवित्र क्षणों— सभवतः कबीर के काव्य के प्रभाव में धीरे धीरे अनजाने ही दार्शनिक हो चला था।"[१]

१ "अनुशीलन", पृ० १६३-१६५।

वस्तुत जिन प्रभावों ने गांधीवाद को जन्म दिया उन्हीं ने छायावाद को भी जन्म दिया है। इनका मूल दर्शन एक ही है —यानी भारतीय दर्शन का सर्वात्मवाद। दिनकर' ने लिखा है, 'राममोहन राय, विवेकानन्द, तिलक और गांधी के समान हम छायावाद कालीन कवियों में भी वेद और उपनिषद के कुछ सनातन सत्यों को पूर्णरूप से जीवित पाते हैं यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति के लिये ये कवि पाश्चात्य शैलियों की ओर बड़े ही ममत्व से देख रहे थे।[1] पन्त ने भी छायावाद को भारतीय जागरण की चेतना के सर्वात्म मूलक कशोर समारम्भ से उत्पन्न एक विशिष्ट भावात्मक दृष्टिकोण की अभिव्यंजना के रूप में ही सफल माना है।[2] छायावाद में संसार भगवान का विराट है। उनमें हमें पूर्ण एकता है। हम इस ससीम में उस असीम को ही देखते हैं। आज के साहित्य की जो प्रवृत्ति और रुचि है उसका कारण है अंगरेजों की भौतिकता प्रधान विचारधारा और हमारी विचारधारा का मंथन। नहीं तो महादेवी के विचारों के अनुसार जागरण के प्रथम चरण में हमारी राष्ट्रीयता ने अपनी व्यापकता के लिये जिस अध्यात्म का आह्वान किया काव्य ने सौन्दर्य काया में उसी की प्राणप्रतिष्ठा कर दी।[3] नन्ददुलारे बाजपेयी का विचार है कि छायावादी कवियों ने अपने दर्शन के निर्माण में भारतीय दर्शन और जीवन की समृद्धि परम्परा का ही उपयोग किया है।[4] इसी प्रकार उन्होंने लिखा है 'छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की नवीन परिस्थिति के अनुरूप स्थापना करता है आधुनिक छायावादी काव्य किसी क्रमागत अध्यात्म पद्धति को लेकर नहीं चलता[5]। उपनिषदों के ब्रह्म अतीन्द्रिय जीवन, अद्भुत सम्भावना समागम की समरसता और आनन्द भाव में लिपटी हुई बौद्धिक करुणा आध्यात्मिक सौंदर्य सर्वात्मवाद अभेद द्वैत अध्यात्मवाद आदि की संयमशील साहित्यिक अभिव्यक्तियां ही छायावाद हैं। छायावाद का सांस्कृतिक पक्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण है। छायावाद तो प्रकृति का चेतन आधार लेकर चला ही है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने लिखा है, आधुनिक युग में सत्य की परीक्षा आरम्भ होने पर लोग अपने अन्तजगत की यथार्थ परीक्षा करने के लिये उद्यत हुए तब उन्होंने वहां एक अतीन्द्रिय जगत का आभास

---

१ काव्य की भूमिका', पृ० ७४।
२ 'चिदम्बरा, भूमिका।
३ साहित्यकार की आस्था', पृ० ४७।
४ हिन्दी अनुशीलन' —धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, पृ० ५२७।
५ आधुनिक साहित्य', पृ० ३१६–३२०–३२३।

गया • इस रहस्यमय जीवन को प्रकट करने के लिये हिंदी मे वस्तुवाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया आरम्भ हुई वह कवियों की रचनाओ मे छायावाद के नाम से प्रकट हुई।[1] चतुरसेन शास्त्री ने लिखा है, 'उपनिषदो के अचिन्त्य, अदृष्ट ब्रह्म तत्व की इस शैली म चित्रमयी भाषा मे रूपकल्पना की गई है। इसी परम्परा मे विविध आध्यात्मिक अभिव्यंजनाएँ छायावाद के रूप म अवतरित की गई।[2] नि श्चित रूप स किन्तु अपेक्षित यह आधुनिक काल के धर्म और दर्शन का प्रभाव है। 'प्रसाद और पंत आदि मे, सर्वात्मवाद है। छायावाद को आध्यात्मिक न मानते हुए डा० नगेन्द्र ने छायावाद पर पड़े हुए प्रभावों का विश्लेषण इस रूप म किया है 'हाँ, इसमे सन्देह नही कि छायावाद के कवियों की चेतना में नैतिक और आध्यात्मिक प्रभावो क कारण एक विशेष परिष्कार आरम्भ से ही था आरम्भ स ही उन्होने सूक्ष्म आंतरिक मूल्यों को ही महत्व दिया था। और फिर बाद में तो 'प्रसाद' तथा महादेवी न भारतीय अध्यात्म दर्शन के सहारे और पंत ने देश विदेश के विभिन्न दर्शनों क आधार पर अपनी चेतना को और भी परिशुद्ध एव सस्कृत कर लिया।[3] व छायावाद को एक बौद्धिक युग की सृष्टि मानते हैं।[4] प्रगतिवाद अपने वर्तमान रूप म यूरोपीय धर्म दर्शन स उद्भूत हुआ है। भारत म आकर भी उसका रूप अभी मार्क्सवादी दर्शन का है। प्राचीन विचारो के ही परिणामस्वरूप व्यक्ति का महत्व कम और समाज का अधिक हो गया है। इधर पश्चिम के व्यक्तिवाद के परिणाम स्वरूप वैयक्तिक जीवन की अभिव्यक्तियो की भी प्रधानता हुई। प्रगतिवादियों क लिये भौतिक वास्तविकता ने सत्य का भौतिक वस्तुओ की वृद्धि ने शिव का और स्वाभाविकता न सुन्दर का रूप धारण कर लिया। नगेन्द्र न लिखा है फ्रायड ने दमन और गोपन का पर्दा फाड़कर उसकी तह म छिपी हुई कुण्ठाओ का प्रदर्शन किया। अतएव प्रगतिवादी स्वस्थ मानव प्रवृत्तियों को जिनम मुख्य क्षुधा और काम हैं, प्रकृत रूप म व्यक्त करने म नही घबराता।[5] अस्तु, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, साम्यवाद, फ्रायड डार्विन मार्क्स आदि क तत्वो से प्रगतिवाद बना। भौतिकवाद मूलत मार्क्स दर्शन स ही प्रभावित है। नगेन्द्र न प्रयोगवाद की दुरूहता के जो कारण बताये हैं जैसे भावतत्व और काव्यानुभूति क बीच बुद्धिगत सम्बन्ध, साधारणीकरण का त्याग उपचेतन मन क अनुभव-खण्डो क यथावत चित्रण का आग्रह, काव्य के उपकरणों

१ मेरी अपनी कथा, पृ ११३
२ "हिन्दी साहित्य का परिचय' पृ० १५२।
३ "आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य की प्रवृत्तियाँ', पृ० १३।
४ "वही पृ० १४।
५

नैतिक और आत्मिक उत्थान सम्बन्धी आन्दोलन

नीति की आधारशिला—

इस अध्याय को एक प्रकार से दार्शनिक और धार्मिक पृष्ठभूमि का पूरक ही समझना चाहिए। बात यह है कि हमारे भारत में दर्शन, धर्म, नीति और आत्मोत्थान परस्पर एक दूसरे से इस प्रकार घुल-मिल है कि प्रत्येक जीवन में उनका एक दूसरे से सर्वथा निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र अस्तित्व संभव नहीं है। समग्रता में ही उनकी सार्थकता एवं उपयोगिता हृदयगम की जा सकती है। दार्शनिक विवेचन पदार्थों अर्थात् अस्तित्व के विभिन्न तत्वों के विभिन्न पक्षों रूपों एवं उनके आपेक्षिक सम्बन्धों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन एवं विश्लेषण करके उन्हें स्पष्ट गोचर करके धर्म का एक स्वरूप निश्चित करता है। हम यह जान जाते हैं कि वह कौन-सा तत्व है जो हम धारण किये है। उसी को धारण करके अर्थात् उसी के अनुरूप जीवन बिताकर हम धर्म की व्यावहारिक अथवा जीवन सम्बन्धी रूपरेखा निश्चित करते हैं। जीवन के विभिन्न रूपों एवं उसके विभिन्न क्रिया-कलापों को इस रूप में अग्रसर करना या ले चलना कि यह धर्म के मूल रूप या तत्व के विपरीत न पड़ जाय उसको काटने, उस पर आघात करने न लग जाय, नीति है। इस प्रकार नीति धर्म से सम्बन्धित हो गई और धर्म सम्बन्धित है दर्शन से। रही आत्मा की बात तो वह एक ओर दर्शन की चीज है और इस प्रकार धर्म की भी चीज है और दूसरी ओर उसका सम्बन्ध नीति से है। भारतीय धर्म दर्शन के अनुसार आत्मा परमात्मा का ही एक अंश है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिन गुणों का आरोप परमात्मा में है वे गुण यदि पूर्ण रूप में नहीं तो अंशरूप में, जीव में अवश्य हो अर्थात् आत्मा में प्रत्यक्ष हों। प्रश्न यह है कि आत्मा में ये गुण हैं या नहीं इसका पता कैसे लगे। तो, यदि सूक्ष्म, अमूर्त, निराकार आत्मा में ये गुण होंगे तो इसका पता उस आत्म-प्रकाश से प्रदीप्त-प्रोज्ज्वल बुद्धि द्वारा प्रेरित और इन्द्रियों द्वारा सम्पादित कार्य कलाप से चल सकेगा। सूक्ष्म की अभिव्यक्ति सदैव स्थूल द्वारा होती है। इस प्रकार हमारे कार्यों और विचारों से निश्चित होने वाला रूप-गुण और दृष्टिकोण-ही हमारी आत्मा का स्वरूप है। हमारी आत्मा का स्वरूप वह है जो हमारे पूर्णरूप परम आत्मा का है। परम आत्मा का गुण या स्वरूप क्या है? वह सत् रूप है चित् रूप है और आनन्द रूप है। गांधी जी कहते थे कि परमात्मा सत्य है इसके बजाय यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि सत्य ही परमात्मा है।[1] इसलिये आत्मिक उत्थान का रूप हुआ सत् रूप या सत्य रूप होना अर्थात्

---

१ अखिल भारतीय आकाशवाणी से शुक्रवार को प्रसारित गांधी सूक्तियों में से एक।

असत् से बचना। यही नीति की भी आधारशिला है। परमात्मा रचनात्मक या सृजनात्मक है। हमारे यहा विनाश या मृत्यु तत्व नही है। अक्षमता, अयोग्यता, एव अशक्ति के क्षमता, योग्यता एव शक्ति मे परिवर्तन की एव जर्जर प्राचीन के सस्फूर्त नवीन मे परिवर्तन की प्रथम प्रक्रिया ही मृत्यु है। मृत्यु का सत् जन्म की पृष्ठभूमि में है। तो परमात्म पूर्णरूपेण विधायक हुआ, रचने वाला हुआ और इसीलिये जीव को भी रचनात्मक होना चाहिये। मतलब यह कि परम आत्मा हिंसावृत्ति का नही है और इसलिए जिसकी आत्मा का उत्थान हो चुका है वह पूर्ण अहिंसक ही होगा और क्रुद्ध हो ही नही सकता। परमात्मा अद्वैत है, अभेद है। तो आत्मा का वास्तविक रूप अभेद वाला हुआ। वह अपने मे सबको और सब मे अपने को देखेगा। जब ऐसा होगा तो किसी से भी वैर, हिंसा प्रतिस्पर्द्धा, घृणा की हो नही जा सकती। तब तो यदि कोई अशुभ एव अवाछित करता है तो दोष आवरण का हुआ, मूल तत्व का नहीं, और इसलिये वैर अपराधी से नहीं, अपराध से बनेगा। इससे यह निकलता है कि वहा आत्मा खरीदार मे है और वही बेचने वाले मे और इसीलिये डाडी मारना बेईमानी करना परमात्मा के साथ किया गया अपराध हुआ। परम आत्मा सूक्ष्म तत्व है तो आत्मा सूक्ष्म तत्व हुआ। स्थूल सब का सब तत्व हीन है। लक्ष्य है आत्मा का इतना स्वच्छ दर्पण बना लेना कि परमात्मा उसमे सही और स्पष्टतम रूप से प्रतिबिम्बित हो सके। जब वास्तविक यह है तो फिर तमाम चालबाजियां और बेईमानियां करके उपर्युक्त नपस्तित्व प्रापाधत्व, मन्त्रित्व राज्यपालत्व आदि ले लेने से क्या बनेगा! अस्तु इस एक बात की अनुभूति कर लेने से जो होता है वह है आत्मिक उत्थान और जो निकलती है वह नीति। इस प्रकार नीति का उत्थान आत्मा के उत्थान से मूलत पृथक नही सिद्ध होता।

नैतिकता और सस्कृति—

स्पष्ट हुआ कि नीति–निर्माण और आत्मस्वरूप की कल्पना में अपने धर्म और अपनी सस्कृति से बडी सहायता मिलती है बल्कि यों कहें कि ये ही एकमात्र साधन हैं। भीतर है तो आत्मा है, बाहर से सम्बन्धित है तो नीति है। अपने समाज की प्रकृति और प्रगति के अनुसार इनमे परिशोधन एव परिवर्तन हुआ करता है। दोनो जब हाथ में हाथ डालकर चलते हैं एक दूसरे का साथ लेकर एव एक दूसरे का साथ देकर चलते हैं तो समतोल–सन्तुलन बना रहता है और विकास, उत्थान तथा कल्याण होता है। हमारे समाज के अन्दर कोई नई बात पैदा हुई हमने अपने को और अपनो को उसके अनुसार बदला, नई नीति बनी और यह क्रम चला। यह विकास का क्रम है। इसमे झटके नहीं लगते। नीचे की चीज ऊपर या ऊपर की चीज

नीचे नहीं हो जाती। नैतिक सन्तुलन बना रहता है। आत्मा पतनोन्मुखी नहीं होती। जब कोई चीज ऊपर से थोपी जाती है बलात् लादी जाती है, तो नैतिक प्रलय उत्पन्न हो जाती है। आत्म-विस्मरण हो जाता है। दूसरी बात यह है कि सवारियों का मोड समकोण नहीं जानता। गति की दिशा का परिवर्तन आधा-तिहाई वृत्त बनाकर ही होता है। तेज चलती हुई साइकिल को एकबारगी यदि मोडा जाय तो पहिया चकरा जाता है। यदि किसी जाति या समाज की गति-प्रकृति-को रात भर मे बदलने की कोशिश की जाती है तो उस समाज या जाति का सन्तुलन बिगड जाता है। एक विचित्र उलझन भरी परिस्थिति पैदा हो जाती है। आदमी बाह्य परिस्थितियों में इतना उलझ जाता है कि भीतर का आत्मन विस्मृत-उपेक्षित मृतप्राय हो जाता है। नई परिस्थिति तत्काल ही नई आस्था एवं नई नीति का निर्माण कर नहीं पाती और न वह समाज मे सबको स्वीकार्य होती है। नई परिस्थिति की माग प्राचीन के अनुरूप या अनुकूल होती नहीं। आदमी सुख और सुविधा चाहता है और नई परिस्थिति मे वह सब बडे ही टेढे ढङ्ग से मिलता है। यह टेढा ढङ्ग अनीति और अधम वाला हुआ करता है। अपनी मान्यताओं के उल्टे हुआ करता है। इन सबका परिणाम होता है अनैतिकता की वृद्धि, अनात्म भाव, जड दृष्टि स्थूल मनोवृत्ति एवं आत्मा का पतन। एक बार जब यह चल पडता है तो इसे रोककर अभीप्सित वृत्ति के अनुकूल वातावरण की सर्जना के लिए अनेक आन्दोलन चलाने पडते हैं एवं अनेक महात्माओं की बलि देनी पडती है। उन्नीसवी और बीसवीं शती मे भारत में यही हुआ।

हमारी नैतिकता की जडें एवं आपत्तिकालीन नैतिकता—

सांस्कृतिक दृष्टि से देखने पर हमारे नैतिक और आत्मिक पतन की जडें बहुत गहराई में कई-कई शताब्दियो पीछे की परिस्थितियों मे हैं। पीछे कहा जा चुका है कि हिन्दुत्व का वर्तमान स्वरूप गुप्तकाल तक निर्मित हो चुका था। उसके पश्चात् हिन्दुत्व मे कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ। बात यह है कि धर्म और दर्शन मे क्रान्तिकारी परिवर्तन शताब्दियो बाद होते हैं और सजग, सशक्त, प्रगतिशील तथा ऊर्ध्वमुखी जातियों द्वारा होते हैं। पाँचवी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी के बीच भारत का आध्यात्मिक पतन हो चला था। कोई भयानक आंधी-तूफान आया नहीं। गुप्त-चन्द्र के दिन थे। हमारी प्रतिभा शास्त्रों की व्याख्याओं और उलझनों में उलझ गई। जनता का मन पौराणिक हो गया। साधु धर्म को भूल गये। अनेक तन्त्रों और रहस्यमयी साधनाओं का जन्म हुआ। मदिरा स्त्री-सम्भोग मूढता तथा अन्धविश्वास चारों ओर फैल गये। संन्यासी और वैरागी वह सुख और भोग पाने लगे सामान्य गृहस्थ जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। तभी इस्लाम का आक्रमण हुआ।

इनके अन्दर विजय का तेज था। अनेक देशों को अपने अन्दर समा लेने का अहंकार था। भौतिक शक्ति भी थी। आध्यात्मिक दृष्टि से जरूर हिन्दुत्व इस्लाम के सांस्कृतिक आक्रमणों का उत्तर प्रत्याक्रमण से दे नहीं सकता था। 'दिनकर' ने लिखा है, "हिन्दुत्व पराजित प्रजा का धर्म था और इस्लाम विजेताओं का परिणाम यह हुआ कि अपनी रक्षा के लिये हिन्दुत्व, घोंघे की तरह सिकुड़ कर अपनी ही खोली में छिपने लगा। जात पाँति के नियम उमन और भी कड़े बना लिये लड़कियों का बचपन में ब्याह आम बात हो गई एवं छुआछूत की भावना पहले से भी भयंकर हो गई[1]। यह जकड़बन्दी है — रेजिमेंटेशन। यह आध्यात्मिक पतन है। यह आत्म विस्मरण है। हिन्दुत्व एक आपद्धर्म हो गया। उसकी स्वाभाविकता नष्ट हो गई। हिन्दू बाह्याचारों तक सीमित हो गया। कर्मकांडमात्र को ही हमने धर्म समझ लिया। हम में जड़ता आ गई। इससे आत्मिक उत्थान नहीं होता।

नैतिकता की डाँवाडोल स्थिति—

जब आत्मबल नहीं रह गया तो नैतिक दृढ़ता भी समाप्त हो गई धर्म जीवन का प्रेरणा स्रोत नहीं रह गया। झूठ विश्वासघात, बेईमानी आदि अनैतिकताएँ सभी जगह पाई जाने लगीं। यह सामान्य जनता की बात है — तुलसी, कबीर मीरा, राणा प्रताप, शिवाजी आदि की नहीं। तभी आ गया अँगरेजी राज्य और अँगरेजी सभ्यता। अँगरेजी मुहावरों के अनुसार हम कढ़ाई से निकल कर आग में जा गिरे। यह नया खतरा पहले से अधिक भयानक था। और इधर हम अभी सँभल भी नहीं पाये थे। हम पर जो नया आक्रमण था वह अधिक सूक्ष्म, गहराई वाला और व्यापक था। यह खतरा जीवन की धारा की गति को सहसा एक दूसरी ओर मोड़ देने के कारण अधिक भयानक हो गया। अँगरेज शासक था और इसलिये उनके पास यह अधिकार भी था कि वे हमारे जीवन को नये रास्ते पर चलाने का कानून बना सकें और इतनी शक्ति भी न थी कि लोगों को उस रास्ते पर चलने के लिये मजबूर भी कर सकें। उसने एक रास्ता और ऐसा भी निकाल लिया कि उसे इस रास्ते पर चलाने के लिये विशेष प्रयास न करना पड़े बल्कि हम स्वयं ही उस रास्ते पर चल पड़े। यह रास्ता था अँगरेजी शिक्षा का और उसके एक विशिष्ट दृष्टिकोण का। अँगरेज का रहन सहन और उसकी भाषा विजेता का रहन सहन और विजेता की भाषा थी। विजेता शासक की भाषा और उसके रहन सहन का अनुकरण सारी जनता तेजी से करने लगती है। इस पर जब पद, प्रतिष्ठा और पैसे

---

१ संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ २६८।

नीचे नहीं हो जाती। नतिक सन्तुलन बना रहता है। आत्मा पतनोन्मुखी नहीं होती। जब कोई चीज ऊपर से थोपी जाती है बलात् लादी जाती है तो नैतिक प्रलय उत्पन्न हो जाती है। आत्म-विस्मरण हो जाता है। दूसरी बात यह है कि सवारियों का मोड समकोण नहीं जानता। गति की दिशा का परिवतन आधा-तिहाई वृत्त बनाकर ही होता है। तेज चलती हुई साइकिल को एकबारगी यदि मोडा जाय तो पहिया चक्करा जाता है। यदि किसी जाति या समाज की गति-प्रकृति-को रात भर म बदलने की कोशिश की जाती है तो उस समाज या जाति का सन्तुलन बिगड जाता है। एक विचित्र उलझन भरी परिस्थिति पैदा हो जाती है। आदमी बाह्य परिस्थितियों में इतना उलझ जाता है कि भीतर का आत्मन विस्मृत-उपेक्षित मृतप्राय हो जाता है। नई परिस्थिति तत्काल हो नई आस्था एव नई नीति का निर्माण कर नहीं पाती और न वह समाज मे सबको स्वीकार्य होती है। नई परिस्थिति की माग प्राचीन के अनुरूप या अनुकूल होती नहीं। आदमी सुख और सुविधा चाहता है और नई परिस्थिति म वह सब बडे ही टेढे ढङ्ग से मिलता है। यह टेढा ढङ्ग अनीति और अधम वाला हुआ करता है। अपनी मान्यताओ के उल्टे हुआ करता है। इन सबका परिणाम होता है अनतिकता की वृद्धि, अनात्म भाव, जड दृष्टि स्थूल मनोवृत्ति एव आत्मा का पतन। एक बार जब यह चल पडता है तो इसे रोककर अभीप्सित वृत्ति के अनुकूल वातावरण की सजना के लिए अनेक आन्दोलन चलाने पडते हैं एव अनेक महात्माओं की बलि देनी पडती है। उन्नीसवी और बीसवीं शती म भारत में यही हुआ।

हमारी नैतिकता की जड़ें एव आपत्तिकालीन नैतिकता—

सास्कृतिक दृष्टि से देखने पर हमारे नतिक और आत्मिक पतन की जडें बहुत गहराई मे, कई-कई शताब्दिया पीछे की परिस्थितियों मे हैं। पीछे कहा जा चुका है कि हिदुत्व का वतमान स्वरूप गुप्तकाल तक निर्मित हो चुका था। उसके पश्चात् हिदुत्व म कोई क्रातिकारी परिवतन नहीं हुआ। बात यह है कि धम और दशन मे क्रातिकारी परिवतन शताब्दियो बाद होते हैं और सजग सशक्त, प्रगतिशील तथा ऊर्ध्वमुखी जातियो द्वारा होते हैं। पाँचवी शताब्दी से लेकर ग्यारहवी शताब्दी के बीच भारत का आध्यात्मिक पतन हो चला था। कोई भयानक आधी-तूफान आया नही। सुख-चन के दिन थे। हमारी प्रतिभा शास्त्रो की व्याख्याओ और उलझनों मे उलझ गई। जनता का मन पौराणिक हो गया। साधु धर्म को भूल गये। अनेक तन्त्रो और रहस्यमयी साधनाओ का जन्म हुआ। शराब स्त्री-सभोग मूढता तथा अधविश्वास चारों ओर फल गये। सयासी और बरागी वह सुख और भोग पाने लगे, सामान्य गृहस्थ जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। तभी इस्लाम का आक्रमण हुआ।

इनके अन्दर विजय का तेज था। अनेक देशों को अपने अन्दर समा लेने का अहंकार था। भौतिक शक्ति भी थी। आध्यात्मिक दृष्टि से जर्जर हिंदुत्व इस्लाम के सांस्कृतिक आक्रमण का उत्तर प्रत्याक्रमण से दे नहीं सकता था। 'दिनकर' ने लिखा है "हिंदुत्व पराजित प्रजा का धर्म था और इस्लाम विजेताओं का परिणाम यह हुआ कि अपनी रक्षा के लिये हिन्दुत्व, घोंघे की तरह सिकुड़ कर अपनी ही खोली में छिपने लगा। जाति पांति के नियम उसने और भी कड़े बना लिये लड़कियों का बचपन में ब्याह आम बात हो गई एवं छुआछूत की भावना पहले से भी भयंकर हो गई [1]। यह जकड़बन्दी है – रेजिमेन्टेशन। यह आध्यात्मिक पतन है। यह आत्म विस्मरण है। हिंदुत्व एक आपद्धर्म हो गया। उसकी स्वाभाविकता नष्ट हो गई। हिन्दू बाह्याचारों तक सीमित हो गया। कर्मकाण्डमात्र को ही हमने धर्म समझ लिया। हम में जड़ता आ गई। इससे आत्मिक उत्थान नहीं होता।

नैतिकता की डाँवाडोल स्थिति—

जब आत्मबल नहीं रह गया तो नैतिक दृढ़ता भी समाप्त हो गई धर्म जीवन का प्रेरणा स्रोत नहीं रह गया। झूठ विश्वासघात बेईमानी आदि अनैतिकताएँ सभी जगह पाई जाने लगी। यह सामान्य जनता की बात है – तुलसी, कबीर मीरा राणा प्रताप, शिवाजी आदि की नहीं। तभी आ गया अंगरेजी राज्य और अंगरेजी सभ्यता। अंगरेजी मुहावरों के अनुसार हम कड़ाई से निकल कर आग में जा गिरे। यह नया खतरा पहले से अधिक भयानक था। और इधर हम अभी सँभल भी नहीं पाये थे। हम पर जो नया आक्रमण था वह अधिक सूक्ष्म गहराई वाला और व्यापक था। यह खतरा जीवन की धारा की गति को सहसा एक दूसरी ओर मोड़ देने के कारण अधिक भयानक हो गया। अंगरेज शासक था और इसलिये उनके पास यह अधिकार भी था कि वे हमारे जीवन को नये रास्ते पर चलाने का कानून बना सकें और उनमें शक्ति भी न थी कि लोगों को उस रास्ते पर चलने के लिये मजबूर भी कर सकें। उसने एक रास्ता और ऐसा भी निकाल लिया कि उन्हें हमें रास्ते पर चलाने के लिये विशेष प्रयास न करना पड़े बल्कि हम स्वयं ही उस रास्ते पर चल पड़े। यह रास्ता था अंगरेजी शिक्षा का और उसके एक विशिष्ट दृष्टिकोण का। अंगरेज की रहन सहन और उसकी भाषा विजेता का रहन सहन और विजेता की भाषा थी। विजेता शासक की भाषा और उसके रहन सहन का अनुकरण सारी जनता तेजी से करने लगती है। इस पर जब पद, प्रतिष्ठा और पैसे

१ 'संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ २६८।

का लोभ भी हो तो कहना ही क्या ! खुजली मे कोढ ! और अंगरेजो की यह नीति इतनी सफल हुई कि हम अपने रहन सहन और अपनी भाषा का अनादर, अपमान और उसकी क्षमता पर अविश्वास आजादी पाने के सत्तरह वर्षो बाद आज भी करते हैं ! यह आत्म हीनता है और बडे बडे पडितों, विद्वानो, सस्कृत के आचार्यो एव देश भक्तो तक मे है ! अंगरेजो के आने और ये अधिकार हथियाने के पहले हम मध्ययुगीन थे – मन और तन दोनो से। अंगरेजो ने हम पर खण्डित आधुनिकता लाद दी। इतिहासकारो ने मुक्तकण्ठ से और प्रससात्मक स्वर मे इन उनके द्वारा किया गया सुधार कहा है ! यह बात विचारशील व्यक्ति की समझ मे नही आ सकती। अंगरेजो ने एक रात मे ही हमे आधुनिक बनाना चाहा। परिणाम यह हुआ कि न हम आधुनिक ही हो पाये और न मध्ययुगीन ही रह गये। तन आधुनिक दिखने लगा और मन सडा हुआ मध्ययुगीन ही रह गया। यह स्थिति बीसवीं सदी के इस उत्तराद्ध मे भी है। हम विभक्त हो गये भक्त किसी के न हो सके। यह स्थिति आत्मिक और नतिक उत्थान की भूमिका नही बन सकती। इस आधुनिकीकरण मे हम जिस ढग से घुन कर रख लिया गया वह किसी भी जाति की अत्यत करुण कहानी हो सकती है। हम पर पश्चिमी शासन पद्धति लादी गई। हम पर पश्चिमी न्याय पद्धति लादी गई। भारतीय गाडी के पहिये मे पश्चिमी हवा भरी गई हम अदर ज्ञानी तपस्वी और सच्चरित्र का आदर करते थे किन्तु हमे शासक और अधिकारी का आदर सत्कार करना पडा। हमारे लिये विद्या का रूप था ज्ञान किन्तु हम विद्या का रूप सर्टीफिकेट मे दिखाया गया। हमारी विद्या व्यक्तित्व का विकास करके जीवन को सुखमय बनाती थी किन्तु नई विद्या हमे नौकर बनाने लगी। पहले त्यागी बडा आदमी होता था किन्तु अब अत्याचारी भोगी, विलासी अनतिक और चापलूस बडा आदमी हो गया। पहले प्रेम सब कुछ था किन्तु अब रुपया सब कुछ हो गया। अंगरेजी व्यवस्था ने देश में झूठ पाखड रुपया, राव और नौकरी को सब कुछ बना दिया। शिक्षा से धर्म निकल गया। परिणामत सुशिक्षित लोग भी धर्मभाव की दृष्टि से बसे ही मूढ रह गये जसे अपढे लोग। धर्मविहीन शिक्षा यानी पतवार विहीन नाव ! सस्कृत पढे-लिखे धार्मिक लोग आदर और प्रतिष्ठा के क्षेत्र नौकरी से वचित होने लगे। उनमे भी आत्महीनता आ गई। लक्ष्य हो गया येन केन प्रकारेण— धर्म इज्जत, ईमानदारी आदि बेचकर भी मोटी तनख्वाहों और अधिक अधिकारों वाली नौकरी पाना। इस्लाम ईसाइयत और अंगरेज के अत्याचारों और फिर भी उनकी समृद्धि ने पराजित-पीडित जनता की दृष्टि स्थूल कर दी और व्यावहारिक दृष्टि से भगवान पर से उनका विश्वास हट गया। पैसा भगवान हो गया, अधिकारी माई बाप हो गये। 'ऊपरी आमदनी

योग्यता की निशानी हो गई, ईमानदारी का अर्थ मोंडूपना हो गया। परस्पर विरोधी आदर्शों की टकराहट मे यह सब तो होना ही था। यह सभव ही नही था कि परिणाम इसके अतिरिक्त और कुछ हो सकता। शताधिक वर्षों तक जिस देश ने मानव बुद्धि की योग्यता का एक मात्र आधार विदेशी भाषा का सही लिखना ही माना—काबिल वह है जो अंगरेजी लिख बोल सके—और आज भी यही मानता हो—उस देश का नैतिक और आत्मिक पतन न होगा तो क्या होगा ? हम जड हो गये, स्थूल बुद्धि और जड चेतना वाले हो गये, विभक्त व्यक्तित्व वाले हो गये विभक्त भाषा वाले हो गये, आत्महीनता की प्रवृत्ति वाले हो गये। हम हतात्म और अनैतिक हो गये। दिनकर ने लिखा है 'भारतवासियो की बुद्धि इतनी जड हो गई थी कि कोई यह सोचता ही नही था कि छूआछूत मनुष्यता के प्रति घोर पाप है, कि विधवा विवाह नहीं होने देना नारी जाति के प्रति अन्याय है कि शूद्र और नारी को वे ही अधिकार मिलने चाहिए जो उच्चवर्गों के पुरुषो को प्राप्त हैं। समाज मे भ्रूण हत्याएं चलती थी, बालिकाओ का वध चलता था, जहा—तहा सती की प्रथा भी कायम थी और लोग छिपकर नीच जाति की स्त्रियो से भी सबध करते थे। किन्तु इन बातो के खिलाफ समाज मे कोई नही सोचता था। तीर्थों मे व्यभिचार के अड्डे बन थे। किन्तु इन बातो को रोकने वाला कोई नहीं था।'[1] वे फिर लिखते हैं, हिन्दुओ का दुर्भाग्य यह था कि वे जीवन को नि सार मानने लगे थे। अतएव जीवन का अपमान एक ऐसी वस्तु का अपमान था जिसका अस्तित्व नहीं था। अन्याय और न्याय मे कोई अन्तर नही था और न कोई अत्याचार ही ऐसा था जिसका उत्तर देना आवश्यक हो। यह बडी ही अर्थपूर्ण बात है कि उन्नीसवी सदी से पूर्व भारतीय साहित्य मे कोई भी लेखक या कवि ऐसा नही हुआ जो यह कहने का साहस करता कि यह अन्याय है और हम इस अन्याय का विरोध करने को आये हैं ।[2] तात्पर्य यह है कि सुप्त और जड हिन्दुत्व की टकराहट जब उत्थानोन्मुखी विदेशी जीवन पद्धति और विदेशी आदर्श अर्थात् आधिभौतिकता से हुई तो भारतीय जीवन और दृष्टिकोण का सन्तुलन बिगड गया। विषमताए उत्पन्न हुई और हमारा नैतिक तथा आत्मिक पतन हो गया। धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है दीर्घकालीन विदेशी शासन के कारण देश का जो सबसे अधिक क्षति पहुची वह जनता के नैतिक स्तर से सम्बन्ध रखती है। स्वतन्त्र देशों की तुलना मे देशवासियो का नैतिक स्तर साधारणतया चरम पतन को

---

१ "संस्कृति के चार अध्याय", पृष्ठ ४३६।

२ 'वही', पृष्ठ ४४५।

पहुंच गया है।[1] हमने अपनी पवित्रता की जो कसौटी बनाई वह हमारी बुद्धि की जड़ता, दृष्टिकोण की स्थूलता नैतिक छिछलेपन और सूझ की कमी की द्योतक है। यह कसौटी है खानपान के क्षेत्र में छूत छात और संस्कारों के क्षेत्र में बेसमझे कर्म काण्डों का सम्पादन। खानपान सम्बंधी छुआछूत ने तो आफत का रूप धर लिया। भगवान दास ने इसके विषय में अपने विचार यों प्रकट किये हैं —

छुओ मत छुओ मत यही पुकार-पुकार कर पवित्रमन्यता और अहंकार का संतोष पोषण किया जाता है परस्पर स्नेह और तज्जनित संघ शक्ति की हत्या की जाती है और दूसरों को निमंत्रण दिया जाता है कि ऐसे छिन्न भिन्न हिन्दुओं को रोज जूतियां लगावें।[2] संस्कारों के सम्पादन की जड़ता इतनी हास्यास्पद स्थिति में पहुंच गई कि घण्टों होती है सोते हुए बच्चों बच्चियों या जाहिल युवक युवतियों का और दूल्हा दुल्हन के द्वारा की जाने वाली प्रतिज्ञाएँ संस्कृत भाषा में करते हैं दानों और के दो जड़ स्वार्थी रट्टू तोते !! पतन की ये कहानियां हमारी इस बीसवीं सदी के लिये भी यथार्थ हैं। इन्हें हम सभी जानते हैं। अधिक कहने से लाभ भी क्या ?

सामने भारी खतरा—

कुछ भी हो यह स्थिति अशोभनीय थी। ऐसा नहीं चलने दिया जा सकता था क्योंकि यह स्थिति विघटन को जन्म देने वाली होती है किसी जाति के मरण की भूमिका होती है एवं जाति विशेष की सभ्यता और संस्कृति का अन्त कर देने वाली होती है। यह स्थिति चलती रहती तो हम भारतवासी रेड इण्डियनों की तरह आस्ट्रेलिया के आदिवासियों की तरह अफ्रीका के हब्शियों की तरह आदिवासी मात्र रह जाते अमेरिका और आस्ट्रेलिया की तरह भारत कुछ खास सभ्य जाति वालों का देश हो जाता और वे हमको अच्छी तरह से 'सभ्य" बनाते। धोती-कुर्ता खत्म हो गया होता, हिन्दी-संस्कृति मिट गई होती, रामकृष्ण समाप्त हो गए होते, मन्दिर मस्जिद का रूप बदल गया होता हवन-यज्ञ मूर्खता हो गए होते ब्याह-श्राद्ध ढकोसला सिद्ध कर दिये गये होते वेद-उपनिषद, गीता, रामायण मजाक की चीज होगये होते और सध्या-पूजा ढोंग करार दिया गया होता। आज तो कुछ ही महापुरुष ऐसा करते है मगर तब हम सबके सब कोट-पतलून-टाई पहन कर अंगरेज ही अंगरेजी बोलते-लिखते हमारी माताएँ-बहनें-बहू-बेटियां साया पहनतीं कचहरी में ही शादियां होतीं नाइट क्लबों में बरबादियां होतीं बाइबिल का पाठ होता हम

---

१ मध्यदेश- ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन , पृष्ठ १६०।

२ समन्वय पृष्ठ १३१।

नगे बदन आधे पेट मेहनत करते और वे सभ्य वातावरण का निर्माण करते ! भारत मिट गया होता 'इंडिया' बन गया होता ! प्रक्रिया कुछ ऐसी ही प्रारम्भ हुई थी ! कोट--पतलून पहनकर और अंगरेजी में ही अपने सांस्कृतिक समारोहों के 'इंविटेशन' भेजकर अपने को सम्मानित समझ कर रोब और एंठ से अकड़ने वालों की चेतना की विभुता पर मुझे तरस आता है !!! यह सही है कि ऐसा होना विश्व की सबसे बड़ी दुर्घटना होती यह काण्ड विश्व मानवता की आत्महत्या का माध्यम जरूर होता किन्तु इसे आज कोई भले ही मान ले, उस समय मानता ही कौन !

संभलने के प्रयत्न और स्वरूप—

लेकिन ऐसा नहीं होना था क्योंकि भारतीय संस्कृति अमर है। भारतीय आत्मा की भांति भारतीय संस्कृति भी चिर परिवर्तनशील बाह्य रूप को बदल कर अपनी जीवनी शक्ति को अनन्त एवं अमर बनाए रखना जानती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम प्रयोग और प्रयत्न नहीं करना पड़ता। परिस्थिति और लक्ष्य के अनुरूप हम प्रयत्न करते हैं और सफल होते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में हमने तय कर लिया कि हमें अपने पूर्व गौरव की अतीत के प्रोज्ज्वल आत्म रूप की, प्राप्ति करनी है। यह अपने को खोकर भुलाकर, भी नहीं हो सकता वर्तमान से भाग कर भी नहीं हो सकता, और वर्तमानकाल में जो हमारी दुर्गति है एवं नैतिक और आत्मिक पतन की जो दुरवस्था है, उसके बने रहने से भी नहीं हो सकता ! तुलसीदास ने कहा—"धीरज धर्म मित्र अरु नारी आपत्ति काल परखिए चारी।" हम धर्म की ओर मुड़े। आत्मिक बल और नैतिक बल को इस जगत में सर्वश्रेष्ठ मानना भारत की एक प्रमुख विशेषता है। हमने इधर भी ध्यान दिया। निवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण ने हमारा बहुत अहित किया था। संसार में रहकर प्रवृत्ति--पराङमुख होने का परिणाम हम भुगत चुके थे। अब हमने प्रवृत्ति और निवृत्ति में समन्वय स्थापित करना चाहा। हमारे जीवन का बाह्यपक्ष--भौतिक पक्ष पश्चिम के रंग में रंजित होने लगा था। उस का उत्थान हमने उन्हीं की पद्धति से करना चाहा। हमारी आत्मा हमारी नीति और हमारा मन एवं हमारी आस्था का भारतीय रंग अभी पूरी तरह से बदरंग होने से बचा था। इसका सुधार हमने भारतीय संस्कृति की परम्पराओं और मान्यताओं द्वारा करना चाहा। यही नव--भारत है। प्रयास के महत्व का मूल्यांकन प्राप्त सफलता के आधार पर उतना नहीं किया जाता जितना प्रयास की सच्चाई और ईमानदारी के आधार पर। यह तो सही है कि हम भारतीयों के नैतिक और आत्मिक स्तर को उस वांछित भूमिका पर आज भी नहीं प्रतिष्ठित करा सके जहां करना चाहते थे, किन्तु फिर भी हमारी कोशिशें वन्ध्या नहीं सिद्ध हुई। परिस्थितियों की

पहुच गया है।[1] हमने अपनी पवित्रता की जो कसौटी बनाई वह हमारी बुद्धि की जड़ता दृष्टिकोण की स्थूलता नतिक दिवालियेपन और सूझ की कमी की द्योतक है। यह कसौटी है खानपान के क्षेत्र मे छून छात और सस्कारो के क्षेत्र म बेसमझे कर्म काण्डो का सम्पादन। खानपान सम्बधी छुआछूत ने तो आफत का रूप धर लिया। भगवान दास ने इसके विषय म अपने विचार यों प्रकट किय हैं —

छुओ मत 'छुओ मत यही पुकार-पुकार कर पवित्रमन्यता और अहकार का मन्तोष पोषण किया जाता है परस्पर स्नेह और तज्जनित सघ शक्ति का हत्या की जाती है और दूसरो को निमत्रण दिया जाता है कि ऐसे छिन्न भिन्न हिन्दुओ को रोज जूतिया लगावें।[2] सस्कारों के सम्पादन की जड़ता इतनी हास्यास्पद स्थिति म पहुच गई कि शादी होती है सोते हुए बच्चों-बच्चियो या जाहिल युवक युवतियो की ओर दूल्हा दुल्हन के द्वारा की जाने वाली प्रतिज्ञाए सस्कृत भाषा म करत हैं दानों ओर के दो जड स्वार्थी रट्टू तोते !! पतन की ये कहानिया हमारी इस बीसवीं सदी के लिये भी यथार्थ हैं। इसे हम सभी जानते हैं। अधिक कहने स लाभ भी क्या ?

सामने भारी खतरा—

कुछ भी हो यह स्थिति अशोभनीय थी। ऐसा नही चलने दिया जा सकता था क्योंकि यह स्थिति विघटन को जन्म देने वाली होती है किसी जाति के मरण की भूमिका होती है एव जाति विशेष की सभ्यता और सस्कृति का अन्त कर देने वाली होती है। यह स्थिति चलती रहती तो हम भारतवासी रेड इण्डियनो की तरह आस्ट्रेलिया के आदिवासियों की तरह अफ्रीका के हब्शियों की तरह आदिवासी मात्र रह जाते अमेरिका और आस्ट्रेलिया की तरह भारत कुछ खास सभ्य जाति वालो का देश हो जाता और वे हमको अच्छी तरह से सभ्य बनाते। धोती-कुर्ता खत्म हो गया होता हिन्दी-सस्कृति मिट गई होती, रामकृष्ण समाप्त हो गए होते, मन्दिर मस्जिद का रूप बदल गया होता हवन-यज्ञ मूर्खता हो गए होते ब्याह-श्राद्ध ढको सला सिद्ध कर दिये गये होते वेद-उपनिषद, गीता, रामायण मजाक की चीज होगये होते और सन्ध्या-पूजा ढोंग करार दिया गया होता। आज तो कुछ ही महापुरुष एसा करते है मगर तब हम सबके सब कोट-पतलून-टाई पहन कर अंगरेज ही अगरेजी बोलते-लिखते हमारी माताएं-बहनें-बहू-बेटिया साया पहनतीं कचहरी म ही शादिया होती, नाइट क्लबों म बरबादिया होती बाइबिल का पाठ होता हम

१ 'मध्यदेश- एतिहासिक तथा सास्कृतिक सिहावलोकन पृष्ठ १८०।
२ समन्वय पृष्ठ १३१।

नगे बदन–आधे पेट मेहनत करते और वे सभ्य वातावरण का निर्माण करते ! भारत मिट गया होता ' इंडिया बन गया होता ! प्रक्रिया कुछ ऐसी ही प्रारम्भ हुई थी ! कोट–पतलून पहनकर और अंगरेजी में ही अपने सांस्कृतिक समारोहों के 'टूर्नामेंटन' भेजकर अपने को सम्मानित समझ कर रोब और ऐंठ से अकड़ने वालों की चेतना की 'विभुता' पर मुझे तरस आता है !!! यह सही है कि ऐसा होना विश्व की सबसे बड़ी दुर्घटना होती यह काण्ड विश्व मानवता की आत्महत्या का माध्यम जरूर होता किन्तु इन आज कोई भले ही मान ले, उस समय मानता ही कौन ! – —

सँभलने के प्रयत्न और स्वरूप –

लेकिन ऐसा नहीं होना था क्योंकि भारतीय संस्कृति अमर है। भारतीय आत्मा की भाँति भारतीय संस्कृति भी चिर परिवर्तनशील बाह्य रूप को बदल कर अपनी जीवनी शक्ति को अक्षत एवं अमर बनाए रखना जानती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम प्रयास और प्रयत्न नहीं करना पड़ता। परिस्थिति और उदय के अनुसार हम प्रयत्न करते हैं और सफल होते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में हमने तय कर लिया कि हम अपने पूर्व गौरव की अतीत के प्रोज्ज्वल आत्म रूप की, प्राप्ति करनी है। यह अपने को खोकर भुलाकर भी नहीं हो सकता वर्तमान से भाग कर भी नहीं हो सकता, और वर्तमानकाल में जो हमारी दुर्गति है एवं नैतिक और आत्मिक पतन की जो दुरवस्था है उसमें बने रहने से भी नहीं हो सकता। तुलसीदास ने कहा— "धीरज धर्म मित्र अरु नारी आपत्ति काल परखिए चारी।" हम 'धर्म' की ओर मुड़े। आत्मिक बल और नैतिक बल को इस जगत में सवश्रेष्ठ मानना भारत की एक प्रमुख विशेषता है। हमने इधर भी ध्यान दिया। निवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण ने हमारा बहुत अहित किया था। संसार में रहकर प्रवृत्ति–पराङ्मुख होने का परिणाम हम भुगत चुके थे। अब हमने प्रवृत्ति और निवृत्ति में समन्वय स्थापित करना चाहा। हमारे जीवन का बाह्यपक्ष–भौतिक पक्ष पश्चिम के रंग में रंजित हो गया था। उसका उत्थान हमने उन्हीं की पद्धति से करना चाहा। हमारी आत्मा हमारी शक्ति और हमारा मन एवं हमारी आस्था का भारतीय रंग कभी पूर्ण [illegible] से छूटा था। इसका सुधार हमने भारतीय संस्कृति की परम्पराओं और [illegible] द्वारा करना चाहा। यही नव–भारत है। प्रयास के [illegible] का मूल्यांकन [illegible] एता के आधार पर उतना नहीं किया जाता जितना प्रयास का [illegible] दारी के आधार पर। यह तो सही है कि हम भारतीयों के [illegible] स्तर को उस वांछित भूमिका पर आज भी नहीं [illegible] चाहते थे, किन्तु फिर भी हमारा कोशिश बेकार नहीं सिद्ध हुई। [illegible]

प्रतिकूलताओं से आच्छादित रहकर किसी सम्पूर्ण जाति का चारित्र सुधार तथा सांस्कृतिक संघर्ष की स्थिति में मनोवृत्तियों एवं आदर्शों का आमूल-अभीप्सित परिवर्तन इतनी जल्दी संभव भी नहीं है।

अस्तु हमने अपने देश के आत्मिक और नैतिक उत्थान के लिये प्रयास किये। प्रयास व्यक्तिगत रूप से भी हुए और संस्थाओं के माध्यम से किये गये आन्दोलनों के रूप में भी। वैसे, इन आन्दोलनों और संस्थाओं के मूल में भी व्यक्ति ही प्रधान रहा करते थे। प्रयास बौद्धिक स्तर पर भी हुआ और भावात्मक स्तर पर भी। व्यक्तिगत प्रयासों का पर्यवसान भी अन्ततोगत्वा संगठनों एवं आन्दोलनों में हो गया। व्यक्तिगत प्रयासों का स्वरूप यह रहा कि एक असाधारण आत्मा पृथ्वी पर अवतरित हुई। मानव शरीर धारण करके उसने मानवों के उदाहरणार्थ साधनाएं कीं और उनमें शक्ति अर्जित करके कुछ ऐसे व्यक्तियों को प्रभावित किया जो उनका चिरन्तन संदेश लेकर जनता में घुस गये। बस ही जैसे सूर्य उदय हुआ और उसकी किरणें अपने अन्तर को उद्भासित करती हुई जगत को प्रदीप्त होने का संदेश देती हुई धरती पर फैल गई। रामकृष्ण ने विवेकानन्द, दयानन्द ने श्रद्धानन्द और गांधी ने मोतीलाल, जवाहरलाल, राजेन्द्र प्रसाद, सरदार पटेल और विनोबा का निर्माण किया। फिर भी सूर्य के अन्तर का जो प्रकाश है वह उसका अपना ही स्वरूप है। इसी प्रकार इन आत्माओं की ज्योति वस्तुतः इनका अपना ही स्वरूप था। यह उनका आत्मस्वरूप था और आत्मस्वरूप ही परमात्मा रूप है यानी परम आत्मा का अंश रूप है। इसी लिये उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के अन्तिम कुछ वर्षों या उत्तरार्द्ध में जन्म लेने वाले ये महापुरुष-जो भारत के हर प्रदेश, हर क्षेत्र में अवतरित हुए थे जैसे रामकृष्ण परमहंस, दयानन्द, विवेकानन्द, मदन मोहन मालवीय, गांधी, तिलक, मोतीलाल नेहरू, अरविन्द, जवाहरलाल नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद, विनोबा, टैगोर, रमन, शरत, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द्र, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त आदि-अंशावतार थे। इन लोगों ने आकर भारत के जीवन के हर क्षेत्र को गौरवान्वित किया। किसी ने रूप में नैतिक और आत्मिक उत्थान करने का प्रयत्न किया और अपने इस प्रयास में किसी न किसी रूप में अवश्य सफल रहे। संसार में कोई भी बड़ा काम कोई मनुष्य स्वतः नहीं करता संभवतः कर भी नहीं सकता—बल्कि उससे कोई करवा लेता है। लौकिक मानव है क्या? कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, तन्मात्राओं, महत्, चित्, बुद्धि, अहंकार और प्रकृति का समुच्चय मात्र। इनमें से किसी में भी इतना सामर्थ्य नहीं कि वह अपने आप कोई असाधारण महत्व का कार्य कर सके। बुद्धि जड़ तत्व है। उसे सत् की ओर उन्मुख करने वाला कोई और होता है। वही सुझाता है। बुद्धि रूपी अर्जुन

४ रथ के घोड़ो को सही दिशा की ओर ले आने वाला कृष्ण ही वह 'कोई और" है। जब 'वह' कुछ कराना चाहता है तभी कुछ सूझता है और बुद्धि उस सूझ को व्यवस्थित रूप दे देती है। उसी कृष्ण ने उसी परम आत्मा ने इन सबको आत्मबल दिया। इनमे अपना [illegible] दिया। इन लोगों ने नैतिक और आत्मिक उत्थान के चक्र का प्रवर्तन किया। रामकृष्ण परमहंस ने आध्यात्मिक साधनाओ, दिव्य शक्तियो और ज्ञान-बुद्धि के परे रहने वाली शक्ति परमात्मशक्ति पर-विश्वास उत्पन्न किया। भक्ति प्रेम और अनुभूति पर बल दिया और सर्वधर्म-समन्वय का प्रतिपादन किया। इसी विश्वास से सपन्न होकर विवेकानन्द ने वेदान्त का शख फूँका और लोगो मे आत्मबल अर्जित करने की प्रेरणा भरी। उनके द्वारा स्थापित रामकृष्ण मठ ने इन सदेशो का सुव्यवस्थित रूप से प्रचार करना प्रारम्भ किया। सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखा है, "विचार-शीलता की एक शान्त और हल्की आवाज मानो दिव्य लोक से आई जो स्वामी विवेकानन्द के मुख से एसी शखध्वनि के रूप मे निकली कि उसने तन्द्रा मे पड़े हुए लोगो को सजग कर दिया और उन विचारशील लोगो मे जिज्ञासा उत्पन्न कर दी जिनमे तत्वज्ञान की गहराई और विस्तार देखने की क्षमता थी।"[१] दिनकर ने ठीक ही लिखा है कि भारत क्या है और उसकी सस्कृति क्या है, उसको देखना है तो विवेकानन्द को पढो।[२] बीसवी शताब्दी की नैतिक चेतना और आत्मिक शक्ति-के स्वरूप पर विवेकानन्द का बहुत प्रभाव पड़ा है। अपने उसी लख मे दिनकर ने कहा है कि उन्होंने जो-कुछ लिखा है वह विवेकानन्द की ही बात है। मदुरै एमरसन-सर्जन ने बिल्कुल सही लिखा है, 'शेर की तरह दहाड़ कर स्वामी विवेकानन्द ने आलस्य, निर्बलता, ईर्ष्या द्वेष, आदि की लघुतम प्रवृत्तियो को, जो गुलामी की कलक हैं परित्याग कर देने के लिये और अपनी महानता के पूर्णतम स्वरूप को प्राप्त करने के लिये भारतवर्ष को ललकारा।'[३] स्वामी दयानन्द ने लोगों के अन्दर प्रचलित धर्म की आलोचना करने का साहस उत्पन्न किया, वेदो की पुनप्रतिष्ठा स्थापित की और दूसरे धर्म वालो के सामने हिन्दुओ मे जिस आत्महीनता का अनुभव होने लगता था उसे दूर किया। रामतीर्थ ने वेदान्त को अपने जीवन मे उतार कर दिखा दिया और भारत को एक चेतन तत्व के रूप मे उपस्थित किया-नकि भौगोलिक प्रदेश के रूप मे। अरविन्द ने योग साधना का महत्व दिया और अतिमानस की कल्पना द्वारा सबको दिव्य जीवन प्राप्त कर सकने को विश्वास दिलाकर सबका नवीन आशा से स्पन्दित कर दिया। तिलक ने

---

१ सरस्वती, जनवरी, १९६३, पृ ३५।
२ 'रसवन्ती', वर्ष ६ अङ्क ६, पृ ६४।
३, 'कल्चुरल युनिटी आफ इडिया', पृ ५८।

सत्वप्रधान प्रवृत्तिमार्ग अपनाने का सन्देश दिया। गांधी ने सत्याग्रह का कल्पना द्वारा सत्य और अहिंसा को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र म उपयोगी सिद्ध किया और भौतिक बल के ऊपर आत्मबल को स्थान दिया। टगोर न विश्व बधुत्व, अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण, राष्ट्रप्रेम, तथा रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति की ओर रूढ़ियों का विरोध किया। गीता उपनिषद् और रामायण, आदि के अध्ययन ने भी लोगों का आत्मबल बनाया। विनोबा न सात्विक दान क प्रचार के द्वारा आत्मविस्तार की धारणा को जीवन म अवतरित करने का माग बताया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक हमने शांति और आत्मबल पर अडिग विश्वास प्राप्त करने का प्रयत्न किया और बीसवी शता म धम राजनीति समाजनीति अथनीति आदि के क्षेत्रों म उसी नतिक शक्ति और आत्मबल के सहारे काय करना आरम्भ कर दिया। हम सबको इस रास्ते पर नहीं चला पाये लकिन इसम दो मत नही हो सकते कि हमने अनेक को इन शक्तियो से ऊर्जस्वित कर दिया। इसके लिए हम बहुत–कुछ कल्पना पडा समझना पडा, याद करना पडा अपनी पूँजी को टटोलना पडा। दूसरे की पूँजी क सहारे हम अपना लक्ष्य नहीं प्राप्त कर सकते थे क्योंकि हम अच्छी तरह जान गये थ कि पर धम भयावह होता है।

अपनी प्राचीन सांस्कृतिक सम्पत्ति से सहायता—

उस समय हमे ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो हमारी आत्मा को सबल बना सकता और हमारे परम्परागत स्वरूप को महत्वपूर्ण बता सकता। यही हमारी आस्था और हमारे विश्वास को फिर से जीवित कर सकता था। राधाकृष्णन ने लिखा है हम एक ऐसे धम की आवश्यकता है जो आत्मा की शक्ति का वस्तुओ से अधिक महत्वपूर्ण घोषित करे तथा जिस दुनिया म विज्ञान और सगठन एव सस्थाओं का सम्बन्ध और महत्व समाप्त हो गया है परम्परा से स्थापित मूल्यो ओर मानो के सामने उसी दुनिया म कुछ तत्व और महत्व खोज सके।[1]

जब ऐसे धर्म की खोज होने लगी तब स्वभावत हमारा ध्यान गया अपने हिंदुत्व की ओर ओर हमने पाया कि हिंदू धर्म आध्यात्मिक विचारो और अनुभूतियों की अनत राशि है और वही अनत राशि हमे फिर महान बना सकती है। हमने वेदान्त गीता महाभारत, उपनिषद् आदि ग्रन्थो की आध्यात्मिकता, उनके द्वारा प्रतिपादित आत्मतत्व की खोज –विवेचना और उनसे निकल सकने वाली सभावनाओ को स्पष्ट रूप में देखा। वेदान्त भारत की वह शक्ति है जिसके सक्रिय होने पर ससार की कोई भी और कसी भी शक्ति भारत का बाल तक बांका नहीं कर सकती। गीता का

१ 'रिकवरी आफ फेथ' पृ ६

स्थितप्रज्ञ दर्शन हमारी प्रेरणा का स्रोत बना। रामचरित मानस का धर्मरथ रूपक और भरत का आध्यात्मिकता एवं लक्ष्मण का आज्ञापालन हमारी यात्रा का ध्रुव तारा बना। राधाकृष्णन ने कहा, 'प्राकृतिक शक्तियों पर मनुष्य की विजय से नहीं वरन् वासनाओं के निरोध से ही उसकी नैतिक उन्नति को जाचना चाहिए गोलियों की बौछार में भी सच बोलना, शूली पर चढ़ा दिये जाने पर भी प्रतिहिंसा से विरत होना मनुष्य तथा पशु सभी का सम्मान करना सर्वस्व दान कर देना परोपकार में जीवन उत्सर्ग कर देना, अत्याचार को अविचलित भाव से सहन करना, आदि मनुष्य के प्रधान कर्तव्य हैं।'[1] यह हमारा आदर्श बना। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यही सब कुछ हो गया और हमने जीवन का निषेद कर दिया। जीवन का निषेद हमने नहीं किया — कभी नहीं किया —हमने तो केवल भोग की मर्यादा बांधी थी। भोग का सामर्थ्य भोग से दूर रहने में निहित है इसलिये ब्रह्मचर्य है, संयमित भोग ही सुख है इसलिये मर्यादित गृहस्थ जीवन है भोग की शक्ति अक्षय नहीं होती इसलिये छोड़ने की तयारी की भूमिका में वानप्रस्थ है और मरने के समय जबरदस्ती छूटे इससे अच्छा है कि हम अभी से छोड़ दें। इस रूप में संन्यास है। जीवन का निषेद नहीं, बल्कि व्यवस्थित एवं कलात्मक ढंग से उसका भोग है। आध्यात्मिकता जीवन से भागना नहीं सिखाती। चीनी का दूध से घी का दाल से और मक्खन का रोटी से विरोध नहीं होता, तो आध्यात्मिकता का ही जीवन से विरोध क्यों होगा तो ऋषियों के भी पत्नियां होती थी। वे भी पिता होते थे। रामकृष्ण परमहंस और गांधी की आध्यात्मिकता संदेह से परे हैं। आध्यात्मिकता को जीवन की व्यापक भूमिका से और कर्मकाण्ड को धर्म की अंतरात्मा से अलग कर देने का ही तो परिणाम है मठों का भोग व्यभिचार विकास का केन्द्र बनाना। आध्यात्मिकता योग या संन्यासमात्र ही नहीं है। जबसे हम यह बात भूल चले थे तभी से हमारा पतन प्रारम्भ हो गया था। इसलिये उत्थान की भूमिका में हम जीवन का समग्र दर्शन चाहिये था जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है कि हम समन्वय सतुलन और पूर्णता वाला धर्मदर्शन चाहते थे। भारत वर्तमान में भी आनन्द पाता था और ज्ञान की गहराइयों तथा दार्शनिक जिज्ञासाओं में भी। जो लोग यह कहते हैं कि भारत केवल धार्मिक दार्शनिक चिन्तन-प्रधान, आध्यात्मिक तथा लोकोत्तर विचारों में डूबा रहने वाला देश है वे गलत कहते हैं। शायद वे भारत को ऐसा ही देखना चाहते हैं ताकि वे इस संसार और इसकी समग्रता का उपभोग कर सकें और भारत को उससे वंचित रख सकें। भारत हम सब भी है किन्तु वह शैशव की निर्वोधता यौवन की उमंग और प्रौढ़ता

---

१ 'भारत की अन्तरात्मा', पृ १७।

की परिपक्वता आदि से भी परिचित है। कोमल मानवता, विभिन्नताओं से पूर्ण और सहनशील संस्कृति, जीवन की गहनतम तथा सूक्ष्मतम सूझ बूझ और उसके रहस्य पूर्ण तरीकों का मार्मिक ज्ञान एवं अनंत से प्राप्त अदम्य स्फूर्ति भारत की अक्षय जीवन शक्ति और अदम्य उत्साह के रहस्य हैं।[1] उपर्युक्त कथन पर यदि गंभीरता पूर्वक विचार करें तो इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि यह हमारी नैतिक और आत्मिक शक्ति है। उदाहरणार्थ, मानव की निर्बोधता ले लीजिये। जड़ता भौतिकता एवं ऐन्द्रियता से परिपूर्ण चेतना है मानव की निर्बोधता नहीं पाई जा सकती। वह उनमें पाई जा सकती है जो इन सबसे ऊपर उठकर आत्मशक्ति सम्पन्न हो गये हों। इसीलिये तो बच्चों की जिस मुस्कान और हंसी के माध्यम से दिव्य अलौकिक राग और आलोक झांकता है वह ईसा और गांधी जैसों के ही मुखमंडल पर ही देखी जा सकती है। अंग्रेजी हमारी संस्कृति और प्रकृति के प्रतिकूल है और इसलिये वह हमारी आत्मिक शक्ति के अर्जन तथा नैतिक पुनरुत्थान के प्रयत्न और उसकी अभिव्यक्ति की भाषा बन नहीं सकती थी। शायद यही कारण है कि सभी दृष्टियों से अनमोल बातें कहने वाले विवेकानन्द, टगोर, शिवानन्द राधाकृष्णन भगिनी निवेदिता, बेसेंट आदि की बातें जनसमूह के गले का हार जीवन की स्फूर्ति और शोभा नहीं बन सकी और देश का कायापलट न हो सका और अंग्रेजी को छोड़ देने के कारण तथा संस्कृत और हिन्दी को अपनाने के कारण दयानन्द और गांधी ने जन साधारण को आश्चर्यजनक रूप से बदल दिया। छोटे से छोटे लोग भी अपने जीवन और छोटे से क्षेत्र में असाधारण रूप से बदल कर नैतिकतावादी एवं आत्मवादी हो गये।

गांधी के प्रयत्न—

बीसवीं सदी के आते आते गांधी ने अपना आत्मिक और नैतिक उत्थान सम्बन्धी कार्यक्रम जनता के सामने रख दिया क्योंकि गांधी में यह शक्ति थी। श्री निर्मल कुमार बोस ने लिखा है कि गांधी उस तीर्थयात्री की तरह है जो किसी अनन्त पथ पर निर्बाध गति से चलता चला जा रहा है। यती—दंड हाथ में लिये हुए गांधी कहीं दूर पर दिखाई देने वाले किसी ज्योति की ओर बढ़ता चला जा रहा है। यह ज्योति उसे आराध्यतापूर्वक अपनी ओर बराबर खींच रही है। उसने अपने अन्तर में आशा की ज्योति जला रखी है। वह उसी के संकेतों से प्रेरणा पाता है। इसके अतिरिक्त उसके पास करने के लिये कुछ भी नहीं है। उसकी चेतना का गहन तम स्तर उसे बता चुका है कि उसके आदर्शों का कल्पना लोक कभी अवतरित होगा या नहीं यह जानना उसका काम नहीं है— उसका लक्ष्य है उस अलौकिक

१ डिस्कवरी आफ इंडिया, अध्याय ७।

कुम्भकार के दिव्य हाथों में सानी हुई मिट्टी का एक पिंडमात्र बनना ।[१] बोस महाशय ने आगे फिर लिखा है कि गांधी अपने निश्चित उद्देश्य को लिये हुए भगवान की राह पर अकेला बढ़ता जा रहा है। मानवता के अंतर में उठने वाली पीड़ा की प्रत्येक लहर से उसका हृदय तड़प उठता है। मानवता के दुःख और उसकी अधोगति में हिस्सा बटाने का उसका अडिग निश्चय है। जिस-जिस तत्व ने मानव को दबा रखा है उन सबको हटाने के प्रयत्न मे आत्मबलिदान करने के लिये सदैव तत्पर है। वह क्षणिक लाभ के लिये मानवी एकता की दिव्य एवं पवित्र वाणी के प्रति विश्वास घात करने के लिये कभी भी तैयार नहीं।[२] अस्तु, ऐसा महामानव सभी प्रकार की नैतिक और आत्मिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों से सम्पन्न आत्मा ही हो सकता है जो सभी प्रकार के स्वार्थों से ऊपर उठ चुका हो। टगोर ने लिखा, "आज हम लोगों के बीच में जो महात्मा आया राष्ट्रीय स्वार्थपरता के भाव से बिल्कुल मुक्त है।[३] गांधी में राष्ट्रीय स्वार्थपरता भी नहीं थी। वे तो राष्ट्र का ऐसा उत्थान चाहते थे जो विश्व कल्याण का माध्यम बन सके। इसीलिये उनके कार्यक्रम आत्मिक और नैतिक उत्थान को दृष्टि में रखकर बने। गांधी जी ने लिखा—'(१) सच्चा स्वराज्य अपने मन पर शासन करना है (२) उसकी कुञ्जी, सत्याग्रह आत्मबल अथवा प्रेमबल है (३) इस बल से काम लेने के लिये सोलह आने स्वदेशी बनना जरूरी है, और (४) हम जो कुछ करना चाहते हैं वह इसीलिये नहीं कि अंग्रेजों से हम द्वेष है या हम उन्हें सजा देना चाहते हैं बल्कि इसलिये कि वह करना हमारा कर्त्तव्य है।'[४] गांधी जी का सत्याग्रह कार्यक्रम आत्मिक और नैतिक शक्तियों के आधार पर जीवन को चलाने का विशाल और क्रांतिकारी परीक्षण है। उन्होंने जीवन की शुद्धता पर जोर दिया। तप पर उनका विश्वास है। अहिंसा और सत्य उनकी चेतना के अनिवार्य अङ्ग हैं। उनकी प्रार्थना सभाएँ और उनके प्रार्थना प्रवचन आत्मिक और नैतिक उत्थान के ही लिये हैं। उनकी प्रार्थना में हरि ॐ के बाद ईशोपनिषद का प्रथम श्लोक रहता था। 'प्रातःस्मरणम्' में प्रथम श्लोक की प्रथम पंक्ति है "प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरद् आत्म तत्वम्'। पृथ्वी माता को पैर से छूने में भी जो अपराध की अनुभूति करके क्षमा मांगता है ऐसी अनुभूति को जगाने वाला श्लोक भी यहां है। यहां सरस्वती गुरु विनायक विष्णु महादेव और ब्रह्म की उपासना के श्लोक हैं। इस प्रार्थना में यह

---

१ 'स्टडीज इन गांधीज्म', पृ ३४८।

२ वही, पृ ३५४।

३ 'हंस' जनवरी, १९३८ "महात्मा गांधी" शीर्षक लेख।

४ 'हिंद स्वराज्य' पृ १५५।

कामना प्रकट की जाती है कि दुख से तपे हुए प्राणियो की पीडा का नाश हो—"कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्'। वहा कुरान की "पनाह और 'फातिहा" है जरथोस्ती गाथा" है और बौद्ध मन्त्र है। प्रात–साय दोनो समय अहिंसा सत्य, अस्तेय 'ब्रह्मचर्य, असग्रह शरीर श्रम, अस्वाद सर्वत्र भय वर्जन, सर्वधर्मसमानत्व स्वदेशी स्पर्श भावना का विनम्र, व्रत निष्ठा से पालन करने का निश्चय किया जाता है। सायकाल की प्रार्थना में परमात्मा तत्व के नमस्कार के बाद गीता का सम्पूर्ण स्थितप्रज्ञ लक्षण दुहराया जाता है। "सहनाववतु सहनौ भुनक्तु सहवीर्य करवावहै तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै' की कामना तथा असत् स सत् की ओर, तमस से ज्योति की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर ले जाने की प्रार्थना है। ईशोपनिषद् कठोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् तैत्तिरीय उपनिषद्, बृहदारण्यक उपनिषद् और छान्दोग्य उपनिषद् के श्लोकों का पाठ होता है। रामचरित मानस की सुदर सूक्तियां राम के निवास योग्य मानस सबधी चौपाइया राम रथ तुलसी के विनय के पद और सूर कबीर नानक मीरा रहीमनरसी महता तुकाराम नामदेव तथा ईसाई सतो के भजन भी यहा हैं। उनका सर्वाधिक प्रिय भजन वैष्णव जन तो तेणे कहिए जे पीर पराई जाणे रे उच्चकोट के नैतिक जीवन की कल्पना उपस्थित करता है। शुद्धतम जीवन का आदर्श उपस्थित करता है। सादगी का जीवन गाधी जी चाहते थे। मशीन की जगह चर्खें और बड़ कारखानो की जगह गृह उद्योग की प्रधानता के पीछे श्रमनिष्ठ सादे जीवन की ही चाह थी। उनके आश्रम म सादे भोजन, सादे वस्त्र श्रम की प्रतिष्ठा और आत्मोन्नति के प्रयत्नो के ही कार्यक्रम होते थे। बाहरी सफाई जो अन्तर के निष्कलुष एव परिष्कार की द्योतक थी उन्हें प्रिय थी। सेवा और सफाई की आखिरी सीमा शायद वहा थी जहां गांधी जी दूसरो के मल मूत्र को साफ करना अपना सबसे प्रिय कार्य मानते थ। खादी की चलन म उन्हें आत्मा की उज्ज्वल ज्योति के दर्शन होते थे। सूत कातने म वे मानसिक एकाग्रता एव चित्तवृत्ति निरोध देखते थे। इस प्रकार चर्खा चलाना व आध्यात्मिक कार्य मानते थ। निर्धन जनता म व भगवान को देखते थ। उनकी समाज सेवा और देश भक्ति आत्मविस्मार की भावना से भरी थी। उनका सर्वोच्च वस्तुत व्यक्ति की दृष्टि से आत्मोन्नय ही था। गांधी ने माना कि आत्मबल शारीरिक बल स श्रेष्ठ है। राधाकृष्णन भी मानव के स्वभाव म आध्यात्मिकता को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं। गाधी ने भारत की धार्मिक साधना को फिर से जाग्रत कर दिया। उन्होंने सौंदर्य और नारी को पवित्र दृष्टि से देखा। रामकृष्ण भी नारियों को माता मानते थे। गांधी की शाकाहार जीवन में सदाचार मानते थे। गांधी जिह्वा पर विजय काम से विजय मानते। वे इन्द्रिय निग्रह

के पक्षपाती थे। उन्होंने ईश्वर को सदाचार का स्वरूप माना। रामकृष्ण ने अपने जीवन में क्रियात्मक रूप से सारे धर्मों की मूलभूत एकता का अनुभव किया था। गांधी भी उसी भावभूमि पर पहुंच गये थे जहां से सभी धर्म सच्चे और समान दिखे। गांधी जी धर्म-दृष्टि को धर्म का वास्तविक रूप और मन की विशुद्धता को धर्म का काम समझते थे।

आर्यसमाज का योग—

आर्यसमाज का आन्दोलन भी तेजी पर था। उसने रूढ़ि और परम्परा का डटकर विरोध किया। जिस पौराणिकता ने हिंदुत्व के खंड खंड कर दिये थे उसका भयानकतम और उग्रतम एवं क्रूरतम विरोध करके आर्यसमाज ने आत्मशक्ति एवं नैतिक जीवन पर पड़ी हुई धूल झाड़ दी। छुआछूत को अवैदिक बताकर और आत्म भाव का प्रचार करके आर्य समाज ने हिंदुत्व की अखण्डता को पुनर्जीवित किया। स्त्रियों की शिक्षा का समर्थन करके उनकी शिक्षा के लिये स्कूल-कालेज खोलकर और उनको भी ज्ञान और धर्म के क्षेत्र में पुरुष के समान महत्व देकर उनके ऊपर मध्य युगीन मतों का आरोपित कामिनीत्व, रमणीत्व एवं श्रृंगार-काम के उद्दीपन का घातक एवं मिथ्या आवरण हटाकर आर्यसमाज ने हिन्दू जाति के आधे भाग की आत्म चेतना और नैतिक चेतना की सम्भावनाओं से युक्त कर दिया। आगे चलकर गांधी जी ने तो उन्हें अहिंसा और सत्याग्रह का साक्षात् प्रतीक माना। ब्रह्मचर्य अपने असली रूप में सामने आया। आर्यसमाज धर्म सम्बन्धी जिन शास्त्रार्थों की आयोजनाएँ करता था उन्होंने जनता के सामने धर्म के वास्तविक स्वरूप को उपस्थित करने की क्रिया में एक महत्वपूर्ण योग दिया। गुरुकुलों की स्थापना करके और यथा सम्भव प्राचीन गुरुकुल-प्रणाली पर शिक्षण का कार्यक्रम बनाकर और उसे कार्यान्वित करके भी आर्यसमाज ने आर्य-ग्रन्थों के प्रचार का तथा आत्मिक-नैतिक पुनरुत्थान का कार्य किया। आर्यसमाज के अधिवेशनों में कई-कई दिनों तक होने वाले आर्य संन्यासियों और उपदेशकों के उपदेशों ने भी जनता के आत्मिक-नैतिक स्तर को ऊँचा उठाया है। लाला लाजपत राय ने लिखा है 'आर्य समाज ने विचारों के महासागर का संस्कृति का तथा उदारतावाद का बांध-द्वार-हिंदू समाज के लिये उन्मुक्त कर दिया है और वह हमारे अन्दर इस तथ्य की चेतना को फिर से जागृत कर रहा है कि हम विचारों और कार्यों-दोनों के संसार में महान और समक्त थे।"[1]

ब्रह्मविद्या समाज का योग—

थियासोफी के रङ्गमंच से श्रीमती एनी बेसेन्ट ने घोषणा की,—"चालीस वर्षों

१ 'दि आर्यसमाज', पृ २८२।

के सुगम्भीर चिंतन के बाद मैं कहती हूँ कि विश्व के सभी धर्मों में हिंदूधर्म से बढ़कर पूर्ण वैज्ञानिक दर्शनयुक्त एवं आध्यात्मिकता से परिपूर्ण धर्म दूसरा और कोई नहीं है। परिणामस्वरूप हिंदुओं में आत्मविश्वास पैदा हुआ। थियासोफिकल सोसाइटी अर्थात् ब्रह्मविद्या समाज ने परोक्ष नियमों के अनुसंधान करने उच्चनैतिकतापूर्ण पवित्र जीवन व्यतीत करने विज्ञान और आधिभौतिकता की वृद्धि के विरोध करने विश्वमानवता के प्रचार करने सभी धर्मों की मूलभूत एकता की अनुभूति करने, सब धर्मों की पवित्रता और अच्छाई पर विश्वास करने तथा धर्म और ज्ञान के तत्वों के सम्यक् प्रचार करने को अपना कार्य-क्रम बनाया था। स्पष्ट है कि पूर्ण सच्चाई और ईमानदारी से जो ये कार्यक्रम अपनाएगा वह संकुचित हृदय वाला, अनात्मवादी तथा अनैतिक नहीं रह सकता। उसकी आत्मा का उत्थान होगा। उसके जीवन में साक्षात् नैतिकता अवतरित हो जायगी।

प्राचीन तत्वों और नवीन व्याख्याओं का योग—

प्राचीन तत्वों और बातों की नवीन व्याख्याओं ने भी आत्मोत्थान की प्रक्रिया में पर्याप्त सहयोग दिया। राधाकृष्णन ने कहा धर्म के दो रूप होते हैं एक वैयक्तिक और दूसरा सामाजिक। वे दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं।[1] इस व्याख्या के द्वारा उन्होंने अनेक अनैतिकताओं का निराकरण करने का रास्ता खोल दिया। तिलक चन्दन लगाकर तथा पूजा-पाठ करके भी यदि कोई किसी गरीब का गला काटता है कोई अधिकारी किसी अपरिचित योग्य की जगह किसी परिचित-अनुशंसित अयोग्य की नियुक्ति करता है डाका मारता है किसी छात्र के प्राप्तांक बढ़ाता है अनुचित साधनों के द्वारा आपकार लेता है तथा धन कमाता है तो वह अधार्मिक है। यह सही है कि हमारे समाज का आचरण अभी इस धारणा के अनुरूप नहीं हो सका है किन्तु यह भी सही है कि हम इस ढंग से सोचने लगे हैं। नैतिकता का स्वरूप यह हो गया कि सामाजिक कल्याण का आचरण करने वाला विधान पुण्य हो गया और इसके प्रतिकूल होने वाला आचरण पाप। तात्पर्य यह कि हट्टे-कट्टे ब्राह्मण' को खिलाने की अपेक्षा भूख मरते हुए चमार को खिला देना अब पुण्य माना जाने लगा है। पंडे के आगे बछिया की पूँछ छूना अब पुण्य नहीं रह गया अब पुण्य हो गया है भूमिविहीनों के लिए भूमिदान देना और रद्दी मरीजों खरीदकर सत्साहित्य पढ़वाना किसी साधनहीन को खाने के लिए बीज जोतने के लिये हल-बैल आदि खरीदकर सम्पत्ति दान देना। उच्चतम नैतिकता का एक स्तर यह भी है कि विनोबा भावे द्वारा प्रवर्तित

1 भारत की अन्तरात्मा

सम्पत्ति-दान के अनुसार जब कोई सम्पत्ति दान देता है वह अपनी ही आत्मा को साक्षी बनाकर देता है। हिसाब सर्व सेवा संघ के पास भेजता है और दान का रुपया खुद खर्च करता है। विचारों की इसी पीठिका पर दान का अर्थ शंकराचार्य से प्रेरणा लेकर (दान संविभाग) सम्यक् विभाजन ही मान लिया गया है। गांधी-विनोबा के यहां मन और वाणी प्रार्थना में लीन होती है और हाथ सूत कातते हैं। कर्मकाण्ड का रूप बदल गया क्योंकि अभी तक पुजारी जो हाथ से घंटी बजाते और जबान से श्लोक कहते थे, अब प्रार्थना के साथ हो गया समाजोपयोगी रचनात्मक कार्य में उत्पादक काम से। सानं गुरुजी ने लिखा "समाज रूपी ईश्वर की यह कर्ममय पूजा रसमय मधमय करना है। उस कर्म का ही जप करना है। यह कर्म किस प्रकार उत्कृष्ट होगा यही चिन्ता हमें रखनी चाहिये। [1] जप यानि निदिध्यास। कल की अपेक्षा आज का कर्म अधिक सुन्दर हो आज की अपेक्षा कल का काम अधिक सुन्दर हो। इस प्रकार की भावना मन में रखना। इस प्रकार लगातार मन में अनुभव करना ही जप है-इसी से हम मोक्ष के अधिकारी होते हैं।' [2] पहले राम राम राम राम रम रम रम, रम करना जप था। यह जड़ जप था। अब जप में सुगंधि आ गई। यह सुगंधि है नैतिकता की। पहले गुरु होता था किसी मठ का अधीश्वर किसी सिद्धपीठ का आचार्य, आदि। वह एक विशेष कर्मकाण्ड के साथ होने वाले शिष्य के कान में फूंक मार देता था बस! यह जड़ता थी। कहीं गल को फांस देती थी। अधिकांश समाज इस जड़ता में जकड़ जाकर जड़ ज्ञान वाला होकर अनैतिक होता जा रहा था। नये आन्दोलन या नई दृष्टि ने गुरु का नया अर्थ बताया। गुरु का मतलब है अब तक का सम्पूर्ण ज्ञान। गुरु मानो एक प्रकार से हमारा ध्येय है। हम जिस ज्ञान की पिपासा है वह अधिक यथार्थता से जिसके पास हम प्रतीत होता है वही हमारा गुरु बन जाता है। [2] अपने कर्त्तव्य या उत्तरदायित्व से भागना या-उसको ठीक से न सम्पादित करना अनैतिकता है लेकिन ऐसी अनैतिकता के लिये आज हम मजबूर हो गये हैं। मजबूर इसलिये हो गये हैं कि उसमें हमारा मन नहीं लगता और मन इसलिये नहीं लगता कि हम वह कार्य करना पड़ता है जो हमारी रुचि का नहीं है (उससे हमारा स्वार्थ भले ही सधता हो!) जिसके लिए हमारे पास समुचित संस्कार नहीं। संस्कार है रुचि है, पुड़िया बांधने की और डंडी मारने की मगर जमाने ने बना दिया है प्रोफेसर और वह भी इसलिये कि रट कर और किसी की कृपा से प्रमाण पत्र और पद पा लिया गया है। निश्चित

१ 'भारतीय संस्कृति' पृ ८०।

२ वही, पृ १२१।

है कि यह ऐसे आदमी का 'स्वधर्म' नहीं। स्वधर्म है पुड़िया बांधना और अधिक लेकर कम देना और जिससे मन न मिले या स्वार्थ न सधता हो उसकी जड़ काटना। ऐसे लोग विद्याभवन में भी 'स्वधर्म' ही करेंगे। इसलिये 'स्वधर्म' की व्याख्या हुई अपनी विशुद्ध रुचि का थाम हाथ में लेना। ऐसे कर्म के प्रति प्रेम पैदा हो जायगा। भक्ति की भी आवश्यकता है अर्थात् करना यह है कि जिनके लिये हम कर्म कर रहे हैं उनके प्रति भी प्रेम पैदा हो जाय। उन्हीं को हम भगवान मानने लगें। ऐसा होते ही हमारा कर्म भक्तिमय हो जायगा। गांधी ने आजीवन इसी का प्रयत्न किया है, विनोबा भी यही कर रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि हम यह मानने लगे कि सच्चा आनन्द कर्म में है। अपने हाथ-पैर, अपने हृदय, और अपनी बुद्धि को सेवाकर्म में नियोजित कर देने से विशुद्ध आनन्द पाने की कल्पना हममें पैदा हुई।

रामतीर्थ[1] का योग—

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में रामतीर्थ विशुद्ध आत्मशक्ति के रूप में दिखाई पड़ते हैं। उनके पीछे वस्तुतः न कोई बड़ा संगठन था और न कोई बड़ी संस्था। उनके उद्‌गार और विचार केवल पुस्तकों के माध्यम से हम तक पहुंचे। फिर भी उनकी बातें स्थायी प्रभाव डालने वाली हुईं। सचमुच उनकी आत्मा देश काल, जीवन मृत्यु और विभिन्न धर्मों से बहुत ऊपर उठ गई थी। वे सही मानों में अपनी देह को भूल जाया करते थे। असाधारण भावुकता और तन्मयी स्थिति उनकी स्वाभाविकता हो गई थी। उन्होंने कहा कि जापान को मैं अपने देश के समान समझता हूं और यहां के अधिवासी मुझे अपने देश-बान्धव मालूम होते हैं। क्या चमत्कार था कि उनका जन्म भी दीपावली के दिन, कृष्णार्पण भी दीपावली के दिन और जल समाधि भी दीपावली के दिन!! उनकी तन्मयावस्था का यह स्वरूप था कि वे अपने को विशुद्ध और केवल आत्मा ही समझते थे और इसलिये कहते थे मैं स्वयं मृत्यु हूं। बिना मेरी इच्छा के वह मेरा काल भी नहीं बांका कर सकती। वे पूर्ण स्वतन्त्र थे और उनकी स्वतन्त्रता का अर्थ था देश, काल और वस्तु से मुक्ति। आत्मउत्थान की अत्यन्त ऊँची सीढ़ी पर खड़े होकर उन्होंने कहा क्रिश्चियन, हिन्दू, पारसी, आर्यसमाजी, सिक्ख, मुसलमान और वे लोग भी जिनकी हड्डियां, नसें, मांस मेरी प्रिय इष्टदेवी भारतभूमि के अन्न जल से पुष्ट हुए हैं मर भाई हैं—नहीं मेरी आत्मा है। उनसे कह दो कि मैं उनका हूं। मैं सबको स्वीकार करता हूं—किसी को नहीं

---

१ इनके ये उद्धरण इतने प्रसिद्ध हैं कि उनके मूल स्रोतों या स्थानों के उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई— सम्पादक।

छोड़ना। आत्म-उत्थान की एक दूसरी छवि देखिए— मैं प्रेम हूं— सचमुच मैं प्रेम का सागर और प्रेम का विभव हूं। मैं सबसे समान प्रेम करता हूं। और तो क्या-यदि कोई शत्रुत्व भाव से भी मेरे सामने आवे तो उसे भी मैं बड़े प्रेम के साथ गले लगाऊंगा। मेरा प्रेम इतना गहरा है कि शत्रुत्व उसमे डूबकर तुरत नष्ट हो जायगा"। इस आत्मभाव ने स्वदेशाभिमान और वेदान्त को असाधारण आश्चर्य के साथ एक कर दिया -"अपने हृदय मे यह भाव उत्पन्न कीजिए कि "मैं देश हूं— भारत हूं —भारतवर्ष हूं। भारत की भूमि ही मेरा शरीर है, 'कमोरिन' मेरे पैर हैं हिमालय मेरा शिर है मेरे शिर की चोटी से ही ब्रह्मपुत्र और सिंधु निकली हैं विंध्याचल मेरी कमर मे बंधा हुआ कमरबन्द है, 'कारोमंडल' और मलाबार मेरा दाहिना और बायां पैर है। मैं समस्त भारतवर्ष हूं भारत की पूर्व और पश्चिम दिशाएं मेरी दाहिनी और बाईं भुजाएं हैं और समस्त मानव जाति को आलिंगन करने के लिये मैंने अपनी दोनों भुजाएं फैला दी हैं। मेरा प्रेम विश्वव्यापक है। अहा! हा! मेरे शरीर की गठन ही इस प्रकार है। खड़ा होकर अनन्त दिक्काल की ओर अपनी दृष्टि दौड़ाता हूं परन्तु मैं अन्तरात्मा— विश्वात्मा हूं। मैं जब चाहता हूं तो मालूम होता है कि सारा भारत चलता है, बोलता हूं तो भारतवर्ष बोलता है और श्वास लेता हूं तो सारा देश श्वास लेता है। मैं भारत हूं शंकर हूं शिव हूं यह भाव हृदय में तो उत्पन्न होना ही स्वदेशाभिमान है और इसी को व्यावहारिक वेदान्त कहते हैं। रूपक की तरह से लिखना आसान है किन्तु साधारण कल्पना शक्ति के पर झड़ जाते हैं उस आत्मा को विभुता तक पहुंचने में जिस पूरी ईमानदारी के साथ उपर्युक्त भाव की अनुभूति होती हो! ऐसे स्वामी रामतीर्थ ने देश के आर्थिक और नैतिक उत्थान के लिये कहा राम, सबसे ऊंचे पर्वत पर खड़ा होकर घोर गर्जन के साथ कहता है कि दरिद्रता और दौर्बल्य की शिकायत करने वाले लोगो, सचमुच तुम सर्वशक्तिमान परमात्मा हो स्वयं 'राम' हो। अपनी ही कल्पनाओं में स्वयं मत जकड़ जाओ। उठो जागृत हो जाओ और अपनी निद्रा और संसार रूपी स्वप्न को झाड़कर अलग फेंक दो। जब तुम ही सब कुछ हो तो वृथा दुःख और दरिद्रता में क्या फंसे पड़े हो! अरे जगो उठो और निजस्वरूप को पहचान लो। यह सब दुःख दरिद्र अपने आप ही लोप हो जायगा। सारे सुखों की खान और सम्पूर्ण आनन्द का अन्तरात्मा तुम्हीं हो'-इस दुःख और दरिद्रता का स्वरूप समझाते हुए उन्होंने कहा कि 'यह मेरा वह मेरा कहकर ममत्व के पीछे पड़े हुए मनुष्य ही सच्चे दरिद्री और कंगाल हैं। उनके अनुसार अपने आपको एक शरीर में परिच्छिन्न करना करावास है और अपने आप को सारा देश ही नहीं सम्पूर्ण संसार अनुभव करना

आत्मरूप की प्राप्ति, आत्मा का विस्तार एवं उत्थान है। स्वामी रामतीर्थ के अनुसार पशुवृत्तियों को जीतना और अपने अहम् को सर्वव्यापक करना चाहिये। उनके कथनानुसार इच्छाएँ तभी पूरी हो सकती हैं जब हम इच्छाओं से ऊपर उठ जायँ। भोक्ता या कर्ता के भाव को वे उत्थान का बाधक मानते थे। उन्होंने चार ऋण बताए—ईश्वर के प्रति, मानव जाति के प्रति, देश के प्रति और अपने प्रति। वे तीन 'कृपाएँ' मानते थे—ईश्वर की कृपा, गुरु की कृपा और आत्मकृपा। उनके अनुसार सफलता का साधन है उद्योग, स्वार्थत्याग, निरभिमान, 'मैं' का विस्मरण,[1] विश्वव्यापी प्रेम, प्रसन्नता, निर्भयता और स्वावलम्बन। वे भारत के लाखों साधुओं को तनखा के पानी की काई मानते हुए भी उनमें से कुछ को कमल मानते थे।

विवेकानन्द का योग—

स्वामी विवेकानन्द के योग और महत्त्व को हम पीछे देख चुके हैं। यहाँ उनके भी उन विचारों को देख लेना अनुचित न होगा जिन्होंने हमारे आत्मिक और नैतिक स्तर की गौरवमयी स्थिति तक ऊपर उठाया है। स्वामी जी व्यक्तिगत ईश्वर की उपासना के विरुद्ध थे क्योंकि इससे धर्मगुरुओं का सम्प्रदाय पोषित होता है और जब तक ये धर्म-गुरु हैं तब तक समाज में अत्याचार होंगे और इसीलिये उच्चभाव हो नहीं पैदा हो सकते। धर्मगुरु और व्यक्तिगत ईश्वर वेदान्त की तलवार से धराशायी हो जाते हैं। निश्चय हुआ कि समाज को उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठित करने के लिये ही स्वामी जी ने वेदान्त धर्म का प्रचार किया। इस वेदान्त धर्म का प्राण है एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।

स्वामी जी ने कहा है "ऐसी चिरस्मरणीय वाणी और कभी उच्चरित नहीं हुई थी और न इतना महान सत्य ही कभी आविर्भूत हुआ और यही सत्य ही हमारी हिन्दू जाति के जीवन का मेरुदण्ड होकर रहा है।"[2] तात्पर्य यह हुआ कि यही सत्य पुरुषार्थ में भी है और यही माया में भी। कोई भी कर्म बुरा नहीं। हर कर्म पूजा है। अतएव आवश्यकता और परिस्थिति तथा वृत्ति के अनुसार कोई भी कार्य किया जा सकता है। यदि उसका अनुष्ठान किया जाय तो सभी कार्य किसी न किसी रूप में मनुष्य के उत्थान के लिये हैं। इस संसार में मनुष्य से बढ़कर और कुछ नहीं है। स्वामी जी ने बताया है "अनादि अनन्त के मत से मनुष्य ही जगत में सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और पृथ्वी ही सर्वश्रेष्ठ स्थान है कारण कि यहाँ पर मुक्त होने की सम्भावना है।" इस अपूर्व वाणी के द्वारा स्वामी जी ने सारों में अपने नवीन

---

1 वेदान्तपथ पृ १२६।

2 "भारतवर्ष", पृ ३८।

और आत्मिक उत्थान की आशा और रुचि पैदा की। तरीका यह बताया "मस्तिष्क को ऊँची-ऊँची विचारों, ऊँचे-ऊँचे आदर्शों से भर लो उन्हीं को दिन-रात मन के सम्मुख स्थापित करो।"[१] उनके गुरुदेव रामकृष्ण ने कहा था कि बाघ में भी ईश्वर है यह सत्य है परन्तु जैसे बाघ के सम्मुख जाना उचित नहीं वैसे ही दुष्ट मनुष्य के अन्दर भी ईश्वर के होते हुए उस दुष्ट मनुष्य का संग करना उचित नहीं। बीसवीं सदी में गांधी जी ने कहा कि घृणा दुष्ट से नहीं उसकी दुष्टता से होनी चाहिए शायद स्याद्वाद को ध्यान में रखकर स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि जो शुभ-कर्मों में भी कुछ न कुछ अशुभ तथा अशुभ कर्मों में भी कुछ न कुछ शुभ देखते हैं वास्तव में उन्होंने कर्म का रहस्य समझा है। यह कह कर स्वामी जी शुभ-अशुभ के भी संकुचित बन्धन से मानव की चेतना को ऊपर उठाना चाहते थे। उनका मत था कि प्रवृत्ति के बन्धन को चीरकर मनुष्य अपने गन्तव्य मार्ग को प्राप्त करता है। भारत का लक्ष्य था अपने प्राचीन गौरव की पुनर्प्राप्ति और इसलिये भारतीयों का लक्ष्य हुआ महान भारतीय बनना अपने पूर्वजों की तरह बनना। इसके लिये यह आवश्यक था कि हम दूसरों के मुखापेक्षी न रहें बल्कि स्वयं सक्षम तथा समर्थ बनें। स्वामी जी ने कहा 'अपने आप में विश्वास करो और यदि तुम धन-सम्पत्ति चाहते हो तो उसे पाने के लिये प्रयत्न करो वह तुम्हें अवश्य मिलेगी। यदि तुम प्रतिभाशाली और मनस्वी होना चाहते हो तो उसके लिये भी चेष्टा करो तुम वैसे ही होगे। यदि तुम स्वतन्त्रता चाहते हो तो प्रयत्न करो तुम स्वतन्त्र बनोगे।'[२] इस आश्वासन के द्वारा स्वामी जी ने प्रयास करने और कर्मयोगी होने का सन्देश दिया। स्वामी जी धुरंधर कर्मी या कर्मयोगी और प्रबल इच्छाशक्ति वाले को ही महापुरुष मानते थे। कर्मयोग और दृढ़ इच्छाशक्ति ही महापुरुषत्व है। ऐसा मनुष्य जो होना चाहे वही हो जायगा। तो, प्रश्न उठता है कि मनुष्य क्या होना चाहे। स्वामी जी की राय है कि मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिये आत्मोपलब्धि। कारण यह है कि अन्य सभी चीजों की प्राप्ति क्षणिक होती है। उनका विचार है कि जो लोग ऐशो और विलासिता की ओर झुक रहे हैं वे कुछ देर के लिये भले ही तेजस्वी और बलवान जान पड़ें किन्तु अन्ततोगत्वा वे बिल्कुल नष्ट हो जायेंगे। इसीलिये स्वामी जी अपरिग्रह संयम और त्याग को महत्व पूर्ण मानते थे। त्याग को वे 'भारत की सनातन पताका' मानते थे। यही कारण है कि थोड़े में जीवन-यात्रा का निर्वाह करके आत्मसंयम पूर्वक प्रयत्न करना चाहिये। वे पवित्रता को मूल तत्व मानते थे। इनके बिना पवन गुफा वासी अथवा स्वर्ग-प्रभी

१ ज्ञान योग पृ ६२

२ 'वेदान्त धर्म', पृ ८४।

बेकार है। यदि पवित्रता हुई चित्त निर्मल हुआ तो वास्तविक सत्य का अनुभव अवश्य होगा। ऐसा व्यक्ति किसी से भी नहीं डरेगा क्योंकि उसे अपने ऊपर विश्वास होगा। हमारे पतन का कारण उन्होंने यही बताया कि हम डरते हैं क्योंकि हम अपने ऊपर विश्वास नहीं। उनका कथन है, 'हमारे देश के ये तेतीस करोड़ लोग मुट्ठी भर विदेशियों के सामने सिर झुकाते हैं और वह लोग हमसे नहीं झुकते, इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि उनका अपने पर विश्वास है और हम लोगों को अपने ऊपर विश्वास नहीं है।'[1] इसीलिये उन्होंने हमें शक्तिशाली बनने का उपदेश दिया और कहा कि वे ऐसे युवक चाहते हैं जिनका शरीर फौलाद का बना हो। उन्होंने जाति और वर्ग के भेद को भुलाकर सबमें आत्मन् के देखने का सदेश दिया और सभी को महान तथा साधु बन सकने का अधिकार दिया, जाति विशेष सबल-निर्बल का विचार न कर प्रत्येक स्त्री-पुरुष को, प्रत्येक व्यक्ति को सिखलाओ, बतलाओ बतलाओ कि सबल-दुर्बल ऊँच-नीच सभी के भीतर वह अनन्त आत्मा विद्यमान है इसीलिये सभी महान बन सकते हैं सभी साधु बन सकते हैं।'[2] स्वामी जी की दृष्टि में भारतीयों की महानता का स्वरूप पाश्चात्य नहीं हो सकता। उनका कथन है हमें अपनी जातीय विशेषता को रक्षित रखना होगा हमारे अधिकांश आधुनिक संस्कार पाश्चात्य कार्यप्रणाली का अनुकरण मात्र हैं। भारत में कभी इसके द्वारा सुधार नहीं हो सकता।[3] हिन्दू-जाति और उसकी अमरता की शक्ति में स्वामी जी का अखण्ड विश्वास था। वे मानते थे कि हिन्दू-जाति की यह जीवनी शक्ति समय आने पर महानदी की तरह प्रवाहित होगी। उनके ही शब्दों में इसका कारण यह है "अपनी वीरता के कारण वे (भारतवासी) मृत्यु का एक सहोदर के समान सामना कर सकते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि उनके लिये कोई मृत्यु नहीं है। इसी वीरता ने उन्हें शताब्दियों के विदेशी आक्रमणों और निर्द्वन्द्व अत्याचारों के सम्मुख अजेय रक्खा है। वह जाति भी जीवित है और उस जाति में इस अधम दुर्दशा और विपत्ति के दिनों में भी आत्मिक उन्नति के प्रबल महारथी हुए हैं।[4] निश्चित है कि ये विचार किसी भी जाति के आत्मिक और नैतिक उत्थान में असाधारण रूप से सहायक हो सकते हैं। यह आत्मा की वाणी है यह नीति की वाणी है। बीसवीं सदी में स्वामी जी के ये विचार पुरुषों के माध्यम से चारों ओर फैल गये।

---

१ वर्तमान-वर्ण्य पृ २०६।
२ वही पृ २११
३ वही, पृ २१८।
४ भक्ति-वर्तमान पृ १८।

गाधी की देन—

पीछे हम देख चुके हैं कि गाधी जी ने भिन्न-भिन्न उपायो और साधनों के द्वारा देश के आत्मिक और नैतिक उत्थान का प्रयास किया था। यहा हम यह देखना है कि उन्होंने भिन्न-भिन्न गुणो और प्रवृत्तियों को विशेष रूप से उभारा। गाधीवाद पर अपना मत प्रकट करते हुए शान्ति प्रिय द्विवेदी ने लिखा है कि अब तक अज्ञान के वातावरण में साधारण वर्ग दु ख सहता आया है एक मूढ दार्शनिक की तरह उच्च वर्ग स्वर्गीय सुख प्राप्त करता आया है एक कूटनीतिज्ञ की तरह। इस मूढता और कूटनीतिज्ञता के बीच मुमूर्षु मानवता का जागरण ही समाजवाद और गाधीवाद है।[1] उनके मत मे दुखो का वस्तुनिष्ठ कारण, सामाजिक विवेक, ऐतिहासिक तत्वान्वेषण और ऐतिहासिक विकृतियो का प्रकट करण समाजवाद के द्वारा होता है तथा ईश्वर धर्म और भाग्य का समुचित स्वरूप आध्यात्मिक बल, पौराणिक शोधन और सत्य का उसके आदर्श रूप मे उपस्थित करना गाधीवाद के द्वारा होता है। अन्य सच्चे महात्माओ की ही तरह गाधी जी मे भी यह विशेषता थी कि वे कहते थे बाद मे और करके पहले दिखा देते थे। उनके गुण वाणी द्वारा अभिव्यक्त होने के पूर्व उनके कर्मों और व्यक्तित्व से पूर्णरूपेण अभिव्यजित हो उठते थे—ठीक वैसे ही जैसे प्रखर प्रकाश के विकीर्ण होने के पूर्व अरुणाभा। लोग यह तो कह सकते थे कि क्या करें, भाई हम महात्मा नही है। यह हमसे नहीं होता, लेकिन कोई यह नही कह सकता था कि गाधी जी की अमुक बात कही नही जा सकती। उनकी इस विशेषता के कारण लोग उनकी बातो से असाधारण रूप से प्रभावित हो जाया करते थे।

गाधी जी ने आत्मबल को शाश्वत बल और जडवाद का या पशुबल को निकम्मी चीज माना। उन्होने कहा है, आज जडवाद का ही बोलबाला है और लोग ऐसा मानने लगे कि चेतनवाद या आत्मबल कुछ है ही नही क्यो कि हम न तो हाथों से उसे छू सकते हैं, और न आखो से देख सकते हैं। परन्तु मैं अध्यात्मवादी हूँ और मेरे लिये नैतिक बल के सामने पशुबल की कोई कीमत ही नही है। मैं तो अब भी यही कहूँगा कि पशुबल अस्थायी है और अध्यात्मबल या आत्मबल या चेतनबल एक शाश्वत बल है। वह हमेशा रहने वाला है क्यो कि वह सत्य है। जडवाद तो एक निकम्मी चीज है।[2] अकेले इसी आत्मबल के सहारे गाधी ने सारे ससार की भौतिक शक्तियों और प्रभुताओ को चुनौती दे दी थी। सत्याग्रह मे इसी आत्मबल

---

१ 'युग और साहित्य', पृ ८७।

२ प्रार्थना प्रवचन' भाग १, पृ २००

की अभिव्यक्ति होती है। वस सत्याग्रह कोई नई चीज नहीं है। गांधी जी ने स्वीकार किया है कि सत्याग्रह शब्द से पहले उसकी उत्पत्ति हो चुकी थी। नामकरण में विलम्ब हुआ। पहले इसे पैसिव रेजिस्टेंस कहा गया। पर जब गांधी जी ने देखा कि इसका संकुचित अर्थ किया जा रहा है इसे कमजोरों का हथियार समझा जाता है और उसमें से हिंसा के प्रकट होने की सम्भावना है तो मगनलाल गांधी ने 'सदाग्रह' का सुझाव दिया जिससे गांधी जी ने 'सत्याग्रह' बना लिया। यह सत्याग्रह संघर्षों का अन्त नहीं करता बल्कि उनके स्तर को ऊँचा उठा देता है। यह संघर्ष कुरूपताओं से मुक्त है। यह संघर्ष विनाश नहीं निर्माण करता है। यह नैतिक स्तर पर उठ आता है यह गलती करने वालों को बदल देता है। सत्याग्रही विरोधी के प्रति प्रेम, सहानुभूति और आदर करता है। वह विरोधी पक्ष को भी ध्यान में रखता है। इसका सबसे कठिन अंश है विनय और विनय से तात्पर्य है विरोधी के प्रति भी मन में आदर, सरलभाव, उसके हित की इच्छा और तदनुसार व्यवहार।[1] सत्याग्रह कभी निराश नहीं होता। ऐसे विनय और ऐसी आशावादिता के लिये असाधारण आत्मबल की आवश्यकता है जो असत्यवादियों या कायरों में कभी नहीं पाया जा सकता और इसीलिये गांधी जी ने लिखा था नामर्द कभी सत्याग्रही हो ही नहीं सकता इसे पक्का समझिये।[2] शक्ति आती है सत्य के आचरण से और अहिंसा के भाव से। सत्य का स्वरूप है निर्माण या सृजन या रचनात्मकता, और अहिंसा का स्वरूप पर से प्रेम या पर से आत्मप्रतीति। सत्याग्रही को असत् भाषण नहीं करना है। झूठ नहीं बोलना है। चम्पारन में गांधी जी पर चलने वाले मुकदमे की असाधारणता का उल्लेख करते हुए राजेन्द्र बाबू ने कहा है कि गांधी जी ने गवाहों को यह कहकर निरर्थक सिद्ध कर दिया कि उनको हुक्म मिला था और उन्होंने मानने से इन्कार कर दिया। गांधी जी ने कहा कि उन्होंने विवेक बुद्धि की आज्ञा मानकर सरकार की आज्ञा टाल दी। इससे मजिस्ट्रेट तो हक्का बक्का रह ही गया, न मालूम कितनों के अन्दर सच बोलने की चाह पैदा हो गई।[3] न मालूम कितने किसानों के अन्दर इतनी शक्ति आ गई कि जो गोरों का नाम सुनते ही कांप उठते थे वे उनके खिलाफ बयान देने आने लगे। फिर सत्य निष्ठा आई। उनकी कार्य प्रणाली बताते हुए राजेन्द्र बाबू ने लिखा है — 'जब तक बातों की पूरी तरह जांच न कर लें और उनका यह अपना विश्वास पक्का न हो जाय कि जिन शिकायतों को वह दूर करना

१ हिन्द स्वराज, पृ ८८

२ बापू के कदमों में पृ ११–१४।

३ वही पृ १६।

हते हैं वे सच्ची हैं वह कुछ करना नहीं चाहते। मैं फिर इतनी शक्ति मिली कि जो करना चाहते थे उसकी सूचना अपने विरोधियों को भी दे देते थे। इसीलिए गांधी निडर थे। वे न मौत से डरे न पुलिस से डरे, न जेल से डरे न कठिनाइयों से डरे और न नोआखाली के गुंडों से डरे। यही स्थिति उनके सच्चे अनुयायियों की भी थी। शक्ति मिली निर्भयता मिली। इसी सत्य ने अपने निश्चय पर दृढ़ रहने की शक्ति दी। गांधी का आत्मबल सत्य से निकलता है और सत्य ही गांधी का परमेश्वर है। इस सत्य पर विश्वास ही आस्तिकता है। इसलिए गांधी जी बहुत बड़े आस्तिक थे। उन्होंने बार बार कहा है कि ईश्वर पर विश्वास बहुत बड़ी चीज है। उन्होंने कहा है धर्म उन लोगों के कारण बढ़ता है जो ईश्वर का नाम लेते हैं ईश्वर का नाम करते हैं ईश्वर का स्तवन करते हैं उपवास और व्रत करते हैं और ईश्वर से आरजू करते रहते हैं कि भगवन् हमें रास्ता नहीं दीखता, तू ही दिखा दे। गांधी जी मानते थे कि राम नाम सबसे ऊँची दवा है किन्तु उसका अनुभव करने के लिये धीरज चाहिये। उस ईश्वर से शक्ति पाने के लिये प्रार्थना होनी चाहिए और गांधी जी के लिए प्रार्थना कितना महत्वपूर्ण थी —यह कहने की आज आवश्यकता नहीं रह गई। यह आत्मशक्ति ही एक बहुत बड़ी देन थी कि गांधी को सबकी अनमत साहस पर विश्वास था। उनका कहना था कि विश्वास निकलता है। विश्वास से दगाबाजी का सामना करने की ताकत मिलती है।[1]

संयम का वे अहिंसात्मक बहादुरी का एक साधन समझते थे। संयम ही हमें प्रतिहिंसात्मक होने से रोक सकता है। वे गुस्से का जवाब गुस्से से देना अन्याय समझते थे। वे केवल साध्य की ही सात्विकता से संतुष्ट नहीं थे बल्कि साधन को भी सात्विक देखना चाहते थे। उनका विश्वास था कि गलत साधन से सही काम कभी हो ही नहीं सकता। गांधी जी उपवास को आत्मशुद्धि का अचूक साधन मानते थे। उनका यह भी विश्वास था कि किसी विषय में यदि सफलता नहीं मिली तो उसका कारण अपने ही अन्दर की कोई कमी है। इसीलिए उनका विश्वास था कि कोई बाहरी शक्ति इन्सान को नहीं गिरा सकती। गांधी जी अपने प्रतिपक्षी को प्रेम के प्रयोग से जीतते थे। उनके मन में अपनी भावनाओं को जागृत करके वश में करते थे। उन्होंने अपने लड़ने का जो तरीका बताया है वह पूर्णरूपेण आत्मिक और नैतिक शक्तियों पर आधारित है। उनका कथन है मेरा लड़ने का तरीका तो राम जैसा है।[2]

---

१ प्रार्थना प्रवचन, भाग १, पृ ६०।

२ प्रार्थना प्रवचन पृ १५–१६।

राम-रावण-युद्ध जब चल रहा था तब विभीषण ने राम से पूछा कि आप बिना रथ के हैं आप कैसे लड़ेंगे? तब राम ने सच्चाई, शौर्य, आदि गुणों के आधार पर कैसे लड़ाई लड़ी जाती है, यह बताया।"[1] गांधी जी जिस अशरीरी तत्व के उपासक थे 'राम' उसी का प्रतीक बना। गांधी जी ने सफाई पर बड़ा जोर दिया और कहा कि जिसका शरीर मलिन है क्यों कि वह भी मन की मलीनता से ही होता है और साथ ही जिसकी दृष्टि में गन्दी रहती है जो भगवान का भजन न सुनकर दुष्टों का इतिहास सुनता है वही गन्दा काजी है। गांधी जी के अनुसार अपनी सच्ची सफाई अपने ही द्वारा हो सकती है और इसीलिये वे खुद की मदद या स्वाश्रय के कायल थे। स्वावलम्बन को वे नितान्त आवश्यक समझते थे। वे चाहते थे कि आदमी कम से कम में अपना गुजारा कर ले। वे अपरिग्रह सिखाते थे। वे स्वादेंद्रिय पर विजय पाने को अत्यन्त कठिन किन्तु अत्यन्त आवश्यक मानते थे। छुआ छूत का भी उन्होंने घोर विरोध किया। वे इतना सादा भोजन पसंद करते थे कि नमक मिर्च जसी चीजें भी मिलाकर कुछ पांच ही चीजें भोजन में चाहते थे। बुराई दूर करने का उनका तरीका सक्रिय असहयोग का था। कानून और सरकार को वे हिंसा से सबधित मानते थे और हिंसा उन्हें इतनी असह्य थी कि उन्होंने लिखा है, यह मानना नास्तिकपन और वहम है कि बहुसंख्यक की बात अल्पसंख्यक को माननी ही चाहिए।[2] वे मानते थे कि संख्या और शस्त्र के सामने संकल्प और साहस बल भारी पड़ सकता और विजयी हो सकता है। इन और ऐसे ही अनेक गुणों का और प्रवृत्तियों का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रचार करके गांधी ने मोतीलाल नेहरू से लेकर देहातों के अज्ञात-अप्रसिद्ध कार्यकर्ताओं तक को खद्दर पहनवा दिया चर्खा कतवा दिया सादा जीवन बितवा दिया उबाल चने चबवा दिये प्रार्थना में बिठला दिया जेल जाना और वहां के कष्ट सहना सिखा दिया। गीता लेकर हंसते-हंसते फांसी पर चढ़ जाना सिखा दिया। पंजाब के गुरुद्वारों के बहुतेरे निकम्मे और दुराचारी महन्तों का गुरुद्वारों पर नियंत्रण कम करने के लिए अकालियों ने बीसवीं सदी के तृतीय दशक में जो आन्दोलन चलाया था वह गांधी जी की उपयुक्त शिक्षाओं का ही प्रभाव था। उनका स्वरूप यह था कि सरकार ने अकालियों को सत्याग्रह करने के लिये जाने से रोका 'कुछ अच्छे तगड़े जवान सिक्ख हाथ जोड़े आगे बढ़े। उधर से लोहे और पीतल से मढ़ी हुई लाठियां लिये हुए पुलिस के सिपाही एक अंगरेज अफसर के साथ आगे आए। उन लोगों को उन्होंने रोका। वे लोग बढ़ गये। इस पर उन लोगों

---

१ प्रार्थना प्रवचन पृ० १५, १६।

२ 'हिन्द स्वराज' पृ० ८६।

को लाठियों से पीटा। वे फिर उठकर खड़ा होना चाहते पर मार कर गिरा दिये जाते। यह क्रम उस वक्त तक चलता रहता जब तक वे बेहोश नहीं हो जाते। बेहोश हो जाने पर ऐम्बुलेन्स पर लादकर उनको दूसरे लोग उठा लाते। कभी-कभी उनके केश पकड़ कर उन्हें घसीटा भी जाता पीठ पर अथवा सिर पर वार करते थे, अथवा दोनों जघों के बीच में लाठी लगाकर फोते पर चोट करते या पेट में मारते थे सिक्खों की हिम्मत और बर्दाश्त की शक्ति भी अद्भुत थी।'[1] यह आत्मशक्ति का ही प्रभाव था कि एक बार जब गांधी से कहा गया कि अपना संदेश रेकार्ड करवा दें तो उन्होंने कहा कि यदि मेरे संदेश में सत्य है तो मैं जेल के अंदर रहूं या बाहर उसे लोग सुन ही लेंगे। शान्तिप्रिय द्विवेदी ने नेहरू जी का यह विचार लिखा है कि खादी का सबसे अच्छा परिणाम मानसिक हुआ है।[2] खादी ने शहर वालों और गांववालों के बीच की खाई को पाटने में कुछ कामयाबी हासिल की है। शहर से ग्राम निर्भरता की निकली। राजेन्द्र बाबू ने लिखा है कि हम सत्याग्रह को जिस ऊंचाई पर पहुंचे हैं उससे निःसन्देह इतिहास का रूप बदल गया है।[3] यह आत्मिक और नैतिक उत्थान संबंधी आंदोलनों का ही प्रभाव है कि वह लाठी जो मारने का साधन थी आगे बढ़ने का सहारा बन गई। इसी प्रभाव के परिणामस्वरूप भारत की राष्ट्रीयता में अंगरेजों के प्रति द्वेष या घृणा बहुत कम थी। आर्यसमाज ने ओजप्रधान सामाजिक विवेक जागृत किया था जिसे गांधी ने आत्मशक्ति द्वारा सत् प्रधान राजनीति में परिवर्तित कर दिया और शचीन्द्रनाथ सान्याल ने लिखा है,

अधिकांश युवक एक ऊंचे आदर्श को साथ में अपने संपूर्ण जीवन को सार्थक बनाने की खोज में, अपने मनुष्यत्व का अपने व्यक्तित्व का अपने 'स्व' का सर्वांङ्गीण स्वतंत्र विकास करने की खातिर इस व्रत में दीक्षा लेते थे।[4]

हम पर इनका प्रभाव—

इस प्रकार नैतिक और आत्मिक पुनरुत्थान की प्रवृत्तियां एवं आन्दोलनों ने हमारे जन-मानस को आश्चर्यजनक रूप से प्रभावित किया। साहित्यिक-चेतना जन मानस की अपेक्षा कहीं अधिक संवेदनशील और ग्रहणशील होती है। उस पर इनका

---

१ 'राजेन्द्र बाबू कृत आत्मकथा' पृ० २३५, २३६, २३७।

२ वृन्त और विकास, पृ० १६।

३ पट्टाभि सीतारामय्या कृत कांग्रेस का इतिहास, की भूमिका पृ० ७।

४ 'बन्दी जीवन, भाग २ पृ० ६।

भाव भारतेन्दु युग में ही पड़ना प्रारम्भ हो गया था क्योंकि आधुनिक काल में भारतेन्दु युग में ही हिन्दी साहित्यकारों ने धार्मिक सहिष्णुता का मार्ग अपनाना प्रारम्भ कर दिया था जिसकी पूर्णतम परिणति बीसवीं सदी में हमें मैथिलीशरण गुप्त में दिखाई पड़ती है। रूढ़ियों और अंधविश्वासों की विपुल राशि को काट फेंकने के आर्यसमाजी कार्यक्रम का यह प्रभाव पड़ा कि हिंदू धर्म विशुद्ध नीति वाला धर्म हो गया। उसका नैतिक पक्ष प्रबल हो गया। आधुनिक हिन्दी साहित्य में धार्मिक साम्प्रदायिकता इसीलिये कहीं भी नहीं दिखलाई पड़ती। वह उच्चकोटि के नैतिक और आत्मिक स्तर की अभिव्यक्तियों का वृन्दावन है। विश्वनाथ मिश्र ने लिखा है कि आर्य समाज ने अपनी ओर से हिंदी लेखकों और कवियों के जीवन संबंधी दृष्टिकोण को अधिक युक्तिवादी अथवा बुद्धिप्रधान बना दिया'।[१] 'दिनकर' ने लिखा है कि शृंगार का वर्णन करते समय द्विवेदी युग के कवियों को मानो ऐसा लगने लगता था जैसे कि स्वामी दयानन्द पीछे खड़े देख रहे हों।[२] यह बड़ी भारी बात थी। परिणामस्वरूप आर्यसमाजी लेखकों की आर्यसमाजी विचारधारा से सम्बंधित विपुल कृतियों से हिंदी साहित्य भर गया। लक्ष्मी नारायण गुप्त ने इस विपुल साहित्य का विस्तृत परिचय देने का प्रयत्न किया है [३]। आर्यदर्पण, आर्यावर्त, आर्यमित्र, दयानन्द पत्रिका', वैदिक मार्तण्ड', वैदिक सदेश, अर्जुन, आर्यगजट, आर्यजीवन, सार्वदेशिक हिन्दी मिलाप, आदि पत्र-पत्रिकाएँ, उपन्यास, कहानियाँ, नाटक, जीवनचरित, वेदभाष्य एवं अन्य वैदिक साहित्य के अनुवाद आदि निकले। तुलसीराम स्वामी का सामवेद और श्वेताश्वतर का भाष्य व आर्यमुनि का वेदान्त तत्व कौमुदी इन्द्र वाचस्पति का उपनिषदों की भूमिका धर्मशर्मा अभय का वैदिक विनय', नारायण स्वामी द्वारा रचित वैदिक साहित्य, भगवद्दत्त का वैदिक वाङ्मय का इतिहास', दामोदर सातवलेकर का वैदिक साहित्य, रघुनन्दन शर्मा का वैदिक सम्पत्ति, मुंशीराम शर्मा सोम का प्रभमजा, नारायण स्वामी का आत्मदर्शन, 'मृत्यु और परलोक', गंगाप्रसाद उपाध्याय का आस्तिकवाद, दीवान चन्द का स्वाध्याय संग्रह रुद्रदत्तशर्मा के प्रहसन, वासुदेवशरण का उरुज्योति और सैकड़ों छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ हिन्दी साहित्य को आर्य समाज की महत्वपूर्ण देन हैं। इन नैतिक और आत्मिक उत्थान के आंदोलनों का हिन्दी साहित्यकारों के मानस पर

४ इन्फ्लुएन्स आफ इन्ग्लिश आन हिन्दी लैंग्वेज एंड लिटरेचर' (१८७० ई० से १९२० ई०) नामक थीसिस पृ० ८७।

१ 'काव्य की भूमिका' पृ० २८।

२ हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन' नामक थीसिस में

कितना असाधारण प्रभाव पड़ा था और वह कितना अनुभूति शील हो गया था इसका एक उदाहरण श्यामसुन्दर दास ने प्रस्तुत किया है — जब कोश की समाप्ति पर उत्सव मनाने की चर्चा हो रही थी तब यह निश्चय हुआ कि प्रत्येक जीवित सम्पादक को एक दुशाला, एक घड़ी और एक फाउन्टेन पेन उपहार में दी जाय एक दिन बातों-बातों में मैंने अपनी स्त्री से इस आयोजन का हाल कहा। उसने पूछा कि क्या तुम भी दुशाला घड़ी और कलम लोगे?' मैंने उत्तर, दिया 'क्यों नहीं?' उसने प्रत्युत्तर दिया — यह सर्वथा अनुचित है। सभा को तुम अपनी कन्या मानते हो, उसकी कोई चीज को लेना अनुचित और धर्मविरुद्ध समझते हो, फिर ये चीजें कैसे ले सकते हो?'[1] यह था द्विवेदी युग के हिन्दी-साहित्यिक का भावात्मक या आत्मिक उत्थान। फिर भी द्विवेदी युग का साहित्य निवृत्तिवादी साहित्य नहीं है। जैसे इस युग के आत्मिक उत्थान सम्बन्धी आन्दोलन व्यक्तियों को संन्यासी नहीं बनाना चाहते थे कर्मठ गृहस्थ बनाना चाहते थे, वैसे ही इस युग की कविता से संन्यास की ध्वनि नहीं निकलती और न वह संन्यासी की वृत्तियों से भरी है। वहां नर और नारी दोनों का मूल्य समाज में उठा था। पथिक में, 'प्रियप्रवास' में, साकेत-यशोधरा-भारत-भारती में एक उच्चकोटि की आत्मिक श्रेष्ठता दिखाई पड़ता है। ये पुस्तकें असाधारण रूप में ऊंचे नैतिक स्तर पर हैं, जातिगत कटुता और संकुचित दृष्टिकोण जो इनमें कहीं नहीं है सो इसी उन्नत आत्मा का फल है। अनुवादकों के द्वारा राम कृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के वचनामृत हिन्दी की निधि हो गये। निश्चित रूप से हिन्दी इनसे समृद्ध हुई है। रामकृष्ण मिशन के हिंदी प्रकाशन इसके प्रमाण हैं। द्विवेदी युग में साहित्य सृजन, कविता लिखना तथा हिंदी का प्रचार और प्रयोग पवित्र कार्य समझा जाता था। इस पृष्ठभूमि में हम रामकुमार वर्मा के इन कथनों को सही समझते हैं और उन पर विश्वास करते हैं, मैंने कविता को एक अत्यन्त पवित्र अनुभूति के रूप में समझा है। इसीलिये मैंने किसी हल्के क्षण में कविता नहीं लिखी। अपने काव्य जीवन के प्रभात में तो मैं स्नान कर कविता लिखने बैठता था आज जब मैं कविता लिखने बैठता हूं तो जैसे पूजा की पवित्रता मेरी लेखनी की नोक पर आ बैठती है। सम्भवतः यही कारण है कि मैं भौतिक शृंगार की कोई कविता नहीं लिख सका या जीवन की उन बातों पर प्रकाश नहीं डाल सका जो पार्थिव जीवन के क्रोड में अपनी दैनिक गति से घटित होना रहती हैं।[2] सम्भवतः यही कारण है कि उनके हास्य और व्यंग्य प्रधान नाटकों का उद्देश्य केवल हंसाना ही नहीं है हृदय का परिष्कार भी करना है।

---

१ मेरी आत्म कहानी' पृ १७८।
२ आधुनिक कवि भाग ३ की भूमिका पृ ३

उन्होने स्वयं इसे स्वीकार किया है।[१] नैतिक और आत्मिक उत्थान सम्बन्धी आन्दोलना की भूमिका मे ही अथवा उनके द्वारा पड़ने वाले व्यापक प्रभाव के परिणामस्वरूप ही महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उन दिनो दो-सौ रुपये मासिक की नौकरी छोड़कर तेईस रुपये मासिक की सम्पादकी स्वीकार की और इन्ही आन्दोलनों से निःसृत नवनीत के प्रभाव ने ही उन की धर्मपत्नी के मानसिक और नैतिक स्तर को इतना ऊँचा उठा दिया था कि द्विवेदी जी को उनका भी समर्थन और सहयोग मिल गया। सच मुच द्विवेदी युग म साहित्य की एक नैतिक मर्यादा थी—एक ऊँचा आदर्श था। कानन कुसुम म मत, धर्म आदि का दूर करके मानवमात्र से प्रेम करने, संसार भर को मित्र बनाने एव परम पिता की प्रिय सन्तान की तरह अभिन्न रहने की बातें हैं। कामना मे विश्वबन्धुत्व और सम्पूर्ण मानवता के प्रति प्रेम की भावना है। पंत का 'ज्योत्स्ना' नामक आदर्शवादी रूपक आत्मिक और नैतिक उत्थान सम्बन्धी इन आन्दोलनों की पृष्ठभूमि पर ही लिखा जा सकता था। पंत ने लिखा है, 'रागात्मिका वृत्ति के परिष्कार को मैंने नव मानवता के निर्माण के लिये अनिवार्य मूल्य माना है।'[२] गांधी जी का सक्रिय अहिंसा का सांस्कृतिक दान नव मानवता के अमूल्य उपादानों मे रहेगा।'[३] वे स्वीकार करते हैं कि पश्चिमका जीवन सौष्ठव हो विकसित विश्वतन मे वितरित, प्राची के नव आत्मोदय से स्वर्णद्रवित भू तमस तिरोहित इत्यादि ऐसा कहकर मैं स्वामी विवेकानन्द के सारगर्भित कथन मैं यूरोप का जीवन सौष्ठव तथा भारत का जीवन-दर्शन चाहता हूँ की ही अपने युग के अनुरूप पुनरावृत्ति कर रहा हूँ।[४] विवेकानन्द ने लिखा है बल्कि इस (शारीरिक साहस के) विषय मे तो चींटी अन्य जन्तुओं से श्रेष्ठ है[५] और पंत ने चींटी शीर्षक कविता में लिखा, "वह समस्त पृथ्वी पर निर्भय विचरण करती श्रम म तन्मय वह जीवन की चिनगी अक्षय। . जीवित चींटी जीवन-वाहक मानव जीवन का वर नायक।' प्रसाद' की 'कामायनी मे अलौकिक शक्ति सपन्नता यम-नियम उपासना समन्वय, नारी के उदात्त रूप विश्व मैत्री, मानवता प्रेम विश्वबन्धुत्व, आदि की भावना और उच्चकोटि के नैतिक जीवन तथा आध्यात्मिक बल-प्राप्ति का सन्देश मिलता है। प्रेमचन्द और 'प्रसाद का आदर्शवाद इन्ही आन्दोलनो की पृष्ठभूमि पर है। बालकृष्ण

१ 'रिमझिम'', पृ० १६।
२ चिदम्बरा', पृ० २७।
३ वही , पृ० ३१।
४ उत्तरा' की भूमिका, पृ० २२।
५ 'ज्ञानयोग', पृ० ६२।

राय ने ठीक ही लिखा है, "छायावाद विद्रोह की भूमिका म साहित्य के मच पर उतरा था पर उपदेशक बनकर हमें शान्त रहने सन्तोष करने और दुख को हँस कर स्वीकार करने का पाठ पढाने लग गया।"¹ छायावाद में निश्चित रूप से विराट और उदात्त भावनाएं हैं। इसक पश्चात् राजनीति मे समाजवादी विचारधारा फैल गई और साहित्य में प्रगतिवाद आ गया। राहुल यशपाल, अज्ञेय इलाचन्द जोशी, 'पहाडी', धमवीर भारती आदि की रचनाओ ने अपने को इन नतिक और आत्मिक उत्थान सम्बन्धी आन्दोलनों के प्रभाव से सैद्धान्तिकता और बौद्धिकता के द्वारा जैसे-जानबूझ कर मुक्त कर लिया हो। गाधी-विनोबा-विवेकानन्द के युग पर प्रजातन्त्र और समाजवाद के बादल छा गये। साहित्य मार्क्स, फ्रायड, भौतिकवाद, यथार्थवाद, आदि के धुएँ म घुटन और कुठा की अनुभूति कर रहा है।

अध्याय १०

पाश्चात्य सभ्यता और हिन्दी प्रवेश

पाश्चात्य सभ्यता और हिन्दी प्रदेश

पाश्चात्य सभ्यता क्यों लाई गई ?

भारत के व्यापार और धन पर अपना सम्पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करने के अबाध अधिकारों की प्राप्ति के लिये भारत में होने वाले यूरोपीय शक्तियों के संघर्षों में जब अँगरेज पूरी तरह से विजयी हो गया तो उसका दूसरा काम हुआ फल का उपभोग अर्थात् व्यापार पर अपना इजारा कायम करना और जिस तरह से हो सके धन बटोरना। उन्होंने राजनीतिक परतन्त्रता की शृङ्खला से बाँधकर हमें अपंगु अशक्त और प्रतिकार कर सकने में पूर्णत असमर्थ कर दिया। निर्जीव का ही अपहरण और उसकी विभूतियों का ही यथेच्छ उपयोग सम्भव भी होता है। अँगरेजों ने पहले तो सेवा-सत्कार के बदले प्राप्य बख्शीश के रूप में व्यापार करने की स्वतन्त्रता ही मांगी थी किन्तु जब उसे राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त हुए उसने उद्देश्य की दृष्टि से सही (और मानवता तथा नीति की दृष्टि से गलत) उपभोग प्रारम्भ कर दिया। तात्पर्य यह कि नीति-अनीति, सही-गलत, अच्छे-बुरे, सभी ढंगों से धन इंगलैंड पहुंचाया जाने लगा। व्यापारी को "लाभ" होने लगा। यदि अँगरेज व्यापार तक ही सीमित रहता तब तो बात दूसरी थी लेकिन व्यापार की भूमिका में जो उसने राजनीतिक अधिकार लिये तो रंग-ढंग बदल गया। इससे फायदा भी हुआ और नुकसान भी। फायदा यह हुआ कि व्यापार के क्षेत्र में जहां, जिस दर पर, जिस शर्त पर जिस प्रकार जितना, जिसके द्वारा और जो चाहा वह करने की उसे सुविधा मिल गई। दूसरी ओर, जो उसकी जिम्मेदारी देश पर राज्य करने की हुई वह एक बहुत बड़ी बात थी। वह हमारे तन्त्र यानी हमारी संस्कृति से अपरिचित था। अस्तु, इसके अनुसार यानी हमारी प्रकृति और परम्परा के अनुसार वह शासन न कर सका और न जीवन की गतिविधि ही नियोजित और निर्धारित कर सका। कुछ-कुछ क्षेत्रों में (जैसे, कानून के) उसने मौलवियों और पण्डितों से राय ली किन्तु जैसे शब्दकोष (डिक्शनरी) से शब्दों की प्रकृति और भाषा की प्रकृति नहीं जानी जा सकती बस ही उसकी गतिविधि हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं से सम्बद्ध न हो सकी। वैसे भी, हमारे जीवन में हमारे ही तन्त्र

को चलते देने में उसका कोई विशेष लाभ भी नहीं था। लाभ तभी संभव था जब हमारे जीवन को अंग्रेज अपने अंगरेजी तन्त्र से बांधते। ऐसा करने से लाभ यह था कि स्थूल इन्द्रियों से लेकर बुद्धि तक हम उनके अनुगामी (नकलची) बन सकते थे। परानुयायी या परानुगामी का अपना विशेष कुछ भी नहीं होता। जब इनका सबका प्रभाव वह आन्तरिक रूप में भी ग्रहण कर लेता है तो उसकी अपनी संस्कृति भी नष्ट हो जाती है। तन्त्र का सम्बन्ध जहां तक अस्तित्व के जड़ पक्ष से है वहां तक सभ्यता का वृत्त है और जहां तक आन्तरिक पक्ष से है, चेतन से है वहां तक संस्कृति का। तो स्थूल इन्द्रियों से लेकर बुद्धि तक यदि हम उनके रंग में अनुरंजित हो जाय तो तन से काले मन से गोरे बन जाय—अर्थात् उनके जैसे बने-सिले कपड़े पहनने की नकल करें, उनके यहां की ही बनी चीजों का उपभोग करें उनके जैसे बने घर-कमरों में रहें, उनके जैसे कुर्सी-मेज का उपयोग करें उन्हीं की तरह बोलें, उनकी ही बोली बोलें, उन्हीं का साहित्य पढ़ें, अपना साहित्य और अपनी बोली बोलने में अड़चन, कठिनाई और अपमान का अनुभव कर उन्हीं की तरह अपनी पत्नी से बोल-व्यवहार करें और प्रेम करें, उन्हीं की तरह के विद्यालय खुलें उन्हीं की तरह गुरु भी हों और शिष्य भी, उन्हीं की तरह हम भी रुपये के गुलाम हों और आदमी को यन्त्र मात्र मानें, आदि। इससे उनके व्यापार में भी फायदा था। उनकी जैसी चीज हम बना नहीं पायेंगे तो हम अपने यहां का कच्चा माल उन्हें देकर कहेंगे कि साहब, जैसी आपकी चीज है वैसी ही हमें भी बना दीजिये। इस बनी चीज को हम तिगुने दाम पर उनसे खरीदेंगे। यों उनका व्यापार बढ़ता है। जैसे, हम अपने दर्जी से भी सूट सिलवाते हैं लेकिन सन् १९६४ ई० में भी हमारे भीतर ऐसे प्राणी हैं जो इंगलैंड-अमेरिका में सिला सूट पहनकर कुछ ज्यादा अकड़ और शान से चलते हैं? कहां वह और कहां यह!! तो, इस तरह यदि सभ्यता की दृष्टि से भारत इंगलैंड का अच्छा नकलची हो जाय—और ध्यान रहे कि सभी दृष्टियों से सबसे अच्छा नकलची पुत्र होता है—तो इंगलैण्ड सभ्यता की दृष्टि से हमारी 'पितृभूमि' हो सकती थी! अंगरेजों ने यही चाहा था मगर दुःख है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् मैकाले के कुछ सच्चे बेटे बे-बाप के हो गये! अस्तु कुछ व्यापार की दृष्टि से और कुछ अपने शासन को भारत पर लादे ही रहने की दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक और सुविधाजनक तथा उपयोगी था कि भारत को शारीरिक मानसिक और बौद्धिक—सभी दृष्टियों से उसके अपने तन्त्र से वियुक्त करके इंगलिस्तान के तन्त्र में बांध दिया जाय। सच्ची और समग्र पर-तन्त्रता तो यही है न!

पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार की प्रक्रिया—

अंगरेजों ने अपने तन्त्र को हम पर लादने का प्रयत्न बड़े ही व्यापक रूप में

किया था। उनका कार्यक्षेत्र स्थूल इंद्रियों से लेकर अचेतन मन और बुद्धि तक बना। धर्म को भी उन्होंने नहीं छोड़ा। केरल–गोआ से लेकर काशी–प्रयाग–मथुरा तक मसीह के भक्तों ने हर सभव उपाय से मसीह के भक्तों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न किया और इस प्रकार उन्होंने भारत के पापियों की उद्धार क्रिया प्रारम्भ कर दी। १८५७ ई० की चिनगारी के रूप में सुप्त शेर का पहला थप्पड़ पड़ा और क्रुद्ध होकर अँगरेजों ने उस हाथ को–पंजे को–क्रूरता–पूर्वक मिटाना–बर्बाद करना चाहा। ऐसा लगता है कि जैसे चोर किसी बब्बर सोये हुए आदमी को नोच रहे हों और ज्यों ही हाथ कलेजा काटने को बढ़े त्यों ही वह करवट बदलकर हुंकार भर कर एक हाथ फटकार दे। धर्म–संस्कृति भारत का मर्म है। १८५७ ई० के बाद अँगरेज समझदार हो गया। उसने घोषणा की–हम तुम्हारे मर्म को न छुएँगे और हम यह सब काम तुम्हारी भलाई के लिये ही कर रहे हैं क्योंकि तुम हमारी प्रजा हो। धोखे–धड़ी से हमारी स्वतंत्रता का अपहरण करने वाला बड़े दुलार से हमें अपनी 'प्रजा' कहने लगा। कुछ भी हो, १८५७ ई० में जो नींद टूटी तो फिर हम सोये नहीं। सांस्कृतिक तन्द्रा या प्रमाद का झोंका उसके बाद बड़ी तेजी से यदि फिर कभी आया है तो गांधी के मरने के बाद ही। अस्तु भारतवर्ष में आकर अँगरेजों ने यहाँ की भूमि–व्यवस्था के क्षेत्र में अखिल भारतीय पैमाने पर जो परिवर्तन प्रारम्भ किये उन सबका सारांश यह था कि जमींदार ठीक से राज्य–कर देते रहें और अच्छे ब्वायज या गुड सिटी जन बने रहें तो उन्हें इस बात में भी पूरी स्वतंत्रता थी कि वे जो चाहें करें और जैसे चाहें रहें अर्थात् कुछ भी कमाई किये बिना जैसा चाहें धन वसूलें–सम्पत्ति बढ़ायें और भोग–विलास अनैतिकता, अत्याचार और जड़ता एवं पशुता की खाई में भारत के परवश–विस्मृत–अमृतपुत्रों को ढकेलते रहें। हाँ, धन और प्रशासन संबंधी किसी विशेष अधिकार की माँग न करें। अँगरेजों ने अपने अस्तित्व और स्थायित्व के लिये इनसे पूरी सहायता और सहयोग की आशा की थी और वे निराश नहीं हुए। ये अँगरेजों के मानसपुत्र बने और अपने समस्त प्रभाव–क्षेत्र को भी वैसा ही बनाने लगे। राज्य–शक्ति की प्रकृति की अनुरूपता और प्रवृत्तियों का अनुसरण प्रजा की वैसे भी स्वाभाविकता होती है। एक ओर आजादी के प्रयत्न भी होते रहे और दूसरी ओर पाश्चात्य सभ्यता भी अपना जोर दिखाती रही। यह घात–प्रतिघात चलता रहा। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में १८५७ ई० की 'क्रान्ति के बाद अँगरेजी शासन के दृढ़ होने के साथ ही पाश्चात्य विचारधारा भी वेग से चलने लगी।"[१]

---

१ आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत", पृ० ४०।

को पल्ले देने में उसका कोई विशेष लाभ भी नहीं था। लाभ उस समय था जब हमारे जीवन को अँगरेज अपना अँगरेजी तन्त्र से बांधने। ऐसा करने से लाभ यह था कि स्थूल इन्द्रियों से लेकर बुद्धि तक हम उनके अनुगामी (नकलची) बना सकते थे। परानुयायी या परानुगामी का अपना विशेष कुछ भी नहीं होता। जब इनका सबका प्रभाव वह आंतरिक रूप से भी ग्रहण कर लेता है तो उसकी अपनी संस्कृति भी नष्ट हो जाती है। तन्त्र का सम्बन्ध जहाँ तक अस्तित्व के जड़ पक्ष से है वहाँ तक सभ्यता का वृत्त है और जहाँ तक आन्तरिक पक्ष से है चेतन से है वहाँ तक संस्कृति का। तो स्थूल इन्द्रियों से लेकर बुद्धि तक यदि हम उनके रंग में अनुरंजित हो जायें तो 'तन से काले मन से गोरे' बन जायें—अर्थात् उनके जैसे बने—सिले कपड़े पहनने की नकल करें उनके यहाँ की ही बनी चीजों का उपयोग करें उनके ढंग से बने घर—कमरों में रहें उनके जैसे कुर्सी—मेज का उपयोग करें उन्हीं की तरह खायें, उनकी ही बोली बोलें उन्हीं का साहित्य पढ़ें, अपना साहित्य और अपनी बोली बोलने में अड़चन, कठिनाई और अपमान का अनुभव करें, उन्हीं की तरह अपनी पत्नी से व्यवहार करें और प्रेम करें, उन्हीं की तरह वे शिक्षालय खुलें, उन्हीं की तरह गुरु भी हों और शिष्य भी, उन्हीं की तरह हम भी रुपये के गुलाम हों और आदमी को पशु मात्र मानें आदि। इससे उनके व्यापार में भी फायदा था। उनकी जैसी चीज हम बना नहीं पायेंगे तो हम अपने यहाँ का कच्चा माल उन्हें देकर कहेंगे कि साहब जैसी आपकी चीज है वैसी ही इसे भी बना दीजिये। हम बनी चीज को हम तिगुने दाम पर उनसे खरीदेंगे। यों उनका व्यापार बढ़ता है। बस, हम अपने दर्जी से भी सूट सिलवाते हैं लेकिन सन् १९६४ ई० में भी हमारे भीतर ऐसे प्राणी हैं जो इंगलैंड-अमेरिका में सिला सूट पहनकर कुछ ज्यादा अकड़ और शान से चलते हैं? कहाँ वह और कहाँ यह !! तो इस तरह यदि सभ्यता की दृष्टि से भारत इंगलैंड का अच्छा नकलची हो जाय—और ध्यान रहे कि सभी दृष्टियों से सबसे अच्छा नकलची पशु होता है—तो इंगलैण्ड सभ्यता की दृष्टि से हमारी 'पितृभूमि' हो सकती थी! अँगरेजों ने यही चाहा था मगर दुःख है कि स्वतन्त्रता—प्राप्ति के पश्चात् मैकाले के कुछ बच्चे बेटे बे—बाप के हो गये! अस्तु कुछ व्यापार की दृष्टि से और कुछ अपना शासन को भारत पर लादे ही रहने की दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक और सुविधाजनक तथा उपयोगी था कि भारत को शारीरिक मानसिक और बौद्धिक—सभी दृष्टियों से उसके अपने तन्त्र से वियुक्त करके इंगलिस्तान के तन्त्र में बांध दिया जाय। सच्ची और समग्र पर—तन्त्रता तो यही है न!

पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार की प्रक्रिया—

अँगरेजों ने अपने तन्त्र को हम पर लादने का प्रयत्न बड़े ही व्यापक रूप में

किया था। उनका कार्यक्षेत्र स्थूल इन्द्रियों से लेकर अचेतन मन और बुद्धि तक बना। धर्म को भी उन्होंने नहीं छोड़ा। केरल–गोआ से लेकर काशी–प्रयाग–मथुरा तक मसीह के भक्तों ने हर सम्भव उपाय से मसीह के भक्तों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न किया और इस प्रकार उन्होंने भारत के पापियों का उद्धार किया प्रारम्भ कर दी। १८५७ ई० की चिनगारी के रूप में सुप्त शेर का पहला थप्पड़ पड़ा और क्रुद्ध होकर अँगरेजों ने उस हाथ का–पंजे को–क्रूरता–पूर्वक मिटाना–बर्बाद करना चाहा। ऐसा लगता है कि जैसे चोर किसी बेखबर सोये हुए आदमी को नोंच रहे हों और ज्यों ही हाथ पैर उसका काटने को बढ़ें त्यों ही वह करवट बदलकर हुंकार भर कर एक हाथ फटकार दे। धर्म–संस्कृति भारत का मर्म है। १८५७ ई० के बाद अँगरेज समझदार हो गया। उसने घोषणा की–हम तुम्हारे धर्म को न छुएँगे और हम यह सब काम तुम्हारी भलाई के लिये ही कर रहे हैं क्योंकि तुम हमारी प्रजा हो। धोखे–धड़ी से हमारी स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाला बड़े दुलार से 'हम अपनी प्रजा' कहने लगा। कुछ भी हो, १८५७ ई० में जो नींद टूटी तो फिर हम सोये नहीं। सांस्कृतिक तन्द्रा या प्रमाद का झोंका उसके बाद बड़ी तेजी से यदि फिर कभी आया है तो गांधी के मरने के बाद ही। अस्तु भारतवर्ष में आकर अँगरेजों ने यहाँ की भूमि–व्यवस्था के क्षेत्र में अखिल भारतीय पैमाने पर जो परिवर्तन प्रारम्भ किये उन सबका सारांश यह था कि जमींदार ठीक से राज्य–कर देते रहें और अच्छे 'ब्वायज' या 'गुड सिटीजन' बने रहें तो उन्हें इस बात में भी पूरी स्वतन्त्रता थी कि वे जो चाहें करें और जैसे चाहें, रहें अर्थात् कुछ भी कमाई किये बिना जैसा चाहें, धन वसूलें–सम्पत्ति बढ़ायें और भोग–विलास, अनैतिकता, अत्याचार और जड़ता एवं पशुता की खाई में भारत के परवश–विस्मृत–अमृतपुत्रों को ढकेलते रहें। हाँ, धन और प्रशासन संबंधी किसी विशेष अधिकार की माँग न करें। अँगरेजों ने अपने अस्तित्व और स्थायित्व के लिये इनसे पूरी सहायता और सहयोग की आशा की थी और वे निराश नहीं हुए। ये अँगरेजों के मानसपुत्र बने और अपने समस्त प्रभाव–क्षेत्र को भी वैसा ही बनाने लगे। राज्य–शक्ति की प्रकृति की अनुरूपता और प्रवृत्तियों का अनुसरण प्रजा की वैसे भी स्वाभाविकता होती है। एक ओर आजादी के प्रयत्न भी होते रहे और दूसरी ओर पाश्चात्य सभ्यता भी अपना जोर दिखाती रही। यह घात–प्रतिघात चलता रहा। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में १८५७ ई० की 'क्रान्ति के बाद अँगरेजी शासन के दृढ़ होने के साथ ही पाश्चात्य विचारधारा भी वेग से चलने लगी।'[१]

---

१ "आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत", पृ० ४०।

वीसवीं सदी में उसका व्यापक प्रभाव—

बीसवीं सदी में उन्नीसवीं सदी की इन प्रवृत्तियों का पूर्ण परिपाक हमें मिलता है। अंग्रेजों की ज्ञात या अज्ञात, स्वाभाविक या अस्वाभाविक रूप से बरती जाने वाली कूटनीति की पूर्ण सफलता बीसवीं सदी में खुले रूप से स्पष्टतम रूप से—हमारे सामने आ गई। हममें से लगभग सभी ने उनकी सभ्यता की थोड़ी बहुत सभी चीजें अपना ली—कुछ जान-बूझ कर, कुछ स्वार्थवश, कुछ विवशतावश। आस्था और विश्वास, भावुकता और रागात्मकता की दृष्टि से हम मध्ययुगीन ही रह गये किन्तु व्यावसायात्मिक बुद्धि और बाह्य जीवन में हमारे अन्दर अंगरेजियत आ गई-आधुनिकता आ गई। हमारी आधुनिकता का अर्थ था—और बहुत-कुछ है भी—अंगरेजियत या अंगरेजों की नकल। आधुनिकता यदि हमारे समाज की, हमारे जीवन की, प्रवृत्तियों के घात-प्रतिघात और तज्जन्य आवश्यकताओं से उद्भूत हुई होती तो समुद्र-मंथन से निःसृत अमृत की तरह होती किन्तु यह हमारे समाज पर लादी गई थी हम पर शासन करने वालों की स्वार्थ-पूर्ति या आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप। घोड़ा गाड़ी के आगे नहीं था, गाड़ी घोड़े के आगे की गई। घोड़े ने गाड़ी खींची नहीं गाड़ी ढकेली गई। हम विभक्त हो गये। आधा तीतर, आधा बटेर हो गये। पराजय और पराधीनता का यह सब परिणाम होता ही है। आर्नल्ड टायनबी का भी यही मत है। यद्यपि उनके ये विचार योरप तथा सारे विश्व को ध्यान में रखकर व्यक्त किये गये हैं, फिर भी वे भारत पर भी चरितार्थ होते हैं। वे कहते हैं, "विश्व में यूरोप का प्राधान्य और पाश्चात्य सभ्यता का विस्तार साथ-साथ हुआ है। दोनों आंदोलन एक दूसरे के पूरक और सहायक रहे हैं। यह कहना असम्भव होगा कि इनमें से कौन किसका कारण रहा है और कौन किसका प्रभाव। स्वाभाविक था कि यूरोप के राजनैतिक प्राधान्य के कारण पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार में सुविधा हुई क्योंकि शक्तिहीन और अक्षम के द्वारा सशक्त और सक्षम का अनुकरण सदा से ही होता है ... "जिस शताब्दी की समाप्ति १९१४ ई० के आसपास हुई है उसमें संसार को आर्थिक दृष्टि से नवीन पाश्चात्य औद्योगिक व्यवस्था ने ही नहीं जीता था बल्कि उन पाश्चात्य राष्ट्रों ने भी जीता था जिनके अन्दर यह नवीन व्यवस्था पाई जाती थी और जिन्होंने इस व्यवस्था का आविष्कार किया था।"[१] राजनीतिक दृष्टि से हारने वाली जाति के अन्दर एक प्रकार की मानसिक हीनता पैदा हो जाया करती है अंगरेजों के सामने वह हमारे अन्दर पैदा हो गई थी। फिर, वह गोरे थे,

१ सिविलिजेशन आन ट्रायल पृ० ६४।

हम काले, और यह भी हमारी एक बड़ी कमजोरी है—शायद सारी मनुष्य जाति की कमजोरी—कि हम काले की अपेक्षा गोरे की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं।

छोटा बच्चा काली की अपेक्षा गोरी दुलहिन, और मा—बाप काली सन्तान की अपेक्षा गोरी सन्तान अधिक पसद करते हैं। इसलिये गोरा अँगरेज अपने आप देवदूत हो गया। बेईमानी या ईमानदारी नीति या अनीति किसी भी तरह से हो, वह जीता और कई बार जीता हम हारे और कई बार हारे। क्रूरता हम सिखला नहीं सकते इसलिये जब हम जीते तो हमने उन्हें आतंकित नहीं किया लेकिन जब वे जीते तो उनके नृशस अत्याचारों, पाशविक व्यवहारो, दानवीय प्रदर्शनो और क्रूरता-पूर्वक दमन ने इन्सान तो क्या धरती—वायु—आकाश—पानी—आग के एक—एक कण को धर्रा दिया था। बहू—बेटियो की इज्जत गोरे सिपाही खुले आम, दिन दहाड़े, सबके सामने लूट लेते थे। जीना दूभर हो गया था। जीना तभी सभव था जब हम अपने को उनका भक्त सिद्ध करके उन्हें यह विश्वास दिला देते कि हम सभव असभव उपाय से उनके हैं। उनकी हर क्रिया के समर्थक हैं। १८५७ ई० के बाद वे भी हम परतभी विश्वास कर सकते थे जब हम इस तरह का पूर्ण आत्मसमर्पण करते। जिंदगी बहुत प्यारी होती है और सामान्यत मानव जैसी बहे बयार पीठ तब तैसी कीज' का सिद्धात मानता है। कमजोरो ने घुटने टेक दिये, वीर जान पर खेल गये। कम-जोरों की सख्या अधिक होती है, वीर अकेला ही होता है। हम कमजोर नहीं थे—कभी नहीं थे—पराधीनता व इन दिनो मे भी नहीं थे—लेकिन एक बार हारने पर हमको अगरेजो के हाथो जितना कुछ भुगतना पड़ा उसने हमको असहाय कर दिया। अगरेजो को ब्राह्मण—ज्ञान से खतरा था तो सस्कृत के नाता और वेदों—उपनिषदों के मर्मज्ञों को सरकारी नौकरियों और प्रतिष्ठा से इतना वचित कर दिया गया कि ब्राह्मण को जिन्दा रहने के लिए 'पीर बवर्ची भिश्ती खर' सब कुछ बनना पड़ा। अगरेजों को ठाकुरो की तलवार से डर था सो सेना में 'हवलदार बन पाना भी उनके लिये कठिन हो गया। उन्हें भारतीयो की बुद्धि से और सगठन—शक्ति से भय था तो ऊँचे पदो पर भारतीयों को नियुक्त ही नहीं किया जाता था। भारतीय व्यव साय से वे घबराते थे तो कारीगरों के अगूठे काटते फिरते थे, कच्चा माल अपने भाई—बधुओं के ही हाथ बेचने पर भारतीयों को मजबूर करते रहते थे, व्यवसाय के सभी प्रमुख स्थलो पर अपनी जाति के लोगों को रखते थे और भारत में व्यवसाय के लायक कोई चीज बनने ही नहीं देते थे। सेनी का अर्थ कगाली हो गया। श्रमहीनता का पर्याय हो गया। सारी नाकेबदी अँगरेजो ने पक्की कर रखी थी।

पुनरुत्थान की प्रक्रियाओं पर उनका प्रकोप — आर्यसमाज—

भारतीय विद्रोह का डर अँगरेज जाति की नस—नस में इतना भर गया था

कि जिस किताब में दो बात भी उनके हित के प्रतिकूल या यातायात लिखी मिलती थी वही जब्त कर ली जाती थी। जो भी आंदोलन भारतीय को बुद्धिमान, युक्तियुक्त समझदार, आत्मविश्वासी, आत्मनिर्भर एवं उन्नत बनाने के लिये होता था उसी पर हमारे इन महाप्रभुओं की कोप-दृष्टि पड जाती थी। बीसवीं शती के आर्यसमाज का आंदोलन भारतीयों को उनके प्राचीन गौरव की प्राप्ति के लक्ष्य की ओर प्रयत्नशील करने के लिये था तो लाजपतराय के शब्दों में 'भारतवर्ष के विदेशी शासकों को आर्यसमाज कभी फूटी आंख भी नहीं सुहाया। उन्हें इसकी आजाद बोली और आत्मविश्वास- आत्मनिर्भरता-अपनी सहायता आप करने के आदेशों का प्रचार कभी भी अच्छा नहीं लगा। उसके कार्यक्रमों के राष्ट्रीयता वाले पक्ष ने उनको इसका विरोधी बना दिया था।'[1] बात यह है कि सब कुछ गँवा बैठने पर भी भारतवर्ष के पास अभी एक चीज ऐसी बची थी जो उसकी सारी खोई हुई चीजें वापस दिला सकती थी। वह चीज थी धर्म। यह धर्म भी उस समय कुछ धूमिल हो गया था। आर्यसमाज उसी धूल को झाड़कर हिंदुधर्म का वह दर्पण निर्मल कर रहा था जिसमें भारतीय अपने वर्तमान और अतीत का प्रतिबिम्ब देखकर कुछ निष्कर्ष निकाल सकते थे। अंगरेज इस धर्म से द्वेष रखते थे किन्तु उसे छूने का साहस नहीं कर पा रहे थे क्योंकि भारत के इस मर्मस्थल को कुरेदने का फल १८५७ ई० में तो भुगत चुके थे, और फिर भी, उनके द्वारा पालित-पोषित और प्रोत्साहित पादरी चूकते नहीं थे। आदिवासियों के गांव गांव तथा गोआ और केरल इसके दो उदाहरण हैं। भारत के छोटे-छोटे कस्बों में भी खनडी बजाते हुए आठ-दस गोरे खुदा के प्यारे बेटे का गुणानुवाद करते फिरते थे। उनकी इस आंधी के सामने भी सीना तानकर खड़े होने का साहस हिंदू जाति को जिस आर्यसमाज ने दिया था उनको जैसा का तैसा जवाब जिस आर्यसमाज ने दिया था, उनके स्कूलों के सामने जिस आर्यसमाज ने गुरुकुल खड़े कर दिये थे, पतलूनधारी विद्यार्थियों के बदले जिस आर्यसमाज ने लँगोट, उत्तरीय और पीले वस्त्रधारी ब्रह्मचारी उपस्थित कर दिये थे और पाश्चात्य सभ्यता की तूफानी लहरों को पराजित करके जिस आर्यसमाज ने भारत में पहली बार क्रियात्मक रूप से भारतीय वेश-भूषा, रहन-सहन विचार-धारा के प्रति आदर और अपनेपन की भावना पैदा की थी वह यदि अंगरेज महाप्रभुओं को न सुहाया तो कोई आश्चर्य नहीं था। इन ईसाइयों की दाल जब भारतीयों के उच्च वर्ग में न गली तब उन्होंने अछूतों और पिछड़ी जातियों को लक्ष्य बनाया किन्तु आर्यसमाज के अछूतोद्धार और गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस के हरिजनोद्धार आयक्रम ने

---

१ दि आर्य समाज', पृ १५५-१५६।

के सामने वहाँ भी इनकी आशाओं पर तुषारपात हो गया। फिर भी, ईसाइयों ने बहुता के बदन पर कोट-पतलून और चतना पर यीशूमसीह का रंग चढ़ा ही दिया।

ईसाइयों से जनता की अरुचि—

पाश्चात्य सभ्यता की आक्रमणशालीन सेना के एक अंग ये भी थे। और, सभ्यता के क्षेत्र में इसे जितनी ही सफलता मिलती थी हिंदुत्व इनसे उतना ही असहनशील होता जाता था—चिढ़ता जाता था। उसने अंगरेजी शिक्षा, अंगरेजी पहनावा और अंगरेजी रहन-सहन को ईसाइयत का पर्याय घोषित कर दिया था। हिंदुत्व इतना सतर्क था कि प्रथा और परम्परा का किंचित भी उल्लंघन किया कि वृद्धों ने व्यंग्य किया—'चार अच्छर अंगरेजी पढ़ि के धरम करम नास कै क्रिहिस—क्रिरसितान हो गया—ईसाई हो गया।' तात्पर्य यह है कि हिंदुत्व के धर्म-द्वार को तोड़ कर पाश्चात्य सभ्यता की सेना भीतर नहीं आ सकी।

हमारी उदारता, उनकी चतुराई—

उधर हमारी तात्कालिक आवश्यकताओं और इधर हमारे विचारकों ने एक साथ यह घोषित किया कि धर्म और कर्मकाण्ड दो चीजें हैं। कर्मकाण्ड का धर्म के आंतरिक और शाश्वत पक्ष से कोई भी सम्बन्ध नहीं है और विशेष महत्व की चीज यह आंतरिक और शाश्वत पक्ष ही है। निष्कर्ष यह निकला कि हम खायें चाहे जो कुछ पहनें चाहे जो कुछ रहें चाहे जैसे, बोलें चाहे जो, व्यावहारिक उपयोग में चाहे जो कुछ लाए, उससे हमारे धर्म पर कोई भी विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि यह चिर परिवर्तनशील तत्व है। तभी एक और चीज हुई। अंगरेज ने देखा कि भारत के धर्म को छूना तो खतरनाक है इसलिये उसे तो छूना नहीं है। हाँ मनुष्य की दो कमजोरियों—सुविधा, और लाभ या उपयोगिता—का उपयोग अपने पक्ष में किया जा सकता है। ऐसी चीज दो जिससे मनुष्य को अपेक्षाकृत कम मेहनत या झंझट उठानी पड़े और जिसमें कम पैसा लगाकर अपेक्षाकृत अधिक लाभ पाने की आशा या संभावना हो। ऐसी चीज देने में अंगरेज को व्यापारिक दृष्टि से लाभ भी था। सो सभी चीजें इकट्ठी हो गईं। हमने पतलून-टाई-बूट में, छुरी काटे से खाने में या अंगरेजी पढ़ने में कोई सांस्कृतिक या धार्मिक हानि नहीं देखी लाभ यह देखा कि अंगरेज प्रभु प्रसन्न होंगे, हम पर कृपा करेंगे, हमें अच्छी नौकरी मिलेगी, और उन्होंने देखा कि कि इस प्रकार हमारे यहां के बने छुरी-काटे, टाई

बूट या अंगरेजी की पुस्तकों का बाजार बढ़ेगा और हमारी व्यापारिक उन्नति होगी। साथ ही हमारी सभ्यता का रोब भी पड़ेगा। बस, हमारे जीवन के हर क्षेत्र में पाश्चात्य सभ्यता अपनी पूरी सजधज, विविधताओं और विचित्रताओं, के साथ वेगपूर्वक घुसने लगी। पहले वस्तुएँ आती हैं रुचि बनती है फिर वस्तुओं की भाषा आती है। कालान्तर में उनके मनोविज्ञान बनता है और तदनुकूल विचार बनते हैं। अन्ततोगत्वा इन सब का दर्शन जन्म लेता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक ये वस्तुएँ अधिक आईं, रुचि अधिक बनी और भाषा अधिक अपनाई गई। बीसवीं सदी में इनके साथ साथ इनका मनोविज्ञान बना और हमने उनके विचार भी अपनाये। कुछ दिनों से अन्दर दर्शन के नये नये आविष्कार भी हमारे बीच प्रचलन पाने लगे। नव स्वतन्त्र भारत उनके दर्शन को भी अपनाने की ओर उन्मुख किया जा रहा है। समाजवादी रूपरेखा या ढर्रे (सोशलिस्टिक पटर्न) का और फिर समाजवाद या जनतान्त्रिक समाजवाद को भारत में चलाने की जवाहरलाल नेहरू की मनोवृत्ति इसी की द्योतक है।

पाश्चात्य सभ्यता के उपकरण और उनका प्रभाव—

अंगरेजी भाषा और साहित्य से हमारा परिचय बढ़ा। हम अंगरेजी लिखने बोलने और पढ़ने लगे। हमने कोट पतलून टाई, फेल्ट, हैट, बूट ओवर कोट, बुशशर्ट आदि पहनना शुरू किया। घड़ी, चश्मा, फाउन्टेन पेन आदि आवश्यक हो गये। न्याय की विकृततम परिणाम वाली संस्था, जिसे कचहरी कहते हैं, पूरी तरह से अंगरेजी नमूने पर भारत में छा गई। वकील बरिस्टर समाज की शोभा बन गये जिसके परिणामस्वरूप व्यावहारिक दुनिया से सत्य तिरस्कृत हो गया तथा झूठ और बेईमानी असामान्यता प्राप्त स्वीकार्य तथ्य एवं शानदार जीवन की प्राप्ति का सुलभ साधन बन गई। विद्यालय और विश्वविद्यालय नामक संस्था, उनकी कार्य प्रणाली, आदि सब अंगरेजी ढंग पर दिखाई पड़ा और प्रोफेसर गाउन, डिग्री और स्टूडेन्ट भारत में पाश्चात्य सभ्यता के प्रमुख गढ़ बने। आज भी स्नातक की ज्ञान-सम्पन्नता का प्रतीक घोर अज्ञान एवं तमस का द्योतक कालापन (काला गाउन) है। बनिया न सा अपना बहीखाता और 'श्री गणेश जी सदा सहाय तथा 'श्री लक्ष्मी जी सदा सहाय' अब भी चला रक्खा है किन्तु बाजार और दूकान की रूपरेखा अंगरेजी नमूने पर है। मिलों का सारा नाक नक्शा अंगरेजी है। अंगरेजी सभ्यता की रेल गाड़ी, मालगाड़ी, मोटर कार, बस हवाई जहाज स्टीमर, ट्रामवे, बाइसिकिल, मोटर बाइसिकिल, बैंक और सहकारी समितियां देश में फैल रही हैं। सिनेमा की सारी

रूपरेखा पाश्चात्य है। रेडियो और ट्रांजिस्टर की ही देने हैं। तार घर और डाक खान विदेशी के आविष्कार हैं। मुद्रणकला के विभिन्न अवयव और समाचार पत्र-पत्रिकाएँ पाश्चात्य सभ्यता की देन हैं। 'टिकट' एक विदेशी व्यवस्था है। यथा क्रीम, पाउडर, सेविंग सेट, टूथ ब्रश, टूथ पेस्ट होल्डआल, सिगरेट, दियासलाई, कुर्सी मेज, बिस्कुट, केक, पेस्ट्री, कप सासर प्लेट, ग्लास जग सासपन, आदि विदेशी रङ्ग-ढङ्ग की चीजें हमारे दैनिक व्यवहार की वस्तुएं हैं। कपड़े सीने की मशीन भी सम्भवतः विदेशी आविष्कार है। बिजली बिजली-घर बिजली घर की मशीनें तार-खम्भ, उसकी इन्जीनियरिंग बल्ब बिजली का तार बिजली का आयरन, बिजली की आटा-चक्की और रुई चक्की-आदि बिजली का हीटर कूलर रेफरीजरेटर, आदि हजारों वस्तुएं विदेशी सभ्यता की देनें है। अस्पताल अस्पताल के डाक्टर, डाक्टरों के हजारों औजार लाखों दवाइयां इलाज करने की पद्धति-सबका सब विदेशी है।

शासन-पद्धति एवं प्रशासन की रूपरेखा विदेशी है। सारा शासन-तन्त्र विदेशी सभ्यता की देन है। जेलों की भी रूपरेखा का आधार विदेशी है। अपराधों के कारण विदेशी हैं और उनके निवारण के प्रकार भी विदेशी हैं। राम राम की जगह 'गुड मानिंग' 'गुड इवनिंग' गुड नाइट और 'बाई-बाई' भी विदेशी है। स्वतन्त्र भारत तक में ऐसे महत्वाकांक्षी कम नहीं है जिनकी प्रसन्नता का अतिरेक और सभ्यता की शान शौकत उसी समय दिखाई पड़ती है जब उनका बच्चा श्लोकपाठ न करके 'ट्विंकिल ट्विंकल लिटिल स्टार गाता है और चाचा जी' चाची जी की जगह 'हलो अंकिल,' 'डियर आंटी' बोलकर "नमस्ते की जगह "टा टा' कहता है। यह विदेशी देन है। फुटबाल वालीवाल बैडमिन्टन, टेनिस, टेबुलटेनिस, हाकी, क्रिकेट, बिलियर्ड फ्लास ब्रिज पजिल्स और क्रासवर्ड, हाउसी, आदि पाश्चात्य रङ्ग के मनोरञ्जन है। पाठशाला-व्यवस्था और पुस्तकालयों का संगठन भी विदेशी ढंग पर होता है। लाउड स्पीकर माइक्रोफोन हस्पताल पब्लिक मीटिंग, आदि भी विदेशी हैं और विभिन्न संस्थाएं और संगठन भी अपने वर्तमान रूप में विदेशी हैं। "लाइफ इन्श्योरेन्स कारपोरेशन" और इस तरह की अनेक संस्थाओं के संगठन और उनकी कार्यपद्धतियों की रूपरेखा विदेशी है। पैसे का प्रभुत्व विदेशी चीज है। नारी का पुरुष की प्रतिद्वन्द्विता में आकर स्वतन्त्र व्यक्तित्व और आर्थिक दृष्टि से एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में थामा, वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त औद्योगीकरण तथा मशीनीकरण, राष्ट्रवाद हिंसावादी संस्कृति, पारिवारिक विघटन, भौतिकवादी सभ्यता, तन-मन-का हो सजावट नारी का मनोरंजन के एक साधन के रूपमें देखना सेक्स की प्रवृत्तियों का निर्बाध उभार, जीवन में कौतूहल की प्रधानता, कमाई के लिए शिक्षा, गुरु का गुरुत्व और

शिष्य का शिष्यत्व केवल कक्षा भवन तक ही सीमित रहना आदि असत्य बातें विदेशी सभ्यता की देनें हैं। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान और आविष्कार की हमारी वर्तमान रूपरेखा भी विदेशी ही है। विदेशी सभ्यता के इन विभिन्न उपकरणों ने हमारे साहित्य को भी प्रभावित किया है। साहित्य-और विशेषतः हिन्दी साहित्य यथार्थ जीवन के परिणामस्वरूप कम अधिकतर आन्तरिक दृष्टिकोण या सिद्धान्त मात्र के परिणामस्वरूप निर्मित होता है। कविता भाव-जगत की चीज़ है और चूंकि हमारा भाव जगत हमारा राग अधिकतर अभी पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव कम दिखाई पड़ता है परन्तु साहित्य की जिन विधाओं में बाह्य जीवन के चित्रण की ही सम्भावना अधिक होती है आधुनिक हिंदी साहित्य की उन विधाओं में अर्थात् नाटक, कहानी उपन्यास, रेखाचित्र, आदि में-हिन्दी प्रदेश पर पड़ने वाले ये पाश्चात्य प्रभाव और उनके रंग में रँगा हुआ हमारा बाह्य जीवन पूरी तरह से चित्रित मिलता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य और मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में अन्तर का मूल कारण यही है।

इस युग के भारतीय जीवन में रेलों का महत्व असाधारण रूप से बढ़ा। रेलों को प्रतीक मान लीजिये यातायात के उन समस्त साधनों का जो भारत के किसी भी कोने का समग्र राष्ट्रीय जीवन से एकत्रित-अलग-नहीं रहने दे रहे हैं अर्थात् जिन्होंने भारत के कोने-कोने को एक सूत्र में जोड़ दिया है। इन्होंने भारतीय जीवन पर निम्नलिखित प्रभाव डाले हैं —

(१) इन्हीं के कारण भारत की प्राचीन अर्थ व्यवस्था और जीवन-व्यवस्था समाप्त-सी हो गई है।

(२) इन्हीं के कारण औद्योगीकरण सम्भावित ही नहीं, वास्तविकता के रूप में प्रतीत होता है।

(३) इन्हीं के कारण देश में राष्ट्रीय दृष्टिकोण का बुर्जुआ वर्ग पैदा हुआ जिसके स्वार्थ जब अंग्रेजों के स्वार्थ से टकराये तो राष्ट्रीयता की चिनगारियां निकलीं और स्वाधीनता के सूर्य का उदय हुआ।

(४) इन्होंने देहात बदल दिये क्योंकि बासिल मथ्यूज के शब्दों में 'जैसे चूहे, प्लेग ले जाते हैं वैसे ये वहाँ आधुनिकता फैलाती है' इन्हीं के कारण देहातों का आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक अवरोध समाप्त हो गया।

(५) इन्होंने भारत के हर व्यक्ति का दृष्टिकोण सभी दृष्टियों से अखिल भारतीय तथा एक भारतीय संस्कृति वाला बना दिया।

(६) इन्होंने विभिन्न क्षेत्रों, स्थानों और व्यक्तियों को एक दूसरे से जोड़ दिया।

(७) इन्हीं के कारण रूढ़िवादी सामाजिक दृष्टिकोण समाप्त हो चला।

(८) इन्होंने ही प्रगतिशील सामाजिक और वैज्ञानिक विचारों को जनता में फैला दिया।

(९) इन्हीं के कारण एक की खोज और प्राप्ति सारे देश की निधि होने लगी क्योंकि ये ही चिट्ठियां, पार्सल, समाचार पत्र-पत्रिकाएं और सामान इधर से उधर लाने और ले जाने के साधन हैं।

और (१०) इन्हीं के कारण देश भर की प्रतिभाएं सुविधापूर्वक समय-समय पर एक जगह एकत्रित होने लगीं।

इनका साहित्य पर प्रभाव निम्नलिखित रूप और प्रकार से पड़ा —

(१) किसी एक लेखक की कृति समस्त हिन्दी-प्रदेश की सम्पत्ति हो गई।

(२) कवियों और लेखकों की कृतियों से आनन्द उठाने और लाभ पाने वालों की सीमा गोष्ठियों से निकल कर पूरे भारत तक में फैल गई।

(३) भिन्न-भिन्न प्रदेशों के लेखक एक दूसरे से मिलने लगे और उनमें परस्पर मैत्री और सहानुभूति तथा एक दूसरे की बातों को समझने की प्रवृत्तियां विकसित हुईं।

(४) विभिन्न भाषाओं और क्षेत्रों का एक दूसरे से सम्मिलन हुआ।

(५) दृष्टिकोण उदार और व्यापक हुआ।

(६) किसी स्थान विशेष की घटना पूरे साहित्यिक वर्ग को प्रभावित करने लगी। उदाहरणार्थ, बंगाल के १९४४ ई० वाले अकाल ने महादेवी वर्मा को तड़पा दिया।

(७) रेलों पर चक्कर कार्यकर्ताओं समाचार-पत्रों पुस्तकों और परीक्षाओं की उत्तर-पुस्तकों ने हिन्दी को कश्मीर से कन्याकुमारी तक और बंगाल से लेकर काठियावाड़ तथा द्वारिका पुरी तक पहुंचा दिया।

(८) लेखकों के सम्मेलनों की आयोजनाएं होने लगीं और लेखकों तथा साहित्य की समस्याओं पर विचार-विनिमय संभव हो सका।

और (९) रेल-साहित्य अर्थात् यात्रा के समय पढ़ा जाने वाला हल्का साहित्य भी लिखा जाने लगा।

हिन्दी प्रदेश के मुख्य गढ़ों पर अधिकार—

बीसवीं शताब्दी के आते-आते हमने अंगरेजी पल्टनों या अंगरेजी स्कूलों

म पढना पूरी तरह से स्वीकार कर लिया था। हमारा का तात्पर्य है भारतीय समाज के उस वर्ग से जिसने साहित्य का निर्माण किया है। वसे पाश्चात्य शिक्षा और विधि व्यवस्थाओ को हिंदुओ ने अपने मुसलमान भाइयों की अपेक्षा पहले सीखा और अपनाया किन्तु बीसवीं सदी के प्रारम्भ म मुसलमानो के हितषी नेता सयद अहमद खां न भी मुसलमानो के अंगरेजी सीखने पढ़ने की आवश्यकता का अनुभव बडी तीव्रता से कर लिया था जिसका परिणाम अलीगढ आन्दोलन या मुस्लिम कालेज अलीगढ के रूप मे दिखाई पडा। अगरेजो ने पटना बनारस प्रयाग, लखनऊ आगरा मथुरा और हिंदी प्रदेश के अन्य महत्वपूर्ण स्थानो पर अपना मजबूत अधिकार जमाया। उन्होंने सांस्कृतिक केन्द्रों को अपने कब्जे मे किया। यही स उन्हें अपना राजनीतिक तथा सांस्कृतिक अभियान करना था। इन्हीं केन्द्रो को उन्होंने अपनी पाश्चात्य शिक्षा का केन्द्र भी बनाया। लगता है जसे हमारी मुण्डो को उन्होंने अपने बाणो का हासमन बना लिया हो। जस कोई सना किसी प्रदेश के मुख्य गढा पर पहले अधिकार जमाती है वसे ही अगरेज और अगरेजी संस्कृति ने संस्कृत और हिंदी के गढों पर अधिकार करके वहाँ जमकर हमारी भाषा और संस्कृति को उन्मूलित करने का प्रयत्न किया। अगरेजी शिक्षा और अगरेजी भारत मे पाश्चात्य सभ्यता के लाने और चारों ओर फलाने वाले रथ की धुरी है। अगरेज जब हिन्दी प्रदेश म घुसा तब राजसत्ता के पथ से घुसा और तब उसके एक हाथ म स्वार्थ और क्रूरता एव जडता विनिर्मित राजदंड था और दूसरे हाथ म थे टेनिसन और किपलिंग, शेक्सपीयर और मिल्टन हार्डी, और डिकन्स मिल और रस्किन। यह अगरेजी जब भारत म आई तब ससार एक नये युग क द्वार पर खडा था। इस अगरेजी न सारे ससार के साथ ही साथ भारत का भी नये युग के नये आलीशान महल के भीतर ल जाकर खडा कर दिया। ससार के साथ साथ भारत ने भी अपने को भी बदलना प्रारम्भ किया। शेष ससार का बदलना उनकी अपनी आवश्यकता और प्रकृति के अनुसार हुआ, हमारा बदलना हमारे शासको की आवश्यकता और दया के अनुसार हुआ। प्रतिक्रियावादी अगरेजो की राजनीति एव आर्थिक शासना, भयानक शोषण एव अमानवीय नीति ने हम सभी तरह इस प्रकार अशक्त एव निर्जीव कर दिया था कि हम परोपजीवी पराजित एव आत्मगौरव विहीन होने लगे। यह अगरेजी शिक्षा चूकि हम पर लदी गई थी इसलिय यह बहुत दिनो तक यह हमारी अपनी स्वाभाविक वृत्ति नही हो सकी— सभवत आज तक नही हो सकी। आयु के जिस भाग म हमारी चेतना इतनी ताजी और सजग होती है कि हम अधिक से अधिक ज्ञान ग्रहण कर सक —वह श्रान्त सुस्त और निढाल नहीं होती —उन दिनो उनकी सारी शक्ति और क्षमता इस ओर व्यय होने लगा कि हम अगरेजी का हिन्दी म और हिंदी का

अंगरेजी में अनुवाद कर सके। तात्पर्य यह कि हम ज्ञान में नहीं भाषा में अनुवाद की क्षमता में जीवन बिताने लगे। इस प्रक्रिया की दूसरी स्थिति में हम यूरोप के साहित्य और संस्कृति से परिचित होने की चेष्टा में लगने थे। इस प्रकार सारे जीवन में हम अपनी सभ्यता और संस्कृति के अगाध भण्डार को देखने का कभी अवसर ही नहीं मिलता था। श्री निवास आयंगर ने लिखा है पश्चिमी प्रभाव का आघात लगते ही यहाँ की धरती गाढ़ी गई थी। अंगरेजी साहित्य ने मानो इस क्षेत्र को और उपजाऊ बनाया, धीरे धीरे आधुनिक भारतीय साहित्य जन्म लेने लगा।[१] वास्तविकता तो यह है कि अंगरेजी साहित्य ने इस क्षेत्र को अर्थात् पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव क्षेत्र को ही और अधिक उपजाऊ बनाया था। अस्तु बीसवीं शताब्दी में भारत ने पश्चिम से नवीन ज्ञान विज्ञान की पृष्ठभूमि में व्यावसायिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ थीं। योरप में यह सब उन्नीसवीं शताब्दी में ही समाप्त होकर निष्क्रय रूप में सामने आने लगा था। भारत में यह बीसवीं शताब्दी में आया।

असंतोष का अंकुर और उसका बढ़ना—

अस्तु अंगरेजी शिक्षा जब भारत में प्रचलित हो गई तो कुछ समय के बाद कुछ एसे महत्वाकांक्षी भारतीयों का भी दल सामने आया जो क्लर्की करने मात्र में संतुष्ट न हो सका। भारत बौद्धिक जिज्ञासा एवं लालसा से शून्य कभी भी नहीं रहा। हम ज्ञान शून्य नहीं रहना जानते। अपनी ज्ञान सम्पत्ति नहीं मिली तो पश्चिम का ज्ञान सम्पत्ति ही प्राप्त की जाय। अनुवाद और क्लर्की मात्र से संतुष्ट न होने का कारण चेतना की बौद्धिक जिज्ञासा अथवा चेतना के स्तर की ऊंचाई था। बाद में यह भी कारण हो गया कि एक तो और कोई सुन्दर विकल्प नहीं है और दूसरे यथा सम्भव यह हमारे आत्मगौरव एवं उत्थान में सहायक भी हो सकेगा। अस्तु, हम अंगरेजी भाषा और पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान के निकटतम संपर्क में आये। अंगरेजी भाषा पर असाधारण अधिकार प्राप्त कर लिया। आश्चर्य होता है भारतीयों की क्षमता पर कि विपरीत वृत्तियों की संस्कृति और सभ्यता वाली जाति की भाषा पर इतना असाधारण अधिकार वे प्राप्त कर सके। अंगरेजी साहित्य को रट डाला। प्लेटो और अरस्तू से लेकर मार्क्स और लास्की तक सबका ज्ञान प्राप्त कर लिया। यूरोप और अमेरिका के समान प्रतिभाशालियों की कृतियाँ और उनके द्वारा आविष्कृत समस्त ज्ञान विज्ञान हमारी जबान पर आ गये। रूसो, वाल्टेयर, मिल स्पेन्सर डार्विन हक्सले, रसेल, फ्रायड, युंग आदि कोई भी हमसे अपरिचित न रह गया। कुछ ने यहीं रह कर पढ़ा और कुछ ने यूरोप में जाकर पढ़ा। भारतीय शिक्षित समाज में एक जबदस्त बौद्धिक हलचल पैदा हो गई शुरू शुरू में

१ आज का भारतीय साहित्य, पृ० ४३४।

तो हम उनके अन्दर सभी अच्छा दिखाई पड़ा और अपने अन्दर सब तुच्छ और हीन ही प्रतीत हुआ। भारतीय प्रतिमा की एकान्तता समाप्त हो गई। कुएं की दीवालें टूट गई और स्कूलों और कालेजों के तरुण विद्यार्थियों की आश्चर्यचकित आंखों के सामने विचारों का एक नवीनतम संसार आ गया।[१] दृष्टि को एक विस्तृत क्षेत्र मिला, जीवन को एक नवीन दृष्टिकोण प्राप्त हुआ। पाश्चात्य शिक्षा आलोचनात्मक और वैज्ञानिक है। परिणाम यह हुआ है कि हमारी भी बुद्धि आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक हो गई तथा हम भी रूढ़ियों और परंपराओं के विरोधी और विद्रोही हो गए। इस विरोधी और विद्रोह को सप्राणता मिली आलोचना और विश्लेषण से प्राप्त उन निष्कर्षों से जिन्होंने रूढ़ियों, परम्पराओं और अंध विश्वासों की असामयिकता, अनुपयोगिता एवं निःसारता की प्रतीति करा दी। विश्वनाथ मिश्र ने लिखा है अंगरेजी भाषा और साहित्य और इस भाषा के माध्यम से अन्य यूरोपीय भाषाओं के साहित्यों का अध्ययन हमारे आज के युग के वैज्ञानिक आलोचनात्मक और मानवतावादी दृष्टिकोण के उदय और विकास का प्रधान कारण रहा है।[२] यह अध्ययन एक क्रिया का कारण— साधन उपस्थित करने का कारण— भले ही रहा हो किन्तु मानवीय दृष्टिकोण के उदय और विकास आदि का प्रधान कारण नहीं हो सकता। प्रधान कारण रहा है अंगरेजों का भारत शोषण तज्जन्य आक्रोश एवं बेचैनी और चंगुल से मुक्त होकर आत्मगौरव की पुनर्प्राप्ति की तीव्रतम कामना। इस कामना का कारण था रामकृष्ण विवेकानन्द, दयानंद, रामतीर्थ और गांधी का उद्बोधनात्मक सन्देश।

प्राचीन-नवीन की तुलना और नवीन का अनय-ज्ञान —

इसी सांस्कृतिक कारण से हमने अपने अतीत और वर्तमान की तुलना की थी और इस तुलना से हमने अपने वर्तमान का दयनीय पाकर उस दयनीयता से मुक्ति पाकर श्रेष्ठतर बनने की प्रेरणा पाई थी। ऐसा करने और सोचने वाला वर्ग प्रायः मध्यवर्ग था और एक ऐतिहासिक विडम्बना ने इस वर्ग की जबान पर अंगरेजी बिठा दी थी। इसीलिए हमारे पुनरुत्थान की भावना का श्रेय अंगरेजों को देने की भूल प्रायः कर दी जाती है। वास्तविकता तो यह है कि अंगरेजी और अंगरेजियत हम

---

१ डा० एस० शर्मा कृत हिन्दुत्व पुनर्जागरण पृ० ६२।

२ 'इंग्लिश इन्फ्लुएन्स आन हिन्दी लैंगुएज एण्ड लिटरेचर', नामक अप्रकाशित थीसिस पृ ३।

गड्ढे म ढकेलने क लिय थी और इसने यही किया भी। कुछ सास्कृतिक कारणों से ही इसक इतन प्रभावो के होत हुए भी हम मिटने नही पाये। नही तो भारतवष म जो इतनी अधिक निरक्षरता मूढ़ता मूलता दुश्चरित्रता, मौलिकता का अभाव अनुकरण की प्रवृति अनतिकता स्तर की निम्नता आदि दिखाई पड़ती है वह अंगरेजी की ही देन है। यह अंगरेजी का ही प्रभाव है कि जहा जनता की सख्या करोडो मे है वहा बिकने वाली पुस्तकों की सख्या सकडो—या बहुत हुआ तो हजार—डढ ही रह जाती है। राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है कि अगरजी शिक्षा हमार प्रान्त के लोगो को कायर और निकम्मा बना देती है।[1] के० आर० श्री वास आयगर ने लिखा है, 'हमारी शिक्षा—व्यवस्था का सबसे बडा दोष यह है कि वह कागजी फूलो का एक आकर्षक गुच्छा है न कि एक सजीव एव सप्राण वृक्ष जिसे न दिखाइ पडन गहरी जडें समाले हुए हो। आधुनिक विश्वविद्यालयो की न कोई रूपरेखा है न कोई जीवन, न मस्तिष्क है और न आत्मा।[2] राष्ट्रीय आन्दोलन मे विश्वविद्यालयो का कोई भी महत्वपूर्ण योगदान नही रहा। राष्ट्रीय जीवन की प्रधानधारा से ये विश्व विद्यालय प्राय दूर रहे। इस दृष्टि स य सक्रिय, प्रत्यक्ष और धनात्मक न होकर निष्क्रिय, परोक्ष और ऋणात्मक रहे। ये विधयात्मक न होकर सहायात्मक रहे। सामूहिक जीवन की रचनात्मक प्रेरणाओ से इन विश्वविद्यालयो वाला न—चाह हाथ दूर रहना अलग रहना ही पसन्द किया। यह बात दूसरी है कि गाधी की आत्मिक शक्ति ने—जादू न—इन्हे स्तम्भित करके इनसे राष्ट्र का कुछ हित करा लिया लेकिन सब इसका श्रेय इस शिक्षा—व्यवस्था और इस अंगरजी को नही दिया जा सकता क्याकि उस जादू के हटते ही इनका वास्तविक रूप—इनका वास्तविक प्रभाव सामने खुलकर आ गया। जिन्होने कुछ ठोस किया वह उनकी अपनी व्यक्तिगत आत्मिक शक्ति थी और इसलिए उसका भी श्रेय इनको नहा मिल सकता क्योंकि व लोग न तो इन विश्व विद्यालयो की उपज थे और यदि थे भी, तो राष्ट्रोत्थान का काय प्रारम्भ करन के बाद इन विश्वविद्यालयो क रह भी नही गये थ। हमारे इन सास्कृतिक देवदूतों म राम कृष्ण दयानन्द गाधी, विनोवा टगोर आदि कोई भी इस शिक्षा—व्यवस्था की देन नही है। विवेकानन्द, मोतीलाल जवाहरलाल, सुभाष अरविन्द, तिलक, मालवीय आदि इस शिक्षा—व्यवस्था के प्रभाव से मुक्त होने के बाद ही देश के हितकारी बन पाये। कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी का कथन है कि नवीन शिक्षा हमार नवयुवकों में जीवन—संघर्षों से एक योद्धा की भाति जूझने की महानता एव उच्चतम आदर्शों

---

१ 'आत्मकथा', पृ ६५०।

२ 'आवर ग्रटस्ट नीड की भूमिका पृ १२।

की बलिवेदी के ऊपर चढ जाने की, बौद्धिक ऊचाइयों एव महात्वाकाक्षाओं की प्राप्ति एव उनकी प्राप्ति के माग की कठिनाइयो को सहने की शक्ति एव साहस बनाए रखने की प्रेरणा एव स्फूर्ति नही देती।[1] कठिनाइयों के सामने बार-बार झुकते रहना उनस कतराते रहना बईमानियो से समझाते करते रहना हर काम को 'चलने दीजिये' टाइप से करना शाटकट खोजते रहना विवेकविहीनता किसी भी कीमत पर चमकदार दिखाई पडना जनता की ओर उन्मुख रहना आदि आज की शिक्षा यवस्था की देने है। चिकने-चमकने कपडो की चिकनी-चमकती अगरेजी पोशाक पहनना ब्लेड-साबुन-क्रीम से रोज अपने चहरे को और जूते को चिकना और चमकदार बनाना विद्वत्ता या योग्यता का 'ट्रेडमार्क' हो गया है। जीवन की सफलता और गौरव तिकडम और चापलूसी से मिलने लगा न कि श्राद्ध भक्ति और योग्यता से। नतिकता की यह हालत है कि जिनके अदर विश्वविद्यालयो म पढान की योग्यता थी वे हाई स्कूल और इटर के लडको की भाषा-सम्बन्धी अशुद्धिया सुधारते और ट्यूशन करते हैं और जो पान और पसारी की दूकान पर बैठने लायक थ वे सिफारिश और चापलूसी के बल पर शिक्षा-तन्त्र की बडी से बडी नौकरिया पा लेते हैं। अगरेजी और अगरेजी शिक्षा-यवस्था का विषाक्त प्रभाव जहा-जहाँ पडा समाज का वह-वह अग अनतिकता से सडता गया। हम सत्य की प्रेरणा से वचित हैं धर्ममय जीवन स दूर हैं और हमारी नतिक चेतना कुठित हो गई है। हम कहते कुछ हैं और करते कुछ। जिन सास्कृतिक मूल्यो स चेतना सुदृढ और सशक्त होती है इस अगरेजी शिक्षा मे और उसके परिणामस्वरूप निर्मित जीवन म उनकी उपयोगिता और मान्यता सदिग्ध हो उठी है। विज्ञान ने भौतिक और आर्थिक दृष्टि स सारे ससार को एक कर दिया है किन्तु यक्ति अभी भी अपनी रागात्मक एव भावात्मक लघुता से ऊपर नही उठ पाया।

अँगरेजी सभ्यता का साहित्य पर प्रभाव--

इस अगरेजी सभ्यता ने जहा हमारे जीवन को प्रभावित किया है वहा हमारे साहित्य को भी प्रभावित किया। जसे यह प्रभाव हमारी आत्मा को अभी नही प्रभावित कर पाया उसी प्रकार हमारे साहित्य की अपनी आत्मा का अभी भी हनन नही हो पाया है। प्रभाव जीवन मे भी बाहरी पक्षों पर है और साहित्य में भी रूप विधान पर अधिक है। जीवन म हमारा रग ढग बदला है और साहित्य म हमारी शली बदली है। यहा भी हमारी भाषा का स्वरूप बदला है और वहा भी बदला है।

---

१ आवर ग्रेटेस्ट नीड पृ २४२—२४३।

महावीरप्रसाद द्विवेदी और वर्डसवर्थ के काव्य-सिद्धांतों मे पर्याप्त समानता मिल सकती है। साहित्य की विधाएँ बहुत कुछ अंगरेजी साहित्य की विधाओं के अनुरूप हो गई। शब्दकोष, व्याकरण वाक्य-निर्माण, विराम-चिह्न परिच्छेद एवं पैराग्राफ विभाजन मानवीयकरण, विशेषण विपर्यय, रोमांस के प्रति आकर्षण आदि अनेक तत्वों पर अंगरेजियत की छाप है। अंगरेजी नाट्यशास्त्र के परिणाम स्वरूप ही हमारा नाट्यशास्त्र संस्कृत नाट्यशास्त्र की पेचीदगियों से मुक्त होकर जीवन के अधिकाधिक निकट आ गया। इसी प्रकार विषय वस्तु का क्षेत्र और रूप भी विस्तृत हो गया है। उपन्यास और कहानी के वर्तमान रूप निबन्ध, आलोचना, जीवनचरित्र आदि अंगरेजी प्रेरणा से विकसित हुए हैं। भाषा-विज्ञान, समाजशास्त्र इतिहास, राजनीति, विज्ञान, भौतिक विज्ञान, आदि के अध्ययन और तत्संबंधी, साहित्य के सृजन की प्रेरणा पश्चिम से ही मिली है। एकांकी के आधुनिक स्वरूप-निर्माण में मेटर लिंक, वर्नार्डशा, आदि से मिली प्रेरणाओं ने योगदान दिया है। इन प्रभावों का विश्लेषण करके यदि हम देखना चाहें कि अंगरेजी और उसके साहित्य के हम कितने ऋणी हैं कितना हमने उनसे लिया है और कितना हमारा अपना है तो हम यों कह सकते हैं कि उत्थान की प्रेरणा विशुद्ध रूप से हमारी अपनी रूप और विधा (बाह्य रूप) बहुत-कुछ उनकी और कुछ हमारी अपनी भी, भाषा की प्रकृति हमारी शैली उनकी विषयवस्तु, हमारे अपने जीवन की और उद्देश्य, विशुद्धरूप से राष्ट्रीय एवं विश्व मानवता से सम्बन्धित है।

विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टि—

पाश्चात्य सभ्यता की दूसरी महत्वपूर्ण देन हैं विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टिकोण। बौद्धिकता की प्रधानता और भौतिकतावादी दृष्टिकोण इससे निकलता है—बनता है। उन्नीसवी शताब्दी को विश्व के वैज्ञानिक युग की पहली शताब्दी कहा जा सकता है और यही युग भारतीय संस्कृति की राजनीतिक पराधीनता व कुपरिणामों का युग है। जहां पिछले युगों में हम यूरोप से किसी बात में नहीं पिछड़े थे वहां आगे की डेढ़ शताब्दियों मे हमारी राजनीतिक स्वतन्त्रता पर घातक ग्रहण लग जाने से-अपने हाथों-पैरों के बंध जाने से-हम निष्क्रिय हो गये और आज इतने पिछड़े लगते हैं कि लगता है कि यह पिछड़ापन हमारा जातीय स्वभाव है। हम अवैज्ञानिक कभी नहीं थे। इतना अवश्य है कि हमने इस भौतिक विज्ञान को ही एकमात्र सब कुछ नहीं समझ लिया था। उसे आध्यात्मिकता से आच्छादित रखा था। हमारी वैज्ञानिकता और आज की नई वैज्ञानिकता में यही अन्तर है। हमने जीवन के स्थूल एवं जड़ पक्ष को विज्ञान से और मूल मानव को अध्यात्म से कलित किया था। साथ ही, जड़-

तत्व की अपेक्षा आत्मतत्त्व को प्रमुखता दी थी। उपनिषदों की धारणा है कि 'मूल्यों को ध्यान में रखने की शक्ति के कारण और अमरत्व की शाश्वत क्षुधा के कारण मानव इस धरती पर दैवी शक्ति का सर्वश्रेष्ठ मूर्त्त स्वरूप है। नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण यह है कि मानव जीवन-सरिता में अपनी स्वीकृति के बिना ही डाल दिया गया है। विभिन्न प्रकार की शक्तियों से भरी हुई इस दुनिया मे उसे ढकेल दिया गया है। उसे ऐसा लगता है कि इस दुनिया में वह तभी जीवित रह सकता है जब वह उन शक्तियों पर, जिनसे वह घिरा हुआ है अपना अधिकाधिक प्रभुत्व स्थापित कर ले।'[1] इस विज्ञान ने केवल तथ्य देखा है। उसने आदमी की शक्ति इतनी बढ़ा दी कि वह प्राकृतिक शक्तियों का अपने आराम और अपनी उन्नति के लिये उपयोग कर सके। ऐसा करके उसने यह समझा था कि यथावत मानव भौतिक वातावरण को बदल देगा। हुआ कुछ और ही। मानव ने वातावरण बदलने की अपेक्षा शक्ति बढ़ाते-बढ़ाते प्रकृति पर अपना अधिकार जमाने का स्वप्न देखा। मानव भू-तत्व विद्या की एक शक्ति हो गया। भौतिक और रसायनिक उन्नति करते करते वह ग्रहों को भी जीत लेने पर तुल गया है किन्तु इस विज्ञान ने मानव का जीवन के शाश्वत-तत्व का ज्ञान नहीं दिया—शायद दे भी नहीं सकता। विज्ञान मानव का उसका लक्ष्य नहीं बता पाया। अस्तु वैज्ञानिक युग का मानव न अपने को रोक पा रहा है और न अपने द्वारा विनिर्मित तत्व को। सभ्यता विनाश की ओर जा रही है। दिनकर ने इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं —

यह समय विज्ञान का, सब भांति पूर्ण समर्थ
खुल गये हैं गूढ संसृति के अमित गुरु अर्थ।

प्रकृति पर सर्वत्र है विजयी पुरुष आसीन

प्रकृति की प्रच्छन्न सत्ता को जीत,
सिन्धु से आकाश तक सबको किये भयभीत,
सृष्टि को निज बुद्धि से करता हुआ परिमेय

जा रहा तू किस दिशा की ओर को निरुपाय?

---

१ राधाकृष्णन कृत "ईस्ट एण्ड वेस्ट

लक्ष्य क्या ? उद्देश्य क्या ? क्या अर्थ ?
यह नहीं यदि ज्ञात तो विज्ञान का श्रम व्यर्थ ?

रक्षकी भू के मनुज का श्रेय,
यह नहीं विज्ञान, विद्या-बुद्धि यह आग्नेय
विश्व-दाहक, मृत्यु-वाहक सृष्टि का संताप
भ्रान्त पथ पर अंध बढ़ते ज्ञान का अभिशाप ?[1]

जीवन एक सश्लेषण है और विज्ञान एक विश्लेषण। विज्ञान मे कोई आन्तरिक शक्ति नही। यह सुधा की व्यवस्था कर सकता है परन्तु नैतिक दृष्टि से मनुष्य को ऊँचा नहीं उठा सकता। यह वेश्यावृत्ति रोक सकता है पर हर नारी को हर पुरुष की बहन-बेटी-मां बना देना उसके बस की बात नहीं। यह जीवन का बाह्य नक्शा मात्र बदल सकता है। तो जीवन पर विज्ञान का यह प्रभाव पड़ा कि इस विज्ञान प्रधान पाश्चात्य सभ्यता मे जीवन टुकड़े-टुकड़े होकर विघटित हो गया है। यह विज्ञान यदि वैज्ञानिकों या विशेषज्ञों तक ही सीमित रहता तो इसका प्रभाव उतना अहितकर न होता किन्तु निहित स्वार्थों-राजनीतिज्ञों-की छाया के नीचे आकर इसने वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव का बड़ा अहित किया और बदनाम हो गया। भारतीय जीवन में यह विज्ञान अभी बुद्धि और चिंतन के क्षेत्र तक ही सीमित है जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में अथवा भारतीय मानव के हृदय प्रदेश मे अभी इसकी पहुंच नही हुई है। फिर भी साहित्य में यह वैज्ञानिकता और बौद्धिकता घुस गई है। कवियो का वैज्ञानिक अध्ययन प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक अध्ययन, कवियों के जीवन वृत्त का वैज्ञानिक अध्ययन, पाठों का वैज्ञानिक सम्पादन, वैज्ञानिक समालोचना भाषा-विज्ञान, आदि के अतिरिक्त कवियो के भी दृष्टिकोण और उनकी कविताओं की पृष्ठभूमि में भावुकता और रागात्मकता की जगह वैज्ञानिक चिंतन दिखाई पड़ता है। विज्ञान अभी साहित्य का विषय तो नहीं बना लेकिन दृष्टिकोण बनकर आधुनिक हिंदी साहित्य को बदल अवश्य रहा है।

साम्यवादी विचारधारा—

हिंदी प्रदेश के चिन्तन को प्रभावित करने वाली पाश्चात्य सभ्यता की देनों मे से एक साम्यवादी विचारधारा भी है जो बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के तृतीय दशक तक भारत मे आ गई थी। मूलतः यह एक आर्थिक विचार है और काल को समझने

[1] 'कुरुक्षेत्र' का 'अभिनव मानव' सर्ग

का तक शुद्ध प्रयास है। यह सत्य से उतना सबधित नहीं जितना समाज से सबधित है इसकी पृष्ठभूमि मे नैतिकता विहीन भौतिक वादी प्रवृत्तियां हैं। राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है, 'साम्यवाद का ध्येय है सारे देश या विश्व को एक सम्मिलित परिवार बना देना और देश की सारी सम्पत्ति को उस परिवार की करार देना।[1] यह ईश्वर और धर्म को नहीं मानता। यह द्वन्द्व को ही मूल तत्व मानता है और उसी से सब की उत्पत्ति और विकास मानता है। यह समाज के विकास को समाज के ही विभिन्न वर्गों के सघर्षों का परिणाम मानता है और मानता है कि समाज के प्रत्येक अवयव के स्वरूप का निर्माण उत्पादन के साधनों के स्वरूप के आधार पर होता है। यह शोषण का शत्रु है। सभ्यता की दृष्टि से देखें तो साम्यवाद व्यक्तिकता को —व्यक्तिगत पूंजी या पूंजी पर के व्यक्तिगत अधिकार को — समाप्त करने का समर्थक है अर्थात् यह व्यक्ति को बिलकुल महत्व नही देता। यह जो कुछ भी समझता है वह समाज को समझता है। यहां व्यक्ति का कोई आदर नही। वह भी मशीन का एक पुर्जा है। जब तक उपयोगी है तब तक चमकाया जायगा और नही तो फेंक दिया जायगा — छूट किया जा सकता है। यह मशीनो का दोस्त और दस्तकारी का दुश्मन है। यह पारिवारिक जीवन का शत्रु है। स्त्री–बच्चे रहेंगे तो परन्तु उनका उत्तरदायित्व समाज पर रहेगा और इसीलिये अधिकार भी समाज का रहेगा। व्यक्ति अपनी शक्ति भर काम करेगा और आवश्यकता भर पायेगा। समाज के निर्माण में चूंकि हर व्यक्ति आवश्यक है और हर काम आवश्यक है अतएव न कोई काम बड़ा, न छोटा। अतएव न कोई उच्चवर्ग और न कोई निम्न वर्ग। यह साम्यवाद शक्ति का उपासक है। अतएव समाज को बदलने के लिये राज्यशक्ति पर मजदूर वर्ग या प्रोलेतारियत का अधिकार अनिवार्य समझता है।

यह इसके लिये मारकाट और सभी तरह की हिंसा करने को तैयार है। इस शक्ति का स्थूलतम रूप पैसा है। पैसा यानी सिक्का। अस्तु उत्पादन वृद्धि व्यापार वृद्धि अर्थात् बाजार (मार्केट) की वृद्धि और सनिकवाद की भावना इस सभ्यता का आधार बनी। इस सभ्यता में निश्चित रूप से नारी का मूल्य घट जाता है। पौरुष एवं उसकी परुषता महत्त्वपूर्ण हो जाती है। नारीत्व का योग इस सभ्यता के विकास में बहुत कम होता है। यह सभ्यता भावप्रधान नहीं, कर्मप्रधान हो जाती है, कर्म ज्वर बढ़ जाता है। सघर्ष और स्पर्द्धा से यहाँ प्रेरणा मिलती है। यहाँ भेद और संहार का साम्राज्य है। यहां मन की और आत्मा की भूख और मांग नाम की कोई

१ साम्यवाद ही क्यों ? पृ० ६२।

भी चीज नहीं होती। यहां प्रेम एक रोग है। मैथुन एक गंदी चीज है। इससे संक्रामक रोग पैदा हो सकते हैं। यहां नारी उत्थान की एक इकाई मात्र है। वह धमाई करने निकली है। बराबरी की हकदार है। यहां नारी-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध के साथ कोई उच्चतर मूल्य या आदर्श नहीं संयुक्त हैं। वे एक घटनामात्र है। स्वादिष्ट खाना सुन्दर पहनना, जमकर भोग करना, रम कर विलास करना दम-भर मेहनत करना, मन भरे तो मिल जाना नहीं तो, दूर से दोस्त बने रहना और शुद्ध-अशुद्ध लौकिक-अलौकिक, दिव्य-दानवी आदि की प्रकार की खुराफातों से मन को मुक्त रखना, सत्य (माया और अध्यात्म) को कुछ न मान कर सम्य हो को सब कुछ मानना आदि बातें इस सभ्यता में स्वाभाविक रूप से पाई जाती हैं। निश्चित है कि ये विचार और सिद्धांत भारत के हर आयु हर वर्ग और रुचि वाले समाज को नहीं पसन्द आ सकतीं। हमारी संस्कृति के प्रतिकूल हैं। जिसको यह पसन्द भी आएगी वह इसे समाज के अन्दर व्यावहारिक रूप दे भी नहीं पायेगा और दन भी नहीं पाएगा। यह गर्म खून और गर्म उमर वालों की बुद्धि और कल्पना का वैभव मात्र होकर रह गया है। जीवन पर इसका असर उतना नहीं पड़ा जितना साहित्य पर पड़ा है। इससे प्रभूत एवं प्रोत्साहित बुद्धिवाद एवं विश्लेषणवाद ने आलोचना का रूप ही बदल दिया है। अब आलोचना वैयक्तिक रुचि एवं रस वाले सिद्धांतों के आधार पर न होकर समाजवादी सिद्धान्तों के आधार पर होती है। इसी के परिणामस्वरूप साहित्य में हीन वर्ग वालों का पर्याप्त चित्रण होने लगा है— हालांकि वह पूर्ण रूप से स्वाभाविक नहीं होता। गणेश प्रसाद की सुहाग बिन्दी' लक्ष्मी नारायण मिश्र का 'राक्षस का मंदिर', 'अज्ञेय के शेखर — एक जीवनी आदि में जो सेक्स की मनोवैज्ञानिक गाठें हैं। —उलझनें हैं — वे भी इसी के परिणाम के रूप में देखी जा सकती है। नारी-शरीर के भार उभार तथा चढ़ाव उतार को गुदगुदी और मन बहलाव की पीठिका समझना और बेशरमी से भरा हुआ उनका चित्रण करना इसी सभ्यता और तज्जन्य मनोरुचियों की देन है। अनेक उपन्यास और उपन्यास लेखक इस रंग में रंग गये हैं क्योंकि इस रंग में बड़ा आकर्षण है और चखने में यह काफी मिर्च मसालेदार और परिणामस्वरूप काफी गरमी लाने वाला है। कविता पहले की अपेक्षा कुछ अधिक सरल हो गई है क्योंकि इस सिद्धान्त और आवश्यकता के अनुसार साहित्य भी जन-समूह के लिये होता है और जनसमूह सरलता प्रिय होता है। अनुभूतियों की तीव्रता से कमी हो रही है और सस्ती भावुकता[१] बढ़ रही है। कविता का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। धार्मिक, नैतिक और

१ गुनाहों का देवता' नामक उपन्यास में सुधा और चन्दर की भावुकता— जैसी।

परम्परागत बन्धनों की अब कोई परवाह नहीं की जाती। जैसा कि ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है, साम्यवाद भौतिकवाद तत्व और प्रभाव की दृष्टि से भी नहीं है। इसमें भौतिक तत्वों को ही सब कुछ माना जाता है। यहाँ सूक्ष्म या आध्यात्मिक तत्व नाम की कोई भी चीज नहीं होती। इसमें धर्म की प्रधानता नहीं होती तात्विक दृष्टि से यह पुद्गल या भौतिक अणु-परमाणुओं को तथा राजनीति की दृष्टि से राष्ट्र को सब कुछ मानता है। जब ब्रह्म या परम आत्मा के न रहने पर यह अद्वैत सूत्र नहीं मिल सकता जो सबमें आत्मीयता— तादात्म्य— की अनुभूति करा सके ऐसी स्थिति में रागात्मक अद्वैतता या अखण्डता का सम्बन्ध अकल्पित होता है। किसी के साथ भी अविच्छिन्नता की प्रतीति नहीं होने पाती। पारिवारिकता खत्म हो जाती है या दमम दिनों का जोड़े रहने वाला प्रेम-तत्व रह नहीं जाता। स्वार्थ प्रधान हो जाता है। अपने मन और अपनी आवश्यकता की बात ऊपर आ जाती है। 'पर' के लिये अपने को दे डालने की और इस दे डालने' के अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति की बात खत्म जाती है। एक बात और भी पैदा होती है। भौतिकता की दृष्टि से व्यक्ति इस विशाल ब्रह्माण्ड और उसकी अमित प्रकृतियों एवं शक्तियों के सामने नगण्य है एक दम छोटा है, और भाव की दृष्टि से प्राकृतिक शक्तियां मानव के स मन विपन्न हैं। भाव से मानव विभु होता है और प्रभु के समकक्ष बैठता है नहीं तो यह मानव बड़ा ही अशक्त और असहाय है। तो, भौतिकता मानव को असहाय नगण्य अक्षम, असमर्थ और विपन्न बना देती है। इतनी कम शक्ति और इतने कम दिनों तक रहना और सामने अनन्त वैभव – सुख– सम्पदा— भोग ! और इस विश्व में जितना हम पा सके हैं उससे कहीं अधिक पाने वाले अवश्य हैं ! यह विचार व्यक्ति में 'हाय पैसा' कर देता है। वह असन्तुष्ट होकर अधिकाधिक पाने, लेने छीनने चुराने और नोचने खसोटने का प्रयत्न करता है। भावात्मक विघटन होता है। प्रेम समाप्त होता है भोग बढ़ता है। स्निग्धता की जगह हिंसा सिर उठाती है प्रीति की जगह पसा पनपता है। जीवन टुकड़ों में बटता है। परिवार का रस नहीं मिलता तो प्यासा हृदय भर जाता है और रूखा मन मनोरंजन मांगता है। मधुर घर की संस्कृति की चिता पर मादक बलवों की सभ्यता की आकर्षक इमारत बनती है। हृदय नहीं सजता तो सज गजाए ड्राइंग रूमों के लिये मन बेचैन हो उठता है। मन के चमन की लज भरी धरती पर जब विनाश की काली चादर तन जाती है तो आर्केस्ट्राओं और शराब में झनझनाती हुई उत्तेजनापूर्ण 'नाइट-क्लबों की संस्कृति उत्तेजक उभार पर आती है। परन्तु भोग भोगने से नहीं बुझती कामना भोग से शान्त नहीं होती, और अधिक भड़कती है। और अधिक भोग होता है और भड़कती है और अधिक भोग मांगती

)

है और यह क्रम शक्ति एवं क्षमता की क्षीणता की अंतिम स्थिति तक चलता रहता है। अधिकाधिक भोग अधिकाधिक पदार्थ चाहता है और अधिकाधिक को धन से वंचित करने से संगृहीत होता है।

वस्तु के संग्रह से सिक्के का संग्रह सुविधाजनक और सुरक्षित होता है। अस्तु सिक्के का महत्त्व बढ़ा। शोषण बढ़ा। दूसरे का श्रम कम मूल्य पर खरीदा गया। श्रम का मूल्य घटा बुद्धि का मूल्य बढ़ा। ईमानदारी तिरस्कृत हुई। तिकड़बाजी पुरस्कृत हुई। श्रम की सार्थकता सिक्के से आँकी गई। निर्माण वास्तविक लक्ष्य नहीं रह गया। बैंक फर्म आदि खुले। आदमी का मूल्य घट गया। जड़ आर्थिक दृष्टिकोण की प्रधानता ने चेतन मानव का महत्त्व घटा दिया। वह कायर हो गया। भाव नात्मकता आध्यात्मिकता और राग का सुख नहीं मिला—अन्तर तृप्त नहीं हुआ—तो पैसे के जोर से सुख सुविधा यश, गुरुत्व महत्त्व प्राप्ति आदि खरीदने की प्रवृत्ति बढ़ी। कहा गया— टका धर्मो टका कर्मो टका मोक्ष प्रदायक[1] मदिरा नारी के शरीर और (बिल) उत्तेजना की मांग बढ़ी। असाधारण और असाधारण कल्पित होने लगी। साहित्य चरमसीमा और कौतूहल प्रधान हो गया और रह गया कि उसके बाद शीघ्र ही कथावस्तु समाप्त हो जाय क्योंकि फिर कोई लुत्फ नहीं रह जाता। भीतर छटपटाहट और बाहर रोष भीतर कमजोरी और बाहर अकड़ भीतर दीनता और बाहर शानयह जड़वादी सभ्यता की उपलब्धियां हैं। ये भारत में भी आगईं। इस भौतिकवादी सभ्यता ने नारी का अवमूल्यन कर दिया। उसका महत्त्व घट गया, मूल्य घट गया, आदर घट गया, सत्कार घट गया प्यार घट गया। पहले वह सहधर्मिणी थी, अब सहकर्मिणी हो गई। पहले वह देवी थी अब 'कुमारी' या 'श्रीमती' मात्र रह गई। पहले उसको स्नेह प्रेम एवं श्रद्धा मिलती थी अब मसालेदार भड़कीली वस्तुएं मिलती हैं। पहले उसे देखकर हम आदर से सिर झुका लेते थे, अब बेहयाई से आंखें फाड़े रहते हैं। पहले वह एक परिवार में बंधकर भी हजारों लाखों से स्वतन्त्र रहती थी अब पुरुष-मुक्त होकर भी पुरुष प्रधान समाज की बंदिनी हो गई। पहले वह पति सन्तान एवं परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी, आज मनेजरों, डाइरेक्टरों साथियों एवं अध्यक्षों की इच्छा की तृप्ति करती है। प्रेम स्निग्ध एक की दासी आज वासना-प्रधान हजारों की 'चिटिया' हो चली है। आज वह 'व्यक्ति' हो गई है। भौतिक सभ्यता में 'व्यक्ति' की कीमत होती है उसकी अर्जन-क्षमता के अनुसार जिसमें नारी पुरुष की अपेक्षा हीन है। अस्तु पुरुष की प्रतियोगिता में आकर वह 'हीन' हो गई। नारी पुरुष नहीं हो सकती। नारीत्व खोकर वह विपन्न हो

---

१ एक लोकोक्ति

जाती है। नारी अर्जन के लिये नहीं 'सर्जन' के लिए है। आज उसका महत्व उसके गुणों के आधार पर नहीं, उसकी तनख्वाह और उसके आकर्षण की क्षमता पर आंका जाता है। आज स्त्री का सहयोग नहीं, उपयोग होता है आर्थिक और सामाजिक होड़ में जूझने वाले भौतिकवादी–जड़वादी मानव के तन की भूख और मन की थकान मिटाकर उसको गुदगुदाने का साधन मात्र नारी हो गई है। आज सेक्स मनोरंजन का साधन हो गया है। धर्म की बात बेकार की बात हो गई है 'प्रजनन' अवांछित ऐक्सीडेन्ट हो गया है। मैथुन हो किन्तु उसका स्वाभाविक फल न सम्भालना पड़े, इसके लिये अनेक उपाय और साधन निकाले जा चुके हैं और उनके उपयोग को अनैतिक नहीं माना जाता। बल्कि सार्वभौम सत्ता सम्पन्न सर्व–प्रभु सरकार अपनी समस्त शक्तियां एवं क्षमताओं का उपयोग करके उसका प्रचार करती है। उसकी महिला प्रतिनिधियां भी बड़ी निष्ठा और आस्था से उसकी वकालत करती हैं। गर्भपात को कानूनी कार्य घोषित करने का विचार सामने लाया जा रहा है। निश्चित है कि इससे समाज में व्यभिचार बढ़ेगा। आज भी 'मिसेज' की अपेक्षा 'मिस' एवं 'श्रीपति' की जगह चिर कुमार या बाल–ब्रह्मचारी पुरुष इसका उपयोग कम नहीं करते। शायद समाज व्यभिचार को मान्यता प्रदान करने की ओर–मुक्त मैथुन की ओर उन्मुख हो रहा है। अपने आदिम स्वरूप की ओर मुड़ने की दिशा में विकासोन्मुख है। ठीक भी है क्योंकि भौतिकवादी जड़ सभ्यता की नैतिकता का रूप कुछ तो बदला होगा ही। अस्तु आदमी 'मैं' को प्यार करने लगा। सार्थकता देने में नहीं पाने में समझी जाने लगी। तो जो हम एक दूसरे से समुचित एवं वांछित रूप से बांधता है वह 'सम्बन्ध' न होकर 'बन्धन' समझा जाने लगा। विवाह सोशल कन्टेक्ट या 'म्युचुअल ऐग्रीमेन्ट' हो गया जो आज किया जाता है और कल तोड़ा जाता है। जड़ सभ्यता ने पुरुष और नारी दोनों के भीतर से सहने और निबाहने की भावना समाप्त कर दी। विवाह जन्म–जन्मान्तर का बन्धन नहीं रहगया और अब तो सरकार ने भी 'तलाक' का रास्ता खोल दिया है। पटे तो ठीक है नहीं तो छोड़ दो इस छोड़–छाड़ में नारी सदैव घाटे में रहती है। पति या पत्नी का दास्य मानने का रिवाज चला जिसका तात्पर्य यह है कि दोनों दो ऐसे व्यक्तित्व हुए जिनका भावात्मक या रागात्मक सम्बन्ध सूत्र बड़ा ही कच्चा होता है। यह भौतिकवादी सभ्यता है। इस प्रकार अब हम सबको एकमात्र बुद्धि की दृष्टि से देखने लगे। अस्तु, इस भौतिकवाद ने वैज्ञानिक मनोवृत्ति वैज्ञानिक विचारपद्धति एवं तर्कशक्ति दी। अब जीवन भयानक रूप से कम संकुल एवं उद्देश्य प्रधान हो गया। भौतिक विज्ञान–प्रधान हो गया। युद्ध कला व्यापार शिल्प एवं चिकित्सा, आदि के क्षेत्रों पर विशेष रूप से इस भौतिकवादी सभ्यता की छाप पड़ी। भौतिक सघुनाएं मिट गईं प्राचीरें टूट गईं। नवीनता की अभिवृद्धि

। वस्तुओं की विविधता और प्रचुरता जीवन की सीमाओं से उफना उठी है। हृत्य में मनोविज्ञान, आदि का प्रवेश हुआ। बौद्धिकता बढ़ गई। धर्म, नीति और धार्मिकता का स्थान यथातथ्य चित्रण ने लिया। आदर्श का स्नेह–स्निग्ध आंचल ० दिया गया।

यड —

बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी सभ्यता ने भारत को एक और महत्वपूर्ण चीज है। यह चीज है फ्रायड के विचार और निष्कर्ष। इस विद्वान ने मानव–मन का विश्लेषण वैज्ञानिक ढंग से किया और कुछ अपने निष्कर्ष निकाले। उसके निष्कर्षों मनोविज्ञान की दुनिया में एक हलचल मचादी। इसने मानव चेतना के कई स्तर ताये। उन स्तरों में एक है अवचेतन मन। अनेकानेक कारणों से हमारी जो इच्छाएं पूरी नहीं हो पाती वे दबकर अवचेतन मन में पड़ी रहती हैं। उनमें असाधारण शक्ति होती है और वे चुपके चुपके उत्पात मचाया करती हैं। मनुष्य का चिन्तन, मनुष्य की प्रकृति और प्रवृत्तियां मनुष्य का व्यवहार, मनुष्य की कल्पना और कामना मनुष्य के भाव और विचार मनुष्य की क्रिया और प्रतिक्रिया इनसे प्रभावित होती रहती है। इन दमित वासनाओं में भी सबसे अधिक सशक्त होती है काम–वासना। फ्रायड के अनुसार काम–वासना से ही हमारा सारा जीवन अनुप्राणित होता है। बच्चे से लेकर वृद्ध तक की समस्त क्रियाओं के पीछे यही होती है। बच्चा मां को इसलिये अधिक प्यार करता है कि उसमें काम–वासना है भाई-बहन के भी प्यार का यही आधार है। दमित काम–कुण्ठाएं ही हमारी मूल प्रेरणा है। कला में इन्हीं दमित काम वासनाओं का श्रेष्ठतम रूप मिलता है। कला के माध्यम से हमारी दबी हुई इच्छाएं समाज से समझौता करने के लिये रूप बदल कर आती हैं। कलाकार प्रतीक शैली अपनाता है। वह जीवन–संघर्ष से भागकर कल्पनाओं का एक संसार बनाता है 'मैं जग–जीवन का भार लिये फिरता हू फिर भी जीवन में प्यार लिये फिरता हू है यह विस्तृत संसार न मुझको भाता मैं सपनों का संसार लिये फिरता हू।'[1] फ्रायड की इस विचारधारा ने कला और साहित्य को समझने की एक नई दृष्टि दी जो पाश्चात्य सभ्यता की प्रवृत्ति के सर्वथा अनुरूप है।

मनोविज्ञान—

आधुनिक विज्ञान ने मानव–मन को भी अछूता नहीं छोड़ा। उसका भी विवेचन और विश्लेषण किया गया है। यह विज्ञान मनोविज्ञान कहलाता है। इसमें मन विभिन्न वृत्तियों, प्रवृत्तियों एवं उस पर पड़ने वाले विभिन्न प्रभावों का अध्ययन किया

१ 'बच्चन की एक कविता की कुछ पंक्तियां।

जाता है। 'आधुनिक कविता मे जिन मनोवैज्ञानिक तत्वों एवं प्रतिक्रियाओ क
उपयोग हुआ है वे इस प्रकार हैं—(१) निर्बाध निर्देश या फ्री एसोसिएशन जिस
आधार आत्मोद्बोधन , (२) व्यंजना का उपयोग अर्थात् सांकेतिकता, (३)
प्रतीकवाद, (४) उदबोधक प्रतीकों द्वारा भावाभिव्यंजना का प्रयत्न, (५) वैयक्तिक
और (६) अचेतन प्रक्रियाओं के विस्तृत समूह मात्र के रूप में मानव की कल्पना।
नाटको मे तो मनोवैज्ञानिक चित्रण अनिवार्य हो गया है। इसी प्रकार कहानी, उप
न्यास, आलोचना जीवन चरित्र एवं निबन्ध, आदि में भी इसका आधार लिय
जाता है।

इलियट—

इस सभ्यता की उपज, इलियट, की मान्यताओं ने भी हमको प्रभावित किय
है। प्रयोगवादी कविता का बहुत-कुछ आधार इलियट है। उसके अनुसार कवि क
व्यक्तित्व और कवि की कृतियाँ—ये दोनों दो स्वतन्त्र इकाइयाँ हैं। जो मन रचन
करता है वह उस मन से भिन्न है जो भोग करता है। इस प्रकार यह आवश्यक नह
है कि हमने जो भाव प्रकट किये हैं वे हमारे अपने ही हों। इसलिये काव्य में कवि
की अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को ही खोजना बेकार है। हमने जिन भावों क
व्यंजना की है उनके मौलिक रूप का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना कोई अनिवार्य ब
नहीं है। कला-सृजन की उत्कट प्रेरणा के परिणामस्वरूप ही हम वे संवेदनाएँ औ
अनुभूतियाँ मिल जाती हैं जिनका समन्वित रूप हमारे द्वारा रचित काव्य के रूप
दिखाई पड़ता है। रचना करते समय कलाकार अपने 'स्व' को अपनी रचना से अल
रखता है। इसलिये कला मे कलाकार के व्यक्तित्व को खोजने का प्रयास नहीं करन
चाहिये।

प्रतिबिम्बवाद तथा कुछ विचारक—

१९०९ ई० में हुल्मे के नेतृत्व में प्रतिबिम्बवादी आंदोलन प्रारम्भ हुआ था
एजरा पाउंड और एमी लावेल ने इसको समृद्धि प्रदान की। प्रथम महायुद्ध के ब
यह आंदोलन समाप्त हो गया। साहित्य-क्षेत्र मे इसका पर्याप्त विरोध हुआ था। इ
आंदोलन ने शास्त्रीय पद्धति को स्वीकार किया। इसके अनुसार कविता में संक्षि
के साथ और एक मर्यादापूर्ण ढंग से दृश्य के प्रतिबिम्ब को अभिव्यक्त करना चाहिये
यह अभिव्यक्ति स्पष्ट होनी चाहिए। इसके अनुसार अर्थ की शुद्धता भी आवश्य
है। विषयवस्तु चुनने में कवि पूर्णरूप से स्वतन्त्र है। भावों की अभिव्यंजना में ना

१ 'आलोचना', नवम्बर १९५५ ई० पृ० २९-३०।

का भी सहारा वह ले सकता है। इससे किसी भाव की, अनुभूति ध्वनित की जा सकती है। प्रतिबिम्ब को अभिव्यक्त करने के लिये हमको रुढि का सहारा लेने की मजबूरी नहीं है। हम इस ढग से अभिव्यक्त करना चाहिये कि उसकी अपनी विशिष्ट वयक्तिकता बनी रहे। शब्द चित्रों के विधान मे शुष्क कठोरता आवश्यक है। इस प्रकार यथार्थ अभिचित्रित होना चाहिये। वस्तु के अपने सही रूप को ही चित्रित करना है। इस चित्रण मे हमे अपनी मान्यता को अलग रख देना है। काव्य आत्म परक भावुकता प्रधान दार्शनिक अथवा वर्णनात्मक नही होना चाहिये। कठोर, दृढ और ठोस रूप सामने लाना चाहिए। जो कुछ लिखो उसमे कुछ अजनबीपन, अनोखा पन, असाधारणता हो। कविताएं छोटी हो। प्रभाव थोडे समय तक के लिये पडे। शुद्ध आकृति ज्ञान का इसमें बडा महत्व है।

निरीक्षण पूर्ण एव वास्तविक होना चाहिए। ईलियट की ये धारणायें फ्रांस के प्रतीकवादी आन्दोलन से मिली। असफलताओ और भाग्यवाद ने फ्रांस मे अलौकिक आदर्शों और मानवतावादी रोमांटिक काव्य-परम्पराओं के विरुद्ध विचार पैदा किये। विक्टर ह्यूगो रोमांटिक स्कूल के थे। उनके ठीक विपरीत विचार लेकर बोद लेयर पतनवादी कविता के समर्थक हुए। इसके अनुसार मानववाद बुद्धिवाद, आदर्शवाद, आदि सभी कला के लिये अवांछनीय हैं। प्रतीकवादी कविता इसी पतनवादी कविता की एक शाखा थी। मालर्मे रेमी द गुर्मा और पाल वालेरी, आदि के नेतृत्व मे यह यूरोपीय साहित्य का एक प्रमुख आन्दोलन हो गया। प्रतीकवादी कवियों मे से अधि काश कलावादी, पलायनवादी और घोर व्यक्तिवादी थे। उनकी कविताए आदर्शों और मतवादो से दूर रहती थी। ऐसा करने से 'विशुद्ध कविता बनती है क्योंकि यदि कविता मे कोई खास विचार सिद्धात मत एव बोधगम्यता रही, उसका आकार बहद रहा, या वह समझकर लिखी गई या समझ मे आ सकी तब वह, विशुद्ध कविता' नहीं रह जायगी। तब समझ मे आने वाली चीज" हो जायगी सिद्धान्त' हो जायगी, 'बडी रचना" हो जायगी, कविता कहा रह जायगी!! इसी तरह एक और विचारधारा हमको पाश्चात्य सभ्यता ने दी। उसका नाम है अस्तित्ववाद। अस्तित्ववाद दो प्रकार का होता है। एक के अनुसार मानव यह अनुभव करता है कि वह स्वतन्त्र है और "कुछ" है। यह सोचने के बाद वह यह अनुभव करने लगता है कि तब उत्तरदायित्व भी है। उसके सामने के बन्धन एव उसकी बाधाएं उसे अपने को अक्षम और मनुष्य की लघुताएं उसे अपने को अकेला सोचने को विवश कर देती हैं। अब वह अपने को ईश्वर के सामने प्रणत करके अपने को शून्य कर देता है। यह आस्तिक अस्तित्ववाद है। दूसरे प्रकार का अस्तित्ववाद नास्तिक अस्तित्ववाद है जिसके

अनुसार मनुष्य की कोई भी अपनी स्थायी प्रकृति नही। मनुष्य पदार्थ नही कर्ता है और इसके कारण उसका प्रत्येक कार्य एक नई कृति है–सृष्टि है। इसका पता भी लगता है कि आप किसी भी मनुष्य की पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक एवं व्यक्तिगत स्थितियों को पूरी तरह से जानते हुए भी नही कह सकते कि वह अमुक परिस्थिति मे अमुक आचरण करेगा ही। अनुमान कर सकते हैं और गलत हो सकते हैं। यह मानव पूर्णरूप से स्वाधीन है। उसकी इस असीम स्वाधीनता की सीमा बता देने मे समर्थ शक्ति कोई है ही नही–ईश्वर, न और कोई परम–चरम शक्ति। मनुष्य की यह असीम स्वाधीनता ही उसके लिये घातक है–अभिशाप है। सामने अनन्त है। उसमे से अपने लिये "कुछ" चुनने को वह बाध्य है। ऐसा किये बिना वह रह नहीं सकता। अब प्रश्न उठता है कि क्या चुने ! इसके लिये उसके पास कोई शाश्वत माप दण्ड ही नही है। यही परिस्थिति मानव के जीवन की शाश्वत दुविधा है। उसके अन्दर व्याकुलता होती है। उस अपनी इस व्याकुलता का कोई स्पष्ट ज्ञान होता नहीं पर वह बेचैन रहता है। भीतर ही भीतर कुछ कचोटता है वह भागना चाहता है पर भाग नही सकता ! दयनीय, एकाकी, असहाय बेचारा !! साहित्य इसी हीनता के दबाव की अभिव्यक्ति है। टालस्टाय का सिद्धान्त था कि कलाकार अपनी कृतियो मे जिन भावो को अभिव्यजित करता है उनकी प्रकृति, उनके स्वभाव और जनता पर पड़ सकने वाले उनके प्रभाव का–अनुमान उसे होना चाहिये। ऐसे भावो की अभिव्यजना उसे नही करनी चाहिए जिनसे लोक का अहित हो। साहित्य में लोक–हित के उत्कृष्ट भावो की अभिव्यक्ति होनी चाहिये। साहित्य एक उपयोगी वस्तु है। उसका एक उद्देश्य है और नन्द दुलारे वाजपेयी के शब्दो मे 'साहित्य प्रवृत्तियों के संघटन प्रस्तुत करता है और उनके निर्माण मे सहायक भी होता है–यह रिचार्ड्स के मत का सार है।'[1]

आगे चलकर काडवेल ने मार्क्सवादी विचारधारा का प्रवेश साहित्य मे कराया। इसके अनुसार साहित्य की स्वतंत्र सत्ता नही। वह साध्य भी नही। वह साधन मात्र है। वह पार्टी के हित के लिये होना चाहिये। कार्य–कारण परपरा से मुक्त न होने के कारण साहित्य किसी का कार्य है किसी का 'कारण' जिससे कोई 'कार्य' होगा। युग का आर्थिक विधान और स्वरूप ही साहित्य का रूप निर्माण करता है। मध्यवर्गीय और उच्चवर्गीय व्यक्तियो द्वारा रचित साहित्य बुर्जुआ प्रवृति प्रधान और शोषण का सहायक एव समर्थक होता है। व्यक्तिवाद बुर्जुआ प्रवृत्ति का

१ 'नया साहित्य नये प्रश्न' पृष्ठ ६२

परिणाम है। इटली का बूनेडिटो क्रोचे काव्य को अभिव्यंजना मात्र मानता है। उसके अनुसार कला एक मानसिक प्रक्रिया है। वह आत्मा की अभिव्यक्ति है। मनुष्य को सहज चेतना और कल्पना नाम की जो दो चीजें मिली हैं उन्हीं से कला का जन्म होता है। मन एक संवेदनशील तत्व है। सामान्य जीवन व्यापारों के द्वन्द्व-प्रतिद्वन्द्व मन पर अपनी छाप छोड़ते जाते हैं। उन्हीं छापों की अभिव्यंजना कला है। एडलर का विचार है कि चूंकि मानव शारीरिक, मानसिक, आदि अनेक क्षमताओं की दृष्टि से हीन है अतएव व्यक्ति के मन में हीनता की भावना बस जाती है। इसकी प्रतिक्रिया यह है कि वह कमी पूरा करना चाहता है अर्थात् असाधारण सत्ता और महत्ता प्राप्त करने की इच्छा पैदा होती है। साहित्य और कला भी मनुष्य की इस हीन भावना की चुभन भुला देने के लिये हैं। काव्य रचना की शक्ति न प्रकृति की देन है न परम्परा से उत्तराधिकार में मिलती है और न यह किसी पुण्य का फल है। यह मानव की हीन भावना की प्रतिक्रिया है। भय, संघर्ष और निराशा आदमी को कवि बना देते हैं। वह अच्छा लिखकर और सुनाकर जो जनता के हृदय को प्रभावित कर लेता है तो अहंकार से फूल उठता है। अपनी हीनता का दर्द भूल जाता है। उसमें एक सामाजिक भाव जागता है। वह दूसरे मनुष्य से प्रेम भी करने लगता है। सारे संसार को अपना समझने लगता है। इससे अपना और सबका कल्याण होता है। यह विचार अन्तश्चेतनावाद है। युंग 'सामूहिक अचेतन' से कला को उद्भूत मानता है। कला और साहित्य में इस दृष्टि से कोई खास अन्तर नहीं पड़ता। युंग की विचारधारा का सार नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में यह है, साहित्य ऐसी ही क्षतिपूरक क्रिया है। उसमें कलाकार समस्त मानवता की उन निगूढ़ अभिलाषाओं को अभिव्यक्त करता है जिनका उसके युग विशेष की भूलों और त्रुटियों के निराकरण और एक अभिनव सन्तुलन की प्राप्ति के साथ गहरा संबंध है।[1] अतियथार्थवाद के अनुसार कलाकार को चाहिये कि वह अपने चेतन मन की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं पर कोई ध्यान न दे अपने आप उसके अचेतन मन से कुछ भाव और कुछ छवियां उभरेंगी। उन्हें उसी रूप में ही साहित्य में अभिव्यक्त करना चाहिये। यह अतीन्द्रिय यथार्थ नियमों और अनुशासनों से परे होता है।

हमने इन सभी सिद्धांतों को पढ़ा। इनमें से कुछ हमारे अनुकूल थे और कुछ हमारे प्रतिकूल। ठोस एवं सुगठित चिन्तनधारा के अभाव में मौलिक चिन्तन कल्पना मात्र है। हमारा पढ़ा लिखा मध्यवर्ग ऐसी अमर बेलि था जिसकी जड़ न हमारी संस्कृति में रह गई थी और न पाश्चात्य संस्कृति में। यह निर्मूल वर्ग लहरों पर उतराता

१ नया साहित्य नये प्रश्न', पृ ८६

—कहता है। जब कुछ ठोस नहीं दे मिलता तो यश नहीं मिलता और अहं की पूर्ति नहीं होती। इस कमी की पूर्ति हमने नवीनता और धोखा देने वाली चीजों से करनी चाही। इस नवीनता की खोज ने हमें ऊपर कहे गये सिद्धांतों को बौद्धिक रूप से अपनाने के लिये मजबूर कर दिया। आधुनिक युग का पाश्चात्य समाज और उसकी नकल करने वाला भारतीय समाज 'अभी उस रूप की खोज कर रहा है जिसमें वह अपने मन और आत्मा की ठीक ठीक अभिव्यक्ति कर सके। मानव जीवन में ही जब स्थिरता नहीं आई, तब क्या उसकी मंत्रणा और अन्तश्चेतन की अभिव्यक्ति करने के रूप और शैली में स्थिरता आ सकती है ?[1] बात यह है कि औद्योगिक क्रांति अपनी चरम सीमा पर बीसवीं सदी में ही पहुंची। इससे मानव के ज्ञान में वृद्धि हुई। उसका मानसिक क्षितिज विस्तृत हुआ। साथ ही साथ असंख्य मानव दुःख और विपत्तियां की चक्की में पिस उठे। ज्ञान विज्ञान की नई नई खोजों तथा मन और जीवन के नये नये रहस्यों की जानकारी का बोझ घुमन वाला मानव उठा नहीं पा रहा है, सह नहीं पा रहा है। वह बिखरा जा रहा है। पागल हुआ जा रहा है। अपने को उखड़ता जा रहा है। यह भोग प्रधान भौतिकवादी सभ्यता हाड़-मांस और जड़ वृत्तियों का विश्लेषण ही कर सकती है। नये ज्ञान के रूप में भारत को पश्चिम से यही मिला है, मिल रहा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् फिर हम उसी रंग में रंगे जा रहे हैं, हमारा जीवन उसी रंग में रंगा जा रहा है हमारी चेतना उसी में रँगी जा रही है, हमारी बुद्धि उसी में रंगी जा रही है।

पाश्चात्य सभ्यता हमें पतन की ओर ले चली—

पाश्चात्य सभ्यता से ज्यों-ज्यों हमारा परिचय बढ़ता गया त्यों-त्यों हमको यह प्रतीत होने लगा कि वहां की शिक्षा समाज तथा शासन पद्धति यद्यपि आदर्श और सिद्धांत की दृष्टि से हमसे श्रेष्ठ नहीं है किन्तु हमारे जीवन को बलात् उसी के सांचे में ढाला जा रहा है और हम विवश होकर उसी के अभ्यस्त होते जा रहे हैं। यही हुआ। हमारे जीवन को पाश्चात्य सभ्यता के तंत्र से इस प्रकार कस लिया है कि हम उसकी घुटन की अनुभूति तो होती है किन्तु हम अपने को उससे छुड़ा नहीं पा रहे हैं। कुछ तो यह भी सोचने लगे हैं कि जब सारी दुनिया उसी रास्ते पर जा रही है और आज की दुनिया में किसी का भी सबसे पृथक होकर रह सकना संभव नहीं है तब उन्नति और सुख का एक ही रास्ता है और वह यह है कि जहां तक

---

1 कल्पना पत्रिका पृ ५०६ लेखक-अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार

चल सके वहाँ तक पाश्चात्य विधान को स्वीकार कर लो। यह दृष्टिकोण अनुचित है। इसके अनौचित्य का अनुभव तभी हो गया था जब पाश्चात्य सभ्यता हम पर लादी जा रही थी। इसी लिये इस बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में महात्मा गांधी ने लिखा था यह तो मेरी पक्की राय है कि हिन्दुस्तान अंगरेजों के नहीं बल्कि आजकल की सभ्यता के बोझ से पिस रहा है। इस पूतना की पकड़ में वह आ गया है। इससे बचने का उपाय है अवश्य पर दिन दिन वह अधिक कठिन होता जा रहा रहा है।[1] आज हम अनुभव करते हैं कि इस पूतना की पकड़ और भी मजबूत हो गई है — इस से छूटना और भी कठिन हो गया है।

इस सभ्यता की उन्नति स्पर्द्धात्मक है। हर राष्ट्र अपनी उन्नति चाहता है। इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर राष्ट्रों ने अपनी अपनी अर्थनीति बनाई है। सब चाहते हैं कि उनका अपना सामान सभी जगह जाय और बिके मगर दूसरे के सामान की खपत उनके अपने यहां न होने पाये सभी औद्योगीकरण और मशीनीकरण चाहते हैं। राजसत्ता इसी अर्थनीति के एक तत्त्व के रूप में ही परिवर्तित हो रही है। जीवन में वैश्यवृत्ति प्रधान हो रही है। पैसा आवश्यक हो गया है और इसी लिये संघर्ष अनिवार्य हो गया है। वर्ग संघर्ष की उत्पत्ति हो रही है। हिंसा करवटें लेती है। जैनेन्द्र के शब्दों में ऋषि से राज्य श्रेष्ठ[2] हो चला है। राजसिक प्रवृत्ति वाले का उत्कर्ष और सात्विक का अनादर होता है। गणित स्वार्थपरक हो गई है। हिसाब यों चलता है कि कितने पैसे लगे और कितने मिले, यों नहीं चलता कि समाज का जितना धन और श्रम व्यय हुआ उसकी क्षतिपूर्ति कितनी हो सकी है। लाभ का अर्थ हो गया सिक्के की बढ़ोत्तरी— न कि मानवता की वृद्धि। हिसाब का गठबन्धन स्वार्थ से हो गया। उसने न्याय को तलाक दे दिया। आज शोषण की समस्या प्रधान हो गई है। बीसवीं सदी के भारत की यही कहानी है।

अस्तु वस्तुपरक दृष्टि बुद्धिवाद की अधिकता, संस्थाओं के बल पर यश और पद की रीति या कुरीति से अर्जन, जनसाधारण से संपर्क का अभाव, गलत बातें कह सकने और गलत व्याख्या कर सकने का सामर्थ्य, नवीनता का मोह रोब गांठने की इच्छा, अपनी हीनता छिपाकर अपने को बड़ा दिखाने की इच्छा, अनैतिकता, साधना की कमी, नीति और धर्म से डरने की प्रवृत्ति का नाश स्वार्थ-गुटबन्दी आदि अवांछित वृत्तियां पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क के परिणामस्वरूप हमारे जीवन और हमारे

---

१ हिन्द स्वराज्य', पृ ३८

२ 'समय और हम',

साहित्य को मिली है। स्वार्थप्रेरित अँगरेजी सत्ता और पतनोन्मुखी भारतीय-मानव तथा जडसभ्यता—इन तीनों के सम्मिलन से किसी बहुत अच्छे परिणाम की आशा भी नही की जा सकती थी। हमारी बौद्धिक उपलब्धियाँ अत्यन्त छिछली और साधारण रहीं। के० एम० मुंशी ने कहा है कि उच्चतर बौद्धिक-उद्भावनाओं के परों को अब भी सशक्त एवं सबल होना है।[१] मौलिकता का अभाव हो चला शिक्षित हिन्दू दो संसारों के बीच खोया-खोया-सा है। भारतवासियों की रीढ की हड्डी बहुत कमजोर हो गई और वे पलायनवादी प्रवृत्ति के हो गये। वे विगत गौरव की झाँकियों पर सन्तोष करने लगे। जवाहरलाल नेहरू ने इसे 'मूर्खतापूर्ण और भयंकर मनोविनोद'[२] कहा है। स्वामी रामतीर्थ ने कहा कि अँगरेजी शिक्षा के कारण हमारे विचारों में जो क्रान्ति हुई उसका साराश दो शब्दों में दिया जा सकता है। एक तो यह कि निसर्ग-पर अधिकार जमाने से सुख की वृद्धि होती है और दूसरे यह कि धनों की सुखवृद्धि करना मनुष्य का प्राप्तव्य है। पन्त ने लिखा कि हमें भाषा नहीं, बल्कि राष्ट्रभाषा की आवश्यकता है, पुस्तकों की नहीं मनुष्यों की भाषा चाहिये।[१] हम पश्चिमी विचार, ज्ञान तथा साहित्य के दास हो गये। हम यह समझने लगे कि हमारी आध्यात्मिकता और दर्शन सामन्ती परिस्थितियों की देन है और आज के युग के लिये उपयोगी नहीं है। हमारा जीवन सज-चला किन्तु अन्तर, चेतना भाव एवं विचार सुसज्जित एवं संगठित न हो सके।

दो इंगलैंड—जिनमें से एक से हमें कुछ सहायता मिली—

जवाहरलाल नेहरू ने दो इंगलैंडों की चर्चा की है।[२]—"शेक्सपियर और मिल्टन वाला, उदार बातों और लेखों वाला, वीरता के कारनामों वाला, राजनीतिक क्रान्ति और आजादी के लिये लड़ने वाला, विज्ञान और कला-कौशल की उन्नति वाला और वहशियाना जाब्ता फौजदारी करने वाला, बर्बर व्यवहार करने वाला साम्राज्यवादी एवं प्रतिक्रियावादी'। हम दूसरे इंगलैंड की स्वार्थपरक साम्राज्यशाही नीति के नीचे दबे रहे किन्तु धीरे-धीरे पहले से भी सतर्क में आये। दूसरे इङ्गलैंड ने पहले इंगलैंड के प्रभाव को रोकना चाहा पहले इंगलैंड ने हमारे महत् कार्यों और उद्देश्यों में सहयोग और सहायता दी। भारत ने अपनी शक्ति अन्तर्प्रेरणा और

---

१ 'आवर प्रेज़ेंट नीड' पृ ३४।

२ डिस्कवरी आफ इंडिया पृ ६६-७०।

१ 'पल्लव की भूमिका पृ० १०।

२ हिन्दुस्तान की कहानी', पृ० २४६।

क्षमता के बल पर पाश्चात्य सभ्यता से कुछ बातें अपने यथासम्भव लाभ के लिये भी सीख ली। हमारी प्रसुप्त बौद्धिक और आलोचनात्मक शक्ति का पुनर्जीवन, जीवन को फिर से बसाने और नये नये सृजन की इच्छा, नई परिस्थितियों और नये आदर्शों को देखने, समझने और अपनाने की इच्छाएँ इस नये युग में हमें पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से ही प्राप्त हुई। ये विचार अरविन्द के हैं और इनकी सत्यता में कोई भी सन्देह नहीं। इस नवीन सम्पर्क अथवा उसके धक्के ने ही हमें जगाया और जीवित रहने के लिये एवं गौरव की प्राप्ति के लिये नई परिस्थितियों के अनुरूप बदल जाने की प्रेरणा दी। तभी तो हमने जाति-व्यवस्था की कठोरता और इसी तरह की अनेक अनावश्यक परम्पराओं को यथासम्भव तोड़ दिया। धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कट्टरता भी इसीलिये समाप्त होती जा रही है। इसने हमारा दृष्टिकोण उदार बना और हम किसी व्यक्ति या जाति के विरोधी न होकर उसके दोषों मात्र के विरोधी हुए। हमारे यहाँ भी वैज्ञानिक अन्वेषण और अनुसन्धान होने लगे। ललित कलाओं और वास्तु कलाओं में नई-नई छवियाँ उभरीं। हम हर तरह से दुनिया के बीच में आकर खड़े हो गये। अब सबसे अलग-एकलित-नहीं रह गये। दूसरों की हवा लगने की छूत समाप्त हो गया।

हमारे भीतर की संजीवनी शक्ति—

दूसरे के रूप और दूसरे की आत्मा को स्वीकार कर लेना यदि निर्बलता पराजय एवं मृत्यु है तो भी पर के प्रभाव को स्वीकार करके परिस्थिति के अनुरूप अपने को परिवर्तित कर लेना सजीवता, क्षमता, शक्ति और जिंदगी की निशानी है। हिन्दी के सेवक मुर्दा नहीं हैं और यह इसी से प्रकट है कि यद्यपि अंगरेजी साम्राज्य वाद ने हमें कुछ भी देना नहीं चाहा था किन्तु तब भी हमने उनकी सभ्यता की विशेषताओं में से बहुत-कुछ लेकर अपने को यथोचित ढंग से उन्नत और समृद्ध कर लिया है। हमने पश्चिम का सारा साहित्य मथ डाला। उसमें हमारी आवश्यकता और संस्कृति के अनुकूल जो अमृत था उसे ले लिया और अपने साहित्य के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा। इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन ने लिखा है 'नये विचार और नये साहित्य की यदि जड़ें जमानी थीं और उन्हें फलना-फूलना था तो विचार और उद्देश्य का नया वातावरण भी निर्मित करना आवश्यक था। यह वही परिचित भारतीय भूमि हो सकती थी परन्तु आधुनिक उपकरण और समृद्ध खाद का स्वागत भी बहुत आवश्यक था।"[१]

---

१ 'आज का भारतीय साहित्य" पृ० ४३३

जो पाश्चात्य जीवन और दर्शन भारत में ला दिया गया था उसका इससे अधिक सुन्दर उपयोग और कोई दूसरा हो भी नहीं सकता था। वह अपना स्वाभाविक प्रभाव डाले बिना रह नही सकता था। हमारे अधिकार मे केवल इतना ही रह गया था कि उसका सदुपयोग कर लें। वही हमने किया।

अच्छे का उपयोग और उनका प्रभाव—

दर्शन के क्षेत्र में भौतिकवाद राजनीति के क्षेत्र में लोकतन्त्रवाद और समाजवाद समाज के क्षेत्र मे प्राचीन अनावश्यक रूढ़ियों और परम्पराओं का त्याग जीवन में प्रवृत्ति का मार्ग तथा व्यक्ति और समाज की महत्ता हमने स्वीकार की। हमे एक बौद्धिक अन्तर्दृष्टि मिली। अब हमने हिन्दी की सेवा का केवल व्यक्तिगत मार्ग ही नहीं अपनाया बल्कि दल और संस्थाओं का निर्माण करके आन्दोलन का भी रास्ता पकड़ा। बीसवी सदी के आते आते नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हो गई और हिन्दी प्रदेश में चारों ओर उसकी शाखाएँ फैल गई। बीसवी सदी का तृतीय दशक समाप्त होते होते प्रयाग में 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' की स्थापना हो गई। इसी प्रकार हिन्दी साहित्य सम्मेलन भी बन गया। भौतिकवादी एवं बुद्धिवादी दृष्टि ने यह सुझाया कि साहित्य की सेवा का तात्पर्य केवल कविता, कहानी, नाटक आदि लिखना ही नही है सेवा के इस क्षेत्र मे ज्ञान विज्ञान का साहित्य प्रस्तुत करना तथा कचहरी से लेकर शादी–ब्याह के उत्सव के निमन्त्रण और घर के नामकरण आदि में भी हिन्दी का प्रयोग भी हिंदी की सेवा है। यह एक व्यापक समग्र दृष्टि थी जो मिली। यह एक आंदोलन था। इस नयी सभ्यता के प्रभाव ने ही जीवन मे विविधता उपस्थित की और हमारे हिन्दी साहित्य को अनेक विधाएँ मिली। हमने खूब लिखा। के०एम० मुंशी ने लिखा है कि पिछले पचास वर्षों मे भारतवर्ष की पुस्तक शक्ति बढ़ी है।[1] इसमे कोई सन्देह नहीं कि इन पिछले पचास वर्षों का पुस्तक साहित्य हिन्दी का समृद्धतम पुस्तक साहित्य है। गद्यकाव्य, शब्दचित्र, रेखाचित्र, कवियों की आलोचना, रिपोर्ताज आदि अभिव्यक्ति के नये ढाचे मिले। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, एकांकी, आदि को आवश्यकतम नया रूप विधान मिला। पाश्चात्य जगत के साहित्यकारों ने भी हमे प्रभावित किया। रामकुमार वर्मा ने लिखा है, मेरे इन नाटकों में कहीं कहीं काव्य की छाया भी है। यह मेरे लिये स्वाभाविक है। इस क्षेत्र में ब्राउनिंग के ड्रैमेटिक लिरिक्स और 'पिप्पा पासेज' आदि नाटकों ने मुझे बल प्रदान किया है। पी बी शेली की 'चैंसी' रचना भी मुझे विशेष रुचिकर है। शा के मेजर

1 आवर ग्रेटेस्ट नीड, पृ० १२०

प्रसाद से तो कोई भी नाटककार प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।[1] पदमसिंह शर्मा ने लक्ष्मीनारायण मिश्र का यह कथन उद्धृत किया है, तब भी मिल्टन और शा को मैं पसन्द करता हूँ। इब्सन का बहुत अधिक प्रभाव मेरे नाटकों की बाह्यरूप रेखाओं पर पड़ा। गेटे, नीत्शे और रोम्यारोलां के भीतर मुझे भारतीय जीवन दर्शन की झलक मिली। प्लेटो के सिद्धान्त जहां तक समझ सका हूँ सब ओर से भारतीय हैं।[2] प्रभाकर माचवे ने अपने एक लेख में हिन्दी पर पड़ने वाले शा के प्रभाव का अच्छा विवेचन किया है।[3] पाश्चात्य सभ्यता उत्सुकता और नवीनता की मनोवृत्ति पसन्द करती है। हिन्दी में एकांकियों की लोकप्रियता मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रभाव के परिणामस्वरूप भी हो सकती है। रामकुमार वर्मा भी लिखते हैं, इन दोनों को लिखते समय मैं बार बार यह अनुभव करता हूं कि मैं अपने मित्रों को ऐसी चीज दूं जो किसी न किसी तरह नई हो और जो उनके मन की उत्सुकता बढ़ाती हुई उन्हें किसी सत्य या रहस्य से परिचित करा दे।[4] पाश्चात्य सभ्यता आध्यात्मिक प्रधान नहीं है। पंत स्वयं लिखते हैं कि मेरा काव्य मुख्यतः आध्यात्मिक काव्य नहीं है बल्कि वह महान संघर्ष का काव्य है —अन्तरतम संघर्ष का - भू-जीवन, लोक मंगल तथा मानव मूल्यों का नया काव्य।[5] पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क के परिणाम स्वरूप ही हमारा साहित्य धीरे-धीरे रस से शून्य हो गया। उसमें दुर्दम प्यास और दुर्दान्त साहस की अभिव्यंजना होने लगी। ऐंद्रियता, अश्लीलता के साथ साथ बीभत्स भी अधिक चित्रित होने लगा। हमारे साहित्य में अंगरेजी रहस्यवाद, क्रोचे के अभिव्यंजनावाद, फ्रांस के प्रतीकवाद, पो के विषादवाद, आदि पाश्चात्य साहित्य की विचारधाराओं की झलकियाँ भी इधर उधर मिलती हैं। इस युग में कविता बंधनों से मुक्त हो गई। हिन्दी के साहित्यिकों की सारी और सभी झिझक इस युग में समाप्त हो गई। व्यक्तिवाद ने उसे साहस और बल दिया और दूसरी ओर उसने यह भी अनुभव किया कि उसका अन्तिम एवं पूर्ण कल्याण सामाजिक अभ्युत्थान में निहित है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, 'धीरे-धीरे व्यक्ति मानव के स्थान पर

१ पृथ्वीराज की आँखें की भूमिका, पृ १२

२ हंस' अप्रल १९४६

३ 'कल्पना' पत्रिका, दिसम्बर, १९५२ ई० -

४ विचार दर्शन', पृ० ८७

५ चिदंबरा', पृ २७–२८

समाज मानव का महत्व प्रतिष्ठित होता गया। यह ज्ञान एक ओर सामूहिक आन्दोलनों मे विश्वास करता है और दूसरी ओर सामाजिक अभ्युत्थान के प्रति आकृष्ट होने का भी समय है।[1] छायावाद का आन्दोलन उद्दाम वयक्तिकता, रूढ़ि एवं परम्परा के विरोधी तथा चिर नवीन के ग्रहण की पाश्चात्य प्रवृत्तियों का अपने भीतर लिये है। 'दिनकर' ने लिखा है छायावाद हिन्दी म उद्दाम वयक्तिकता का सहसा विस्फोट था। यह केवल साहित्यिक शलियों के ही नहीं, अपितु समग्र जीवन की परम्पराओं, रूढ़ियों, शास्त्र निर्धारित मर्यादाओं एवं मनुष्य की चिन्ता को सीमित करने वाली तमाम परिपाटियों के विरुद्ध जमे हुए एक व्यापक विद्रोह का परिणाम तथा मनुष्य की दबी हुई स्वतन्त्रता की भावना को प्रत्येक दिशा म उभारने वाला था।[2] हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कवियों की प्रेरणा अधिकाँश म विदेशी माध्यम के द्वारा आती है जो शास्त्र आधुनिक युग क मनुष्य को प्रभावित कर रहे हैं उनकी बहुत कम चर्चा हिन्दी भाषा म हुई है।[3] यह माध्यम पश्चिम का है यह शास्त्र पाश्चात्य है। पाश्चात्य जीवन सहलाता नही, झकझोरता है, वह निर्माण नहीं, ध्वंस करता हैं, वह आलोचना करता है, बताता नही, वह घाव सवाद, दिखाता है, दवा नही करता। ये सारी प्रवृत्तिया आधुनिक साहित्य म मिलती हैं। इसी प्रभाव स साहित्य व्याख्या मात्र हो गया है। वह हित के भाव के सहित नहीं रह गया है। मध्ययुग की हिन्दी लिपि और आज की हिन्दी लिपि मे जो अन्तर हो गया है उसकी तह म भी पाश्चात्य वज्ञानिक मनोवृत्ति है। आज की लिपि का स्वरूप – निर्माण आवश्यकता और प्रमाणिकता से प्रेरित है। व्यक्ति क चरित्र और मनोविज्ञान का उसकी लिपि और लेखन शैली पर बहुत प्रभाव पड़ता है। आज का व्यक्ति स्पष्ट, साफ स्वतन्त्र, वयक्तिकता प्रधान, ठहर ठहर और समझ समझ कर चलने का अभ्यासी, कुछ सरल, और सौन्दर्य की जगह सुविधा प्रेमी, हो गया है। आज की हिन्दी लिपि पर इस मनोवृत्ति का कितना अधिक प्रभाव पड़ा है इसका पता तब और अधिक स्पष्ट रूप म लगता है जब इसकी तुलना किसी मध्ययुगीन हस्तलेख से करते है। वहाँ प्रत्येक अक्षर एक दूसरे से मिला – सटा है। अनेक अक्षर बहुत ही घुमाव – फिराव वाले हैं। विरामचिन्हों का अभाव है। शब्द भी एक दूसरे से इतने सटे होते हैं कि पता न लगे कि कौन शब्द कहा समाप्त होता है। आधुनिक लिपि मे इन सारी बातों का

१ 'हिन्दी साहित्य, पृ ४८२।

२ हिन्दी अनुशीलन नामक पत्रिका के वर्ष ५, अक १–४ पृ ७३ से उद्धृत।

३ हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ १४० –

परिष्कार हो गया है। यह विश्लेषण प्रधान पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव है। टाइप राइटर अर्थात् मशीन ने शब्दों के हिज्जे— वतनी— बदल दिये हैं। राजनीति प्रधान सभ्यता में भाषा का रूप और लिपि का रूप राजनीतिज्ञों द्वारा राजनीति के दृष्टिकोण से त होने लगा है। अतुलचन्द्र चटर्जी ने लिखा है कि भारत के अन्दर पिछले सौ वर्षों में जितना भी कुछ लिखा गया है उसके ऊपर यूरोपीय विचारधारा और साहित्य का प्रभाव असाधारण है आधुनिक भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त वाक्यों के निर्माण के स्वरूप और मुहावरों एवं कहावतों के ऊपर भी अंगरेजी का प्रभाव ढूंढा जा सकता है।[१] सारे भारत के लिये एक राष्ट्रभाषा का विचार भी पूर्णतः भारतीय नहीं है।

अध्याय ११

सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दी प्रदेश की आत्मस्वरूप की खोज

हमारा आत्मरूप— हम पर आक्रमण— हम रक्षा के लिए प्रयत्नशील हुए—विवेकानन्द— गान्धी— तिलक— आर्य समाज — अरविन्द—टगोर—राधाकृष्णन्—आत्मस्वरूप की खोज सुफल— अतीत दर्शन।

सांस्कृतिक दृष्टि से—

हिन्दीप्रदेश की आत्मस्वरूप की खोज

हमारा आत्मरूप—

भारत की अपनी विशुद्ध संस्कृति का थोड़े में चित्रण कर सकना सम्भव नहीं है किन्तु यहां उसकी एक झलक दिखाये बिना आगे की बात को स्पष्ट रूप से उपस्थित कर सकना सम्भव न हो—जैसा कि कहा है—यहाँ कुछ यही कहा जा सकता है कि भोग की कामना से मुक्ति, यंत्रों की गुलामी में फंसकर नौनि और सभी प्रकार के स्वास्थ्य से वंचित होने की अपेक्षा अपने हाथ-पैर से काम लेकर सच्चा सुख और स्वास्थ्य प्राप्त करना, कठोर बुद्धिवाद और कोमल मानवीय तत्वों का समन्वय, जीवन के प्रति यथार्थ विरोधी तत्वों में भी सामंजस्य स्थापित करने के लिए धर्म के आंतरिक तत्वों और ईश्वर का उपयोग, कर्म और धर्म के साधनों को पवित्र मानना, उत्कृष्ट सफलता के लिये उत्कृष्ट साधना की अनिवार्यता, वस्तु की अपेक्षा व्यक्ति, व्यक्ति की अपेक्षा बुद्धि, बुद्धि की अपेक्षा परम्परा, चर-अचर सभी से प्रेम करना, सर्वत्र कृतज्ञता एवं विनम्रता का प्रकाशन, चर अचर सभी को मानवीय भावना प्रदान करना, साहित्य में ही नहीं जीवन में भी व्यावहारिक रूप से सर्वत्र प्रतीकों का अपनाना, पशु पक्षी-वनस्पति आदि सभी से आत्मीयता का सम्बन्ध, दान, तप, त्याग, नारी को पूज्य मानना, चरित्र का महत्व, अद्वैत भाव, समन्वय, आध्यात्मिकता, धर्मपरायणता, किसी की स्वतन्त्रता, व्यावहारिक जीवन में संस्कारों से और समाज से बंध कर चलना, काम-वासना या मैथुन को मनोरंजन न समझना, पुनर्जन्म, सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, निर्लोभता, संयम, श्रद्धा, वाह्यरूपों की जगह मूल्यों को महत्वपूर्ण समझना, सबको अपनाने की प्रवृत्ति, परिवार और पारिवारिकता को उच्च वृत्ति, ऐहिक को पारलौकिक से जोड़ना, कर्म में धर्म का विचार, भावों की प्रधानता, शिक्षा का जीवन से सम्बन्धित होना आदि भारत की संस्कृति का अपना स्वरूप—आत्मरूप—है।

हम पर आक्रमण—

संसार के इतिहास का भारतीय संस्कृति के अतिरिक्त किस ... महत्वपूर्ण

अध्याय ११

सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दी प्रदेश की आत्मस्वरूप की खोज

हमारा आत्मरूप— हम पर आक्रमण— हम रक्षा के लिए प्रयत्नशील हुए—विवेकानन्द— गांधी— तिलक— आर्य समाज — अरविन्द— टगोर— राधाकृष्णन्— आत्मस्वरूप की खोज सुफल— अतीत दर्शन।

सांस्कृतिक दृष्टि से—

हिन्दीप्रदेश की आत्मस्वरूप की खोज

हमारा आत्मरूप—

भारत की अपनी विशुद्ध संस्कृति का थोड़े में चित्रण कर सकना सम्भव नहीं है किन्तु यहाँ इसकी एक झलक दिखाये बिना आगे की बात का स्पष्ट रूप से उपस्थित कर सकना सम्भव न हो—जैसा कि कहा है—यहाँ कुछ यही कहा जा सकता है कि भोग की कामना से मुक्ति, यन्त्रों की गुलामी में फँसकर नीति और सभी प्रकार के स्वास्थ्य से वंचित होने की अपेक्षा अपने हाथ-पैर से काम लेकर सच्चा सुख और स्वास्थ्य प्राप्त करना, कठोर बुद्धिवाद और कोमल मानवीय तत्वों का समन्वय, जीवन के प्रतीयमान विरोधी तत्वों में भी सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये धर्म के आन्तरिक तत्वों और ईश्वर का उपयोग, कर्म और धर्म के साधनों को पवित्र मानना, उत्कृष्ट समाधान के लिये उत्कृष्ट साधनों की अनिवार्यता, वस्तु की अपेक्षा व्यक्ति, व्यक्ति की अपेक्षा वृद्ध बुद्धि को अपना, परम्परा पर-अपर सभी से प्रेम करना, सर्वत्र कृतज्ञता एवं विनम्रता का प्रकाशन, पर-अपर सभी को मानवीय भावना प्रदान करना, साहित्य में ही नहीं जीवन में भी व्यावहारिक रूप से सकल प्रतीकों का अपनाना, पशु-पक्षी-वनस्पति आदि सभी से आत्मीयता का सम्बन्ध, यज्ञ, दान, तप, त्याग, नारी को पूज्य मानना, चरित्र का महत्व, अद्वैत भाव, समन्वय, आध्यात्मिकता, धर्मपरायणता, चिंतन की स्वतन्त्रता, व्यावहारिक जीवन में संस्कारों में और समाज से बंध कर चलना, काम-वासना या मैथुन को मनोरञ्जन न समझना, पुनर्जन्म, सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, निर्भीकता, संयम, श्रद्धा, बाह्यरूपों की जगह मूल्यों को महत्वपूर्ण समझना, सबको अपनाने की प्रवृत्ति, परिवार और पारिवारिकता की उदार वृत्ति, ऐहिक को पारलौकिक से जोड़ना, कर्म में धर्म का विचार, गाँवों की प्रधानता, शिक्षा का जीवन से सम्बन्धित होना आदि भारत की संस्कृति का अपना स्वरूप-आत्मरूप-है।

हम पर आक्रमण—

संसार के इतिहास का भारतीय संस्कृति के अतिरिक्त जिन अन्य दो महत्वपूर्ण

संस्कृतियों ने असाधारण रूप से प्रभावित किया है वे हैं इस्लामी संस्कृति और ईसाई या योरोपीय संस्कृति। एक ने मध्ययुग में संसार का जीवन बदला है और दूसरी ने आधुनिक युग में। उन्नीसवीं और अब तक की बीसवीं शताब्दियाँ निःसन्देह रूप से योरोपीय संस्कृति के प्रभुत्व की शताब्दियाँ हैं। भारत को इन दोनों प्रबल संस्कृतियों से टक्करें लेनी पड़ी हैं, और भयानक टक्करें लेनी पड़ी हैं। इस्लामी संस्कृति ने जीवन का बाह्यरूप बदला और हम में कुछ पराजय की भावना पैदा कर दी, यूरोपीय संस्कृति ने अंतर और बाह्य-दोनों को बदलने का प्रयत्न किया और हमारी चेतना को चकित, बुद्धि को भ्रमित और आस्थाओं एवं धारणाओं को विचलित करने का प्रयत्न किया। इसने हममें हीनता की भावना भरने का बहुत-कुछ सफल प्रयत्न किया है। धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है, 'किन्तु एक दलदल से निकलते ही दूसरी बाढ़ में फँस गये। यह दूसरी नदी अधिक तीव्र और अधिक भयंकर है-पश्चिमी संस्कृति की बाढ़ इस नदी का जल विशेष नशीला मालूम होता है क्योंकि समाज का अपने मन और मस्तिष्क पर से काबू छूटा जा रहा है। एक समय था जब पश्चिमी संस्कृति की चकाचौंध ने थोड़ी देर के लिये हमें अंधा कर दिया था।'[1] आर्नल्ड टॉयनबी ने ठीक ही लिखा है कि भारत ने पश्चिम का जो अनुभव किया है वह चीन, तुर्की या उससे भी कहीं अधिक रूस और जापान के अनुभवों से बहुत दुःखपूर्ण और अपमानजनक रहा है लेकिन इसी कारण वह अनुभव इन सबकी अपेक्षा कहीं अधिक निकट का रहा है और भारत की आत्मा में पश्चिम का लोहा सम्भवतः बहुत गहराई तक धँस गया है।"[2] कहा जा सकता है कि इस लौह-स्तम्भ पर जो लेख उत्कीर्ण होगा वह भारतीय संस्कृति की विजय का-जो वैजयन्ती फहरायेगी वह भारतीय संस्कृति की जीवनी शक्ति और मङ्गलमयी जीत की होगी। फिर भी, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती थी क्योंकि भारत जैसे प्राचीन देश की प्राचीन जाति की सभ्यता का इतिहास नष्ट हो चुका था और उस जाति के बच्चों को इसकी कुछ खबर नहीं थी। वे या तो भेड़ बकरियों के झुण्ड की भाँति मन्दिरों में देवता के सम्मुख बैठकर अपने को कायर कपूत, कुकर्मी और अधम कह-कह कर काल्पनिक स्वर्ग के सुख-स्वप्नों की हास्यास्पद कामनाएँ करते थे या अपने दीन दुःखी, अशान्त, असहाय और निराश जीवन में बैठ-बैठ संसार की अनित्यता का रोना रोया करते थे।

१ विचारधारा' पृ० १६६—१७० ।

२ सिविलाइजेशन ऑन ट्रायल, पृ० ३४ ।

साहित्य की मर्यादा और शृंगार या तो मारकाट की प्रशंसा करने में या अपनी ही बधूटियों के निर्लज्ज और अत्युक्ति पूर्ण अश्लील वर्णन करने में समाप्त हो जाता था।[1] पाश्चात्य संस्कृति की प्रवृत्तियां हमारी संस्कृति की प्रवृत्तियों से मेल नहीं खाती थीं और जो लोग पाश्चात्य संस्कृति के वाहक थे वे उदारचेता न होकर स्वार्थी, संकुचित और क्रूर प्रकृति के थे। पहले हमारे अपने राजनीतिक अधिकारों का अपहरण करके फिर उन्होंने हमारी संस्कृति के विभिन्न तत्वों के प्रति हमारे मन में हीन भावना पैदा की और स्वयं मदर इंडिया और 'हिन्दू मनर्स एंड कस्टम्स इन इंडिया'–जैसी पुस्तकें लिखकर उन को तुच्छ एवं नैतिकता–विहीन सिद्ध करना चाहा। शिक्षा को हमारे अपने सांस्कृतिक तत्वों से उच्छिन्न करके हमारी जानकारी को खोखला कर दिया। आस्थाएं और मान्यताएं टूट चलीं। हम लोग हलके, छिछले और कमजोर हो गये। हमारे अन्दर अवैज्ञानिक वृत्तियां पैदा हो गईं। पाश्चात्य संस्कृति के देवदूत भारत को पश्चिम का एक सांस्कृतिक उपनिवेश बनाने में लग गये। एक देश पर दूसरे देश की संस्कृति को लादने का प्रयत्न किया गया। आश्चर्य होता है उन लोगों की बुद्धि पर जो इसे संभव समझ बैठे थे, जो भारत की आत्मा को इतना निर्बल निष्प्राण निःसार एवं निःसत्व समझ बैठे थे। हम रक्षा के लिये प्रयत्नशील हुए—

बात यह है कि जो कुछ न हो, उसे आप तो जो–कुछ चाहिये बना लीजिये किन्तु जिसके अन्दर कुछ भी है वह सरलता पूर्वक और कुछ नहीं बन सकता। भारतवर्ष के अन्दर 'कुछ हो' नहीं, बहुत कुछ था। भारतवासी अपने को भूल भर गये थे बस इस विस्मृति-काल में हमने उनकी सभ्यता तो अपना ली किन्तु सभ्यता ही सब कुछ नहीं होती, सब कुछ होती है संस्कृति और एक संस्कृति पर दूसरी संस्कृति का आरोप आसान नहीं होता। स्वाभाविक रूप से उद्भूत होने में भी संस्कृति को हजारों वर्ष लग जाते हैं। अपनी ही सभ्यता के तत्वों को सांस्कृतिक रूप ग्रहण करने में शताब्दियां लग जाती हैं। सम्भवतः यही कारण है कि जिस जाति की कोई अपनी संस्कृति होती है उस पर किसी दूसरी जाति की संस्कृति का पूर्णरूपेण चिर आरोप दुराशा मात्र कल्पना मात्र है। फिर, भारतीय संस्कृति ! ! ! यह शेर जमी है जो चोट खाने और भूखे होने पर दहाड़ता है, अन्यथा आलसी–जैसा पड़ा रहता है। यह उस शिव–जैसी है जिसके पास एक तीसरा नेत्र है जिसे सामान्यतः देखा तो नहीं जा सकता किन्तु जिसके खुलते ही बहुत बन ठन कर रहने वाला

---

१ चतुरसेन शास्त्रीकृत 'हिन्दी साहित्य परिचय' पृ० ७०–७१

आरम सो, उसका कोई कुछ बिगाड नहीं सकता। हम निर्भय हो गये। टामसन और गरेट ने लिखा है, "गुरु गुरु में हिन्दुस्तान के पुनरुद्धार का स्वरूप धार्मिक अधिक राजनीतिक कम था दक्षिण में तिलक और पंजाब मे लाला लाजपत राय धार्मिक उत्साह को राजनीतिक क्षेत्रों में प्रवाहित करने के मुख्य माध्यम बने।"[1] बात यह है कि ज्यों-ज्यों हम जगते गये त्यों-त्यों रूप, रंग, भाव और कर्म से भारतीय बनते गये पाश्चात्य रोब-दाब और प्रभाव कम होता गया अंगरेज की लूट में कमी होती गई, वह खीझता गया, हमको दबाता गया और हम अनुभव करते थे कि हमारी आत्मोन्नति-स्वतन्त्रता—में सबसे बड़ा बाधक अंग्रेजी साम्राज्यवाद है और इसलिये इसे अब शीघ्रातिशीघ्र समाप्त हो जाना चाहिये। एक रोचक बात यह है कि इस तरह के जितने भी सांस्कृतिक आन्दोलन थे अपनी धजा-धता अर्थात् स्वरूप और सज्जा में वे सब विशुद्ध रूप से भारतीय थे। राममोहन राय से लेकर जवाहरलाल नेहरु तक कोई भी स्थायी रूप से कोट पतलून टाई धारी नहीं हुआ। जो ऐसा नहीं रहा उसका प्रभाव कम पड़ा। थोड़ी सी भी ईसाइयत या अंगरेजियत दिखी कि भारत की आत्मा—जनसमूह—उससे खिन्न हो गया। थियोसाफिकल सोसायटी मूलतः योरोपियत के विरुद्ध थी परन्तु उसमें दोष यह था कि जहाँ वह विदेशियों को भारतीय संस्कृति की ओर आकृष्ट करती थी वहाँ भारतवासियों को थोड़ा बहुत अंगरेजी सभ्यता की ओर झुका देती थी।[2] इसलिये जनता में इसका अधिक प्रचार हो न सका। आर्यसमाज ने थियोसोफिकल सोसायटी की अपेक्षा हिन्दुत्व की आलोचना कहीं अधिक की किन्तु चूंकि उसकी रूप-सज्जा अंगरेजी न होकर भारतीय थी अतएव उसका प्रभाव हमारे जीवन पर बहुत अधिक पड़ा। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के उत्तम समर्थक और उज्ज्वल प्रतिनिधि थे तिलक और गांधी और आजादी के बाद विनोबा। समाज में ऐसे सुधारक, अध्यापक सन्त और विद्वान भी पैदा हुए जिन्होंने हिंदू धर्म से धोखा का बहिष्कार किया। उन्होंने अनिवार्य को अनावश्यक से पृथक करके, व्यर्थ को धराशायी करके, तत्व को अपना कर हिंदू धर्म को विशुद्ध कर दिया। इन्होंने सनातन सत्य को आत्मानुभूति से सजीव एवं सप्राण कर दिया। परिणामस्वरूप हिन्दुत्व ईसाइयत की गोली झेलकर उसे अङ्गीकार करके भयमुक्त हो गया है। वह संसार के किसी भी धर्म के साथ बराबरी या ऊँचाई की हैसियत से बात और मुलाकात कर सकता है। पाश्चात्य संस्कृति से ज्यों-ज्यों हमारा परिचय बढ़ता गया त्यों-त्यों यह प्रतीत होने लगा कि वह

१ राइज एंड फुलफिलमेंट आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया', पृ ६८०

२ डा० विद्याधरसिंह 'भारतीय संस्कृति का प्रवाह', पृ १८२।

की शिक्षा, समाज तथा शासनपद्धति दूषित है। इस प्रतीति के साथ साथ अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता पर आस्था उत्पन्न हुई। अनुभव हुआ कि प्रकृति को अधिकृत करने की चेष्टा में आधुनिक मानव जड़ मशीनों का एवं जड़ता का दास होता जा रहा है और उसके दुःख में वृद्धि होती जा रही है। वह विनाश की ओर बढ़ता जा रहा है — 'यह प्रगति निस्सीम ! नर का यह अपूर्व विकास ! / चरण-तल भूगोल ! मुट्ठी में निखिल आकाश ! / किन्तु, है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष, / छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश, नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्यौहार, प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।'[1] हमारे संन्यासी देशभक्तों ने इस विलासिता का तिरस्कार किया और कवि ने लिखा—'वे चुकी सुख-भाग समुचित से अधिक यह देह, / दबता है माँगते मन के लिये लघु गेह'।[2] यह आत्मोत्थान की वाणी है—'रसवती भूः मनुज का श्रेय यह नहीं विज्ञान, विद्या, बुद्धि यह आग्नेय / दिव्य भावों के जगत में जागरण का ज्ञान, / मानवों का श्रेय, आत्मा का किरण अभिमान।'[3]

तथ्यों का उद्घाटन कर-करके और तत्वों का विश्लेषण और आलोचनात्मक अध्ययन कर-करके थियासोफिकल सोसाइटी और आर्यसमाज ने गोरी जातियों का रोब समाप्त कर दिया और गांधी जी ने जीवन के हर क्षेत्र से गोरों का डर निकाल फेंका। ए०सी०ई० जकारिया ने लिखा है कि श्रीमती एनी बेसेन्ट का कथन है कि गोरी जातियों के प्रभुत्व में विश्वास के ह्रास का प्रारम्भ आर्यसमाज और थियोसॉफीकल सोसाइटी के प्रचार के साथ साथ होता है।[4] पट्टाभि सीतारामय्या ने भी लिखा है कि पूर्वीय संस्कृति में जो कुछ महान और गौरवमय है उसके आविष्कार और पुनरुद्धार पर थियासोफिकल आन्दोलन में खास ज़ोर दिया जाता था।[5] भारतीय साहित्य का उद्धार हुआ तो उसकी श्रेष्ठताएँ भी सामने आईं और हमने वेद, उपनिषद्, गीता, महाभारत, आदि में अभिव्यक्त महान तत्वों को पहचाना। उनकी श्रेष्ठता और शाश्वतता ने हमारा सिर ऊँचा कर दिया। सहस्राब्दियाँ बीतीं। साम्राज्यों के उत्थान और पतन हुए। जीवन के अनेकानेक पक्षों के सम्बन्ध में मनुष्य का दृष्टिकोण

१. 'दिनकर' कृत 'कुरुक्षेत्र' का 'अभिनव मानव' सर्ग।
२. वही,
३. 'दिनकर' कृत 'कुरुक्षेत्र' का 'अभिनव मानव' सर्ग
४. रेनेसां इन इंडिया, पृ० ३६
५. 'कांग्रेस का इतिहास', पृ० ६

वदना। के०एम० मुशी ने लिखा है किन्तु मनुष्य के शाश्वत अनुभवों को अभिव्यजित करने वाली मानवीय प्रकृति की दृष्टि से महाभारत के महत्त्व में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। पुराणों ने जो व्यास जी को अपना युग का मनु कहा है वह बिल्कुल ठीक है। वे भारत के सच्चे निर्माता और नेता हैं।[1] कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' ने पाश्चात्य कलापारखियों को ही न केवल चकित किया अपितु भारतीय साहित्य की श्रेष्ठता का लोहा भी पश्चिम से मनवा लिया। हमने सोचा— कहाँ कालिदास और कहाँ शेक्सपीयर!! सिद्ध होगया कि हर देश हर जाति और हर धर्म का मानव गीता की श्रेष्ठता असाधारणता अद्वितीयता एवं दिव्यता स्वीकार करता है[2] एडविन आर्नल्ड इसे 'दिव्य एवं अलौकिक गीत' कहते हैं तो हम्बोल्ट ने इसे सुन्दरतम और सम्भवत विश्व की सभी ज्ञात भाषाओं में अभिव्यक्त गीतों में से एकमात्र सच्चा दार्शनिक गीत माना है। के०एम० मुन्शी ने लिखा है इन नन्हीं सी पुस्तक न गाथाओं के सामने झुकने के स्थान पर उनकी अवज्ञा कर सकने वाले उस पौरुष व तेज को प्रखर और प्रदीप्त कर रखा है जिसमें पराजय और मृत्यु को चुनौती देने का साहस है और उस स्थूल भौतिकवाद का सामना कर सकने की शक्ति है जिससे आधुनिक पश्चिम ने सारे ससार को विपाक्त कर रखा है

रामायण और महाभारत-जैसे अमर महाकाव्यों के प्रभाव ने अनेक रूपों में हमारे सामूहिक अवचेतन मानस के विभिन्न तत्त्वों का निर्माण किया है यह एक गम्भीर मानवीय आग्रह है मानव जीवन की परिस्थितियों के लिए पथप्रदर्शक है यह जीवन-युद्ध की गम्भीरतम स्थिति में पड़े हुए मानव की कमजोरियों और कायरता के परित्याग का उद्बोधन करती है, यह वह विजयी जीवन सिखाती है जिसके द्वारा मनुष्य आत्मनियन्त्रण करके इसी जीवन में दिव्यता का स्वरूप प्राप्त कर सकता है।[3] सचमुच गीता-महाभारत की समस्या शाश्वत मानव की शाश्वत समस्या है। उनकी समस्या है सम्यक कर्म सम्पादन में मानव की कर्मशक्ति को पराजित करने वाली शक्तियां उनका कारण और उनका निवारण। स्पष्ट है कि यह समस्या प्रत्येक व्यक्ति की समस्या है और प्रत्येक युग के व्यक्ति की समस्या है और इसीलिये, गीता प्रत्येक युग के मानव का अमर काव्य है। इसको पहचानने में हमको नव युग में गाँधी से बड़ी प्रेरणा मिली। गाँधी तिलक विनोबा अरविन्द एनी बेसेन्ट राधाकृष्णन मुन्शी आदि अनेक विचारकों ने इस युग में गीता का मन्थन किया है

---

1 'भगवद्गीता एण्ड माडर्न लाइफ', पृ १६

2 ... के गीतानुवाद में दी गई सम्मतियाँ और विचार

3 भगवद्गीता एण्ड माडर्न लाइफ, पृ १७-१८

और उससे प्रेरणा पाई है। गीता ने हिन्दी प्रदेश के— समस्त भारत के— मस्तिष्क को भारतीय संस्कृति के अनुरूप बनाने में बड़ा कार्य किया। गीता के कई संस्करण, कई अनुवाद, कई व्याख्याएँ, कई टीकाएँ और कई संस्करण हुए। गीता-भवन बने। गीता जयन्ती मनाई जाने लगी। गीता परीक्षा प्रारंभ हुई। आर्य समाज का लक्ष्य ही था हिन्दुत्व का इतना परिष्कार कि उसके ऊपर शताब्दियों के अन्तराय में जो धूल की पर्तें पड़ गई हैं वे उखड़ कर अलग हो जायँ और हिन्दू धर्म तथा हिन्दू जीवन वैदिक जीवन और वैदिक धर्म ही हो जाय। आर्य समाज को भारत का आत्म रूप वैदिक युग में प्रतीत होता था— आधुनिक युग में नहीं। लाला लाजपतराय ने लिखा है जब आर्य समाज प्राचीन भारत के गौरव के गीत गाता है [1] तब राष्ट्रीयता की स्वस्थ शक्तियों को प्रेरणा मिलती है — और जिन राष्ट्रीयतावादी नवयुवकों के कानों में यह शोक-सूत्र गुँजाए जा रहे थे कि भारतीय इतिहास निरंतर एवं अबाध रूप से चलने वाले अपमान, पतन, विदेशी शासन, परदेशी-शोषण आदि की करुण कहानियों का लेखा-जोखा मात्र है वे अब यह अनुभव करने लगे हैं कि उनका प्रसुप्त राष्ट्रीय स्वाभिमान जागरूक हो उठा है और उनकी महत्वाकांक्षाओं को सबल प्रोत्साहन मिल रहा है।[1] इसी बीच एशियाई देश जापान ने यूरोपीय देश रूस हारा और इस तथ्य ने गोरों की अपराजेयता का भ्रम मिटा दिया। हम यह सोचने लगे कि यदि जापान—ऐसा देश रूस को हरा सकता है तो क्या बात है कि भारतवर्ष-ऐसा राष्ट्र अपने गोरांग महाप्रभुओं को अपने देश से निकाल कर स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त कर सकता। हमने अपनी तुलना जापानियों से की 'जापानी स्वाधीन हैं हिंदुस्तानी पराधीन। जापानी देशभक्त हैं, हिंदुस्तानी देशभक्त नहीं। जापान में एकता है हिन्दुस्तान में एकता का अभाव है।

वैज्ञानिक शिक्षा के लिये सात समुद्र पारकर जाना जापानी लोग अपने और अपने देश के लिये गौरव समझते हैं पर समुद्र पारकर जाना हिन्दुस्तानियों के लिए पाप है क्यों कि उनका धर्म जाता रहता है। जापान में जाति-भेद का बहुत ही कम विचार है हिन्दुस्तान में जाति भेद का सबसे अधिक विचार है। जापान में सब लोग परस्पर शादी विवाह करते हैं हिन्दुस्तान में अपने वर्ग में भी शादी करने में अनेक झंझट पैदा होते हैं। जापान में छुआछूत नहीं हिन्दुस्तान में इसकी पराकाष्ठा है। ये बातें विचार करने लायक हैं। पर विचार करने वाला ही की यहाँ कमी है [2] ध्यान से देखा जाय तो उपर्युक्त उद्धरण में अपनी जिन कमियों और दोषों की

१ 'दि आर्य समाज', पृ १७०-१७१।

२ 'सरस्वती' १९०५ ई०, अंक ८, पृ ३२४

ओर संकेत किया गया है उनके निराकरण द्वारा ही हिंदुत्व अपने आत्मरक्षा के अधिकाधिक निकट पहुंच सकता है। इसी प्रकार दोनों विश्व महायुद्धों में भी श्वेत जातियों की बहु प्रचारित श्रेष्ठता के भ्रम को दूर कर दिया और हम हीनता की भावना से मुक्त होकर राष्ट्र के कल्याण और स्वतन्त्रता की बातें सोचने लगे। भारतीय राजनीति के रंगमंच पर जो उग्रवादी विचारधारा आई उसका भी कारण आत्मरक्षा की भावना थी। टामसन एंड गरेट ने बिल्कुल ठीक लिखा है 'उग्र विचारधारा एक विदेशी सभ्यता के द्वारा हजम कर लिये जाने की आशंका के प्रति एक प्रतिक्रिया थी। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर एक भारतीय की हैसियत से गौण एवं संदिग्ध स्थिति पर उतार आकर अपनी प्रतिष्ठा खो जाने की आशंका के प्रति प्रतिक्रिया थी। यह इस भय की भी प्रतिक्रिया थी कि हिंदू समाज विघटित हो जायगा और उसकी स्थान-पूर्ति में समय भय कोई व्यवस्था भी हमारे सम्मुख न होगी।'[१] आज भारत में जो बात चारों ओर— सभी क्षेत्रों में— बराबर दिखाई पड़ रही है वह है परस्पर विरोधी विचारों और कार्यों में समन्वय स्थापित करने की— समझौते की— सामंजस्य की। स्वतन्त्र होने के बाद तो हम किसी का भी तिरस्कार नहीं कर रहे हैं। आज हमारी दृष्टि 'इस या उस' की नहीं 'इस और उस' की हो गई है। समन्वय का रास्ता भारत के लिये नया नहीं है। यह पुराना रास्ता है जिसने हिंदुत्व को महान सप्राणता एवं क्षमता दी है और सर्वथा विपरीत परिस्थितियों में भी सहीसलामत— बल्कि कुछ और सम्पूर्ण होकर— निकल आने की शक्ति दी है। अपनी आध्यात्मिकता के द्वारा आज हम योग-साधनाओं में उतना प्रवृत्त नहीं होते जितना व्यक्ति की आत्मा को स्थूल भौतिकवाद से मुक्त करने में प्रयत्नशील होते हैं।

अस्तु पुनर्जागरण और प्राचीन गौरवपूर्ण अवस्था को पुनः प्राप्त करने की इस महत्वाकांक्षा ने राष्ट्रीय जीवन के लगभग सभी पक्षों को प्रभावित किया है। सर्वत्र नई व्यवस्थाएं नये रंग ढंग एवं नयी उद्भावनाएं दिखाई पड़ती हैं। इन सभी क्षेत्रों में ऐसी विभूतियों का उदय हुआ है जो संसार के किसी भी प्रगतिशील राष्ट्र के लिये शान और गुमान देने वाले आभूषण की तरह हैं। सबका लक्ष्य रहा समाज का अधिकाधिक कल्याण और जीवन के मूल उद्देश्य की ओर उन्मुख ध्यान। स्वार्थियों की बात छोड़ दें तो अपने अन्दर से धार्मिक कट्टरता को भी हमने दूर निकाल फेंका है। इसने भी हमें अपने प्राचीन रूप के निकट पहुंचाया है। अस्तु अपनी प्राचीन गुरुता को प्राप्त करने के लिए हमने जितने भी धार्मिक आन्दोलन किये उन सबका प्राचीन हिंदू

१ २ राइज एंड फुलफिलमेंट आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया, पृ ५८६

धर्म के सिद्धान्तों पर हुआ है और सबको भारतीय संस्कृति से ही प्रेरणा प्राप्त हुई है। ईश्वर की अद्वैतता पर विशेष महत्व दिया गया। रूढ़िवाद, कुरीतियों, कुसंस्कारों एवं अंध विश्वासों को दूर हटाकर धर्म के विशुद्ध रूप को सामने लाने का प्रयत्न किया गया। बाह्याडम्बरों का परित्याग करके विशुद्ध आचरण, निर्गुण आराधना आध्यात्मिक उपासना एवं नैतिक जीवन का उपदेश दिया गया। सभी धर्मों की मूलभूत एकता प्रमाणित की गई। सहिष्णुता की भावना जागृत करके उदार वृत्ति अपनाने का प्रयत्न किया गया। वर्ण-व्यवस्था की जटिलताओं की उपेक्षा की गई। देश के अतीत वैभव और महानता पर गर्व प्रकट किया गया। उसकी तुलना में आधुनिक दीन हीन दशा को चित्रित करके सुधार की भावना को तीव्रता प्रदान की गई। राष्ट्र प्रेम एवं संस्कृति प्रेम को उभारा गया। इस प्रयत्नों के द्वारा भारत ने योरोपीय समाज, धर्म और राजनीति की विभिन्न परम्पराओं के श्रेष्ठतम स्वरूप को अपनाने का प्रयत्न किया है। अब हमारे समाज में कुछ लोग इसी को श्रेष्ठ मानते हैं कुछ लोग ऐसे भी हैं जो प्राचीन भारत के तत्वों को ही श्रेष्ठ समझते हैं। कम्युनिज्म और जनसंघ इन्हीं दो वर्गों के प्रतीक हैं। दोनों के अपने अपने अडिग विश्वास हैं स्वतन्त्र भारत इन्हीं दोनों को मिलाकर जिस नये सिद्धान्त एवं जिस नई जीवन पद्धति को जन्म देगा उसकी कोई स्पष्ट रूप रेखा अभी नहीं प्रस्तुत की जा सकती। हो सकता है कि जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रवर्तित जनतन्त्रात्मक समाजवाद या समाजवादी ढांचा ही उसको सामने ला सके। कुछ भी हो मंथचक्र प्रवर्तित हो चुका है। कोई आश्चर्य नहीं कि निश्चय आधुनिक विश्व इतिहास का एक कल्याणकारी आश्चर्य हो – धन्वन्तरि का अमृत कलश हो। तब तक न जाने कितने विष, श्री, चन्द्र, कौस्तुभ एरावत आदि निकलेंगे मगर तब तक धैर्य धारण करना होगा। अभी केवल इतना ही स्पष्ट है कि भारत ने यूरोप के राष्ट्रवाद में सहनशीलता और उदारता का समावेश और कर दिया है। भारतीय आत्मा पुरोहित बनी है भारत प्रणय परिणय भूमि बना है और दिगन्त तथा अ्यारत एक दूसरे को स्निग्ध दृष्टि से देख रहे हैं ?

ऊपर हमने उन प्रतिक्रियाओं का वर्णन किया है जिनके द्वारा हमने अपने पहले वाले गौरवपूर्ण स्वरूप को प्राप्त करने की चेष्टा की। यहां हम यह देखेंगे कि किस किस तत्व या व्यक्ति ने हमारे पहले के गौरवपूर्ण स्वरूप के किन किन तत्वों को किन किन रूपों से हमारे अन्दर फिर से प्रचारित करने एवं लोकप्रिय बनाने का कार्य किया।

विवेकानन्द—

बीसवीं सदी के प्रारम्भ होते-होते रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी विवेका

नन्द ने हिन्दुओं को जागृत करके उन्हें अपने को पहचानने का सन्देश दिया। उन्होंने अपने गुरु के व्यावहारिक या क्रियात्मक धर्म को उस विशाल उत्तोलन दंड का स्वरूप दे दिया जिसका सहारा पाकर दलदल में आकंठ धंसा हुआ हिन्दू धर्म और भारत दलदल से ऊपर उठ आया। स्वामी जी ने यह बताया कि परमहंस के ढंग पर वेदान्त को लाकर यदि भारत में आधुनिक जीवन में उसे उतारा जाय तो उससे भारत की अनेक समस्याएं हल की जा सकती हैं और वह फिर अपने पहले वाले गौरव पूर्ण पद को प्राप्त कर सकता है। स्वामी विवेकानन्द एक ऐसे गुरु के शिष्य थे जिसे पुस्तक ज्ञान कुछ भी नहीं था किन्तु जिसने साधना और अनुभव के बल पर ही यह प्रत्यक्ष कर लिया था कि सभी धर्म एक हैं और भगवान अद्वैत तत्व हैं। उन्होंने विवेकानन्द को भी इसका प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया था कि ईश्वर है। इसलिये वे ज्ञान को अनुभूति का विषय मानते थे। वे शताब्दियों के ज्ञान और अनुभव के बाद बनी हुई न्याय प्रणालियों तथा परम्पराओं को केवल इसीलिये छोड़ने को तैयार नहीं थे कि कल का सौमिखिया केवल तर्क के बल पर उन्हें व्यर्थ सिद्ध कर रहा है। वे मानते थे कि हिन्दुओं का अपना जातीय भाव आध्यात्मिकता है और आध्यात्मिक ज्ञान का प्रसाद ही मनुष्य जाति की सबसे बड़ी सेवा है। वे धर्म की बातों की जाँच तर्क और बुद्धि की कसौटी पर करने को तैयार थे और उसकी आवश्यकता का अनुभव करते थे। उनका विचार था कि शान्त क्षमाशील, अनुद्विग्न और स्थिर चित्त मनुष्य ही सबसे अधिक काम कर सकता है। वे ईश्वर को अपौरुषेय मानते थे और ब्रह्म जिज्ञासा को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। उनका विश्वास था कि सबका अपना कोई न कोई आदर्श अवश्य होना चाहिये जिसकी पूर्ति उसके जीवन का उद्देश्य हो। यह आदर्श मनुष्य को नष्ट होने से बचाता और शक्ति देता रहता है। वे मनुष्य को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति मानते थे। उनका विचार था कि धर्म के प्राणशून्य आन्तरिकता हीन बाह्याचार सर्वथा त्याज्य हैं। उनका कहना था कि अज्ञान और प्रसाद ने हमें पूरी तरह से घेर रखा है। आज हम मरीचिका को मरीचिका न समझ पाते हैं न वह सकते हैं। वास्तविक तत्व से विमुख एवं वंचित होकर हम भटक रहे हैं। वे सांसारिक सुख और आनन्द को उस अनन्त आनन्द का कण मात्र मानते हैं। ऐसा मानने से हम उस लाभ, लालच और वस्तु के छिन जाने के भय से मुक्ति पा जायेंगे जो हम अंगरेजों के सामने बकरी बनाये रखता है। मात्र लौकिक सुख और आनन्द भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण माना भी नहीं गया है। स्वामी जी आत्मा में स्त्री पुरुष का भेद नहीं मानते थे। इस प्रकार नारी-उद्धार के कार्य को सहायता मिली। उनके ऊपर पड़ते ही स्वामी एकमात्र काम-दृष्टि भस्म हुई। भारतीय संस्कृति में सीता,

सावित्री, गार्गी, मत्रेयी, भारती, मीरा अन्दाल आदि महादेवियां है। विश्व की नारी विभूतियो म आत्म–विस्मृत हिंदू जाति की भी देन कम महत्वपूर्ण नहीं है। गत गौरव की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हिंदू जाति म ही संयुक्त राष्ट्र–जसी विश्व संस्था को ऐसी नारी दी जिसे वह प्रधान बनाकर गौरवान्वित हुई। करतूर वा विजय लक्ष्मी क प्टेन लक्ष्मी, सरोजनी, कमला रामेश्वरी, इंदिरा, दीदी (सुशीला) नलिनी आदि प्रमाण हैं कि नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण के क्षेत्र मे हम चिर प्राचीन एवं चिरन्तन हो गये हैं। आस्तिकता और आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति की आधार मिला है और इसी के अनुरूप स्वामी जी कहते हैं कि ईश्वर में अनन्त प्रेम रखना ज्ञान–प्राप्ति का उपाय है। ससार के सभी प्राणियों को ईश्वर का रूप मानना चाहिये और उन से प्रेम करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से बन्धन टूटते हैं और मुक्ति मिलती है। भारतीय संस्कृति की हो धारणा के अनुसार स्वामी जी धर्म को प्रत्यक्ष अनुभव का विषय मानते थे और इस प्रकार गुरु–शिष्य–परंपरा को बनाये रखना चाहते थे। वे धर्मा धता के आवरण को मूर्खता और धर्म के सनातन तत्वों के अनुसार जीवन बिताना बुद्धिमानी समझते थे। उनके अनुसार निर्भय एवं सशक्त वही हो सकता है जो धर्म–प्राण हो क्योंकि धर्म–प्राण ही आत्मज्ञान–सपन्न एवं आत्मानुभूति से तेजोमय हो सकता है। शक्ति और बात है तथा ताकत या शारीरिक बल और बात। दूसरे का उदाहरण है शेर और पहले का, सन्यासी। अहिंसा से कायरता। हिंसक शेर मे चाहे जितना बल हो कूटबुद्धि हो, किन्तु वह मनुष्य से डरता–भागता है। यही दशा साप की है। अहिंसक पक्षी या हिरन निर्भय विचरता है। स्वामी जी भय और दुर्बलता के शत्रु थे। वे व्यक्ति को प्राचीन दार्शनिक की तरह साहसी देखना चाहते थे और कहते थे जगत में तुम्हीं तो एक मात्र सत्ता हो। तुम्हें किस का भय है,? खड़े हो जाओ मुक्त हो जाओ।– मनुष्य को दुर्बल और भयभीत बनाने वाला संसार में जो कुछ भी है वही पाप है और उसी से बचना चाहिए — एक सिंह की भांति पिंजड़ा तोड़ दो अपनी शृंखलाएँ तोड़ कर सदा के लिये मुक्त हो जाओ। तुम्हें किस का भय है तुम्हें कौन रोक सकता है — तुम शुद्ध स्वरूप हो तुम नित्यानंद हो'।[१] यह सन्यासी की वाणी है, यह आत्मा की वाणी है। यह भारत की सांस्कृतिक शक्ति है यूरोप की शक्ति सम्बन्धी धारणा शक्ति सम्बन्धी भौतिक धारणा इससे भिन्न होगी। 'प्रसाद' के 'चन्द्रगुप्त' में दाण्ड्यायन ने सिकन्दर के दूत को जो उत्तर दिया था वह स्वामी विवेकानन्द की वाणी है। वह पाश्चात्य भौतिक शक्ति एवं तज्जन्य अहंकार को सांस्कृ

१ ज्ञानयोग, पृ० ३२५

निक भारत का सनातन उत्तर है। यह जस पाविल को गांधी का उत्तर है। नाग धर्माधिकारी का कथन है कि विवेकानन्द कहते थे कि तुम जो साधन की चिंता करो, साध्य अपनी चिंता आप कर लेगा।[1] आगे चलकर यही गांधी की वाणी हुई। स्वामी जी पश्चिम की समृद्धि और वहां के लोगों की वास्तविकता जानते थे। वे अन्य जातियों के दुर्भाग्य को ही ईसाइयों की समृद्धि का कारण मानते थे। वे भारतीय नारियों को पश्चिम की नारियों की अपेक्षा कहीं अधिक पवित्र मानते थे। भारतीय नारी की इसी पवित्रता आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्नता एवं सम्भावना-सम्पन्नता के कारण ही तो आज भारतीय जीवन के हर क्षेत्र (राजनीतिक-क्षेत्र तक में) घूंघट वाली भारतीय नारी जितनी सक्रिय है और महत्वपूर्ण कार्य कर रही है उतनी सक्रिय संसार के सभ्य से भी सभ्य देश की चिर पर्दा-मुक्त नारी भी नहीं सच तो यह है कि शक्ति और क्षमता और वैराग्य होने में नहीं पवित्र एवं संयमशील होने में है और भारतीय नारी से बढ़कर पवित्र एवं संयमशील किस देश की नारी हो सकती है।

अतएव स्वामी जी भारत में सत्वप्रधान शक्ति का स्फुरण देखना चाहते थे। उनका कथन था अब हम लोगों को कोमल भावों के ग्रहण करने का समय नहीं है। इस तरह की कोमलता की सिद्धि करते-करते हम लोग इस समय मुर्दों सरीखे हो रहे हैं हम लोग रुई की तरह कोमल हो गये हैं। हमारे देश के लिये इस समय आवश्यकता है लोहे की तरह मांसपेशी और स्नायुओं से युक्त बनने की, इतनी दृढ़ इच्छाशक्ति-सम्पन्न होने की कि कोई उसका प्रतिरोध करने में समर्थ न हो --[2] इसके लिये वे स्वार्थ के अभाव, बलिदान, त्याग, अनासक्ति निर्भयता, कर्तव्यपरायणता एवं इन्द्रियों की दासता से मुक्ति, आदि अनिवार्य समझते थे। विलासवृत्ति हमें जर्जर कर देती है कपटी और छलिया बना देती है और हमारा शक्ति-स्रोत सुखा देती है। हमारी 'निर्बलता का कारण पारस्परिक ईर्ष्या— द्वेष एवं हिंसा —दृष्टि भी है। यह आत्महास है इसकी जगह हम आज्ञापालन एवं सेवा करने की आदत डालनी होगी। उनका स्वदेश प्रेम भी ईश्वर प्रेम था और उनके अनुसार यदि स्वदेश अथवा स्वधर्म के लिये युद्ध करते-करते मनुष्य की मृत्यु हो जाय तो योगी जन जिस पद को ध्यान द्वारा पाते है वही पद उस मनुष्य को भी मिलता है।[3] स्वामी जी देशभक्ति को तभी संभव समझते थे जब इतना विशाल हृदय

१ 'सर्वोदय दर्शन', पृ० १६३

२ वेदान्त धर्म', पृ० २०४-२०६

३ कर्मयोग पृ० ३२

(योगियों वाला हृदय) मनुष्य को मिल-जाय कि वह देश के सभी प्राणियों के सुख दुख को अपना समझ सके और सारे देश के लिये जिसमे सहानुभूति एव प्रेम हो। स्वामी जी अद्वैत को कायरूप मे लाने की आवश्यकता समझते थे जिससे देश सेवा क कार्यों का स्वरूप भारतीय सस्कृति के अनुरूप हो जाय। जब ईश्वर सवत्र है—और अद्वैत होने के नाते सवत्र वही है— तब निष्कर्ष यही निकलता है कि समाज के प्राणियों की सेवा ईश्वर की सेवा है। इस प्रकार स्वामी जी ने भारतीय सिद्धान्तों को लेकर भारतीय ढग से उन्हें कार्यान्वित करके हमारे प्रयासो क स्वरूप को विशुद्ध भारतीय रूप देना चाहा जिससे हम आधुनिक युग मे रहकर अपन आत्मरूप की प्र प्ति की ओर भी अग्रसर होते रहे क्योकि अन्यथा किसी भी दूसर ढग से भारत का कल्याण नहीं हो सकता।

गाधी—

विवेकानन्द जो कुछ चाहते थे वह सब १९०२ ई० तक कहकर ससार स चले गये। पाचजन्य गूंज उठा। गाधी जी उन्हीं बातो को अपने जीवन में उतार कर उससे कुछ सिद्धान्त बनाकर उनको भारतीय जीवन में फला देन के लिये सामाजिक और राजनीतिक जीवन मे कूद पडे।

आत्मशक्ति उनमे इतनी थी कि उनकी बातो का प्रबुद्ध भारत अस्वीकार न कर सका। शकर दत्तात्रेय जावडेकर ने लिखा है कि आधुनिक भारत के वेदान्त मे से यह एक क्रान्तिकारी आध्यात्मिक उपपत्ति जमी कि अपनी अन्तरात्मा के सदेश का पालन करने के लिये स्थापित राज्यसत्ता के अन्यायी बन्धनों को तोडना हमारा आध्यात्मिक कर्तव्य है।[१] इसी म स सत्याग्रह का नि शस्त्र क्रांति शास्त्र खडा हुआ। गाधी जी भारतीय लोकशाही का जन्म आम जनता का आत्मबल सगठित करने से ही सभव मानते थे। सच पूछिए तो गाधी जी की जीवनी श्रीमदभगवद् गीता की एक सजीव व्याख्या थी। उनका माग गीता का माग था—सनातन सिद्धान्तों का सामयिक भाष्य। गाधी ने अतीत से सपक स्थापित किया था और इसीलिये उनके द्वारा प्रवर्तित राजनीतिक आन्दोलन को अतीत के अध्यात्म-द्वारा सास्कृतिक स्वरूप प्राप्त हो गया। वह शुद्ध राजनीतिक आन्दोलन न हो कर एक समग्र सास्कृतिक आन्दोलन हो गया। सद्गुरु शरण अवस्थी ने लिखा है 'एक ही मानव मे सस्कृतियो और सद्भावनाओ का इतना बडा समूह सहस्राब्दियो से देखने म नही आया। महात्मा गाधी में इस रचना ने एक बडा भारी विश्वास उत्पन्न कर दिया था। शिव जी के मस्तक पर ऊपर से गिरने वाली पवित्र धारा की भांति

१ 'आधुनिक भारत', पृ २९४-२९५

महात्मा गांधी इस संस्कृति को गंगा की तरह ऊपर से आती हुई प्यार और करुणा के रूप में ही ग्रहण करते थे।[1] यह भारतीय मान्यता है कि हमारा अपना कुछ नहीं है जो-कुछ है, भगवान का दिया है। गांधी की संस्कृति भारत की अपनी संस्कृति है-गांवों-खेतों के आंचल में पली हुई संस्कृति। महादेव प्रसाद ने लिखा है कि जीवन की समस्याओं के विषय में गांधी का दृष्टिकोण निश्चित रूप से हिन्दुत्व पर आधारित था।[2] आचार-व्यवस्था अहिंसा के लिए वे ग्रंथों, गीता, सामाजिक नियमों के लिए मीमांसा, धर्म की भावना के लिये शंकर, आध्यात्मिकता के लिए वैष्णव एवं तात्त्विक विचारों के लिए वेद, उपनिषद्, पुराण आदि का सहारा लिया था। ईश्वरवाद, पुनर्जन्म, आध्यात्मिकता, सत्य, अहिंसा आदि उनके मूलभूत सिद्धान्त थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शरीर श्रम, अस्वाद, निर्भयता, सभी धर्मों की मूलभूत एकता, स्वदेशी और अस्पृश्यता उनकी दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। विकेन्द्रीकरण, जनतन्त्रवाद, चर्खा, कुटीरोद्योग, प्राकृतिक चिकित्सा, उपवास, ग्राम जीवन, हृदय परिवर्तन, साधन-शुद्धता, सत्याग्रह, ट्रस्टीशिप आदि उनके कार्यक्रम थे। उन्होंने समझाया कि घृणा से घृणा, हिंसा से हिंसा और प्रेम से प्रेम निकलता है। एकता, सहिष्णुता और शांति गांधी मार्ग है। सर्वोदय उनकी कामना है-लक्ष्य है। वे नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित देखना चाहते थे। वे त्याग-संयम पर ध्यान करने को कहते थे। वे आत्मविश्वास, स्वाभिमान, शत्रु के प्रति भी अहिंसक भाव रखने की, उत्तेजित न होने की, बदला न लेने की, निःस्वार्थ सेवा की, भीतर और बाहर की सभी गंदगियों से बचने की, प्रार्थना पर अटल विश्वास करने की और आत्मा के उत्थान की बातें करते थे। वे प्रार्थना को भोजन से अधिक आवश्यक मानते थे। वे चूंकि हर हृदय में भगवान को देखते थे और भगवान बुरा नहीं होता इसलिए वे किसी को भी मूलतः बुरा नहीं समझते थे और इसलिए सबसे प्रेम करते थे और सर्वभूतहिते रत थे। वे मानते थे कि संसार का इतिहास भौतिकता के विरुद्ध आत्मिकता के संघर्षों और अन्ततोगत्वा उसी की विजयों का इतिहास है। भारतीय संस्कृति की परम्पराओं के ही अनुसार गांधी संस्कृति ग्राम संस्कृति, गृह उद्योग प्रधान संस्कृति तथा संयम-सरलता-सात्विकता-प्रेम सहयोग प्रधान संस्कृति है। गांधी जी ने मानवधर्म की धारणा की थी। उनका स्वराज्य आत्मराज्य था। इसका लक्ष्य केवल राजनीतिक पराधीनता से मुक्ति ही नहीं था। वे ऐसा तंत्र

---

१ 'माधुरी' पत्रिका जुलाई, १६४० ई० पृ० ४६६

सकता है। इसी रूप में सवे भूमि गोपाल की' एव सम्पत्ति सब रघुपति के आही वाली बात ठीक लगेगी। गा धी हमसे इसी पर विश्वास करने की बात करते थे क्योंकि इन तथ्यों का विश्वासी ही कह सकता है 'राम के चिरई राम के खेत, खाओ चिरई भर भर पेट'। यहीं साधना गांधी को इष्ट थी और तभी गांधी ने कहा, 'वह (ईश्वर) हृदय रूपी वन मे रहता है और उसकी बसी है अन्तरनाद। हमे निर्जन वन मे जाने की आवश्यकता नहीं। अपने अन्तर म हमे ईश्वर का मधुर नाद सुनना है और जब हममे से हरेक वह मधुर नाद सुनने लगेगा तब हिंदुस्तान का भला होगा।'[1] यह अन्तरनाद अन्तर्प्रेरणा मुख्य चीज है। जो इसने सप्त होता है वह दूसरे जीवो को भी अपने जीवन मे दाखिल कर लेता है। तभी वह सर्वोदय का मम समझता है। इनभूमिका म डार्विन का सर्वाइवल आफ दी फिटेस्ट वाली नीति निरथक लगने लगती है। अद्वैत और समन्वय आत्म तत्व सम्पन्न व्यक्ति को सारी सृष्टि से एक कर देते हैं। ऐसे व्यक्ति को किसी से द्वेष नहीं हो सकता। ऐसा व्यक्ति बुरे को नहीं बुराई को दूर करना चाहेगा। वह दूसरे को दोष को अपना दोष समझ कर दूसरे को दण्ड न देकर अपने को दण्ड देगा। वह दूसरे का अहित न चाहकर उसका सुधार उसकी भलाई चाहेगा। वह अविनयी नहीं हो सकता। उसे सत्य का आग्रह होगा। वह दूसरे को भी सत्य निष्ठ देखना चाहेगा। ऐसी आध्यात्मिक सपत्ति से सपन्न व्यक्ति किसी व्यक्ति या वग से द्वेष नहीं कर सकता। वग-सघर्ष नहीं हो सकेगा। वग-भेद का निराकरण हो जायगा। इस दृष्टि को देकर गांधी जी विधाता को व्रत म दरिद्रता को असग्रह म और भूख को उपवास म बदल देना चाहते थे। गांधी सभी प्राणियों में चेतन की उपस्थिति का विश्वास करा कर हृदय-परिवतन पर विश्वास कराना चाहते थे। इस प्रकार गांधी ने विभक्त भारत-चित्त को एकत्व प्रदान करने का प्रयत्न किया था। मशीनों ने व्यक्ति का महत्व समाप्त कर दिया। ग्राम-सभ्यता के पुनरुद्धार और छोटे पैमाने के उद्यान द्वारा गांधी ने व्यक्ति के व्यक्तित्व की रक्षा करने का प्रयत्न किया। सत्य और अहिंसा पर ही आधारित नई तालीम के द्वारा भी गांधी जी ने नतिक मूल्यों का उद्धार करना चाहा था, क्योंकि नतिक तत्व भगवान की ओर और अनतिक तत्व अहंकार की ओर उन्मुख होते हैं। गांधी जो विचार को ऊँचा करने की बात करते थे। वे सेवा को श्रेष्ठ मानते थे सत्ता को नहीं। वहां ऋषि का महत्व था, धनी का नहीं। वे विवेक को प्रधानता देते थे। प्रेम को महत्वपूर्ण मानते थे। वे विवेक को भगवान का प्रतिनिधि समझते थे। वास्तविकता तो यह है कि गांधी

[1] प्रार्थना प्रवचन भाग १, पृ १३१

राजनीतिज्ञ थे ही नहीं। भारत की तात्कालिक परिस्थितियों में राजनीति उनके कार्यक्षेत्र में पड़ गई अन्यथा वे राजनीति से परे थे। वे सांस्कृतिक गंगा के भगीरथ थे। भारत की अपनी जीवन-पद्धति के फिर से अपनाये जाने का संदेश लाने वाले देवदूत थे। यह उनकी आत्मा थी। राजनीति गौण थी उनके लिये। इसीलिये मैं भारत की स्वतन्त्रता एक मात्र राजनीतिज्ञों की ही अर्जित सम्पत्ति न मानकर इतका सारा श्रेय उन्हें नही देता। उसका श्रेय सांस्कृतिक आंदोलन के उन देवदूतों को है जिनमें दयानन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ एवं अरविन्द आदि भी आते हैं। गांधी का वास्तविक स्थान इन महान आत्माओं के बीच में है। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि भारत के प्राचीन ऋषियों-मुनियों की तरह गांधी कहते थे कम, करते थे अधिक। जितना करते थे उसका शतांश मात्र ही सम्भवतः कहते थे। भारतीय सामाजिक वृत्ति यह है कि वह 'कथनी की अपेक्षा करनी' पर— वाणी की अपेक्षा चरित्र पर— अधिक विश्वास करती है। वह कर्म को वाणी समझती है। 'बच्चन' ने गांधी का एक उदाहरण दिया है। उन्होंने लिखा है[१] कि समय पर स्नान कर लेने की दृष्टि से नौकर के अभाव में स्वयंसेवकों के सामने से, जिनमें 'बच्चन' भी थे खौलते हुए पानी की बाल्टी गांधी जी अपने हाथ से उठाकर नहाने के कमरे की ओर चले गये यह कहते हुए— जो काम जिस वक्त करना है, करना, न करना वक्त के साथ दगाबाजी है।' गांधी जी की पूरे की पूरी हथेली (अँगूठा, तर्जनी) जल गई थी। 'बच्चन' लिखते हैं कि समय की पाबंदी तो बहुतों ने सिखलाई पर अपना हाथ जलाकर केवल बापू ने सिखलाया और ऐसा सिखलाया कि उसे अपना संदेश हृदय पर दाग दिया। गांधी ने जीवन को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा था। उन्होंने सच्चे अर्थों में क्रान्ति की। उन्होंने मूल्यों के बदलने का प्रयत्न किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधी जी ने प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा का आध्यात्मिकता के सहारे उत्थान करके भारतीय समाज की गति आत्मोन्मुखी करके पूरे भारत को —और इसीलिये हिंदी-प्रदेश को भी— प्राचीन आत्मस्वरूप की खोज की ओर प्रवृत्त किया। थोड़े समय में आत्मशक्ति की ऐसी सरिता प्रवाहित कर दी कि बहुतों का जीवन उसी में पूर्णतः निमग्न हो गया।

तिलक—

तिलक पूर्णरूपेण भारतीय संस्कृति में रंगे थे। भारतीय संस्कृति का प्रेम कभी-कभी उन्हें समय से पीछे घसीट ले जाता था। उनका 'गणेशोत्सव'—और

१ नये पुराने झरोखे, पृ २४१ से २४३ तक

शिवाजी सम्बन्धी उत्सव को फिर चलाना उनका भारतीय प्रेम ही प्रकट करता है। अपनी परिभाषा द्वारा उन्होंने हिंदू धर्म को बहुत व्यापक रूप से दिया था। इन्होंने कहा कि जिसमें अनेक प्रकार के साधन होते हैं वह हिंदू धर्म है। उनके गीतारहस्य ने अनेक भारतीयों को भारतीय संस्कृति के अनुकूल प्रवृत्ति मार्ग की ओर प्रेरित किया। वे लोगों की प्रवृत्ति प्रधान भक्ति मार्ग की ओर ले गये। उन्होंने भारत की सांस्कृतिक वृत्ति का रूप स्पष्ट किया जिसके अनुसार चलकर लोगों ने राजनीति में भी भाग लिया और अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करने का प्रयत्न भी किया।

आर्यसमाज —

आर्यसमाज के विषय में थोड़ा सा पहले लिख आये हैं। यहां इतना और समझ लेना चाहिये कि आर्यसमाज के प्रयत्नों और आंदोलनों ने हिंदू समाज में एक ऐसा मन्थन पैदा कर दिया कि वह अपने सभी दोषों का निराकरण करके अपने असली रूप को पहचानने में लग गया। स्वामी दयानन्द आर्य संस्कृति अर्थात् भारतीय संस्कृति के पूर्ण समर्थक थे। एक बार तो ऐसा लगने लगा था कि देश सचमुच वैदिक युग में पहुंच जायगा। आर्यसमाज अपने देश, अपने धर्म और अपनी संस्कृति के प्रगतिशील भक्त थे। मिस्टर वेलेन्टाइन शिरोल लिखते हैं कि स्वामी दयानन्द की की सारी शिक्षाएँ और उनके समस्त उपदेश उन विदेशी प्रभावों के सक्रिय प्रतिकार के लिये अधिक हैं जिनसे उनके विचार से हिंदुत्व के अराष्ट्रीयकरण का खतरा था।[1] बात यह थी कि दयानन्द ने देखा कि अभी राजनीतिक आंदोलन छेड़ने का उपयुक्त समय नहीं आया क्योंकि भारतीय असंगठित और निर्बल हैं। इसलिये उन्होंने हमारी सामाजिक धार्मिक एवं आध्यात्मिक कमियों को दूर करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। उनकी समझ में इसका सबसे सुन्दर उपाय यह था कि हिंदू अपनी जाति में आई हुई बुराइयों को दूर करके वैदिक संस्कृति को अपना लें। आर्यसमाज ने इस दृष्टि से शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। गुरुकुल शिक्षापद्धति का पुनरुद्धार इस दृष्टि से बड़ा ही महत्वपूर्ण था। एच०सी०ई० जकारिया ने गुरुकुल कांगड़ी को संसार की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शिक्षा संस्थाओं में एक[2] माना है। इस दृष्टि से संस्कृत के भारतीय संस्कृति सम्बन्धी साहित्य का हिन्दी में अनुवाद उपस्थित कराने के लिये आर्यसमाज ने एक नियम भी बना दिया। लक्ष्मी नारायण गुप्त ने लिखा है इस समय आर्य समाज के २८ नियम बनाये गये थे जिनमें पांचवां

१ अनरेस्ट इन इंडिया, पृ ५

२ रेनसां इंडिया, पृ ४१

नियम यह था, 'प्रधान समाज में वेदोक्तानुकूल संस्कृत और आर्यभाषा में नाना प्रकार के सदुपदेश की पुस्तकें होंगी "।[1] आर्यसमाज ने वेदोक्त सभी संस्कारों का भी प्रचलन प्रारम्भ कराया था और इसके लिये स्वामी जी ने 'संस्कारविधि' नामक पुस्तक भी लिखी। आर्यसमाज ने अपने सारे कार्य हिन्दी में करके जहाँ एक ओर हिन्दी की सेवा की वहां दूसरी ओर यह भी सिद्ध कर दिया कि अंगरेजी देश के जीवन के लिये उतनी अनिवार्य नहीं है जितनी लोग कहते हैं। स्वामी दयानन्द इसके प्रत्यक्ष उदाहरण थे 'निराला' ने लिखा है, मतलब यह है कि जो लोग कहते हैं कि वैदिक अथवा प्राचीन शिक्षा द्वारा मनुष्य उतना उन्नतमना नहीं हो सकता जितना अंगरेजी शिक्षा द्वारा होता है, महर्षि दयानन्द सरस्वती इसके प्रत्यक्ष खंडन हैं। महर्षि दयानन्द से भी बढ़कर मनुष्य होता है, इसका प्रमाण प्राप्त नहीं हो सकता।[2] यह बहुत बड़ी बात थी। इस प्रकार आर्यसमाज ने देश का ध्यान पाश्चात्य सभ्यता—संस्कृति की ओर से हटाकर अपने प्राचीन काल की सभ्यता—संस्कृति में कुछ ऐसा खोजने की ओर लगाया जो उसके प्राचीन रूप-गौरव को प्राप्त करा दे।

अरविन्द—

योगराज अरविन्द ने भारतीय संस्कृति के योग का महत्व हमारे सामने उपस्थित किया। आत्मा की विभुता का वे भी प्रतिपादन करते हैं और बतलाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति साधना करके उस स्तर तक पहुंच सकता है जिस स्तर तक मशीन युग या भौतिकतावादी युग व्यक्ति की चेतना का कभी भी नहीं पहुंचा सकता। उनका दर्शन भी आध्यात्मिकता प्रधान है। उनके अति-मानस का स्तर भारतीय संस्कृति के योगियों के मानस के स्तर की ही याद दिलाता है। व्याख्या चाहे जितनी नवीन हो, उनके रास्ते से चलकर हम वही खोज निकालेंगे जिसकी हमें खोज है अर्थात् अपना प्राचीन उन्नत रूप गौरव।

टगोर—

आधुनिक भारत की आत्मरूप की खोज में टगोर का भी योग कम नहीं था। वे मानवता के देवदूत थे। उनका मानवता प्रेम उनकी आध्यात्मिकता का ही परिणाम था। डी० एस० शर्मा ने लिखा है कि सम्भवतः किसी भी आधुनिक भारतीय ने उपनिषदों का तत्व अपने अन्दर उतना अधिक आत्मसात् नहीं किया जितना टगोर

१ 'हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन', पृ० २७
२ 'प्रबन्ध प्रतिमा', पृ० ५४

ने।[1] राधाकृष्णन ने टगोर पर जो पुस्तक लिखी है उसमे उन्होंने कहा है कि टगोर का जीवन-दर्शन भारतीय तत्वों पर ही आधारित है और उनकी रचनाएँ प्राचीन भारतीय आत्मा को प्रतिबिम्बित करने वाले दर्पण के सामने हैं। उनको हम उपनिषदों की आधुनिक टीका कह सकते हैं। उनका रहस्यवाद है संसार और व्यक्ति की वैयक्तिक अनुभूतियों के पीछे ईश्वर की उपस्थिति। ईश्वर संसार मे सौन्दर्य की सृष्टि और प्रेम की माग करना है। वह प्रेम पाना और प्रेम करना चहता है। वैष्णव धर्म का भी यही सिद्धांत है। टैगोर को अभेद और समत्व की अनुभूति हो गई थी। टगोर ने यह आशा व्यक्त की है कि मानवता का सच्चा हितैषी एवं उद्धारक आ रहा है और वह निधनता से अपमानित झोपड़ी-तुल्य भारत मे—हमारे बीच ही पैदा होगा।[2] इसी की खोज मे हिन्दी-प्रदेश और समस्त भारत लगा है।

राधाकृष्णन—

भारतीय संस्कृति की उदारता प्रगतशीलता और अध्यात्मपरायणता ही राधाकृष्णन की भी आत्मा है। उनके रूप मे आधुनिक भारत ने भारतीय दर्शन का गहरा मथन किया है और अपने प्राचीन रूप की इटकर खोज की है जिसके निष्कर्षों के परिणाम स्वरूप हिंदुत्व का युक्ति युक्त रूप—वही जो हमारी खोज का विषय है—हमारे सामने मथे हुये दही से निकलने वाले नवनीत के रूप मे उभर रहा है। शिवमूर्ति तिवारी ने राधाकृष्णन के विषय मे स्टालीन का यह वाक्य उद्धृत किया है डा० राधाकृष्णन मानवता के लिये कष्ट सहते हैं तथा सच्चे हृदय से बोलते हैं।[1] ध्यान रहे की प्राचीन भारत के ऋषियों-मुनियों की वृत्ति का स्वरूप भी यही था।

आत्मस्वरूप की खोज का सुफल—

जब हम आत्मविस्मृत थे तब अवस्था यह थी कि खोजने पर धारणा यही थी कि टोपा पहन साहब के सामने उपस्थित होने वाले को अंग्रेज मिलना असम्भव था असाधारण बात न थी।[2] परन्तु आत्मस्वरूप को खोजने का आन्दोलन क्रमशः इस स्थिती पर उठा ले गया कि मामूली चप्पल और घुटनों तक की धोती

1, हिन्दू मध्य दि एजेज, पृ० १७२
२ टुवर्डस यूनिवर्सल मैन पृ० ३३८
१ आजकल मासिक अगस्त १९६७ ई०
२ हिमालय मासिक, अगस्त, १९४६ ई० ■ राधाकृष्णन का कथन

ओढकर आरम दिग्वासी गाधी साहबों के पूज्य सम्राट जाज पचम से भी मिलन गया और मान से मिल आया। इसका एक मात्र कारण यही है कि हम अपनी सांस्कृतिक सम्पत्ति को भूले नहीं। दिनकर ने बिलकुल ठीक कहा है 'केवल भारत ही एक ऐसा देश है जिसका अतीत कभी मरा नहीं। यह बराबर वतमान के रथ पर चढकर भविष्य की ओर चलता रहा है।'[१] इस युग मे भी यही हुआ। परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय साम्राज्यवाद की गुलामी का युग बुरे सपनों की तरह टूट गया और सुदूर अतीत की सुनहरी यादें फिर हम शक्ति देने लगीं। भारत को जो चाहिए था अंगरेजी साम्राज्यवाद उसे दे नहीं सका। शायद दे भी नहीं सकता था क्योंकि वह उसके पास था ही नहीं। यही कारण था कि भारत को अपने प्राचीन आध्यात्म मदिर—संस्कृति—सम्पत्ति—की ओर मुडना पडा। वह महान् था और उसी से हम अपनी खोई हुई अमानत को प्राप्त करने की सभावना, प्रेरणा और शक्ति मिल सकती थी। भारत की आयु तक आ शवादिता का यही रहस्य है। सरकार और उसकी शिक्षा-संस्थाओ ने भारतवर्ष पर अपनी पाश्चात्य संस्कृति—सभ्यता लादने के यथासभव सभी प्रयत्न किये। इसने हमें झकझोर दिया। समाज के धरातल को आलोडित विलोडित कर दिया। किन्तु झकझोरने से आदमी जग भी जाता है। हम भी जग गये। जागने के बाद हम अपनी मूल सम्पदा की खोज-खबर लेने म लग गये। अपनी बुराइयो को दूर करके अपने को फिर से विशुद्ध अपना बनाने म लग गये। परिणामत यदि गहराई में घुस कर देखें तो भारत की अनादि काल से चली आती हुई परम्पराएँ बहुत अधिक क्षुब्ध एव अशाति नहीं हुई[२]। भारतीय जन पद गाधी जी के नेतत्व मे भारतीय जीवन और भारतीय संस्कृति के वातावरण मे आगे बढने लगा। राष्ट्र की मानसिक क्रान्ति हुई तथा सत्य और अहिंसा ने देश की काया पलट कर दी। देश पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति की अनुकूल अच्छाइयो को अपना कर भी प्राचीन संस्कृति के अभिमान को धारण किये हैं। इन्द्र विद्या वाचस्पति में लिखा है कि "परन्तु भारत युग-युगान्तरों के परिवतनों, क्रातियो और तूफानों से निकल कर आज भी उसी (अपनी) संस्कृति का वेष धारण किये विरोधी शक्तियो की चुनौतियों का करारा उत्तर दे रहा है।[३] अपनी विशेषताओं और श्रेष्ठताओ की उसने उपेक्षा बिलकुल नहीं की। कहना तो यह चाहिए कि नया

१ संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ८१

२ 'राधाकृष्णन कृत ईस्ट एण्ड वेस्ट पृ ४२

३ भारतीय संस्कृति का प्रवाह' की प्रस्तावना

भारत प्राचीन भारत का श्रद्धालु भक्त बन गया । वह अपने मौलिक सिद्धांतों के साथ-अपनी संस्कृति के मौलिक अधिकारों के साथ अब भी गर्वोद्दीप्त खड़ा है । निष्क्रियता एवं निवृत्तिवाद के कारण बहुत कुछ भुगतने वाले पस्त और निराश भारत में 'क्षुद्र हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप', तथा 'युध्यस्व विगतज्वर' के सन्देश बहुत ही लोकप्रिय हुए । प्रस्थानत्रय (ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषद्) को मिलाकर वेदों की मुख्यतम शिक्षाओं पर आधारित एवं व्यापक धर्म के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया गया । रूढ़ि एवं अस्पृश्यता से युक्त धर्म का स्वरूप ऋग्वेद, आदि की ऋचाओं में मिला। रामकृष्ण परमहंस के प्रभाव से हिंदुत्व प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय बन गया विवेकानन्द ने आत्मशक्ति जाग्रत करके सामाजिक कल्याण की प्रेरणा तथा तेज और ओज की भावना भरी । तिलक ने स्वाधीनता का शंखनाद फूंका । अरविन्द ने आध्यात्मिक एवं यौगिक साधना पर जोर दिया । हिंदुत्व की सार्वयुगीन उपयोगिता की क्षमता निःसन्दिग्ध रूप से विदित होगई । हिंदुत्व का भागीरथी कुछ दिनों तक सूखती -सी प्रतीत होने के बाद फिर उद्दीप्त वेग से गरजती हुई आगे बढ़ी ।

राम कृष्ण विवेकानन्द रामतीर्थ अरविन्द गांधी दयानन्द तिलक एवं विनोबा उस भागीरथी के पवित्रतम तीर्थस्थल हैं । एक महान सांस्कृतिक संग्राम छिड़ा । विजेता यूरोपीय संस्कृति और पराजित सी भारतीय संस्कृति । देवासुर संग्राम छिड़ा । ऐसे सांस्कृतिक संग्रामों में आज तक भारत कभी नहीं हारा और न आगे कभी हारने की संभावना है । भारत की जीत अभारतीय प्रवृत्तियों को आत्मसात कर लेने से हुआ करती है । भारत वही कर रहा है । समय अपने साथ अनेक नये अनुभव लाया और सब अन्ततोगत्वा उसी अतीत गौरव की अनुभूतियां की सरिता में घुल मिल गये । भारत ने सबको आत्मसात किया । एक अंगरेज का स्वतन्त्र भारत का प्रथम गवर्नर जनरल बनना मेरी दृष्टि में भारतीय संस्कृति की एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति—उदारता—का प्रतीक है । आज के हिन्दी प्रदेश एवं सम्पूर्ण भारत की आत्मा को देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि हम पश्चिम की नकल हैं और न कोई यह कह सकता है कि हम दकियानूसी हैं । जो सांस्कृतिक संकट हमारे ऊपर आया था वह नवचेतना आत्मचेतना और हमारी इसी समन्वयशीला प्रवृत्ति के कारण दूर हो गया है । ठीक यही स्थिति हमारे हिन्दी की है । वह न रीतिकाल की परम्परा में है और न पाश्चात्य साहित्य की बिलकुल नकल ही ।

हिन्दी ने पाश्चात्य तथा साहित्य के महत्वपूर्ण तत्त्वों को लगभग अपना

मात सा कर लिया है। जसे, हिंदुओ ने इस युग म मूल तत्वो का अध्ययन किया, ऊपरी रूपरेखा में हो नहीं उलझे, पूव और पश्चिम दोनो का गहराई से अध्ययन, मनन और विश्लेषण किया और अब समन्वय की ओर चल पडे हैं वैसे ही और उसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर हमारे साहित्यिक पूव और पश्चिम की साहित्यिक प्रवृत्तियो का अध्ययन मनन और विश्लेषण करके उन्हे आत्मसात करके उसका नवनीत हमारे सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य भारत के इस महान सांस्कृतिक जागरण की साहित्यिक अभिव्यंजना है। परिवर्तनशील स्थूलता का मोह छूट सा गया है। रूढियो और परम्पराओं से मुक्ति मिल गई है। पौराणिक, कर्मकाण्ड मूलक रूढि-प्रथा-परम्परा-रीतिरिवाज आदि अपने मूल और महत्वपूर्ण रूप मे आधुनिक हिंदी साहित्य मे कही नही है। आधुनिक हिंदी साहित्य एक सुधारोन्मुखी, उत्थान- रत एवं उदार जाति के मानस की साहित्यिक छवियों का आभास है। जैसे हमारे जीवन और समाज मे आज भी अनेक प्रकार की विकृतियां संकीर्णताएं एवं दुर्बलताएं हैं (जिनके कुछ कारण हैं राजनीतिक, कुछ सक्रान्तिकाल, आदि) वैसे ही आधुनिक साहित्य मे भी कुछ दुर्बलताए, कुछ विकृतियां और कुछ कमियां हैं किन्तु जैसे 'बाहर की इस काई को हटा लेने के बाद भारत के अन्तश्चेतन मानस मे जो-कुछ शेष रहता है उसके जोड का आज के संसार मे कुछ-भी देखने को नही मिलता'[1] वैसे ही निश्चित रूप से आधुनिक हिन्दी साहित्य के पास कुछ ऐसा है जो उसकी तमाम कमियों के होते हुए भी आज के संसार मे बेजोड है। पंत, 'प्रसाद' 'निराला', रामकुमार वर्मा दिनकर, महादेवी, प्रेमचन्द, वृन्दावन लाल वर्मा, रामचन्द्र शुक्ल हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी, आदि की कृतियों में ये अद्वितीय निधियां ढूंढी जा सकती हैं। आज के भारत म रीति रिवाज खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा आदि सबम आमूल परिवर्तन हो रहा है। हमने अपने अन्तर को पश्चिम के रंग में नही रंगा है। बाह्य रूप में पश्चिम की केवल वे ही चीजें अपनाई हैं जिन्हे हमारे विचार म, हमारी संस्कृति में निषिद्ध नहीं कहा गया है और जीवन धारा की गति के कारण जिनको अपनाने के लिये हम विवश हैं। पुराने-दकियानूसी लोग इन परिवर्तनों को भा नहीं सह पाते। वे आंखें मूंद लेने की कामना करने लगे हैं ध्यान देने की बात यह है कि हमारी संस्कृति के मूल तत्व, हमारी तात्विक मान्यताएं एवं हमारे मूल धार्मिक विश्वास अभी वैसे ही हैं—लगभग वैसे ही हैं। और जब तक ये अखण्ड हैं तब तक भारत अजेय एवं अमर है। अतु, चन्द्रगुप्त बुद्ध,

---

१ पंत कृत 'उत्तरा की भूमिका, पृ १२

अनार, रूप, पृथ्वीराज, अकबर, औरंगजेब, विक्टोरिया आदि के युगों के भारतीय रहन-सहन में बराबर परिवर्तन होते रहे हैं। इन परिवर्तनों के बावजूद भी यदि भारत महान एवं अपराजेय रहा है तो उसका कारण हमारे आत्मिक तथा सांस्कृतिक विशेषताओं का अमर रहना ही था। यही कारण है कि आज भी भारत का भावी भविष्य की सुनहरी कल्पना में प्रयत्नशील है। पहले हम मानते थे कि आदमी रोटी के बिना रह सकता है पर धर्म के बिना नहीं रह सकता। पश्चिम ने कहा कि तुम धर्म के बिना रह सकते हो पर तुम रोटी के बिना नहीं रह सकते। आत्मस्वरूप की खोज ने हमें विश्वास कराया कि दोनों ही जीवन हैं। रोटी के बिना धर्म शरीर-विहीन है और धर्म के बिना रोटी जीवन विहीन है। रोटी धर्म की और धर्म रोटी की रक्षा करे। समाज बदलता रहता है नए विचार आते रहते हैं और समाज में कालान्तर में फलने लगते हैं किन्तु कोई भी विचार चाहे कितना ही अमृत तत्वों से भरा क्यों न हो एकाएक ही समाज पर थोपा नहीं जाता। इसके पर भी समाज नव नव विचारों से परिपुष्ट तथा उन्नत होता रहता है। नव और अच्छे विचारों का उदय न होना मृत्यु है। अतएव यद्यपि यह ठीक है कि आत्मज्ञान से प्राप्त निर्णय अभी सारे समाज की सम्पत्ति नहीं बन सके किन्तु यह भी सही है कि उनसे समाज को अमरत्व मिला है।

इसीलिये यद्यपि आधुनिक हिन्दी साहित्य की विधाओं आदि में बहुत नवीनता मिलती है परन्तु उससे हमारी कोई हानि नहीं हुई क्योंकि आत्मबोधन प्राप्त तत्त्व हमें संजीवनी शक्ति दे रहे हैं। यूरोपीय सभ्यता की चमक-दमक की सम्मोहिनी शक्ति आज के भारतीय साहित्य एवं उसके एक अंग— आधुनिक हिन्दी साहित्य — को। यह स्वीकार किया जाने लगा है कि केवल भारत ही चाहे यहां ज्ञान और शक्ति का कितना भी क्षय या ह्रास क्यों न हो गया हो आध्यात्मिक आत्मा के मूल स्वरूप के प्रति निष्ठावान बना हुआ है भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है जो समष्टि रूप से अपने उपास्य देव का त्याग करने का युक्ति यन्त्र, व्यवसाय तन्त्र एवं अर्थ तन्त्र रूपी प्रबल प्रभुत्वशाली प्रतिमाओं पश्चिम के सफल लौह-देवताओं— के आगे घुटने टेकने से अब तक भी इन्कार करता आ रहा है उसकी गम्भीरतर प्रज्ञा ने नहीं, वरन् उसके स्थूल मन ने ही आढ्य होकर स्वतन्त्रता समानता और प्रजातन्त्र आदि अनेक पश्चिमी विचारों को स्वीकार किया है तथा अपने वेदान्तिक सत्य के साथ उनका समन्वय किया है अपनी विचारधाराओं में वह पहले से ही उन्हें एक भारतीय रूप प्रदान करने के लिये प्रयत्नशील है जो कि एक अध्यात्मभावित रूप हुए बिना नहीं रह सकता।[१] आज विनोबा की प्रार्थना सभाओं की महनत सेवा

---

१ अदिति नवम्बर, १६४६ ई०

म की', मेहनत वशी श्याम की' जैसी उक्तियां तथा मेहनत इंसान की दौलत गवान की' वाली धारणा इसी विचारधारा की ओर संकेत करती है। आज का ारतीय ऊपर से भले ही पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंग गया हो परन्तु अंतरतम वह भारतीय है। यह संभव नहीं कि वह संस्कृति की इस गंगा में स्नान किये बना और इससे प्रभावित हुए बिना रह सके।

मोतीलाल नेहरू से बढ़कर पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगा हुआ दूसरा व्यक्ति मिलना कठिन होगा किन्तु सर्वपल्ली राधाकृष्णन का कथन है कि अपने अंतरतम में मोतीलाल नेहरू भारतीय संस्कृति में विश्वास रखते थे।[1] हिन्दी इसी नव जागरण की एकमात्र सफल भाषा थी और यह नव जागृत व्यक्तियों के अंतर में इतनी रम गई थी कि पुरुषोत्तमदास टंडन ने अपनी कन्या दुलारी के विवाह में विवाह के मंत्रादि का हिन्दी में अनुवाद कराया और विवाह मंडप में केवल हिन्दी ही सुनी गई। भारतीय मानस कितना उदार है, इसके प्रतीक एक ओर औघड़दानी निराला थे और दूसरी ओर देहातों की वे भारतीय नारियां हैं जो किसी क्षुधार्त को बिना भोजन कराए नहीं जाने देतीं आज भारत का गांव गांव स्वावलम्बन सीख रहा है। सेवा करना सीख रहा है। बीसवीं शताब्दी के इस पूर्वार्द्ध में ऐसे असंख्य अनजाने व्यक्ति हुए जो स्वतन्त्रता की इस शानदार इमारत की नींव के पत्थर इस तरह बने कि इतिहास की आंखों से ओझल हो गये—विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गए। यह इमारत उन्हीं की आहों, कराहों, कष्टों और आपदाओं के ऊपर खड़ी हो सकी है। ये सारी बातें हिन्दी साहित्य में अभिव्यंजित हैं और हिन्दी साहित्यकों के जीवन में प्रत्यक्ष हैं। इस प्रकार आत्मस्वरूप की खोज के परिणामस्वरूप हमारे दृष्टिकोण बहुत बदल गए।

अतीत-दर्शन

जागृत होकर जातियां अपने विगत गौरवपूर्ण इतिहास की ओर देखती हैं। वर्तमान से उसकी तुलना करती हैं। इस तुलना से वर्तमान की अधोगति उनके हृदय में बेचैनी पैदा होती है और तब वे विगत युग की महानताओं से प्रेरणा लेकर अपने भविष्य का मार्ग निर्धारित करती हैं, भारत ने भी यही किया। उसका अतीत चूंकि असाधारण रूप से गौरवपूर्ण एवं उन्नत था अतएव वह उस पुराने वैभव से असाधारण रूप से प्रभावित हो गया। उसके हृदय में हिलोरें उठीं। गर्व से उसका सिर ऊंचा हो गया किन्तु वह वर्तमान को भी अस्वीकार न कर सका। कहा गया

1 मोतीलाल नेहरू जन्म शताब्दी स्मृति ग्रंथ' पृ० ८८

कि पहले आप चाहे जो-कुछ रहे हों, इस समय तो कुछ नहीं रह गये ? इससे प्रेरणा मिली अपने को फिर वसा ही उन्नत बनाने की। यूरोप की चमक-दमक का गौव आतंक समाप्त हो गया और भारत ने यह स्वीकार करना दृढ़ता पूर्वक अस्वीकार कर दिया कि वह हीन है। निजत्व की अनुभूति उद्भासित हुई। पुनरुद्धार एवं पुनरुत्थान के प्रयत्न प्रारंभ हुए। आधुनिक हिन्दी साहित्य पूर्व और पश्चिम की इन्हीं दो धाराओं के घात-प्रतिघात का परिणाम है। सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से इस घात प्रतिघात का परिणाम गांधीवाद के रूप में सामने आया था। इसी कारण इस हिन्दी साहित्य का गांधीवाद से अभिन्न संबंध स्थापित हो गया। स्वयं हिन्दी भाषा का आंदोलन भी इसी सांस्कृतिक आन्दोलन का एक अनिवार्य अंग था। १६ वीं शताब्दी के अन्त तक हमारा सांस्कृतिक पुनर्जागरण सशक्त एवं प्रभावशाली हो गया था। फिर भी उसको भारत की अपनी वाणी मिल पाई थी। वह किसी भारतीय भाषा द्वारा अभिव्यजित नहीं होती थी। यह एक कमी थी किन्तु इस कमी की पूर्ति भारत कर सकता था। इसकी ओर स्वामी दयानन्द ने क्रियात्मक रूप से संकेत कर दिया था। उन्होंने प्रमाण कर दिया था कि हिन्दी में ऐसा सामर्थ्य है कि यदि इस को ठीक ढंग से विकसित किया जाय तो हम विदेशी संस्कृति के साथ-साथ विदेशी भाषा की दासता से भी छुट्टी पा सकते हैं। संस्कृत हमारे संस्कारों की भाषा है, हिन्दी हमारे नवजागरण की भाषा है, अंग्रेजी हमारी हर तरह की गुलामी एवं हीनवृत्ति की सीमाओं जड़ताओं एवं लघुताओं की भाषा है। हिन्दी आधुनिक युग की हमारी जागृति की वाणी है। हिन्दी की सेवा के महत्त्व को समझने का सही दृष्टिकोण यही है। इस बात को केशवचन्द्र सेन समझ गये थे दयानन्द समझ गये थे, तिलक समझ गये थे गांधी समझ गये थे टगोर समझ गये थे विनोबा समझ गये थे और कमी राजगोपालाचारी भी समझ गये थे। इसीलिये हिन्दी प्रचार का पवित्र कार्य हुआ और इसीलिये अनेकों ने अपने जीवन की इस कार्य में-यज्ञ में-आहुति दे दी। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'रवीन्द्रनाथ की हिन्दी सेवा' नामक लेख में लिखा है 'हिन्दी भवन की स्थापना के समय उन्होंने इन पंक्तियों के लेखक से कहा था, तुम्हारी भाषा परम शक्तिशाली है। बड़े-बड़े पदाधिकारी तुम से कहेंगे कि हिन्दी में कौन-सा रिसर्च होगा भला ! तुम उनकी बातों में कभी न आना। हिन्दी को व एक ऐसी लोक भाषा मानते थे जिसकी अद्भुत और अमेय शक्ति अभी प्रकट नहीं हुई।''[1] इस हिन्दी के उत्थान के लिए-उसको सशक्त एवं सक्षम बनाने के लिये-हमें संस्कृत भाषा के व्याकरण और शब्दकोष का सहारा लेना पड़ा। यह भी उसी व्यापक सांस्कृतिक-आत्म

१ सरस्वती, १६४५ ई० पृ० ७२७

खोज-के आन्दोलन की प्रकृति के अनुरूप था। आत्मखोज के लिये हम संस्कृत साहित्य की ओर गये और आत्मखोज की अभिव्यक्ति के लिये संस्कृत भाषा की ओर। आत्म-खोज के आन्दोलन में संकीर्णता नहीं, समन्वय वृत्ति की प्रधानता थी और हिन्दीभाषा ने भी अँगरेजी उर्दू बंगला, आदि के अनेक तत्वों को अपने अन्दर समाविष्ट किया है। इधर सुनीतिकुमार चटर्जी ने हिंदी भाषा को रोमन लिपि में लिखने की वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सुझाव दिया था और संविधान सभा ने हिंदी अङ्कों को रोमन अङ्कों में लिखे जाने का। यह बात असांस्कृतिक है और इसीलिये अग्राह्य हुई। इस शताब्दी के प्रारम्भ में भी कभी यह बात उठाई गई थी और हिंदी की ओर से यह उत्तर दिया गया कि अंगरेजों में से किसी-किसी का मत है कि हिंदुस्तान में रोमन अक्षरों का सार्वदेशिक प्रचार होना चाहिये। पर रोमन अक्षर यहां के लिये बिल्कुल ही अयोग्य हैं।[१] असांस्कृतिक लोग आज तक हिंदी और हिंदी वालों को हीन दृष्टि से देखते हैं लेकिन संस्कृति की अमृत प्रेरणाओं से सम्पन्न हिंदी वालों ने अपने सुखों और प्राणों की बाजी लगाकर सारा झाड़-झंखाड़ समाप्त कर दिया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, 'समय पर कापी देता रहा कभी, एक बार भी, कोई हीला हवाला नहीं किया। न बीमारी बाधक हुई न सफर बाधक हुआ, न समयाभाव बाधक हुआ। जानबूझकर कभी इसके द्वारा मैंने अपनी लेखनी का दुरुपयोग नहीं किया। न किसी के कोप से विचलित हुआ न किसी के प्रसाद से कर्त्तव्यच्युत इसे बहुजन-प्रिय बनाने में मैंने कभी कसर नहीं की। अपने लाभा लाभ का कुछ भी विचार न करके सदा इसके पाठकों ही के लाभा-लाभ का विचार ध्यान में रक्खा। जो-कुछ लिखा केवल कर्त्तव्य-बुद्धि की प्रेरणा से लिखा। तिस पर भी समय-समय पर मुझ पर व्यक्तिगत आक्रमण हुए और अनेक दोषों का आरोप भी हुआ। मैंने न किसी की सेवा की है न किसी पर एहसान किया है —।[२] स्पष्ट है कि यह एक तपस्वी की वाणी है जिसने इस कर्त्तव्य के सम्पादन में अपनी आँखें खोदी। आत्म खोज से प्राप्त प्रेरणाओं ने हिन्दी के अनन्य सेवकों के प्राणों को इसी प्रकार ऊर्जस्वित कर दिया था। अस्तु, ऐसे तपस्वियों की साधना से सबलित होकर हिन्दी समर्थ हो गई और अतीत के गौरव, वर्तमान के असंतोष तथा भविष्य के सपनों को वाणी देने लगी। नवीन प्राणों का स्पन्दन उसमें प्रकट होने लगा। काशी प्रसाद जायसवाल जैसे विद्वानों ने भारतीय इतिहास के गौरव का अध्याय खोल दिया। राहुल देश-देश की धूलि चरणों से रोदकर विश्व के कोने कोने में बिखरी भारतीय संस्कृति को

१ सरस्वती १९०५ ई० पृ० ३१३
२ 'सरस्वती' जनवरी, १९२१, पृ० २

टुकड़ों से अपनी झोली म भर लावे । यह आत्मश्लाघा की खोज थी । एडविन आर्नल्ड की लाईट आफ एशिया और राधाकृष्णन की व्याख्याओं ने बुद्ध का गौरव निरूपित किया । देश का कण कण इस आत्मश्लाघा की लाज से मास्वर हो उठा । बच्चन ने लिखा है कि उनके विद्यार्थी जीवन म प्रताप के मोटो की य पंक्तियाँ नगर नगर म गूँज रही थी जनके लक्ष्य दास प्र महावीर प्रसाद द्विवेदी थे— जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है वह है नहीं नर, पशु निरा है और मृतक समान है।'[१] हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी आओ विचारें आज मिल कर ये समस्याएँ सभी[२] का आह्वान देकर सबको आत्मखोज की ओर प्रवृत्त करने वाली भारत भारतीय उत्तर भारत की गीता बन गई ।

हमारे गौरव के एक प्रतीक शिवाजी की चरित्र-निष्ठा को अभिव्यजित करने वाला रामकुमार वर्मा का 'शिवाजी नाटक असाधारण रूप स लोकप्रिय हुआ । प्रसाद के नाटक हमारे इतिहास के गौरवपूर्ण व्यक्तियों को सामने लाने लगे । सभवत पहली बार प्रसाद ने ही अपने चन्द्रगुप्त नाटक में सिकन्दर की भारत मे पराजय दिखाई थी जो बाद मे गोविन्द दास के शशिगुप्त नाटक में भी अभिव्यजित हुई । हमारा साहित्य —उपन्यास और नाटक विशेषकर— हमारे इतिहास के इन गौरव चिह्नो को अन्तरित करने लग गया । एतिहासिक नाटकों और कहानियों की एक समृद्ध परम्परा ही चल पडी । उस युग की कविता भी इस आत्मखोज म आन्दोलन स सप्राण बनी कामायनी की कथा का आधार भारतीय ग्रन्था म बिखरी हुई सामग्री है । इन ग्रन्थो म शतपथ ब्राह्मण ऋग्वेद तथा छान्दोग्य उपनिषद का उल्लेख स्वय कवि ने किया है । गीता उपनिषद महाभारत आदि की बाते भी उसमे हैं । भारतीय संस्कृति के एक अमूल्य रत्न—श्रद्धा—को उसम सवप्रधान रूप से मूर्त किया गया है और जीवन एव आत्मा पर पडने वाले उसके अमृत प्रभाव को अभिव्यजित किया गया है । निराला के काव्य के सभी स्वर भारतीय संस्कृति की वीणा के है । दीन-दुखी कातर एव असहाय के प्रति निराला की करुणा—ममता—उनको मानव विगलित विशुद्ध मानवीय दृष्टि— बुद्धि करुणा से कम नही थी । वे रामकृष्ण परमहंस विवेकानन्द और भारतीय संस्कृति के रहस्यवाद के रग मे डूब थे । पल्लव काल म पत परमहंसदेव के वचनामृत तथा स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के विचारो के सपर्क म आ गये थे । गांधी का आमन्त्रण उन्हें प्रिय था और 'स्वर्ण किरण'

१ नये पुराने झरोखे पृ० १२०
२ मैथिलीशरण गुप्त कृत भारत भारती

वराधूत' आदि तक आते आते वे अरविन्द से भी प्रभावित हो चले थे। रामकुमार र्मा और महादेवी वर्मा का रहस्यवाद विशुद्ध रूप से भारतीय अमृत तत्वों से अनु णित है। और, इन पर सबके द्वारा प्रवर्तित छायावादी आन्दोलन ? प्रायः लोग हते हैं कि इस पर रवीन्द्र नाथ टैगोर का प्रभाव है और अंगरेजी के रोमांटिक रा के कवियों का प्रभाव है। थोड़ा- बहुत प्रभाव है इससे इन्कार नहीं किया जा कता किन्तु प्रमुख तत्व प्रभाव नहीं होता, प्रमुख तत्व वह होता है जिस पर प्रभाव डता है इस आन्दोलन पर पड़ने वाले ये बाहरी प्रभाव प्राय भाषा शैली के ही पर तक रह गये। उसके भीतर का तत्व खरे-निखरे रूप में वही है जो हमारे त्मस्वरूप का खोज से मिला है - सर्वात्मवाद। साकेत' यशोधरा' प्रियप्रवास, ामायनी कृष्णायन, आदि जो महाकाव्य लिखे गये उनमें अपने आयधर्म, पनी आय सभ्यता और अपनी आय संस्कृति का ही युगानकूल सुंदर रूप मिलता । हजारी प्रसाद द्विवेदी ने असहयोग आन्दोलन के विषय में जो लिखा है वह हिंदी ाहित्य के लिये भी पूर्णत सही है। उनका कहना है यह संपूर्ण देश का आत्मस्व र समझने का प्रयत्न था और अपनी गलतियों को सुधार कर संसार की समृद्ध ातियों की प्रतिद्वन्द्विता में अग्रसर होने का सकल्प था। संक्षेप में यह एक महान ांस्कृतिक आंदोलन था आधुनिक काल में आत्मविश्वास की ऐसी प्रचंड हर इसके पूर्व कभी इस देश में नहीं दिखाई पड़ी थी। इस महान आंधी न ने भारतीय जनता के चित्त को बंधन-मुक्त किया। यही बंधन-मुक्त चित ाव्यों, नाटकों और उपन्यासों में नाना भाव से प्रकट हुआ।[१] आत्मस्वरूप की खोज परिणामस्वरूप ही हिन्दी साहित्य ने मौलिक रूप से धर्म का पल्ला आज भी नहीं ोड़ा है। यही युग और धर्म समन्वय स्थापित करने का प्रयास है। इसी आंदोलन परिणामस्वरूप आज हमें वह दृष्टि मिल गई है कि हम अपने महत्व का वास्तविक ल्यांकन करके अपने को हीनभावना से मुक्त कर सकें। इसी दृष्टि के परिणामस्व प आज हम सोचने लगे हैं कि सांस्कृतिक दृष्टि से सूर और तुलसी शेक्सपियर से न ान कितने आगे हैं। विहारी कला और भूषण का जातीय शौर्य अंगरेजी साहित्य किस कवि से कम है! हमें दोष देने वाले हमारी शील और क्षमता की प्रशंसा हीं करते कि पचास वर्षों के अन्दर ही हमने एक नई क्रांति कर दी — भाषा के एक ये रूप को इतना साहित्यिक सामर्थ्य दे दिया। यह सही है कि प्रत्येक संस्कृति के ौन्दर्य और कला के प्रतिमान का दृष्टिकोण अलग अलग होता है किन्तु यदि वे सब हीं एक प्रतिमान ना सकते हैं तो उसे दृष्टि में रखकर मैं कह रहा हूँ कि शुद्ध काव्य

१ हिन्दी साहित्य, पृ ४५१

कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से 'रत्नाकर' का साहित्य—विशेषतः 'उद्धव शतक'—विश्व साहित्य की सर्वप्रथम एवं सर्वोच्च श्रेणी में आयेगा और हिन्दी का यह एक कृष्ण वर्ण सेवक सैकड़ों गोरी चमड़ी वाले कवियों के आगे-आगे चलने का अधिकारी होगा, हाँ, दृष्टि निरपेक्ष अवश्य हो (विश्व-सुन्दरी की प्रतियोगिता के पारखियों-जैसी न हो!)। रत्नाकर का साहित्य आधुनिक युग की रचना है। निश्चित है कि यह शक्ति और सामर्थ्य इसी आत्मस्वरूप के खोज की साधना में लगने के परिणामस्वरूप मिली है।

अध्याय-१२

जीवन, दृष्टिकोण और सस्कृति

हमारी जीवनी शक्ति—सस्कृति का सीमा प्रान्त मात्र प्रभावित परन्तु उसका भी भयानक बाह्य प्रभाव—फिर भी हम अजेय—हमारा शत्रु विकृत अ गरेज—एक मात्र धर्मदृष्टि बचा—उत्थान की प्रक्रिया—सबका पुनरुत्थान—नई व्याख्या—पुराने लोग भी बदले—पुनर्जागरण का शुभ प्रभाव—समन्वय—आधुनिक युग में भी आधुनिक नहीं—देहात का जीवन—शहर का जीवन—मध्य वग—इस वग म परिवतन—अ गरेजी राज्य म भारत का जीवन—एक सामान्य दृष्टि—विचित्रताओं स भरा हुआ भारत और उसका दृष्टिकोण।

जीवन, दृष्टिकोण और संस्कृति

हमारी जीवनी शक्ति—

काल के अनन्त प्रवाह में भारतवर्ष ने—विशेषतः हिन्दी प्रदेश ने—विषम परिस्थितियों एवं प्रतिकूलताओं के अनेक आघात सहे हैं। हमारी जीवनी शक्ति की परीक्षा भी होती चलती है और साथ ही साथ शक्तियां हमको जीवन सत्व के तत्व भी प्रदान करती जाती हैं। वे असंख्य ऋषि मुनि (जिनके आज हम नाम भी नहीं जानते किन्तु जिनकी साधना क्षमताओं ने हमें अनन्त जीवनी शक्ति सम्पन्न तत्व दिये हैं), वेद उपनिषद् गीता ब्रह्मसूत्र पुराण शास्त्र स्मृतियां मनु, बुद्ध पाणिनि, कौटिल्य, आदि आज भी हमारे जीवन को सक्रिय रूप से प्रभावित कर रहे हैं। किराये आदि कुछ विकृत मस्तिष्क वाले लोग कहें कि जो कुछ भारतीय है वह सब निकृष्ट है किन्तु इनके कहने से कुछ होता नहीं। भारतीय जीवन उपयुक्त तीर्थ-स्थानों एवं पवित्र स्रोतों वाली भागीरथी से ही जीवन पाकर सस्पृत एवं सक्रिय होता रहा है और हो रहा है और इसी कारण विश्व भारत को सांस्कृतिक उपनिवेश बनाने की इच्छा रखने वालों की, कामी मूर्खों की एवं मानसिक विकृतियों की तृप्ति की इच्छा रखने वालों की कुदृष्टियाँ कभी पूरी नहीं होने पाईं। भारत एक अनोखा देश है। आक्रामक आये हैं, जीता है तथा तामसी उद्देश्यों एवं पाशविक प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर क्रूरता पूर्वक हम शताब्दियों तक सताये हैं और इन सबके बावजूद भी भारत की जीवन धारा अनवरत रूप से प्रवाहित होती रहा है। इतिहास के सम्पूर्ण युगों में भारत ने उसी प्रकार का जीवन बिताया है जिस प्रकार की रूपरेखा उसने प्रागैतिहासिक युग में बनाई थी। यह भारत की गतिहीनता का द्योतक नहीं, भारत की दूरदर्शिता, कल्पना-शक्ति और उसकी योजना की शक्तियों की प्राणवत्ता का द्योतक है। भारतवर्ष ने झुकना जाना है टूटना नहीं और बहुत दिनों तक महत कर अन्तिम में वह जीत भी जाता है। भारतवर्ष पर दो आक्रमण बहुत ही शक्तिशाली हुए। पहला था आठवीं शताब्दी में इस्लाम का और दूसरा, १८ वीं शताब्दी में ईसाइयत का। ये दोनों आक्रमण द्विमुखी थे। आक्रमण के तलवार की एक धार राजनीति-क सम्बन्धी थी और दूसरी धर्म-संस्कृति सम्बन्धी। दोनों में से पहली कुछ

समय के लिये सफल हो गई थी परन्तु दूसरी की सफलता के दर्शन के लिये घनघोर आशावादियों को अभी अनन्त काल तक की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। आक्रमकों ने यदि भारत को अपने रंग में रंगना चाहा तो इस दृष्टि से उनका कोई दोष न था कि उन्होंने यूरोप, अफ्रीका, अमरीका, आस्ट्रेलिया और एशिया में अनेक देशों की अपनी संस्कृतियों के पुराने रूप को सर्वथा नष्ट कर दिया था, गलती केवल यह हुई कि वे भारतीय संस्कृति के अमृत तत्त्व को पहचान नहीं पाये थे।

सस्कृति का सीमा प्रान्त मात्र प्रभावित परन्तु उसका भी भयानक बाह्य प्रभाव—

आक्रामक संस्कृतियां भारतीय संस्कृति के सीमा प्रान्त मात्र को छू सकीं। धूल-भरे मजबूत वस्त्र पर पड़ने वाला उड़ा जैसे उसकी गर्द को ही उड़ाने में समर्थ होता है वैसा ही कुछ यहाँ भी हुआ। उत्तरी भारत के कुछ भाग और दक्षिणी भारत की कुछ रियासतें और वहां भी शहरों और राज्यों से सम्बन्धित कुछ वर्ग विशेष ही इस्लामी संस्कृति से विशेष रूप से प्रभावित हुए थे। साधारण जनता के सांस्कृतिक जीवन को यह संस्कृति प्रभावित नहीं कर पाई थी। देश का लगभग ८५ प्रतिशत जनता अपनी उसी परम्परागत संस्कृति के प्रभावों में पलती रही जो सारे देश में एक से हैं। देश के दो भाग हुए—(१) राज्य से सम्बन्धित नागरिक, और (२) सामान्य जनता। पहले की रीढ़ की हड्डी में घुन लग गया था। पाश्चात्य संस्कृति, जब भारत में आई तो उसका पहला जबरदस्त आक्रमण इसी पहले वर्ग वालों पर हुआ। घुन लगा ही था। रक्षा की सब प्रथम पंक्ति-सिंह-द्वार टूट गया। सेना सेनापति विहीन हो गई। एक एक करके राजा हारते गये और प्रजा कसाई के हाथ में पड़े मेमने की तरह जिबह होती गई। वे जीतते गये और ज्यों ज्यों जीतते गये त्यों-त्यों हारने वालों की चेतना और उनके जीवन को शासन शृङ्खला से बांधते गये। अलग अलग प्रान्त बन गये। प्रान्त निर्माण की इस प्रक्रिया के पीछे कोई भी सांस्कृतिक दृष्टिकोण नहीं था। इसमें हमको विभाजित करने की कूटनीति मात्र थी। हम हार गये। हम झुक गये। सदैव के लिये नहीं तब तक के लिए जब तक कि हम फिर सर उठाने के योग्य न हो जाएँ।

फिर भी हम अजेय—

अखाड़े में कुश्ती होती है तो गिरने वाला पहलवान हारने वाला नहीं होता। गिरते गिरते वह प्रायः यह सोचने लगता है कि कैसे करें कि हम चित्त न होने पाएं। कभी कभी पहले गिरने या नीचे हो जाने वाला जीत भी जाता है। हिन्दू जाति दंगलों में जमीन पर पहले आ जाती है परन्तु 'चित्त' आज तक कभी नहीं

हुई। यह विचित्र बात है कि १८५७ ई० हमारी अंगरेजों की पराधीनता का वर्ष है परन्तु अपने उद्धार का उपाय—पुनर्जागरण की हलचल—हमने १८२० ई० के ही आस पास से प्रारम्भ कर दी थी। गिरने के पहले पहलवान समझ गया था कि हम गिरने वाले हैं और बचत के उपाय के लिये उसकी अन्तर्चेतना सक्रिय हो उठी थी।

हमारा शत्रु विभक्त अंगरेज—

ध्यान देने की एक बात और है। थोड़ा आगे पीछे भारत में दो इंगलैंड आये। इंगलैंड या पाश्चात्य सभ्यता के भारत में आने समय यदि भारत सामान्य जनता तथा उच्चवर्ग के लोगों में—इन दो वर्गों में—विभक्त था तो भारत में आने वाला इंगलैंड भी विभक्त था। एक का प्रतिनिधित्व हैस्टिंग्स, क्लाइव डलहौजी ने किया और दूसरे का बर्क सी मिल आदि ने। इस्लाम विभक्त होकर नहीं आया था पूरोप स्वतः विभक्त होकर आया। यूरोप या इंगलैंड को भारत में अप्रिय बनाने वाला वर्ग वही पहला था। वे और उनके द्वारा नियुक्त अंगरेज अफसरों की एक झांकी जवाहरलाल नेहरू ने बड़ी कुशलता से उपस्थित की है।[१] अंगरेज भारत में अपने को एक विजयी सेना का सैनिक समझता था। अंगरेज और भारतीय [१] प्रत्येक दूसरे से ऊबता था और उससे अलग होकर आजादी की सांस लेता था। स्वाभाविकता पूर्वक घूमता था। प्रसन्न होता था। दो नस्लें थी दो संस्कृतियां थी ? भारतवर्ष में अंगरेजी राज्य ने अंगरेजो और भारतीयों—दोनों के बीच एक सरकारी वर्ग (अफसरों या साहबों वाला वर्ग) पैदा कर लिया। यह वर्ग जड़ बुद्धि, मूढ़ और संकुचित मस्तिष्क वाला होता था। वास्तविक भारतीय यदि वास्तविक अंगरेज से मिलता तो शायद ऐसा अनुभव न होता। भारतीय अंगरेज दफ्तर में काम करता था तथा फाइलों में गड़ा रहता था और जब निकलता था तो सीधे क्लब में घुस जाता था जहां विलायती उत्तेजक तस्वीरों वाले अखबार और भद्दे—भोंडे मजाक, आदि का वातावरण रहता था। वहां से लौटता था तो या तो खाना खाना या फिर चापलूसों से घिरे रहना पड़ता था। यह जीवन श्रम—विहीन और उच्चताओं से रहित होता था। परिणामतः धीरे—धीरे ह्रास प्रारम्भ हो जाता था। परिस्थितियों का परिहास यह है कि अंगरेज इस पतन के लिए भारत की जलवायु को दोष देता था और भारतीय, अंगरेजों के स्वभाव को। इस प्रकार, 'ब्रिटिश जाति का भारतीय संस्कृति से परिचय विद्वान और विचारशील प्रतिनिधियों के द्वारा नहीं हुआ था प्रत्युत् भारतीयता से उनका परिचय राजनीतिक क्षेत्र के बीच हुआ था और राजनीतिक क्षेत्र में

१—आटोबायग्राफी पृष्ठ २७ से २८ तक

दानो और ऐसे व्यक्ति थे जिनका चरित्र ऐसा न था जिसके प्रति श्रद्धा होती।'[1] यही कारण है कि दो शताब्दियों के सम्पर्क के बावजूद भी अंगरेज भारतीय जीवन दृष्टिकोण, प्रवृत्ति तथा आशाओं एवं आकांक्षाओं का समझ नहीं पाया और शायद इसीलिए हि ी को एक भी उच्चकोटि का अंगरेज साहित्यिक प्राप्त न हो सका। भारत न तो फिर भी अंगरेजी साहित्य को टगोर सरोजिनी गाधी, नेहरू राधा कृष्णन, आदि दिये किन्तु अनुदारता दकियानूसीपन, रूढ़िवादिता, अहंकार एवं हीनता की ग्रंथि मे ग्रस्त इंगलैंड ने हम एक भी साहित्यिक नहीं दिया। इसके विप रीत उन्होंने जो दिया उसका परिणाम यह हुआ कि भारत को मानसिक दासता, निराशा और उसकी प्रतिक्रिया के स्वरूप मुक्ति की छटपटाहट मिली। अस्तु आधु निक हिन्दी साहित्य के कलाकारों को विशेषताए हुई जीवन और जगत के बाह्य और आन्तरिक रहस्यो को समझने की मार्मिक व्याकुलता और निराशा एवं उपेक्षा के आघात से उत्पन्न प्रचण्ड मननशीलता। सम्भवतः इतिहास मे पहली बार भारतीय मस्तिष्क एवं प्रतिभा का सन्तुलन बिगड़ गया। पहली बार हममे से बहुत इतने अध पतित हो गये कि उन्हें अंगरेजों का राजनीतिक दासता सुखकर लगने लगी। सिडे की तौलिया प्यारी लगीं! आक्रामक की-सशासकी सभ्यता और संस्कृति अच्छी लगने लगी! उनकी भाषा और उनके साहित्य के हम गुलाम हो गये। भारत, भारतीय और भारतीयता हमे चुभने लगी। मथिलीशरण गुप्त ने लिखा कि हम — हैं भार तीय, पर तु हम बनते विदेशी सब कहीं।[2] अपना उपहास हम स्वयं भी करने लगे। 'भाई, इण्डियन टाइम से आए हैं —कहने मे हम तनिक भी क्षोभ नहीं होता था! व्यावहारिक, बुद्धिवादिता, बुद्धिमानी समझदारी यथार्थ दृष्टि, स्वाभाविक कमजोरी मजबूरियाँ, तथ्यों युक्तियुक्तता उदाहरण कार्य-कारण शृङ्खला जाति-गत कमजोरी ऐतिहासिक कमजोरी दार्शनिक कमजोरी भौगोलिक कारण, मानवीय मजबूरियाँ और कमजोरियों भाषा एवं साहित्य-सम्बन्धी उदारता, भारत की सांस्कृतिक उदा रता भारत की सांस्कृतिक प्रकृति हठधर्मी जबरदस्ती आदि हजारों तर्क कुतर्क, वितर्क एवं मन वचन तथा कर्म से हम अपनी अंगरेज भक्ति अंगरेजों के प्रति होने वाली तारीफ चापलूसी तथा उनकी निरमतगारी और अंगरेजियत प्रियता या मान सिक गुलामी का समर्थन या बचाव करने लगे। भौतिकवाद की लहरें भारतीय अध्या त्मवाद के किनारों से टकराने लगीं। लगा कि हमारे सभी आदर्श और सिद्धान्त बह जायेंगे। धर्म और बौद्धिकता की टकराहटें हुई। इस टकराहट के परिणामस्वरूप

१ 'आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत' पृष्ठ २५
२ 'भारत भारती', पृष्ठ १५१

हमें पाश्चात्य सभ्यता भी दोषपूर्ण लगने लगी। हम विभिन्न मान्यताओं और आशाओं से भरे एक चौराहे पर खड़े हो गये। धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं ने जो विधि निषेध निर्धारित किये थे वे निरर्थक हो चले। नवीन नैतिक और आध्यात्मिक मान्यताएं अभी स्थापित नहीं हो पायी थीं। अस्तु व्यवहार में आने वाला धर्म वास्तविक जीवन से अलग हो गया। बौद्धिकता या हेतुवाद हमें और छिटकने लगा। पुरानी सभ्यता अनुपयुक्त लगी तथा पाश्चात्य सभ्यता अग्राह्य, अपर्याप्त एवं असमर्थ।

एकमात्र धर्म दृष्टि बची—

सब कुछ खो देने पर भी भारत के कुछ महाप्राण व्यक्तियों ने धर्म-दृष्टि नहीं खोई थी और अनुभूतिशील हृदय को जड़ पाहन नहीं बनने दिया था। ईसाइयों की हिन्दुत्व-विरोधी सरगर्मियों ने हिन्दू विचारकों को अपने वेद-उपनिषद्-गीता-आदि को फिर से उलटने के लिए बाध्य कर दिया क्योंकि धर्म हिन्दुत्व का मर्म स्थान है। यहां उसके प्राण रहते हैं। हिन्दू जाति का सबकुछ छीन लीजिए नष्ट कर दीजिये, बदल दीजिए और वह शान्त रहेगा उसके धर्म पर चोट कीजिए, वह आपको कभी क्षमा नहीं कर सकेगा क्योंकि तब वह तिलमिला उठेगा। नव-सांस्कृतिक पुनरुत्थान रूपी भागीरथी का ब्रह्म कमण्डल या गङ्गोत्री यही है।

उत्थान की प्रक्रिया—

इसी धर्म के कारण हम असाधारण गर्व से फिर सिर उठाने लगे। हम यह भी अनुभव करने लगे कि हमारा यह विरोधी हमसे कहीं छोटा है। तब यूरोपवासियों का हमारे साथ होने वाला व्यवहार हमें खलने लगा। हम अनुभव होने लगा कि दुनिया वाले हमें कितनी ओछी निगाह से देखते हैं। इसका अनुभव बाहर पढ़ने के लिए गये हुए एवं बाहर व्यवसाय में निरत गये हुए भारतीयों को विशेष रूप से हुआ। रंग और नस्ल के पक्षपात का भी अनुभव हुआ। इसका कारण यह भी मालूम हुआ कि हम विदेशी जाति के आधीन हैं। हमारी राजनीतिक जागृति का भी युग आया। पुराना और पुराने ढंग की खेती को भी हमने अपनी हीनता और असमर्थता का कारण समझा। सामाजिक कुरीतियों पर भी दृष्टि गयी। दूसरे देशों में होने वाली नई-नई खोजों और आविष्कारों की ओर भी हमारी दृष्टि गयी और इस प्रकार हमने इस क्षेत्र की भी अपनी असमर्थताएं एवं अक्षमताएं देखीं। निद्रा आलस्य निष्क्रियता आदि का युग खत्म होने को आ गया। नया युग आता हुआ दिखाई पड़ा। यूरोपीय पंडितों ने संस्कृत साहित्य का अन्वेषण, उद्घाटन, अध्ययन और मनन किया और उसके महत्व को स्वीकार किया। हमारी आँखें खुलीं। पुनर्जागरण की प्रक्रिया

मिला। विश्वास को बल और मुक्ति मिली। अन्धविश्वासों पर विधान का प्रहार पड़ा। आलस्य प्रगति में परिवर्तित हुआ। निराशा व उदासीनता पस्ती एवं धर्मविहीन नियतिवाद आवेगपूर्ण सुधार कार्यों में भस्म गया। बी० एन० लुनिया ने लिखा है भारतीय पुनर्जागरण भारतीय सांस्कृतिक जीवन की नवीन यौवनावस्था है जिसने बिना प्राचीन सिद्धान्तों को तोड़े नवीन वेशभूषा धारण कर ली है। प्राचीन भारतीय संस्कृति ने ही वह मूलाधार प्रदान किया है जिस पर वर्तमान नवाभ्युत्थानी भारत ने अपना भव्य भवन निर्मित किया है। इस प्रकार भारतीय पुनर्जागरण प्रमुखतः एक भावना का विषय है जिसने राष्ट्र के विकास की मांग के साथ-साथ धर्म समाज और संस्कृति में विलक्षण परिवर्तन कर दिये हैं। एक नवीन आत्मजागृति की भावना का प्रादुर्भाव हुआ है। भारतीय आत्मा की ज्योति विकसित हो रही है और भारत वर्तमान काल और भूत काल के विदेशी वातावरण द्वारा उत्पन्न बेड़ियों को तोड़ रहा है—इस पुनर्जागरण ने भारतीय आत्मा को उसकी गहराई तक हिला दिया है—(इसने)—राष्ट्रीय जीवन के लगभग समस्त क्षेत्रों को प्रभावित किया—यह तो पुनर्जागृत राष्ट्रीय भावना-द्वारा आत्म-अभिव्यक्ति की नवीन सृजनात्मक अन्तःप्रेरणा की खोज करने का प्रयास है जिसने दिव्य पुनर्निर्माण के हेतु नवीन आध्यात्मिक बल दिया —।[1] हमारा चिन्तन सूक्ष्म भी हो चला और व्यापक भी। हम विशुद्ध सत्ता के विषय में भी सोचने लगे और विश्व सत्ता के विषय में भी। हमने मन मनोविज्ञान और आत्मा की बातें भी सोचीं तथा इतिहास जीवन समाज और राजनीति की भी। अरविन्द ने लिखा, अतः हमारे सामने दो सत्य हैं—एक विशुद्ध सत्ता और द्वितीय विश्व सत्ता— सत्ता का सत्य और जाति का सत्य। किसी एक को अस्वीकार करना आसान है किन्तु सच्ची और फलवती योग्यता तो चेतना के सत्यों को समझाने और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के उद्घाटन करने में है।[2] नैतिक उत्थान की ओर भी हमारा ध्यान गया और पतन तथा दानवीय वृत्तियां हमको चुभने लगीं। जे० बी० कृपलानी का यह कथन है कि कांग्रेस ने देश का विभाजन इसलिए स्वीकार किया कि यदि हम इस प्रकार एक दूसरे से कत्ल करने के लिए वार करते रहे तो अन्त में हम नरभक्षी राक्षस या उससे भी ज्यादा पतित हो जायेंगे।[3] इस प्रकार नैतिक उत्थान की चाह ने हमें

१ भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृष्ठ ४३० ४३१

२ दिवाइन लाइफ प्रथम भाग ११६

३ पट्टाभि सीतारामय्या कृत कांग्रेस का इतिहास से उद्धृत

हानि उठा सने की शक्ति दी। इसी पुनरुत्थान की पृष्ठभूमि में हमारा जीवन-दृष्टिकोण बदला और टैगोर ने १९०४ ई० में लिखा कि आज हम समझ गये हैं कि कहीं दूर जा कर अपने को छिपा लना आत्मरक्षा नहीं है बल्कि अपने को सुरक्षित रखने का सही रास्ता है अपने अ दर निहित शक्तियों का जागरूक करें लेना।[1] बीसवीं सदी की हमारी समस्त क्रियाशीलताएँ अपने अन्दर निहित शक्तियों को जागरूक करने के लिए ही थी। वेश्याओं के नृत्य का विरोध करके हमने अपने सामाजिक मनोविनोद या मनोरंजन को विशुद्ध करना चाहा। वैदिक शिक्षा, गुरुकुल प्रणाली, बेसिक शिक्षा, राष्ट्रीय-शाला शान्तिनिकेतन आदि के द्वारा हमने शिक्षा-शक्ति को जागरूक और प्रभाव-शाली बनाना चाहा। नारी-शिक्षा नारी-स्वतन्त्रता पर्दे का विरोध, बाल-विवाह का विरोध और विधवा-विवाह के समर्थक आदि के द्वारा नारी-शक्ति को जागरूक करके पुनरुत्थान द्वारा समाज का उन्नति का प्रयत्न किया। अंधविश्वास एवं धार्मिक रूढ़ियों के विरोध द्वारा धर्म को शुद्ध एवं जागरूक किया। सामाजिक रूढ़ियों समुद्र-यात्रा-निषेध आदि के विरोध द्वारा सामाजिक शक्ति को जागरूक किया। अछूतोद्धार और शुद्धि आंदोलनों के द्वारा जाति को संगठित करना चाहा।

नई व्याख्या—

इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर हम बातों को नये ढंग से समझना पड़ा। पुराने लोग हर उस व्यक्ति को नास्तिक कहते थे जो किसी प्रचलित रूढ़ि का खंडन या उल्लंघन करता था। नयी जीवन-गति में इनका उल्लंघन अनिवार्य था। इस लिए आवश्यकता पड़ी कि नयी-नयी व्याख्याएं की जाएं ताकि व्यक्ति बहिष्कृत हो कर विघटित न हो जाय या पराया न हो जाय। इस दृष्टि से भगवान दास की समन्वय नामक तथा सा गुरु जी की भारतीय संस्कृति नामक पुस्तकें बहुत ही महत्व पूर्ण हैं। देश की आवश्यकता, अपनी साधना और अपनी सूझ के अनुसार गांधी ने भी मूल्यों, मान्यताओं एवं धारणाओं को बदला है। प्यारेलाल द्वारा लिखित 'दि लास्ट फज' और दादा धर्माधिकारी द्वारा लिखित 'सर्वोदय दर्शन' में इस तरह की नवीन व्याख्याएँ प्रचुर संख्या में मिलती हैं। दादा धर्माधिकारी लिखते हैं, 'आज लोक-सत्ता सन्दर्भ में, आस्तिक वह है जिसकी मनुष्य की मूलभूत सत्प्रवृत्ति में विश्वास है जो यह मानता है कि मनुष्य मूलतः सत्प्रवृत्त है और परिस्थिति ज य

१ 'टुवडस यूनीवसल मन', पृष्ठ ६५

विचारों से ही यह दृढ़ होता है।[१] गांधी जी की व्याख्या के अनुसार स्वदेशी 'हमारे अन्दर की वह भावना है जो सुदूर स्थित वातावरण की उपेक्षा करा कर हमें मात्र निकटवर्ती वातावरण का सेवा और उसके उपयोगी का ही ओर सीमित करती है।[२] दादा धर्माधिकारी इस स्वदेशी को 'स्वावलम्बन एवं परस्परावलम्बन' मानते हैं। जो लोग सुधारकों तथा सुधारक संस्थाओं के प्रभाव में आए वे पूरी तरह से बदल गए।

पुराने लोग भी बदले—

इनके अतिरिक्त जो केवल या नाम रूप में पुराने को ही मानने वाले थे उनमें भी परिवर्तन हुए। उनके विचारों की जड़ता में कमी हुई। उन्होंने 'नयी हवा' या जमाने के रुख के अनुसार या तो रूढ़ियों को बदला या उनकी नयी एवं वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। चोटी इसलिए रखनी चाहिए कि उसके द्वारा ज्ञान के कोष 'मस्तिष्क' की रक्षा होती है और चोटी में तेल लगाने से तो दिमाग को तरावट मिलती है। यज्ञोपवीत हमारे तीन ऋणों की याद दिलाने के लिए है। खड़ाऊँ से पैर के अंगूठे के पास की एक नस दबती है और इससे बीमारी जाती रहती है। इस तरह की अनेक बातें कही गयी। इसी क्रम में पौराणिक कथाओं एवं उपाख्यानों को भी तर्कसंगत रूप में उपस्थित किया जाने लगा। देवी-देवताओं के स्वरूप की भी ऐसी ही वैज्ञानिक व्याख्याएँ उपस्थित की गयीं। इनका एक मात्र उद्देश्य अपनी संस्कृति और सभ्यता को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझना और अपने वास्तविक महत्व को पहचान कर आत्मगौरव की प्राप्ति करके आगे की उन्नति के पथ पर अग्रसर होना था। परिणामतः रूढ़िवाद आपादमस्तक हिल गया।

पुनर्जागरण के शुभ प्रभाव –

इस पुनर्जागरण का एक प्रभाव तो यह हुआ कि हमारी कमियों एवं दोषों का निराकरण होने लगा और हम कुछ उदार मनोवृत्ति के हो गये और दूसरा परिणाम यह हुआ कि पाश्चात्य सभ्यता और अंगरेजों का रोब हमारे ऊपर से हटने लगा। रोब तो हटा किन्तु चूँकि हम घृणा किसी से नहीं करते और सब की अच्छाइयों पर विश्वास करते हैं एवं मधुप-वृत्ति वाले हैं अतएव हमने पश्चिम के भी समस्त ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन किया। विवेकानन्द अंगरेजी के उद्भट विद्वान एवं यूरोप के तार्किकों एवं दार्शनिकों की विद्याओं में परम निष्णात थे। हर्बर्ट स्पेंसर, स्टुअर्ट

१– सर्वोदय दर्शन, पृष्ठ १६६

२– दि लास्ट फेज' २ पृष्ठ ५४६

मिल, शली, वर्ड्सवथ, काट, हीगेल, रूसो आदि का वे अध्ययन कर चुके थे। स्वामी रामतीर्थ गणित, सृष्टि शास्त्र रसायन शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, तत्व ज्ञान उत्क्रान्ति शास्त्र, शकर कणाद, कपिल, गौतम, पतञ्जलि, जैमिनि व्यास, काट, हीगल गेटे फिक्थ, स्पिनोजा वयाट, स्पेन्सर, डार्विन हैकेल, टिंडाल हक्सल जाडन, जेम्स आदि पढ चुके थे। सान्दी, हाफिज रूमी, तबरेज आदि का भी उनका अध्ययन था। 'आटोबायग्राफी' पढने से पता लगता है कि जवाहर लाल नेहरू ने थियासोफी जगन बुक एण्ड किम, स्काट डिकेन्स थकरे, वल्स पाइथागोरस ट्रेविलियन्स गैरी बाल्डी बुक्स, टाउनसेन्ड का 'एशिया एण्ड यूरोप' आदि का गम्भीर अध्ययन किया था। गान्धी ने साल्ट की 'अन्नाहार की हिमायत', हावर्ड विलियम्स की 'आहारनीति बल का 'स्टैंडर्ड एवोल्यूनिस्ट', एडविन आनल्ड की 'गीता', मडम ब्लवटस्की की की टु थियासोफी' टालस्टाय का बैकुण्ठ तेरे हृदय में है, रस्किन का 'अन्टू दिस लास्ट' कार्लाइल की विभूतियाँ और विभूतिपूजा, न्यू टेस्टामेंट बाइबिल, आदि का भी गम्भीरतापूर्वक मनन किया था। हिन्दी के समाचार पत्र और पत्रिकाओं का भी यही लक्ष्य था कि हिन्दी के पाठक पूर्वी और पश्चिमी ज्ञान-कोष से पूर्णरूपेण परिचित हो जाएँ। विषयों की विविधता से स्पष्ट है कि 'सरस्वती' के सस्थापक और सम्पादक ज्ञानवर्द्धक साहित्यिक पत्रिका बनाना चाहते थे। वे प्राचीन और अर्वाचीन पर समान बल देते थे।[1] सम्भवत यह स्याद्वादी मनोवृत्ति थी कि इस अर्द्ध-शताब्दी भर हम अंगरेज से लडे लेकिन हमने यह माना, 'अंगरेज स्वभाव से अच्छा होता है। वह किसी की बुराई करना नहीं चाहता स्थिति को पूरी तरह समझने में उसे कुछ देर लगती है पर जब वह चीजों को साफ-साफ देख लेता है तो अपना कर्तव्य करने से नहीं चूकता।[2] परिणाम यह हुआ कि कुछ हमारे पास था और कुछ हम बाहर से मिल गया। आध्यात्म हमारा अपना था ही, भौतिकवादी प्रवृत्तियाँ पश्चिम से मिली। हृदयवाद हमारे पास था, बुद्धिवाद वहाँ से मिल गया निवृत्ति हमारे पास रह गयी थी प्रवृत्ति की ओर फिर रुचि जाग्रत हुई हस्तकलाएँ हमारे पास थीं ही मशीनें हम पश्चिम से मिल गयीं आदि। प्राचीन व्यवस्थाएँ टूट गयीं किन्तु उनसे बना मन नहीं टूटा नई व्यवस्थाएँ लाद दी गयीं किन्तु वे मनोविज्ञान न बना पायीं।

समन्वय—

– भारत की यह नवीन पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था अंगरेजों की भारत विजय का

१, 'सरस्वती' का हीरक जयन्ती विशेषांक, पृ ७

२ मोतीलाल नेहरू जन्म शताब्दी स्मृति ग्रन्थ, पृ १२३

परिणाम है। इस प्रकार भारतीय अर्थ व्यवस्था मे अ गरेजी पू जीवाद व्यापार उद्योग और पू जी–तीनो प्रकार से घुस आया। भारतीय पू जीवाद की प्रकृति स्वरूप और विस्तार अभारतीयों द्वारा निश्चित किया गया। जिस समय यह कार्य हुआ उस समय का अ गरेजी राज्य और भारत मे उसके प्रतिनिधि सोलहो आने सामन्तवादी ढाचे के थे। उनके द्वारा भारत मे सामन्तवादी प्रवृत्तियाँ ही–और वे भी पराधीनता से पूर्णत अभिशप्त होकर–भारत मे फली, और जब तक यह हुआ तब तक इगलैड पू जीवादी देश हो गया। हम पराधीन थे ही स्वस्थ एव स्वाभाविक विकास या परिवर्तन सम्भव था नही। परिणाम यह हुआ कि हम सामन्तवादी के सामन्तवादी ही रह गये। सामन्तवाद से पू जीवाद अधिक सुगठित एव शक्तिशाली लगता है और अ गरेज हमसे अच्छा लगने लगा। इसीलिये जहा एक भी अ गरेज ने भारत मे इगलैड का एक बार भी हानि नही की, वहा विद्रुप भारतीयो की देशकृतघ्नता की एक अटूट शृङ्खला है। जो आविष्कार अ गरेज भारत मे लाये उससे जीवन का कुछ रूप आधुनिक सा भी लगने लगा। अब पुरातन प्रवृत्ति और आधुनिकता, सामन्तवादी पू जीवादी और अध्यात्मवादी प्रवृत्तियो आदि मे समन्वय स्थापित करने की समस्या बीसवी सदी के भारत के सामने उपस्थित हो गई। वीरा मिचलम ने स्वीकार किया है कि भारत के पास एक अनोखी चीज है नये विचारो को पुराने साचे मे ढाल लेना और विजेताओ को भी इस प्रकार पचा लेना जैसा बना देना कि वे उसके इतिहास की प्रवहमान प्रक्रियाओ के एक अङ्ग मात्र हो जाय। इसी चीज ने उसे आज के आपाद मस्तक झकझोर देने वाले परिवर्तनो के युग मे भी–जब कि रूस चीन अरब जापान मिश्र, आदि देश इन परिवर्तनो से हिल गये हैं और उनकी अपनी सस्कृतिया चिथडे चिथडे हो रही हैं–पूरी तरह से सभाल रखा है।[1] यह भारत ही है जहा आज की बीसवी शताब्दी मे भी जानवरो और पेड पौधो को सचमुच मानवीय व्यक्तित्व और मानवीय भावनाये प्रदान की जाती हैं, ज्योतिषियों से यात्रा, आदि के बारे मे शकुन पूछा जाता है और इसके साथ साथ मशीनो का उपयोग विज्ञान पर विचार विनिमय और युक्तिवाद के आधार पर विचार विमर्श किया जाता है यहा एटमिक रीऐक्टर, सूर्य ताप प्रयोग वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा गौ पूजा नाग पूजा एव सरित पूजा साथ साथ चलती है। यहा ग्रहो की पूजा होती है। यहा सूर्य को जल और पितरो को तर्पण किया जाता है। यहा मशीनों की पूजा होती है। गगा को माता भी माना जाता है यहा मध्ययुगीन और नवीन प्रवृत्तियो का गठबन्धन होता है। बीमारियों

१–'यू पटर्न आफ डेमोक्रेसी' पृ ३८१

के विशापन भी आते हैं और ओझाओं की झाड फूक तथा मृत्युंजय का जाप एक साथ होता है। ऐसा समाज धर्म और आस्थाशून्य नहीं हो सकता। भारत विज्ञान और धर्म की विवाह वेदी है यहां एक विचार समष्टि की छाया का दूसरे विचार समष्टि की छाया अपने में समा लेती है। यहां विभाजक रेखा संगम क्षेत्र बन जाती है। यहां मध्ययुगीन प्रवृत्तियां वाले, एक दो नहीं, पांच सौ आठ राजा एक ही रात में सामन्त से बुर्जुआ बन गये। समस्त यूरोप आज तक एक राष्ट्रीयता की भावना में आबद्ध न हो पाया और चौदह विभिन्न भाषाओं वाला, अनेक जातियों वाला एवं अनेक रीति रिवाजों वाला भारत देखते-देखते एक राष्ट्र बन गया। चौदह और पन्द्रह अगस्त के बीच मान के समय में संसार का सबसे बड़ा उपनिवेश संसार का सबसे बड़ा प्रजातन्त्र हो गया। यहां हृदय और मस्तिष्क पूर्व और पश्चिम पुरातन और नवीन गले मिल रहे हैं। अद्भुत दृश्य है। आधुनिक हिन्दी साहित्य इसी अद्भुत दृश्य की साहित्यिक अभिव्यंजना है। उसमें साम ती और मध्य-युगीन प्रवृत्तियां भी हैं और नवीन प्रजातन्त्रवादी एवं साम्यवादी प्रवृत्तियां भी। बाबू सम्पूर्णानन्द एक समाजवादी के रूप में प्रसिद्ध हैं। भारत की एक प्रमुख उपलब्धि—योग के विषय में उनका कथन है, मेरी ऐसी धारणा है कि योगाभ्यास ही उपासना का सच्चा मार्ग है। और किसी उपाय से वांछित फल नहीं प्राप्त हो सकता। यह कहना गलत है कि आजकल का मनुष्य इसका अधिकारी नहीं है। समाजवाद पाश्चात्य उपलब्धि है और योग भारतीय। इस प्रकार हमारे विचारक पूर्व और पश्चिम का समन्वय कर रहे हैं।[१] यहां रामचन्द्र शुक्ल 'रसाल' भी हैं और अज्ञेय भी, मैथिलीशरण गुप्त भी हैं और सुमित्रानन्दन पन्त भी। आज हिन्दी में कई पीढ़ियां और प्रवृत्तियों के लेखक हैं। मैथिलीशरण गुप्त, वृन्दावनलाल वर्मा आदि एक पीढ़ी के हैं, पन्त, महादेवी, रामकुमार वर्मा, आदि दूसरी पीढ़ी के। माखनलाल चतुर्वेदी 'बच्चन', 'दिनकर', 'नीरज' आदि की अपनी-अपनी प्रवृत्ति है 'अज्ञेय' यशपाल, 'पहाड़ी', नागार्जुन आदि का अपना दृष्टिकोण है "अंचल" भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र आदि अपने ढंग से चल रहे हैं और धर्मवीर भारती, आदि प्रयोगवादियों का अपना दृष्टिकोण है। संस्कृति से मिली सामाजिक प्रकृति के कारण हिन्दी सबको स्नेह दुलार से अपनाये हुए है।

आधुनिक युग में भी आधुनिक नहीं—

इस सांस्कृतिक पुनर्जागरण का यह प्रभाव पड़ा कि यद्यपि आधुनिकता हमारे

१—कुछ स्मृतियां और कुछ विचार', पृष्ठ २५

पास लाई गई किन्तु हम आधुनिक नहीं हो पाये। हम आधुनिकता का स्वांग मात्र भरते हैं। हमारे अन्दर अब भी रोमांटिक प्रवृत्तियां भरी पड़ी हैं। रोमांटिसिज्म का जीवन और विकास इस भावना पर भी आधारित है कि जो बीत गया है वह बहुत अच्छा है। उसके बिना उन्नति, सुख और समृद्धि की कल्पना मात्र कल्पना है। आधुनिक प्रवृत्ति इससे बिलकुल भिन्न है। जी० जी० जुंग ने लिखा है, "आधुनिक व्यक्ति वह है जिसका निर्माण अभी अभी हुआ है और आधुनिक समस्या वह है जिसका उदय अभी-अभी हुआ है किन्तु जिसका समाधान भविष्य में है केवल वही आधुनिक है जो वर्तमान के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक है इस प्रकार वह पूर्ण रूप से अनैतिहासिक हो गया है। उसका उन मनुष्यों से वृहत् समाज से कोई भी सम्बन्ध नहीं जो रीतियां रिवाजों की शृङ्खलाओं में पूरी तरह जकड़े रहकर जीवित रहते हैं * आधुनिक व्यक्ति ने मध्ययुगीन मानव की सम्पूर्ण आध्यात्मिक मान्यताओं और विश्वासों को खो दिया है और उनके स्थान पर भौतिक सुरक्षा के, सबके कल्याण के दयालुता एवं परोपकारिता के सिद्धान्तों को अपनाया है।"[1] स्पष्ट हुआ कि आधुनिकता काल सापेक्ष नहीं है। यह बात नहीं है कि जो कल था उसकी अपेक्षा जो आज है वही आधुनिक है। वस्तुतः आधुनिकता जीवन की एक दृष्टि है। आधुनिक व्यक्ति के सोचने समझने, रहन सहने, विचारों और धारणाओं आदि की दृष्टि उसके पहले के युगों के व्यक्ति की दृष्टि से बिलकुल बदल गई है। इतिहास की गति विधि के प्रति जागरूक रहकर उसकी गति को तीव्रतर बनाना और उसके साथ चलना आधुनिकता है। हम अपने सांस्कृतिक नवजागरण की प्रवृत्तियों के कारण सही मानों में आधुनिक नहीं बन सके। आधुनिक होने का ढिन्ढोरा मात्र पीटते हैं। ढिंढोरा पीटने वाले लोगों की उम्र नई है। उनमें तारुण्य का उन्माद है। स्फूर्ति है। अभय है। असंयम और उच्छृङ्खलता है। उनमें साहस है पर सहिष्णुता नहीं है। उनके पास प्रचार के साधन हैं पर साधना का बल नहीं है। नये पन की सबग्राहा चाह है किन्तु भारत के असली जीवन की झांकी नहीं है। उनके कथन में आकर्षण है किन्तु ईमानदारी नहीं। उनके पास तर्क बल और बुद्धिबल है किन्तु भारत के व्यापक जीवन का अनुभव नहीं। और भारत का वास्तविक जीवन है कैसा ?

देहात का जीवन—

भारत का जीवन मूलतः दो भागों में बंटा है—(१) देहात का जीवन, और (२) शहर का जीवन। भारत के गावों का अतीत बड़ा ही शानदार था। सर चार्ल्स

१– माडर्न मन इन सर्च आफ ए सोल, पृष्ठ २२६, २२७, २२८ २३५

मन उमन भी अधिक दयनीय ! जैसे इन्हीं दयनीय लोगों को ध्यान में रखकर महादेवी ने लिखा —

वे निधन के दीपक-सी
बुझती-सी मूक-व्यथाएँ
प्राणों की चित्रपटी में
आंकी-सी करुण कथाएं ।[१]

ये जमींदार माई-बाप और सरकार बन कर भगवान बन गये और आज तक लोग इनकी पूजा करते है । उनको इनके ऊँच स्तर से नीच उतारने और इनकी जमींदारी ले लेने वाली कांग्रेस सरकार को ये ही दयनीय मानवेतर कोसते और गालियां देते हुए सुने गये हैं । इन्होंने लोगों को अनपढ़ काहिल सासखा, आलसी, अंधविश्वासी एवं कुत्ता बना दिया । इन्होंने लोगों को निधन बना दिया । इनकी 'प्रजा' मने मानव-जीवन का अनुभव पीढ़ी-दर पीढ़ी नहीं कर पाती थी । इनकी प्रजा का आर्थिक और भौतिक जीवन स्तर पिछड़ेपन की आखिरी सीमा पर था । 'फूल' को अपने अज्ञान या ज्ञात मन में प्रतीक मानकर उसे महादेवी ने सान्त्वना दी —

मत व्यथित हो फूल ! किसको सुख दिया संसार ने
स्वार्थमय सबको बनाया है यहां करतार ने ।[२]

किन्तु यह वर्ग भी चुप न रह सका । भली जिन्दगी की चाह ने इन्हें अनजाने ही राष्ट्रीय बना लिया । राजा उत्तानपाद की गोद की चाह ने उस बालक को ध्रुव बना दिया हो ! प्रेमचन्द का 'होरी' यही है । मध्य और निम्न श्रेणियों के भूमिपतियों की भी अवस्था कुछ विशेष अच्छी नहीं थी । लगान की अधिकता, खेतों का छोटा होना भूमि के टुकड़े होते रहना और लगातार बढ़ने वाले ऋण आदि के कारण इस वर्ग का प्रायः विघटन ही होता रहा । ये लोग प्रायः तबाह हो गये हैं । इस वर्ग के लोग बढ़ते-बढ़ते 'मालिक' और घटते-घटते मजूर या मुंशी हो गये हैं । ये किसान भारत के वास्तविक प्रतीक हैं । ये किसान प्रायः रूढ़िवादी मजदूरों की अपेक्षा अधिक शान्त व्यक्तिवादी इधर-उधर बिखरे हुए, सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े मुक्त, एकरस शहर से प्रायः दूर भाग्यवादी धर्मभीरु, लज्जाशील आस्तिक सन्तोषी, भीरु और पस्त तबियत के होते हैं । ये ही हमारे भारत के हलधर या हलपति हैं । इनका मस्तिष्क अविकसित रह गया है । ये वनानिरक्षर -पुत्र हैं । इनके भौतिक उत्थान एवं निर्माण का निर्द

१—यामा, पृष्ठ २७
२—वही पृष्ठ ३०

समायतम है। बाहरी दुनिया इनके लिये कुछ है ही नहीं। जीवन सदव आकांक्षाओं और आपत्तियों से घिरा रहता है। धार्मिक रूढ़ियों के पालन और प्रकृति-पूजा में इनकी आस्था है। ये पराश्रित मनोवृत्ति के हैं। परम्पराओं के दास हैं। इनका दृष्टिकोण भ्रम और संकुचित है। रूढ़ियों और रीतियों के सहारे इनका जीवन परिचालित होता है। रामलीला, नाटक-नौटंकी, कथा-वार्ता पूजा-पाठ इनके सांस्कृतिक कार्य हैं। ताया जिनकिन ने लिखा है कि हमारे ये देहात गन्दे हो सकते हैं किन्तु यहां के लोग बहुत साफ होते हैं।[1] प्रतिदिन स्नान, धोती का प्रतिदिन धोया जाना चूल्हे-चौके और वर्तन की दोनों समय सफाई आदि बातें उनकी स्वच्छता एवं पवित्रता-प्रियता की सूचक हैं। शताब्दियों से भी अधिक काल तक धन और नीति की शिक्षा से वंचित होने पर भी उनमें कुछ बातें असाधारण महत्व की हैं। यहां का कोई भी प्राणी अवांछित एकाकित, सम्बन्ध एवं सम्बन्धी-विहीन नहीं होता। वह महत्व की ऊष्मा से अनुप्रेरित तथा अपनत्व की प्रेरणा से अनुप्राणित रहता है। वह माँ-बाप भाई-बहन, रिश्तेदारों-पट्टीदारों पड़ोसियों, गांव जँवार समाज एवं अपनी धरती माता का होता है। उसको चाहने वाले होते हैं वह अनचाहा नहीं होता। जिसका अपना कोई भी नहीं होता, उसका भी कोई न कोई हो ही जाता है। लोग लड़कर भी एक हो कर रहते हैं। देहात में उम्र और अनुभव की बहुत इज्जत होती है। अपने परिवार के अन्दर सबका अपना-अपना महत्वपूर्ण स्थान होता है। आर्थिक और सामाजिक महत्व का पूर्ण रूप से तिरस्कार किये बिना भी उम्र और रिश्ते की बड़ाई-छोटाई का भी ध्यान रखा जाता है। अपने से बड़े सम्बन्धी और 'मान का मान रक्खा जाता है भले ही वह असाधारण रूप से निर्धन ही हो। आदर पद और धन से स्वतन्त्र है। आज भी देहात में बड़ी आयु की भगिन के लिये 'भगिन' चाची और इसी प्रकार कहार दादा कोरिन दादा, आदि सम्बोधन सुने जा जा सकते हैं। धन और शिक्षा का भी अपनी-अपनी जगह आदर किया जाता है। अदब और कायदे से रहने वाले की बात बड़े भी बड़े आदर से सुनते हैं। सामाजिक मामलों में बिरादरी और पंचायत का निर्णय एवं मान्यता असंदिग्ध है। गांव अपना गांव घर अपना घर, खेत अपने खेत और आदमी अपने आदमी होते हैं। एक गांव का रिश्तेदार सारे गांव का रिश्तेदार और गांव की लड़की सारे गांव की लड़की होती है। अभी भी लड़की वाले गांव का कोई भी आदमी वर वाले गांव के किसी भी आदमी से वैसे ही हँसी-मजाक करता है मानो अपने सगे रिश्तेदार से हँसी-मजाक कर रहा हो। गांव के आदमी को जभी अवसर मिलता है तभी वह अपनेपन

१- इंडिया चेंजज', पृ ८

जाते हैं उन पर लगभग १२ व्यक्तियो या घरानो का अधिकार है । आज के युग की समस्त आकर्षक और भड़कीली वस्तुए समस्त सुख और सुविधाए सारे अधिकार और स्वत्व दान और दया, धर्म और पुण्य और साथ–ही–साथ, सारी कूटनीतिया और छलनाए सारी विकृतिया और व्याधिया मानस और मानसशास्त्र की सारी कुरूपताए और विद्रूपताए अनीति और अत्याचार एव क्रूरताए और विभीषिकाए इनके यहाँ मौजूद हैं । ये धर्मराज भी हैं और यमराज भी, इनके बाहर स्वर्ग है भीतर नरक । आज के इस अर्थप्रधान युग मे देश का सास्कृतिक, बौद्धिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर भी इन्ही का प्रभाव है । उच्चकोटि की सभी पत्र पत्रिकाए सभी प्रकाशन–सस्थाए इन्ही के अधिकार मे हैं । कला कलाकार, कला कृतिया उनका प्रकाशन और प्रचार आदि सब इनकी दयादृष्टि के भिखारी हैं । सरस्वती पहले राजा की दासी थी अब लक्ष्मीपति की दासी हो गयी है । सम्भवत इसीलिए आपादमस्तक झकझोर देने वाला एव मौलिक रूप से क्रान्ति की आग धधका सकने वाला साहित्य हिन्दी मे नहीं है । सामान्य जनता के व्यापक प्रतिनिधित्व की प्रचुरता के अभाव का भी यही मौलिक कारण है तथा उदारता एव प्रगतिशीलता पूजीवादी राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण का भी यही कारण है । साम्यवादी जीवन–दृष्टि ने अभी ऊपरी धरातल को ही थोड़ा–बहुत हिलाया है ।

छोटे मोटे व्यापारियो और दूकानदारो का कोई विशेष महत्वपूर्ण योग नही । ये बेचारे एक जगह से सामान खरीदकर अपने स्थान पर ले जाकर यथासम्भव अधिक मुनाफा लेकर दूसरो के हाथ बेच देते हैं । पूँजीपतियो की तुलना मे ये 'बेचारे' हैं बैपारी हैं और गरीबो की दृष्टि मे 'साहूजी' 'भयाजी' या 'मालिक' । अर्थप्रधान युग मे अधिक अर्थसचय या अर्थसग्रह के लिये घूस देना और लेना चुङ्गी बचाना अधिक दाम लेना अनीति और बेईमानी आदि सब कुछ इनके द्वारा सम्भव है । इनका लक्ष्य होता है लखपति या करोड़पति बनना पतला पहनना तर माल खाना और पुरोहितो अफसरो–तथा डाक्टरो से मित्रता बनाये रखना । पहले वर्ग की तरह यह वर्ग भी आत्मविहीन जड़ और विकृत बुद्धि द्वारा प्रेरित होता है । इनके यहा दूकान की गद्दी या तिजोरी वाली दीवाल पर 'लाभ शुभ' और 'श्री लक्ष्मी जी सदा सहाय' मोटा के रूप मे बराबर अङ्कित रहता है । लोग कहते हैं कि युद्ध और प्रेम के क्षेत्रो मे सब कुछ ठीक अथवा सही होता है । ये भाई इस सूची मे 'व्यापार' को भी सम्मिलित किये हैं । इनका नैतिक स्तर प्राय अत्यन्त दयनीय होता है । ये धार्मिक रूढ़ियों और परम्पराओ का पालन करते हैं और 'पण्डितजी महाराज' तथा 'पुजारी जी महाराज' की बड़ी 'सेवा' करते हैं । धर्मदान के रूप मे ये भी 'दया धर्म पुन्न' करते हैं क्योंकि

इनके आदर्श रूप प्रथम वर्ग के लोग तीर्थ स्थानों में धर्मशालाएँ बनवाते है, मन्दिरों का पुनरुद्धार कराते हैं नये भव्य विशाल मंदिर बनवाते हैं स्कूलों कालेजो और पाठशालाओं को उपकृत करते हैं, पब्लिक स्कूल, विद्यालय, महाविद्यालय और स्नातकोत्तर महाविद्यालय, आदि खुलवाते हैं। अब ये चन्दा भी देने लगे हैं लेकिन बहुत सोच समझकर। पहले ये भाई रुपये गाड़ते थे, अब बैंकों में रखने लगे हैं, पहले रोकड़ बही चलती थी और अब (चलती तो रोकड़ बही भी है पर उसके साथ साथ) लेजर' स्लीप बुक और नये ढंग से एकाउन्ट भी चलने लगे हैं। साहित्य पर इनका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। साहित्य ये पढ़ते भी नहीं—नई पढ़ाई इनके लिये निरर्थक भी है—उसकी जगह 'माया', 'मनोहर कहानियां' जासूसी उपन्यास (जो रेलवे के व्हीलर स्टाल पर सुलभ हैं) पढ़ते हैं। अब बाजार का भाव जानने के लिये ये दैनिक समाचार पत्र भी खरीदने लगे हैं। चीन के आक्रमण के समय एक दिन पंसारी जी भी मेरे सामने नेहरू जी की युद्ध नीति सम्बन्धी अयोग्यता और असमर्थता सिद्ध कर रहे थे।

शहरों में रहने वालों का तीसरा वर्ग। इसकी दुर्गति के बारे में जो कुछ भी कहा जाय, कम है। यह वर्ग इतना अधिक ऋणी रहता है कि वह ऋण तीन महीनों की पूरी की पूरी मजदूरी से भी नहीं चुकाया जा सकता। पांच-पांच और छः-छः वर्षों की आयु तक के बच्चे मजदूरी करते देखे गये हैं। आवास समस्या का यह हाल है कि मजदूरी करने वालों के सामान्य परिवारों को रहने के लिए एक एक कमरे भी नहीं मिल पाते। बम्बई में कभी-कभी तो एक एक कमरे में १० से लेकर १६ आदमी तक रहते हुए पाये गये हैं। बम्बई की जनता का तेरह प्रतिशत भाग सड़कों के पार्श्व में स्थित पगडंडियों पर रातें बिताता है। पूरी की पूरी जिन्दगी गुजार देता है। सफाई की तरफ से जो लापरवाही बरती जा रही है वह अक्सर सड़ते हुए कूड़े के ढेरों और मैले से भरे गड्ढों के रूप में स्पष्ट है।[१] शौचालयों के अभाव में हवा में और मिट्टी में गन्दगी बढ़ जाती है। मकान के नाम पर एक कोठरी जिसकी न तो कोई नींव, न खिड़की, न हवा के आने जाने की पर्याप्त व्यवस्था, दरवाजा इतना नीचा कि बिना झुके प्रवेश असम्भव, पर्दा करने के लिये मिट्टी के तेल के पुराने टिनों की दीवार और उस पर पुराना बोरा प्रकाश का प्रवेश भी बड़ी कठिनाई के बाद। इन्हीं घरों में प्रजनन जीवन, विवाह सास ससुर और पुत्र-पुत्रवधू के दाम्पत्य जीवन। यौवन की दुर्दम उमंगों को निलज्जता की शरण लेनी पड़ती है!! लाज और शर्म के सौन्दर्य और उसके अस्तित्व का गला घुट जाता है। पशु सा बनना पड़ता है। दो-दो सौ

१– 'ह्विटेल कमीशन की रिपोर्ट' पृष्ठ २७१

दो वर्ग के लोग रहते थे (१) प्रशासनाधिकारी वर्ग (२) व्यापारी वर्ग, (३) कारी
गर, आदि । मध्यवर्ग नाम की कोई चीज नहीं थी । पहले और दूसरे वर्ग के लोग
प्रायः सम्पन्न होते थे । और शेष, अच्छे-भले खाते-पीते लोग थे । इन शहरों मे हाथ
की कारीगरी का नमूना दिखाई पडा करता था । विचित्रताओ से पूर्ण बारीक कारी
गरी का प्रचार था । विलास के लिए, वैभव-प्रदर्शन के लिए और आवश्यकताओ की
पूर्ति के लिए चीजें बनाई जाती थी । बनाने में असाधारण परिश्रम और कुशलता की
आवश्यकता थी । वस्तुएँ भव्यतम और कलात्मक होती थी । कारीगर स्वतन्त्र रूप से
भी काम करते थे और राज्य द्वारा नियत मजदूरी पर भी । सामान्य जनता की आवश्य
कताओ की पूर्ति सामान्य कारीगर करते थे । राजनीतिक दृष्टि से सामन्तशाही की
गुलामी थी । गावो की अपेक्षा ये शहर अपेक्षाकृत अधिक गतिशील सक्रिय, सजीव,
समृद्ध एवं उन्नतिशील थे । बाहरी दुनिया के सम्पर्क में रहते थे । दूसरे देशो से सपर्क
भी था । कुछ अधिक विकसित थे । जीवन में विविधता विचित्रता कौतूहल, आश्चर्य
उत्तेजना और सनसनी अधिक थी । अच्छी और कलात्मक वस्तुओं के ग्राहक और
संरक्षक यहा अधिक थे अतः वे यहा बनाई भी अधिक जाती थी । आदर्शवादी एवं
आध्यात्मिक दर्शन, धार्मिको का अनुशासन तथा रूढियो एवं परम्पराओं का पालन
अधिक होता था । यह संस्कृति मूलतः और तत्वतः धार्मिक थी ।

अंग्रेजो ने भारतीय नगरो का भी रूप बदल दिया । कारीगरी और कला-
कौशल समाप्त कर दिया । इंगलैड की बनी वस्तुएं खुले और निर्बाध रूप से भारत
आने लगी । भारत की बनी वस्तुओ के इंगलैड जाने पर बहुत अधिक कर बढा
दिये गये । तैयार माल की जगह कच्चा माल भारत से अधिक मँगवाया गया ।
वस्तुओ के यातायात का व्यय और उनकी चुंगी की दर बढा दी गई । भारत में अंग्
रेज व्यापारियों को विशेष सुविधाएं दी जाने लगी । रेलें चला दी गयी । भारतीय
कारीगरो को अपने राज-रहस्य बताने के लिए विवश किया गया । प्रदर्शिनियों मे
अंग्रेजी माल को अधिक आकर्षक रूप मे उपस्थित किया गया । इन सबके परिणाम
स्वरूप भारतीय नगरो की कला-कारीगरी चौपट हो गयी । कारीगरों का सामाजिक
महत्व घट गया । यूरोपीय फैशन के अनुकरण ने तथा यूरोप से आने वाली सस्ती
वस्तुओं ने भारतीय कारीगरी का बाजार और संरक्षण समाप्त कर दिया । शहर वाले
कारीगरी की जगह नौकरी और नौकरी में भी सरकारी नौकरी को अधिक आदर देने
लगे । हिन्दी के सम्पूर्ण कथा-साहित्य में आधुनिक युग के चित्रकार दर्जी बर्तन
बनाने वाले कुम्हार खिलौने बनाने वाले आदि अनेक ऐसे वर्ग वालों का सभ्रान्त एवं
गौरवपूर्ण रूप में चित्रण कहीं भी न मिलेगा । इन नगरों में समाज के निम्नलिखित

वर्ग के लोग पाए जाते हैं—(१) पूंजीपति, उद्योगपति व्यापारपति, आदि (२) छोटे व्यापारी और दूकानदार (३) छोटे-मोटे नौकर और मजदूर, और (४) व्यावसायिक वर्ग जैसे डाक्टर वकील, अध्यापक लेखक, मनेजर आदि। इसमें मध्यवर्ग के बुद्धिवादी और शिक्षित लोग होते हैं।

पहला वर्ग ही आधुनिक भारतीय बुर्जुआ है। इसका उदय उद्योग, व्यापार और धन्धों, आदि के प्रचार के तथा कुछ उद्योगों के-थोडे-बहुत औद्योगीकरण के—साथ साथ हुआ है। १६०५ ई० तक यह औद्योगिक वर्ग पर्याप्त रूप से सशक्त और जागरूक हो गया था। इसकी उन्नति अंगरेजी साम्राज्यवाद के उद्देश्यों की पूर्ति में बाधक होती और अंगरेजी साम्राज्यवाद की उन्नति इसकी अधोगति की सुदृढ़ता थी। अंगरेज किसी भी सच्चे भारतीय को सम्पन्न न देख सकता था और न उसका आदर कर सकता था और सच्चा भारतीय अंगरेजों के द्वारा सतत किये जाने वाले अपमानों और उन्नति के रास्ते में डाली जाने वाली रुकावटों से क्षुब्ध होने लगा था। हितों में टकराहट हो गई थी। यहीं से राष्ट्रीयता का उदय हुआ। भारत के राष्ट्रीय उद्योगों का संरक्षण, विकासशील उद्योगों को सरकारी सहायता की प्राप्ति, उच्चतम नौकरियों की प्राप्ति और उसकी प्राप्ति के लिये सुविधाओं की प्राप्ति पद और प्रशासन में भाग पाने की सुविधा, आदि बीसवीं सदी के प्रथम दशक से ही ये लोग राष्ट्रीय आन्दोलन में आने लगे थे स्वदेशी के समर्थन और विदेशी के बहिष्कार में इन्होंने पर्याप्त उत्साह से भाग लिया क्योंकि इससे अन्ततोगत्वा लाभ इन्हीं का था। १६१६—२० ई० के बाद कांग्रेस में इन्हीं लोगों का महत्व और प्रभुत्व बढ़ा। खद्दर से इन्हें कोई डर नहीं था क्योंकि ये खद्दर की कमजोरियों को पहचानते थे। इनमें से कुछ ने पहना खद्दर और उत्पादन किया मिलों के कपड़ों का। वर्ग-संघर्ष के विरोध, ट्रस्टीशिप, आदि के सिद्धान्तों में इन्होंने अपने लाभ की सम्भावना देख ली थी। इन्होंने कांग्रेस का खुले और छिपे, दोनों रूपों में साथ दिया और इसी प्रकार कांग्रेस ने भी इनका साथ दिया। इनके बिना शायद कांग्रेस का अस्तित्व ही अकल्पित हो गया था। बात यह है कि भारत का औद्योगीकरण अभी शहरों में ही और वह भी कुछ धनपतियों के ही हाथों में केन्द्रित है। भारत के समस्त आर्थिक जीवन को उद्योगपतियों के कुछेक घराने ही परिचालित और नियन्त्रित किये हैं। १६४० ई० में अशोक मेहता ने लिखा था कि हमारे देश की ८६० प्रमुख औद्योगिक कम्पनियों को २००० डायरेक्टर चलाते हैं डायरेक्टरों की वास्तविक संख्या ८५० ही है क्योंकि ७० व्यक्ति १००० विभिन्न जगहों के और १० आदमी ३०० जगहों के डायरेक्टर थे। सर पुरुषोत्तमदास ठाकुर दास ५१ व्यापारों के डायरेक्टर थे। इन उद्योगों के लिए जिन बैंकों से रुपये लिये

की भावना से भरा हुआ अपने गांव लौटता है क्योंकि यह गांव उसका है, यह घर उसका है, जब कि शहर उसका नहीं वहाँ का घर उसका अपना घर नहीं। पीढ़ियों के सम्बन्ध का सशक्त प्रभाव और आकर्षण होता है। प्रत्येक परिवार का एक 'कुल देवता' होता है जिसकी विशेष पूजा होती है और जिसका उस परिवार के साथ घरेलू सम्बन्ध होता है। ईश्वर और सामान्य देवता के साथ हमारा सम्बन्ध वस्तुतः बहुत ही अनौपचारिक ढंग का होता है। कोई दुराव नहीं, कोई छिपाव नहीं, कोई फार्मेलिटी नहीं। व्रत त्योहार उत्सव और पर्व सबकी संख्या में होते हैं। तीर्थ-यात्राएँ होती हैं। देवताओं की सवारियां निकलती हैं। देहातों की एक विशिष्ट संस्कृति है— अर्थात कृषि संस्कृति। वहां एक सौन्दर्य है - अर्थात् गरीबी का सौन्दर्य अकृत्रिम सौन्दर्य श्रम का सौन्दर्य प्रकृति का सौन्दर्य। वहां की एक व्यवस्था है— अर्थात् असहायता, आपत्ति, निर्धनता श्रम और जीवन की संजीवनी में समन्वय-स्थापना के परिणामस्वरूप उद्भूत व्यवस्था। यह प्रगतिशीलता की विरोधिनी नहीं किन्तु चूंकि दूध की जली बिल्ली मट्ठा भी फूंक-फूंक कर पीती है अतएव यह सतर्क, सशंक और साथ ही साथ दिव्यनीय आनियेय है। इस संस्कृति की प्रवृत्ति शताब्दियों के अनुभव से निर्धारित एवं निर्मित हुई है।

अंगरेजों ने भारत में जो भूमि-व्यवस्था चलाई उसके कारण भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति हो गयी अर्थात क्रय-विक्रय की वस्तु। 'धरती माता' का भाव समाप्तप्राय हो चला। गाँवों का आत्मनिर्भरता समाप्त हो गयी रुपये का महत्व बढ़ा। एकता खत्म हो गयी। उत्पादन विक्रयार्थ होने लगा। जमीन धन का साधन हो गयी। उसे रखने और बढ़ाने का लोभ जनमा। मुकद्दमेबाजी बढ़ी। देहात अब एकाकी नहीं रह गये। उन पर शहर की शहरियत और समस्त देश की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ने लगा। प्रेमचन्द ने देहात का जो चित्रण किया है उसमें ये सब प्रवृत्तियां हैं। उनका और राहुल सांकृत्यायन के साहित्य जिस नवीन चेतना से सम्पन्न है उसका दर्शन मध्ययुग में असम्भव था क्योंकि तब के देहात पूर्णत एकाकी थे। अधिक जमीन बटाई पर उठाई जाने लगी दान में दी जाने लगी और लगान पर उठाई जाने लगी। उद्योगों के अभाव में खेती पर दबाव पड़ा। जमीन बटने लगी। उन्नतिशील कृषि स्वप्न स्वरूप हो गया। अपने उग्रतम अभिशापों के साथ निर्धनता बढ़ी। बीच-बिचाव करने वाला के कारण अनाज बेचने पर भी धन की कमी पूरी नहीं हुई। गरीबी के कारण काम दोषपूर्ण होने लगा और दोषपूर्ण काम के कारण गरीबी बढ़ने लगी। ऋण लेना प्रारम्भ हुआ। लोग साहूकारों और जमींदारों के चंगुल में फंसने लगे। खेती के मालिक कम हो गये। भूमिहीन किसान अधिक हुए।

खेती पर काम करने वाले मजूरों की सख्या बढी। कारिन्दो का महत्व बढा। देहातों म न पूजीवाद है, न औद्योगीकरण। आज भी वहा विकृत साम तवाद है। कारीगरो के नाम पर बढई, लोहार, मोची, छोटे-मोटे सोनार आदि भद्दे एव कलात्मकता -शून्य व्यवसायो पाए जान लगे। जिनको रोटी के लाले पडे हैं उनमे कलात्मकता का प्रचार हो भी तो कसे ! देहात पढ़े-लिखे आदमियो की रुचियो और आकांक्षाओ की पूर्ति मे असमय हैं और इसलिए एसे लोग वहाँ नहीं पाए जाते। सरकारी पदाधिकारी — चाहे व कितने ही छोटे क्यो न हो — वहा सबसे अधिक आदर पाते हैं। कृषि की अधोगति चरम सीमा पर है। अल्पतम साधन, पुराने ढग की खेती, आदि अनेक दावो के कारण न अच्छे ढग से खेती हो पाती है, न उत्पादन बढ पाता है। खेती के योग्य उपजाऊ जमीन या तो ऊसर पडी। या उस पर झाड-झखाड और जगल खडे हैं। विदेशी सरकार को इसके लिए दद भी नही होता था ! होता भी तो क्यो !! जानकारी और सुविधा के अभाव म कडे के रूप मे गोबर को जला डाला जाता है। अ गरेजी व्यवस्था ने जमीन का मालिक रुपये वालो को बना दिया। जो खेती का अपना होता था वह किसान खेत का मालिक नही रह गया और जिसे खेत की धूल भी नही लगती थी वह उसका पति हो गया ! पतित्व पसे के बल पर कायम रह सकता था ! अस्तु, जमींदार सीधे-टेढ़े ढग से किसान से अधिकाधिक रुपया चाहने और खीचने लगा। उनक बीच का मधुर सम्बन्ध— मानवीय रिश्ता— समाप्त हो गया। जमीन उपेक्षित हो गयी खेती नगण्य हो गयी और किसान को निचोड डाला गया। फिर भी, न पूरा पडा तो जमीन छीन ली गयी। किसान बेद खल हो गया ! पसे की कमी से इसान पीस डाला गया, किसान बर्बाद हो गया। एसे किसान का जमीदार से लेकर वकील तक सभी अपने-अपने ढग से शोषण करते हैं। प्रेमचन्द ने किसानो की इन सारी स्थितियों का बडा ही मार्मिक चित्रण उपस्थित किया है। जी तोड कर श्रम करने वाला किसान न जीवन म गाय पा सका ॥ मरते समय !! भारत के देहात का किसान बर्बादी की आखिरी हद तक पहुच गया ! अब वहा भी परिवतन होन लगे हैं। शिक्षा तथा शहर का सम्पक धन और सुविधा की चाह और प्रयत्न दण्ड-विधान के भय से मुक्ति एव उन्ह न मानने तथा उनसे बचे रह सकने की सुविधा तक इनकी पहुच, आदि उन्ह बहुत अधिक परिवर्तित कर रही है।

शहर का जीवन—

अ गरेजी राज्य के पूव भारत म प्राय तीन प्रकार के शहर थे—(१) राज नतिक महत्व के, (२) धार्मिक महत्व के, और (३) व्यापारिक महत्व के। इनमे प्राय

परिवारो के लिये दो नल, १६ से २० परिवारो के लिये एक ग्व शौचालय ! कभी कभी सावजनिक शौचालयों की शरण ! रहने के कमरे दरबा जैसे ! इतने नीचे कि आदमी ठीक से खड़ा भी न हो सके। कमरे मे इतना अ धेरा कि आँखें अन्दर की ही अभ्यस्त होकर देखे । रजनी पामदत्त ने एक ऐसा उदाहरण भी प्रस्तुत किया है जहा १५ फीट लम्बे और १२ फीट चौड़े मकान मे ६ परिवार अर्थात् ३० प्राणी थे जिनम ३ गर्भवती महिलाएँ (या मादाएँ !) भी थी और जहां रात म ६-६ बच्चे जनते थे ।[1] अ ग्रेजो ने अपना माल जो भारत म सस्ते दाम पर खपाना प्रारम्भ किया तो बेचारे कारीगरों ने अपने औजारों से राम राम कर लिया और खाली हाथ शोणो मुखो श्रम बेचने लगे। श्रमिक बढ़े। श्रम की महत्ता घटी। पैसे का मूल्य बढा। मजदूरों को पैसा कम मिला। परिवार के स्त्री और बच्चे भी मजदूरी करने जाने लगे। इधर देह मेहनत से चूर और जीवन परवशताओं और सीमाओं से मजबूर और उधर श्रम-विहीन हरामखोरो का पैसे और अधिकार तथा पद और साधनो से सम्पन्न खाली जीवन यानी शैतान की दुकान सा मन और रबड़ की तरह खिंचती जाने वाली वासना ! सुन्दर और असुन्दर शरीर बड़े और छोटे की वासनाओं की छुरियों से दिन या रात किसी भी समय और कही भी हलाल किये जाने लगे ! प्रकृति की मगल कारिणी व्यवस्था एक गिलास पानी बनी हो गई ! श्रम बिका, श्रमिक बिका तन बिका, जीवन बिका कला बिकी कलाकार बिका बुद्धि बिकी, बुद्धिमान बिका। द्वितीय महायुद्ध मे यह वर्ग कफन और नमक तक के लिये मोहताज हो गया था। औद्योगिक नगरों की शान शौकत दूनी हो गई। उजाड़ और निर्जन सड़कों के दोनो ओर भव्यतम इमारतो वाली बजारें बस गई। वस्तुओं के दाम पाच गुने और छ गुने बढ़े। मजदूरी नही बढी। चोरबाजारी खुलकर खेली। इस वर्ग की कमाई हाथ से मुह तक आते आते समाप्त हो जाती है। श्रम का फल से कोई भी सम्बन्ध नहीं रह गया। सामूहिक और बड़े पैमाने की मशीनो वाली उत्पादन-पद्धति म यह वर्ग सर्वहारा हो गया है। श्रमिक श्रम और उसके उत्पादन म कोई भी आतरिक सम्बन्ध नही रह गया। आज कोई भी एक वस्तु एक मजदूर की बनाई हुई नहीं रहती। जाति और वर्ण की श्रेष्ठता समाप्त हो गई। धर्म का सामाजिक महत्व खत्म हो गया। मूल्य और मान्यतायें बदल गई। रूढ़ियाँ और प्रथायें बदल गई। विश्वास बदले। परिवार का स्वरूप बदला। नारी मुक्त होने लगी। पैसे की कमी के कारण इस वर्ग के बच्चे अधिक पढ भी नही पाते और यदि पढ भी जाय और अच्छी श्रेणी

१-इंडिया टुडे अध्याय ११

म उत्तीर्ण भी हो जाय तब भी समाज म उनके लिये अच्छी जगह बडी ही कठिनाई से मिलती है। मिलने का उपाय इन्ही लोगो की कृपा दृष्टि प्राप्त करना है। प्रथम श्रेणी म उत्तीर्ण युवक की प्रतिभा इन्टरव्यू रूपी हथौडे से परास्त करके चूर चूर करदी जाती है। डिड नाट इम्प्रेस' एक ऐसा अमोघ अस्त्र है जिसने जाने कितने तपस्वी रामो की अयोध्याये हरली हैं! इसके विपरीत चाय की एक प्याली पर, एक पत्र पर टेलीफोन के संदेश मात्र पर अच्छे अच्छे धनपतियो के उन पुत्रो को मिल जाते हैं जिन्हे पढ़ाई के समय कुछ भी कष्ट नही उठाना पडा यदि कि उनकी पढ़ाई का खर्च प्रथम श्रेणी के गरीब छात्रो के जीवन भर की कमाई के कुल धन से भी अधिक होता है। व तब भी आनन्द करते है और अब भी हम तब भी उनकी दया चाहिये थी और अब भी। उनके वर्ग म प्रवेश पाने के लिये गरीब वर्ग के छात्र को कौन--कौन सी और कितनी कितनी कीमते नही चुकानी पडती। और फिर भी सही मानों मे प्रवेश क्या कभी हो पाता है! और अगर हो भी पाता हो तो कितना का! उस वर्ग का मूर्ख भी स्वर्ग सुख भोगता है। इस वर्ग का योग्य भी उस वर्ग के मूर्ख के आनन्द सुख का हजारवा भाग तक नही पा पाता! सभवत योग्यता क्षमता सुख और समृद्धि म किसी प्रकार का कोई भी सम्बन्ध नही! मूर्ख धनपति मालिक या मनेजर हो जाता है। (पतृक परम्परा स प्राप्त अधिकारो के बल पर), योग्य विद्वान उसका नौकर बनता है--उसी पर आश्रित! इस वर्ग मे कोई कलम का मजूर है और कोई हाथ पैरो का। कलम के मजूर की आंखो को रात दिन का श्रम गड्ढे मे ढकेल देता है और उस पर टूटी कमानी का चश्मा चढ जाता है और हाथो पैरो के मजूर की शरीर शक्ति पर क्षीणता का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। कमर दोनो की टूट जाती हैं। जीवन दोनो का दयनीय होता है। मानव का अपमान दोनो जगहो पर होता है। चिन्तन स्वातन्त्र्य और क्रान्तिपूर्ण दृष्टि दोनो मे नही होती। रूढियो रीतियो परम्पराओ अन्धविश्वासो आदि का पालन दोनो बडी आस्था और निष्ठा से करते हैं। बचपन मे खेलना मार खाकर पढना, शादी ब्याह करना बच्चे पैदा करना सम्बन्धियो स यथासम्भव व्यवहार बनाये रखना और सबसे निवाह करते चलना 'मालिक को खुश रखकर तरक्की' और बख्शीश पाना और इसी तरह रहते हुए एक दिन ससार स चले जाना मात्र ही इनका जीवन है। जीवन की छोटी-मोटी आवश्यकताओ एव आकाक्षाओ की पूर्ति म भी ये असमर्थ रहते हैं। इनका जीवन बडा सघर्षशील होता है। य ऊची बातो तक पहुचने ही नहीं पाते। मजदूर अपेक्षा कृत अधिक जल्दी सगठित हो जाता है। इनका सामाजिक महत्व बहुत होता है यद्यपि बुर्जुआ ने उसको मान्यता दी नही है क्योकि इनसे काम करवाते रहना वह अपना

अधिकार समझता है। दोनो वर्गों का बौद्धिक ह्रास बहुत अधिक हो चुका है। इनमें इतनी भी बौद्धिक जागृति या चेतना नही है कि वे स्वयं अपनी बातें कह सकें। १९१८ ई० के बाद ये लोग कुछ सगठित हुए और तब इनका हथियार हुआ हडताल। औद्योगीकरण और वर्ग संघर्ष की चेतना थोडी थोडी जगने लगी है। इनका राजनीति के क्षेत्र में प्रतिनिधित्व एकाध उच्च वर्गीय और कुछ निम्नवर्गीय लोगो ने किया है। साहित्य में इनका प्रतिनिधित्व वे लोग करते हैं निम्न मध्यवर्ग के किन्तु असाधारण कष्ट उठाकर पढ लिखकर कुछ सोचने और लिखने लायक हो गये हैं। प्रेमचन्द ऐसा के गौरवपूर्ण शिखर हैं। इनके कष्टो की प्रत्यक्ष अनुभूति जिनको नही है ऐसे कलाकारो की रचनायें उच्चकोटि की कलाकृति नहीं बन पाती।

मध्य वर्ग—

लोहे को लकडी काटने के लिये लकडी का बेंट बनाना पडता है। यदि अंगरेज को लोहा और भारत को लकडी मान लिया जाय तो भारत की समृद्धि को काटने और लूटने के लिये कुछ भारत वासियो की आवश्यकता अंगरेजो को पडी और अंगरेजो ने अंगरेजी पढे लिखे लोगों का एक वर्ग भारत में इसी उद्देश्य से निर्मित कर लिया। यह वर्ग तन से भारतवासी और मन से अंगरेज बन गया। फलस्वरूप यही भारत का मध्यवर्ग हो गया। सी० जी० स्मिथ ने भारतीय मध्यवर्ग की सूची कुछ इस प्रकार दी है[1] —

१—व्यापार व्यवसाय से सम्बन्धित ऊपर के कुछ बडे लोगो को छोडकर व्यापारी वर्ग जिसमें डायरेक्टरो सक्रिय साझेदारो प्रोप्राइटरो, एजेन्टो और दुकानदारों का वर्ग,

२—व्यक्तिगत बैंकों, व्यापारो और माल तयार करने वाले कारोबारो में नौकरी करने वाले उद्योग विशारद सुपरवाइजर इन्सपेक्टर और मनेजर, आदि विभिन्न पदाधिकारी

३—चेम्बर आफ कामर्स तथा अन्य व्यापारिक संस्थाओं से लेकर राजनीतिक संस्थाओ ट्रेड यूनियनों जन-कल्याणकारी सांस्कृतिक और नैतिक संगठनों आदि के बडी-बडी तनख्वाहें पाने वाले अफसर

४—सैनिक तथा अन्य प्रकार के नागरिक विभागों में नौकरी करने वाले लोगों में से सरकार के मंत्रियों और हाईकोर्ट के न्यायाधिकारियों की हैसियत से ऊपर के लोगों को छोडकर बाकी सभी लोग (इनमें कृषि, शिक्षा, सार्वजनिक निर्माण,

---

१—मॉडर्न इस्लाम इन इंडिया—स्मिथ पृष्ठ १० १३

परिवहन तथा सूचना विभागो म नौकरी करने वाले भी हैं),

५—वकील डाक्टर प्रोफेसर और अध्यापक उच्च और मध्य श्रेणी के लेखक और पत्रकार सगीतज्ञ तथा अन्य प्रकार के कलाकार तथा धर्मोपदेशक, आदि।

६—बिना कमाई किये हुए मिलने वाली आमदनी या व्यक्तिगत रूप से थोडी–बहुत देखभाल कर लेने से मिलने वाली आमदनी पर जीवन बिताने वाले तथा कथित 'बडे आदमी सम्मिलित कृषि स्वामित्व तथा भूस्वामित्व के अधिकारी, किसी फण्ड से निश्चित आय पाने वाले, और लगान देने वाले काश्तकार, जमींदार आदि

७—अच्छे बडे दुकानदार, होटलो के मालिक ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनियो के मनेजर, एकाउन्टेन्ट तथा अन्य अफसर, आदि,

८—देहातो मे उद्योग या व्यवसाय चलाने वाले वे लोग जिनकी भू सम्पत्ति पर वेतन भोगी मैनेजर आदि कर्मचारी काम करते हैं,

९ विश्वविद्यालयो या उन्ही के समान स्तर पर उच्चतम शिक्षा म पूरा समय लगाने वाले शिक्षार्थी,

१०—मनेजर, ऊँचे वेतन पाने वाले क्लर्क, आदि, और

११—माध्यमिक शिक्षा सस्थाओ की उच्चतर कक्षाओ के अध्यापक, जिला बोर्डों और म्युनिसिपल बोर्डों के अफसर सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यकर्ता, आदि।

उपयुक्त सूची पर एक दृष्टि डालने से यह स्पष्टत विदित हो जायेगा कि भारत के अपने सांस्कृतिक विधान–व्यवस्था म इनका इन रूपो मे कोई अस्तित्व नही था। जब यूरोपीय समाज–व्यवस्था भारत मे लागू की गई तभी ये अनिवार्य हुए। यह वर्ग भारतीयता के मूल स्रोत से अलग था और इसकी विशेषता हुई अपने धर्म, समाज और सस्कृति से पूर्ण अनभिज्ञता तथा यूरोपीय समाज और सस्कृति की अन्ध भक्ति। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, अँगरेजो ने हिन्दुस्तान मे एक नई जमात या जाति पैदा कर दी थी और वह थी अँगरेजी पढ़े–लिखो की जमात, जो अपनी निजी दुनिया मे रहती थी आम जनता से अलग–अलग थी और जो हमेशा ही —यहा तक कि विरोध के अवसरो पर भी—अपने शासको के मुह की तरफ देखती थी।[1] इस वर्ग का उदय या विकास हमारी सामाजिक प्रवृत्तियो के घात–प्रतिघात के परिणामस्वरूप या हमारी आवश्यकतानुसार नही हुआ था। यह नकलचियो का वर्ग था न कि नये मूल्यो और नई रीतियो का आविष्कार करने वाला। अँगरेजो द्वारा

१, हिन्दुस्तान की कहानी', पृष्ठ ३७१

विकसित की गई अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इसकी कल्पना उठी थी। भारत की शिक्षा की व्यवस्था और आयोजना इन्हीं को ध्यान में रख कर की गई थी। प्रारम्भ में इनकी सारी प्रवृत्तियां अंगरेजों की प्रारम्भिक कल्पना के अनुसार ही विकसित हुईं। अंगरेजों से इनका अस्तित्व था अतएव ये उन्हीं के भक्त थे। अंगरेजी व्यवस्था की प्रवृत्तियां इनकी जन्म भूमि थी अतएव वे इन्हीं की पोषक भी थी। अंगरेजों के चले जाने के बाद भी इनका यह अंगरेजी-पद्धति-प्रेम समाप्त नहीं हुआ। किसी न किसी रूप में दिखाई ही पड़ जाता है — कभी अंगरेजी चलाए रहने की कामना के रूप में और कभी अंगरेजी वेशभूषा अपनाए रहने के रूप में। यह वर्ग क्रान्ति तो क्या करेगा, इससे तमस के प्रतीक काले रंग के गाउन तक को दीक्षान्त समारोहों से हटाते नहीं बन सकता। कहां विद्या की सत्त्वप्रधान ज्योतिर्मयी उज्ज्वल कल्पना और कहां विद्याध्ययन की समाप्ति के बाद उसके प्रतीक के रूप में काले रंग के कपड़े को अपनाए रहना !! नौकरी इस वर्ग का लक्ष्य हो गया। सरकारी नौकरी की कामना और सरकार-भक्ति इनकी शोभा हो गई। सरकारी नौकरी इनकी 'तरक्की' थी और अपना रोबदाब (प्रेस्टिज या 'कन्ट्रोल') बनाये रखना इसका पहला कर्तव्य हो गया। मालिक खुश रहें और इनकी अपनी इज्जत न घटे तो फिर जनता की निन्दा उनकी सामाजिक आर्थिक बौद्धिक उन्नति हो या न हो, कोई चिन्ता की बात नहीं। यह वर्ग बड़ी तेजी से बढ़ा। बुद्धिमान गरीब छात्र इस वर्ग में आकर अपने खानदान का गौरव बढ़ाने वाला माना जाने लगा। इस प्रकार शहर का यह वर्ग गांव की प्रतिभाएं वहां से खींच कर उन्हें अपने में समाहित करके गांव को प्रतिभा-विहीन करता रहा। यह वर्ग अंगरेजों की कृपा और उनकी सभ्यता की सुविधाएं भी भोगता रहा और अंग्रेजों के बाद भारत की निधि का भी आनन्द लूटता रहा क्योंकि आजादी के बाद अंगरेज भले ही चले गये हों उनकी व्यवस्था नहीं गई और जब उनकी व्यवस्था नहीं गई तो उस व्यवस्था की उपज और उस व्यवस्था को सफलतापूर्वक चलाते रहने के लिए अनिवार्य यह वर्ग इस वर्ग का महत्व और इस वर्ग की प्रवृत्तियां कैसे जा सकती है? इसने गांव का शोषण किया या यों समझिए कि भारत के शोषण में यह सहयोगी बना। इसीलिए गान्धी जी ने लिखा है 'लेकिन एक सिलसिला बन गया है—१५० वर्षों से भी अधिक समय से—एक शहर है वह देहातियों से पैसे लेने के लिए है। देहातों से कच्चा माल ले, देश-विदेशों में व्यापार करे और करोड़ों रुपए कमाए लेकिन करोड़ों रुपया देहातियों को नहीं मिलेगा, थोड़ा मिलेगा ज्यादा रुपया करोड़पतियों धनिकों तथा मालिकों को मिलेगा शहर देहातियों को चूसने के लिए है।'[1] इस प्रकार अंगरेजी नीति ने भारतीय

१ प्रार्थना प्रवचन भाग २ पृष्ठ १८८

समाज मे एक दोगला मध्यवर्ग पदा कर दिया जिसे धूजटीप्रसाद मुकर्जी ने 'भद्र लोक' की सुदर सना दी है जो देश के सामाजिक–आर्थिक विकास में कोई भी सच्चे ऐतिहासिक महत्व का काय नही करता जो शेष जन–समूह से चार हाथ दूर ही रहना है और ध्यावसायिक दृष्टि से भी अपने को सबसे अलग रखता है, इनमे से अधिकांश केवल लगान वसूल करने वाले मात्र हैं। जीवन की सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रो की यथार्थ प्रवृत्तियो से इनका कोई भी परिचय नही है। भारतीय संस्कृति के प्रति इनकी निष्ठा सस्कार और सदाचार से सुधार तक के बीच भरमा करती है। इनमे से बहुत कम लोग सामाजिक दृष्टि से क्रान्तिकारी होते हैं भारतीय संस्कृति सम्बन्धी इनकी जानकारी कुछ–भी नही होती इनकी सामाजिकता जितनी अधिक नगण्य है उतना ही अधिक ये अपनी संस्कृति और सभ्यता, रहन–सहन बोल-चाल, चाल–ढाल तौर तरीके पर अभिमान करते हैं।'[१] सांस्कृतिक दृष्टि से ये खोखले होते हैं और सौस्कृतिक दृष्टि से ही ये दोगले भी होते हैं। अनेक कारणो से इनमें–से कुछ लोग धर्म और दर्शन की ओर अधिक झुक जाते हैं। इन लोगो ने हमारी स्थिति को नवीन रूप देने में कोई–भी महत्वपूर्ण काय नही किया।

इस वर्ग मे परिवर्तन —

बीसवी शताब्दी के आते–न आते इस वर्ग के कुछ लोग काफी बदल गये। बात यह है कि यह वर्ग एक प्रकार से गमले का पौधा था। इसकी जड़ पाश्चात्य सभ्यता या संस्कृति में भी बहुत गहरी नही थी इसीलिए अँगरेजी साम्राज्य के अतिशय अत्याचारो ने इस गाय को भी सिर हिलाने के लिए विवश कर दिया। अँगरेजों के व्यवहारो और नस्ल सम्बन्धी पक्षपातो तथा शोषण से छटपटा उठे। बातें इन्हे चुभीं। उभार सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने इनको एक नई दृष्टि दी। उदार और निष्पक्ष यूरोपवासियो के अध्ययन, खोज एव भारत की प्राचीन महानता सम्बन्धी निष्कर्षों ने भी उन्हें प्रेरणा दी। मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा —

हैं रह गये यद्यपि हमारे गीत आज रहे सहे
पर दूसरों के वचन भी साक्षी हमारे हो रहे।[२]

परिणामस्वरूप इस नये वर्ग की पुरानी प्रवृत्तियाँ कुछ बदलने लगी। यह जागृत होकर सँभल गया। अपने मौलिक दोषो का पूरी तरह से निराकरण तो नहीं

१ माडर्न इंडिया कल्चर, पृष्ठ २४

२ 'भारत भारती', पृष्ठ ७

कर सका किन्तु दृष्टिकोण को यथासम्भव राष्ट्रीय सांस्कृतिक और प्रगतिशील करके देश के परिवर्तन में यह बहुत सहायक हुआ। आमूल क्रान्ति इसके बसकी बात नहीं इसलिये इसने सुधार-मार्ग अपनाया। गांधी के आदर्शों पर चलकर इस वर्ग ने अपने और जनता के बीच की खाई को भी पाटने का कुछ काम किया। बंगभंग के आन्दोलन ने इस वर्ग को पहली बार झकझोरा था। इस वर्ग की पश्चिमी सभ्यता की अन्धानुकरण की प्रवृत्ति का सामान्य भारतीय जनता ने यथासम्भव तिरस्कार किया। इस कारण भी यह वर्ग सँभला। यह राष्ट्रीय हो गया। इसीलिये हमारी राष्ट्रीयता का प्रधान प्रकृति थी सुधार, न कि क्रान्ति फिर भी जो वास्तविकता है उसका स्थान अनुकरण नहीं ले सकता। गमले का पौदा अमली पौद से अच्छा नहीं हो सकता। इंगलैंड का मध्यवर्ग समाज का स्वाभाविक परिणाम था, यहां का ऐसा नहीं था। यही कारण है कि सांस्कृतिक पुनर्जागरण की उर्वर भूमिका में पल्लवित-पुष्पित होने पर भी भारतीय मध्यवर्ग द्वारा रचित आधुनिक हिन्दी साहित्य इंगलैंड के मध्यवर्ग द्वारा रचित साहित्य से बहुत उत्कृष्ट न हो सका। अपमान और अनादर सहने वाला यह वर्ग छुई-मुई की तरह था। जिसके अन्दर गहराई नहीं है या जिसकी जड़ें मजबूत नहीं हैं छिछली या हल्की भावुकता उसकी स्वाभाविकता होती है। आधुनिक युग में इस वर्ग ने विवेक-विहीन नतिकता और हल्की भावुकता की वृद्धि कर दी। जीवन के सभी क्षेत्रों में यह देखी जा सकती है। हमारी राजनीति, धर्म नीति अर्थनीति मनोरंजन आदि में हल्की भावुकता भी है। गहराई तक हम सोच ही नहीं पाते और यदि सोचते भी हैं तो उसे व्यवहार में ला नहीं पाते। साहित्य में यही दिखाई पड़ता है। प्रेमचन्द के प्रेमाश्रमों और सेवासदनों के पीछे, रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' के पीछे 'साकेत' की आश्रमवासिनी सीता, और यशोधरा के पीछे इसी हल्की भावुकता का अतिशय है। भारतवर्ष के सामन्त मध्यवर्ग की असहाय स्थिति ने हमें बहुत अधिक प्राचीनमुखी कर दिया था। ऐतिहासिक उपन्यासों और नाटकों के रूप में यह मध्यवर्गीय निराशा वाद भावुकता बड़े ही गूढ़ रूप में अभिव्यंजित होती है। जैसे सारी क्षमताएं रखते हुए भी मध्यवर्ग का अन्तर खोखला था वसे ही सभी प्रकार की शक्तियां रखते हुए भी प्रसाद के नाटक-नायिकाएं 'हाय हाय' करती रहती हैं। समय कलाकार ने शक्ति का हृदय प्रेम से कमजोर कर दिया। यह कमजोरी— यह भावुकता 'प्रसाद' के उस चन्द्रगुप्त में भी है जो ऐतिहासिक दृष्टि से भारत का प्रथम सम्राट है। सम्भवतः नारी उसकी सबसे बड़ी कमजोरी है। यह मध्यवर्ग आज की बात को किसी सुदूर ऐतिहासिक या प्रागैतिहासिक युग के व्यक्ति से कहलवाता है। मन की गहराई के

किसी कोने में कहीं किसी प्रकार का डर छिपा है जो अपनी बात अपने मुख से नहीं कहने देता और आज यह बात कहने की नहीं रह गयी है कि यह मध्यवर्ग अंग्रेजों से कितना अधिक डरता था ! हमारे समाज का एकमात्र नायक —यह मध्यवर्ग —कुछ उतना फीका, कुछ उतना हतप्रभ, कुछ उतना ही हल्का था जितना 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी', 'कचनार', आदि का नायक !! बीसवीं शती के चौथे और पाँचवे दशक में इतिहास का यह छद्म कुछ-कुछ उतरने लगा । उपन्यासों के पात्र आधुनिक समाज के होने लगे किन्तु मध्यवर्गीय भावुकता-जनित हल्का रोमांसवाद यहाँ भी सक्रिय रहा । चाहे यशपाल हों चाहे नागार्जुन 'अज्ञेय' हों या लक्ष्मीनारायण मिश्र हैं तो सभी मध्यवर्ग के ही ! जागरण अचेतन की कमजोरी नहीं समाप्त कर पाया । इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण मध्यवर्गीय धर्मवीर भारती का प्रथम उपन्यास 'गुनाहों का देवता' है । भाषा और शैली की असाधारण मोहकता के बाद इस उपन्यास का सबसे बड़ा आकर्षण —जिसने शरत बाबू की कृतियों की ही तरह 'गुनाहों का देवता' को तरुण—तरुणियों में बहुत लोकप्रिय बना दिया है— यह मध्यवर्गीय फिल्मी रोमांस है जिसके कारण तरुणी सुधा तरुण चन्दर से नन्ही बच्ची की तरह ठनगन करती है । इस छिछली भावुकता में गुदगुदी तो है परन्तु वह गहराई नहीं जो मिलन के आनन्द को गम्भीर मर्यादित रूप दे सके और वियोग के दुःख को सहने की शक्ति दे सके । यह मिलन को हलाहल और वियोग को आत्महत्या में बदल देती है । चन्दर में यही भावुकता है । उनमें अपनी प्रेमिका को अपनाने का नैतिक साहस नहीं और उनकी निर्बल भावुकता में इतनी सहानुभूति नहीं कि वह बिन्ती के प्यार को दुलार सके । निर्बल क्रूर होता है और चन्दर सुधा की चिता की राख से बिन्ती की माँग का क्रूर मजाक उड़ाता है ! यह स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं !! यह मध्यवर्ग शहर को पूर्ण रूप से अपना न सका और देहात से अपना मानसिक सम्बन्ध तोड़ न सका । उनका 'देहात' अंगरेजों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट किया गया दयनीय देहात कम उनकी अपनी कल्पना का रोमांटिक देहात अधिक है ! इस निर्मूल मध्यवर्ग के पास मीरा और राधा की भावुकता नहीं सीता राम का वियोग नहीं, सूर-जैसा समर्पण नहीं तुलसी-जैसी स्वस्थ जीवन दृष्टि और सांस्कृतिक समन्वय की क्षमता नहीं केशव का पाण्डित्य नहीं बिहारी की कला नहीं ! !

फिर भी, यह मध्यवर्ग सराहनीय है क्योंकि अपनी तमाम मौलिक कमजोरियों के होते हुए भी हमने भारत के लिए बहुत-कुछ किया । पराजित और सभी

तरह से शोषित भारत म एव यह मध्यवग ही एसा था जिसमे कुछ लोग नवीन भारत को जन्म दे सके। अँगरेज इसका उपभोग अपने लाभ के लिए करना चाहते थे और उन्होने बहुत दिनो तक किया भी किन्तु समय और अनुकूल परिस्थिति पा कर इस वग के ही कुछ लोगो न अपने को मध्यवर्गीय प्रवृत्तियो स यथासभव अलग करके या उससे दूर होकर अन्ततोगत्वा देश और जाति की सेवा म अपने को लगा दिया। पुनरुत्थान और पुनर्जागरण क काय म इस नये मध्यवग ने बहुत अधिक भाग लिया। य नवीन शिक्षण और ज्ञान के प्रवतक थे और जो नया भारत बना उसक नेता थे। यही वग भारत का बुद्धिजीवी वग हुआ, भारत का मस्तिष्क हुआ भारत की आत्मा बना। निम्नवग हतबुद्धि हतोत्साह और हताश था तथा कथित उच्चवग हतात्म एव हतचेतन। दोनो पराहत थे निष्क्रिय थे। सक्रियता चाहे किसी भी प्रकार की क्यो न हो—यदि थी या सम्भव थी तो केवल इसी नये मध्य वग म। इस युग म बौद्धिक उन्नति का सबस अधिक महत्वपूर्ण माध्यम विश्वविद्यालय या स्नातकोत्तर विद्यालय ही था। इस नय मध्यवग ने इन्हीं के द्वारा अनेक सामाजिक शास्त्रो अँगरेजी साहित्य संस्कृत, इतिहास आदि का अध्ययन किया। प्राचीन और नवीन भारत का अध्ययन भी इन्ही विश्वविद्यालयों म हुआ। भारत से सम्बन्ध रखने वाले तथ्यो और उनकी व्याख्याओ स—जो इन शिक्षा—संस्थाओ मे पढाई जाने वाली पुस्तको मे थे—यद्यपि भारत का पूणत और वास्तविक चित्र नही उभरता था किन्तु इस अध्ययन से गतिशील मध्यवग का यह लाभ अवश्य हुआ कि वह पूरी तरह से अन्धकार मे नही रह गया। कुछ ■ कुछ आभास तो मिल ही गया। राष्ट्रीय प्रेरणा के लिए जिस एक झलक की आवश्यकता थी वह मिलने लगी। यह प्रेरणा पा कर मध्यवग के इन लोगों ने अपने समाज की कमियो को सुधारने का सक्रिय प्रयत्न इस आलोच्य काल मे आरम्भ कर दिया। नवीनता के लिए भी प्रेरणा मिली। पाश्चात्य प्रभावो ने दृष्टि को पूणत मौलिक तो नही रहने दिया किन्तु दृष्टि को सतुलित रखन का जितना प्रयत्न सम्भव था उतना इस चतन मध्य वग न किया। लगभग प्रत्येक कस्बे और शहर म विश्वविद्यालयो से शिक्षा पाए हुए लोग—वकील, डाक्टर, अध्यापक, अफसर आदि फल गये। ये ही लोग प्रगतिशील विचारो के फलाने के माध्यम बने। इन्ही के द्वारा सामाजिक और नतिक जीवन का एक रूप निश्चित किया गया। उन्नति करने के एक आवश्यक उपकरण क रूप मे पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता को स्वीकार किया गया। जातियो के अन्दर भी सुधारकों का उदय हुआ। रेल समाचार पत्र शिक्षा और राजनीतिक हलचलो ने पुरानी सीमाओं पुराने बन्धनो और दृष्टिकोणो को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया।

ऊँची जाति के लोगों में एक पत्नीव्रत नियम-सा हो गया। नारी शिक्षा बढ़ी। विधवा विवाह से लोगों की झिझक अभी पूरी तरह से जा न सकी किन्तु विधवाओं की स्थिति सुधारने की माँग सभी ओर से उठने लगी। सास-बहू और ननद-भाभी का निदिचन-सा कलह इस वर्ग में समाप्त सा हो गया है। इंगलैंड से लौटे हुए विद्यार्थी मामूली प्रायश्चित के पश्चात् जाति, धर्म और खानदान में वापस लिये जाने लगे। अन्तर्जातीय विवाह भी बरदाश्त किये जाने लगे। जातियों को सामाजिक संस्था मात्र के रूप में यह चेतन वर्ग देखने लगा। उसने उन्हें एक शाश्वत मानवीय विभाजन के रूप में नहीं देखा। सांस्कृतिक दृष्टि से यह वर्ग कुछ अधिक उदार दृष्टिकोण और व्यवहार वाला हो गया। विभिन्न जातियों का पारस्परिक सहभोज अनायास रूप से ही स्वीकृत हो गया। इस युग में सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत समझौते हुए। रूढ़िवाद प्रगतिशीलता में बदल गया। अनेक राष्ट्रीय, राजनीतिक धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों का आह्वान, संगठन और नेतृत्व इस मध्य वर्ग ने ही किया, आत्मत्याग और कष्ट-सहन इस वर्ग के कुछ लोगों ने बहुत किया। ये जन-साधारण के भी सम्पर्क में आए। यही वर्ग बेकारी और असन्तोष का भी शिकार बना। रस्किन, मिल, रूसो, वाल्टेयर, टालस्टाय, मार्क्स, लेनिन आदि के क्रांतिकारी विचार इस वर्ग के कुछ लोगों में भर गये थे। अपनी-अपनी भाषाओं के साहित्य को भी इसी वर्ग ने फिर से समृद्ध करने का प्रयत्न किया। यही वर्ग साहित्य में धर्म और दर्शन की जगह राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र, क्रान्ति और विद्रोह की भावना लाया। इसी वर्ग ने अधिकाधिक साहित्यिक पैदा किये हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य इसी मध्य वर्ग के द्वारा इसी मध्यवर्ग के लिए इसी मध्यवर्ग का है। महावीर प्रसाद द्विवेदी के बाद विनिर्मित साहित्य की तुलना यदि उनके पूर्व निर्मित साहित्य से करें तो यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है। इस मध्यवर्ग में दो प्रकार के लोग हैं। एक वे हैं जिनका विचार है कि उन्हें न कुछ सीखना है और न कुछ भूलना है। इस वर्ग का आधार है शास्त्र जो इसके लिए कारागार-सा बन गया है। यह प्रगति विरोधी है और प्राचीन की मानसिक दासता स्वीकार कर चुका है। इसमें किसी भी प्रकार की जिज्ञासा नहीं। यह वैज्ञानिक सत्य को असम्मान की दृष्टि से देखता है। इस वर्ग के लोगों के लिए सभी प्राचीन सिद्धान्त शाश्वत सत्य हैं। इनके विपरीत कुछ लोग ऐसे हैं जो अतीत के भार से बिल्कुल मुक्त हो जाने की सलाह देते हैं क्योंकि भारत की आध्यात्मिकता ने आक्रमणकारियों और लुटेरों से इसकी रक्षा बिलकुल नहीं की। ये लोग भारत की दुर्दशा का दोष उसकी आध्यात्मिकता को देते हैं। इनके लिए पाश्चात्य संस्कृति— विशेषतः साम्यवादी संस्कृति— सब कुछ है। इन्हें

धोती से चिढ़ और पतलून से प्रेम है। इसी मध्यवर्ग में अब ऐसे भी लोग पैदा हो गये हैं जो उपयुक्त दोनों को गलत समझते हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से मध्यवर्ग ने अब भी कोई सुनिश्चित मार्ग नहीं अपनाया है। यह आधा तीतर आधा बटेर है और इस प्रकार इसका जीवन एक विडम्बना मात्र हो गया है, इसकी कोई नैतिकता नहीं आस्था नहीं विश्वास नहीं। यह एक सर्वविदित बात है कि आजादी के बाद इस वर्ग के पास अंगरेजी कपड़ों के साथ साथ साहब की शानबानी का भी एक-दो गज रहने लगा था। इन्हीं को ध्यान में रखकर धीरेन्द्र वर्मा ने व्यंग्य किया है 'सच पूछिए तो लोगों ने अपना जीवन को एक बड़ा भारी मूड बना लिया है।

जरा-जरा सी बातों में लोग दुहरे भाव रखते हैं जब चाहा जैसा बदल लिया। एक ओर देश के उद्धार के लिये जीवनोत्सर्ग करने पर व्याख्यान दिया जा रहा है दूसरी ओर लड़के को डिप्टी कलक्टरी दिलाने की कोशिश की जा रही है — श्रीरामचन्द्र, शिवाजी और लाजपतराय के बजाय रायबहादुर धर्मलाल साहू भिखारीलाल व आडिट आफिस के मशहूर हेड क्लर्क बाबू रामसहाय की जीवनी लाखों छाप छापकर हर लड़के के हाथ में दे देनी चाहिए। इन्हीं की तरह सा बान्धव में लड़का स कमानी है। दुनिया बहुत झूठी है।'[1] गांधी जी के आन्दोलन के अनुकरण अथवा उनके आत्मतेज के कारण पहले हमारी कमजोरियां कुछ दबा दी थीं किन्तु उसके बाद या यों कहें कि स्वराज्य मिलने के ही बाद हमारे भीतर का मध्ययुगीन मन बाहर निकल आया है। सुमित्रानन्दन पन्त के शब्दों में 'आज भी देश के अधिकांश लोग उसी सीमित-खण्डित मानसिकता से परिभाषित हैं। इस वर्ग का संसार दो संसारों के बीच में भटक रहा है। उनमें से एक संसार मृत है और दूसरा अभी जन्म लेने में असमर्थ है। द्वितीय महायुद्ध के बाद यह वर्ग बुरी तरह से पिस गया। यह असहाय स्थिति में घुट घुट कर मरने लगा। यह पतलून पहनना छोड़ नहीं सकता था और घुटनों तक धोती पहन नहीं सकता था। कोट के नीचे फटी हुई कमीज और कमीज के नीचे चिथड़े-चिथड़े बनियान पहनता था। पस्ती, हार, घुटन, आदि में पड़कर भी यह अपने को 'बाबू' रूप में ही दिखाता है। यह भीतर से खोखला हो गया और इसकी नैतिकता की दीवारें ढह गईं। यह बुरा करने को बुरा नहीं समझता, बुरा करके उसे न छिपा पाने को बुरा समझता है। दयनीयता यह है कि यह वर्ग भयानक रूप से जड़ हो गया है। जीवन के शाश्वत उच्चतर एवं सूक्ष्मतर मान्यताओं और मानदण्डों का कोई भी महत्व इसके लिये नहीं रह गया है। संस्कार,

---

१– मेरी कालेज डायरी, पृष्ठ ४२

धम और अध्यात्म के बारे मे यह 'पडित जी' की आज्ञा सामाजिक कर्तव्यो के बारे मे रूढियो और परम्पराओ की व्यवस्था और नेप के विषय मे य तो अपने अफसर की प्रसन्नता का अनुशासन या फिर अपनी भौतिकता प्रधान रुचियों और वासनाओ की उत्तेजनाओ का सकेत मानता है। यह वग इतना जड हो चला है कि कुछ भी सोचने को तयार नही है। म न के क्षेत्र मे अपने से बडो की बातें और निश्चय और दोष के विषय म उपयु क्त विधि निषेध इसका दृष्टिकोण है। दूर तक मौलिक ढग से अर्थात् अपनी समझ अनुसार यह सोचता ही नही। यह अपनी जानकारी का भी आदर नहीं करता। परलोक का दण्ड विधान चूँकि आँखो से दिखाई नही पडता और यह परोक्ष की बातें सोचता नही अतएव परलोक का डर समाप्त हो गया। गहराइयो के अभाव मे जड आकषणो से ऊपर उठ नहीं पाता। इसका परिणाम यह हुआ है कि यह यम नियम को बेकार समझता है। इनके पास यदि आस्था नाम की कोई चीज रह गई है तो वह केवल मानव स्वभाव की कमजोरियों और उनके स्थायित्व पर ही नही तो यह वग पूण रूप से अनास्था वाला हो गया है। यह वर्ग इसलिये सामाजिक रूढियो को तोडने लगा कि इससे इसकी जड वासना तृप्त होती है या अफसर तथा ऐसे ही लोग—जिन्हें वह महत्वपूर्ण समझता है—इसके इस काय से प्रसन्न होते हैं या इसे दकियानूसी या 'आउट आफ डेट' नही समझते। निधन, काली, अपगु एव अनाथ हरिजन बाला से विवाह करके क्रान्ति करने वाले नवयुवक कहा मिलते हैं। धनी या खूबसूरत ब्राह्मणेतर बाला से विवाह करने को नए खून वाले कई ब्राह्मण युवक तयार हो सकते हैं। अपनी जात बिरादरी तक की गरीब काली या कम पढी लडकिया देखिए और तब नई क्रांति करने वाले इन क्रान्तिकारियों को देखिये। 'क्रान्ति' या सहानुभूति की असलियत का पता लग जायगा। तलाक प्रिय है—इसलिए नही कि उसके पीछे कोई क्रान्तिकारी दृष्टिकोण है, बल्कि इसलिए नही कि कई नये शरीर भोग के लिये मिल सकते हैं। यहा क्रान्ति नही भोगवृत्ति या वासना की प्रधानता है। 'बाटा' की दुकान पर ब्राह्मण नौकरी करेगा, इसलिये नहीं कि वह चमडे के जूत का व्यापार करना कुछ बुरा नही समझता, बल्कि इसलिये कि शौक पूरा करने के लिये जितने रुपये चाहिए उतने वह अन्यथा नही कमा पाता। पहले के सत्याग्रह सग्रामो की प्रतीयमान असफलताएँ ये ही दृश्य उपस्थित कर सकती थी किन्तु यदि ऐसा नहीं होने पाया तो इसलिये कि तब गाधी जीवित थे। इस मध्य वग और उच्चवग को अपनी खाली तिजोरियो को भरने की बक पूजी बढाने की अथवा अपनी जेब गम करने की इतनी लालसा रहती है कि ये किसी भी समय जनता को धोखा दे सकता है। यह क्रूर वर्ग कृत्रिम या अन्न की कमी लाकर जनता जनार्दन की जि'गो

स खेल खेलकर अपनी कोटियां खड़ी करता है और निजोरिया भरता है। यह है लक्ष्मी जी सदा सहाय' यह दयनीय मध्यवर्ग आज अध्यात्म की उपेक्षा करता है किन्तु अपने 'अहं' का दास है। इस वर्ग मे फिर दिखावा बढ गया है वास्तविकता की कमी हो गई है। यह भारत के प्राण और भारत के वास्तविक रूप—देहात—से मानसिक दृष्टि से अब भी दूर है और इसलिए माखनलाल चतुर्वेदी ने लिखा है, 'हम तो शहराती साहित्य लिखते हैं। थोड़े से दिमागी एयाशों को ढूंढकर उनकी रसा पर भिनकती या सूझों पर सनकती इच्छाओं के वशीभूत जब उनकी तालियाँ सुन लेते हैं हम निहाल हो जाते हैं।"[1] यह मध्यवर्ग जैसे अपने जीवन में किसी को अपना गुरू नहीं समझता वैसे ही साहित्य-क्षेत्र में भी इसने गुरु-शिष्य परम्परा का अन्त कर दिया है। जैसे इसके जीवन में शोषण और अनतिकता है वैसे ही इसके द्वारा निर्मित साहित्यिक वातावरण मे शोषण और अनतिकता है। जैसे इसके जीवन में गहराई नहीं, केवल ऊपरी चमक दमक और दिखावा है वैसे ही इसके द्वारा रचित साहित्य मे भी अब शैली की चमक, भाषा का सौन्दर्य, कला का आकर्षण अधिक है। जैसे यह हर नये फैशन का दीवाना है वैसे ही इसके द्वारा रचित साहित्य का स्वरूप भी शैली और भाषा का नयापन अधिक लिये है। साहित्य में भी नवीनता का सर्वग्राही मोह इतना बढ गया है कि दस-दस और पन्द्रह पन्द्रह वर्षों में नये वाद चल पड़ते हैं। दार्शनिक गहराई इस मध्यवर्ग के जीवन में कम है और इसके साहित्य मे भी कम है। यशोलिप्सा जीवन मे भी है और साहित्य में भी। व्यवसायिक वृत्ति इस मध्य वर्ग के जीवन मे उत्तरोत्तर प्रधान होती गई है और इसके द्वारा निर्मित वातावरण तथा इसकी साहित्यिक वृत्तियों मे भी। जीवन मे भी उच्छृङ्खलता है और साहित्य वातावरण मे भी। गुटबाजी जीवन के अन्य पक्षों मे भी है और साहित्यिक वातावरण में भी। जीवन मे भी चोरी भरी है और साहित्य में भी। जैसे जन मंगल की भावना का कथन मात्र जीवन में है मगर जन मंगल कोसों दूर है वैसे ही साहित्य में जनमंगल का नारा जोरों से लगता है किन्तु जनमंगल उससे होता नहीं। केसरीनारायण शुक्ल ने लिखा है, कवियों का समुदाय जिस (मध्यम) वर्ग से आता है उसकी जड़ें सामान्य जीवन के बीच नहीं जमी हैं। यह शिक्षित, दीक्षित और शिष्ट वर्ग देश की जीवन सरिता के ऊपर ही उतराता हुआ इधर से उधर बह रहा है।[2] इसलिये

१— सम्मेलन पत्रिका,' फाल्गुन २००० संवत् में प्रकाशित, 'साहित्य धर्म' शीर्षक लेख से

२—'आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत', पृष्ठ १८८

इनकी कविताओं में कृत्रिमता का प्राधान्य है। 'भारत भारती' और 'बच्चन' इसी मध्यवर्ग की भावनाओं और अनुभूतियों से अनुप्राणित थे और यही इनकी असाधारण लोकप्रियता का रहस्य है। साहित्यकारों के बीच का स्नेह और वमनस्य इसी मध्य युगीन मन का स्नेह और वमनस्य रहा है। यह मध्यवर्ग यथार्थ से दूर रहा और इसकी रचनाओं में भी यथार्थ का आभास मात्र-सद्धान्तिक या कल्पना प्रधान रूप ही-मिलता है। जिस तरह की विद्वता इस वर्ग के पास है इनकी रचनाओं को समझने के लिये उसी तरह विद्वता-या विरचित मन और मनोवृत्ति-चाहिए। रामकुमार वर्मा 'अश्क', भुवनेश्वर जगदीशचन्द्र माथुर आदि के सामाजिक एकांकी नाटकों में यही मध्यवर्ग विशेष रूप से चित्रित है।

पन्त ने ठीक ही लिखा है किन्तु हमारे निष्प्राण प्रेरणाशून्य साहित्य में उपचेतन की मध्यवर्गीय राग प्रवृत्तियों का चित्रण ही आज सृजन कौशल की कसौटी बन गया है और व परस्पर के अहंकार-प्रदर्शन, लांछन तथा घात-प्रतिघात का क्षेत्र बन गयी हैं जिससे हम कुण्ठित बुद्धि के साथ संकीर्णहृदय भी होते जा रहे हैं।[1] इस मध्यवर्ग का हास्य भी मुक्त हृदय का हास नहीं रह गया है और रुदन भी शुद्ध हृदय का रुदन नहीं है। यह सद्धान्तिक हंसी हंसता है और सद्धान्तिक रोना रोता है। महादेवी के रुदन के विषय में प्रिंसिपल विश्वमोहन कुमार सिंह ने लिखा है आपकी रोने की एक आदत सी हो गयी है रोने की आदत ही नहीं रोने में आपको आनन्द आता है सुतरां आपके दुःखों से पाठकों के हृदय में दुःख का संचार नहीं होता न आपके प्रति सहानुभूति के भाव का ही जन्म होना है। एक सजग पाठक जानता है कि आप रो नहीं रही हैं, रोना आपकी कला का एक अंश है।[2] द्विवेदी युग के पूर्व यह मध्यवर्ग सांस्कृतिक पुनर्जागरण के सब प्रभावों से संस्कृत और सोत्साह था और इसलिए उस युग के साहित्य पर जागरण उत्साह और स्फूर्ति की छाप है। एक नवीनता है। एक प्रियकर जागरण है प्रौढ़ता भले ही नहीं है। उसके पश्चात् आर्यसमाज के पाञ्चजन्य-घोष के परिणाम-स्वरूप सामाजिक सुधारों का युग आया उत्थान के प्रयत्नों का युग आया, वक्तव्य की शुष्कता का युग आया, नव्य सांस्कृतिक चेतना के सक्रिय होने का युग आया सात्विकता का युग आया और यह द्विवेदी युग है। फिर इस वर्ग ने गांधी का नेतृत्व जीवन और साहित्य दोनों क्षेत्रों में स्वीकार किया। एक सात्विक भावुकता एक आनन्दवाद आदर्श प्रेम आदर्श जीवन, भावुकता, रोमांस आदि का जीवन आया और हमारे सामने प्रसाद, पन्त,

---

१ उत्तरा पृष्ठ ११

२ 'हिमालय,' जुलाई १८४६, पृष्ठ ६५ ६६

'निराला' रामकुमार वर्मा महादेवी, प्रेमचन्द्र, रामचन्द्र शुक्ल, आदि अए। बाद मे यही वग साम्यवाद, सघष, कष्ट, भौतिकतावाद पराजय, आदि से जीवन मे भी प्रभावित हुआ और साहित्य म यथायवाद का या प्रगतिवाद का युग आया। नरेन्द्र अचल' यशपाल, पहाडी, भुवनेश्वर आदि ने छायावाद की अशरीरी भावनाओं का अचल न पकड कर स्थूल मासल शरीर का आकपण देखा। आगे चल कर इसी वर्ग मे थोडी-बहुत सामाजिक चेतना जगी और तभी द्वितीय महायुद्ध आ गया जिसमे यह मध्यवर्ग बुरी तरह पिस गया और उसकी सारी पिछली मान्यताएँ नष्ट-भ्रष्ट होने लगी। जीवन कराह उठा मानव चुप गया मानवता रो उठी और आदर्श धुँधले पड गये।। एक ओर महायुद्ध और दूसरी ओर १९४२ ई० का आन्दोलन। भारत की चेतना विमूढ-सी हो उठी। होश आया तो आजादी मिली और नये प्रयोग प्रारम्भ हुए क्योकि नयी समस्याएँ आ खडी हुई और पराधीनता के युग के दृष्टिकोणों को बदलना अनिवार्य हो गया जिसकी पूरी तैयारी सम्भवत हम नही कर पाए थे। प्रयोगो का युग देश म चला और प्रयोगवाद तथा नई कविता हिन्दी मे। इस मध्य वर्ग का जावन राजनतिक तथा सामाजिक जागृति का वाहक हो गया है और इसका रचा साहित्य भी।

अँगरेजी राज्य मे भारत का जीवन—एक सामान्य दृष्टि—

अन्त मे भारतीय जीवन पर जब एक बार हम फिर से दृष्टिपात करना चाहते हैं तब हम दाडी यात्रा के समय गाधी जी की कही यह उचित बरबस याद आ जाती है कि अँगरेजी राज्य ने भारत का नतिक भौतिक सास्कृतिक और आध्यात्मिक सभी तरह नाश किया है। शाह और खम्भाता ने लिखा है कि जन सख्या का १ प्रतिशत भाग राष्ट्रीय आय का ११३ भाग पाता है जबकि जनता का ६० प्रतिशत भाग राष्ट्रीय आय का ३० प्रतिशत पाता है।[1] द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने के ठीक पहले भारत की अधिकतर जनसख्या के औसत प्राणी की आय एक पनी से लेकर सवा पनी तक थी। ब्रिटिश भारत मे एक किसान की औसत आमदनी ४२ रुपये वार्षिक से अधिक नही ठहरती[2]। शाह और खम्भाता ने बडे रोचक ढग से हमारी गरीबी का अनुमान कराने का प्रयत्न किया है, भारत की औसत आमदनी सिफ इतनी है कि जनता के प्रत्येक ३ आदमियों म से केवल दो का पेट भरा जा सके या

१ 'दि वल्थ एण्ड टक्सेबुल कपसिटी आफ इण्डिया।

२ 'दि इण्डियन सेंट्रल बैंकिंग कमेटी, १९३८' के विवरण के प्रथम भाग का ३६ वा पष्ठ।

या समझिए कि यदि उनको तीन बार खाने की आवश्यकता है तो दो ही बार खिलाया जा सके और वह भी तब जब वे इस बात के लिए तैयार किए जा सकें कि वे सबके सब नंगे रहेंगे, पूरे साल भर तक बिना घर के रहेंगे, मनोरंजन या खेल की कोई-सी चीज न मांगेंगे—खाने के अलावा और कुछ न चाहेंगे और उनका खाना निम्नतम स्तर का, रूखा-सूखा, मोटा-झोटा और कम से कम स्वास्थ्य प्रद होगा।[1] धार्मिक दृष्टि से हमारी स्थिति यह हो गयी है कि वेद बचे तो हैं किन्तु हैं वे पुस्तकालय के बठनों मे। स्तुतियां सभी देवताओं की की जाती हैं। ध्यान बाह्य रूप और वातावरण पर रहता है। जो सच्चिदानन्द-निराकार सत्व सभी का मूल है उस पर ध्यान ही नहीं जाता। वह दार्शनिक विवेचना और साहित्यिक व्यंजनाओं मात्र के लिए रख छोड़ा गया है। आज ही मीराओं के कृष्ण दो-दो होने लगे हैं!! व्याकरण पांडित्य-प्रदर्शन के लिए हो गया है, वेद समझने के लिए नहीं। देवताओं की संख्या ३३ करोड़ बताई जाती है, नाम सौ पचास के भी मुश्किल से याद होंगे। वेदों की जगह विष्णु सहस्रनाम का पाठ होता है। भूत-प्रेत सिद्ध किये जाते हैं। धर्म तर्क-बुद्धि से दूर कर दिया गया है। सम्पूर्णानन्द ने लिखा है "उत्तरायणे तथा श्राद्ध न कुर्यात् तत्रापि यद्यपि कुर्यात् तत्रापि यद्यपि दह्यते ... दहत्यासप्तम- कुलम् अब इसको कौन समझदार अपनी बुद्धि में उतार सकता है। वेद कहता है कि तपस्वी पाप-हीन योगी उसको प्राप्त होते हैं जो विष्णु का परमपद है परन्तु नया उपदेश यह है कि 'न करोति ततोऽयात्रा विष्णोश्चन्दनपूजनम् यथा खस्य सिते पते न याति हरिमन्दिरम्।'[2] आगे फिर लिखा है "व्यास जी ने कहा है कि नाच्छिद्य पर मर्माणि, ना कृत्वाकमदुष्करम् ना हत्वा मत्स्यघातीव, प्राप्नोति महतीं श्रियम्।" व्यास जी विष्णु के अवतार थे इसलिए उनकी कही हुई बात श्री सत्यनारायण देव को भी मान्य रही होगी पर वह (साधु) बनिए से यह एक बार भी नहीं पूछते कि तुमने इतना रुपया कैसे कमाया सत्यनारायण की पूजा से यही काम लिया जाता है। जो सरकारी अहलकारों को रिश्वत देने से निकाला जाता है—तुम जो चाहो करो हम आंख बन्द कर लेंगे परन्तु हमारा हिस्सा देते जाओ।[3] अन्धविश्वास यहां तक है कि ब्राह्मणी माताएँ भी अपने बच्चों पर फूंक डलवाने गुरुवार की शाम मस्जिद के सामने खड़ी रहती देखी गयी हैं। ब्राह्मण लोग (पुजारी भी) विदेशी और विधर्मी शासकों के प्रति 'धर्मावतार' जैसे शब्दों का प्रयोग

१ दि वल्थ एण्ड टक्सबुल कैपेसिटी आफ इण्डिया,' पृष्ठ २५३

२ 'ब्राह्मण सावधान', पृष्ठ ६

३ वही पृष्ठ ११

करते देखे गये हैं। देवता ऐसे हैं जिनसे हमारे साधारण धर्मभीरु गृहस्थ ही बहुत अच्छे! विशिष्ट अधिकार सम्पन्न न होकर भी हमारे गृहस्थ दुराचारी और पर स्त्रीगामी तो नहीं होते! तपस्वियों का तप तो भंग नहीं करते! उनकी अप्सराओं और गुलचराओं में क्या अन्तर![1]

लड़के-लड़की की योग्यता और उनके विवाह तथा नारी आदर्श के सम्बन्ध में व्रजमोहन व्यास ने लिखा है 'साधारण श्रेणी के माता-पिता लड़के को मोहल्ले की किसी पाठशाला में बिठा देते थे या किसी स्कूल में भर्ती करा देते थे और सोलह बरस की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते उसका विवाह कर देते थे, चाहे वह किसी भी दर्जे में पढ़ रहा हो। इसके आगे उसके भाग्य की बात थी। इतना वे अवश्य ख्याल रखते थे कि अपने लड़के के लिए बिरादरी में जहाँ तक हो सके किसी भले घर की लड़की लाना। भला घर उनकी समझ में वही है जहाँ की लड़कियाँ घूर जायें पर उफ न करें। उनके ख्याल से 'क्या गनीमत नहीं ये आजादी साँस लेते हैं बात करते हैं।' लड़की के माता-पिता का एक सिद्धान्त था। लड़की का बाल-विवाह करना और उसे न पढ़ाना और यदि पढ़ाने का शौक चर्राया और उसकी माता यदि थोड़ा-बहुत पढ़ी लिखी हुई तो वह अपनी लड़की को केवल इतना पढ़ा देती थी कि वह भले-बुरे हनुमान चालीसा पढ़ सके और ससुराल में गाढ़े के समय मायके खबर भेज सके। लड़की के माता-पिता इस बात का बहुत ख्याल रखते थे कि लड़की की अभिलाषाओं की परिधि बहुत सीमित रहे वर को ढूँढने में लड़की के माता-पिता इस बात पर अधिक जोर देते थे कि लड़की के भावी श्वसुर का घराना ऐसा है कि नहीं कि उनकी लड़की के मुँह में रूखा-सूखा चारा पड़ जाए। लड़के की योग्यता का ख्याल सदा गौण ही रहता था भगवान ने चाहा तो उनकी लड़की सुखी रहेगी और सुख की परिभाषा में वे युधिष्ठिर से सहमत थे— दिवसस्याष्टमे भागे शाकं पचति यो नरः अऋणी च प्रवासी च स पृथिव्यां सुखी नरः। ससुराल जाने के समय लड़की को दो-चार ऐसे नुसखे बता दिये जाते थे कि सनद रहें और वक्त जरूरत काम आवें। एक तो उपर्युक्त युधिष्ठिर वाला। दूसरे कवि कुमारदास वाला— स्त्रियो न पुंसामुभयस्य साधनं न एव तद्धाम विभूतिहेतवः। सद्विद्युतोऽपि घनं प्रगल्भता विना न मेघं विलसन्ति विद्युतः। और सबके ऊपर कालिदास वाला— भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ऐसे वातावरण में किसी भी 'भले घर' की लड़की को मानसिक दुख हो ही कैसे सकता है सोहागिन मरने पर स्वर्ग में जाती है, सती जी उसका दर्शन करने जाती हैं।[1] यह अवस्था

---

1 'सरस्वती', जनवरी १९६३, पृष्ठ ५७, ५८

अत्यन्त दयनीय थी ! वह जीवन अत्यन्त करुण जीवन था ! गरीबी, धार्मिक अंध विश्वास बीमारी, गन्दी आदतें, अधिकारी की गुलामता, धन–सम्पत्ति की लालसा, विधवा, अछूत, अविद्या, मूर्खता, नैतिक पतन, उद्योग धन्धों का पतन, असंगठित कार्य, वास्तविक शिक्षा–व्यवस्था का अभाव, धार्मिक कर्मकाण्डों और संस्कारों का विवेक विहीन पालन, नए दृष्टिकोण का अभाव, स्वार्थी–भावरहित–निकम्मे लोगों की बढ़ती हुई संख्या, दुर्भिक्ष, करुण मौतें, अन्याय, अत्याचार, रिश्वत, मुनाफाखोरी, चोरी, जाति–पाँति के झगड़े, साहित्यिक मण्डली का धनी, जमींदार, अफसर आदि के सामने अपने को हीन समझना तथा विद्वान साहित्यिक की अपेक्षा उन्हीं को स्थान रखना और उन्हीं का प्रशंसा में गौरव मानना आदि आलोच्य काल के जीवन की सामान्य कहानी हैं। इस युग का चतुर और सफल व्यक्ति वह था जो मुकद्दमा जीतने की कला जानता था, जो झूठ बोलता था किन्तु यह कभी नहीं कहता था कि झूठ बोलना अच्छा है, जो नाम स्मरण रटना जानता था, जो करता वह था जिसके विपरीत बोलता या लिखता था, जो रुपया कमाना जानता था, जो झूठ बोल कर झूठ लिख कर अपने को प्रतिष्ठित कर लेना जानता था, जो अपनी तारीफ करवाने की कला जानता था, जो सफाई के साथ बुराई का जीवन बिता सकता था आदि।

– द्वितीय महायुद्ध के बाद स्थिति और भी विषम हो गई। शिवदानसिंह चौहान ने लिखा है, 'राष्ट्रीय जागरण की पृष्ठभूमि में भारतीय सांस्कृतिक पुनर्निर्माण (रिनेसा) के इस उत्थान का ऊर्ध्व विकास २० वीं शताब्दी के चौथे दशक में पहुंच कर रुक सा गया और ह्रास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई।"[१] और स्वाधीनता की प्राप्ति के पश्चात्!! गान्धी जी ने लिखा है, 'शताब्दियों पुरानी दासता की समाप्ति और आजादी के उदय के प्रारम्भ के साथ–साथ भारतीय समाज की सारी कमजोरियों का धरातल पर ऊपर आ जाना अनिवार्य है।"[२] हमारी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों को द्वितीय महायुद्ध के बाद धक्का लगा। जीवन विशृंखल, विक्षुब्ध एवं विमत्त हो उठा। रूस और चीन के विचारों ने भी उद्बुद्ध और क्रियाशील किया। विवेकहीनता एवं आन्तरिक मंथन के अभाव में विघटित अन्तर ने उच्छृंखलता और आत्महत्या का रूप धारण किया। हम भूल गये कि हम क्या हैं। पागल की तरह जिधर पाते हैं दौड़ पड़ते हैं। व्यक्ति को जो थोड़े–से अधिकार मिल गये हैं उनसे वह अपने को अनन्त–शक्ति–सम्पन्न समझ बैठा है। वह गहरे नहीं देखता वह दूर

१ हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृष्ठ २४२

२ 'हरिजन', १ जून १८४७ ई०

तक नहीं देखता। आज का व्यक्ति केंचुआ हो गया है। शान्तिप्रिय द्विवेदी ने लिखा है 'अप्रैल (१६५६ ई०) में विश्व स्वास्थ्य दिवस के अवसर पर डाक्टरों ने मनुष्य की विपण्ण मन स्थिति पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है उनका निष्कर्ष यह है कि आजकल अधिकांश लोग मानसिक रोग से पीडित होते जा रहे हैं ' घरेलू झगडे, अच्छे भोजन का अभाव पेशे का गलत चुनाव असामाजिक वातावरण ये सब मानसिक रोग के कारण हैं।"[1] ऐसे मानसिक रोगी साहित्य मे भी हैं जो बेईमानी से ऊँचे पद प्राप्त करते हैं और शान से रहते हैं मगर साहित्य मे कुंठा की वकालत करते हैं। आज का यह मानव निरंकुश हो गया है। धर्म और नीति पर से उसकी अपनी आस्था उठ गई है। सयम वह भूल गया है। कुछ सौ नोटों पर वह बिक जाता है। सद् चिन्तन के अभाव में उसका जीवन जहरीला हो गया है अपने व्यवहार और अपनी लेखनी से वह औरों के जीवन को जहरीला बना रहा है। दलबन्दी है। प्रचार के साधनों को अधिकृत करने की कला आती है। अपनी किताब छपवाई जा सकती है। मित्रों से प्रशंसा लिखवाई जा सकती है। विरोधियों को गालियाँ दिलवाई जा सकती हैं। चूंकि विरोधी साधन-विहीन और सगठन-विहीन हैं अत उसकी बात सुनी न जाएगी इसलिए अपनी बात को मान्य घोषित किया जा सकता है। आज का गर्व-प्रमत्त यह लघु मानव काल-शक्ति और देव-शक्ति को भूल गया है। 'जब तक हूँ शान से रहूँगा —यह उसका मोटो' बन गया है। इस प्रकार यह युग हो गया है। अविश्वास का युग हो गया है। बात यह है कि प्राचीन आस्थाओं आदि के असामयिक अनुपयोगी और नष्ट हो जाने का प्रचार पूरी शक्ति के साथ किया जा रहा है। नई आस्थाओं में दे सकने की क्षमता है नहीं। विनाश करना आसान है, निर्माण कर सकना, कठिन। अस्तु यह मानव 'विध्वंसात्मक सा हो गया है। पूँजीवाद बचपन से जवानी की ओर पैर बढ़ा रहा है और इसके साथ ही साथ वे सारी समस्याएँ खड़ी हो गई हैं जो पश्चिम के अर्थमाय प्रधान देशों में पहले से थी। दैव सयोग कहिए या कुछ और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत के जीवन की जो अवस्था थी उसमें और १६५० ई० के भारत के जीवन मे कोई मौलिक अंतर नहीं पढ पाया। यह पूरे का पूरा युग ही गम्भीर समस्याओं से आक्रान्त है। प्रतिक्रियाओं का धुआं सामाजिक जीवन मे भर गया है।

महादेवी ने लिखा है एक ओर समाज पक्षाघात से पीडित है और दूसरी ओर मन विक्षिप्त। एक चल ही नहीं सकता, दूसरा वृत्त के भीतर वृत्त बनाया हुआ

---

१. वृन्त और विकास पृष्ठ १२६

एक पर से दो^ लाता रहा है।[1] हम इन समस्याओ के समाधान मे असहाय हैं क्यों कि न हमारे पास उतनी क्षमता है और न समस्याओं की उतनी गहरी पकड। एक हल करते हैं तो दूसरी समस्या खडी हो जाती है। क्रांति एक फशन बन गयी है। इस विकृति का चित्रण महादेवी के ही शब्दो मे अत्यन्त कलात्मक ढग से इस प्रकार किया गया है, 'शताब्दियो की दासता ने हमारी नतिकता नष्ट कर दी हमारी जनमान विकृति में अन्धकार जमी व्यापकता और मृत्यु-जसी एकरसता ता है ही साथ ही साथ उसकी व्यवहारिक विभिन्नता म विचित्र एक रूपता भी मिलेगी'

हम अपनी 'व्याधिजनित असमर्थता' को स्वीकार न करके रास्ते की दुर्गमता, लक्ष्य की अप्राप्यता को ही दोष देते हैं सब जगह हमारा दम्भ गहरा है और विवेक उथला है हमारा नतिक पतन आज उस अजगर क समान हो उठा है जो मौ दय और हृदय की सजीव प्रतिमाओं को भी सास के साथ उदरस्थ कर लेता है और फिर अपने शरीर को तोड-मरोड कर उन्हें चूर-चूर बना एसी स्थिति मे पहुचा देता है जिसमें वे उस अजगर के शरीर के अतिरिक्त और कुछ नही रहती

आत्म-ग्लान से सन्तोष और परिस्थियों की विषमता के आगे झुकना—हार स्वीकार करना—इन सब को हमने अपनी दुबलता की बनाकर बनाया है।[2] शांति के नाम पर अँगरेजो ने भारतीय जनता के जीवन को निरस्त्र करके उन्हें कायर बनाने का प्रयत्न किया और इसम सन्देह नहीं कि वे बहुत दूर तक अपने उद्देश्य मे सफल रहे। बुद्धि की मुक्ति और स्वतन्त्रता का नारा उठा कर उनकी कूटनीति ने हमारे समाज और हमारी पुरानी सस्कृति की नींव खोदने का प्रयास किया और इसम कोई सन्देह नही कि वे उसके रूप को अधिक क्षत-विक्षत कर सके। आज हम ब्राह्मण पुजारी को उस इजारेदार के रूप मे देखते हैं जिसका सरक्षण हमे अपनी इच्छा और आवश्यकता के प्रतिकूल भी करना पड रहा है। इसके विपरीत आज पुराना वर्णाश्रम धर्म—जाति का प्रभुत्व—चकनाचूर हो उठा है। इतने पर भी जाति-चेतना समाप्त होती नही दिखाई पडती। सयुक्त परिवार की एक-एक ईंट खिसकती जा रही है। पतिभक्ति गये-बीते युग की बात हो गयी है। पूर्ण सामजस्य और सन्तुलन का अभाव है। भिन्न भिन्न सस्कृतियो का समन्वय अभी हो ही नही पाया है। आस्था और साहित्य का नीर क्षीर मेल अभी नहीं हो पाया है। करते हैं बेईमानी और लिखते हैं ईमानदारी! करते कुछ हैं और लिखते कुछ है! यह है

१-'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध', पृ ४६

२-क्षणदा', पृ ३०, ३४, ३८

हमारा – आज का—जीवन । लेकिन यह तस्वीर का एक पहलू है।

इसी एक चित्र का एक दूसरा पक्ष भी है और वह इतना काला इतना नैराश्यपूर्ण एवं इतना खेद जनक नहीं है। वह श्याम होते हुए भी घनश्याम है। इस चित्र की वास्तविकता को हम सांस्कृतिक पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि में ही देख सकेंगे। इस चित्र की रेखाएँ उसी के रंग में रंगी हुई हैं। वह हमारी राष्ट्रीय भावना की जन्मभूमि है। जब हम पर सांस्कृतिक आक्रमण हुए तब थियासोफी, आर्यसमाज सुधारवादी सनातनी, प्रगतिशील पौराणिक और धर्मप्राण राष्ट्रीयता की क्रमशः उमड़ती हुई तरंगों ने विदेशी संस्कृति की बढ़ती हुई धारा की स्फूर्ति को अपने में समाहित कर लिया। इसने हमारी अहितकर प्रवृत्तियों के निराकरण का प्रयत्न किया। यह ठीक है कि उपर्युक्त जीवन दशाएँ समाज में जितनी व्यापक हैं उतनी ये नहीं किन्तु तब यह भी तो सही है कि किसी भी राष्ट्र में लाख दो लाख व्यक्तियों की जीवन दशा का परिवर्तन समाज की उन्नति का द्योतक होता है शेष जनता के जीवन पर उनका प्रभाव बाद में पड़ा करता है किन्तु उन लाख-दो लाख का जीवन उस समाज की प्रगति का द्योतक निश्चित रूप से होता है। इस युग में भारत की स्थिति यही रही है। इस युग को मोटे तौर पर हम तीन विभिन्न स्थितियों में कल्पित कर सकते हैं —जागरण परिवर्तन और सुधार तथा क्रान्ति। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में ये तीनों स्थितियाँ पूरी तरह से स्पष्ट हैं— महावीर प्रसाद द्विवेदी के पहले का युग तथा 'अज्ञेय' और उनके बाद का युग। समाज के अपेक्षाकृत उन्नत भाग में ये तीनों स्थितियाँ स्पष्टतम रूप से दिखाई पड़ रही हैं। परिवर्तन की धारा सन्तोषप्रद रूप से निरन्तर प्रवहमान होती रही है। अपूर्व जागृति है। इस वर्ग में विचारों का आदान-प्रदान हुआ है। भावों में एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया है। जातीय और राष्ट्रीय एकता उभरती हुई दिखाई पड़ी है। गांधी और दयानन्द के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप अछूतों की समस्या उग्रतम नहीं रह गयी। विरोधियों के साथ भी सामञ्जस्य स्थापित करने के प्रयत्न होने लगे। अनुपयोगी मान्यताएँ और रूढ़ियाँ टूटीं। सुधार और क्रान्ति के प्रयत्न हुए। हम झूठी निवृत्ति से सही और सच्ची प्रवृत्ति की ओर बढ़े। यह युग का उग्र राजनीतिक चेतना तथा आन्दोलनों का युग रहा। पूर्व और पश्चिम का जो सम्पर्क भारत के लिए अहितकर सिद्ध हो रहा था उसे भारत के लिए उपयोगी और हितकर बनाने का प्रयत्न किया गया। जड़ एवं विवशताजन्य क्रियाओं के स्थान पर सोच समझ कर सामूहिक रूप से काम किया जाने लगा। पूर्ण और व्यापक जीवन हमारा लक्ष्य बना और हम उस ओर बढ़े। गति पर अधिक ध्यान दिया गया। नारी और जाति–

चेतना में ऐसे परिवर्तन हुए और हो रहे हैं कि वे नवीन और सशक्त समूह-चेतना के अनुकूल हो जाएँ। सामाजिक और राजनीतिक क्रियाशीलताओं के साथ साथ अनेक संस्थाएँ, समितियाँ, रेलें, मिलें, नौकरियाँ निश्चय सामाजिक सम्पर्क को अनिवार्य बनाए हैं। ब्राह्मण प्रायः पर के साथ एक ही मेज पर रखी चाय और नाश्ता करता है। मोटी चोटी पूरी जनेऊ और पवित्र चौके वाले कर्मकाण्डी ब्राह्मण छात्र छात्राओं में कुछ समय के बाद 'सावजनिक' चौके में आ जाते हैं। जाति सम्बन्धी ऊँच नीच की भावना ऐसे अवसरों पर अचेतन मन की किसी अँधेरी कोठरी में चोर की भाँति दुबक जाती है।

आधुनिक हिंदी साहित्य में यह जाति पाँति का भेद कहीं नहीं दिखाई पड़ता। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त, द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, आदि के मत्थे पर जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का तिलक लगाना चाहता है वह नौकरी देते समय चोर की तरह छोटे मोटे-नाम अनमूल नवयुवकों को भले ही इसका शिकार बनाले क्योंकि तब वहाँ वही एक मात्र निर्णायक होता है और वह अपने को भगवान से कम नहीं समझता होगा—वह चाहे चतुर्वेदी हो चाहे मिश्र हो, चाहे द्विवेदी हो, चाहे गुप्त चाहे वर्मा हो, चाहे शर्मा—राष्ट्र-विरोधी है, अनैतिक है, प्रगति विरोधी है और सामर्थ होते हुए भी राक्षस है और अनुचित कार्य करना चाहता है। खुलकर यह करने का साहस वह समर्थ राक्षस भी नहीं करता होगा वह केवल कल्पना में इन समर्थ साहित्यिकों के मस्तक पर जाति का तिलक लगाकर अपने दुष्ट मानस की बस्तु की कुलबुलाहट शान्त करता होगा। यह बात अनिवार्य के सम्बन्ध में भी जा रही है। अस्तु नारियाँ स्वतन्त्र हो रही हैं। बहुजाति प्रथा समाप्त हो चली है। प्रेम और रोमान का वातावरण हो रहा है। चेतना का क्षेत्र विस्तृत हो रहा है, जीवन और धर्म से जोड़ा जा रहा है। नृत्य, संगीत, नाटक आदि सांस्कृतिक आयोजन भी लोगों की रुचि बन रहे हैं। नारियाँ जीवन के अनेक क्षेत्रों में वचन लिए एक कानूनी जगह बना रही हैं। उनका सामाजिक और राजनीतिक महत्त्व बहुत अधिक बढ़ रहा है। उनकी इस स्वतन्त्रता ने उनकी निष्ठा सुशीलता और साहसपूर्ण निष्ठा किसी भी हालत में कम नहीं की है। हाँ चद्दर ओढ़ाकर घूँघट डालकर किसी के घर में जाकर किसी की बेटी, किसी की पतोहू किसी की ननद आदि की चुगली चाई का रस लेने की आदत में जरूर कमी हो गई है और सास बहू तथा ननद-भाभी का झगड़ा उत्कट न होकर स्मृति हो गया है। नारियाँ जड़ पत्नी न रहकर समझदारी के साथ अधिकारिणी पत्नी हैं मूर्खतापूर्ण मोहमयी माँ की जगह वे वास्तविक ममतामयी माँ

है। वे अब मां सेवा के लिए तत्पर हैं। बिना किसी भी प्रकार का असन्तोष प्रकट किये वह जागृत भारतीय नारी गृह कार्य में भी मगन रहती है। घूंघट उठ गया मगर आंख का शील नहीं गया है। चादर उतर गई है मगर लाज बची है। नारियों के अन्दर आशाओं आकांक्षाओं के एक नये सुंदर संसार की चहल पहल दिखाई पड़ रही है। व नव भारत के जीवन और प्रेम की मूल स्रोत हो रही हैं। मध्ययुगीन संतों ने उनको देखने का जो दृष्टिकोण दिया था उसे आज के जीवन ने अस्वीकार कर दिया है। आज उन्होंने भारत में फिर वही जगह पा ली है जो प्राचीन काल में थी किन्तु आसक्तिकालीन मध्ययुग में छिन गई थी। ध्यान रहे मैं १९६४ ई० की निलज्ज एवं फैशनपरस्त आधुनिकाओं की बात नहीं कर रहा हूं। वे अभी हमारे समाज का महत्वपूर्ण अंग नहीं बन पाई हैं। मैं १९०० ई० से लेकर १९४८ ई० तक की सुशीलाओं और अन्नपूर्णाओं की बात कर रहा हूं। पौराणिक रूढ़ियों में नये उद्देश्य, नये अर्थ और नई कामनाएं खोजी जाने लगी हैं। अध्यापक, साहित्यिक और देश भक्त भी पूज्य हो रहा है। गांधी मालवीय टैगोर नेहरू और राधाकृष्णन की महत्ता आज के जगद्गुरु शंकराचार्यों से किसी कदर भी कम नहीं है। विश्वास और पूजा का स्थान बुद्धि बल और सेवा ले रहा है। भक्ति के दीवानों का समय और स्थान निश्चित हो गया है। वर्ण और जाति के दीवाने व्यापक हो रहे हैं। पुरातन गौरवपूर्ण व्यक्तियों को आदर और श्रद्धा दी जाती है। उनकी प्रशंसा के गीत गाये जाते हैं। व कथा कहानियों के विषय हो गये हैं। समाजहित आध्यात्मिक तो और विद्या की अपेक्षा उपयोगी नैतिक सिद्धान्तों को अधिक मान्यता मिली है। अनेक नवयुवक और नवयुवतियों ने देश सेवा के लिए अच्छी-अच्छी और ऊँची नौकरियों को लात मार दिया है। विद्यालयों अस्पतालों अनाथालयों और सनिटोरियमों, आदि में भी अपना धन लगाकर धनी लोगों ने भी यह भाव प्रकट किये हैं। भारत की स्वतन्त्रता और विश्व मानवता की शान्ति के लिए इसी जन कल्याण की भावना का उपयोग किया गया है अहिंसा ने व्यापक रूप धारण किया है वह केवल योगियों, गौरवों बकरियों और गायों, आदि की जड़ सुरक्षा का माध्यम ही नहीं रह गई है। बलिदान और तपस्या के अहिंसात्मक साधना के द्वारा बुराइयों (शराब आदि) के प्रतिरोध का स्वरूप भी इसने धारण किया है। भारत का मस्तिष्क मन्दिर अपने प्राचीन गौरव के रहस्यों की खोज में भी लगा है। शान्ति विश्व तत्वों को अपने अन्दर समाहित कर सन ... शक्ति मिल गई। ... और बौद्ध जैन धार्मिक विचारों का भी ... उन्हें ... बनाकर सूक्ष्म और उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। परमार्थ का ... मनों के लिए पर उतना नहीं बढ़ता जितना पहले बढ़ता था। हमारे राष्ट्रपिता

की जनता ने भी स्वीकार किया है। उसे धर्म का भी समर्थन मिला है। वह सबके द्वारा मान्य और पूज्य हुई है। विश्व मानवता का १/५ भाग उससे प्रेरित और अनुप्राणित हुआ है। यह इतिहास की एक बहुत बड़ी बात है। साथ ही, ध्यान रखने की बात यह भी है कि इसका उदय अंगरेजी साम्राज्यवाद की भयानक पराधीनता के वातावरण में हुआ। इस भावना तथा सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने पराधीन भारतीयों को साहस, शक्ति और दृष्टिकोण दिया और ये शक्तियाँ सारे भारत की भावनाओं और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने वाली हो गई, उस समय शिवाजी को मैं आदर्श पुरुष समझने लगा था। शिवाजी पूछते थे, तुम आगे चलकर क्या करोगे, मैं कहता था मैं शिवाजी बनूँगा, नेपोलियन की तरह मैं जीवन बिताना चाहता हूं।[1] यही वह प्रेरणा थी जिसने हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता का स्वप्न दिखाया। 'वन-वैभव' में मैथिलीशरण गुप्त ने युधिष्ठिर से कहलाया—

'जहा तक है आपस की बात,
वहां तक वे भी हैं हम पाँच
किन्तु यदि करे दूसरा जाँच
गिने तो हमें एक सौ-पाँच"

गांधी की कल्पना हुई कि आपसी मामलों में २५ करोड़ एक तरफ और ७ करोड़ दूसरी तरफ रहने वाली जातियों का अंगरेजों के सामने ३२ करोड़ के रूप में उपस्थित होना चाहिए। आज यह बात कहने की नहीं रह गई है कि दोनों जातियों के मेल की नींव पर ही गांधी जनित राष्ट्रीयता का महल खड़ा हुआ था। हम जनतन्त्र और मानवतावाद के सम्पर्क में आये। ये सभी अनुभूति नहीं बन सके—कभी इतनी ही रह गई है। सामान्य जन-जीवन बाहर से लाए हुए सिद्धान्तों और मताग्रहों को सहसा स्वीकार करता भी नहीं है। अतएव जन-जीवन में केवल इतनी ही बात दिखाई पड़ी कि वह स्फूर्ति सम्पन्न है प्रगति के लिये उत्सुक है अच्छे सुधारों के लिये तयार है और यथासम्भव त्याग और बलिदान के लिये कटिबद्ध है। इस पूरे आलोच्य काल में जीवन में स्फूर्ति थी, उत्साह था उमङ्ग थी—कभी थोड़ी बहुत कम, कम कभी थोड़ी बहुत अधिक। गंगा और यमुना दोनों के पुण्य मानी होते थे—आज की तरह दोनों निष्क्रिय निष्प्रभ नहीं थीं। बातें कम काम अधिक होता था। जीवन की गति क्षिप्र थी प्रेम था सेवा थी। जाति और धर्म का व्यवधान स्नेह बाधक नहीं था। निर्धन और दयनीय होकर भी जनता हँसती, गाती, नाचती हुई

१– बन्दी जीवन, भाग १, भूमिका पृष्ठ ११

'महाजनो येन गत: स पन्था:' पर चल कर अपना जीवन बिताती रही। पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता की लहर इस देवभूमि के तट पर टकरा टकरा कर लौट गई। भिगो भले ही गई किन्तु डुबा न सकी। भारतीय संस्कृति और सभ्यता का वास्तविक रक्षक तो यही वर्ग रहा। मध्य वर्ग का अग्रगामी दल पतनकारक बना। परिवर्तन की प्रक्रिया पहले इसी वर्ग में हुई क्योंकि अपने रूप से यही वर्ग भारतीय संस्कृति सभ्यता की सेना की पहली पंक्ति था और विदेशी सभ्यता तथा संस्कृति के आक्रमण की टकराहटें इसी वर्ग ने झेलीं। सौभाग्य की बात यह थी—अथवा स्वाभाविक यह स्वाभाविक ही था—कि इस वर्ग के जिस दल विशेष ने हिन्दी की सेवा की वह अन्तर और बाह्य दोनों ही रूपों में पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता का जानकार तो था किन्तु मानसिक दृष्टि से उनका दास नहीं बना था। 'भारतेन्दु से लेकर आजकल के छात्र हिन्दी-सेवकों तक जिनका भी लगाव हिन्दी से रहा उनमें से अधिकांश ने पश्चिम को समझा तो लेकिन भारतीयता से दूर रहने की रस्म नहीं पाली। इसका परिणाम यह हुआ कि हम उस विशाल भण्डार में से अपनी समझ और अपनी आवश्यकता के अनुसार उपयोगी तत्व लेने में और अपना अपनापन बचाये रखकर उनसे लाभ उठाने में समर्थ हुए। भारत में ऐसे व्यक्ति भी पैदा हुए जो विदेश में भी धोती-कुर्ता पहनने का साहस रखते थे। अपनी संस्कृति के प्रेमी और सादगी के पुजारी थे। मालवीय जी ने राष्ट्रीय भावनापूर्ण हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करने के लिए इतना अधिक धन एकत्र कर लिया जितना किसी सार्वजनिक संस्था के लिये तब तक इकट्ठा नहीं हुआ था। हिन्दी प्रचार के लिए सभा सम्मेलन और एकेडेमी, आदि की स्थापनाएं हुईं। रामकुमार वर्मा ने चाहा कि 'जीवन फूल की तरह खिले और सुगंध की तरह संसार में जम जाय'। हम पढ लिख कर तयार हुए और हमारी गृहणियां भी निरी अपढ नहीं रह गयीं। हमें अपने उद्यमी पूर्वजों से आगे बढने की धुन सवार हुई। बच्चन ने लिखा है, 'जिसकी पीठ के बीच में सीधी रीढ़ नहीं है वह संघर्ष नहीं कर सकता।'[1] नवीन भारत के पिछले ऐतिहासिक युगों में—पृष्ठभूमि में—पीठ के बीच में—हम भारतीय संस्कृति की सतत की गरिमा की एक सीधी और मजबूत रीढ—अखण्ड परम्परा—बराबर दिखाई पड़ती है। वह रीढ़ इस युग में भी सप्राण रही। इसी ने द्विवेदी, गुप्त प्रेमचन्द 'प्रसाद', पन्त निराला, श्यामसुन्दर दास, आदि को वह प्राणशक्ति दी कि ये लोग दरिद्र दुख संकट, कष्ट, अपमान ग्लानि आदि सह कर भी हिन्दी को आगे बढ़ाते रहे, और यदि उन्हें प्रतीक मान लें, तो भारतीय अपने भारत को उन्नति की ओर बढाते रहे। इसी ने लोगों को राजनीतिक

१ नये पुराने झरोखे, पृष्ठ २१२

और सामाजिक क्रान्ति करने का साहस दिया। क्रान्तिकारिणी सुभद्राकुमारी चौहान का उल्लेख करते हुए महादेवी ने लिखा है, 'वे राजनीतिक जीवन में ही विद्रोहिणी नहीं रहीं अपने पारिवारिक जीवन मे भी उन्होंने अपने विद्रोह को सफलतापूर्वक उतार कर उसे सृजन का रूप दिया था—इतना ही नहीं जिस कन्यादान की प्रथा का सब मूक भाव से पालन करते आ रहे थे उसी के विरुद्ध उन्होंने घोषणा की— मैं कन्या-दान नहीं करूँगी। क्या मनुष्य २ का दान करनेका अधिकारी है ? क्या विवाह के उपरान्त मेरी बेटी मेरी नहीं रहेगी ? '[1] इस प्रकार स्वदेशाभिमान स्वदेशी, संस्कृति पर जोर प्राचीन साहित्य से सम्पर्क स्थापित करना पंच महाव्रत समानता का भाव राष्ट्रभाषा अपनी संस्कृति के प्रति गौरव की भावना राजनीति का धार्मिक रूप भी स्वीकार करना और अहिंसा की नीति, निर्भयता, कष्ट-सहिष्णुता, क्रान्ति नारी की स्थिति मे परिवर्तन प्रेम सहानुभूति, आदि इस युग का नया जीवन हुआ।

विभिन्नताओं से भरा हुआ भारत और उसके दृष्टिकोण—

इस प्रकार हम देखते हैं कि "सभ्यता और संस्कृति की सबसे पुरानी अवस्था से लेकर नवीनतम विकसित अवस्था तक के प्रत्येक स्तर के वर्ग भारतीय समाज में पाए जाते हैं। बड़े से बड़े पैमाने की सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक समस्याएँ अपने नग्नतम रूप मे भारत के अन्दर देखी जा सकती हैं। विभिन्न नस्लों और धर्मों के पारस्परिक सम्बन्ध और सहअस्तित्व की समस्याएं पुराने अन्धविश्वासो, ढहते हुए सामाजिक स्वरूपों, और परम्पराओ से संघर्ष करने की समस्या शिक्षा के लिए प्रयत्न, नारी की स्वतन्त्रता के लिए लड़ाई, कृषि का पुनर्गठन और उद्योगों के पुनर्विकास, गांवों और शहरो के बीच वांछित एवं समुचित सम्बन्धों की समस्या विभिन्न प्रकार और तीव्रतम रूप का वर्ग-संघर्ष राष्ट्रीयता और समाजवाद के समुचित संबंध की समस्या—आधुनिक जगत की ऐसी अनेक प्रकार की समस्याएं विशेष तीखेपन और बड़ी तेजी के साथ[2] हमारे इस आलोच्य काल के भारत के सामने आयी। साम्यवाद के अध्ययन ने एक नवीनतम दृष्टिकोण दिया चीजों को देखने का समस्याओ को समझने का और उनका हल निकालने का पुरानी और नई चीजों पर विचार करने का। हम उस दृष्टिकोण को जीवन मे और आस्थाओ में पूरी तरह से उतार नहीं पाए। पाश्चात्य सभ्यता ने हमे भौतिकवादी दृष्टिकोण दिया। इस वाद का सम्बन्ध केवल दृष्ट से है। अनिवार्य अदृश्य शक्तियों और तत्वों को यह वाद इन्कार

१ 'पथ के साथी' पृष्ठ ४५
२. रजनी पाम दत्त कृत 'इण्डिया टु डे', पृष्ठ १८

कर देता है। यह दृष्टिकोण भी पूरी तरह से हमारा नहीं हो सका। इनसे हमारा इतना लाभ अवश्य हुआ कि हम भौतिक तथ्यों के प्रति अपनी उदासीनता मिटा सके। लोकतन्त्र हमने इसलिए अपना लिया कि एक तो अंगरेजी व्यवस्था एक शताब्दी से भी अधिक समय से उसको झांकी हम दिखा रही थी और दूसरे, वह विश्व की नवीनतम, मान्य और शान्तिपूर्ण राज्य-व्यवस्था थी। हमारा आर्थिक संगठन भी उसी के अनुरूप चल रहा था। इस पूंजीवादी व्यवस्था पर आधारित लोकतन्त्र मे हमने अपने सम्पूर्ण जीवन को सुधारने की आशा की जो अन्ततोगत्वा सफल नहीं हो सकती थी क्योंकि लोकतन्त्र का आधार है पूंजीवाद और पूंजीवाद का परिणाम है आर्थिक वैषम्य अधिकारों का असंतुलन तथा अर्थ और अधिकार के केन्द्रीकरण से उत्पन्न व्यवहार और काम-सम्बन्धी अव्यवस्थाएं और अनीतियाँ। परिणामतः हमारा समाज इन विकृतियों का शिकार होने लगा। वस्तु प्रधान हो गया जिसका परिणाम यह हुआ कि हम व्यक्तिवादी हो चले। आकुलता उग्रता छटपटाहट और विद्रोह हाथ आया। अहं की दीवाल अपने चारों ओर खड़ी करके उसमें अपना सिर छिपा कर हम उन शक्तियों से दूर रह कर अपने को संतुष्ट समझने लगे जिन पर हमारा कोई अधिकार नहीं किन्तु जो हमें प्रभावित करने पर तुली थीं। अपने अतीत से मोह हो गया और हम परिवर्तन को अवांछित समझने लगे संसार-समाज मे जो-कुछ है उसे अधिक से अधिक भोगना चाहने लगे। हम इस लोक और इन्द्रिय-भोग मे लिप्त हो गये और इस क्षणभंगुर जीवन में अधिक से भी अधिक जो सुखभोग सकते थे भोगने की कामना करने लगे। भाग्यवाद का भी सहारा लेना पड़ा। विस्मृति और पलायन की इच्छा हुई। स्वप्न की ऊपरी झलक बड़ी प्यारी लगी। सामान्य व्यक्ति विज्ञान से बड़ी-बड़ी आशाएं करने और वैज्ञानिक मानव-जीवन को इन्द्रिय सुख और सुविधा के अनन्त उपकरणों से भरने पर तुल गया। आत्मा मरने लगी। विचारशील साहित्यिक ने चेतावनी दी "यह विज्ञान हमारे समस्त सुखों का कोषाध्यक्ष होना चाहता है जीवन की इकाई में आडम्बरों के शून्य जोड़ कर वह सहस्रों का गुमान करना चाहता है। यह इतना दुष्ट है कि संसार को बिगाड़ने के लिए ही बार-बार बनाता है।"[1] वैज्ञानिक स्वभाव और उससे सहज ही उत्पन्न बौद्धिक जिज्ञासाओं ने मात्र विश्वास पर ही स्वीकार करने से इंकार कर दिया। छानबीन आलोचना और प्रश्न करने वाला स्वभाव बना। सहज-विश्वास का ह्रास हो गया। धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन ने धर्म पर किये जाने वाले अंधविश्वास की नींव खो दी। धार्मिक उदारता आई। तकनीकी विकास नये-नये आर्थिक संगठन सामने ला रहा है। बड़ा कड़ी

१ रामकुमार वर्मा कृत आधुनिक कवि भाग ३ की भूमिका, पृष्ठ ४

मशीनों ने उत्पादन के क्षेत्र में से व्यक्ति की अनिवार्य महत्ता और सगठनों तथा सामाजिक शक्तियों ने समाज के क्षेत्र से व्यक्ति की अनिवार्यता समाप्त कर दी है। मानव का अवमूल्यन हो गया है। हजारों पैदा होते हैं एक मर गया या मार डाला गया तो क्या हो गया ! हजारों बकरे कटते हैं एक मनुष्य भी कट गया तो क्या बिगड़ गया ! मनुष्य का मूल्य पशु के तुल्य हो गया। वह मशीन का एक पुर्जा हो गया। दुर्घटना में उसके मर जाने पर उसके 'कम्पनसेशन' को—सिक्कों या नोटों में उसका मूल्य चुकाने की प्रथा चल पड़ी है !! सत्य अनुभव और प्रयोगों की सिद्धि का मुखापेक्षी बना दिया गया। वास्तविक दृष्टि के अभाव में कम ज्ञान को सम्यग्ज्ञान की भूल की जाने लगी। विज्ञान से प्राप्त सुविधाओं का भोग करते हुए भी धार्मिक जन विज्ञान की अवहेलना करते हैं ! सामाजिक समस्याओं से उदासीन रहते हैं। विरक्तों का तिरस्कार और सम्पन्नों का आदर धार्मिकों की सामान्य प्रवृत्ति हो गई। जड़ धार्मिकता ने भी मानव को मानव से लड़ाया है। जीवन में ढोंग समा गया। मानव विघटित हो गया। सत्य का निरादर यहां तक होने लगा कि यदि दस बीस हजार आदमी भ्रान्त हो गये तो उनकी भ्रान्ति को भी एक सामाजिक सत्य माना जाने लगा।

प्रचार के साधनों की सुलभता और सामान्य मानव की सहज कमजोरी ने वैयक्तिक और सामाजिक कूड़ा-करकट को भी साहित्यिक सम्पत्ति घोषित कर दिया है। अधिकांश बुद्धि-जीवी वर्ग मानसिक हीनता की भावना में पलता और बढ़ता है क्योंकि आदर प्राय राजनीतिज्ञ का होता है, अध्यापक या विद्वान का नहीं ! ऐसे लोग सिद्धान्त भी पश्चिम से लेना चाहते हैं और अनुभूतियाँ भी उन्हीं की पाना चाहते हैं। जीवन में जग लग रहा है। सैद्धान्तिक व्याख्याओं वाली मोटी-मोटी पुस्तकें निकलती हैं। उच्च कोटि के चिन्तन और मनन का अभ्यास ही नहीं है—सम्भव भी नहीं। शिक्षा बिगड़ी अध्यापक बिगड़ा समाज बिगड़ा और अध्यापन व्यवसाय बन गया —ऐसा व्यवसाय जिसमें आमदनी सबसे कम किन्तु जिसके व्यवसायी से उम्मीदें बहुत बड़ी बड़ी की गयी। जिस प्रकार सभी प्रकार के व्यवसायों में भ्रष्टाचार का राज्य है उसी प्रकार अध्ययन में भी भ्रष्टाचार के प्रसाद खड़े हैं। अध्यापकों की दुर्दशा को लक्ष्य करके ही पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने लिखा है उन्होंने कहा कि जो मनुष्य पूर्व जन्म में दूसरों के लिए आजीवन भारवहन कर भूसी घास खाता हुआ मर जाता है वह दूसरा जन्म लेकर मास्टर होता है।[1] मध्ययुगीन भावुकता से अभी हमारा पीछा नहीं छूटा जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी

१– मेरी अपनी कथा', पृ १४५

साहित्य को स्वस्थ हास्य और व्यग्य का उच्चकोटि की कृतियाँ नहीं मिल सकीं। हिंदी के बर्नार्ड शा का जन्म अभी होना है। सामाजिक प्रथाओं व अत्याचारों के प्रतिकार का आह्वान किया गया। बुराइयों की आलोचनाएँ की गयी। जाति प्रथा और ब्राह्मणवाद के विरुद्ध आवाज उठी। रोमांटिक धारणायें लोकप्रिय होने लगी। सुधारकों ने आन्दोलन किये। प्रगतिशील लेखकों ने इन्हें अपना विषय बनाया और पुस्तकों मे सुधार के चित्र दिये। वहां के ये सुधार व्यक्ति और परिवार के जीवन में अवतरित होने लगे। लोगों ने दहेज लेना कम किया। बहुतों को कुछ स्वतन्त्रता दी गयी। गरीब किन्तु सुन्दर लड़की का उद्धार होने लगा। नारियों ने भी क्रान्ति में क्रान्ति की ओर कदम उठाया। भावनाओं में असाधारण तीव्रता रखते हुए भी उनका क्रियात्मक रूप आजीवन असन्तोष एवं रुदन आत्महत्या आजीवन कौमार्य अध्यापिका या नर्स का जीवन अपनाने आदि तक सीमित रह गया। साहित्य में ऐसे चित्रों की कमी नहीं जहाँ विवशता के कारण नारी पति को दैनिक जीवन सम्बन्धियों को और आत्मा प्रेमी को समर्पित कर दी गयी है। साहित्य के इन चित्रों के पीछे निर्बल भावुकता हो तो है। सच्ची बात तो यह है कि भारत आज बड़ी तेजी से बदल रहा है। यह असम्भव है कि किस परिवर्तन की कौन सी सीमा कहाँ है। सांस्कृतिक पुनर्जागरण गांधी राजनीतिक आन्दोलनों एवं विश्व की तथा अपने राष्ट्र की परिस्थितियों ने हमको असाधारण गति से बदलना चाहा। एक नया समाज बनने वाला है। एक नये मानव का जन्म होने वाला है। बाह्य परिस्थितियां बड़ी ही तेजी से बदली हैं। एक विचित्र क्रान्ति हो रही है और वह भी लोकतन्त्र की मन्द विधि से। एक ही वेग मे भारत उन सभी क्रान्तिमयी स्थितियों को पार कर जाना चाहता है जिसे पार करने मे सारे संसार को दो शताब्दियाँ लग गयी हैं। विडम्बना यह है कि जितनी तेजी से बाह्य परिस्थितियाँ हमारे बाह्य रूप को बदलना चाहती हैं हमारा सांस्कृतिक मन उतनी तेजी बदलने को तैयार नहीं। परिणामतः बाह्य जीवन और मन में असंगति उत्पन्न हो गयी है। *हमारी सारी दुनियां विकृतियां इसी असंगति की पुत्रियां हैं।* जो जहाँ तक आगे बढ़कर सोच सका उसने वहाँ तक बढ़ कर सोचा, सोचा ना आगे बढ़कर किन्तु मन उतना सुसंस्कृत न हो सका आन्तें न बदल सकी। समाज के सांस्कृतिक वातावरण का भी डर था। जितना बदल सके बदला। जितना न बदल सके उसे छिपाया। नवीन का स्वागत किया, प्राचीन को छोड़ न सके। आँगन को भी बदला—न बदला अपने को भी बदला—न बदला। कुछ बातें बड़ी अच्छी, जीवनदायनी और कल्याणकारिणी रहीं। हम यह नहीं भूले कि हम एक महान सांस्कृतिक परम्पराओं वाले और शानदार इतिहास वाले देश के निवासी हैं। निराशा अध्यात्मवाद की हो तो हो किन्तु सामान्यत जीवन को यथासम्भव निराशा

से बचाते हुए आशाओं और महत्वाकांक्षाओं से सुन्दर बनाते रहना है। शक्ति और पुरुषार्थ में पूरा विश्वास होना चाहिए और भाग्य पर आस्था रखनी चाहिए जिससे सन्तोष का सम्बल न लुट जाय। सबसे अलग रहने की नीति पूरी तरह से छोड़ दी गयी। सबको अपनाने मिलाने और साथ ले जाकर चलने का स्वभाव बना। जीवन में भले ही बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ किन्तु मस्तिष्क को नया दृष्टिकोण निश्चित रूप से मिला है। यह परिस्थितियों का परिणाम था, किसी नवीन दार्शनिक वैज्ञानिक चिन्तन का नहीं। सबसे अधिक तो हमने यह स्वीकार किया कि पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि नूनं नवमित्यवद्यम् सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः।

यह प्राचीन और नवीन को—पर पग और नवीनतम परिस्थिति की—विरोधी प्रकृति वालों की—संगति बिठाना—समुचित समन्वय—भारत की बहुत पुरानी सांस्कृतिक प्रकृति है। यह सदैव इतनी सक्रिय रही है कि भारत में शाश्वत तत्वों को परिवर्तनशील तत्वों से पृथक् पृथक् कर सकना सहज नहीं है। नवीन आधुनिक युग में इसने यही करने का प्रयास किया। यह सही है कि समुचित एवं वांछित रूप में समन्वय अभी स्थापित नहीं हो सका किन्तु यह भी सही है कि समन्वय की प्रक्रिया प्रारम्भ से ही प्रारम्भ है। अंगरेजों के आने के पूर्व भारत के सामने हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति के समन्वय का प्रश्न था और यह प्रश्न भारत ने अपने ढङ्ग से बहुत कुछ हल भी कर लिया था। हिन्दू मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय का सुन्दर चित्र राजेन्द्र बाबू ने खण्डित भारत नामक पुस्तक में प्रस्तुत किया है। समन्वय समाहित कर लेने का—पचा लेने का—हजम कर लेने का—नाम नहीं है। समन्वय में विविधताएँ बनी रह सकती हैं। केवल वे एक दूसरे को काटती हुई नहीं चलतीं। अस्तु प्रतीयमान दार्शनिक धार्मिक सौन्दर्य सम्बन्धी एवं जातिगत विरोधी प्रवृत्तियों के होते हुए भी हिन्दुओं और मुसलमानों ने एक-सी जीवन परम्पराएँ और जीवन-पद्धतियाँ विकसित कीं। एक दूसरे की साधना पद्धतियों पर भी प्रभाव पड़ा। एक दूसरे के रहन-सहन खान-पान रीति-रिवाज भी परस्पर प्रभावित हुए। दोनों में मतभेद भी है, दोनों में विरोध भी है, दोनों में विभिन्नताएँ भी हैं और दोनों का पृथक्-पृथक् अपना अस्तित्व भी है। समन्वय की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी और उसका जो सुफल मिल रहा था उसमें यदि बाधाएँ न पड़तीं तो शानदार स्वस्थ विकास होता। पर ऐसा नहीं हो सका। विरोध विभिन्नताएँ और विविधताएँ स्वार्थी दृष्टिकोण वाली उपनिवेशवादी विदेशी साम्राज्यवाद के हाथों में पड़ गईं। उसने उन्हें विपाक्त कर दिया। अपने लाभ के लिये इनका उपयोग किया। यह भव कितना शक्तिशाली हो सकता था

इसका प्रमाण १९११ ई० के आस-पास का समय जाता है। संसार की महानतम साम्राज्यवादी शक्ति के हाथ-पैर यह सम्मिलित शक्ति ढीले कर दे सकती थी। विभाजित होकर जो दो स्वतन्त्र देशों का निर्माण कर सकती है सम्मिलित होकर वह क्या नहीं कर सकती थी। इस विभाजन करके अंगरेजी साम्राज्यवाद ने विश्व-संस्कृति को किसी महत्वपूर्ण तत्व से वंचित कर दिया है !!! हिन्दी साहित्य भी उसी तत्व से वंचित हो गया। हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक समन्वय का एक रूप हम हिन्दुओं के कायस्थ नामक वर्ग में मिलता है और इस वर्ग में मध्यम में जो परम्पराएं आईं उनमें न तो कठमुल्लापन है और न पंडिताऊपन। सांस्कृतिक दृष्टि से इस वर्ग ने बड़ी उदार मनोवृत्ति अपनाई थी और इसके द्वारा रचित आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी यह प्रवृत्ति है। मैं यह नहीं कहता कि अन्य किसी वर्ग ने ऐसा दृष्टिकोण नहीं पाया। अवश्य पाया है क्योंकि यह भारतीय संस्कृति की एक प्रधान प्रवृत्ति है। मैं कहना यह चाहता हूँ कि हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय का प्रत्यक्ष रूप इस वर्ग में इतना अधिक दिखाई पड़ा कि यह कहा जाने लगा कायस्थ आधा मुसलमान होता है। समन्वय प्रवृत्ति से शक्ति लेकर इस वर्ग ने जो साहित्य आधुनिक हिन्दी को दिया उससे हिन्दी की प्रतिष्ठा बढ़ी ही है भाषा की शक्ति में वृद्धि ही हुई है। समन्वय की यह प्रवृत्ति हमें पुरातन से भी सम्बद्ध रखती है और आधुनिक से भी। एक वर्ग इसे अपनाता है और एक वर्ग उसे। इसलिये आज से भारत में एक ओर उदारतावाद है और दूसरी ओर रूढ़िवाद, एक ओर अध्यात्मवादी वर्ग है और दूसरी ओर भौतिकवादी वर्ग एक ओर बुद्धिवादी हैं और दूसरी ओर अनुकरणप्रिय। भारत में मजदूर बेगारी भी करता है और मजूरी भी। वस्तु विक्रयार्थ भी होती है और नजर देने के लिये भी। सामन्तवादी प्रवृत्तियां भी हैं और साम्यवादी या प्रजातन्त्रवादी प्रवृत्तियां भी। साहित्य में भी दोनों का चित्रण है। आज भारत में भूतवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय हो रहा है जिसका सुष्ठु रूप आधुनिक हिन्दी साहित्य में—विशेष रूप से काव्य साहित्य में—मिल सकता है। आज का भारत सुधार और परिवर्तन से घबराता भी नहीं और प्राचीन को पूर्णतः तिलांजलि देने के लिये भी तैयार नहीं है। हम मानवतावादी भी हैं और ब्रह्म तथा ईश्वर को मानव से श्रेष्ठ भी मानते हैं। भाग्यवादी भी हैं और कर्मयोगी भी। यद्यपि साम्यवाद के महादेव के दर्शन धर्मों के श्मशान में ही होते हैं किन्तु भारत में अनेक साम्यवादियों के अंतरंग जीवन में धर्म की व्यावहारिक मान्यता पाई जा सकती है। विज्ञान ने भी यह पुरानी धारणा छोड़ दी है कि वह अंधविश्वास का समूलोच्छेद कर सकता है और जीवन के समस्त रहस्यों का उद्घाटन कर सकता है। आज का नवीनतम वैज्ञानिक और ईश्वर धर्म

को मानता है। इस प्रकार भारत का वर्तमान एक संधि युग के बीच होकर चल रहा है। आज की हमारी संस्कृति महाकवि अकबर के शब्दों में, न मशरिकी है न मगरिबी है अजीज साँचे में ढल रही है,' इसी के अनुरूप हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य न पूर्णतः प्राचीन भारतीय साहित्य के सिद्धान्तों पर निर्मित होता है और न पूर्णतः पाश्चात्य को दोनों के सिद्धान्तों को मिलाकर हमने अपना सिद्धान्त स्थिर किया है और नये भारत में तथा प्राचीन भारत से विषय वस्तु लिया है। भाषा हिन्दी है जो अपने नये वेश में न अंगरेजी से घृणा करती है न उर्दू से। हाँ, अपना पन अवश्य बनाये रखना चाहती है।

अध्याय १३

उपसंहार

विभिन्न प्रवृत्तियाँ और काल-विभाजन का दृष्टिकोण –विभिन्न युगों के साहित्यिकों के मन पर पड़ने वाले प्रभाव—नये साहित्यक के लिए किस प्रकार रास्ता खोजा गया—किन-किन का प्रभाव पड़ा—बाहरी प्रभाव किस प्रकार स्वीकार किये गये—उर्दू का प्रभाव–संस्कृत का प्रभाव—अंगरेजी के प्रभाव का स्वरूप—पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव—सांस्कृतिक पुनर्जागरण से प्राप्त प्रवृत्तियां—जीवन से उद्भूत प्रवृत्तियां —सिंहावलोकन आधुनिक भारत की संस्कृति के विभिन्न उपादान – १–राजनीतिक पराधीनता से अभिशप्त वातावरण एवं तज्जन्य प्रवृत्तियां २–युद्धों के अभिशाप युद्धों के शुभ प्रभाव, ३–सांस्कृतिक पुनर्जागरण, ४–भारतीय अंतर्चेतना, ५–समन्वयशील प्रकृति ६–उदार और ग्रहणशील प्रकृति, ७–आत्मतत्त्व के प्रति अविचलित आस्था ८ समाज का प्रगतिशील मध्यम वर्ग, ९ सुधारवादी मनोवृत्ति, १०–नारी जागरण ११ राष्ट्रीयता, १२ गांधीवाद और सत्याग्रह और १३ पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता के उपयोगी तत्व—सर्वात्मक प्रारूपों में इनका विनिमय—साहित्यिकों के मानस पर इनका प्रभाव—मंगलमय परिणाम।

उपसंहार

विभिन्न प्रवृत्तियाँ और काल-विभाजन का दृष्टिकोण—

साहित्य मन पर पड़ने वाले प्रभावों और दृष्टिकोणों का प्रतिफलन होता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य भी आधुनिक काल अर्थात् बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी प्रदेश के निवासियों के जीवन की परिस्थितियों और उनके द्वारा उनके मन पर पड़ने वाले विभिन्न प्रभावों और उनसे निर्मित दृष्टिकोणों का परिणाम है। ये ही सब मिलकर संस्कृति की रूपरेखा बनाती हैं। पिछले अध्यायों में इनका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। ध्यान रखने की बात यह है कि इन पचास वर्षों के अन्दर भारत का जीवन और दृष्टिकोण असाधारण गति से परिवर्तित होता रहा है। भारतवासियों पर यह दोष लगाया जाता है—और कुछ हद तक सही भी है—कि उसकी परिवर्तन की गति बहुत मन्द होती है किन्तु इस युग के भारतीयों ने इस धारणा को मिथ्या सिद्ध कर दिया है। यह ठीक है कि कहीं-कहीं वह नहीं बदला और बहुत हद तक नहीं बदला किन्तु जहाँ बदला है वहाँ आश्चर्यजनक रूप से बदला है, यह भी सही है। एक बात और ध्यान रखने की है। हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य मध्यवर्ग का मध्यवर्ग के लिए और मध्यवर्ग के द्वारा लिखा गया है। मध्यवर्ग के जिन लोगों ने हिन्दी साहित्य लिखा है उन सबमें एक समानता आश्चर्यजनक रूप से बराबर मिलती है और वह है भारत को और हिन्दी साहित्य को विश्व में गौरवपूर्ण स्थान पाने का वास्तविक अधिकारी बनाने का प्रयत्न करना। मतभेद रहा है और बराबर रहा है मगर इसमें रहा है कि कैसे और किस रूप में बने या जाय इसमें नहीं रहा कि बनाया जाये या नहीं बनाने का प्रयत्न किया जाये या नहीं, एवं बनाया जा सकता है या नहीं। कैसे बनाया जाये यह अपने-अपने चिन्तन विचार एवं आस्था की बात है। हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य यथार्थ जीवन का परिचायक कम, दृष्टिकोण का परिचायक अधिक है। कारण यह है कि इस युग में हमारे नित्य प्रति दिन के जीवन की अपेक्षा हमारा दृष्टिकोण अधिक प्रोज्ज्वल गौरवपूर्ण एवं प्राणमय रहा है। जीवन का जितना रूप आगा रहा है उतना किसी न किसी रूप में साहित्य में आ गया है, और लाया गया है उसी दृष्टिकोण से देखने का एक विशेष चश्मा दृष्टिकोण, अवश्य रहा

है। बात कुछ अजीब सी है किन्तु है बिलकुल सही कि हमारा दृष्टिकोण हमारे जीवन यापन के स्वरूप से कुछ स्वतन्त्र या भिन्न रहा है अर्थात् हमारे सोचने और करने में अन्तर रहा है। दृष्टि में क्रांति थी, गति में परम्परा और जीवन में कमजोरियां। कारण यह है कि हमारी शिक्षा का हमारे जीवन से कोई सम्बन्ध रह नहीं गया था। शिक्षा दृष्टिकोण के निर्माण का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। इसलिए हमारा दृष्टिकोण हमारे जीवन से अलग जा पड़ा। अंगरेजों द्वारा बन गये मध्यवर्ग के ये दो रूप सर्वस्वीकृत हैं। इतने पर भी जीवन के चित्रों का अभाव बिलकुल रहा हो, ऐसी बात नहीं क्योंकि जीवन की शक्ति कुछ कम नहीं होती और बिलकुल सम्बन्ध विच्छेद करके साहित्य चल भी नहीं सकता था। इसलिए प्रेमचन्द का ग्राम्य चित्रण यथार्थ के बहुत कुछ अनुरूप होते हुए भी एक दृष्टिकोण विशेष का परिचायक है—आदर्शोन्मुख यथार्थवादका। आधुनिक हिन्दी साहित्य लिखने वाला मध्यवर्ग का यह व्यक्ति भी समय के साथ बहुत तेजी के साथ बदला है और इसका परिणाम यह हुआ है कि १६०० ई० का साहित्यिक १६०८ ई० के साहित्यिक से, १६०६ ई० का १६१६ ई० के साहित्यिक से, १६१७ ई० का १६२५ ई० के साहित्यिक से, १६२६ ई० का १६३५ ई० के साहित्यिक से, १६३६ ई० का १६४२ ई० के साहित्यिक से और १६४३ ई० का १६४५ और १६५० ई० के साहित्यिक से बहुत-बहुत भिन्न रहा है। तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि एक अवधि की बातें दूसरी अवधि में बिलकुल नहीं पाई जातीं। बात यह है कि परिवर्तन कई प्रकार से हुआ करता है। कभी भिन्न प्रकार के शब्दों का अनुपात बदल जाता है कभी शैली की चुस्ती में कुछ ढीलापन या कुछ और अधिक सुगठन आ जाता है, कभी प्रकार विशेष की कृतियों की मात्रा अधिक हो जाती है और कभी एक ही कृति बहुत कृतियों से अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हो जाती है, कभी विषय बदल जाता है कभी एक विशेष विषय पर अधिक रचनाएँ की जाती हैं और कभी अपेक्षाकृत कम, इस प्रकार इन दस-दस और पांच-पांच वर्षों में भी आधुनिक हिन्दी साहित्य के अन्दर परिवर्तन हुए हैं जो समय की गति की क्षिप्रता एवं दृष्टिकोण के परिवर्तन के सूचक हैं। भारतीय समाज की जीवन धारा इतनी तेजी से नहीं बदलती—बदल भी नहीं सकती, हां, सोचने का ढंग बदल सकता है और वह हुआ। ऐसा हुआ कि कुछ ऐतिहासिक प्रवृत्तियों एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं ने समय समय पर कुछ महा पुरुष पैदा किये। उन्होंने आवश्यकतानुसार समाज में हलचलें पैदा की अर्थात् युगानुकूल नवीन विचारधाराओं का प्रचार किया। इससे अपने समाज के प्रगतिशील एवं क्रान्तिचेता कुछ मध्यवर्गीय सदस्यों में नवीन आशाओं, आकांक्षाओं एवं महत्वाकांक्षाओं का उदय हुआ। इन्होंने अपना परिवर्तन किया और

)

दूसरों से भी परिवर्तित होने का अनुरोध किया। बातें कहने, अनुरोध करने का, और वांछित रास्ते पर चला देने के प्रयत्नों का ढंग कलात्मक हो सके, इसलिए अपनी महत्वपूर्ण साहित्यिक निधियों एवं विधाओं पर भी दृष्टि डाली और जिन परिस्थितियों में हमारे अन्दर ये आकांक्षाएँ उत्पन्न हुई थी, विदेशों में उस प्रकार की परिस्थितियों में उत्पन्न साहित्यिक विधाओं एवं साहित्य को भी भली भाँति देखा। तब अपनी शक्ति और सीमा के अनुसार सबसे अच्छा जो कुछ हो सकता था वह उपस्थित किया गया। एसा साहित्य लिखते समय जहां एक ओर प्राचीन काल के उच्च कोटि के गौरव को प्राप्त करने की इच्छा थी वहाँ दूसरी ओर वर्तमान जीवन को सुधारने और सुन्दर करने की भी अभिलाषा थी। एक शानदार प्राचीन परम्परा वाले देश के विकृत वर्तमान में जागृत कर्मठ एवं उन्नत मानव की जो अभिलाषाएं जो उद्देश्य एवं जो दृष्टिकोण का सकता है उसी से प्रेरित हो कर लोगों ने आधुनिक हिन्दी साहित्य की रचना की। अपने देश जाति और साहित्य के उत्थान की महत्वाकांक्षा और उसके लिए प्रयत्न प्रयास निज गौरव के प्रति जागरूकता के दृष्टिकोण और दूसरों से सीखने और लेने के उदार दृष्टि कोण के विभिन्न तानों बानों से हमारे इस आलोच्य काल की संस्कृति का बाह्यरूप अभिव्यजित रूप—निर्मित हुआ है और यही इस युग के हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है। इसी से प्रवृत्तियाँ निर्मित हुई हैं।

वैसे यदि व्यापक दृष्टि से देखें तो भारतेन्दु से आज तक का साहित्य एक क्रम में —एक अटूट परम्परा है—एक अविच्छिन्न प्रवाह में आता है। इसका कारण यह है कि जिस भारत प्रेम का उदय भारतेन्दु-युग में हुआ था उसी का विस्तार आज तक हुआ है। लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का कथन है उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के लगभग अन्त में जिन नवीन शक्तियों का बीजारोपण हुआ वे उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंकुरित हुई और केवल बीसवीं शताब्दी में पूर्णतः प्रस्फुटित हुई है।[१] ये तत्व या शक्तियां थी राष्ट्र-प्रेम या राष्ट्रीयता, भारत के सांस्कृतिक गौरव की चेतना भारत के पुनरुत्थान की भावना, विषय और वस्तु—दोनों ही दृष्टियों से साहित्य और साहित्यिक की सीमाओं का टूट जाना, जीवन धारा का मर्यादित रूप में प्रगतिशील हो उठना अर्थात् सरोवर के बंधे हुए जल की तरह न हो कर तटों से मर्यादित और फिर भी गतिशील जलधारा की तरह हो उठना जिसका तात्पर्य यह हुआ कि अपनी ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक जातिगत विशिष्टताओं के प्रति जागरूक होने के द्वारा ऊर्ध्व एवं सबल प्राण हो कर बाहरी प्रभावों को सुन्दर ढंग से स्वीकार करके अपनी शक्तियों क्षमताओं एवं संभावनाओं को विस्तृत करके उनकी साहित्यक

१– 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका', पृ १५५

अभिव्यक्ति करना आदि। ये शक्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ बीसवीं शताब्दी में सप्राण एवं सक्रिय रहीं। अन्तर इस प्रकार हुआ कि कभी इनमें से कोई तत्व अधिक महत्व पा गया और कभी कोई, कभी किसी एक को अनुभूति और अभिव्यक्ति अधिक तीव्रता पा गयी और कभी किसी दूसरे की। साहित्य में अन्तर एक बात के कारण और अधिक प्रतीत होता है और वह बात है अभिव्यक्ति के माध्यम—भाषा—की अगमता के दूर होने के विभिन्न स्तर। महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाषा, मैथिलीशरण गुप्त की भाषा, 'हरिऔध' की भाषा, माखनलाल चतुर्वेदी और 'नवीन' की भाषा, प्रसाद'—पंत—'निराला' की भाषा, रामकुमार वर्मा—महादेवी वर्मा की भाषा, भगवतीचरण वर्मा—अंचल—नरेन्द्र की भाषा, 'अज्ञेय' 'बच्चन' 'दिनकर' आदि की भाषा नागार्जुन और धर्मवीर भारती आदि की भाषा तथा इधर के कवि सम्मेलनी कवियों की भाषा विभिन्न स्तरों और परिवर्तन के विभिन्न रूपों को स्पष्ट करती है। श्री कृष्ण लाल ने १९०० ई० से लेकर १९२५ ई० तक के काल को तीन विभिन्न कालों में विभाजित किया है'—१९०० ई०, १९०८ ई० से १९१६ ई० और १९१६ ई० से १९२५ ई० तक।[1] इसके बाद १९२५ ई० से १९३५ ई० तक एक प्रकार की, १९३५ ई० से १९४५ ई० तक दूसरे प्रकार की और १९४५ ई० से १९५० ई० तक एक तीसरे ही प्रकार की विचारधारा और तदनुरूप शैली की रचनाएं हिन्दी में प्रचलित हुईं। व्यक्ति-स्वातंत्र्य और रुचि वैभिन्नय प्रधान आधुनिक युग में यह कहना असम्भव है कि उपर्युक्त तिथियों के पहले या बाद में उस प्रकार-विशेष का साहित्य नहीं लिखा गया। यहाँ भी कसौटी महत्व, प्रचुरता या प्रधानता की ही है।

विभिन्न युगों के साहित्यकों के मन पर पड़ने वाला प्रभाव—

१९०० ई० से १९०८ ई० तक का हिन्दी प्रेमी एवं हिन्दी का साहित्यिक पूर्ण रूप से आदर्शवादी था। वह नीति का अनुयायी और ऊँची बातें सुनना, सोचना और यदि हो सके तो लिखना उसकी आकांक्षा थी। उसके पास अभी समर्थ भाषा नहीं थी क्योंकि उस युग में जो भाषा साहित्य की भाषा बनने आ गयी थी वह सक्षमता, सामर्थ्य और सुन्दरता की आकांक्षिणी थी उसे ऐसी बनाना था। इस काल की साहित्यिक चेतना पर यह दायित्व भी था और उसने इसे उठाया क्योंकि ऐसा करना उसने अपना धर्म एवं 'कर्तव्य' समझा। इस युग के व्यक्ति ने स्वामी विवेकानन्द, और स्वामी रामतीर्थ के दर्शन किये थे। दयानन्द के उपदेश और आर्यसमाज की

१—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास'

बातें वातावरण में गुंजाई जा रही थीं। यह युग सांस्कृतिक पुनरुत्थान की निकटतम भूमिका में था और उससे बहुत अधिक अनुप्राणित एवं अनुप्रेरित था। यही कारण था कि जिसे इसने धर्म अथवा 'कर्तव्य' समझ लिया उसके लिए यह जीवन न्यौछावर कर सकता था। इसके पास नीति का बल था धन, प्रचार अथवा पद का नहीं। इसे सुनहरे भविष्य का भी लालच नहीं था। यह व्यक्ति हिंदी के प्रति असाधारण और अविचल रूप से आस्थावान था। ज्ञान-प्रचार की आकांक्षा ने देश-विदेश की घटनाओं और वहां की अच्छी-अच्छी बातों की ओर ले जाना और उसे अपनी भाषा के द्वारा अपने साहित्य में लाने के लिए उत्साहित करना प्रारम्भ कर दिया था। मस्तिष्क और चिंतन ऊंचा किया जा रहा था। इस युग के लेखक के पास भाषा का कोई भी आदर्श नहीं था। इसका गद्य अव्यवस्थित था। प्राणों में नव युग की अदम्य प्रेरणा थी, वाणी में प्रारम्भिक अटपटापन था। दुःख के साथ कहना पड़ रहा है कि १९५० ई० में स्थिति बिल्कुल उलट गयी अर्थात् वाणी में प्रौढ़ता का सामर्थ्य आ गया किंतु बुद्धि में अविवेक या उन्माद आ गया।

१९०८ ई० के बीतते-बीतते अर्थात् आठ वर्षों के अथक प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप इस युग के साहित्यकों ने भाषा का एक मापदंड स्थिर कर लिया था। खड़ी बोली का मान्य और शुद्ध रूप सामने आ गया था। इसे पाकर इसके द्वारा अब हमने अपनी आशाओं और आकांक्षाओं को व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया था। देश ऊंचा उठाने के लिए अपनी सभ्यता, संस्कृति और इतिहास की वे बातें जो हमारा क्षीण गर्व से उन्नत कर सकती थीं हमारे जीवन को सही रास्ते पर लगा सकती थीं और हमारे मानस को उन्नत और श्रेष्ठ बना सकती थीं साहित्य में अभिव्यक्त की जाने लगीं। क्रमशः खड़ी बोली काव्योपयुक्त बनने लगी थी। संस्कृति के मोह ने संस्कृत का अनुरागी बना दिया था। गद्य विदेशी ज्ञान विज्ञान की ओर अपने देश को उठाने में उपयोगी बातों को हिंदी जनता के सम्मुख निःसंकोच रूप से ला रहा था। मस्तिष्क का क्षितिज व्यापक होने लगा था।

१९१६ ई० के बाद हिन्दी साहित्यिक वस्तुतः असाधारण भावनाओं-कल्पनाओं, वृत्तियों-मनोवृत्तियों, आशाओं-आकांक्षाओं योजनाओं और प्रयत्नों तथा वेगों और उत्साहों वाला व्यक्ति था। आर्यसमाज द्वारा प्रेरित समाज सुधारों की रूपरेखाएं महायुद्ध के पश्चात् अंगरेजी साम्राज्य द्वारा प्रदत्त राष्ट्रीय क्षोभ और निराशाएं, महात्मा गांधी द्वारा उपस्थित किया गया विश्व का अप्रतिम राजनीतिक आन्दोलन तथा जीवन का सांस्कृतिक पुनरुत्थान, अंगरेजी साहित्य में अध्ययन से प्राप्त नवीन

विधाएं एवं नए क्षितिज, अपने प्राचीन साहित्य के अध्ययन से प्राप्त गौरवगाथा, इन दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से उद्भूत आत्मगौरव की भावना तथा नवीन महान साहित्य के सृजन की प्रेरणा, टैगोर की साहित्यिक ऊँचाई तक पहुँचने के प्रयत्न, अपने इतिहास के गौरवस्तम्भ अध्याय और उनके अर्थ [illegible] प्रभावों की जानकारी से प्राप्त सन्तोष आत्महीनता की भावना का निरास करना जो आज अपने यहां नहीं है मगर नवीन जीवन व्यवसाय के कारण अपने निज उपयोगी हैं उनके निज दूसरे के यहां का माडेल स्वीकार करके अपने यहां के हवा पानी मिट्टी में लगभग वैसा ही दूसरा तैयार कर लेने की उत्सुकता आदि उस युग के साहित्यिक की मनःस्थिति के विभिन्न उपकरण हैं। हर प्रकार की अभिव्यक्ति में इस तरह समस्त साहित्यिक छाती वाली स्वाभाविक रूप में सबके सामने आ गयी। सबका कारण उन भावों में है जो हीन मनोवृत्ति से उठ चुके थे—यहां तो हिन्दी में द्वेत करते थे हिन्दू और मुसलमान भाई १९६४ ई० तक भी कभी कभी सतर्क जाते हैं। उच्च कोटि के साहित्य के लिए सामान्य जो कुछ चाहिए था वह सब सुलभ हो गया। गद्य और पद्य दोनों में इस तरह के लेखक सामने आए और कृतियाँ पढ़ने को मिलीं कि हिन्दी गद्य में सिर उठाने लगी। कहानियों का विकास एवं नाटकों की तारस्वता रंग ले आई। ये प्रवृत्तियाँ कुछ धीमी गति से क्रियाशील थीं और इनसे प्रभावित लोगों की संख्या भी अपेक्षाकृत कम थी। गद्य में नौकृता आ गई थी किन्तु कलात्मकता का अभाव था। साहित्यिक मानव मन और आत्मा के सूक्ष्म प्रदेश की ओर उतना नहीं बढ़ा था। यह सब हुआ १९३५ ई० के पश्चात्। तब जीवन की गति अत्यन्त क्षिप्र हो उठी थी। भारतीय रंगमंच पर ऐतिहासिक महत्व की घटनाएँ घटीं। भारतीय चेतना और प्रतिभा आपाद-मस्तक आलोड़ित-विलोड़ित हो उठी। लक्ष्य देदीप्यमान था। उसकी प्राप्ति के साधन पर अटल विश्वास। कुछ कर गुजरने की इच्छा थी। इन्कलाब के वातावरण में कला कलित हो रही थी।

१९३५ ई० के आस-पास पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान ने साहित्यिकों को एक नई दृष्टि दे दी। फ्रायड और मार्क्स ने जीवन और साहित्य दोनों में क्रान्ति उपस्थित कर दी। इन्होंने दृष्टिकोण बदल दिया। विज्ञान के आविष्कारों ने संसार की विभिन्न जातियों और राष्ट्रों को एक दूसरे के बहुत निकट ला दिया। रक्त सम्बन्धी ऊँचाई और छोटाई की बात का मिथ्या भ्रम सभी समझ गये। विश्व-मानव की भावना का उदय हो रहा था। यह ठीक है कि भारत को अभी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए ही लड़ना पड़ रहा था। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीयता हमारे लिए अपरिचित नहीं रह गई थी।

अब प्रश्न केवल देशी और विदेशी का ही नहीं रह गया था, गरीब और अमीर का भी था। पूंजीपति और पूंजीविहीन की भी समस्या सामने आ गई थी। देखने का दृष्टिकोण विदेशी अवश्य था परन्तु मध्यवर्गीय बुद्धिवाली हिन्दी के साहित्यिकों ने भी वह दृष्टिकोण अपना लिया था। इस दृष्टिकोण वाले दृष्टि और भारत की सांस्कृतिक दृष्टि में समन्वय नहीं स्थापित कर सके थे। बहुत–कुछ सिद्धान्तवादी होने के कारण इनकी जड़ें जीवन की गहराइयों में नहीं जाने पाई थी। इस वर्ग के लेखकों का भी दृष्टिकोण भारत का उत्थान भारतीय जीवन की उपयोगी व्याख्या और इस दृष्टिकोण से उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण करना था।

१९४८ ई० के बाद के नये साहित्यिकों का मनोविज्ञान और उनका प्रेरणा स्रोत तथा उनके महत्व एवं ऐतिहासिक महत्व का अनुमान अभी गहरे विवाद का विषय है। यह साहित्यिक आज भी रास्ते की ही खोज कर रहा है। यह वर्ग द्वितीय महायुद्ध के बाद के जिस करुण, दयनीय एवं असन्तोषपूर्ण जीवन की पृष्ठभूमि में अपने साहित्य की रचना करने की बात कहता है उस जीवन की गहराइयों में जा कर उसकी अनुभूति इस वर्ग ने की नहीं। यह पश्चिम के सिद्धान्तों के चश्मे को आंखों पर और मन ही मन अपनी बुद्धि का तिकड़मबाजी' में लगाए रहता है। अटपटी बानी बोलता है आतंकित कर देने वाली व्याख्याएं करता है शोर मचाना जानता है प्रतिपक्षी को परास्त करने की सारी कलाएं जानता है देखना केवल इतना ही है कि क्या काल देवता को भी परास्त करना जानता है !! इसकी जड़ें अपने देश के जीवन और संस्कृति में नहीं हैं। यह नई चीज' देने का रौब गाठने के लोभ में पश्चिम की नकल करता है। साधनाहीन कच्चे नवयुवकों के लिए इधर बड़ा आकर्षण है।

ये हैं इन पचास वर्षों के काल के विभिन्न युगों के लेखकों की मनोवृत्तियों के प्रेरणा स्रोत एवं उनके मानस पर पड़ने वाले विभिन्न प्रभाव।

नये साहित्य के लिए किस प्रकार रास्ता खोजा गया—

महत्व की दृष्टि से बीसवीं शताब्दी के प्रथम-आठ-दस वर्षों के साहित्यिकों का कार्य बड़ा ही कठिन और बड़ा ही महत्वपूर्ण था क्योंकि उनको नया रास्ता ढूंढ निकालना था और नया मार्ग ढूंढ निकालना भी साधारण काम न था। रास्ते सभी अनजाने थे। किसी ओर अंधाधुंध ढंग से बहना भी खतरे से खाली न था। फूंक फूंककर पग रखने की आवश्यकता थी। इस कठिन अवसर पर हमारे पथ-प्रदर्शकों ने बड़े साहस और उत्साह का परिचय दिया। ब्रजभाषा के स्थान पर काव्य में खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा। संस्कृत बंगला और अंगरेजी ग्रन्थों का अनुवाद

मध्य वर्ग की पूंजी बढ़ाई गई। अन्य साहित्यों के अध्ययन से भारतीय का विस्तार बढ़ाया गया—।[1]

किन-किन का प्रभाव पड़ा ?

गान्धी जी के द्वारा प्रभावित स्वदेश प्रेम स्वावलम्बन संगठन ग्रामीण सुधार, साम्प्रदायिक एकता, धार्मिक औदार्य, सरलता आदि उच्च विचार अपनाए गए जिनसे देश और जाति का कल्याण हो सके। सत्य और अहिंसा को अपनी आस्थाओं और धार्मिक अथवा सांस्कृतिक भावनाओं के अनुकूल कर लिया गया। विरोधी अथवा विभिन्नताओं में समझौता करके भी साहित्य लिखा गया। भारतीय पुनर्जागरण ने इन भावों और विचारों का विरोध और विनय के साथ भी अपना सरदार हो मान लिया था। पश्चिम के नव दृष्टिकोण और नव शिक्षा से भिन्न चिन्तन प्रणाली में साहित्य का नया रूप निखरा। संस्कृत, बंगला, अंगरेजी, उर्दू, फारसी, मराठी, आदि के साहित्यों की जानकारी में भी स्वरूप और दृष्टिकोण को व्यापक रूप देने में सहायता की। अनुवादों के द्वारा तिलक, टैगोर आदि महान विभूतियों के विचार और साहित्य से भी हमारा परिचय हुआ और हमारी निधि बढ़ी। हमारे मन का क्षितिज और अधिक विस्तृत हुआ। हम अपने जीवन और राजनीति में धार्मिक और मानव के कल्याण की जिन भावना से प्रेरित हो कर क्रान्ति कर रहे थे उन्हीं भावनाओं और उद्देश्यों ने साहित्य में भी क्रान्ति उपस्थित कर दी। प्रसाद, पन्त और निराला ने रूप विधान में और प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादियों ने साहित्य की आत्मा में भी क्रान्ति की। लक्ष्य फिर भी ऐक्य का दर्शन ही रहा।

बाहरी प्रभाव किस प्रकार स्वीकार किये गये ?

विचार क्रान्ति और आवश्यकतानुसार बाहरी तत्वों को भी ले लेना और उन्हें अपने अनुकूल बनाकर उनसे अपना कोष की सम्पत्ति की वृद्धि करना इस सदी के हिन्दी साहित्यिकों की एक प्रमुख विशेषता रही है। महावीरप्रसाद द्विवेदी शास्त्रीय मर्यादाओं के पक्षपाती थे। उनके बाद लोगों ने शास्त्रीय बन्धनों को तोड़ने में किसी भी प्रकार की हिचक का अनुभव नहीं किया। विश्वात्मा की अनुभूति या विश्वास का पुराना अभाव कभी भी नहीं रहा। बंगला, ब्रजभाषा, उर्दू, अंगरेजी, आदि सभी की वीथिका से गौरव और स्फूर्तिदायक कलियां चुनी जाती थीं। उनको आत्मसात करके सामने लाया जाता था। एक उल्लेखनीय बात यह है, कि हिन्दी के साहित्यिकों की दृष्टि सांस्कृतिक मूल्यों और तत्वों पर से प्रायः नहीं हटी। प्रथम अध्याय में जिन

१ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' पृष्ठ १७।

भारतीय सांस्कृतिक तत्वों का उल्लेख किया जा चुका है जैसे—समन्वय, सहिष्णुता आस्तिकता, श्रद्धा धार्मिकता एवं नैतिकता उपेक्षा न करते हुए भी लौकिकता को आवश्यकता से अधिक न बढ़ने देना, अलौकिक पर आस्था, आदि—उन सबका हिंदी के आधुनिक साहित्यिक ने बराबर ध्यान रक्खा है। बाह्य रूप अवश्य बदला है किन्तु हमारी ये सांस्कृतिक प्रवृत्तियां अक्षुण्ण हैं—बराबर पाई जाती हैं। इसीलिए हम महाकाव्य के उपयुक्त महान कल्पनाएँ कर सकने में बराबर समर्थ रहे हैं और इसी सांस्कृतिक उत्तराधिकार के अभाव में उर्दू महाकाव्य देने में असफल रही है। इसी भाव-वैभव की भूमिका के कारण ही हमारी भावनाएँ और धारणाएँ असमय कभी न्हीं होने पाईं—न विश्राम कभी भी नहीं हुई। हमारे आधुनिक युग के साहित्यिक को उत्तराधिकार में भक्ति और उपासना का वातावरण, सूर, तुलसी, कबीर, मीरा, जायसी, केशव, बिहारी, घनानन्द आदि का काव्य-वैभव संस्कृत का विपुल साहित्य और असाधारण काव्यशास्त्र वेद उपनिषद्-गीता-बुद्ध-जैन, आदि की अद्वितीय दार्शनिक सम्पत्ति, रामायण और महाभारत जैसा कथा काव्य, कृष्ण राम, आदि की प्राप्ति हुई। इन्हीं के द्वारा उसके चिन्तन, मनन, मन कल्पना भावना, आस्था, आ ा, आकांक्षा कर्म आदि की रूपरेखा निर्मित होती है। फिर वह वर्तमान को देखता है तथा पश्चिम के भी ज्ञान-विज्ञान और साहित्य का अध्ययन करता है। तत्पश्चात् आत्मा की रुचि, प्राणों की क्षमता बुद्धि की विशेषता सच्चाई और ईमानदारी, आदि के आधार पर उसके साहित्य की रूपरेखा निश्चित होती है। इसमें युग और परिस्थिति का रंग भरा जाता है। पृष्ठभूमि सांस्कृतिक होती है, बीज वर्तमान के बोये जाते हैं और अधिकतर पाश्चात्य ढंग के बर्तनों में उपस्थित किये जाते हैं। मध्ययुगीन और प्राचीन आदर्श मान्यताएँ कसौटियां प्रवृत्तियां आदि भी साथ साथ चल रही हैं। हम उस समय अपनी श्रेष्ठतम विभूति अपनी श्रेष्ठतम कला और उच्चकोटि की साधना के द्वारा उत्कृष्टतम रूप में समाज के सामने उपस्थित कर सन्तोष प्राप्त करने की वृत्ति में थे। इसके लिए अधिक से अधिक त्याग बलिदान कष्ट सहिष्णुता, आदि की आवश्यकता पड़ी। हमने अपने में ये गुण भी पैदा कर लिये क्योंकि हम अपने और अपना के सामने गौरवास्पद रूप में खड़ा करना था क्योंकि हमारा अतीत गौरवमय था। हमने औरों से लिया है और बहुत-कुछ लिया है—बस ही उतना नहीं ले पाए जितना अंगरेजी ने दूसरों से लिया। फिर भी, हमारे अपनाने की एक योजना थी। हमने उसी को अपनाया जो हमारे लिए उपयोगी था और हमारी प्रकृति के अनुकूल था। ऐसा भी हुआ है कि आज अपनाया और कल, जब उसकी आवश्यकता नहीं रह गई, छोड़ दिया या अपनी आवश्यकता और प्रकृति के अनुसार उसमें परि

वर्तन करते रहे। न लेना जडता का द्योतक होना है, लेकर पचा लेना, जीवन की निशानी। हमारे लेने मे जीवन का स्पन्दन रहा है। बँगला साहित्य का हमारे ऊपर जो ऋण है उसे हम नतमस्तक होकर स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि उनका साहित्य हमसे कुछ पहले लिखा जा चुका था, अतएव लिखना प्रारम्भ करने के पहले हमने उसे पढा था और उससे सहायता भी ली थी। फिर भी, यह बात जोर देकर कही जा सकती है कि यदि टगोर द्विजेन्द्रलाल राय और शरत हमारे सामने न होते और फिर भी हम लिखते, तो जो लिखते वह आज के लिखने से कम महत्वपूर्ण न होता। कारण यह है कि हम लिखने की प्रेरणा नवीन जीवन, नवीन परिस्थितियो एव सास्कृतिक पुनर्जागरण ने दी है, बगाल ने नही। बगाल ने मदद दी है, प्रेरणा नही। हमारे और बँगला साहित्य मे यदि कुछ साम्य है तो इसका अर्थ यह नही है कि चूँकि वह हमसे पहले लिखा गया है इसलिए हमने उसकी नकल की है। साम्य इसलिए है कि बगाल और हिन्दी प्रदेश दोनो के नवयुग की पृष्ठभूमि म एक ही नव सास्कृतिक पुनर्जागरण रहा है। टगोर के रहस्यवाद को भी कबीर से प्रेरणा मिली है और रामकुमार वर्मा के रहस्यवाद की पृष्ठभूमि मे भी कबीर है। किसी बडे साथी की कृति की प्रशसा करते हुए उसी के समान कुछ लिखना सर्दव नकल ही नही है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माण मे समसामयिक जीवन और स्वतन्त्र अध्ययन से कम सहायता नही मिली है। नगेन्द्र ने लिखा है वास्तव म भारत की आत्म चेतना का यह किशोर काल था जब अनेक इच्छा अभिलाषाएँ उडने के लिए पख फडफडा रही थी।[1] अस्तु इसी प्रवृत्ति के अनुरूप प्रेमचन्द ने अपने चारो ओर के जीवन से प्रेरणा ली तथा सुमित्रानन्दन ने पुराण शैली में सामाजिक सत्यो की व्यजना भी की है। बात यह है कि जिस प्रकार की हमारी जीवन-चेतना रही है उसी के अनुरूप हमने अपनी भाषा और शैली म भी परिवर्तन कर लिया। इसीलिये द्विवेदी युग के बाद छायावाद का युग आ गया था। यह परिवर्तन किसी भी विदेशी प्रभाव के कारण नही हुआ। अगरेजी और बगला साहित्य यदि हमारे सामने न भी होता तब भी हमने यह परिवर्तन किया होता। आखिर घनानन्द के सामने कौन अँगरेजी या बगला साहित्य था !! बात यह है कि उस समय विद्रोह, उन्मूलन परिवर्तन और सुधार समस्त चेतन मन की मनो वृत्ति हो गई थी जिसके अन्दर आधुनिक हिन्दी का साहित्य भी आता है। बेचारा हिन्दी का साहित्यिक अथवा हिन्दी का प्रेमी बडा अभागा होता है। उसको वन्दिमाग अधिकारी और उसकी पूँछ—दोनों के व्यग्य, कटूक्तियां, परिहास, ताने, तिरस्कार,

---

१—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ', पृष्ठ ६

आदि बराबर मिलते हैं। जिनकी बुद्धि की दिवालापन सूर्य की रोशनी की तरह सर्व-विदित है वे भी हिन्दी न लेने-पढ़ने को एक गौरव की बात समझ कर हिन्दी वालों पर एक उपेक्षा की हँसी बिखराते रहते हैं। पहले तो लोग बहिचक यह डाल्ते थे कि हिन्दी में हनुमान चालीसा के अलावा और है ही क्या ! इधर जब इस साहित्य की श्रेष्ठता लोगों को आकृष्ट करने लगी तब इस बात को स्वयंसिद्ध मान कर कि हिन्दी वाला बेवकूफ होता है वह भला ऐसी ऊँची और बड़ी बात कैसे कह सकता है—क्योंकि इन लोगों के विचारों के अनुसार ऊँची और बड़ी बात केवल अंगरेजी में ही सम्भव है—ये यह दिखाने का प्रयत्न करने लगे कि उनका सब-कुछ अच्छा अंगरेजी की नकल है वहीं से ली गयी है और इनमें हिन्दी वालों का अपना कुछ भी नहीं है। 'निराला' के साथी और उनको अच्छी तरह जानने वाले रामनिवास शर्मा कहते हैं— निराला 'यू वरी लिटिल इंग्लिश पोयटी बिफोर ही बिकेम दि ग्रेट पोयेट दैट ही इज ...... ही हैज नाट बीन इन्फ्लुएन्स्ड बाई एनी पर्टिकुलर रोमेंटिक पोएट ...... हिज रियल इन्स्पायरस और तुलसीदास एण्ड रवीन्द्रनाथ। ए स्टरन रचनालिटी, सच एज निरालाज इज नाट बिल्ट अप बाई इन्फ्लुएन्सेज बट ग्रोज आउट आफ लाइफ इट-सेल्फ।'[1] बच्चन' कहते हैं 'नथिंग कैन बी मोर फारफेच्ड दन टु थिंक दैट दि यूरोपियन रोमेंटिक मूवमेंट एण्ड छायावाद आर वेगिनली सिमिलर मूवमेन्ट्स। यूरोपियन रोमेन्टिक मूवमेन्ट वाज दि आफ्टरमाथ आफ दि ग्रेट रेवोल्यूशन। एँड छायावाद ? इट एमरज्ड आफ्टर दि कम्पलीट सरेंडर आफ इण्डिया अन्डर दि ब्रिटिश बूट। एक्चुअली इट इज दि एसरशन आफ दि सोल आफ इण्डिया व्हिच कुड नेवर बी एन्स्लेव्ड ......।'[2] जो कुछ भी प्रभाव माना जा सकता है वह छिछला था—सुपरफिशल। जिन पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने आधुनिक हिन्दी साहित्य को बनते हुए देखा है उनका कहना है कि 'हिन्दी में उपन्यासों का विकास केवल पाश्चात्य उपन्यासों की देखा-देखी ही नहीं हुआ, न पाश्चात्य देशों के श्रेष्ठ उपन्यासों की परम्परा से ही विशेष प्रेरणा ली गई है और न किसी लेखक ने किसी महान पाश्चात्य उपन्यास के पैमाने पर हिन्दी में प्रयास करने का साहस ही किया है।'[3] निबन्ध का इसलिए अधिक अपनाया गया कि वे नई चेतना को लोगों तक पहुँचाने में सबसे अधिक सहायक थे। आलोचना के विषय में उक्त लेखक का विचार है कि 'भारत की प्राची

१ रवीन्द्र सहाय वर्मा कृत 'हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव' के परिशिष्ट से उद्धृत
२ वही
३ मेरी अपनी कथा

सांस्कृतिक परम्परा तथा राष्ट्रीय जागरण की व्यापक चेतना प्रेरणाओं से अपना अन्त संस्कार करते हुए हिन्दी साहित्य की विशिष्ट विकास–स्थितियों के समानान्तर हिन्दी आलोचना ने भी प्रगति की है। [1] हिन्दी की सर्वप्रथम कहानी 'इन्दुमती', जो १८०० ई० में निकली थी के लेखक किशोरीलाल गोस्वामी के अन्तरंग मित्र श्री नारायण चतुर्वेदी का कथन है कि गोस्वामी जी अंगरेजी नहीं जानते थे और उनकी कहानी अंगरेजी प्रभाव से पूर्णतः मुक्त है। इसके बिल्कुल विपरीत विचार ■ गरेजी के कुछ उन विद्वानों के हैं जिनको पी० एच० डी० यही सिद्ध करने के उपलक्ष्य में मिली है कि "अपने काव्यादर्श में उसे अंगरेजी साहित्य के रोमांटिक आन्दोलन से विशेष प्रेरणा मिली। यहां तक कि छायावाद ने उक्त आन्दोलन की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को ग्रहण किया   हिन्दी छायावाद की मुख्य प्रवृत्तियां रोमैंटिक साहित्य की प्रवृत्तियों के इतनी अनुरूप है कि वे उनकी छाया मात्र प्रतीत होती हैं।' [2] उक्त विद्वान की पुस्तकें पढने पर ऐसा लगता है कि समस्त आधुनिक हिन्दी कविता कविता के आदर्श कविता के स्वरूप, आलोचना, आलोचना के प्रकार तथा साहित्य आदि सब–कुछ अंगरेजी से लिया गया है। कुछ सीधे अंगरेजी से लिया गया है और कुछ अंगरेजी से प्रभावित बंगला से। महावीर प्रसाद द्विवेदी भी अंगरेजी की देन हैं पन्त भी 'प्रसाद भी प्रेमचन्द भी ! किसी ने कभी कहा था कि अंगरेज हमें सभ्य बनाने आए हैं। आज कहा जा रहा है अंगरेज ने हम हमारा नवीन साहित्य दिया !!! और इसका आधार, है (१) हमारी पत्र–पत्रिकाओं में अंगरेजी कविताओं के अनुवाद भी प्रकाशित हुए, (२) हमारे विश्वविद्यालयों में अंगरेज कवियों की कविताएं भी पढ़ाई जाती थी, (३) पाश्चात्य कवियों और लेखकों सम्बन्धी परिचयात्मक निबन्ध हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए, (४) पाश्चात्य महापुरुषों पर भी हिन्दी में कविताएं लिखी गई (५) चूंकि वर्डसवर्थ की भांति द्विवेदी जी भी मनुष्य और प्रकृति को काव्य का मुख्य विषय मानते थे' [3] अतएव वर्डसवर्थ से वे अवश्य प्रभावित थे (यदि कुतर्क न कहा जाय तो इसी के स्वर में स्वर मिलाकर कहूं कि वर्डसवर्थ का अनुकरण किये बिना द्विवेदी जो सम्भवतः मनुष्य और प्रकृति को काव्य का विषय मान ही नहीं सकते थे !) (६) अवतारवाद की भावना के विरुद्ध जो भाव पैदा हुए वे अंगरेजी बुद्धिवाद के परिणामस्वरूप थे (दयानन्द, विवेकानन्द, आदि द्वारा

१ मेरी आत्मी कथा

२ रवीन्द्र सहाय वर्मा कृत 'हिन्दी क   प्रभाव' पृ

३ रवीन्द्र सहाय वर्मा कृत 'हिन्दी

प्रवर्तित सांस्कृतिक पुनर्जागरण के परिणाम स्वरूप नहीं।¹), (७) युक्तिवाद, मानवतावाद हरिजनोद्धार, नारी स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता आदि के विषय में यह कहना है, '२०वीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में भारतीय विचारधारा में प्रतिवर्तनवाद (रिवाइवलिज्म) की भावना प्रबल हो रही थी किन्तु इस प्रवृत्ति को मूल प्रेरणा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये गये शोधकार्य से प्राप्त हुई थी।' ²

तात्पर्य यह कि हमें यह मान लेना चाहिये कि विवेकानन्द के मानव-प्रेम पर काम्टे की पाजिटिविस्ट फिलासफी का प्रभाव था न कि परमहंस रामकृष्ण की भावना और उनके द्वारा दी गई दिव्य दृष्टि एवं दिव्य अनुभूति का। रामचन्द्र शुक्ल जी ने रस सिद्धान्त और लोकसंग्रह की भावना आई० ए० रिचार्ड्स से ली थी—यह मान लेने पर पाश्चात्य प्रभाव और अधिक सूक्ष्म सिद्ध हो सकता है। मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त। रामकुमार वर्मा, प्रसाद', पन्त, 'निराला', महादेवी अपने विषय में चाहे जो कुछ कहें, किन्तु हमको यही मानना चाहिये कि वे 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त में अवश्य प्रभावित हैं। हिन्दी में गीतकाव्य की परम्परा चाहे जितनी पुरानी रही हो इस पर सर्वाधिक प्रभाव लिरिक पोयट्री का ही मानना विद्वत्ता है। और उससे भी अधिक चमत्कारिक विद्वत्ता यह मानने में है कि छायावाद को शैली पर—रोमांटिक कवियों—विशेषकर शैली के प्रतीकवाद का ही प्रभाव पड़ा है! भले ही पन्त कहते हों कि उनमें शैली का सा वेग नहीं है किन्तु इससे क्या। इससे शैली पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता!! 'शक्तिशाली हो विजयी बनो' का प्रेरणा स्रोत सर्वाइवल आफ दि फिटेस्ट की विचारधारा ही माननी है। जहाँ कहीं भी कण या विद्युत्कण लिख दिखाई दें वहीं इलक्ट्रानिक थियरी' या थियरी आफ इलक्ट्रानिक कनवर्टेबिलिटी की मुहर लग जानी चाहिए। सत्य शिव सुन्दरम् के घोषक से जो कुछ भी हिन्दी वाला कहता है वह प्लेटो और अरस्तू की नक़ल मात्र है। कबीर का रहस्यवाद' रामकुमार वर्मा तभी लिख पाये जब इवलिन अन्डरहिल ने उनकी पर्याप्त सहायता' की। भारतेन्दु बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र ने अँगरेजी 'पत्रकारिता से निरन्तर प्रेरणा प्राप्त की।' हिन्दी के कवियों की चोरी या नक़ल के कुछ नमूने देख ही क्यों न लिये जायँ—

असल—माई थीम इज नो अदर देन दि हार्ट आफ मैन (वर्डसवर्थ)
नक़ल—मानव में चिर विश्वास मुझे। (पन्त)

१—कोष्ठक का वाक्य मेरा है।
२—'हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव', पृष्ठ ११६

असल—टीच मी हाफ दि ग्लडनेस दैट दाई ब्रेन मस्ट नो, मच हार्मोनियस मैडनेस फ्राम दाई लिप्स वुड फ्लो।

नकल—सिखा दो न हे मधुप कुमारि मुझे भी अपना मधमय गान।

असल—आर ड्राइव साई डेड थाटस ओवर दि यूनिवर्स लाइक विदर्ड लीव्ज टु क्विकेन ए न्यू बर्थ

नकल—कलकंठिनि, निज कलरव म भर अपन कवि के गीत मनोहर फ ला आओ बन बन घर घर नाचें तृण तरु पात।

य उदाहरण विद्वानों क लिये हुए हैं। इसी के बिलकुल अनुरूप छोटा-सा एक उदाहरण मैं भी देना चाहता हूँ। इस स्वीकार कर लेने स अंगरेजी और भी महान हो जायेगी!

असल— रिवर गो टु दि सी

नकल—सरिता जल अम्बुधि पह जाई।

और जिस प्रकार निष्कर्ष उपयुक्त उदाहरणों से निकाले जाते हैं वैसे ही निष्कर्ष निकाल कर कहना चाहता हूँ कि बेचारे सुलसीदास न उपयुक्त अंगरेजी पंक्ति कितनी कुशलता से अपनाली हैं! वे करते भी क्या, क्योंकि ऐसा किये बिना वे अच्छे कवि हो ही नहीं सकते थे!! कारण स्पष्ट है—हाउ मेनी थाटस आर पासिबुल ओनली इन इंगलिश? गुलामी कितनी बुरी होती है कितनी बुरी!!

कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दी के कवियों या लेखकों पर पाश्चात्य लेखकों या विचारधाराओं का कोई भी और किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ा। प्रभाव पड़ा है किन्तु उसी प्रकार का और उसी प्रकार से जैसे दो समय साथियों का एक दूसरे पर तब पड़ता है जब उनका कुछ दिनों के लिये साथ हो जाता है। हमने किसी की नकल नहीं की और किसी क विचार अपने करके नहीं लिखे। हमारा जीवन जिस प्रकार का था और हमारे पास भाषा जिस प्रकार की थी हमने उसी के अनुसार एक सजीव प्राणी की भांति साहित्य प्रस्तुत किया। जब हमारी खड़ी बोली उतनी समर्थ नहीं थी कि हम उसम सूक्ष्म भावों और रहस्यमय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति कर सकते तब हमने गद्यात्मक भावों को काव्यात्मकता विहीन छन्दों म प्रकट किया। जब भाषा और सूक्ष्म हुई तब इतिवृत्तात्मक कविता लिखी। और अधिक सामर्थ्य आया तब अन्तर के सूक्ष्मतम भावों को कलित। काव्यात्मकतापूर्ण शैली म प्रकट किया। हमने उखड़ी और लड़खड़ाती हुई भाषा और रूखी शैली म समाज सुधार सम्बन्धी कथाएं भी लिखी हैं और प्रसाद की सुमधुर भाषा में साहित्यिक शैली म संस्कृति दर्शन और कलित कल्पना की अभिव्यक्ति भी की है। हमने अपने

जीवन और अपनी शक्ति का अनुकरण किया है किसी के साहित्यिक को अपना करके नहीं लिख दिया। हमारे लिखने का एक उद्देश्य था—चाहे वह उद्देश्य प्रत्यक्ष रहा हो और चाहे अप्रत्यक्ष। हमारे साहित्य का हमारे जीवन और हमारे दृष्टिकोण से सम्बन्ध था। वह अनुकरण मात्र नहीं है। अनुकरण अथवा मात्र प्रभावों के आधार पर पनपने वाला साहित्य उतना महान अथवा उतनी उच्चकोटि का नहीं हो सकता जैसा कि हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य है। अब यदि कोई सूर्य के अस्तित्व से भी इन्कार करे तो किया ही क्या जा सकता है। छायावाद का साहित्य इसीलिए श्रेष्ठ है क्योंकि लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के विचारों के अनुसार वास्तव में छायावाद बीसवीं शताब्दी के हिन्दी कवि के मन पर पड़े प्रभाव से फलस्वरूप उत्पन्न चेतना का प्रतीक है।[1] इसी प्रकार हिन्दी उपन्यास राष्ट्रीय विकास और सामाजिक परिष्कार के अस्त्र के रूप में भी काम करता आया है। 'सेवासदन' और 'भारत भारती' अपने युग की असाधारण पुस्तकें हैं जो प्रकाशित होते ही प्रत्येक हिन्दी प्रेमी के पास पहुँच गई थीं। इनके लेखकों को देखने के लिए हाल विद्यार्थियों से खचाखच भर जाते थे। अनुकरण या उधार से प्राप्त तत्व ऐसी मान्यता का जनक नहीं हो सकता। कलाकार 'बच्चन' ने न फिट्जेराल्ड का अनुकरण किया है, न उमर खैयाम का वह ऋणी है। मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश, आकुल अन्तर, एकान्त संगीत सतरंगिनी के 'बच्चन' के बारे में जो ऐसा कहता है वह या तो झूठ बोलता है या 'बच्चन' को समझा नहीं पाया। 'बच्चन' ने लिखा है "मैंने तो अपने हृदय के अन्दर देखा है और लिखा है"। "मैं भावनाओं का कवि हूँ"।[2] इन छायावादी युग के कवियों ने जनता और पढ़े लिखों के मन में इतना घर कर लिया था कि पत्रिकाओं में 'प्रसाद', 'पन्त', 'निराला', महादेवी, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी 'बच्चन' आदि की कविताएँ उत्सुकता और व्यग्रता पूर्वक खोजी जाती थी और उन्हें संग्रहीत करने का प्रयत्न किया जाता था। यह इसीलिए नहीं हो सकता था कि वह वर्डसवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन, ब्लेक आदि की नकल या जूठन है बल्कि इसलिए होता था कि इन कविताओं से पाठकों को उनके मन की रुचि, आशा आदि को सन्तुष्ट करने वाला कोई तत्व मिलता था। सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने चेतना उदात्त कर दी थी। यह साहित्य उसी चेतना का आईना था। 'दिनकर' का 'अभिनव मानव' अणु युग की विषमता को चित्रित करके नवमानव की प्रिय कल्पना, मधुर आशा उपस्थित करता है और इसीलिए प्रिय है। इसीलिए वह सत्साहित्य है। अमर साहित्य है। उपन्यास आधुनिक युग की देन है।

१–'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ३२४

२–'नये पुराने झरोखे'।

आधुनिक मानव के व्यक्तित्ववादी दृष्टिकोण का परिणाम है, पश्चिम की देन होते हुए भी पश्चिम की नकल नहीं है। पाश्चात्य सभ्यता से हमारा जीवन बाह्य रूप में जितना भी प्रभावित था वस्तुतः आधुनिक हिन्दी साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति और साथ-साथ हमारी मनोवृत्तियों, आशाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति है और इसलिए यह कोई हीनता, संकोच या आश्चर्य की बात नहीं कि हमारे साहित्य का बाह्य रूप थोड़ा-बहुत पश्चिम के ढंग या प्रकार का हो गया। तात्पर्य यह है कि इस युग में हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य का निर्माण पाश्चात्य सभ्यता तथा तत्कालीन परिस्थितियों से आवृत जीवन से उद्भूत होती हुई प्रवृत्तियों से, पुनरुत्थान के कुछ प्रभावों एवं तत्वों से और विभिन्न साहित्यों के सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप हो जाने वाले परिवर्तनों से हुआ है।

उर्दू का प्रभाव—

उर्दू ने हमको शैली की रोचकता का एक आदर्श रूप दिखाया था। जिस उर्दू ने हमको यह रूप दिखाया था वह उर्दू फारसी और अरबी के कठिन शब्दों से लदी हुई नहीं थी, बल्कि व्यावहारिक रूपवाली उर्दू थी। उदाहरणार्थ— ये जलवे की फरावानी, ये अर्जानी ये उरियानी, फिर इस शिद्दत की ताबानी कि हम पर्दा समझते हैं' ने कोई प्रभाव नहीं डाला। प्रभाव डाला तो इन पंक्तियों ने 'जमाना आ रहा है जब इसे समझें सब ऐ 'अमगर', अभी तो आप खुद कहते हैं, खुद तनहा समझते हैं।' गुलशन परस्त हूं मुझे गुल ही नहीं अजीज का उतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना इसका कि कांटों से भी निबाह किये जा रहा हूं मैं।' 'वो साथ सामने हैं पर अब इसको क्या करूं दिल मानता नहीं कि नजर कामयाब है'—जैसी अभिव्यक्तियों की शैली का कुछ अधिक प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव पड़ने का कारण यह था कि हम स्वयं शास्त्रीयता से सब सुलभता की ओर बढ़ रहे थे क्योंकि भारत में भी यह युग जनतन्त्रात्मक प्रवृत्तियों का था। राजाओं की कद से जब साहित्यिक छूटा तो उसे जनता के सामने आना पड़ा और जब वह जनता के सामने आया तो जनता की समझ में आने वाली बात जनता की समझ में आ सकने वाली भाषा और शैली में कहेगा ही। चूंकि हिन्दी उर्दू की भाषा की मूल प्रकृति कुछ एक ही है अतएव उर्दू की इस "सरलता वाली प्रकृति ने जो हमारे लक्ष्य की पूर्ति के लिये उपयोगी थी, हमारा काय कुछ सरल कर दिया और हमने उस ढंग पर लिखने का कुछ प्रयत्न भी किया।

संस्कृत का प्रभाव—

संस्कृत ने आधुनिक हिन्दी साहित्य को शब्दकोष दिया, व्याकरण दिया, कविता की रीति दी अर्थात् काव्यशास्त्र दिया तथा विषयों और भावों की विपुल

सम्पत्ति खोल दी किन्तु संस्कृत हिन्दी को हिन्दी की प्रकृति नहीं दे सकती थी। यह हमें जनबोली ही दे सकती थी। बाकी, अपने पूर्वज राष्ट्रीय भाषा और साहित्य अर्थात् संस्कृत से आधुनिक जीवन की प्रवृत्तियों, आशाओं और आकांक्षाओं के अनुकूल एवं अनुरूप हमें जो कुछ लेना चाहिये था वह हमने लिया। इस प्रकार जैसे हिन्दी अंग्रेजी की नकल नहीं है उर्दू की नकल नहीं है, वैसे ही संस्कृत का भी कोई अंग नहीं है जूठन नहीं है, अवशिष्ट या उच्छिष्ट नहीं है, एवं रूपांतर मात्र नहीं है। जैसे पूज्य पाद प्रपितामह के प्रपितामह जो अपने प्रपौत्र के प्रपौत्र नहीं हो सकते, दोनों के अस्तित्व, जीवन और व्यक्तित्व में अन्तर होता है वही स्थिति संस्कृत और हिन्दी की है। हिन्दी का अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व है। पुराने लोग अपने अहङ्कार में नये का तिरस्कार और नये के लिये यह भी एक भ्रामक उक्ति है (और बहुत प्रचलित है कि हिन्दी संस्कृत से निकली है या संस्कृत हिन्दी की माता है। तथ्य यह है वैदिक संस्कृत से लौकिक संस्कृत उससे पाली, उससे प्राकृत, उससे अपभ्रंश, उससे पुरानी हिन्दी, उससे आधुनिक हिन्दी अर्थात् रिश्ता यों बना—प्रप्रप्रपितामही, उससे प्रप्रपितामही उससे पितामही, उससे माता उससे पुत्री। संस्कृत में हमारे संस्कारों के तत्व है, प्रकृति या जीवन के नहीं। जैसे तुलसी बाल्मीकि नहीं मीरा राधा नहीं, गान्धी हरिश्चन्द्र नहीं जवाहर अर्जुन नहीं वैसे ही हिन्दी संस्कृत नहीं। अपनी अनिवार्यता सदव घोषित करते हैं। इसी प्रकार संस्कृत के पंडित हिन्दी के लिये संस्कृत को उपयोगी ही नहीं, अनिवार्य भी समझते हैं। कभी कभी प्रेमचन्द, भारतेन्दु कबीर जायसी, नन्ददास रत्नाकर पद्माकर महावीरप्रसाद द्विवेदी मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त, रामकुमार वर्मा निबन्ध साहित्य आदि को बी० ए० के पाठ्यक्रम, से केवल इसीलिये हटना पड जाता है कि संस्कृत अध्ययन को उस एक प्रश्न पत्र का लगभग आधा भाग देना ही है। यह जबरदस्ती है, अन्याय है। हिन्दी का कल्याण संस्कृत का तिलक लगाने से नहीं हो सकता। हम संस्कृत का ऋण स्वीकार करते हैं किन्तु वह हमारे सिर पर बैठकर कब तक जीवित रहे? 'अज्ञेय', यशपाल पहाड़ी, भगवतीचरण वर्मा 'नवीन बच्चन' दिनकर', 'अंचल', सियारामशरण गुप्त मैथिलीशरण गुप्त पन्त, निराला आदि का साहित्य क्या संस्कृत का आचार्य बने बिना नहीं ही समझा जा सकता? यदि जिन जिन का प्रभाव पड़ा है उन सबका अध्ययन आवश्यक है तो बी० ए० के हिन्दी पाठ्यक्रम में ५० प्रतिशत उर्दू के (फिराक के कथनानुसार), ४० प्रतिशत या ४० प्रतिशत संस्कृत के, फिर प्रतिशत का गणित बदलकर जो कुछ बचे उतने प्रतिशत अंगरेजी के साहित्य की पंक्तियां हिन्दी के बी० ए० के छात्रों को पढ़ाई जांय! रही हिन्दी, सो उसमें पढ़ने के लिये है ही क्या?

अंगरेजी के प्रभाव का स्वरूप—

अंगरेजी का ऋण हमारे ऊपर इतना ही है कि पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से जिस स्वच्छंदतावाद की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला अंगरेजी साहित्य के अध्ययन से वह और भी अधिक पुष्ट और शक्तिमान हो गया।[1] बड़े ही सुलझे हुए ढंग से 'दिनकर' ने अंगरेजी साहित्य के हिंदी पर पड़ने वाले प्रभाव का मूल्यांकन किया है। वे कहते हैं, "अंगरेजी साहित्य के माध्यम से हम भारतवासी यूरोप की सभी चिंतधाराओं का उत्तराधिकार आप से आप प्राप्त करते आये हैं। यहां यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हिंदी कविता प्रधानतः उन्हीं कारणों से आन्दोलित हो रही थी जो हिंदी काव्य की परम्परा और हिंदी भाषी की रुचि से उत्पन्न हुए थे। किंतु जब हिंदी काव्य में नये क्षितिज के निर्माण की समस्या सुलझाई जा रही थी तभी देश और विदेश के कवियों की वाणी ने हमारा पथ निर्देश किया और हम अपने अनुकूल एक नवीन स्तर स्थिर करने में सहायता पहुंचाई हमारी आकुलता समुद्र पार की लय में ही व्यक्त की जा सकती थी और जिसका भारतीय रूप रवीन्द्रनाथ में दमक रहा था।[2] पश्चिम की विधि-विधाओं का भारतीयकरण करके उसमें हमने अपने तत्कालीन भारतीय मानस की अभिव्यक्ति की। टगोर अथवा विस्तृत बंगला साहित्य का हिन्दी पर जो ऋण है वह इसी प्रकार का है कि उन्होंने वह ढंग पहले अपना लिया जो हमने बाद में अपनाया। इसलिए हमारे अपनाने में उसके अपनाए हुए के स्वरूप का प्रभाव ज्ञात और अज्ञात दोनों रूपों से पड़ गया क्योंकि शायद दोनों साहित्यकों की एक ही मांग थी एक ही आवश्यकता थी। अस्तु हमने पश्चिम का साहित्य-समझा और सोचा कि चूंकि यह चीज अच्छी है इसलिए इस तरह की कोई चीज हमारे साहित्य में भी होनी चाहिए। यह सोचकर कभी हमने वह विधा ली (जैसे—उपन्यास कहानी आलोचना, रिपोर्टज एकांकियों का नया ढंग, आदि) और कभी वह ढांचा। तत्पश्चात् रंग भरना आरम्भ किया। इस प्रकार चीज बनकर तयार हुई। ध्यान से देखें तो इस चीज में जीवन और आत्मा हमारी अपनी है। 'चित्रलेखा' के लिए कोई भगवतीचरण वर्मा को 'थाया' का ऋणी कैसे मान सकता है! चित्रलेखा चित्रलेखा है, वह थाया हो ही नहीं सकती। चित्रलेखा का मन उसका मनोविज्ञान उसका जीवन, उसका स्वभाव, उसकी वाह्य रूपरेखा उसका ज्ञान और उसका दर्शन भारतीय जीवन और इतिहास की देन है। ढांचा मात्र क्या नहीं है। पतनून और

१—श्री कृष्णलाल कृत 'आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास' पृष्ठ १४

२— काव्य की भूमिका पृ ७३

नेज पहन लने पर राधाकृष्णन् और नेहरू अंगरेज नहीं हो सकते, ठीक वसे ही जसे साड़ी-ब्लाउज पहन लेने पर एलिजावेथ (द्वतीय) भारतीय ललना नहीं हो सकती। इसी प्रकार थाया चित्रलेखा न ीं हो सकती और न चित्रलेखा, थाया। १९२६ ई० में साहित्य पाठक जी ने लिखा था मेरे एक मित्र का कथन है कि 'रंगभूमि आंख की किरकिरी और वेनेटी फेयर —तीनों उपन्यासों के मस्तिष्क म एक ही प्रकार के अंकुरित हुए थे पर एक से कागजी दिखौआ वृक्ष दूसरे से छोटा पर सच्चा पौधा तीसरे से हरा भरा वृक्ष उगा।'[१] मुझे इस आलोचना से यही दिखाई पड़ता है कि लेखक ने थकरे की अपेक्षा टगोर को और टगोर की अपेक्षा प्रेमचन्द को छोटा एव असमर्थ कह देने मे अपने लिए कोई भी खतरा नहीं देखा। सम्भवत उसकी चेतना मे अंगरेजी पर आस्था विश्वास तथा अ गरेजों का आतक सबसे अधिक था और बंगला का उससे कम था। हिन्दी तो घर की अयोग्य नौकरानी समझी ही जाती है। श्यामसुन्दर दास ने 'साहित्यालोचन' लिखा। तब तक हिन्दी में कहानी एकांकी, निबन्ध, उपन्यास आदि लिखे जाने प्रारम्भ हो गये थे। इनका साहित्य इतना प्रचुर था नहीं कि उसके आधार पर नया आलोचना शास्त्र बन गया। पश्चिम के साहित्य का परिचय हमको मिल ही गया था और उससे भी प्रभावित होकर हम आगे बढ़ रहे ही थे। ऐसी स्थिति मे श्यामसुन्दर दास जी ने हडसन के 'इन्ट्रोडक्शन टु लिटरेचर' का सहारा और कहीं रूपान्तर तक ले लिया किन्तु बाबू साहब की पुस्तक का और हडसन साहब की पुस्तक का अपना अपना स्वतन्त्र महत्व विशेषता और व्यक्तित्व है। इसी रूप म हम पर जानसन, रिचार्ड्स टेन, बाल्टरपेटर, इलियट आदि का प्रभाव पड़ा है। हां, प्रयोगवादी वीर अवश्य पश्चिम के साहित्यों की नकल कर रहे हैं और पूरी नकल कर रहे हैं। स्वतन्त्र भारत के अनेक नवयुवक तेजी से उसी प्रकार पश्चिम के फैशनों का अनुकरण कर रहे हैं जस १८ वीं और १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे करने लगे थे। इन्हीं नवयुवकों की तरह ये लोग भी हैं। इनके ऊपर अंगरेजी के नये साहित्य और साहित्यकों का ही प्रभाव है। स्वतन्त्र होने के बाद भारत का जीवन और उसकी आस्था भी किसी सबल सफल सांस्कृतिक नतृत्व के अभाव में लड़खड़ा सी गयी है किन्तु ये अनुकरण के कारण अपने साहित्य मे उस उसी प्रकार का दिखा रहे हैं मानो यूरोपीय जीवन का वह भाग (जिससे ऐसा साहित्य वहां निकल रहा है) भारत म ला कर धर ही दिया गया है।

पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव—

बीसवीं सदी के आते-आते हमारे जीवन का बाह्य रूप पश्चिमी सभ्यता के

१— समालोचक', संख्या ४, भाग २, १९ ६ ई०

रंग में काफी रंग गया था। ज्यों-ज्यों समय बीता, यह रंग कहीं गाढा और कहीं फीका होने लगा। पुनर्जागरण ने हमें जो संदेश दिया था उसके अनुसार हम अधिकाधिक स्थानों पर अपने को और अपनी भाषा को लाने लगे थे। अँगरेजी भाषा और साहित्य से हमारा परिचय हो ही चला था। कभी अनुवाद के क्षेत्र में और कभी कभी मौलिक साहित्य के भी क्षेत्र में हम वैसी अभिव्यक्तियाँ भी करनी पड़ीं जिनका हमारी सभ्यता एवं हमारी चिंतनधारा से कोई भी सम्बन्ध नहीं था किन्तु जो देखने में अच्छी लगती थीं। ऐसा करते समय हमने मूल भाव को सुरक्षित रखते हुए अपनी संस्कृत भाषा के शब्दों में उन व्यंजनाओं को लाने का प्रयास किया। इस प्रकार अँगरेजी शब्दों और मुहावरों आदि के सफल और कभी-कभी असफल अनुवाद भी हो गये और प्रचलित हो गये। 'सुनहरे दिन' आदि ऐसी ही अभिव्यक्तियाँ हैं। ऐसे ही प्रयोग हैं। इसी प्रकार अलंकारों को भी अपनाया और उनका नामकरण किया गया। पश्चिमी संस्कृति के एक अंग —मार्क्सवादी संस्कृति—के परिणामस्वरूप हमारे यहाँ लोक गीतों के महत्वांकन को प्रोत्साहन मिला। प्रगतिवाद भी पश्चिम की ही देन है। आधुनिक विज्ञान एवं भौतिक शास्त्रों तथा सामाजिक विषयों के अध्ययन की प्रेरणा भी पश्चिम से ही मिली है। अति बौद्धिक दृष्टिकोण भौतिकवादी पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरण से ही प्राप्त हुआ है। रेडियो, पत्र-पत्रिकाएँ सिनेमा साहित्य और राजनीति लौकिक विषयों के प्रति अत्यधिक जागरूकता, गद्य का प्राधान्य साहित्य पर आर्थिक दृष्टिकोण का प्रभाव अध्ययन-अध्यापन का साहित्य से सम्बन्ध साहित्य और भाषा का ऐतिहासिक और सिद्धान्तों के अनुसार समझने की दृष्टि सिद्धान्तों के आधार पर साहित्य का निर्माण, आदि पाश्चात्य सभ्यता की दृष्टियाँ हैं। इनका हमारे साहित्य पर प्रभाव पड़ा है।

सांस्कृतिक पुनर्जागरण से प्राप्त प्रवृत्तियाँ—

जैसा कि पिछले अध्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है सांस्कृतिक पुनरुत्थान हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य का नियामक है। रवीन्द्र दयानन्द और गाँधी भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रचारक थे। प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण रहस्यवाद छायावाद स्वच्छन्द प्रकृति-चित्रण, अनुराग-अनुभूति, सत्यरूपता विरह आनन्दवाद अद्वैत स्वदेशप्रेम, राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता परिवर्तन की पुकार, परम्परा इतिहास प्रेम यांत्रिक सभ्यता के प्रति विरोध मातृभू भारत माता एवं मातृभाषा की सेवा, मानवतावाद त्याग बलिदान जागरण-नाद प्रवृत्ति मार्ग की ओर गति, व्यक्ति भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम जातिवाद का तिरस्कार व्यक्ति स्वातंत्र्य,

साहित्यकार बनने की धुन राजनीतिज्ञों के प्रति असाधारण आदर दिन-प्रतिदिन के जीवन का साहित्य पर पड़ने वाला प्रभाव, एकता की भावना, सुधारवादी दृष्टि, नैतिक दृष्टि, सर्वतोमुखी उदारता, क्रान्तिपूर्ण दृष्टि, अतीत का गौरव गान, असाधारण उत्साह व्यापक राष्ट्रीय जागृति की हलचलें संगठन, आर्यसमाजी बौद्धिकता नारी जागरण, प्राचीन साहित्य का अध्ययन पवित्रतावाद, विद्रोह, भारतीय दर्शन शास्त्र की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन आदि वृत्तियां हमको नव जागरण या सांस्कृतिक पुनरुत्थान के आन्दोलनों से ही प्राप्त हुई हैं और इन्होंने साहित्य की कायापलट कर दी है। इसका परिणाम यह हुआ है कि साहित्यिक प्रतिभाएं इस प्रकार प्रकट होने लगीं जैसे सूर्य की किरणों का स्पर्श पा कर कमल दल खिलने लगें। द्वारिकाप्रसाद सक्सेना ने प्रिय प्रवास में भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप देखा है उसके विभिन्न तत्व हैं आदर्श परिवार, आदर्श समाज, अवतारवाद, ईश्वर प्रार्थना, व्रत पूजा, तीर्थ, उत्सव, काग से शकुन जानना, भाग्यवाद, जाति प्रेम, राष्ट्रीयता सर्वभूतहित, लोकसेवा, सात्विक कार्य अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, आध्यात्मिकता, नवधा भक्ति, नारी का महत्व, अस्पृश्यता, समन्वय, आदि।[१] इनके पीछे नवजागरण की ही प्रेरणा है। भारत भारती में इस नवजागरण की ही भावना भरी है। कामायनी में जिस नवीन मानव संस्कृति की सृष्टि की कल्पना की गई है उसके भी विभिन्न तत्वों का उदय नवजागरण के ही प्रभाव में सम्भव हुआ है। जितना यह सही हो सकता है कि राम कुमार वर्मा की कला पश्चात्य कला से प्रभावित है उससे अधिक यह सही है कि उनकी कृतियों के भीतर जो आत्मा है उसकी संजीवनी शक्ति भारतीय है और सांस्कृतिक पुनर्जागरण से मिली है। दिनकर ने लिखा है, 'हिन्दू नवोत्थान का ध्येय प्राचीन भारत से नवीन यूरोप की एकता की साधना था और यह ध्येय छायावादी कविता पर भी पूर्णरूप से परिव्याप्त होता है। 'प्रसाद, निराला पन्त और महादेवी की कविताओं की रीढ़ भारत के प्राचीन सत्यों की अनुभूति है।'[२] उदारता, पश्चिम की उपयोगी बातों को ले लेना प्राचीन काल के महत्वपूर्ण तत्वों के प्रति आदर राष्ट्रीय स्वाभिमान अपनी संस्कृति और सभ्यता के प्रति आदर, आदि नवोत्थान के ही विभिन्न तत्व हैं। इनके बिना नये आधुनिक हिन्दी साहित्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

जीवन से उद्भूत प्रवृत्तियाँ–

उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त हमारा साहित्य हमारे जीवन की प्रवृत्तियों से भी

१ 'प्रियप्रवास में काव्य संस्कृति और दर्शन

२ 'काव्य की भूमिका' पृष्ठ २९

आधार पर रचनाएँ हुईं । विश्वनाथ मिश्र ने रानी सारन्धा, राजा हरदौल, आकाश दीप, आदि कहानियो के मूल स्रोत ग्राम कथाओं मे ढूढे है।[1] इस प्रकार हमारे साहित्य की ध्वनि जीवन सगीत की अनुरूपता एव उसके अनुकरण मे तरंगित हुई है।



1– हिन्दी अनुशीलन पत्रिका वर्ष २ अंक ३, पृष्ठ ८७

सिंहावलोकन

आधुनिक भारत की संस्कृति के विभिन्न उपादान—

अभी तक किये गये समस्त विवेचनों पर पुनः दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के भारतवर्ष की संस्कृति के विभिन्न उपादान निम्नलिखित हैं —

१—राजनीतिक पराधीनता से अभिशप्त वातावरण एवं तज्जन्य प्रवृत्तियाँ
२—युद्धों के अभिशाप युद्धों के शुभ प्रभाव,
३—सांस्कृतिक पुनर्जागरण,
४—भारतीय अन्तर्चेतना,
५—समन्वयशील प्रकृति,
६—उदार और ग्रहणशील प्रकृति
७—आत्मतत्व के प्रति अविचलित आस्था,
८—समाज का प्रगतिशील मध्यम वर्ग
९—सुधारवादी मनोवृत्ति
१०—नारी जागरण
११—राष्ट्रीयता
१२—गांधीवाद और सत्याग्रह, और
१३—पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता के उपयोगी तत्व।

(१) राजनीतिक पराधीनता से अभिशप्त वातावरण एवं तज्जन्य प्रवृत्तियाँ

बीसवीं शताब्दी के आते-आते भारत को अंग्रेजों की राजनीतिक पराधीनता की शृङ्खलाएं असह्य रूप से चुभने लगी थीं। नवोदित पूंजीवादी वर्ग यह समझ गया था कि अंग्रेजों के रहते उसकी उन्नति असम्भव है। अकाल पड़ रहे थे। आर्थिक शोषण भयानक रूप से जारी था। गरीबी बढ़ती जा रही थी। देश के औद्योगीकरण की कल्पना एक कष्ट-कल्पना थी। निकृष्ट शिक्षा ने महान देश भारत के नवयुवकों के जीवन की सफलता को छोटी-छोटी नौकरियों और उनमें प्राप्तव्य छोटे छोटे प्रोमो

ना स' तक ही सीमित कर दिया था। भारत के सपूतों के लिए अच्छा नौकर बनने के अतिरिक्त न तो और कोई सम्भावना थी और न अन्य किसी प्रकार की आशा महत्वाकांक्षा। हमारी विशिष्टताओं की सूची में सामान्यतः ये तत्व आते थे—स्वार्थपरता, छिद्रान्वेषण, ईर्ष्या द्वेष चुगली राष्ट्रीय चरित्र और राष्ट्रीय आकांक्षाओं का अभाव सिफारिश प्रियता चाटुकारिता शोषण विकृत अहं हीन भावना जीवन धर्म दर्शन के विभिन्न तत्वों को एक दूसरे से स्वतन्त्र असम्बद्ध व निष्प्राण समझना चिन्तन स्वातन्त्र्य साहसिकता-नाटकीयता मौलिकता-नवीन कार्यारम्भ की शक्ति व स्फूर्ति का अभाव, आदि। सर्वत्र अधिकारों का अपहरण हो रहा था और उपयुक्त क्षमियों के होते हुए भी हम त्राण के लिए छटपटा रहे थे। परिणामतः अधिकारों की प्राप्ति के लिए आन्दोलन हुए। इन आन्दोलनों को असफल बनाने के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक विद्वेष उभाड़ा गया जिसका परिणाम यह हुआ कि अब कुछ समय के लिए तो निश्चित रूप से इन जातियों में से अधिकांश के हृदय पारस्परिक द्वेष से भर गये। दंगे हुए। मानवता खुल कर मली और देश बट कट गया।

उपर्युक्त उपादान और हिन्दी साहित्य—

भारतीय जीवन को उसके सांस्कृतिक परिवेश से पृथक करके जो जीवन पाश्चात्य जीवन व्यवस्था के साचे में नौकरी के उद्देश्य से ढाला जाने लगा तो भारतीय जीवन अत्यन्त दयनीय हो उठा। आर्थिक दृष्टि से हम पर्युस मो गयी बीती स्थिति में आ गये। विपन्नता जन्म जन्मान्तर की संगिनी हो गई। नैतिकता और बौद्धिकता अपनी निम्नतम स्थिति में पहुच गई। हमे अपनेपन से भी घृणा होने लगी।

हमारा दयनीय जीवन साहित्य की पृष्ठभूमि मात्र बन सका। इस जीवन की वृत्तियां हमारे दृष्टिकोण को कोई नवीन दिशा नहीं प्रदान कर सकी।

साधनों की अनुपस्थिति जीवन भावप्रधान हो जाता है। कल्पना वास्तविकता के अभाव की पूर्ति करने का प्रयत्न करती है। हमारा साहित्य भी—विशेषतः काव्य साहित्य कल्पना प्रधान हो गया।

कविता को कल्पना, धर्म दर्शन आस्था, आदि की अभिव्यक्ति के लिये और गद्य को चिन्तन बौद्धिकता, विवेचन, यथार्थ जीवन आदि की अभिव्यक्ति के लिए मान लिया गया। परिणाम यह हुआ कि करुण जीवन के यथार्थ चित्र कथा एवं नाट्य साहित्य या रेखाचित्रों में जितने मिलते हैं, कविता में उतने नहीं। महादेवी का काव्य उनका कुछ और ही रूप प्रदर्शित करता है और गद्य कुछ और ही। दलित मानव के प्रति सहानुभूति रेखाचित्रों में, बन्धनों को छिन्न-भिन्न करने का सात्विक आक्रोश एवं विवेक समन्वित आह्वान शृङ्खला की कड़ियों में चिन्तन और मनन विवेचनात्मक गद्य में तथा भाव विगलित तरल कवि-हृदय गीतों में व्यक्त हुआ है।

" अँगरेजी साम्राज्यवादी सरकार की भयानक दमन–नीति तथा घोर आतंक के कारण हिंदी का साहित्यिक उग्रतम राजनीतिक भावनाओं से हिंदी साहित्य को भर नहीं सकता था। यदि किसी ने बहुत साहस करके कुछ लिखा भी तो वह जब्त कर लिया जाता था। इसका एक परिणाम यह हुआ कि कवि सांस्कृतिक स्तर पर आकर जनता की चेतना को उदात्त करने में लग गया। ऐतिहासिक चरित्रों की अवतारणा (जैसे स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के पर्णदत्त 'चन्द्रगुप्त' के चन्द्रगुप्त सिंहरण अलका आदि)करके देशभक्ति की भावना जगाने का काम उसने लिया। देशद्रोही भटार्क और आम्भीक की ही श्रेणी में वस्तुतः अँगरेजी साम्राज्य के पिट्ठुओं की गणना हो सकती है और घृणा तिरस्कार एवं अवमानना के जो भाव इनके प्रति व्यक्त हुए हैं वे इन लेखकों की उन भावनाओं के प्रतीक हैं जो अँगरेजी साम्राज्य का साथ देने वालों के लिए उनके मन में थी। अस्तु हमारे ये साहित्यिक खुले रूप में तो कुछ विशेष न कह पाए किन्तु जनता की देशभक्ति प्रबुद्ध करने में इनका योग अवश्य रहा।

आस्थाओं व्यवस्थाओं रूढ़ियों और रीतियों की दृष्टि से जो अब भी मध्ययुगीन थी मध्ययुगीन जनता का मनोरंजन मध्ययुगीन लोक नाटक एवं लोक–रंगमंच से ही जाता था न जीवन में नाटकीयता रह गयी थी और न उसके अनुरूप रंगमंच की आवश्यकता पड़ी। साहित्यिक दृष्टि और सूझ से वंचित समूह अपना छिछला मनोरंजन 'पारसी थियेटिकल' कम्पनियों के नाटकों से करने लगा। कुछ चिंतन–शील–उदात्त–वृत्ति वालों को यह खला मगर उनकी संख्या उनको प्रोत्साहित करने वालों की संख्या उनका समर्थन करने वालों की संख्या अपेक्षाकृत कम ही थी। साहित्यिक नाटकों का जनता से सम्बन्ध–विच्छेद हो गया। साहित्यिक नाटक दृश्य न रह कर 'पाठ्य' हो गये। अध्ययन–अध्यापन के विषय मात्र हो गये। हिंदी के शेक्सपियर गोल्डस्मिथ बर्नार्ड शा की अभी प्रतीक्षा है। विश्वविद्यालयों में कुछ नाटक अभिनीत अवश्य होते हैं किन्तु वह रंगमंच भी जनता का रंगमंच नहीं कहा जा सकता।

ईर्ष्या–द्वेष और छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति पहले क्षेत्र के आलोचकों में बहुत पाई जाती थी और उनकी आलोचना का लक्ष्य कभी–कभी व्यक्ति भी हो जाता था। पराधीनताजन्य मनोवैज्ञानिक एवं चारित्रिक दोषों ने साहित्य को प्रायः असाधारण कोटि का नहीं होने दिया। साहसिक उपन्यासों का प्रायः अभाव भी इसी कारण

रहा। साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण हिन्दी के इस काल का साहित्य मुसलमान साहित्यिक प्रतिभाओं के योग-दान अधिकांशत: वंचित रहा।

युद्धों के अभिशाप युद्धों के शुभ प्रभाव—

इस काल में भारत में अन्दर युद्ध नहीं हुए और सामान्य जनता को सेनाओं के लड़ने के दृश्यों की—मारकाट—रक्त-प्रवाह, हो-हल्ला घायलों की चीत्कार, बीभत्स दृश्यों, बमों के विस्फोट आदि की अनुभूति नहीं हुई।

फिर भी इसमें कोई सदेह नहीं कि युद्धों एवं तज्जन्य परिस्थितियों ने भारतीय जन मानस और राजनीति को बहुत प्रभावित किया है कि भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग था और इसलिए इंगलैंड जब किसी राष्ट्र से युद्ध करता था तो भारत को उस युद्ध में अपने-आप ही सम्मिलित समझ लिया जाता था। भारतीय सेना—स्थल युद्ध में विश्व की सर्वश्रेष्ठ एवं अपराजेय सेना लड़ने जाती थी। यूरोप के पराजित गोरे राष्ट्रों की जनता के लिए ये देवदूत थे, उद्धारक थे राजा थे।[1] गोरी जातियों के सैनिकों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर लड़ने वाले पराजित गोरे राष्ट्रों के उद्धारक गोरों को पराजित करने वाले गोरी ममा और गोरे साहबों की श्रद्धा-सम्मान-आदर के पात्र! हम भारतीय!! परिणामत: गोरों का आतंक और प्रभुत्व समाप्त हो गया! जापान ने जो रूस को हराया था उसके कारण भी गोरों की अपराजेयता का भ्रम मिट गया।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जब अंगरेजों ने अपना वचन पालने के स्थान पर रौलट ऐक्ट तथा अमृतसर-जलियाँवाला के काण्ड किये तो फिर भारत ने उन पर न कभी विश्वास किया और न सामान्यत: उन्हें माफ ही किया। द्वितीय महायुद्ध में अँगरेजों की हार ने स्वयं इनका प्रभुत्व और राज्य लोगों के मन पर से हटा दिया। तात्पर्य यह कि ये युद्ध भारत को उसके लक्ष्य के क्रमश: निकटतर ले जाते रहे।

इन युद्धों के कारण भारत की सामान्य जनता और उसके मध्यवर्ग को असाधारण कष्ट उठाना पड़ा। लोग कफन और नमक तक के लिए तरस गये। बलात् चन्दा वसूला जाता था राष्ट्रीय भावनाओं और आकांक्षाओं को क्रूरतापूर्वक कुचला जाता था। अकाल के दृश्य उपस्थित हुए। नैतिकता नष्ट-भ्रष्ट हो चली। चोर बाजार ने लाखों रामलों को कुबेर बना दिया। इंसान मिट चला। इंसानियत क्षत विक्षत हो गयी। आस्थाएं और विश्वास ढहने लगे। राष्ट्रीय वीरों और नेताओं के स्वागत और राष्ट्रीय कार्यक्रमों एवं राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति की सम्भावनाओं से उत्पन्न उमंग और स्फूर्ति से ही विघटन के ये घाव भर सके थे।

१—'उसने कहा था' कहानी में अभिव्यंजित भावों के आधार पर।

उपर्युक्त उपादान और हिन्दी साहित्य—

चूंकि इस काल में भारतवासियों ने युद्ध के प्रलयकर दृश्य नहीं देखे अतएव 'पृथ्वीराज-रासो' जैसा युद्ध-काव्य नहीं लिखा जा सका। युद्ध की समस्याओं ने हमारे जीवन को आक्रान्त किया था इसलिए युद्ध की समस्या पर 'कुरुक्षेत्र' जैसा महत्त्वपूर्ण काव्य रचा जा सका। द्वितीय महायुद्ध के कारण भारतीय जनता के जीवन और दृष्टिकोण की जो दुर्दशा हो गयी थी उसको आधार बना कर हिन्दी में अनेक सफल कहानियां लिखी गयी। मासिक हंस में ऐसी बहुत सी कहानियाँ उन दिनों प्रकाशित हुई थी यह भी कहा जाता था कि इसी के कारण जीवन और दृष्टिकोण जो कुण्ठित एवं विकृत हुआ उससे हिन्दी में स्वाभाविक रूप से कुण्ठावादी या विकृतिवादी (प्रयोगवादी) साहित्य की एक धारा ही चल पड़ी। इन युद्धों के साथ हमारी राष्ट्रीय भावनाओं एवं आकांक्षाओं का तादात्म्य नहीं हो सका था। इसका परिणाम यह हुआ कि उस समय देश के अन्दर अनेक ऐसी कविताएँ और कहानियां लिखी गयीं जिनकी आयु अधिक से अधिक तीस दिनों तक की ही होती थी क्योंकि जहां पत्र का नया अंक मिला वहां फिर उनको कोई भूल कर भी नहीं देखता था। बंगाल का १९४४ ई० वाला अकाल द्वितीय महायुद्ध की देन था और उसने हिन्दी के साहित्यकों की आत्मा को जितना अधिक व्यथित कर दिया उसकी एक झांकी महादेवी वर्मा द्वारा सम्पादित 'बंग भू और बच्चन' के 'बंगाल का काल' में मिल सकती है।

(३ सांस्कृतिक पुनर्जागरण का प्रभाव —

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते भारत में रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द दयानन्द रामतीर्थ आदि के प्रचार के परिणामस्वरूप भारतीय अपने देश की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता की श्रेष्ठता पर अडिग विश्वास करने लगे थे। पुरातत्व विभाग की खुदाइयों से प्राप्त ध्वंसावशेषों मूर्तियों आदि के, काशीप्रसाद जायसवाल आदि इतिहासज्ञों के अन्वेषणों से और यूरोप के विद्वानों की प्रमाणपूर्ण सम्मतियों के परिणामस्वरूप हमारे अन्दर अपने देश की प्राचीन उपलब्धियों के प्रति असाधारण निष्ठा उत्पन्न हो गई थी। श्रीमती एनी बेसेंट, आदि भारत के धर्म और आध्यात्मवाद को मैक्समूलर आदि उसके दर्शन को शोपनहॉवर मोनियर विलियम्स, आदि उसके साहित्य को और ह्वेनसांग, आदि उसकी कलाओं को विश्व में असाधारण एवं अद्वितीय मानते थे। इन सबका शुभ परिणाम यह हुआ कि हमारे अन्दर आत्मसम्मान की भावना जागृत हुई। हमारी वर्तमान दुर्दशा जहां-जहां हमारा सिर शर्म से झुका

को विवश कर देती थी प्राचीन ऋषियों मुनियों शास्त्रों आदि के नाम ले-लेकर अपने प्राचीन गौरव को याद कर करके वही हम गर्व से अपनी ग्रीवा उन्नत कर लेते थे। बराबर यह बात याद आती रहती थी कि जो देश आज बहुत सभ्य बनते हैं और हम पर शासन करके हमें सभ्य बनाने का दावा करते हैं वे उस समय नितान्त असभ्य एवं बर्बर थे जब हमारे देश में उच्चकोटि की सभ्यता और संस्कृति का विकास हो चुका था। आवश्यकता इस बात की समझी गई कि भारत को जो इस समय अपने को भूल गया है पुनः जागृत होकर अपने को पहचाने और अपने वर्तमान को भी गौरव एवं उन्नत बनाने के लिये प्रयत्नशील हो।

उपर्युक्त उपादान और हिन्दी साहित्य—

सांस्कृतिक पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप हमने अपने देश के गौरवपूर्ण अतीत की ओर दृष्टि डाली और वहां से श्रेष्ठतम रत्न खोज निकाले। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक, वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास प्रसाद की ऐतिहासिक कहानियां तथा स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य, अलका सिंहरण चन्द्रगुप्त अजात शत्रु गौतमबुद्ध अशोक, हर्ष, शिवाजी, पन्नादाई, राणाप्रताप आदि अद्भुत वीर चरित्र हमें प्राप्त हुए।

इस पुनरुत्थान का एक प्रभाव और हमारे साहित्य पर पड़ा हमने अपने पात्रों में उन सभी गुणों एवं चारित्रिक विशेषताओं का समावेश कर दिया या उनमें उनको ढूँढ निकाला जिनकी आवश्यकता थी। मधूलिका[1] राष्ट्र के लिये अपना व्यक्तिगत सुख को न्यौछावर कर देती है। पन्नादाई स्व मिभक्ति की कसौटी पर अपने पुत्र को न्यौछावर कर देती है।[2] शिवाजी[3] में चरित्र की अनोखी ऊँचाई मनोहर विभुता बिलरण थी उता है। लहनासिंह के अन्दर वीरता के साथ साथ त्याग से परिपूर्ण आकर्षण तीव्रतम एवं मंजुलतम प्रेम मनमोहन और वफादारी है।[4] रामनरेश त्रिपाठी का पथिक उन सभी गुणों से परिपूर्ण है जिनकी हमें उस समय आवश्यकता थी। साहित्य में निष्ठा और आस्था का स्वर था।

प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य धर्म तथा दर्शन की समृद्धतम सम्पत्ति पाकर हमारे साहित्यिक गौरव के साथ नवीन की सर्जना करता चला। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारा आधुनिक साहित्य नवीन होता हुआ भी सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की

१—प्रसाद की पुरस्कार शीर्षक कहानी
२—गोविन्दवल्लभ पन्त का राजमुकुट
३—रामकुमार वर्मा का शिवाजी
४—चन्द्रधर गुलेरी की 'उसने कहा था' शीर्षक कहानी।

शृंखला की एक नई कड़ी तो बना मगर उससे सर्वथा विच्छिन्न, भिन्न तथा प्रतिकूल नहीं होने पाया। साथ ही, हमको जो एक पुष्ट आधार मिल गया तो हमारा साहित्य परिस्थितियों की प्रतिक्रिया मात्र—सड़कों की पगडंडी मात्र—हवा के झोंके मात्र—का ही साहित्य नहीं रह गया। हमारा साहित्यिक आज का निर्मूल अपरूडेट कभी अनुभव नहीं करता। वह केवल गुदगुदाता नहीं सिखाता भी है सहायता भी देता है। हम काव्य ही नहीं, महाकाव्य भी लिख सकते हैं और बराबर लिखते हैं। प्रायः यह प्रश्न उठता है कि उर्दू साहित्य में महाकाव्य क्यों नहीं लिखे गये। इसका उत्तर सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का महत्व ही दे सकेगा।

पुनरुत्थान की जो प्रेरणा राष्ट्रीय भावनाओं को उभाड़ रही थी उसी से यह विचार भी मिला कि हम महान् अतीत वाले देश की महान परम्पराओं के अनुकूल साहित्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस निश्चय ने हमारे साहित्य को पुनः भारतीय दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान कर दी। वैष्णव भक्ति का आधार मैथिली शरण गुप्त को हिन्दुत्व प्रधान राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक दृष्टि को मिला। 'निराला' की रहस्यानुभूति का अद्वैतवाद विशिष्ट वेदान्त की आधार भूमि मिली। 'प्रसाद' में शैवागम, उपनिषद् आदि के दर्शन मिलते हैं। पंत में सर्वात्मवाद है। महादेवी में गौतमबुद्ध की करुणा और रामकुमार वर्मा में कबीर का दार्शनिक चिंतन और वेदान्त की ठोस भूमि है। सामान्य दार्शनिक मान्यताओं से कोई भी कृति अलग नहीं रह सकी। आधुनिक हिंदी साहित्य में हलके मनोरंजन वाली, केवल गुदगुदी लगाने वाली, चेतना के ऊपरी स्तर मात्र को हलके से स्पर्श करने वाली शब्द चमत्कार मात्र पर आधारित रचनाएं नहीं हैं। उनका कलात्मक स्तर या साहित्यिक स्तर भले ही बहुत ऊंचा न हो किन्तु वे भाव की दृष्टि से हलकी नहीं है। इसी युग के उर्दू काव्य साहित्य से तुलना करने पर यह बात और अधिक स्पष्ट रूप में हमारे सामने आ जाती है।

उपनिषद् वेद अद्वैतवाद सर्वात्मवाद बौद्धदर्शन संस्कृत साहित्य, एवं कबीर, आदि के अध्ययन मनन एवं चिन्तन के परिणामस्वरूप भावुक साहित्यकार की दृष्टि उसका दृष्टिकोण एवं उसकी विचार प्रक्रिया रहस्यानुभूति के निकटतम पहुंचने लगी। हिंदी की छायावादी शैली में लिखी रहस्यवादी रचनाओं की यही पृष्ठभूमि है।

अस्तु, जहाँ हमको मिटाने के लिए पुरानी अनावश्यक एवं असामयिक रूढ़ियां थीं राजनीतिक परतंत्रता थी और नई सभ्यता के अंधानुकरण की प्रवृत्ति थी एवं हीन मनोवृत्ति थी वहां हमें संजीवनी बूटी पिलाने के लिए बज्र-अंग-बली (बजरंग

बली, के रूप मे उन्नीसवी शताब्दी के द्वितीयार्द्ध का सास्कृतिक पुनरुत्थान आया था और हममे एक नया जीवन, नई स्फूर्ति नई आशा, नई आकाक्षा करवटें लेने लगी थी जिसने श्रम सहिष्णुता, समन्वय त्याग, बलिदान कष्ट सहन करने की शक्ति काम करने की लगन, सीखने और अपनाने की इच्छा, अपने आपको ठीक समझने की शक्ति उदारता, साहस, आदि गुण हमम ला दिये थ । हमारे पास जितना भी, जो कुछ भी, जैसा-कुछ भी था उसी से हमने काय करना प्रारम्भ किया । एक बार फिर सिद्ध हो गया कि कार्यसिद्धि सत्वेभवति महता नोपकरणे । इस युग के आधुनिक हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि मे यही है । एक ओर था अनुकरणशील बिडम्बना प्रधान भावुकता से भरा हुआ क्रान्ति युद्ध विहीन, शोषित दलित पस्त विकृत तथा पराधीनता और शोषण, हीनता और दीनता मे पराभवमुखी जीवन और दूसरी ओर थी स्वतन्त्रता की आकाक्षा, प्राचीन काल की महानता पर विश्वास और उठने तथा महानता प्राप्त करने की इच्छा और नये पुराने के समन्वय का प्रवृत्ति । १६३५—३६ ई० के लगभग श्री नारायण चतुर्वेदी लिखित इतिहास की एक पुस्तक वर्नाक्युलर मिडिल स्कूलो में पढ़ाई जाती थी । उसकी भूमिका के अन्त मे था —

शानदार था भूत भविष्यत भी महान है
अगर सुधार आप उस जो वतमान है ।

यही इस युग के भारत और भारतीयो की हिन्दी और हिन्दी वालो की मनोवृत्ति थी जिससे साहित्य की विभिन्न किरणें निकली हैं ।

(४) भारतीय अन्तर्चेतना

अंगरेजी बोलने अंगरेजी साहित्य पर अधिकारी रखने मेज पर छुरी काटे से भोजन करने एव अमरिका म बनी बहुमूल्य मोटर कारो पर चलने वाला बुद्धि प्रधान व्यक्ति भी भगवान के सामने श्रद्धा से सिर झुकाता है 'प्रसाद' पाता है । भक्ति की कविताए लिखता है पतिव्रता का आदर करता है एव कन्यादान करता है । रामचरितमानस का नवाह्न पाठ डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के भी घर पर होता है और पैन्ट और टाई पहनने वाला भी मस्तक पर चन्दन का टीका लगाता है । रेडियो से प्रतिदिन मीरा, सूर तुलसी, कबीर आदि के पद प्रसारित होते हैं । यह सब देख कर विचार करने स यही निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि भारतीय जीवन और समाज का बाह्य स्वरूप [illegible] कर बुद्धि तक और रुचि से लेकर मनोरंजन तक—पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित हो रहा है किन्तु अन्तर्चेतना, संस्कृति या आत्मा अभी भारतीयता के ही रंग में रंगा है ।

न्तुत उपादान और हिन्दी साहित्य—

आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी यही भारतीय अन्तर्चेतना विद्यमान है। द्विवेदी ग में यह अन्तर्चेतना हिन्दी काव्य में विशेष रूप से व्याप्त रही है। मैथिलीशरण त हिन्दू संस्कृति के कवि माने जाते हैं। 'हिन्दू', वैतालिक गुरुकुल साकेत, सोधरा, आदि काव्य ग्रन्थों में भारतीय अन्तर्चेतना ही व्यक्त हुई है। भारत भारती भारत की भारती है ही। 'प्रिय प्रवास' और 'वैदेही वनवास' पर भी इसी का है। 'कामायनी' काव्य तथा 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', आदि ऐतिहासिक नाटकों अन्तरात्मा पूर्णरूपेण भारतीय है। 'राम की शक्ति पूजा' के वातावरण एवं उसकी ठभूमि में भारतीयता है। रहस्यवादी कविताएं भी भारतीय अन्तर्चेतना के परिपार्श्व हैं। प्राचीन काल के एवं राजपूत युग के ऐतिहासिक उपन्यासों में चित्रित देश-काल भारतीय है ही नायक और नायिकाओं की मनोवृत्तियां एवं उनके आदर्श भी रतीय हैं। उदाहरण के रूप में बाणभट्ट की आत्मकथा 'कचनार', विराटा की पद्मिनी,' गढ़ कुंडार एवं मृगनयनी, आदि उपन्यासों का अवलोकन किया जा सकता । रामकुमार वर्मा के 'ऋतुराज' शिवाजी' राजरानी सीता', 'चारुमित्रा', आदि पढ़ने के बाद भारतीय सभ्यता और संस्कृति के ही चित्र उभरते हैं। उनके वाजी जब अपहृता महिला को अपनी माता-जैसा गौरवपूर्ण पद देते हैं तब 'मातृवत् रदारेषु' वाली नीति-उक्ति ही याद आती है। तुलसीदास की सीता जी' की ही रह उनकी राजरानी सीता भी तिनके की ओट करके ही परपुरुष से बोलती है। ऋतुराज का समस्त वातावरण प्राचीन काल का है। भयानक भूचाल आया है। त्यु सम्मुख है। एक भारतीय नारी कहती है 'कोई बात नहीं। भगवान की स्थान का ध्यान कीजिए। शिव के ताण्डव का। धैर्य और शान्ति के साथ मेरे प्राण प अन्त के अनन्त के सामने डट जाइए।'[१] यह भारतीय अन्तर्चेतना है जो मृत्यु समय भी घबड़ाने नहीं देती।

५)—समन्वयशील प्रकृति—

भारतीय संस्कृति की समन्वयशील प्रकृति का यह परिणाम हुआ है कि भारत पाश्चात्य जीवन-पद्धति और भारतीय जीवन-पद्धति को परस्पर समीप लाने का यास किया है और आज भारतीय गृहस्थ जीवन के अन्दर पतलून और धोती तथा सिन्दूर और पाउडर में कोई भी विरोध नहीं रह गया है। भारत की आधुनिक संगीत ला वास्तु कला चित्रकला, वेशभूषा, खानपान मनोविनोद शृंगार, सजावट आदि

१ 'मृगनयनी पृष्ठ ४४०

न तो विशुद्ध रूप से भारतीय हैं और पाश्चात्य ही दोनों को संयोजित करने का अथवा दोनों में संगति बिठाने का प्रयत्न हो रहा है। धार्मिक कर्मकाण्ड, सामाजिक रूढ़ियों रीतियों, शिक्षापद्धति भाषा आदि सभी क्षेत्रों मे समन्वय की प्रक्रियाएँ ज्ञात एवं अज्ञात रूप से सक्रिय हैं। साहित्य इसका अपवाद नही।

प्रस्तुत उपादान और हिन्दी साहित्य —

हमारी अपनी संस्कृति की प्रकृति समन्वयात्मिका रही है और इसकी आवश्यकता सम्भवत, १८५७ ई० से लेकर अब तक जितनी रही उतनी निकट भूतकाल में कभी भी नही रही। कुछ तो इस कारण और कुछ इसलिए भी कि अँगरेजी ने यह संस्कृति जबरदस्ती हम पर लाद दी है और उससे मुक्ति नही हमने यह सोचा कि समन्वय किया जाए। उदारवृत्ति के कारण हमने भाषा ग्रहण की अँगरेजों से। घृणा की न अँगरेजी से। यह अवश्य चाहा कि हमारा अपनापन न मिटने पाए यह प्रवृत्ति समाज में भी है और साहित्य में भी।

इस दृष्टिकोण के साथ जब राष्ट्रीयता भी मिल गई तब हमारा प्रयत्न यह हुआ कि ऐसा साहित्य रचा जाय जो अपनी उत्कृष्टता में अँगरेजी से हीन न ठहरे। इसका परिणाम यह हुआ कि अब आध्यात्मिकता प्रधान भारतीय दृष्टिकोण यदि हमारी एक आंख बना तो भौतिकता प्रधान पाश्चात्य दृष्टिकोण दूसरी आंख। आदर्श और यथार्थ का साथ हो गया। भावुकता और व्यावहारिकता में अनुकूलता आ गयी। भक्ति का साथ तर्क से हो गया। रहस्यवादी अनुभूतियाँ चिन्तन से प्राप्त की जाने लगी राम और कृष्ण के चरित्र पर बुद्धिवादी दृष्टि पड़ने लगी। यह अवश्य है कि कहीं बुद्धि अधिक हो गयी है और कहीं भावुकता। एक ही व्यक्ति और एक ही कृति में कभी बुद्धि प्रधान हो गया है और कभी भावना। वैष्णव भक्ति पर पाश्चात्य बुद्धिवाद की दृष्टि पड़ी। हरिऔध ने अपने 'प्रियप्रवास' में कृष्णचरित को बुद्धिवादी व्याख्या के साथ उपस्थित किया। मैथिलीशरण गुप्त ने प्रश्न किया—'राम! तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या?' किन्तु आगे चल कर 'साकेत' में हनुमान को भरत के पास से जब वे द्रोण पर्वत के साथ लंका को उड़ कर जाते हुए प्रस्तुत करते हैं तब उनका उड़ना योग शक्ति के द्वारा दिखाया जाता है। यह भक्ति की अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्ट समर्थन हुआ। कैकयी के चित्रकूट भाषण में बुद्धि प्रधान है, भावुकता नहीं। 'पंचवटी' में शूर्पणखा के सामने जब सीता ने लक्ष्मण के लिए ये परिहास में वाक्य कहे कि 'घर में ब्याही बहू छोड़ कर यहां भाग आये हैं ये तब यहाँ' देव भावना ने मानवीय दृष्टिकोण से समझौता साध लिया फिर भी देव भावना खंडित नहीं हुई।

पर अगर 'निराला' के हाथों लड़ी वाणी ने जो छायावादी स्वरूप पाया उसमें भी भारतीय और पाश्चात्य दृष्टियों का समन्वय ढूंढा जा सकता है। इस

स्वरूप निर्माण में जहां संस्कृत की विच्छित्ति या मोनो जमी तरलता लाने का प्रयास है, संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है वहां के संधि समास विशेषण आदि हैं वहां इसकी विशेषण-निर्माण-पद्धति पर टगोर तथा अंगरेजी का भी प्रभाव है। अलंकारों में जहां विशुद्ध भारतीय अलंकार (अनुप्रास उपमा, रूपक, आदि) हैं वहां (पर्सानीफिकेशन) मानवीकरण, (ट्रान्सफर्ड एपीथेट) विशेषण विपर्यय पर्येटिक फ़ारसी आदि के ढंग पर बनाए गये शब्द भी हैं।

९-उदार और ग्रहणशीला प्रवृत्ति—

भारत राष्ट्र को पराधीनता से निकाल कर अभ्युदय की ओर ले जाकर उसे उसके प्राचीन गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए कटिबद्ध भारतवासियों को यह पूर्ण रूप से विदित हो गया था कि प्राचीन होने ही के कारण न तो सब-कुछ सर्वथा ग्राह्य हो सकता है और न नवीन के कारण त्याज्य। उनके सम्मुख लक्ष्य स्पष्ट था अर्थात भारत की शक्ति और सम्भावनाओं को सस्पूर्न एवं सक्रिय करना। इसके लिए उन्होंने गौरवपूर्ण अतीत के उन सभी तत्वों को ले लिया जो आधुनिक युग में किसी न किसी प्रकार उपयोगी हो सकते थे। साथ ही, आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के अनिवार्य एवं उपयोगी तत्वों को भी स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार उद्देश्य से प्रेरित हो कर भारत की उदार और ग्रहणशीला प्रवृत्ति इस युग में मधु-मक्खिकाओं की भांति मधु-संचय करने लगी।

प्रस्तुत उपादान और हिन्दी साहित्य—

उक्त प्रवृत्ति का प्रभाव यह पड़ा कि आधुनिक हिन्दी साहित्य प्राचीन और नवीन का पावन संगम हो गया है। विषय वस्तु की दृष्टि से देखने पर हमको मिलता है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में एक ओर आधुनिक जीवन की स्थितियां परिस्थितियां घटनाएं, दृष्टिकोण एवं विचारधाराएं हैं और दूसरी ओर वैदिक, उपनिषत्कालीन रामायण और महाभारत की कहानियां एवं प्राचीन तथा मध्ययुगों की घटनाएं, आदि। हमारा दृष्टिकोण आत्मवादी भी है और यथार्थवादी भी। हम श्रद्धालु और विश्वासी भी हैं और विनाशवादी बौद्धिक भी। राम हमारे लिए ईश्वर भी हैं और मानव भी। हमारी नाट्यकला की आयोजना पाश्चात्य और भारतीय नाट्यकलाओं के सुन्दरतम तत्वों के सम्मिलन से हुई है। उसमें रस भी है और मनोविज्ञान भी। यदि हमारे रामचन्द्र शुक्ल रसवादी एवं आदर्शवादी आलोचनाएं लिखते हैं तो प्रभाकर गुप्त नगेन्द्र, रामविलास शर्मा आदि अनेक लेखक साम्यवादी दृष्टिकोण से विवेचनाएं एवं विमर्श प्रस्तुत करते हैं। प्रायः हमारी काव्यालोचना की कसौटी भारतीय और कथा एकांकी निबन्ध, आदि की पाश्चात्य है। हम

आधुनिक शैली के पद्य, गीत सानेट एवं रुबाइयाँ भी लिखते हैं और कवित्त तथा सवये भी। इस दृष्टि से 'यशोधरा और 'कुरुक्षेत्र' का नाम विशेष रूप मे लिया जा सकता है। सत्यनारायण कविरत्न का 'भ्रमर गीत' प्राचीन छन्द शैली-कथा में नवीन देश भक्ति की भावना की अभिव्यक्ति का सुन्दरतम उदाहरण है। 'कृष्णायन' भी इसी प्रकार का काव्य है। ऐहिकता और आध्यात्मिकता का सम्मिलित रूप आधुनिक युग मे हिन्दी साहित्य प्रस्तुत करता है। हम इस युग मे तुलसीदास की दोहा चौपाई वाली शैली पर 'साधना'—जैसी गद्य काव्य कृतियां भी।

(७) आत्मतत्व के प्रति अविचलित आस्था—

शताब्दियों से साहित्य मे आत्मतत्व के प्रति जो निष्ठा अभिव्यक्त हुई है वही निष्ठा आधुनिक परिस्थितियों मे बिखरने के स्थान पर और भी संश्लिष्ट रूप प्राप्त कर सकी है। यही आत्म मय निष्ठा भारतीय संस्कृति की आधार भूत भावना है। इसमे आध्यात्मिक तथा लौकिक दोनो ही तत्व समन्वित होकर भारतीय जीवन की विविध पार्श्वमयी चेतना को साहित्य मे व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत उपादान और हिंदी साहित्य—

आधुनिक भारतीय जीवन में देशभक्ति एक प्रमुख लौकिक तत्व है। आत्म तत्व से समन्वित होकर यह लौकिक तत्व जब हिन्दी साहित्य मे व्यक्त हुआ तब उसका रूप यो हुआ—

चिन्तित भृकुटि क्षितिज तिमिराकित
नमित नयन नभ वाष्पाच्छादित
आनन-श्री छाया शशि उपमित
ज्ञान मूढ गीता प्रकाशिनी।
सफल आज उसका तप-संयम
पिला अहिंसा-स्तन्य सुधोपम,
हरती जन मन भय, भव-तम भ्रम
जग-जननी जीवन विकासिनी।[१]

इसी प्रकार माखनलाल चतुर्वेदी की सुप्रसिद्ध पंक्तियां—

मुझे तोडकर हे वनमाली उस पथ पर तुम देना फेंक
मातृभूमि पर शीश चढाने जिस पथ जाएं वीर अनेक

भारत देश के आधुनिक वीर मानव की उस प्रकृति को अभिव्यंजित करती हैं

१-पन्त की भारत माता शीर्षक कविता

जिसम लौकिकता और आध्यात्मिकता आत्म तत्व से समन्वित होकर एक उद्देश्य की ओर उन्मुख हैं।

आत्म तत्व की अनुभूति से वंचित होकर भारतीय चेतना एक पग आगे नही बढ सकती। प्रसाद जो प्रारम्भ से ही मानते थे—

मानवी या प्राकृतिक सुषमा सभी
दिव्य शिल्पी के कला-कौशल सभी[1]

इस 'दिव्यशिल्पी' या आत्म तत्व की स्पष्ट रूपरेखा कोई नही जानता किन्तु उसका आभास निश्चित रूप से मिलता है। पन्त की मौन निमन्त्रण कविता म वह आभास उपस्थित है। रहस्यवादी अनुभूति आत्म तत्व पर अविचलित आस्था रखने के पश्चात् ही प्राप्त हो सकती है। मथिलीशरण गुप्त की वष्णव भक्ति का और रामकुमार वर्मा क साधना दोनो का आधार आत्म तत्व की अनुभूति ही है। गोपालशरण जी की ये पक्तियां कैसा अचरज है न मैंने जान पाय कभी मेरे चित्त म ही छिपा मेरा चितचोर है मानव मे परम आत्मा को स्थित मानकर ही लिखी जा सकती थी। लौकिक छवि भी उसी दिव्य प्रभा से मण्डित है—

रूप अत द्र चन्द्रमुख श्रमरुचि
पलक ताल तम मृग दृग हारे
देख दिव्य छवि लोचन हारे[2]

पन्त ने नारी को धरा मे थी तुम स्वर्ग पुनीत' कहकर जो—

तुम्हारे छूने मे था प्राण सग मे पावन गगा स्नान
तुम्हारी वाणी मे कल्याणि ! त्रिवेणी की लहरो का गान

माना वह इसीलिए सम्भव हो सका कि उनकी इस नारी मे आत्म तत्व मासा य की अपेक्षा कही अधिक जाग्रत होकर उसके लौकिक अस्तित्व को दिव्य बना सका। इसी प्रकार पन्त ने स्पष्ट रूप से माना कि चिन्मय प्रकाश से विश्व उदय, चिन्मय प्रकाश मे विकसित लय आत्म तत्व पर अविश्वास करके कोई नही कह सकता— विधाता की कल्याणी सृष्टि।' इस दृष्टि से सम्पन्न होकर ही 'प्रसाद' कह सके कि नारी तुम केवल श्रद्धा हो। दिनकर ने मानव का श्रेय दिव्य भावो के जगत मे जागरण का गान और आत्मा का किरण अभियान' ही माना है। माखन लाल चतुर्वेदी के साहित्य देवता और रायकृष्ण दास की साधना की पृष्ठभूमि म

१—सुधाकर पाण्डेय की प्रसाद जी की कविताएँ पृष्ठ ८१

२—निराला'

भी यही आत्म तत्व है। जिस गांधीवाद का प्रभाव आधुनिक हिन्दी साहित्य पर असन्दिग्ध है उसकी आधार भूमि यही आत्म तत्व है। छायावाद और रहस्यवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि में उपस्थित सर्वात्मवाद में भी आत्म तत्व है।

(८) समाज का प्रगतिशील मध्यम वर्ग—

पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली और अर्थ-व्यवस्था ने समाज में जिस मध्यम वर्ग की उत्पत्ति कर दी थी उसका एक भाग तो अपने अस्तित्व और स्वार्थपूर्ति के लिये पूरी तरह से अँगरेजी साम्राज्यवाद पर आधारित था और इसीलिए पूरी तरह से उसका भक्त और दास होकर राष्ट्रीय और मानवीय दृष्टिकोण से एकदम निकम्मा हो चला था, किन्तु दूसरा भाग जिसमें डाक्टर प्रोफेसर वकील व्यापारी आदि थे अँगरेजों से कुछ दूर रहा। उनका प्रत्यक्ष रूप में दास नहीं था। उन्हीं पर उतना आधारित नहीं था। इसके अन्दर जीवन के कुछ स्पन्दन शेष थे जो सुयोग्य नेतृत्व का आह्वान पाकर हुकारों सिंहनादों व क्रियाशीलताओं में परिवर्तित हो गये। सांस्कृतिक पुनर्जागरण और राष्ट्रीयता के कारण ये जागृति भारत की प्रथम पंक्ति बने। रूसी साम्यवाद से प्रभावित हो कर इनमें से कुछ लोग आमूल क्रान्ति का आह्वान करने लगे। भारतीय संस्कृति से अनुरंजित होकर इस वर्ग के अधिकांश लोग कायाकल्प के द्वारा उत्थान के लिए सक्रिय हुए। इन्होंने अपने को नवीन जीवन और नवीन वातावरण के अनुरूप परिवर्तित किया। ये परम्पराओं और प्रथाओं को बिल्कुल छोड़ना पसन्द नहीं करते थे। उसको मानते और पालते थे। उनका औचित्य सिद्ध करने के लिए उसकी युगानुकूल-यथावश्यक बौद्धिक व्याख्याएँ उपस्थित करते थे। ये कुलीन विवाह सम्मिलित परिवार, मर्यादित जीवन संयमित वासना, कर्मकाण्ड, आदि के समर्थक थे और इन्हीं के अनुरूप इनका जीवन चलता था। जो अव्यावहारिक था उसे ये धीरे-धीरे छोड़ देते थे। अस्तु विवाह के अवसर पर पहने जाने वाले मौर 'जामा-जोड़ा' आदि धीरे-धीरे प्रायः परित्यक्त ही हो गये हैं। पहले श्री वास्तव कायस्थ श्रीवास्तव कायस्थ-घराने में ही विवाह करते थे किन्तु अब सक्सेना घरानों से भी उनके ब्याह सम्बन्ध जुड़ने लगे। इसी वर्ग की प्रतिभा ने परम्परा का प्रगति से परिणय करा दिया। जीवन मर्यादापूर्ण ढंग से प्रगत्योन्मुखी हो कर गतिशील हो उठा। विकास के पथ में आने वाली बाधाओं और कठिनाइयों का इस वर्ग ने वीरतापूर्वक सामना किया। उन्नति की पूरी कीमत चुकाई। देश के लिए धर्म के लिए भाषा के लिए गांधी-नेहरू विवेकानन्द-रामतीर्थ, दयानन्द-श्रद्धानन्द, महावीरप्रसाद द्विवेदी-प्रेमचन्द आदि के रूप में इस वर्ग ने त्याग, तपस्या, बलिदान,

कष्ट सहिष्णुता, आदि के अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किये। अपने सामर्थ्य और अधिकार के बाहर की बातों (शिक्षा व्यवस्था, आदि) के कारण भले ही इनकी कल्पना की उड़ान, बौद्धिक उपलब्धियाँ एवं कला-कुशलता एक निश्चित वृत्त के भीतर ही रह गयी, फिर भी १८५० ई० तक भारत जो-कुछ बन सका उसका श्रेय एक मात्र इसी वर्ग को है।

प्रस्तुत उपादान और हिन्दी साहित्य—

उपर्युक्त वर्ग के ही कुछ लोगों ने हिन्दी के प्रति रुचि जागृत की और आधुनिक हिन्दी-साहित्य की रचना की। परिणामस्वरूप यह विडम्बना प्रधान मध्य वर्गीय जीवन हम साहित्यिकों को न तो उतना ईमानदार रहा जैसा है और न उतना ऊंचा कि हम आधुनिक युग की मीरा अथवा सूर के दर्शन कर सकें। हम न ईमानदार बेईमान हैं न ईमानदार नास्तिक न ईमानदार बुद्धिवादी न ईमानदार भौतिकतावादी साथ ही, हम ईमानदार भक्त भी नहीं ईमानदार पुजारी भी नहीं ईमानदार ईश्वरवादी भी नहीं, ईमानदार अध्यात्मवादी भी नहीं। ईमानदार रावण युग की विभूति होता है ईमानदार तुलसी मानवता के मस्तक का चन्दन है। यह ईमानदारी जिस साहित्यिक में जितनी मात्रा में रही उसका साहित्य उतना ही महान हुआ मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला आदि इसके उदाहरण रूप में उपस्थित किये जा सकते हैं।

यह भी एक कारण था कि हमारे साहित्य में बुद्धि और कल्पना की ऊंचाई तथा कला का स्तर एक सीमा तक ही रह गया। आधुनिक युग के वाल्मीकि और व्यास आधुनिक युग के सूर, एवं आधुनिक युग के रामायण और महाभारत की प्रतीक्षा अब भी करती रह गयी। नहीं तो, आज के युग की परिस्थितियां नये महाभारत या रामायण की रचना करवाने में समर्थ है।

सेवा सदन में वेश्या की जो समस्या उठाई गयी है वह प्रगति और परम्परा के समन्वय का श्रेष्ठतम उदाहरण है। यह एक तथ्य है कि वेश्या वृत्ति का कारण आर्थिक विषमता और पूंजीवादी या सामन्तवादी मनोवृत्ति है और जब तक किसी क्रान्ति द्वारा ये वर्ग न मिटाए जायेंगे तब तक वेश्यावृत्ति समाप्त न होगी—चाहे जितने आश्रम खोले जायें। आश्रम की कल्पना क्रान्ति और रूढ़ि के समन्वय की ही उपज है।

फिर भी, प्रेमचन्द महावीरप्रसाद द्विवेदी 'प्रसाद', आदि ने त्याग और

बलिदान के द्वारा हिंदी साहित्य की पर्याप्त सेवा की है। हजार कष्ट सहते हुए भी श्यामसुन्दरदास ने हिन्दी की सेवा और समृद्धि की है। हिन्दी को करियर बनाने के एक साधन के रूप में तो स्वतन्त्र भारत के नवयुवकों ने अपनाया है। उसके पहले वह माता थी और उसके लिए कुछ करना सेवा और कर्तव्य समझा जाता था। कुछ भी हो इस ढंग से और दृष्टिकोण से कार्य करते हुए आधुनिक हिन्दी साहित्य को इसी प्रगति तेल मध्यवग ने एक श्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण साहित्य का स्वरूप प्रदान किया है।

(६) सुधारवादी मनोवृत्ति--

भारत के अतीत गौरव की अनुभूति और वतमान अधोगति की चुभन ने हमारी चेतना को आत्मोत्थान के लिए विकल कर दिया। हमने अपने भूतकाल की महानता पर विश्वास कर ही लिया था। इसलिए यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि हमारी व्यवस्थाओं और हमारी सामाजिक सस्थाओं की नींव उन्हीं महान पुरुषों ने डाली थी और उन्हीं ने इनकी योजनाएँ की थी जिनकी प्रतिभा साधना मौलिकता एवं संयोजन कुशलता संसार के इतिहास में अद्वितीय है। हमारे वतमान दोषों और विकृतियों का कारण हमारा आत्मस्वरूप-विस्मरण एवं मध्ययुगीन आपत्तिमूलक परिस्थितियाँ हैं। अस्तु हमारी व्यवस्थाओं मान्यताओं एवं सामाजिक सस्थाओं के आमूलोच्छेद का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता बात केवल सुधार की रह जाती है। हमारे समाज के कुछ लोगों ने यह माना कि हमको अपनी समस्त प्राचीन वृत्तियों-प्रवृत्तियों रीतियों-रिवाजों, प्रथाओं-परम्पराओं आस्थाओं-विश्वासों तथा सिद्धान्तों-आदर्शों को वैसे का वैसा ही पुनः स्वीकार कर लेना चाहिये। अधिकांश लोगों का यह विचार हुआ कि आधुनिक परिस्थितियों एवं वातावरण को ध्यान में रख कर उसके अनुरूप अपने में आवश्यक सुधार करना होगा। सबसे पहले धर्म के क्षेत्र में सुधार करना पड़ा। हमने धार्मिकों और धर्म-स्थानों को बौद्धिक युक्तिवादी एवं मानवतावादी दृष्टिकोण से देखना प्रारम्भ कर दिया। उनके दुराचरण एवं उनकी कुनीतियाँ निन्दा, आलोचना एवं तिरस्कार का विषय बनी। अन्धश्रद्धा और राष्ट्र की उन्नति के साधन के रूप में देखा जाने लगा। मैं खोजता तुझे था जब कुंज और वन में तब भगवान दीनों के द्वार पर हमारी प्रतीक्षा करता था अर्थात् भगवान का निवास मंदिर नहीं रह गये। दीनों की सेवा वास्तविक भगवदाराधना हो गयी। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की तीन कहानियों की तरह अपने केवल पाँच निबंधों के बल पर अमर हो जाने वाले अध्यापक पूर्णसिंह ने लिखा ईंट पत्थर, चूना, कुछ ही कहो—आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मंदिर, मस्जिद गिरजा और पोथी

म न करेंगे   मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे   यही धर्म है   मनुष्य और मनुष्य की मजदूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है"।[१] इसी प्रकार सम्माजिक परम्पराओं को बौद्धिक दृष्टिकोण से तथा वातावरण की मांग से यथाशक्ति हो जाना पड़ा। नवीनतम व्याख्याओं के कारण धर्म और समाज के विभिन्न प्राचीन तत्व नये ही रूप में और नयी-नयी शक्तियों और सम्भावनाओं से परिपूर्ण होकर उपस्थित हुए। उन सबका वैज्ञानिक औचित्य सिद्ध किया गया। असामाजिक एवं विघटनकारी तत्व अन-मेल दहेज फैशन, आडम्बर आधुनिक शिक्षा, हरिजनों की दुर्दशा आदि-न मानवतावादी दृष्टिकोण से यथावश्यक सुधार अथवा परिवर्तन किये गये।

प्रस्तुत उपादान और हिन्दी साहित्य —

साहित्य-सृजना का लक्ष्य उत्थान था। इसीलिए सामाजिक, व्यक्तिगत या राजनीतिक विकार ही साहित्य में प्रधान नहीं होने पाया। वह साहित्य में आलम्बन रूप में बहुत कम आने पाया है। जहा आया है वहा उत्थान की भावना के उद्दीपन के रूप में ही लाया गया है। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद यही है। केवल चित्रण के लिए वैयक्तिक या सामाजिक विकारों का चित्रण आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी नगण्य है। कला कला के लिए या उद्देश्य-विहीन यथार्थवादी दृष्टि आधुनिक हिन्दी साहित्य में स्थायी या मुख्य प्रवृत्ति बन कर नहीं आ पायी है।

फिर भी साहित्यिक एवं कलात्मकता की उस रुचि ने, जिस पर कुछ पाश्चात्य धारणा का भी प्रभाव पड़ चला था, उद्देश्य के आदर्शवादी रूप को धर्मोपदेश का रूप नहीं धारण करने दिया। साहित्य रस चाहिए था। उपदेश देना लेखक का काम नहीं रह गया। वह साहित्य रस इस प्रकार दे कि जो कार्य वह उपदेश से पूरा कर सकता था वह अब मन पर प्रभाव डालकर अप्रत्यक्ष रूप से पूरा करे। उपदेश देने सुनने का युग जा रहा था। साहित्य और धर्मोपदेश दो स्वतन्त्र और पृथक बातें हो गयीं। समाज से भी कथावाचकों का एवं उपदेशकों का महत्व समाप्त हो रहा था क्योंकि वे युग से पीछे पड़ गये थे।

इसी मनःभाव को सुधारने के उद्देश्य से ही हिन्दी का उपन्यास साहित्य, कहानी साहित्य नाटक साहित्य, निबन्ध साहित्य, आदि व्यक्तिगत एवं सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक, सुधारों एवं उत्थान के विचारों और भावनाओं से भरा

१ मजदूरी और प्रेम' शीर्षक निबन्ध से

पड़ा है। सुधारों की यह रूपरेखा कभी गांधीवादी होती थी कभी साम्यवादी और कभी केवल प्रगतिशीलता से परिपूर्ण मात्र। यह सुधारवादी दृष्टिकोण कभी प्रधान हो जाता था और कभी परोक्ष रूप से सामने आता था। सेवासदन और रंगभूमि पहले के उदाहरण हैं तथा कंकाल आदि दूसरे के।

(१०)-नारी जागरण—

बीसवीं शताब्दी के भारत की सर्वाधिक मंगलमयी मंजुल एवं प्रोज्ज्वल, उपलब्धि अथवा यों कहा जाय कि उन्नीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की एक अत्यंत महत्वपूर्ण देन नारी जागरण है। इस आधुनिक नारी ने भारत के सांस्कृतिक नारीत्व के किसी भी अलंकार या आभूषण का अपमान या परित्याग नहीं किया है। इसने समस्त आडम्बरक मध्ययुगीन विकृतियों को झटक दिया है। साथ ही इसने अपने को आधुनिक युग के भारत की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाल भी लिया है। इस नारी का आदर्श पाश्चात्य नारी का स्वरूप बिल्कुल नहीं है। यह साया नहीं पहनती है, नेहा लगाती इसमें पाश्चात्य लोच-लचक-नाज-अन्दाज नहीं और इसके प्रेमावेग की अभिव्यंजना प्लेट फार्मों पर होने वाले आलिंगनों और चुम्बनों से नहीं होती। यह अब भी घर की रानी है। इसके लोचन शील से सजे होते हैं। इसने मातृत्व नहीं खोया है। इसने पर्दा उठा दिया है कि नग्नता या निर्लज्जता इसे बिलकुल अच्छी नहीं लगती। यह अब भी पतिव्रता है। सुशिक्षिता हो कर यह और भी उपयोगी हो गयी है। घर को तिलांजलि न देकर भी यह राजनैतिक सामाजिक आर्थिक दार्शनिक आदि क्षेत्रों में अपने देश और समाज के लिए महत्व पूर्ण कार्य कर रही है।

प्रस्तुत उत्पादन और हिंदी साहित्य—

इसका सबसे बड़ा प्रभाव हिंदी साहित्य पर यह पड़ा कि हिंदी की महिला साहित्यकारों की अनेक सशक्त कृतियाँ प्राप्त होने लगीं। महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान सुमित्राकुमारी सिनहा, तारा पाण्डेय, आदि कवयित्रियों की काव्य वीणा के स्वरों से हिंदी का साहित्यिक जगत गूँज उठा। कोकिल के कण्ठ का आध्यात्मिक स्वर अनंत का प्रकाशन करता हुआ अनेकों सात्विक भावों का प्रदान किया है। वे न केवल भूमि पर चलती हैं और न केवल आकाश में ही उड़ती हैं वरन् दोनों का सुन्दर सामंजस्य उनकी काव्य शाला में पाया जाता है, वे कोमल और गहरी अनुभूतियों को सरल-सहज रूप में रखने की असाधारण कला पर अधिकार

रखती है।'[1] इसलिए कोई आश्चर्य नहीं यदि इनकी कविताओं के विषय में यह कहा गया, ' ऐसा लगा कि कुछ नया सुन रहा हूँ । आजकल इस भाषा में कम लोग बोलते हैं "ये भक्ति के भजन बन गये हैं'[2]

सखि अब रस बरसे मैं भीजूँ ।
भीतर बरसे बाहर बरसे दिन बरसे भर राती
मत्य गगन की परी लगी है रुकती नहिं न सिरानी
जाने किस तरंग पर घर की वस्तु वस्तु लहराती
द्रव तो वहे सभी कोई जाने अद्रव वहीं अब जाती
इस मुझमें मीरा मैं रस मैं तनिक-तनिक कर सीझूँ ।[3]

अस्तु दिनेश नन्दिनी के गद्य काव्य उपादेवी मिश्रा के उपन्यास चन्द्रकिरण सौनरिक्सा की कहानियाँ, आदि हिन्दी की निधियाँ हैं । महादेवी वर्मा के रेखाचित्र असाधारण एवं अद्वितीय हैं । पद्मावती शबनम और शचीरानी गुर्टू आलोचना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं । कंचनलता सब्बरवाल की लेखनी बहुमुखी है ।

(११) राष्ट्रीयता—

इस युग में भारत के अन्दर जो राष्ट्रचेतना एवं जो राष्ट्र प्रेम प्रवुद्ध हुआ उसमें अनेक तत्व ऐसे थे जो भारतीय संस्कृति से प्राप्त हुए थे । इस शताब्दी के प्रारम्भ में प्रेम का सम्बन्ध धर्म एवं अध्यात्म से हो गया था । राष्ट्रोत्थान की प्रेरणा को ईश्वरेच्छा माना गया । भारत देश को भौगोलिक प्रदेश मात्र न मानकर एक आध्यात्मिक अस्तित्व माना गया । बंकिमचन्द्र ने उसे 'माता' माना इसकी महत्ता स्वर्ग से भी अधिक मानी गई फांसी के तख्तेपर हँस हँस कर झूलने वालों के हाथों में 'गीता' दिखाई पड़ने लगती । आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों ने वीरों की भावना को नया ही रंग दे दिया । राष्ट्र प्रेमी असाधारण रूप से भावुक होते थे । लोगों ने शत्रु में भी अपनी आत्मा की छवि देखने का प्रयत्न किया और इस प्रकार भारत की राष्ट्रीयता घृणा-द्वेष एवं लघुताओं से मुक्त होकर जिस दीप्ति से आभासित हुई उसमें वह तमस्-रोष या कलुष नहीं रह गया जिसके कारण पाश्चात्य राष्ट्रवाद अवाधित हो रहा था । यन्त्रवाद औद्योगीकरण, भोगवाद हिंसा, लोलुपता, आदि से मुक्त होकर भारतीय राष्ट्रवाद सात्विकताप्रधान होकर सर्वोदय की ओर अग्रसर हुआ।

१—सुहागिन' में धीरेन्द्र वर्मा द्वारा लिखित 'परिचय से
२—सुहागिन में हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित 'परिचय पत्र' से
३—सुहागिन, पृष्ठ ५७

भारत के गावो को ही भारत का वास्तविक स्वरूप माना गया। ग्रामोत्थान के प्रयत्न किये गये। हम भारत को इंगलैंड या भारत के गावो को लन्दन नही बनाना चाहते थे। हमारा लक्ष्य था 'राम राज्य' की अवतारणा क्योकि उसी के द्वारा हम भारत का वास्तविक कल्याण सम्भव समझते थे।

प्रस्तुत उत्पादन और हिन्दी साहित्य—

इसका परिणाम यह हुआ कि बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रचित हिन्दी साहित्य मे राष्ट्रीयता किसी न किसी रूप मे बराबर मिलती हैं।

हम देख चुके है कि राष्ट्रीयता का व्यापक प्रचार इस युग की उल्लेखनीय विशेषता है। यही राष्ट्रीय दृष्टिकोण आधुनिक हिन्दी साहित्य का मेरुदण्ड है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, प्रेमचन्द, प्रसाद', निराला एक भारतीय आत्मा, नवीन 'दिनकर', बच्चन' सोहन लाल द्विवेदी आदि लगभग सभी प्रमुख साहित्यकारो की कृतियो में यह दृष्टिकोण किसी-न किसी रूप मे पाया जाता है। रणभूमि मे सत्याग्रह की झलक है। तीर पर कैसे रुकूँ मैं आज लहरों मे निमन्त्रण'[1] प्रकारान्तर से राष्ट्र के तरुणो की आकांक्षा व्यंजित कर सकता है। ये राष्ट्रीय कविताएँ भारत देश की प्रशंसा पर प्राचीन भारत के गौरवगान पर, भारत के प्रति व्यक्ति के मन मे उठने वाले अपनेपन की या आदर-प्रशंसा की भावना पर राजनीतिक पराधीनता की अवांछनीयता पर, अत्याचारी अंगरेजी साम्राज्यवाद के प्रति मन मे उठने वाले आक्रोश पर, देश को स्वतन्त्र करने के लिए कष्ट सहने बलिदान करने और त्याग करने के लिए तैयार रहने के आह्वान पर, जन मे कष्ट उठाने वाले वीरों या फांसी पर झूल जाने वाले क्रान्तिकारियो पर लिखी जाती थी। भारत-भारती, हिम किरीटिनी, भैरवी', आदि अनेक काव्य कृतियां इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। हिमाद्रि तुंग-शृंग से चला प्रयाण गीत (प्रसाद') अथवा ,हिमालय के आंगन मे प्रथम उसे दे किरणों का उपहार (प्रसाद) अरुण यह मधुमय देश हमारा ('प्रसाद'), वह मातृभूमि मेरी वह पितृभूमि मेरी (गुप्त) भारति जय-विजय करे (निराला), 'जागो फिर एक बार' (निराला) आदि असंख्य गीत और कविताएँ राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। निराला की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं —

भारत ही जीवन-धन
ज्योतिर्मय परम रमण सर-सरिता वन-उपवन।[2]

---

१ 'बच्चन के एक प्रसिद्ध गीत की प्रथम पंक्ति
[illegible]

१– वन्दू पद सुंदर तव, छन्द नवल स्वर-गौरव
जननि, जनक–जननि -जननि जन्मभूमि भाषे ।
वन्दू मैं अमल कमल
चिर सवित चरण युगल
शोभामय शान्ति पाप–ताप–हारी
मुक्त बन्ध घनानन्द मुद मंगलकारी ।
२– बधिर विश्व चकित भीत सुन भरव वाणी,
जन्मभूमि मेरी जै जगमहारानी ।[२]

कुछ कवियों का वर्तमान के प्रति असन्तोष इतना प्रबल रहा कि वे नाश और प्रलय की कामना करने लगे थे—

'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाए ।[३]

भारत के प्रति हमारी जो श्रद्धा भावना है उसी ने भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य की ओर भी हमें उन्मुख किया । अँगरेजी साहित्य में भी प्रकृति वर्णन है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह अच्छा भी है । अस्तु हमारे साहित्य में भी प्रकृति-वर्णन एवं उसके सौंदर्य का चित्रण होना चाहिए । इसलिए भी ऐसा होना चाहिए कि हमारे देश का प्रकृति वैभव विश्व में अद्वितीय है । इंगलैंड का अच्छा है किन्तु हमारा तो अनुपम है । और फिर प्रकृति चित्रण की परम्परा भी हमारे साहित्य में रही है । वाल्मीकि में प्रकृति के आलम्बन रूप का सुन्दरतम चित्रण है । प्रकृति के उद्दीपन अलंकारिक प्रतीक आदि रूपों के भी चित्रण संस्कृत और हिन्दी साहित्य में हैं । आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रकृति चित्रण प्रारम्भ हुआ ।

इस प्रकृति चित्रण की एक विशेषता यह भी रही कि वह रीतिकाल की मान्यताओं से मुक्त रखा गया । यह स्वाभाविक भी था क्योंकि इस समय तक भारत में मध्ययुग लगभग समाप्त हो रहा था और नया युग निश्चित रूप से आ गया था । इसका जो स्वस्थ प्रभाव भारतीय मस्तक पर पड़ रहा था वह यह था कि मध्ययुगीन परम्पराएँ जहाँ तक सम्भव हो, समाप्त हो जाय । आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रकृति वर्णन उसका एक प्रमाण है । अब प्रकृति उद्दीपन मात्र होकर नहीं रह गई । उसको स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी दिया गया । उसका सश्लिष्ट चित्र भी मिलता है ।-वह प्रतीक

१– गीतिका से
२– अपरा, से
३– नवीन जी की सुप्रसिद्ध पंक्ति

रूप म भी है । यह आन्तरिक रूप म भी है । इस दृष्टि से सुमित्रानन्दन पन्त का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । प्राय प्रत्येक छायावादी कवि प्रकृति प्रेमी रहा है । कुछेक उदाहरण देखिए—

नौका से उठती जल हिलोर
हिल पड़ते नभ के ओर-छोर ।
विस्फारित नयनो से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारक दल
ज्योतित कर जल का अन्तस्तल
जिनके लघु दीपों को चचल, अचल की ओट किये अविरल
फिरती लहरें लुक-छिप पल-पल ।
सामने शुक्र की छवि झलमल पैरती परी-सी जल म कल,
रुपहरे कचो म हो ओझल
लहरो के घूँघट से झुक-झुक, दशम का शशि निज तियक मुख
दिखलाता, मुग्धा सा रुक रुक[1]
नील नभ के शतदल पर, वह बैठी शारद हासिनि,
मृदु करतल पर शशी मुख धर नीरव, अनिमिष, एकाकिनि ![2]
कौन तुम शुभ्र किरण वसना
सीखा केवल हँसना-केवल हसना
शुभ्र किरण वसना ।
मन्द मलय भर अङ्ग गन्ध मृदु
बादल अलकावलि कु चित ऋतु
तारक हार, चन्द्र मुख, मधु ऋतु
सुकृत पु ज अशना ।[3]

निराला का 'बादल राग', 'सन्ध्या सु दरी', आदि कविताएं साहित्य की अमूल्य निधियां हैं । प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा 'प्रसाद', आदि के कथा साहित्य एवं नाटक साहित्य मे भी यह प्रकृति चित्रण है और चित्र को रस प्रदान करने म समर्थ हुआ है । बिहारी की पक्तियों की 'उड़ि गये फुलवा रहि गई बास' ऐसी हो पक्ति है ।

१-पन्त लिखित 'नौका विहार' कविता
२-पन्त लिखित 'चाँदनी' कविता
३-निराला लिखित 'गीतिका' से

दता। बलिदान, कष्ट सहन और सद्भाव के द्वारा वह शत्रु को सही ढंग से सोचने पर विवश कर देता है। वह शत्रु का भी कल्याण चाहता है। सत्याग्रही कभी निराशावादी नहीं हो सकता क्योंकि वह नास्तिक नहीं होता। इन्द्रियों का दास तो कभी सत्याग्रही नहीं हो ही सकता। देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये गांधी जी ने जो स्वतन्त्रता आन्दोलन चलाये थे वे मूलतः इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित थे। उनकी सफलता से संसार चकित हो गया। सत्याग्रह की सफलता ने पराधीन देशों दलित वर्गों और शोषित जातियों को मुक्ति का नवीन साधन प्रदान किया। राजनीति ने नई आभा पाई। आलोच्य काल में देश की राजनीति, समाजनीति अर्थनीति आदि सभी पर तथा देश के विचारकों पर गांधीवाद का बहुत प्रभाव पड़ा है। गांधीवाद ने आलोच्य काल की भारतीय संस्कृति को निश्चित रूप से विशिष्टता प्रदान की है।

प्रस्तुत उपादान और आधुनिक हिन्दी साहित्य—

गांधीवाद और सत्याग्रह ने आधुनिक हिन्दी साहित्य को बहुत प्रभावित किया है। भारतीय संस्कृति के अनुरूप होने के कारण इसने अपने युग के अनेक राष्ट्रभक्त विचारकों की विचारधारा को प्रभावित किया है। गांधी और विनोबा के लेखों और भाषणों के रूप में हिन्दी को इस क्रान्तिकारी विचारधारा [redacted] प्रचुर साहित्य प्राप्त हुआ है। दादा धर्माधिकारी, काका कालेलकर किशोर भाई मशरूवाला आदि भी इसी श्रेणी में आते हैं। जैनेन्द्र की विचार धारा पर भी इसने बहुत प्रभाव डाला है। सियारामशरण गुप्त गांधीवाद के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। प्रभाकर माचवे ने देशी–विदेशी में यह विचार व्यक्त किया है कि गांधी दर्शन का सबसे अधिक प्रभाव सियारामशरण जी की रचनाओं पर पड़ा है।[1] 'बच्चन' का भी यह विचार है कि उनके पाथेय' के पीछे गांधी जी के सत्याग्रह–आन्दोलन की प्रेरणा थी। बापू पर हिन्दी में उससे ('बापू से) अच्छी रचना शायद ही हो[2] 'उन्मुक्त' में कवि ने लिखा है —

> हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल
> जो सबका है वही हमारा भी है मंगल
> मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर
> *हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर*

१–१४ अप्रैल १९६३ का साप्ताहिक हिन्दुस्तान

२–२ जून १९६३ का साप्ताहिक हिन्दुस्तान

स्पष्ट है कि यह गांधीदर्शन है। मैथिलीशरण गुप्त के साकेत के आठवें सर्ग की आत्मा गांधीवादी दर्शन में अनुरंजित है। उनकी सीता कहती हैं आओ हम कातें-बुनें गान की लय में'। पंत ने महात्मा गांधी पर कई उच्चकोटि की कविताएं लिखी हैं। उनकी कुछ पंक्तियां देखिए,—

पूर्ण पुरुष, विकसित मानव तुम जीवन सिद्ध अहिंसक
मुक्त हुए तुम, मुक्त हुए जन, हे जग वंद्य महात्मन्
मानव आत्मा के प्रतीक! आदर्शों से तुम ऊपर
निज उद्देश्यों से महान, निज यश से विशद चिरन्तन[1]

इसी प्रकार माखनलाल चतुर्वेदी, मोहनलाल द्विवेदी, श्री मन्ननारायण अग्रवाल आदि कवियों ने भी गांधी का गौरव गान किया है। प्रेमचन्द के 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' नामक उपन्यासों और 'समरयात्रा' की अनेक कहानियों में गांधी के सत्याग्रह का कलात्मक चित्रण है। 'रंगभूमि' का सूरदास तो उच्चकोटि का सत्याग्रही है।

(१३)-पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता के उपयोगी तत्व—

पाश्चात्य सभ्यता के तत्व हमारे देश में साम्राज्यवादी अंगरेज अपने लाभ के लिए लाया था, जैसे-रेल टेलीफोन, आदि। उन्होंने जो आर्थिक व्यवस्था कानून शिक्षा-प्रणाली, आदि चलाई वह भी उनके अपने लाभ के लिये ही थी। इस प्रकार हमने जो पाश्चात्य जीवन-पद्धति अपनाई वह इसलिये कि राजनीतिक पराधीनता के कारण हम ऐसा करने के लिए विवश थे। वह हमारी आवश्यकता या स्वाभाविकता नहीं थी। यही कारण है कि पाश्चात्य जीवन-पद्धति या आधुनिकता आंशिक रूप में ही भारत में स्वीकार की गयी। ध्यान यह रखा गया कि केवल उन्हीं तत्वों को अपनाया जाय जिसका प्रयोग शास्त्र-निषिद्ध न हो, जो हमारी संस्कृति के प्रतिकूल न पड़े और जो हमारी उन्नति के लिए उपयोगी हो। हमको पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति स्वीकार करनी पड़ी जिसके परिणाम-स्वरूप वैज्ञानिक दृष्टिकोण अनुसन्धान की भावना और सत्यों एवं तथ्यों को परखने की बौद्धिक दृष्टि प्राप्त हुई। भौतिकवादी दृष्टिकोण भी मिला जिससे हमें पुनः प्रवृत्ति मार्ग की महत्ता अवगत हुई। नये नये वैज्ञानिक आविष्कारों ने जीवन को सुविधाजनक वस्तुओं से परिपूर्ण कर दिया। रेल प्रेस, डाक-व्यवस्था, समाचार-पत्र आदि का जीवन पर बड़ा ही

१-'महात्मा जी के प्रति' शीर्षक कविता से

सकते हैं। हमारे जीवन और समाज की समस्त क्रियाएँ इन ल र को ध्यान म रखकर नियोजित की गयी हैं।

स्वार्थपूर्ण एव शोषण प्रधान अँग्रेजी साम्राज्यवाद न भारत का सभी प्रकार से अहित किया था और हमारी अवस्था अत्यन्त करुण हो गयी थी।

राजनीतिक परतन्त्रता के कारण उन घटनाओं न जीवन को और भी अधिक दयनीय बना दिया था स्वतन्त्र रहने पर जिनका निवारण हम कर सकते थे और इसलिए देश मे क्षोभ का वातावरण बन गया था और स्वाधीनता प्राप्त करने की तीव्रतम इच्छा पदा हो गयी थी।

अँगरेजो ने राज्य-शासन और अधिकार को हमारे शोषण का म धन बनाया था। इसीलिए हमने सबसे पहले उनके इस शासन और अधिकार को समाप्त करना ही अर्थात् उनकी राजनीतिक परतन्त्रता से मुक्त होना ही हमने अपना लक्ष्य बनाया।

सामान्यत सांस्कृतिक और विशेषत राजनीतिक पराधीनता के परिणाम-स्वरूप हमारे समाज मे कुछ दोष आगए थे जिन्होने जीवन दृष्टिकोण और साहित्य सभी पर अपना निश्चित प्रभाव डाला।

भारत की अपनी परम्पराएँ इतनी सशक्त थी कि वे भारत को पूर्ण रूप से मृत या नष्ट कभी भी नही होने दे सकती थी।

अस्तु, नवोत्थान की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई जिसके परिणामस्वरूप हमारे अन्दर अपनी वर्तमान दुर्दशा और उसके कारणों को ठीक से समझ लेने की प्रेरणा और क्षमता उत्पन्न हुई, अपनी पुरानी महानता को पुन प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न हुई समाज म सर्वतोमुखी सुधार करने क दृष्टिकोण और स्वरूप प्राप्त करने की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई, आत्महीनता की ग्रन्थि यथासम्भव नहीं उत्पन्न होने पाई, आस्था-विहीन न होने की प्रवृत्ति बनी, लघुताओ, त्रुटियों एव दोषो से अपने दृष्टिकोण अपनी विचारधारा को यथासम्भव बचाए रखने की इच्छा पदा हुई सीमाओं और अभावो के होते हुए भी कर्त्तव्यपालन की दृढ इच्छा-शक्ति बराबर रही तथा यथार्थ और बौद्धिकता पर आदर्श और भावुकता का अ कुश बनाए रखने का औचित्य समझ में आया।

साहित्य के क्षेत्र मे पश्चिम से हमने जो-कुछ लिया उसे अपना बना कर लिया। यह लेना इसलिए भी आवश्यक हो गया था कि हमारे जीवन की व्यवस्थाएँ थोड़ी-बहुत पश्चिम की जीवन-व्यवस्था के ढग पर हो रही थीं जिसका परिणाम यह हुआ कि पश्चिम की साहित्यिक विधाएँ भी हमारी तात्कालिक जीवन-व्यवस्था और उसकी अभिव्यक्ति के अनुकूल हो गयीं क्योंकि साहित्यिक विधाओं के स्वरूप का

सम्बन्ध जीवन की व्यवस्था के अनुसार होता है।

भारतीय संस्कृति की जो परम्पराएं हमें पीढ़ियों से मिलती चली आ रही थीं और जो अब हमारी जातीय विशेषताएं बन गयी थीं अथवा जिनका ज्ञान हमें अध्ययन के द्वारा हुआ था उनके कारण हमारी दृष्टि संकुचित नहीं होने पायी, हममें अनावश्यक कट्टरता कम से कम मात्रा में रह गयी, हममें द्वेष बहुत कम आने पाया, हमारी समन्वय वृत्ति सक्रिय रही और हम निःसंकोच रूप से ग्रहण कर सके और दे सके।

लक्ष्य की एकता के कारण उपयुक्त प्रवृत्तियां एक दूसरे की सहयोगिनी और सम्वर्धिनी बन जाती हैं। एक दूसरे में लीन भी हो जाती हैं। राजनीतिक स्वतन्त्रता के आन्दोलनों में आध्यात्मिक और नैतिकता समा गयी। इस दृष्टि से देखने पर हम पाते हैं कि प्रथम उपादान के परिणामस्वरूप ही दूसरे उपादान का उदय होता है। तात्पर्य यह है कि राजनीतिक पराधीनता का ही यह फल हुआ कि यद्यपि हमारे देश में युद्ध नहीं हुए फिर भी युद्ध-जन्य परिस्थितियों की विभीषिकाओं से हम उतने ही आक्रान्त हुए जितने युद्ध रत देश। पराधीनता का दुष्परिणाम यह हुआ कि युद्ध जीतकर भी हम विजयोल्लास से आल्हादित नहीं होने पाए। इस क्षेत्र में अंग्रेजों ने जो नीति अपनाई थी उसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीयता की भावना में अधिकाधिक उबाल आता गया। तात्पर्य यह है कि इस दूसरे उपादान से ग्यारहवां उपादान अर्थात् राष्ट्रीयता पोषित हुई। इस ग्यारहवें उपादान का सम्बन्ध तीसरे उपादान अर्थात् सांस्कृतिक पुनर्जागरण से हो गया। इस सम्मिलन ने हमारी राष्ट्रीयता को विलक्षणता प्रदान की। इस तीसरे उपादान का घनिष्टतम सम्बन्ध—कारण कार्य सम्बन्ध पांचवें (समन्वयशील प्रकृति) सातवें (आत्मतत्व के प्रति आस्था) और चौथे (भारतीय अन्तर्चेतना) उपादानों से हुआ। गांधीवाद और सत्याग्रह अर्थात् बारहवें उपादान की प्राप्ति भी तीसरे उपादान से ही सम्भव हुई और इसी तीसरे उपादान की पृष्ठभूमि में ही आठवां उपादान अर्थात् प्रगतिशील मध्यवर्ग की सक्रियता, दसवां उपादान (नारी जागरण) तथा छठवां उपादान अर्थात् ग्रहणशील प्रकृतिशील पनप सकी और हम इन उपादानों से लाभान्वित हो पाए। इसी प्रकार आधुनिक युग की संस्कृति के छठवें उपादान के सुफल के रूप में ही तेरहवें उपादान की प्राप्ति हुई। तात्पर्य यह है कि नवीनतम संस्कृति के ये उपकरण एक-दूसरे के निकट भी हैं एक दूसरे के अनुरूप भी हैं एक दूसरे के अनुकूल भी हैं इनका एक दूसरे में प्रवेश भी होता है और इनमें पारस्परिक विनिमय भी होता है। इन्होंने आपस में एक दूसरे को बहुत प्रभावित किया है। उदाहरण के रूप में तीसरे (सांस्कृतिक पुनर्जागरण)

और तेरहवे (पाश्चात्य तत्व) के एक दूसरे पर पड़ने वाले प्रभाव असन्दिग्ध ही नही महत्वपूर्ण भी हैं।

साहित्यिकों के मानस पर इनका प्रभाव—

हमारे साहित्य की रचना उदार हृदय सेवा–भावना से प्रेरित कर्तव्यपरायण त्यागी–बलिदानी आदर्शवादी उच्चतर तथा प्रगतिशील मानस वाले अनुभूति प्रधान व्यक्तियो ने की है। साहित्यिक का मानस प्रकृतितः अनुभूति–प्रधान होता है। वह जनसाधारण की अपेक्षा कहीं अधिक भावुक होता है। जीवन की जिन परिस्थितियो का साधारण स्वभाव का मानव सहज रूप में स्वीकार कर लेता है उन्हें साहित्यकार विवशता के कारण स्वीकार करके भी संवेदनशील मानस में स्वीकार नही करता। उसके अन्दर असन्तोष, क्षोभ, आक्रोश विद्रोह की भावनाएँ सक्रिय रहती हैं। शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारतीय समाज साम्राज्यवादी अंगरेज की कूटनीति एवं स्वार्थ वृत्ति के परिणामस्वरूप जिस दुर्दशा में ग्रस्त हो गया था उसे हमारा सजग साहित्यकार प्रत्यक्ष रूप मे देखता और अनुभव करता था और उन अनुभूतियो को किसी-न किसी प्रकार अपने साहित्य में अभिव्यक्त करता रहता था। किसी निश्चित दृष्टिकोण के अभाव में ये अभिव्यक्तियाँ निरुद्देश्य एवं असफल हो जाती किन्तु हमारा यह साहित्यिक उन्नीसवी शताब्दी के हिन्दुत्व के नवोत्थान की छाया में उत्पन्न हुआ था और इसी छाया में उसकी चेतना का विकास भी हुआ था। परिणाम यह हुआ कि वह निरुद्देश्य नही होने पाया। अनेक महान आत्माओ की साधना चिन्तन, मनन उपदेशों व्याख्यानो और पुस्तको के प्रचार के परिणामस्वरूप समाज में नवोत्थान की प्रवृत्तियाँ गतिशील हुई थी। उन्ही व्याख्यानो, और उपदेशो को हमारे साहित्यिक ने सुना। उन्ही पुस्तको का उसने अध्ययन और मनन किया। इन महात्माओं ■ से बुद्ध के सम्पर्क में हमारे साहित्यिक आए भी। परिणाम यह हुआ कि इनके अन्दर भी कुछ विशेष आकांक्षाएँ उत्पन्न हो गयी। मूल स्रोत के एक ही होने के कारण इन साहित्यिकों की आशाओं–आकांक्षाओं और समाज की आशाओं–आकांक्षाओं में अनुरूपता और एकरूपता आ गयी। अस्तु साहित्यिकों का मानस इस स्थिति में हो गया कि समाज की भिन्न–भिन्न प्रवृत्तियाँ उपर्युक्त निष्कर्ष — उसको प्रभावित कर सकें। साहित्यिक प्रभावित हुआ। व्यक्तिगत क्षमताओं, शक्तियों सामर्थ्यों रुचियों, अनुभवो, पारिवारिक परम्पराओं, शिक्षा–दीक्षा के प्रकारों और स्वरूपा अपने–अपने उत्तरदायित्वो और परिस्थितियों के परिणामस्वरूप किसी साहित्यिक की कृतियों मे उपर्युक्त निष्कर्षो में से कुछ मिलेंगे और किसी में कुछ किसी में कुछ अधिक मिलेगे और किसी मे कुछ कम, किन्तु यदि हम इस युग

क सम्पूर्ण साहित्य को देखें तो निश्चित रूप से वह युग और समाज की आशाओं-आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करता हुआ मिलेगा।

मंगलमय परिणाम—

अस्तु कुछ प्रभाव कुछ स्वभाव कुछ स्थिति, कुछ परिस्थिति, कुछ प्राचीन कुछ नवीन कुछ सभ्यता, कुछ संस्कृति तथा कुछ अपने और कुछ पराये ने मिलकर आधुनिक हिन्दी साहित्य या यों कहिये कि बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के हिन्दी साहित्य का निर्माण किया। ये ही सब मिलकर आधुनिक भारतीय जीवन की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बनाते हैं। बीसवीं सदी के प्रथम दशक की समाप्ति के पूर्व ही हिन्दी भाषा में सफल साहित्यिक भाषा होने के सभी लक्षण दिखाई पड़ गये थे। उसमें हमने अपनी आशाओं और आकांक्षाओं की व्यंजना प्रारम्भ कर दी थी क्योंकि 'हिन्दी ने जब तुतलाना छोड़ दिया वह प्रिय को प्रिय कहने लगी है। उसका किशोर कंठ फूट गया, अस्फुट अङ्ग कट-छँट गये उसकी अस्पष्टता में एक स्पष्ट स्वरूप की झलक आ गई वक्ष विशाल तथा उन्नत हो गया पद की चंचलता दृष्टि में आ गई, वह विपुल विस्तृत हो गई हृदय में नवीन भावनाएँ, नवीन कल्पनाएं उठने लगीं ज्ञान की परिधि बढ़ गई चारों दिशाओं से त्रिविध समीर के झोंके उसके चित्त को रोमांचित करने लगे अब भारत के कृष्ण ने मुरली छोड़ पांचजन्य उठा लिया सुप्त देश की सुप्त वाणी जागृत हो उठी खड़ी बोली जागृति की शंखध्वनि है।'[1] सारे भारत ने एक स्वर में मान लिया कि खड़ी बोली आगे की स्वराज्य है भविष्य की स्वगङ्गा है, वह समस्त भारत की हृदय-कम्पन है नवजीवन संचारिणी संजीवनी है एवं अमृत स्वरों की जाह्नवी है। सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है इस खण्ड छिन्न विच्छिन्न देश में मैं संस्कृत के बाद हिन्दी ही को ईश्वर का आशीर्वाद स्वरूप मानता हूँ[2] इस खड़ी बोली में हिन्दी के साहित्यिकों ने बाह्य और आन्तरिक जगत की क्रियाओं प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्त किया। यह कार्य सरल नहीं था। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है संसार के इतिहास में ऐसी दूसरी भाषा शायद नहीं है जो सब ओर से उपेक्षित रहते हुए भी इतनी शक्ति अर्जन कर सकी हो आधुनिक हिन्दी भाषा का साहित्य प्रतिकूल और विषम परिस्थितियों के बीच रचा गया है। एक ओर साहित्यिकों को उपेक्षा का शिकार होना पड़ा है दूसरी ओर अवज्ञा की चोट सहनी पड़ी है यह कहानी जितनी ही खेदजनक है उतनी ही स्फूर्तिदायक

१– पल्लव की भूमिका

२– विशाल भारत पत्रिका माच १६५० पृष्ठ

फिर भी इस युग ने सत्य को यथाशक्ति लोकभाषा म लिखकर देश की जनता को वे उद्बुद्ध करते रहे।[1]

विश्व की दो महानतम सस्कृतियो के—जिनमे से एक का अतीत अद्वितीय रूप से महान था और दूसर का वतमान असाधारण रूप से प्रभावशाली और आक पक तथा जिनम स एक के कुछ अनावश्यक एव असामयिक तत्वो को निकालना अनि वाय था और दूसरे की तरुणाई को कुछ विवेक देना आवश्यक था—सगम के परि णामस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियो एव प्रवृत्तियो क कारण जो हमारा आधुनिक हि दी साहित्य बीसवी शताब्दी के इस प्रथमार्द्ध म बना उसको नये क्षितिज, नये आयाम नई छायाए, नई रचनाए और नये आस्वाद मिले जिसके परिणामस्वरूप—

औरे भाति कु जन मे गु जरत भौंर भोर
औरे डार झौरन मे बौरन के ह्वै गयो।
कहै पदमाकर सु औरे भाति गलियान
छलिया छबीले छल और छबि छब गयो।
औरे भाति बिहँग समाज म अवाज होत
ऐसे ऋतुराज के न आज दिन द्वै गयो।
औरे रस औरे रीति औरे राग, औरे रग
औरे तन, औरे मन औरे बन ह्वै गयो।



1-हिन्दी साहित्य, पृष्ठ ५०७

परिशिष्ट (अ)

हिन्दी पुस्तक सूची

पुस्तक नाम	लेखक	संस्करण	प्रकाशन वर्ष
१—अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ३१ वें वार्षिक अधिवेशन के साहित्य-परिषद् के सभापति रामकुमार वर्मा का भाषण।			
२—अध्ययन और आस्वाद	गुलाबराय	—	१९५१ ई०
३—अनामिका	निराला	दूसरा	सं० २००५ वि०
४—अनुशीलन	रामकुमार वर्मा	पहला	१९५१ ई०
५—अर्वाचीन भारत का इतिहास	ईश्वरीप्रसाद	पहला	१९५८ ई०
६—आँसू	जयशंकर प्रसाद	—	सं० २००६ वि०
७—आकाश-गंगा	रामकुमार वर्मा	पहला	१९४८ ई०
८—आकाश-दीप	जयशंकर प्रसाद	—	१९५५ ई०
९—आज का भारतीय साहित्य	—	दूसरा	१९६२ ई०
१०—आत्मकथा	राजेन्द्रप्रसाद संशोधित संस्करण		१९५७ ई०
११—आत्मकथा	मू० ले० महात्मा गाँधी अनु० काशीनाथ त्रिवेदी	—	१९५७ ई०
१२—आधुनिक कवि भाग २	पन्त	—	१९५८ ई०
१३—आधुनिक कवि भाग ३	रामकुमार वर्मा	—	१९९८ वि०
१४—आधुनिक कहानियाँ	—	पहला	१९५२ ई०
१५—आधुनिक काल का इतिहास	सी डी एम केटेलबी	—	१९५८ ई०
१६—आधुनिक काव्य धारा	केसरीनारायण शुक्ल	तीसरा	२००७ वि०
१७—आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत	केसरीनारायण शुक्ल	पहला	२००४ वि०
१८—आधुनिक भारत	शंकरदत्तात्रय जावडेकर	—	१९५३ ई०
१९—आधुनिक भारत का निर्माण	एस आरशर्मा	—	१९५८ ई०
२०—आधुनिक साहित्य	नन्ददुलारे बाजपेयी	पहला	२००७ वि०
२१—आधुनिक साहित्य की आर्थिक भूमिका	शिवनाथ	पहला	२००६ वि०
२२—आधुनिक हिन्दीकविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ	नगेन्द्र	—	२००८ वि०
२३—आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना	पुत्तूलाल शुक्ल	पहला	२०१४ वि०
२४—आधुनिक हिन्दी साहित्य	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	तीसरा	१९५४ ई०
२५—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	श्री कृष्णलाल	तीसरा	१९५४ ई०
२६—आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	पहला	१९५२ ई०

२७—आर्य संस्कृति	बलदेव उपाध्याय	दूसरा	१९५४ ई०
२८—इस्लाम की रूपरेखा	राहुल सांकृत्यायन	दूसरा	१९४६ ई०
२९—इस्लाम का परिचय	मौलवी अबू मुहम्मद इमामुद्दीन	पहला	१९४७ ई०
३०—उत्तरा	पंत	पहला	१९४९ ई०
३१—उद्धव शतक	रत्नाकर	—	—
३२—उपयोगितावाद	मू० ले० स्टुअर्ट मिल अनु० उमरावसिंह	पहला	१९२४ ई०
३३—कर्मयोग	विवेकानन्द	तीसरा	१९५४ ई०
३४—कला और संस्कृति	वासुदेवशरण अग्रवाल	दूसरा	१९५८ ई०
३५—कला-साहित्य-शास्त्र	हरिदत्त दुबे	पहला	१९६० ई०
३६—कांग्रेस का इतिहास (संक्षिप्त)	पट्टाभि सीतारामय्या	पहला	१९४८ ई०
३७—कामायनी	'प्रसाद'	—	२०१३ ई०
३८—कामायनी में काव्य संस्कृति दर्शन	द्वारिकाप्रसाद सक्सेना	पहला	१९५८ ई०
३९—काव्य और कला तथा अन्य निबंध	'प्रसाद'	—	२०१० वि०
४०—काव्य दर्पण	रामदहिन मिश्र	दूसरा	१९५१ ई०
४१—काव्य और संगीत का पारस्परिक संबंध	उमा मिश्र	पहला	१९६२ ई०
४२—काव्य और भूमिका	'दिनकर'	पहला	१९५८ वि०
४३—काव्य में रहस्यवाद	रामचन्द्र शुक्ल	पहला	१९८६ वि०
४४—कुछ स्मृतियाँ और स्फुट विचार	सम्पूर्णानन्द	पहला	२०१८ वि०
४५—कोणार्क	जगदीशचन्द्र माथुर	दूसरा	२०११ वि०
४६—कौमुदी महोत्सव	रामकुमार वर्मा	पहला	१९४९ ई०
४७—क्षणदा	महादेवी वर्मा	पहला	२०१३ वि०
४८—खंडित भारत	राजेन्द्रप्रसाद	दूसरा	२००३ वि०
४९—गांधीवाद और मार्क्सवाद	श्रीकृष्णदत्त पालीवाल	पहला	१९४६ ई०
५०—गांधीवाद और समाजवाद	संकलन	चौथा	१९४८ ई०
५१—ग्राम्या	पंत	—	२००८ वि०
५२—गोदान	प्रेमचन्द	—	१९५४ ई०
५३—गोस्वामी तुलसीदास	रामचन्द्र शुक्ल	सातवाँ	२००८ वि०
५४—चन्द्रगुप्त मौर्य	'प्रसाद'	ग्यारहवाँ	२०१५ वि०
५५—चिंतामणि (दोनों भाग)	रामचन्द्र शुक्ल	—	१९५० ई०
५६—चिदम्बरा	पंत	पहला	१९५९ ई०
५७—चित्रलेखा	भगवतीचरण वर्मा	—	२०१६ वि०

५८—छन्द प्रभाकर	जगन्नाथप्रसाद भानु	—	१९५२ ई०
५९—जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त	लक्ष्मीनारायण सुधांशु	—	१९५० ई०
६०—ज्योति-विहग	शान्तिप्रिय द्विवेदी	—	२००८ वि०
६१—ज्ञानयोग	विवेकानन्द	—	१९५० ई०
६२—धरती	'प्रभाद'	—	२००९ वि०
६३—दादा कामरेड	यशपाल	छठा	१९५२ ई०
६४—दीपशिखा	महादेवी वर्मा	दूसरा	१९४६ ई०
६५—दुखी भारत	लाजपत राय	—	१९२८ ई०
६६—दो-आब	शमशेरबहादुर सिंह	—	१९४८ ई०
६७—ध्रुवस्वामिनी	प्रसाद	पंद्रहवाँ २०१६ वि०	
६८—नया साहित्य नये प्रश्न	नन्ददुलारे वाजपेयी	पहला	१९५५ ई०
६९—नये पुराने झरोखे	'बच्चन'	पहला	१९६२ ई०
७०—निबन्ध नवनीत	लक्ष्मीकान्त वार्ष्णेय	पहला	१९१७ ई०
७१—नीरजा	महादेवी वर्मा	—	१९५१
७२—नूतन ब्रजभाषा काव्य मंजरी	रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'	पहला	१९६० ई०
७३—पथ के साथी	महादेवी वर्मा	पहला	१९५६ ई०
७४—परिमल	'निराला'	छठा	१९५४ ई०
७५—पल्लव	पंत	पाँचवाँ	२००५ वि०
७६—पल्लविनी	पंत	—	१९४७ ई०
७७—पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास	देवराज	—	१९५२ ई०
७८—पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव	आर एस वर्मा	पहला	१९६० ई०
७९—प्रथम प्रतिमा	निराला	[illegible]	[illegible]

८९—ब्राह्मण सावधान	सम्पूर्णानन्द	तीसरा	२००१ ई०
९०—भक्ति योग	विवेकानन्द	पहला	१९५५ ई०
९१—भक्ति और वेदान्त	विवेकानन्द	पहला	१९५५ ई०
९२—भारत का आर्थिक विकास	प्यारेलाल रावत	दूसरा	१९८७ ई०
९३—भारत का आर्थिक इतिहास	शिवशङ्कर मिश्र	पहला	१८८० वि०
९४—भारत की अन्तरात्मा	राधाकृष्णन्	पहला	१९५३ ई०
९५—भारत में इस्लाम	आचार्य चतुरसेन	दूसरा	१९४९ ई०
९६—भारतमे ब्रिटिश साम्राज्यका उदय औरअस्त इन्द्रविद्या वाचस्पति		पहला	१९५६ ई०
९७—भारत मे शिक्षा	जौहरी और पाठक	पहला	१९६२ ई०
९८—भारत मे सशस्त्र क्रान्ति चेष्टा का रोमाँचकारी इतिहास भाग १	मन्मथनाथ गुप्त	पहला	१९४८ ई०
९९—भारतीय अर्थशास्त्र भाग १	जथार और बेरी	पहला	१९५५ ई०
१००—भारतीय अर्थशास्त्र भाग २	जथार और बेरी	दूसरा	१९५६ ई०
१०१—भारतीय अर्थशास्त्र का विवेचन	ओमप्रकाश वेला	दूसरा	१९५५ ई०
१०२—भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलनका इतिहास	मन्मथनाथ गुप्त	दूसरा	१९६० ई०
१०३—भारतीय चित्रकला	असितकुमार हालदार	पहला	१९५९ ई०
१०४—भारतीय दर्शन	वाचस्पति गरोला	—	१९६२ ई०
१०५—भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास	देवराज और तिवारी	—	१९५० ई०
१०६—भारतीय नेताओ की हिन्दी सेवा	ज्ञानवती दरबार	पहला	१८६१ ई०
१०७—भारतीय बुद्धिजीवी	सम्पूर्णानन्द	पहला	शक स० १८७९
१०८—भारतीय सस्कृति	देवराज	—	१९६० ई०
१०९—भारतीय सस्कृति	सान गुरुजी	दूसरा	१९५६ ई०
११०—भारतीय सस्कृति एव सभ्यता	पी के आचार्य	पहला	२०१४ वि०
१११—भारतीय सस्कृति का उत्थान	रामजी उपाध्याय	—	२०१८ वि०
११२—भारतीय सस्कृति का प्रवाह	इन्द्र विद्या वाचस्पति	—	१९५९ ई०
११३—भारतीय सस्कृति की रूपरेखा	गुलाबराय	पहला	२००९ वि०
११४—भारतीय सस्कृति की साधना	रामजी उपाध्याय	—	२०१६ वि०
११५—भारतीय समाज और सस्कृति	कलाशनाथ उपाध्याय	चौथा	१९५९ ई०
११६—भारतीय समाजका ऐतिहासिक विश्लेषण भगवतशरण उपाध्याय		पहला	१९५० ई०
११७—भारतेन्दु ग्रथावली भाग १	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	पहला	२००७ वि०
११८—भारतेन्दु ग्रथावली भाग २	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	दूसरा	२०१० वि०

११९—भारतेन्दु ग्रंथावली भाग ३	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	पहला	२०१० वि०
१२०—भारतेन्दु युग	रामविलास शर्मा	—	१९५६ ई०
१२१—भाषा भारती	त्रिलोकीनारायण दीक्षित	—	१९१३ ई०
१२२—भैरवी	सोहनलाल द्विवेदी	—	१९४२ ई०
१२३—मध्यदेश ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन	धीरेन्द्र वर्मा	पहला	१९५८ ई०
१२४—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य	—	—	—
१२५—महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग	उदयभानुसिंह	पहला	२००८ वि०
१२६—मृगनयनी	वृन्दावनलाल वर्मा	आठवां	१९५८ ई०
१२७—मेरी अपनी कथा	पदुमलाल पन्नालाल बख्शी		१९५८ ई०
१२८—मेरी आत्म कहानी	श्यामसुन्दर दास	पहला	१९४१ ई०
१२९—मेरी कालिज डायरी	धीरेन्द्र वर्मा	पहला	१९५८ ई०
१३०—मेरी जीवन यात्रा	राहुल सांकृत्यायन	—	१९४५ ई०
१३१—मैथिलीशरण गुप्त व्यक्ति और काव्य	कमलाकान्त पाठक	पहला	१९६० ई०
१३२—मोतीलाल नेहरू जन्म शताब्दी स्मृति ग्रंथ		पहला	१८६३ ई०
१३३—यशोधरा	मैथिलीशरण गुप्त		२०१३ ई०
१३४—यामा	महादेवी वर्मा	तीसरा	२००८ ई०
१३५—युगवाणी	पन्त	तीसरा	१९४७ ई०
१३६—युग और साहित्य	शान्तिप्रिय द्विवेदी	दूसरा	१९६१ ई०
१३७—रसज्ञ रंजन	महावीरप्रसाद द्विवेदी	—	१९३६ ई०
१३८—राष्ट्रीय संस्कृति	आबिद हुसेन	पहला	२०१५ वि०
१३९—रिमझिम	रामकुमार वर्मा	पहला	१९५५ ई०
१४०—ललितकला की धारा	असितकुमार हालदार	पहला	१९६० ई०
१४१—लहर	'प्रसाद'	छठा	२०१६ वि०
१४२—बाणभट्ट की आत्मकथा	हजारीप्रसाद द्विवेदी	दूसरा	१९५४ ई०
१४३—विचार दर्शन	रामकुमार वर्मा	पहला	१९४८ ई०
१४४—विचारधारा	धीरेन्द्र वर्मा	पहला	१९९८ वि०
१४५—विराटा की पद्मिनी	वृन्दावनलाल वर्मा	—	२००३ वि०
१४६—विवेकानन्द ग्रंथावली	विवेकानन्द		१९८० वि०
१४७—विश्व साहित्य की रूपरेखा	भगवतशरण उपाध्याय	दूसरा	१९५९ ई०
१४८—वृन्त और विकास	शान्तिप्रिय द्विवेदी	पहला	१९५९ ई०
१४९—वेदान्त दर्शन	हरिकृष्णदास गोयनका	दूसरा	२०१२ वि०

१५०—वेदान्त धर्म	विवेकानन्द	पहला	१९३५ ई०
१५१—शिल्प और दर्शन	पंत	पहला	१९६१ ई०
१५२—शेष स्मृतियां	रघुवीर सिंह	पहला	१९३९ ई०
१५३—श्री रामकृष्ण परमहंस	स्वामी चिदात्मानन्द	दूसरा	—
१५४—संस्कृति का दार्शनिक विवेचन	देवराज	—	१९५७ ई०
१५५—संस्कृति के चार अध्याय	दिनकर	पहला	१९५६ ई०
१५६—सांस्कृतिक भारत	भगवतशरण उपाध्याय	पहला	१९५९ ई०
१५७—सभ्यता और संस्कृति	हजारीलाल द्विवेदी	दूसरा	१९५५ ई०
१५८—सर्वोदय दर्शन	दादा धर्माधिकारी	—	१९६० ई०
१५९—सत्यार्थप्रकाश	दयानन्द	२४वां	१९११ ई०
१६०—सतरंगिनी	'बच्चन'	—	१९५१ ई०
१६१—समय और हम	जैनेन्द्र	पहला	१९६३ ई०
१६२—समन्वय	भगवानदास	पहला	१९८५ ई०
१६३—साकेत	मैथलीशरण गुप्त	—	२०१ ई०
१६४—साकेत-एक अध्ययन	नगेन्द्र	सातवां	२०१२ वि०
१६५—साठ वर्ष-एक रेखांकन	पंत	पहला	१९६० ई०
१६६—सामधेनी	दिनकर	तीसरा	१९५५ ई०
१६७—साम्यवाद ही क्यों ?	राहुल सांकृत्यायन	१९३८ ई० का रिप्रिंट	
१६८—साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध	महादेवी वर्मा	पहला	१९६२ ई०
१६९—साहित्य, शिक्षा और संस्कृति	राजेन्द्रप्रसाद	पहला	१९५२ ई०
१७०—साहित्य का मर्म	हजारीप्रसाद द्विवेदी		१९५२ ई०
१७१—सुहागिन	विद्यावती कोकिल	पहला	१९५२ ई०
१७२—सोपान	'बच्चन'	पहला	२०१५ वि०
१७३—सौंदर्यतत्व	मू०ले० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, अनु० आनन्दप्रकाश दीक्षित	पहला	२०१७ वि०
१७४—सौंदर्य तत्व और काव्य सिद्धान्त	मू०ले० सुरेन्द्रबार लिगे, अनु० मनोहर काले	पहला	१९६३ ई०
१७५—स्कन्द गुप्त	प्रसाद	चौदहवां	२०१८ ई०
१७६—स्वामी रामतीर्थ	बालबोध कार्यालय, बनारस		
१७७—स्वामी रामतीर्थ-उनके उपदेश	रामतीर्थ प्रकाशन लीग, लखनऊ		
१७८—हल्दीघाटी	श्यामनारायण पाण्डेय		१९४७ ई०

१७६—हिम किरीटिनी — माखनलाल चतुर्वेदी — २००७ वि०
१८०—हिंद स्वराज्य — गान्धी — पाचवा — १८५३ ई०
१८१—हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव — रवीन्द्रसहाय वर्मा — पहला — १८५४ ई०
१८२—हिंदी काव्य शास्त्र का इतिहास — भगीरथ मिश्र — पहला — २००५ वि०
१८३—हिंदी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन — लक्ष्मीनारायण गुप्त — पहला — १९६१ ई०
१८४—हिन्दी साहित्य — श्यामसुन्दरदास — दसवा — १८५६ ई०
१८५—हिन्दी साहित्य — हजारीप्रसाद द्विवेदी — १९५५ ई०
१८६—हिंदी साहित्य का इतिहास — रामचन्द्र शुक्ल — ग्यारहवा — १९५७ ई०
१८७—हिंदी साहित्य का इतिहास — लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय — पहला — १९५६ ई०
१८८—हिंदी साहित्यका परिचय — चतुरसेन शास्त्री — पहला — १९५२ ई०
१८९—हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास भाग १ — सम्पादित — पहला — १८५७ ई०
१९०—हिन्दी साहित्य की भूमिका — हजारीप्रसाद द्विवेदी — दूसरा — १९६४ ई०
१९१—हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष — शिवदानसिंह चौहान — दूसरा — १९६१ ई०
१९२—हिंदुस्तान की कहानी (संक्षिप्त) — जवाहरलाल नेहरू — — — १९५५ ई०
१९३—हिंदुस्तान की समस्याएं — जवाहरलाल नेहरू — आठवा — १९५५ ई०
१९४—हिंदू संस्कृति की रक्षा — इन्द्रविद्या वाचस्पति — १९४० ई०

पत्र–पत्रिकाएं

अदिति, अवन्तिका आलोचना, आजकल कल्पना, कल्याण (हिंदू संस्कृति अंक), केसरी धर्मयुग, निकष प्रतीक, माधुरी रसवंती (अनूप शर्मा विशेषांक, निराला विशेषांक-कृतित्व), विशाल भारत संकेत, संगम, समालोचक, सम्मेलन पत्रिका (लोक संस्कृति अङ्क, कला अंक), सरस्वती (कांग्रेस मिनिस्ट्री अंक, सरस्वती हीरक जयंती विशेषांक), हंस, हिंदी अनुशीलन, हरिजन हिमालय।

शब्द–सागर

नालन्दा विशाल शब्द-सागर

१५०—वेदान्त धर्म	विवेकानन्द	पहला	१९३८ ई०
१५१—शिल्प और दर्शन	पन्त	पहला	१९६१ ई०
१५२—शेष स्मृतियाँ	रघुवीर सिंह	पहला	१९३९ ई०
१५३—श्री रामकृष्ण परमहंस	स्वामी चिदात्मानन्द	दूसरा	—
१५४—संस्कृति का दार्शनिक विवेचन	देवराज	—	१९५७ ई०
१५५—संस्कृति के चार अध्याय	'दिनकर'	पहला	१९५६ ई०
१५६—सांस्कृतिक भारत	भगवतशरण उपाध्याय	पहला	१९५६ ई०
१५७—सभ्यता और संस्कृति	हजारीलाल द्विवेदी	दूसरा	१९५५ ई०
१५८—सर्वोदय दर्शन	दादा धर्माधिकारी	—	१९६० ई०
१५९—सत्यार्थप्रकाश	दयानन्द	२४वाँ	१९६१ ई०
१६०—सतरंगिनी	'बच्चन	—	१९५१ ई०
१६१—समय और हम	जैनेन्द्र	पहला	१९६२ ई०
१६२—समन्वय	भगवानदास	पहला	१८८५ ई०
१६३—साकेत	मैथिलीशरण गुप्त	—	२०१ ई०
१६४—साकेत-एक अध्ययन	नगेन्द्र	सातवाँ	२०१२ वि०
१६५—साठ वर्ष-एक रेखांकन	पन्त	पहला	१९६० ई०
१६६—सामधेनी	दिनकर	तीसरा	१९५५ ई०
१६७—साम्यवाद ही क्यों ?	राहुल सांकृत्यायन	१९३५ ई० का रिप्रिंट	
१५८-साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध	महादेवी वर्मा	पहला	१९६२ ई०
१६९-साहित्य, शिक्षा और संस्कृति	राजेन्द्रप्रसाद	पहला	१९५२ ई०
१७०-साहित्य का मर्म	हजारीप्रसाद द्विवेदी		१९५२ ई०
१७१-सुहागिन	विद्यावती कोकिल	पहला	१९५२ ई०
१७२-सोपान	'बच्चन	पहला	२०१५ वि०
१७३-सौन्दर्यतत्त्व	मू०ले० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त अनु० आनन्दप्रकाश दीक्षित	पहला	२०१७ वि०
१७४-सौन्दर्य तत्त्व और काव्य सिद्धान्त	मू०ले० सुरेन्द्र बारलिंगे अनु० मनोहर काले	पहला	१९६३ ई०
१७५-स्कन्द गुप्त	प्रसाद	चौदहवाँ	२०१८ ई०
१७६-स्वामी रामतीर्थ	बालबोध कार्यालय, बनारस		
१७७-स्वामी रामतीर्थ उनके उपदेश	रामतीर्थ प्रकाशन लीग, लखनऊ		
१७८-हल्दीघाटी	श्यामनारायण पाण्डेय		१९४७ ई०

१७६—हिम किरीटिनी	माखनलाल चतुर्वेदी		२००७ वि०
१८०—हिंद स्वराज्य	गान्धी	पांचवां	१८५३ ई०
१८१—हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव	रवीन्द्रसहाय वर्मा	पहला	१८५४ ई०
१८२—हिंदी काव्य शास्त्र का इतिहास	भगीरथ मिश्र	पहला	२००५ वि०
१८३—हिंदी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन	लक्ष्मीनारायण गुप्त	पहला	१८६१ ई०
१८४—हिन्दी साहित्य	श्यामसुन्दरदास	दसवां	१९५६ ई०
१८५—हिन्दी साहित्य	हजारीप्रसाद द्विवेदी		१९५५ ई०
१८६—हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल	ग्यारहवां	१९५७ ई०
१८७—हिंदी साहित्य का इतिहास	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	पहला	१९५६ ई०
१८८—हिंदी साहित्यका परिचय	चतुरसेन शास्त्री	पहला	१९५२ ई०
१८९—हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास भाग१	सम्पादित	पहला	१९५७ ई०
१९०—हिन्दी साहित्य की भूमिका	हजारीप्रसाद द्विवेदी	दूसरा	१९४४ ई०
१९१—हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष	शिवदानसिंह चौहान	दूसरा	१९६१ ई०
१९२—हिंदुस्तान की कहानी (संक्षिप्त)	जवाहरलाल नेहरू	—	१९५४ ई०
१९३—हिंदुस्तान की समस्याएँ	जवाहरलाल नेहरू	आठवां	१९५५ ई०
१९४—हिन्दू संस्कृति की रक्षा	इन्द्रविद्या वाचस्पति		१९४० ई०

पत्र—पत्रिकाएँ

अदिति, अवन्तिका आलोचना आजकल कल्पना, कल्याण (हिंदू संस्कृति अंक), केसरी धर्मयुग निकष प्रतीक माधुरी रसवन्ती। (अनूप शर्मा विशेषांक, निराला विशेषांक-कृतित्व) विशाल भारत, संकेत, संगम, समालोचक सम्मेलन पत्रिका (लोक संस्कृति अङ्क, कला अंक), सरस्वती (कांग्रेस मिनिस्ट्री अंक सरस्वती हीरक जयन्ती विशेषांक) हंस, हिंदी अनुशीलन, हरिजन हिमालय।

शब्द—सागर

परिशिष्ट (ब)

अंगरेजी पुस्तक सूची

पुस्तक नाम	लेखक	संस्करण	प्रकाशन वर्ष
१–आटोबायग्राफी	जवाहरलाल नेहरू	—	१८/५ ई० का रिप्रिंट
२–आवर ग्रटस्ट नीड	क०मा० मुंशी		१९५३ ई०
३–इंडियन इन्हेरिटेंस भाग २	सम्पादित	पहला	१९५६ ई०
४–इंडियन मिडिल क्लासेज	बी बी मिश्र		१९६१ ई०
५–इंडियन पजल	ताया जिनकिन		१९५८ ई०
६–इंडिया टु डे	रजनी पामदत्त		१९४९ ई०
७–इस्लाम इन इंडिया एण्ड पाकिस्तान	मर०टी० टाइटस		१९५९ ई०
८–ईस्ट एण्ड वेस्ट	राधाकृष्णन्	पहला	१९५५ ई०
९ एकनामिक हिस्ट्री आफ इंडिया	आर सी दत्त	दूसरा	१९०६ ई०
१० एग्रीकल्चरल प्राब्लम आफ इंडिया	सी बी ममोरिया	—	१९५८ ई०
११–एजूकेशन इन इंडिया	एम एन मुकर्जी	चौथा	१९६० ई०
११ एजूकेशन इन इंडिया	अरकाट लक्ष्मण स्वामी मुदलियार	पहला	१९६० ई०
१३ एजूकेशन इन एंशिएन्ट इंडिया	ए एस अल्तेकर	पांचवां	१९५७ ई०
१४ ए हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन इंडिया	नूरुल्ला और नायक		१९५१ ई०
१५–ए हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन इंडिया एण्ड पाकिस्तान	एफ०ई०की, लामरा,		१९५९ ई०
१६ कल्चर एण्ड सोसायटी	जी एस घुरे	पहला	१९५६ ई०
१७ कल्चरल यूनिटी आफ इंडिया,	गट्ट एमरसन		१८५१ ई०
१८ कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया भाग ३		दूसरा	१९५३ ई०
१९ कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया भाग ४		दूसरा	१९५६ ई०
२० गांधियन प्लान रीअफर्म्ड	एस,एन, अग्रवाल	पहला	१८४८ ई०
२१–गुजरात एण्ड इटस लिटरचर,	के०एम०मुंशी		१९३५ ई०
२२ टुवर्ड्स यूनिवर्सलमैन	टैगोर		१९६१ ई०
२३ टू रिलीजन्स	जान मेकेंजी	पहला	१९५० ई०
२४–डिस्कवरी आफ इंडिया	जवाहरलाल नेहरू		१८५६ ई०
२५–दि आर्य समाज	लाजपतराय		१९१५ ई०
२६–दि इंडस्ट्रियल एवाल्युशन आफ इंडिया, इन रीसंट टाइम्स	डी आर गडगिल		१९१६ ई०